माणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमालायाः

३८. अष्टात्रिंशत्तमो ग्रन्थः ।

स्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य अलङ्कारभूतः

न्यायकुमुदचन्द्रः

[प्रथमो भागः]



स्व० सेठ माणिकचन्द्र जो जे० पी० बंबई

संपादकः—

पं० महेन्द्रकुमारन्यायशास्त्री.

स्या० वि० काशी ।

[मूल्यं रूप्यकाष्टकम् ८).]

B. H. U. Press, Benares.

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्या य कु मु द च न्द्रः

[प्रथमो भागः]



स चायम्

काशीस्थश्रीस्याद्वादमहाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ पं० महेन्द्रकुमारन्यायशास्त्रिणा
पाठान्तर-तुलनात्मकटिप्पणी-अवतरणनिर्देशादिभिः संस्कृत्य
संशोधितः, संपादितश्च ।



प्रकाशक :-

मन्त्री—श्री नाथूराम प्रेमी,

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

वीरनिर्वाणाब्दाः २४६४.

विक्रमाब्दाः १९९५.] प्रथमावृत्ति ६०० प्रति. [क्रिस्टाब्दाः १९३८.

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुराण-आगमादिप्राचीनसाहित्योद्धारिका
जैनग्रन्थावलिः।

साधुचरित-सदाशय-दानवीर-स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे. पी.
महाशयानां स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन संस्थापिता।



अवै० मन्त्री— श्री पं० नाथूरामः प्रेमी, बम्बई।
श्री प्रो० हीरालालः M. A. LL. B. अमरावती।

कोषाध्यक्षः— श्री ठाकुरदास-भगवानदासः जवेरी बंबई।

ग्रन्थांकः—३८.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग
पो० गिरगाँव, बंबई नं० ४.



NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[VOL. 1.]

A commentary on Bhaṭṭâkalankadêvas' Laghîyastrya.

EDITED WITH :—*EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE STUDY OF JAIN, BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES, AND THE VARIANT READINGS ETC.*

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYA SHASTRI

JAIN & PRÂCHÎN NYĀYĀTÎRTHA.

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG. JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

KASHI.

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN SERIES.

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY, 4.

V. E, 1995] *First Edition, 600 Copies.* [1938 A. D.

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN
GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL, HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF JAIN LITERATURE IN PRÂKṚITA, SAṀSKṚIT AND APABHRAṀŚA.

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

Late, Dânvîr, Sêth Mâṇik Chandra Hira Ch.

JUSTICE OF PEACE. BOMBAY.

NUMBER 38

HON. SECRETARIES :—

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti.*

CASHIER :—

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay.*

PUBLISHED BY

Secy. MÂṆIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

Founded] [1915 A.D.

न्यायकुमुदचन्द्र-प्रथमभाग की विषयसूची.



निवेदन

माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला का यह ३८ वाँ ग्रन्थ पाठकों के सामने उपस्थित किया जा रहा है। इस माला को प्रारंभ हुए लगभग २२ वर्ष हो चुके। शुरू से ही मैं इसकी यथाशक्य सेवा कर रहा हूँ। इसके लिए समाज से अब तक लगभग १५-१६ हजार रुपये मिले होंगे जो स्टॉक के रूप में अब भी सुरक्षित हैं; मूलधन में कोई घाटा नहीं है; यदि स्टॉक के मूल्य को मूलधन समझा जाय तो।

जिस समय ग्रन्थ माला का आरंभ हुआ उस समय ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करना बहुत कठिन था और उससे भी अधिक कठिन था सम्पादन संशोधन करने वाले योग्य विद्वानों को पा लेना। आधुनिक सम्पादन पद्धति के जानकार परिश्रमी और बहुश्रुत विद्वानों का तो एक तरह से अभाव ही था। इस कारण अब तक प्रकाशन का कार्य बहुत मन्द गति से हुआ और जो कुछ हुआ उससे केवल इतना ही सन्तोष किया जा सकता है कि किसी तरह इतने ग्रन्थ प्रकाश में आ गये, एक समय जो दुर्लभ थे वे सुलभ हो गये, भले ही उनके संस्करण विशेष उत्तम और उपयोगी न हों।

परन्तु अब हस्तलिखित प्रतियाँ प्रयत्न करने से उपलब्ध होने लगी हैं और सुहृद्वर प्रो० हीरालाल जी जैन, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० पी० एल० वैद्य, पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, आदि ग्रन्थ-सम्पादन-कार्यदक्ष विद्वानों का भी सहयोग मिलने लगा है, जिससे ग्रन्थ प्रकाशन कार्य खूब तेजी से किया जा सकता है, करने का उत्साह भी है। परन्तु इधर बीच में ही आर्थिक प्रश्न आकर खड़ा हो गया है, **"द्राक्षाप्रपाकसमये मुखपाको भवति"** वाली बात हो गई है, ग्रन्थ माला का फण्ड समाप्तप्राय है और जो कुछ रुपया शेष है, उससे मुश्किल से न्यायकुमुदचन्द्र का द्वितीय खण्ड ही प्रकाशित हो सकेगा। महापुराण के उत्तर खण्ड (उत्तर पुराण) का काम तो बन्द ही कर देना पड़ा है। यद्यपि मागधी और अपभ्रंश भाषाओं के दिग्गज विद्वान् डॉ० पी० एल० वैद्य महोदय ने अतिशय परिश्रम से उसकी प्रेस-कापी तैयार कर रक्खी है।

पिछले २२ वर्षों में मैंने कभी यह महसूस ही नहीं किया था कि कभी रुपयों के अभाव में प्रकाशन-कार्य को रोक देना पड़ेगा। क्योंकि-वर्ष में जितना रुपया खर्च होता था, लगभग उतनी बिक्री हो जाती थी और सौ दो सौ रुपया ऊपर से सहायता भी मिल जाती थी। परन्तु इधर **हरिवंशपुराण, पद्मचरित, महापुराण, न्यायकुमुदचन्द्र** आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में अनुमान से अधिक रुपया लग गया, बिक्री कुछ बढ़ी नहीं और सहायता भी इस समय जितनी मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिली। ऐसी दशा में तब तक के लिए कार्य स्थगित कर देने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है जब तक कि ग्रन्थों की बिक्री से अथवा धनियों की सहायता से काम चलाऊ धन एकत्र न हो जाय।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की मंजूरी ग्रन्थमाला की प्रबन्धकारिणी कमेटी से अब से लगभग १६ वर्ष पहले ली जा चुकी थी और उसी समय कुछ प्रेस-कापी भी करा ली गई थी; प्रबल इच्छा थी कि यह महान् ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय; परन्तु यथेष्ट मूल प्रतियों के प्राप्त न हो सकने और सुयोग्य सम्पादक के न मिलने से काम रुक गया और अब इतने लम्बे समय के बाद वह इच्छा पूर्ण हो रही है और जिस रूप में हो रही है उसे देखकर कम से कम मुझे तो यथेष्ट सन्तोष है। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी के शब्दों में सचमुच ही इस ग्रन्थ के द्वारा दिगम्बरीय साहित्य में प्रकाशन कार्य का एक नया युग प्रारम्भ होता है। अब तक हमारा एक भी ग्रन्थ इस ढंग से सुसम्पादित होकर प्रकाशित नहीं हुआ है।

जैनसमाज के असाधारण विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को इस रूपमें सम्पादित करने के लिए सम्पादकद्वय को उत्साहित किया, अमूल्य सूचनायें दीं, साधन-सामग्री जुटाने में हर तरह से सहायता दी और इस ग्रन्थ के लिए प्राक्कथन के रूप में हमारे सम्प्रदाय और उसके साहित्य के सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार उपस्थित किये।

इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है और प्रयत्न किया जा रहा है कि वह यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित हो जाय।

ग्रन्थों के मूल्य के सम्बन्ध में कुछ शुभचिन्तकों ने शिकायत की है कि वह पहले की अपेक्षा ज्यादा रक्खा गया है। इसे हम स्वीकार करते हैं; परन्तु इसका कारण एक तो यह है कि पिछले ग्रन्थों के सम्पादन संशोधन और साधन-सामग्री जुटाने में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खर्च हुआ है, दूसरे संख्या में भी ये पांच-छह सौ से अधिक नहीं छपाये गये हैं, तीसरे अब सौ रुपया या इससे अधिक देने वाले सहायकों को प्रत्येक ग्रन्थ की एक एक प्रति विना मूल्य देने का नियम बन गया है जिससे प्रत्येक ग्रन्थ की लगभग सौ प्रतियाँ यों ही चली जाती हैं। इसके सिवाय दूकानदारों को कमीशन भी देना पड़ता है। ऐसी दशा में लागत बढ़ जाना अनिवार्य है और इससे मूल्य अधिक रखना पड़ता है।

पाठकों को विश्वास रखना चाहिए कि ग्रन्थमाला का उद्देश्य प्राचीन साहित्य का उद्धार करना है, कमाई करना नहीं; फिर भी यदि ग्रन्थमाला के फण्ड में इस बढ़े हुए मूल्य से कुछ अधिक धन आ जायगा तो वह ग्रन्थोद्धार के कार्य में ही लगेगा।

हीराबाग, बम्बई
३-७-३८

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी
मन्त्री

प्राक्कथन

यदि श्रीमान् प्रेमीजी का अनुरोध न होता जिन्हें कि मैं अपने इने गिने दिगम्बर मित्रों में सबसे अधिक उदार विचार वाले, साम्प्रदायिक होते हुए भी असाम्प्रदायिक दृष्टिवाले तथा सच्ची लगन से दिगम्बरीय साहित्य का उत्कर्ष चाहने वाले समझता हूँ, और यदि न्यायकुमुदचन्द्र के प्रकाशन के साथ थोड़ा भी मेरा सम्बन्ध न होता, तो मैं इस वक्त शायद ही कुछ लिखता।

दिगम्बर-परम्परा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही, सम्बन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ठ होता गया है। इतने लंबे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के सम्बन्ध में आदर एवं अति तटस्थता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिगम्बरीय परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध सा नज़र आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक की साहित्य प्रवृत्ति देखिये और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिये। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकलङ्क आदि विद्वद्रूप आचार्य चाहे वनवासी रहे हों, या नगरवासी; फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्राहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक शाखाओं के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल प्रतिकूल समालोचना-योग्य गंभीर चिंतन करके अपना साहित्य समृद्धतर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिगम्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस पास ऐसे पुस्तक संग्रह किये, कराये कि जिनमें अपने सम्प्रदाय के समग्र साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्त्वपूर्ण छोटे बड़े सभी ग्रन्थों का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से भी संतुष्ट न रहते थे, पर उनके अध्ययन अध्यापन कार्य को अपना जीवन-क्रम बनाये हुए थे। इसके विना उनके उपलभ्य ग्रन्थों में देखा जाने वाला विचार-वैशद्य व दार्शनिक पृथक्करण संभव नहीं हो सकता। वे उस विशाल-राशि तत्कालीन भारतीय-साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत जैसी अपनी कृतियों को विना बनाये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब बारहवीं शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय, वेदान्त, मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिगम्बर-परम्परा इससे बिलकुल अछूत-सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पक्षधर, मधुसूदन, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिगम्बर साहित्य का उससे बिलकुल अछूत रहना अपने पूर्वाचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सुबूत है। अगर वादिराज के बाद भी दिगम्बरपरम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती तो उसका साहित्य कुछ और ही होता।

कारण कुछ भी हो, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पिछले भट्टारकों और पंडितों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परंपरा पर पड़ा जो अब तक स्पष्ट देखा जाता है और जिसके चिह्न उपलभ्य प्रायः सभी भाण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन अध्यापन प्रणाली और पंडित-मंडली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिगम्बर-भाण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेताम्बर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्त्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिगम्बर परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन चिंतन होता हो। या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा जिसमें यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उतनी विशालता व तटस्थता से उन मूल ग्रन्थों के लेखकों की भाँति नहीं तो उनके शतांश या सहस्रांश भी श्रम किया हो।

एक तरफ से परम्परा में पाई जानेवाली उदात्त शास्त्रभक्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीते का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिगम्बरीय साहित्य क्षेत्र का विचार करता हूँ तब कम से कम मुझको तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी चिरकाल से मनोरथ रहा है कि हो सके उतनी त्वरा से दिगम्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके बिना वह न तो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान संभाल सकेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाय तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्व के, ऐसे ग्रन्थ उसे विरासत लभ्य हैं जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के ऊपर उत्तरकालीन और वर्तमान युगीन सारा मानसिक विकास इस वक्त भी बड़ी खूबी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझ को दिगम्बरीय साहित्य के उपादेय उत्कर्ष के वास्ते कर्तव्य रूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

(१) समंतभद्र, अकलंक, विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस ढंग से प्रकाशित किये जायँ जिससे उन्हें पढ़ने वाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संग्रह दूसरी परम्परा के विद्वानों के वास्ते अनिवार्यसा हो जाय।

(२) आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जायँ, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशीलन किया था और किन किन उपादानों के आधारपर उन्होंने अपनी कृतियाँ रचीं थीं तथा उनकी कृतियों में सन्निविष्ट विचार-परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

(३) उक्त दोनों बातों की पूर्ति का एक मात्र साधन जो सर्वसंग्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों की पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठन प्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

मैंने यह पहले ही सोच रखा था कि अपनी ओर से विना कुछ किये औरों को कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं। इस दृष्टि से किसी समय आप्तमीमांसा का अनुवाद मैंने प्रारम्भ भी किया, जो पीछे रह गया। इस बीच में सन्मतितर्क के संपादन काल में कुछ अपूर्व दिगम्बरीय ग्रन्थरत्न मुझे मिले, जिनमें से सिद्धिविनिश्चय टीका एक है। न्यायकुमुदचन्द्र की लिखित प्रति जो 'आ०' संकेत से प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त हुई है वह भी श्रीयुत प्रेमीजी के द्वारा मिली। जब मैंने उसे देखा तभी उसका विशिष्ट संस्करण निकालने की वृत्ति बलवत्तर हो गई। उधर प्रेमीजी का तकाजा कि मदद मैं यथा संभव करूँगा पर इसका सन्मति जैसा तो संस्करण निकालो ही। इधर एक साथ अनेक बड़े काम जिम्मे न लेने की निजी मनोवृत्ति। इस द्वंद्व में दश वर्ष बीत गये। मैंने इस बीच दो बार प्रयत्न भी किये पर वे सफल न हुए। एक उद्देश्य मेरा यह रहा कि कुमुदचन्द्र जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों के संस्करण के समय योग्य दिगम्बर पंडितों को ही सहचारी बनाऊँ जिससे फिर उस परम्परा में भी स्वावलंबी चक्र चलता रहे। इस धारणा से अहमदाबाद में दो बार अलग अलग से, दो दिगंबर पंडितों को भी, शायद सन् १९२६-२७ के आसपास, मैंने बुलाया पर कामयाबी नहीं हुई, वह प्रयत्न उस समय वहीं रहा, पर प्रेमीजी के तकाजे और निजी संकल्प के वश उसका परिपाक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, जिसे मूर्त करने का अवसर १९३३ की जुलाई में काशी पहुँचते ही मुझे दिखाई दिया।

पं० कैलाशचन्द्रजी तो प्रथम से ही मेरे परीचित थे, पं० महेन्द्रकुमारजी का परिचय नया हुआ। मैंने देखा कि ये दोनों विद्वान् कुमुद का कार्य करें तो उपयुक्त समय और सामग्री है। दोनों ने बड़े उत्साह से काम को अपनाया और उधर से प्रेमीजी ने कार्य साधक आयोजन भी कर दिया, जिसके फल स्वरूप यह प्रथम भाग सबके सामने उपस्थित है।

इसे तैयार करने में पंडित महाशयों ने कितना और किस प्रकार का श्रम किया है उसे सभी अभिज्ञ अभ्यासी आप ही आप जान सकेंगे। अतएव मैं उस पर कुछ न कह कर सिर्फ प्रस्तुत भाग गत टिप्पणियों के विषय में कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

मेरी समझ में प्रस्तुत टिप्पणियाँ दो दृष्टि से की गई हैं। एक तो यह कि ग्रन्थकार ने जिस जिस मुख्य और गौण मुद्दे पर जैनमत दर्शाते हुए अनुकूल या प्रतिकूल रूप से जैनेतर बौद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के मतों का निर्देश व संग्रह किया है वे मत और उन मतों की पोषक परम्पराएँ उन्हीं के मूलभूत ग्रन्थों से बतलाई जायँ ताकि अभ्यासी ग्रन्थकार की प्रामाणिकता जानने के अलावा यह भी सविस्तर जान सके कि अमुक मत या उसकी पोषक परम्परा किन मूलग्रन्थों पर अवलंबित है और उसका असली भाव क्या है ? इस जानकारी से अभ्यासशील विद्यार्थी या पंडित प्रभाचन्द्रवर्णित दर्शनान्तरीय समस्त संक्षिप्त मुद्दों को अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक समझ सकेंगे और अपना स्वतन्त्र मत भी बाँध सकेंगे। दूसरी दृष्टि टिप्पणिओं के विषय में यह रही है कि प्रत्येक मन्तव्य के तात्त्विक और साहित्यिक इतिहास की सामग्री उपस्थित की जाय जो तत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक दोनों के संशोधन कार्य में आवश्यक है।

अगर प्रस्तुत भाग के अभ्यासी उक्त दोनों दृष्टियों से टिप्पणियों का उपयोग करेंगे तो वे टिप्पणियाँ सभी दिगम्बर श्वेताम्बर न्याय प्रमाण ग्रन्थों के वास्ते एक सी कार्य साधक सिद्ध होंगी। इतना ही नहीं; बल्कि बौद्ध ब्राह्मण-परम्परा के दार्शनिक साहित्य को अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में भी काम देंगी। उदाहरणार्थ—

'धर्म' पर की टिप्पणियों को लीजिये। इससे यह विदित हो जायगा कि ग्रन्थकार ने जो जैन सम्मत धर्म के विविध स्वरूप बतलाये हैं उन सबके मूल आधार क्या क्या हैं। इसके साथ साथ यह भी मालूम पड़ जायगा कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप विषयक जिन अनेक मतान्तरों का निर्देश व खण्डन किया है वे हर एक मतान्तर किस किस परम्परा के हैं और वे उस परम्परा के किन किन ग्रन्थों में किस तरह प्रतिपादित हैं। यह सारी जानकारी एक संशोधक को भारतवर्षीय धर्म विषयक मन्तव्यों का आनखशिख इतिहास लिखने तथा उनकी पारस्परिक तुलना करने की महत्त्व पूर्ण प्रेरणा कर सकती है। यही बात अनेक छोटे बड़े टिप्पणों के विषय में कही जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करण से दिगम्बरीय साहित्य में नव प्रकाशन का जो मार्ग खुला होता है, वह आगे के साहित्य-प्रकाशन में पथ प्रदर्शक भी हो सकता है। राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक उत्कृष्टतर ग्रन्थों का जो अपकृष्टतर प्रकाशन हुआ है उसके स्थान में आगे अब कैसा होना चाहिए, इसका यह नमूना है जो माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में दिगम्बर पण्डितों के द्वारा ही तैयार होकर प्रसिद्ध हो रहा है।

ऐसे टिप्पणीपूर्ण ग्रन्थों के समुचित अध्ययन अध्यापन के साथ ही अनेक इष्ट परिवर्तन शुरू होंगे। अनेक विद्यार्थी व पण्डित विविध साहित्य के परिचय के द्वारा सर्वसंग्राही पुस्तकालय निर्माण की प्रेरणा पा सकेंगे, अनेक विषयों के, अनेक ग्रन्थों को देखने की रुचि पैदा कर सकेंगे। अंत में महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के असाधारण-योग्यतावाले अनुवादों की कमी भी उसी प्रेरणा से दूर होगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि दिगम्बरीय साहित्य को विशिष्ट और महती आन्तरिक विभूति सर्वोपादेय बनाने का युग शुरू होगा।

टिप्पणियाँ और उन्हें जमाने का क्रम ठीक है फिर भी कहीं कहीं ऐसी बात आ गई है जो तटस्थ विद्वानों को अखर सकती है। उदाहरणार्थ 'प्रमाण' पर के अवतरण-संग्रह को लीजिये इसके शुरु में लिख तो यह दिया गया है कि क्रम-विकसित प्रमाण-लक्षण इस प्रकार हैं। पर फिर उन प्रमाण-लक्षणों का क्रम जमाते समय क्रम विकास और ऐतिहासिकता भुला दी गई है। तटस्थ विचारक को ऐसा देख कर यह कल्पना हो जाने का संभव है कि जब अवतरणों का संग्रह सम्प्रदायवार जमाना इष्ट था तब वहाँ क्रम-विकास शब्द के प्रयोग की जरूरत क्या थी?

ऊपर की सूचना मैं इसलिए करता हूँ कि आयंदा अगर ऐतिहासिक दृष्टि से और क्रम विकास दृष्टि से कुछ भी निरूपण करना हो तो उसके महत्त्व की ओर विशेष ख्याल रहे। परंतु ऐसी मामूली और अगण्य कमी के कारण प्रस्तुत टिप्पणियों का महत्त्व कम नहीं होता।

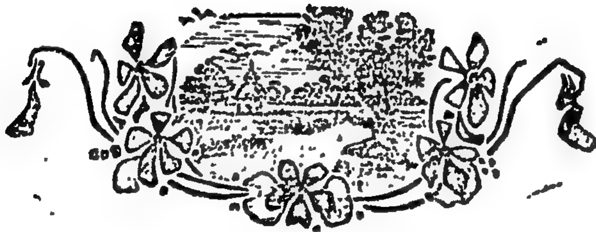
अंत में दिगम्बर परम्परा के सभी निष्णात और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लग कर सर्व संग्राह्य हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जायँ और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र के संस्करण को भी भुला देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें।

विद्याप्रिय और शास्त्रभक्त दिगम्बर धनिकों से मेरा अनुरोध है कि वे ऐसे कार्यों में पंडित-मंडली को अधिक से अधिक सहयोग दें।

न्यायकुमुदचन्द्र के छपे ४०२ पेज, अर्थात् मूल मात्र पहला भाग मेरे सामने है। केवल उसी को देखकर मैंने अपने विचार यहाँ लिखे हैं। यद्यपि जैन-परम्परा के स्थानक वासी और श्वेताम्बर फिरकों के साहित्य तथा तद्विषयक मनोवृत्ति के चढ़ाव उतार के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहने योग्य है। इसी तरह ब्राह्मण-परम्परा की साहित्य विषयक मनोवृत्ति के जुदे जुदे रूप भी जानने योग्य हैं। फिर भी मैंने यहाँ सिर्फ दिगम्बर-परम्परा को ही लक्ष्य में रख कर लिखा है। क्योंकि यहाँ वही प्रस्तुत है और ऐसे संक्षिप्त प्राक्कथन में अधिक चर्चा की गुंजाइश भी नहीं।

हिन्दू विश्वविद्यालय
२६-४-३८

—सुखलाल संघवी
[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय काशी।
भूतपूर्वाचार्य गुजरात विद्यापीठ अहमदावाद।]



सम्पादकीयं किञ्चित्

सम्पादन गाथा—सन् १९३३ के मार्च की बात है, ग्रन्थमाला के मन्त्री पं० नाथूरामजी प्रेमी की कुछ ग्रन्थों के अन्वेषणार्थ एक सूचना निकली। उसका उत्तर देना ही इस ग्रन्थ के सम्पादन का श्री गणेश है।

प्रेमीजी की इच्छा रही कि इसका सम्पादन सन्मतितर्क सरीखा महत्त्वपूर्ण एवं सामग्री-सम्पन्न हो। सौभाग्य से सन्मतितर्क के सम्पादक पं० सुखलाल जी सा० काशी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन के अध्यापक होकर आए और वे ही अपने हाथ से प्रेमी जी का वह पत्र लाए जिसमें न्यायकुमुदचन्द्र के सुसम्पादन की खास प्रेरणा थी। मैंने पं० कैलाशचन्द्र जी से सम्पादन में यथाशक्ति सहायता का वचन मिलने पर सम्पादन-कार्य शुरू किया।

पं० सुखलाल जी के नित्योत्साह तथा सुनिश्चित कार्यपद्धति के अनुसार इसका कार्य चालू किया गया। इसी बीच पंडितजी के साथ तत्त्वोपप्लवसिंह, प्रमाणमीमांसा, जैनतर्कभाषा तथा ज्ञानबिन्दु के सम्पादन में कार्य करने का अवसर मिला। इन ग्रन्थों के सम्पादन निमित्त देखी गई प्रचुर जैन-जैनेतर ग्रन्थ राशि का न्यायकुमुदचन्द्र में, तथा न्यायकुमुदचन्द्र के लिए देखे गए ग्रन्थसमुदाय का उक्तग्रन्थों में खूब उपयोग हुआ। करीब २२५ ग्रन्थों का तो इसी ग्रन्थ की टिप्पणी सङ्कलित करने में उपयोग किया है। जिसमें प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चयटीका, नयचक्रवृत्ति, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दुटीका जैसे अलभ्य लिखितग्रंथ तथा प्रमाणवार्त्तिक, वार्तिकालंकार, वादन्याय जैसी दुर्लभ प्रूफ पुस्तकें भी शामिल हैं।

ब० और ज० प्रति में शक्तिनिरूपण के बाद करीब २२ पत्र का पाठ छूटा है। ये पत्र आ० प्रति में अर्ध त्रुटित थे। इस पाठ की पूर्ति के लिए हमने उत्तर प्रान्तकी आरा, ब्यावर, खुरजा, इन्दौर, ललितपुर आदि स्थानों की प्रतियों की जांच कराई तो मालूम हुआ कि सभी प्रतियों में उक्त पाठ छूटा ही हुआ है। अन्ततो गत्वा भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन-मन्दिर पूना की ताड़पत्रवाली प्रति से उक्त पाठ की पूर्ति करने की आशा से पूना गया। और वहां १ माह रहकर एक कनड़ी जानकार की सहायता से वह २२ पत्र का टूटा हुआ पाठ पूरा करके ग्रन्थ को अखंड किया। पीछे से श्रवणबेलगोला से भट्टारक श्री चारुकीर्ति द्वारा भेजी गई ताड़पत्र की प्रति मिल जाने से उसके पाठान्तर भी ग्रन्थ के इस भाग के अन्त में दे दिए हैं। इस तरह लगातार पाँच वर्ष के सतत और कठिन परिश्रम के बाद प्रस्तुत भाग को संभव-सामग्री-संपन्न बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण और उसकी विशेषताएँ—इस संस्करण में मुद्रित मूलग्रन्थ और उसकी व्याख्या साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण है उनका संपादन भी उतनी ही तत्परता और संलग्नता से किया गया है और आज कल की सुविदित सम्पादन प्रणालियों पर दृष्टि रखते हुए संस्करण को अधिक से अधिक उपादेय और उपयोगी बनाने की चेष्टा में अपनी दृष्टि से कोई कमी नहीं की गई है। दिगम्बर साहित्य के अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थों की पिछड़ी हुई दशा को देखकर तथा दूसरे दूसरे अच्छे अच्छे संस्करणों की अग्रगामिता को ध्यान में रखते हुए हमने इस बात का यह लघुप्रयत्न किया है कि प्रकाशन तथा सम्पादनक्षेत्र में कुछ

प्रगति हो तथा उसकी समग्रता का मापदण्ड कुछ ऊँचा हो। तथा प्रचलित अध्ययन क्रम में परिवर्तन होकर कुछ विशाल दृष्टि उत्पन्न हो। इसकी सफलता की जांच तो पाठक ही कर सकेंगे। इस संस्करण की विशेषताएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

पाठान्तर—इसके सम्पादन में अति प्राचीन प्रतियों का उपयोग किया गया है और मौलिक पाठान्तर नीचे टिप्पण में दे दिये गये हैं। पाठान्तर देते समय हमारे सामने प्रधानतया दो दृष्टियाँ रहीं हैं—एक अर्थ विषयक और दूसरी लिपिविषयक। अर्थ की दृष्टि से जो पाठ विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए उन्हें मूल में दिया है और शेष को टिप्पण में। लिपि-विषयक पाठान्तर पाठकों को यह बतलाने के लिये दिये हैं कि किस तरह लिपिसाम्य से लेखकगण कुछ का कुछ समझ लेते हैं और उनकी यह भूल अर्थ का अनर्थ तो करती ही है; किन्तु पाठान्तरों की भी सृष्टि कर डालती है। उदाहरण के लिये, 'तद्धि स्वकारण' का लिपि-दोष से 'तद्धिश्व-कारण' समझ लिया गया। पाठान्तर को ठीक २ समझने के लिये जिस शैली का अनुसरण किया है उसे जान लेना भी आवश्यक है। पाठान्तर जिस वर्ण से प्रारम्भ होता है ऊपर उस वर्ण पर ही अंक दिया है। यदि पाठान्तर किसी शब्द का अंश है और उसके प्रारम्भ के, अंत के या दोनों ओर के कुछ वर्ण छोड़ दिये गये हैं, तो उनको बतलाने के लिये नीचे टिप्पण में पाठांतर के आगे, पीछे या दोनों ओर डैश लगा दिये गये हैं। यथा 'तद्धिस्वकारण' का पाठांतर 'तद्धिश्वकारण' है तो 'तद्धि' के 'त' के ऊपर अंक देकर, नीचे टिप्पण में 'तद्धिश्वका-' इस रूप में पाठान्तर दिया है। 'का' के आगे का डैश बतलाता है कि कुछ वर्ण छोड़ दिये गये है जो मूल पाठ के ही सदृश हैं।

टिप्पणी—इस संस्करण का सबसे अधिक परिश्रम से तैयार किया भाग इसकी टिप्पणी (Foot note) है। इसके लिये जैन बौद्ध और वैदिक दर्शन के उपलब्ध प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का यथासंभव उपयोग किया गया है। संस्कृत वाङ्मय के पठन-पाठन में आजकल हम लोगों ने एक दृष्टि को बिल्कुल ही भुला दिया है। दार्शनिक प्रबन्धों में भी न केवल ऐतिहासिक घटनाओं के बीज निक्षिप्त रहते हैं, किन्तु उनका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक युक्ति और प्रत्येक सिद्धान्त अपने उदर में अपनी कहानी छिपाये हुए है। यह बात इतनी सत्य है कि विद्वत्समाज उसे स्वीकार किये बिना न रहेगा। प्राचीन साहित्य के किसी भी ग्रंथ का अध्ययन करते समय अध्येता को यह स्मरण रखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की रचना में तत्कालीन परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। और यदि उसके पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थों के साथ उसे तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ा जाये तो ऐसे ऐसे रहस्यों का उद्घाटन होता है जिनकी कल्पना कर सकना भी संभव नहीं है। साहित्य चाहे वह दार्शनिक हो या धार्मिक, सामाजिक हो या राजनैतिक, पौराणिक हो या व्याख्यात्मक, अपने समय के द्वन्द्वों का प्रतिबिम्ब होता है। जिस साहित्य में केवल वस्तु विवेचन हो, वह भी इस द्वन्द्व से अछूता नहीं रह सकता तब जिसमें वस्तुविवेचन के साथ साथ उस समय के प्रचलित मत-मतान्तरों की आलोचना की गई हो, वह साहित्य अपने रचनाकाल के प्रभाव से कैसे अछूता रह सकता है? लघीयस्त्रय तथा उसकी स्वोपज्ञ विवृति उस समय रचे गये हैं जब भारत की अन्तर्मुखी दार्शनिक परिस्थिति में यूरुप की बहिर्मुखी आधुनिक परिस्थिति से भी अधिक उथल पुथल हो रही थी और भारतवर्ष के दार्शनिक क्षेत्र में धर्मकीर्ति और कुमारिल सरीखे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् अपनी

लेखनी और वाक्‌शक्ति के द्वारा अपने विरोधी को परास्त करके अपनी विजयवैजयन्ती फहराने में संलग्न थे। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र की रचना भी ऐसे ही द्वन्द्वकाल में ही हुई है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का समय भारत के दार्शनिक क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस समय में परस्पर के संघर्ष से दर्शन शास्त्र का खूब विकास हुआ, प्रबल प्रतिवादियों के आक्रमणों से आत्मरक्षा करने के लिये नये नये सिद्धान्तों का सर्जन और पुरानों का संवर्द्धन हुआ। कई एक नूतन मत आविर्भूत हुए और कई एक पुरातन सिद्धान्त अपने पदचिह्न छोड़कर अस्त हो गए। शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव और बौद्धधर्म का मध्याह्न तथा उसके पतन का श्री गणेश इसी काल में हुआ। इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थ भी लगभग इसी द्वन्द्व काल की रचनाएँ हैं और उनके निर्माता भट्टाकलङ्क और प्रभाचंद्र ने अपने समय के समर्थ तार्किकों के मत की आलोचना उनके ग्रन्थों से अवतरण देकर की है। अतः उनकी आलोचनाओं का रहस्य तथा उत्तरकालीन ग्रन्थकारों पर उनका प्रभाव जानने के लिये यह आवश्यक है कि अध्येता पूर्वकालीन तत्कालीन और उत्तरकालीन दार्शनिक मन्तव्यों से परिचित हो। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर शब्दसाम्य, अर्थसाम्य और भावसाम्य की दृष्टि से प्रत्येक सिद्धान्त और युक्ति का प्रादुर्भाव और विकास बतलाने के लिये पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को टिप्पणी में ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। सङ्कलन करते समय ऐतिहासिक क्रम की रक्षा का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया है। इसके सिवा कुछ टिप्पणियां ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करने के लिये तथा कुछ पाठ-शुद्धि के लिये भी दी गई हैं। प्रत्येक विषय के अन्त में उसकी चर्चा के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष सम्बन्धी ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची दी है। जिससे उस विषय के और भी पर्यालोचन के लिए यह सूची निर्देशिका का कार्य देगी।

अवतरणनिर्देश—ग्रन्थ में उद्धृत जिन पद्यों तथा वाक्यों के निर्देशस्थल खोजे जा सके उनके आगे कोष्टक में उनके मूलस्थल दे दिये गये हैं और इस प्रकार के तथा अन्य उद्धृत पद्यों को जिन जिन ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है टिप्पण में उन ग्रन्थों का भी निर्देश कर दिया है। इससे ग्रन्थकारों का समय निर्णय करने में काफी सहायता मिल सकेगी।

सङ्केतविवरण—टिप्पणी तथा मूलग्रन्थ में अनेक स्थान में सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया है। उस का पूरा विवरण दे दिया है; जिससे उन ग्रन्थों का यथावत् उपयोग हो सके।

विषयानुक्रमणिका—इस में प्रत्येक विषय के पूर्वपक्ष की ख़ास ख़ास युक्तियां तथा उत्तर पक्ष के खास खास प्रमाण तथा विचारों का क्रम से विस्तृत संग्रह किया है। जिससे ग्रन्थ के पाठी विद्यार्थियों को विषय याद करने में बहुत सहायता मिलेगी।

परिशिष्ट—इस भाग में 'लघीयस्त्रय' के शब्दों की सूची, लघीयस्त्रय की कारिकाओं की अकारादिक्रम से सूची, विवृति के शब्दों की सूची, न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों की सूची, लक्षणवाक्यों की सूची, उद्धृतपद्यों की सूची, ग्रन्थ में आगत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नामों की सूची, टिप्पणी सूची, ग्रन्थ के सम्पादन में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, भूमिका में आये नामों की सूची, भूमिका लिखने में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, आदि अनेक परिशिष्ट रहेंगे। यह भाग इस संस्करण के द्वितीय भाग के अन्त में रहेगा। ये परिशिष्ट अन्वेषकों के बड़े काम के सिद्ध होंगे। इनके द्वारा ग्रन्थ का कोई भी विषय सरलता से देखा जा सकता है।

भूमिका—इस भाग में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक तथा दार्शनिक मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ विभाग में ग्रन्थ का तुलनात्मक परिचय तथा विशद विषय परिचय दिया गया है। ग्रन्थकार विभाग में अकलङ्क देव का इतिहास निबद्ध किया है और अकलङ्क के साथ प्रायः मुख्य मुख्य सभी जैन तथा जैनेतर ग्रन्थकारों की तुलना करते हुए बहुत सी बातों का रहस्य उद्घाटित किया है। इस भाग को यदि जैनतर्क युगके इतिहास की रूपरेखा कही जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि अकलङ्क देव को जैन न्याय के प्रस्थापक होने का श्रेयः प्राप्त हैं। यदि जैनदर्शन के कोषागार से उनके ग्रन्थरत्नों को अलग कर दिया जाये या जैनन्याय रूपी आकाश से इस जाज्वल्यमान नक्षत्र का अस्तित्व मिटा दिया जाए तो वे सूने और निष्प्रभ हो जायेंगे। अतः इस महापुरुष की जीवनगाथा और जैनन्याय के विकास की आत्मकथा दोनों परस्पर में सम्बद्ध हैं, एक के जीवन का अनुशीलन दूसरे पर प्रकाश डालने के लिये प्रदीप का काम देता है। अतः इस भाग में प्रकृतग्रन्थोंकी तुलनात्मक विवेचना के साथ साथ अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के समय और ग्रन्थों की विवेचना, अकलङ्क से पहले जैनन्याय की रूपरेखा, जैनन्याय को उनकी देन, आदि सभी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है। अकलङ्क के समयनिर्णय के प्रकाश में अन्य भी कई जैनेतर ग्रन्थकारों के प्रचलित समय के बारे में भी ऊहापोह किया गया है, इस लिये ऐतिहासिकों के लिये भी यह प्रस्तावना उपयोगी होगी।

छपाई आदि—मूल, विवृति, व्याख्यान, टिप्पण और पाठान्तर के लिये उपयुक्त टाईप का उपयोग किया है। उद्धरणवाक्य इटालिक में दिये गये हैं जिससे उनके पहचानने में भ्रम न हो। पाठान्तर और टिप्पण में भेदसूचन करने के लिये पाठान्तर को मोटे और शेष टिप्पण को पतले टाईप में दिया है। प्रत्येक पत्र पर पंक्तिसंख्या भी दी गई है जिससे अन्वेषकों को अनेक सहूलियतें रहेंगी। प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर प्रवेश, परिच्छेद, कारिका की संख्या और विषय का निर्देश कर दिया है इससे किसी भी विषय को सरलता से खोजा जा सकेगा।

लिखित प्रतियों में विरामचिह्नों का उपयोग मात्र '।' ऐसी खड़ी पाई का होता है। वह भी लेखक एक पत्र या पंक्ति में शोभा के लिए इतनी पाइयां लगानी चाहिए ऐसा सोचकर जहां मन में आता है वहां लगा देते हैं। हमने इसमें अल्पविराम, अर्धविराम, विराम, आश्चर्य-सूचक, प्रश्नसूचक आदि चिह्नों का उपयोग किया है। किसी खास बात को या पूर्वपक्ष के शब्दों को ' ' इस तरह सिंगल इनवर्टेड कामा में रखा है। अवतरणों को " " डबल इनवर्टेड कामा में रखा है। प्रकरणों का तथा अवान्तर चर्चाओं का वर्गीकरण करके उन्हें भिन्न भिन्न पैरोग्राफ में रखा है। जहाँ प्रकरण शुरू होता है वहाँ बगल में हेडिंग इटालिक टाइप में दे दिया है। इस तरह पाठकों की सुविधा के लिए प्रायः समुचितप्रणालियों पर ध्यान रखके इसका मुद्रण कराया गया है। ग्रन्थ में जो शब्द सभी प्रतियों में अशुद्ध है तथा हमें उन शब्दों की जगह दूसरा पाठ प्रतीत हुआ उसे ( ) इस ब्रेकिट में दिया है। जिससे ग्रन्थ की मौलिकता सुरक्षित रह सके। विशेष व्यक्तियों के नाम या वादों के नामों के नीचे ~~~~ ऐसी लाइन दे दी है। संक्षेप में यही इस संस्करण का सिंहावलोकन है।

संशोधन में उपयुक्त प्रतियों का परिचय

✓ (१) 'आ०' संज्ञक, ईडरभंडार की जीर्णशीर्ण कीटदष्ट प्रति। इस प्रति में कुल ४११ पत्र हैं। अन्तिम दो पत्र एक एक बाजू पर ही लिखे गए हैं। इसके शुरू के ११ पत्र सदृश लेखक के द्वारा लिखी गई लघीयस्त्रय की स्वविवृति की प्रति से बदल गए हैं, अर्थात् विवृति

के ११ पत्र इसमें लग गए तथा इसके ११ पत्र संभवतः विवृतिकी प्रति में या और कहीं बंध गए होंगे। पर इस विनिमय से हमें विवृति के उद्धार में बहुत सहायता मिली है।

पत्रों की लंबाई चौड़ाई १०$\frac{1}{2}$×४$\frac{1}{2}$ इंच है। एक पृष्ठ में १३ पंक्ति तथा प्रत्येक पंक्ति में ४९–५० अक्षर हैं। इसके प्रारम्भ के १०८ पत्र तथा २१३ और २१४ वें पत्र आधे आधे गल गए हैं। इनको अति सावधानी से उठाने पर भी प्रतिक्षण इसके परमाणु विशीर्ण होते जाते हैं। अन्तिमपत्र तो इतने घिस गए हैं कि आईग्लास की मदद लेने पर भी कठिनता से ही वांचे जा सकते हैं। इसके अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है–'इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मिति ॥ छ ॥ ग्रंथाग्र' १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतुः ॥''॥ श्री ॥ इसके अन्त में १५२० का अङ्क देने से तथा प्रति की अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि यह प्रति संभवतः संवत् १५२० में लिखी गई हो। इसके २०८ से २१३ तक के पत्र किसी दूसरे लेखक के लिखे मालूम होते हैं। कहीं कहीं छूटा हुआ पाठ हाँसिया में दिया गया है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रति लिखी जाने पर फिर से मिलाई गई है। अक्षर पृष्ठमात्रा वाले सुवाच्य हैं। प्रति शुद्ध है। हांसियां में कहीं कहीं अर्थबोधक टिप्पणियां भी दी गई हैं। प्रकरण की समाप्ति स्थल में कुछ शब्द गेरुआ रङ्ग से रङ्ग दिए गए हैं। अन्यप्रतियों की अपेक्षा हमें यह प्रति शुद्ध मालूम हुई इस लिए हमने इसे आदर्शप्रति मानकर प्रेस कापी की थी। इसमें आखिरी के १५० पत्रों में शब्दसादृश्य के कारण एक एक दो दो पंक्ति के पाठ छूट गए हैं। मालुम होता है लेखक लिखते लिखते ऊब गया था। मिलान करने वालों ने भी शुरू के पत्रों का मिलान करके प्रति को साधारणतया शुद्ध पाकर मालुम होता आगे का पाठ नहीं मिलाया।

(२) 'ब०' संज्ञक, बनारस के श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय के अकलंक सरस्वती भवन की प्रति है। यह प्रति आरा के जैनसिद्धान्त-भवन की प्रति पर से की गई है। अत्यन्त अशुद्ध है। इस में शक्ति-निरूपण से करीब २२ पत्र का पाठ बिलकुल छूट गया है। इस २२ पत्र के पाठ की भूल न केवल आरा और बनारस की प्रतियों में हैं; किन्तु खुरजा, ब्यावर, इन्दौर, ललितपुर, जयपुर आदि के भंडारों की प्रतियों में भी है। इसका एक ही कारण मालुम होता है कि उत्तर प्रान्त की समस्त प्रतियां किसी ऐसे आदर्श से की गई हैं जिसमें उक्त पाठ न होगा, या लेखक ने सदृश शब्द आने से प्रथमप्रति में छोड़ दिया होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रति में १–२ पेज का पाठ भी दो जगह छूटा है। २१४ पंक्तियों के पाठ का छूट जाना तो साधारण सी बात है। पत्र की लंबाई चौड़ाई १४$\frac{1}{2}$×७$\frac{1}{2}$ इंच है। पत्र संख्या २७९, एक पेज में १५ पंक्ति, एक पंक्ति में ५०–५१ अक्षर हैं। चैत्र शुद्ध ३ सं० १९६४ की लिखी हुई है। अक्षर जितने सुवाच्य हैं उतनी ही अशुद्ध लिखी गई है। मार्जिन में विषय का नाम तथा टिप्पणी आदि कुछ नहीं है।

(३) 'ज०' संज्ञक, जयपुर के एक भंडार की प्रति है। इसका आदर्श भी कोई उत्तर प्रान्त की प्रति ही मालुम होती है। इसमें भी ब० प्रति की तरह २२ पत्र का पाठ छूटा है। ब० और ज० दोनों प्रतियों का आदर्श प्रायः एक ही मालुम होता है। पत्र संख्या ५८८ है। पत्र की लंबाई चौड़ाई १५×५ इञ्च है। एक पेज में ७ पंक्ति, एक पंक्ति में ४६-४७ अक्षर हैं। नकल करने का समय आसोज सुदी १५ सं १९३७ दिया गया है। टिप्पणी कहीं कहीं ही है। ब० प्रति की तरह सदृशशब्द आने पर पेज के पेज पाठ छोड़ दिए गए हैं। एक एक दो दो पंक्तियां तो बीसों जगह छूटी होंगी। प्रति का लेख सुवाच्य है। प्रति अशुद्ध है।

(४) 'भां०' संज्ञक, भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर की 5066 of 1937-38 नं० वाली ताड़पत्र की प्रति है। इसके पाठान्तर लेने को मैं स्वयं पूना गया था। कनड़ी वाचक की

सहायता से इसके पाठान्तर संगृहीत किए गए हैं। इसके और ब० ज० प्रति के पाठ बहुत कुछ मिलते हैं। पर इसमें वह २२ पत्र वाला पाठ छूटा नहीं है। पत्र संख्या २६०, पत्रों की लंबाई चौड़ाई २०$\frac{1}{2}$×२$\frac{1}{2}$ इञ्च है। प्रत्येक पत्र में ७ से १० लाइन तथा प्रत्येक लाइन में ११५-१२० तक अक्षर है। इसकी लिपि तैलगू है। हांसिया में टिप्पणी नहीं हैं; हाँ प्रकरण शुरू होते ही विषय का निर्देश सूक्ष्मरूप में हांसिया में कर दिया है। कुछ पत्र तीन हिस्से करके लिखे गए हैं तथा कुछ पत्र दो हिस्सों में। प्रति अशुद्ध है। थ और द में कोई अन्तर नहीं मालुम होता।

प्रति के अन्त में—'श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलम [ल] कलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपंडितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालंकारः कृतः इति मंगलम्। श्री शालिवाहनशकवर्ष १७६५ शुभकृत संवत्सर चैत्रशुद्ध पंचदश यान्ते' लिखा है। इससे इस प्रति के लिखने का समय चैत्र शुद्ध १५ शक १७६५ स्पष्ट है।

(५) 'श्र०' संज्ञक, श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य जी के भंडार की है। यह प्रति पुरानी कनड़ी लिपि में ताड़पत्र पर लिखी गई है। इसके पाठान्तर भी कनड़ी वाचक की सहायता से लिए गए हैं। इसका आदर्श भी भां० प्रति की ही तरह है। अशुद्ध भी उतनी ही है। पत्र संख्या २३७, पत्रों की लंबाई चौड़ाई २५×१$\frac{1}{2}$ इञ्च है। एक पेज में ८-९ लाइन हैं। प्रत्येक पेज तीन कालम में विभाजित है। पहिले कालम में २९ अक्षर, दूसरे में ४८ तथा तीसरे में ८९ इस तरह १०६-१०७ अक्षर हर एक पंक्ति में है। टिप्पणी कहीं नहीं है। हां, भां० प्रति की तरह प्रकरण शुरू होते ही उसका निर्देश सूक्ष्माक्षरों में मार्जिन में किया है। इस प्रति की एक विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में प्रत्येक पत्र की विस्तृत विषय सूची सरल संस्कृत भाषा में लिखी हुई है जो किसी दूसरी प्रति में नहीं देखी गई। इसके अन्त में भी भां० प्रति की तरह ही 'श्री जयसिंह देवराज्ये' इत्यादि पुष्पिका लेख है।

स्वविवृति की संकलना तो आ० प्रति के प्रारम्भ में लगे हुए विवृति के ११ त्रुटित पत्रों के आधार से न्यायकुमुद का समग्रवाचन करके की गई है। पर इसकी यथावत् पूर्णता जयपुर से प्राप्त स्वविवृति की प्रति से ही हो सकी है।

आभार प्रदर्शन—यद्यपि इस क्षेत्र में हमारा यह प्रथमप्रयास है, परन्तु विशिष्टसहायकों के कारण हमें विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी जैसे दर्शनशास्त्र के अधिकारी, अनुभवी विद्वान् के समयोचित परामर्श से तथा इनके द्वारा संपादित सन्मतितर्क का संस्करण सामने रहने से हमें अपने कार्य की तथा संपादनप्रणाली की रूप-रेखा बनाने में जरा भी अड़चन नहीं हुई। इन्हीं के द्वारा हमें अनेकों ग्रन्थ जिनमें सिद्धिविनिश्चयटीका, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दुटीका, प्रमाणसंग्रह आदि अलभ्य लिखित ग्रन्थ शामिल हैं, प्राप्त हो सके। यद्यपि सन्मतितर्क के हम इस संपादन में ऋणी हैं पर सन्मतितर्क के द्वितीय संस्करण के संपादक इस ऋण को न्यायकुमुदचन्द्र के इस संस्करण से निश्चित रूप से व्याज सहित पा सकेंगे।

संपादन में प्रेसकापी से लेकर प्रस्तावनान्त सभी कार्य हम और हमारे ज्येष्ठ-सहचर पं० कैलाशचन्द्रजी संयुक्तभाव से करते रहे हैं। हाँ, संपादनांश की जिम्मेवारी हमारे ऊपर तथा प्रस्तावनांश की जिम्मेवारी उनपर रही, अतः सहयोगित्व के नाते उन्हें जो सामग्री संपादनांश में उपयोगी मालुम हुई मुझे बताई, हमें जो सामग्री प्रस्तावना के योग्य प्रतीत हुई, उन्हें बताई। इस तरह पारस्परिक सहयोग से संपादनांश तथा प्रस्तावनांश की पूर्ति एक दूसरे से होती रही। पर जिम्मेवारी आदि कारणों से हमारे ज्येष्ठसहयोगी पं० कैलाशचन्द्रजी की यह प्रबल इच्छा रही कि—'प्रस्तावना में मात्र उन्हीं का तथा संपादन में मात्र मेरा नाम रहे।' यद्यपि संपादन में

उनका नाम न होना मुझे खटकता है; फिर भी इनकी इच्छा का समादर करके हमने इनके इस पृथक्-नामकरण के प्रस्ताव को मान लिया है। पं० जी ने प्रेसकापी-आदि-प्रूफ-अन्त सभी कार्यों में हमें बड़े परिश्रम से सहायता पहुंचाई है, तथा प्रस्तावना की जिम्मेवारी उठाकर तो उन्होंने हमारा बोझ बहुत कुछ हलका कर दिया है। ऐसे विशिष्ट सहयोगी के मिलने से हम इस भाग में ५ साल जैसा लंबा समय धैर्य के साथ लगा सके हैं।

विद्यामूर्ति पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी का हमारा संपादनक्रम देखकर चिरसंचित सहज विद्यानुराग उमड़ पड़ा। उन्होंने हमें बहुत प्रोत्साहन दिया। तथा हमारी प्रार्थना से अपना बहुमूल्य दार्शनिक ग्रन्थसंग्रह स्याद्वाद विद्यालय की लाइब्रेरी को भेंट किया। इतना ही नहीं, अपना सर्वस्व ४३००) रु० भी पुस्तकालय के ध्रौव्यकोश में इस लिए प्रदान किये कि—इसके व्याज से प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-पाली आदि भाषाओं के दार्शनिक ग्रन्थ ही मँगाए जाँय। आप के इस विद्यानुरागमूलक औदार्य से हमें सम्पादनोपयोगी दार्शनिकग्रन्थ अनायास ही मिल सके। ऐसे उद्वेल विद्यारस के दर्शन दूसरी जगह कठिनता से ही होते हैं।

पं० सुखलालजी के शब्दों में 'वृद्धयुवक' श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी ने, जो इस ग्रन्थमाला के मन्त्री हैं, हमें पूरे उत्साह तथा आर्थिक औदार्य के साथ साधन जुटाने में कोई कमी नहीं की। ग्रन्थमाला के द्वितीय मंत्री प्रो० हीरालाल जी तथा कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास-भगवान्-दास जी जवेरी ने भी बड़े सौजन्य से हमारे कार्य में आवश्यक सहायता पहुँचाई।

बौद्धविद्वान् भिक्षु राहुलसांकृत्यायन जी ने बड़ी कठिनता एवं साहस से तिब्बत से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, वार्त्तिकालंकार आदि दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ देकर असाधारण सहायता पहुँचाई। पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार सरसावा ने संपादन के लिए उद्धृत न्यायविनिश्चय की कारिकाओं का मिलान कराया। भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन-मंदिर पूना के प्रबन्धकों ने अपने यहाँ की ताड़पत्र की प्रति से पाठान्तर लेने में सुविधा की। भट्टारक श्री चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य श्रवणबेलगोला ने अपने यहां की ताड़पत्र वाली प्रति भेजी। मास्टर मोतीलाल जी संघी तथा कविरत्न पं० चैनसुखदास जी सा० जयपुर ने न्यायकुमुदचन्द्र तथा स्वविवृति की प्रति भेजी। भाई पं० दलसुखजी न्या० ती० ने छपाई-आदि के बावत उचित परामर्श दिया। प्रिय भाई खुशालचन्द्र जी बी० ए०, शास्त्री ने कुछ प्रूफ देखने में सहायता पहुँचाई। हम उक्त सभी सहायक महानुभावों का आभार मानते हैं।

ग्रन्थ-सम्पादन-काल में सदाशय प्रेमी जी का यह सदुपालम्भ कि—'यथेष्ट पारिश्रमिक देने पर भी जैनपंडित जिम्मेदारी से कार्य नहीं करते' हमेशा ध्यान में रहता था। इसी के कारण-हमने उपलब्ध सामग्री के अनुसार यह प्रारम्भिक लघुप्रयत्न किया है। यदि इससे प्रेमी जी थोड़ी भी सन्तोष की सांस ले सके तो हम अपने प्रयत्न को कुछ सफल समझेंगे। इस भाग की छपाई टिप्पणी संकलन आदि में काफ़ी सावधानी से कार्य किया है, पर मनुष्य की शक्ति तथा सामग्री का विचार करके स्खलन होना संभव है। आशा है पाठकगण इसे सद्भाव से देखेंगे।

एक दुःखद प्रसंग—मैंने संपादन काल में जात अपने ज्येष्ठपुत्र का नाम संपादन की स्मृति-निमित्त 'कुमुदचन्द्र' रखा था। काल की गति विचित्र है। अब तो यह सम्पादित-ग्रन्थ ही उसका पुण्यस्मारक हो गया है। मैं तो इसे अपने साहित्य-यज्ञ की आहुति ही मानता हूँ।

वीरशासन-दिवस, श्रावण कृष्ण १, वीर सं० २४६४ }
स्याद्वाद विद्यालय, काशी }

सम्पादक—
—महेन्द्रकुमार

प्रस्तावना

आज हम अपने पाठकों के सन्मुख जिस ग्रन्थरत्न की प्रस्तावना उपस्थित करते हैं उसका नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। यह ग्रन्थ एक स्वतंत्र रचना न होकर लघीयस्त्रय और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है। यद्यपि आज से कई वर्ष पहले मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय अभयचन्द्रसूरि-रचित तात्पर्यवृत्ति के साथ इसी ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हो चुका था किन्तु उसकी विवृति और व्याख्यान अभी तक अप्रकाशित ही था। न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियाँ तो कुछ ग्रन्थभण्डारों में पाई भी जाती थीं किन्तु स्वोपज्ञविवृति के अस्तित्व का पता तो सबसे पहले पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने ही लगाया था। आज दोनों ग्रन्थरत्न अपने अनुरूप संपादन और मुद्रण के साथ प्रकाशित हो रहे हैं।

अपनी इस प्रस्तावना को हमने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है और दूसरा ग्रन्थकारों से। ग्रन्थविभाग में, ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो कुछ जाना जा सका उसे बतलाने का प्रयत्न किया है और ग्रन्थकार विभाग में ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में आवश्यक सभी बातें निर्दिष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

१. ग्रन्थपरिचय

लघीयस्त्रय—जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, यह ग्रन्थ छोटे २ तीन प्रकरणों का संग्रह है। प्रकरणों का नाम क्रमशः प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश है। प्रथम प्रवेश में चार परिच्छेद हैं, दूसरे में एक और तीसरे में दो। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल सात परिच्छेद हैं। ग्रन्थ का प्रवेशों और परिच्छेदों में विभाजन स्वयं ग्रन्थकार का ही किया हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि उसकी स्वोपज्ञविवृति की जो प्रतियाँ हमारे देखने में आईं, उनमें भी विषयविभाजन का यही क्रम है, तथा न्यायकुमुदचन्द्र की हस्तलिखित प्रतियों में और मुद्रित तात्पर्यवृत्ति में भी उक्त क्रम ही पाया जाता है, उसमें कोई व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता।

किन्तु यहाँ पर एक शंका उत्पन्न हो सकती है। कहा जा सकता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की विभिन्न प्रतियों में विषयविभाजन का एक ही क्रम देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह विभाजन मूलकार का किया हुआ है क्योंकि विभिन्न प्रतियों में पाठभेद हो सकता है किन्तु विषयविभाजन में तो अन्तर पड़ने का कोई कारण ही नहीं है। तथा अभयचन्द्र ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति न्यायकुमुदचन्द्र को सामने रखकर ही बनाई है, जैसा कि उसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में दत्त 'अकलंकप्रभा' शब्द से व्यक्त होता है। अतः उन्होंने भी वही क्रम अपनाया होगा जो प्रभाचन्द्र ने अपनाया था। रह जाती हैं स्वोपज्ञविवृति की प्रतियाँ, किन्तु उनमें भी प्रथम परिच्छेद की सन्धि में 'इति न्यायकुमुदचन्द्रे' आदि लिखा है,

---

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १३५। २ अन्तिम प्रवचनप्रवेश का दो परिच्छेदों में विभाजन स्वविवृति की मूल प्रतियों में नहीं पाया जाता।

जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रतियाँ भी न्यायकुमुदचन्द्र के आधार पर ही की गई हैं। अतः उपलब्ध सामग्री के आधार पर तो लघीयस्त्रय का विभाजन मूलकार का किया हुआ प्रतीत नहीं होता। यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ का तीन प्रकरणों में विभाजित होना तो ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। रह जाता है प्रत्येक प्रकरण का अवान्तर परिच्छेदों में विभाजन, सो कारिकाओं की स्वोपज्ञविवृति का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से उसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है क्योंकि प्रत्येक परिच्छेद की अन्तिम कारिका की विवृति उपसंहारात्मक प्रतीत होती है। तथा, मूलकार के अन्य ग्रन्थों के देखने से भी विषय के अनुरूप ग्रन्थ का विभाजन करने की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। स्वोपज्ञविवृति की प्रतियों में जो 'न्यायकुमुदचन्द्रे' या 'श्री-मद्भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे' लिखा है वह लेखकों की भूल का परिणाम है और उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की रचना के बाद यह प्रतियाँ की गई हैं। यदि उनका आधार न्यायकुमुदचन्द्र होता तो दोनों की सन्धियों में मौलिक अन्तर न होता। तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में चौथे पांचवें तथा सातवें परिच्छेद के अन्त में दुहरे सन्धिवाक्य पाये जाते हैं, जिनमें से एक परिच्छेद का अन्त सूचक है और दूसरा प्रवेश का। यथा—"इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः।" "एवं प्रक्रा-न्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयः।" इससे भी उक्त बात का समर्थन होता है।

लघीयस्त्रय का अन्तःपरीक्षण करने से एक शंका पुनः हृदय में उठ खड़ी होती है। हम लिख आये हैं कि यह ग्रन्थ छोटे छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। आस्तिकों के नियमानुसार इसके आरम्भ में तो मङ्गलगान किया ही गया है किन्तु मध्य में, तीसरे प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में भी मङ्गलगान किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता इसे मध्य मङ्गल बतलाते हैं क्योंकि शास्त्र-कार ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल का विधान करते हैं। किन्तु अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में हम मध्य मङ्गल नहीं पाते। इसके सिवाय, उनके न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ में—जिसके तीन प्रस्ताव बृहत्त्रय कहे जाने के योग्य हैं—प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित छन्द पाये जाते हैं, जो परिच्छेद या प्रकरण की समाप्ति का सूचन करते हैं। लघीयस्त्रय में इस तरह के पद्य नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के अन्त में पाये जाते हैं। तथा तीसरे प्रवेश के आदिश्लोक में मङ्गलगान के साथ ही साथ प्रमाण नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और प्रमाण और नय का वर्णन करते हुए प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में प्रतिपादित कुछ बातों की पुनरुक्ति भी की गई है। तथा स्वविवृति की प्रतियों में द्वितीयप्रवेश के अन्त में समाप्तिसूचक 'कृतिरियं भट्टाकलङ्कस्य' आदि लिखा हुआ है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ, तीन नहीं, अपि तु दो प्रकरणों का एक संग्रह है। यदि नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश की तरह, प्रमाणप्रवेश के अन्त में भी समाप्तिसूचक पद्य होता तो तीनों प्रवेशों के स्वतंत्र प्रकरण होने में सन्देह को स्थान न रहता।

यह आशंका साधार है और हृदय को लगती भी है किन्तु ग्रन्थ का नाम लघीयस्त्रय होते हुए भी एक ही ग्रन्थ के रूप में हमें उसकी समीक्षा करनी चाहिए, न कि तीन स्वतंत्र

---

१ परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमनेकान्तनयेन द्रव्यस्थापनं नाम द्वितीयपरिच्छेदः। परपरिकल्पितानुमानादि-खण्डनं स्वमतप्रणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापनं तृतीयपरिच्छेदः। उ० विवृति।

प्रकरणों के एक संग्रह के रूप में, और उस दृष्टि से उसके त्रयत्व में विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती। अकलंकदेव के अन्य प्रकरणों के देखने से ज्ञात होता है कि वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलगान करने के बाद कण्टकशुद्धि आदि के उद्देश्य से एक पद देते हैं। इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही क्रम पाया जाता है, मंगलगान के पश्चात् 'सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक' आदि पद्य के द्वारा इसमें भी कण्टकशुद्धि की गई है। प्रमाण और नयप्रवेश की कुछ बातें यद्यपि प्रवचनप्रवेश में दुहराई गई हैं तथापि उनमें दृष्टिभेद है और उसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। रह जाती है प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में मङ्गलगान की बात, सो न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने मध्यमङ्गल बतलाकर उसका समाधान कर ही दिया है। क्योंकि ग्रन्थ का नाम उसके तीन प्रवेश और प्रवेशों के अवान्तर परिच्छेदों के रहते हुए कोई भी विचारक उसे मध्य मङ्गल के सिवाय अन्य बतला ही क्या सकता था। फिर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के पञ्चमपरिच्छेदान्तभाग को पृथक् बनाया गया है और प्रवचनप्रवेश को पृथक्, और बाद में दोनों को सङ्कलित करके लघीयस्त्रय नाम दे दिया गया है। प्रारम्भ के चार परिच्छेदों में प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का वर्णन होने के कारण उन्हें प्रमाणप्रवेश नाम दिया गया, पाँचवें परिच्छेद में केवल नयों का वर्णन होने के कारण उसे नयप्रवेश संज्ञा दी गई और छठवें तथा सातवें परिच्छेद में प्रमाण नय और निक्षेप का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके भी श्रुत और उसके भेद प्रभेदों का प्रधानतया वर्णन होने के कारण उन्हें प्रवचनप्रवेश नाम से व्यवहृत किया।

अकलंक के प्रकरणों पर बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का बड़ा प्रभाव है। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणविनिश्चय और न्यायबिन्दु में तीन तीन ही परिच्छेद रक्खे हैं। अकलंकदेवने अपने न्यायविनिश्चय में भी तीन ही परिच्छेद रक्खे हैं, अतः संभव है कि इसी का अनुसरण करके लघीयस्त्रय नाम की और उसके तीन प्रवेशों की कल्पना की गई हो। अस्तु,

पहले परिच्छेद में साढ़े छ कारिकाएँ हैं, दूसरे में तीन, तीसरे में साढ़े ग्यारह, चतुर्थ में आठ, पाँचवे में इक्कीस, छठवें में बाईस और सातवें में छ। मुद्रित लघीयस्त्रय के पाँचवे परिच्छेद में केवल बीस कारिकाएँ हैं किन्तु स्वोपज्ञविवृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में 'लक्षणं क्षणिकैकान्ते' आदि कारिका अधिक पाई जाती है। विवृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में कारिकाओं पर क्रमसंख्या नहीं दी गई है किन्तु मुद्रित लघीयस्त्रय में क्रमसंख्या दी है। पता नहीं, यह क्रमसंख्या हस्तलिखित प्रति के आधार पर दी गई है या संपादक ने अपनी ओर से देदी है।

विवृति की प्रतियों में प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में निम्न पद्य अधिक पाया जाता है—

मोहेनैव परोपि कर्मभिरिह प्रेत्याभिबन्धः पुनः,
भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः।
कस्माच्चित्रतपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते,
किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिताः॥ १॥

रचनाशैली आदि से तो यह पद्य अकलंकदेव का ही जान पड़ता है किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की किसी भी प्रति में इसका सङ्केत तक भी नहीं है। अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में भी यह नहीं पाया जाता। पता नहीं, विवृति की प्रतियों में यह कहाँ से आकर घुस गया है?

विवृति—यह विवृति लघीयस्त्रयकार की ही कृति है जैसा कि हम आगे प्रमाणित करेंगे। प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भ के दो श्लोकों पर, पञ्चम परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर, षष्ठ परिच्छेद के आदि श्लोक पर तथा सातवें परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर विवृति नहीं है, शेष पर है।

न्यायकुमुदचन्द्र—उक्त दोनों ग्रन्थों के व्याख्यान का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। सन्धियों में इसे लघीयस्त्रयालङ्कार विशेषण से अभिहित किया है। विवृति की किसी २ प्रति की सन्धियों में "भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे" लिखा है और पुष्पदन्तकृत आदिपुराण के टिप्पण में भी किसी टिप्पणकार ने अकलंक को न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। किन्तु यह केवल भ्रान्ति है जो लेखकों की कृपा का फल है अतः मूल ग्रन्थ का नाम लघीयस्त्रय और व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही जानना चाहिए। प्रारम्भ के दो परिच्छेदों पर खूब विस्तृत व्याख्यान किया है और अन्य दर्शनों में अभिमत प्रमाण और प्रमेय की चर्चा का मण्डनपूर्वक खण्डन करने के कारण इन दो परिच्छेदों की व्याख्या का परिमाण शेष पाँच परिच्छेदों की व्याख्या के लगभग बराबर बैठ जाता है। इसी से इस खण्ड में केवल दो ही परिच्छेद दिये गये हैं। अवशिष्ट पाँच परिच्छेद दूसरे खण्ड में रहेंगे। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने प्रत्येक परिच्छेद के व्याख्यान के अन्त में समाप्तिसूचक पद्य दिये हैं और ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति भी दी है। मूलग्रन्थ से व्याख्यान का परिमाण लगभग पन्द्रहगुना है।

२. ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार

लघीयस्त्रय सविवृति

प्रकरणग्रन्थ—ग्रन्थपरिचय में हम लिख आये हैं कि लघीयस्त्रय एक प्रकरण है। जो शास्त्र के एकदेश से सम्बन्ध रखता हो, तथा जिसमें, शास्त्र में अप्रतिपादित विषयों पर भी प्रकाश डाला गया हो उसे प्रकरण कहते हैं।[1] इस परिभाषा के अनुसार लघीयस्त्रय शास्त्र अर्थात् मोक्षशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के एक देश से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में मुख्यतया जीवादि तत्त्वों का निरूपण है किन्तु प्रथम अध्याय में प्रमाण, नय और निक्षेप की भी चर्चा की गई है। परन्तु लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और निक्षेप की ही विस्तृत चर्चा की गई है, तथा कुछ ऐसे विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नहीं हैं, अतः वह प्रकरण कहा जाता है। यद्यपि गौतम ने न्यायसूत्र की रचना करके वस्तुपरीक्षा में उपयोगी प्रमाण, वाद आदि साधनों पर क्रमबद्ध ग्रन्थ रचने की प्रणाली को प्रचलित किया और उसके बाद नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, वसुबन्धु आदि बौद्धनैयायिकों ने उन पर अनेक ग्रन्थ रचे, किन्तु इस ढंग के सुसम्बद्ध प्रकरणग्रन्थ रचने का सर्वप्रथम श्रेय बौद्धदर्शन में आचार्य दिङ्नाग को और जैनदर्शन में आचार्य सिद्धसेन को ही प्राप्त है। यद्यपि सिद्धसेन से पहले आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया और सूत्रकार उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय की चर्चा की, किन्तु आचार्य

---

१ "शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥" सप्तपदार्थी।

सिद्धसेन ने प्रमाण और नय का निरूपण करने के लिये ही न्यायावतार नाम का स्वतंत्र प्रकरण रचा। जैनवाङ्मय में न्याय का अवतार करनेवाले श्री सिद्धसेन ही हैं।

दिङ्नाग को बौद्धदर्शन का पिता कहा जाता है। उनका प्रमाणसमुच्चय मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। दिङ्नाग के ग्रन्थों का अवलम्बन लेकर ही धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक प्रमाणविनिश्चय आदि ग्रन्थरत्नों की रचना की थी। सिद्धसेन, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के प्रमाणविषयक प्रकरणों ने लघीयस्त्रय की रचना में योगदान किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। मध्यकालीन भारतीयन्याय के निर्माता जैन और बौद्ध ग्रन्थकारों के प्रमाणविषयक इन प्रकरणों के सम्बन्ध में डा० विद्याभूषण ने लिखा है–

"The prakaranas (Manuals) are in fact remarkable for their occuracy and liccidity as well as for their direct handling of various topics in their serial orders. Definitions of terms are broad and accurate and not full of niceties." Indian logic. P. 356.

अर्थात्—ये प्रकरण अपनी सुगमता और यथार्थता के लिये उल्लेखनीय हैं। साथ ही साथ विभिन्न विषयों पर क्रमबद्धरूप में ये साक्षात् प्रकाश डालते हैं। इनमें दत्त परिभाषाएँ स्पष्ट और यथार्थ होती हैं।

रचनाशैली—ग्रन्थकार ने अपने सभी प्रकरणों में प्रायः एक ही शैली का अनुसरण किया है। प्रारम्भ में वे मंगलाचरण करते हैं, उसके बाद एक पद्य के द्वारा कण्टकशुद्धि आदि करके प्रकृत विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। प्रकृत ग्रन्थ, न्यायविनिश्चय तथा सिद्धिविनिश्चय में यही क्रम अपनाया गया है। वे अपने प्रकरणों को केवल कारिकाओं में ही रचकर समाप्त नहीं करते, किन्तु उन पर वृत्ति भी रचते हैं। अब तक उनका एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं मिला, जिसपर उन्होंने वृत्ति न रची हो। वृत्ति रचने का उनका उद्देश्य केवल कारिकाओं का व्याख्यान करना ही नहीं होता किन्तु उसके द्वारा वे कारिका में प्रतिपादित विषय से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों का विवेचन और आलोचन भी करते हैं। किसी किसी कारिका की वृत्ति तो कारिका के आशय पर प्रकाश न डालकर नूतन बात का ही चित्रण करती है। अकलंकदेव की अन्य रचनाओं की अपेक्षा लघीयस्त्रय और उसकी विवृति कुछ सुगम प्रतीति होती है, न तो न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के जितनी उसकी कारिकाएँ ही दुरूह हैं और न अष्टशती के जितनी वृत्ति ही गहन है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें अकलंकदेव की प्रखर तर्कणा और गहन रचना की छाप नहीं है। वास्तव में अकलंकदेव के वाक्य अतिगम्भीर अर्थबहुल सूत्र जैसे होते हैं और उनका पूर्वापरसम्बन्ध जोड़ने के लिये स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जैसे प्रतिभासंपन्न विद्वानों की आवश्यकता होती है। लघीयस्त्रय और उसकी विवृति को बाँचने से विद्वान् उनकी गहनता का अनुमान कर सकेंगे। लघीयस्त्रय की कारिकाएँ, उनकी विवृति, परिच्छेद, प्रमाणविषयक चर्चा और रचनाशैली दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय और उसकी स्वोपज्ञविवृति का स्मरण कराती हैं। तथा, उसके तीन प्रकरणों का प्रवेश नाम दिङ्नाग के न्यायप्रवेश का ऋणी प्रतीत होता है।

---

१ "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तर्हि ? संशयिते।" न्यायभाष्य १।१।१।

लघी० और विवृति में आगत विशेष स्थल, नाम आदि—लघीयस्त्रय की तीसरी कारिका के अन्त में 'प्रमाण इति संग्रह' पद आता है। ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ प्रमाणसंग्रह और न्यायविनिश्चय में भी यह पद आता है। यह पद सूत्रकार उमास्वाति के 'तत्प्रमाणे' (१।१०) सूत्र की ओर सङ्केत करता है। उमास्वाति ने ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग करके उन्हें प्रमाण कहा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों का 'प्रमाणे' पद में संग्रह करते हैं। तीसरी कारिका की विवृति में अकलंकदेव ने 'अपरे' शब्द से किसी वादी के मत का उल्लेख किया है, व्याख्याकार प्रभाचन्द्र उसे दिङ्नाग का मत बतलाते हैं। चतुर्थ कारिका की विवृति में 'जैमिनि' का नाम आया है। बीसवीं कारिका की विवृति में 'ग्रामधानक' शब्द आता है, प्रभाचन्द्र उसे किसी ग्राम का नाम बताते हैं।

इनके सिवा विवृति में कुछ ऐसे अंश भी पाये जाते है, जो ग्रन्थान्तरों से लिये गये हैं। उनमें से कुछ अंश तो ऐसे हैं जो उद्धरणवाक्यों के तौर पर लिये गये हैं। किन्तु कुछ अंश विवृति के ही अङ्ग बन गये हैं और इस प्रकार विवृतिकार के ही रचित प्रतीत होते हैं। दूसरों के वचनों को इस प्रकार मूल में सम्मिलित कर लेने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। गौतम के न्यायसूत्र, वात्स्यायन के भाष्य, तथा कुमारिल के श्लोकवार्तिक में इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह, हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, और विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तो इतर ग्रन्थकारों की ऐसी अनेकों कारिकाएँ हैं जो प्रमाणरूप में या पूर्वपक्ष के रूप में मूल में सम्मिलित कर ली गई हैं।

आठवीं कारिका की विवृति में "अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत् इत्यङ्गीकृत्य" ऐसा लेख है, यह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की कारिका का ही अंश है। तेईसवीं कारिका की विवृति "सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं" इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होती है। यह वाक्य भी प्रमाणवार्तिक की कारिका (३-१२४) का अविकल रूप है। २८ वीं कारिका की विवृति में आये 'वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति नार्थम्' इस मत को प्रभाचन्द्र धर्मकीर्ति का मत बतलाते हैं। ४१ वीं कारिका की विवृति में निम्नलिखित कारिका उद्धृत है—

१ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण इति संग्रहः॥ ३॥ २ प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम्। प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाण इति संग्रह॥ ३-८३॥ ३ 'न हि तत्त्वज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम्' इत्यपरः।

४ "There are in it passages which were quoted almost verbatim from the Lankavatar sutra, Madhyamik sutra and other Buddhist works which were composed about the third or fourth century A. D." "न सन् नासन्न सदसत् सतो वैधर्म्यात्।" न्या० सू० ४।१।४८. "न सन् नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा।" मा० सू० परि० ७। "मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद् वा" न्या० सू० ४।२।३२। "यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।" मा० सू०, परि० ७. Indian logic (S. C. Vidyabhushan) ५ "दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः।" ५।२।१०। यह पातञ्जलमहाभाष्य १।१।३ का वाक्य है। ६ "पारार्थ्यं चक्षुरादीनां संघाताच्छयनादिवत्॥ १०५॥" अनु० परी०। यह दिङ्नाग के न्यायप्रवेश के "परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत्।" का ही रूप है। ७ "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्।"

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

भामतीकार वाचस्पति मिश्र इसे वार्षगण्य की बतलाते हैं। योगसूत्र की भास्वती आदि टीकाओं में भी इसे 'षष्टितंत्र' नामक ग्रन्थ की बतलाया है। ५४ वीं कारिका की विवृति में आगत 'तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादि' धर्मकीर्ति के न्यायविन्दु (१-६) का ही अंश है। कारिका ६६-६७ की विवृति के अन्त में "ततः तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ" आदि वाक्य आता है। यह आचार्य सिद्धसेन के सन्मतितर्क की तृतीय गाथा की संस्कृत छाया है।

इस प्रकार विवृति में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेन के ग्रन्थों से वाक्य या वाक्यांश लिये गये हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र

नाम—लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृति के व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है, जैसा कि उसके सन्धिवाक्यों में निर्देश किया गया है। किन्तु डा० विद्याभूषण, पाठक तथा प्रेमीजी आदि अन्वेषकों ने 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' नाम से उसका उल्लेख किया है। कुछ शिलालेखों में भी न्यायकुमुदचन्द्रोदय ही नाम लिखा है। पुष्पदन्त के महापुराण का जो प्रथम भाग इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है, उसकी टिप्पणी में भी अकलंक का परिचय देते हुए उन्हें न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। इससे पता चलता है कि इस नाम की परम्परा बहुत प्राचीन है। किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की श्र० प्रति के अन्तिम वाक्य को छोड़कर अन्यत्र किसी भी प्रति में उदयान्त नाम नहीं मिलता। संभवतः इसी कारण से पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना में उदयान्त नाम देकर भी 'अनेकान्त' में प्रकाशित अपने एक लेख में न्यायकुमुदचन्द्र नाम ही लिखा है।

चन्द्र के स्थान में चन्द्रोदय नाम प्रचलित होने का कारण संभवतः आदिपुराण का वह श्लोक है, जिसमें चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र कवि की स्तुति की गई है। किन्तु चन्द्रोदय और उसके कर्ता प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र नहीं हैं, इसका निर्णय हम समय-विचार में करेंगे। अतः उसके आधार पर ग्रन्थ का नाम चन्द्रोदय प्रमाणित नहीं होता। तथा प्रभाचन्द्र के दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड से भी 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम की ही पुष्टि होती है। क्योंकि वह प्रमेयरूपी कमलों का विकास करने के लिये मार्तण्ड है तो यह न्यायरूपी कुमुद का विकास करने के लिये चन्द्रमा है। जब मार्तण्ड के साथ ही उदय पद नहीं है तो चन्द्र के ही साथ कैसे हो सकता है ? अतः प्रकृत टीकाग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही होना चाहिए।

---

१ "अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयितुमाह स्म भगवान् वार्षगण्यः—गुणानाम्..." इत्यादि। २ "तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी"। ३ हिस्टरी आफ़ दी मिडीवल स्कूल ऑफ़ इन्डियन लाजिक, पृ० ३३। ४ 'अकलंक का समय' शीर्षक आदि लेख। ५ जैनहितैषी, भाग ११, पे० ४२९। ६ "सुखि...न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।" शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके का शि० ले० न० ४६। ७ पृ० ५८। ८ पृ० १३०। ९ चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

रचनाशैली—न्यायकुमुदचन्द्र की भाषा ललित और उसका प्रवाह निर्बाध है। उसका आशय न समझ सकनेवाला व्यक्ति भी उसकी धाराप्रवाह गद्य को पढ़ने में आनन्द का अनुभव कर सकता है। क्या भाषासौष्ठव और क्या दार्शनिकशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र ने अपने पूर्वज और अकलंकसाहित्य के व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु तुलना करने पर विद्यानन्द की शैली की अपेक्षा अनन्तवीर्य की शैली की छाप हम उनपर अधिक पाते हैं। विद्यानन्द की लेखनी अधिक प्रौढ़ है, अष्टशती की व्याख्या अष्टसहस्री का परिशीलन करने में विद्वानों को भी कष्टसहस्री का अनुभवन करना पड़ता है। विद्यानन्द ने अष्टशती की व्याख्या उस रीति से नहीं की, जिस रीति से साधारणतया व्याख्या की जाती है। उन्होंने पदों के समास तोड़कर उनके पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अष्टशती का व्याख्यान नहीं किया, किन्तु उसके साकांक्ष पदों के आदि, मध्य तथा अन्त में आवश्यकतानुसार उन वाक्य, वाक्यांश, शब्द तथा विस्तृत चर्चाओं को स्थान दिया, जिनकी उपस्थिति, उनके गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त कर सकती थी। किन्तु प्रभाचन्द्र की भाषा में न तो उस श्रेणी की प्रौढ़ता ही है और न उन्होंने व्याख्या की उस दुरूह और कष्टसाध्य पद्धति को ही अपनाया है। वे अनन्तवीर्य की तरह कारिका का व्याख्यान करके विवृति का व्याख्यानमात्र कर देते हैं। किन्तु इस शैली में भी उनकी अपनी एक विशेषता है। वे कारिका का रहस्योद्घाटन करने के बाद ही विवृति का व्याख्यान नहीं कर डालते किन्तु कारिका और विवृति में प्रतिपादित मन्तव्यों को लेकर विपक्षियों के मन्तव्य की आलोचना करते हैं। किसी विषय की आलोचना करने से पहले वे उस विषय के समर्थक साहित्य के आधार पर उसका प्रामाणिक पूर्वपक्ष देते हैं, फिर उसकी एक एक युक्तिको लेकर विकल्पों के कोटिक्रम से उसकी धज्जियाँ उड़ा देते हैं। व्याख्याकार का पाण्डित्य उनके इन पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में निबद्ध निबन्धों में ही झलकता है। प्रतिवादी को विकल्पजाल में फाँसकर जब वे उसका निरसन करते हैं तो उनकी तर्कणाशक्ति की प्रशंसा करते ही बनती है। यथार्थ में प्रभाचन्द्र टीकाकार की दृष्टि से उतने सफल नहीं हुए हैं जितने विभिन्न शास्त्रीय चर्चाओं की आलोचना और प्रत्यालोचना में सफल हुए हैं। व्याख्याकार की दृष्टि से तो अकलंक के अन्य व्याख्याकारों की अपेक्षा उनका दर्जा सबसे लघु है। न्यायकुमुदचन्द्र के अन्त में जब वे अपनी लघुता का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—

बोधो मे न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः।
साहाय्यञ्च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये॥

अर्थात् "न तो मुझे वैसा ज्ञान ही है और न सरस्वती ने ही कोई वरदान दिया है। तथा प्रकृत ग्रन्थ के निर्माण में किसी से वाचनिक सहायता तक भी नहीं मिल सकी है।" तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी असामर्थ्य का अनुभव करते हैं। क्योंकि अपने दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की लघुता प्रकट नहीं की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र में अत्यन्त पूज्य बुद्धि रखते हुए अपने मत के समर्थन में हम उनके एक भ्रम का उल्लेख करने के लिये श्रद्धालु पाठकों से क्षमा चाहते हैं। लघीयस्त्रय के तीसरे परिच्छेद की आरम्भिक कारिका निम्नप्रकार है—

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् ।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥

इसका सीधा अर्थ है कि—"मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिवोधज्ञान, नामयोजना से पहले आद्य अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और शब्दयोजना होने पर श्रुत अत एव परोक्ष हैं।" आचार्य विद्यानंद और अभयदेवसूरि ने इसका यही अर्थ किया है। किन्तु प्रभाचन्द्र ने कारिका की वृत्ति को दृष्टि में रखकर 'आद्य' शब्द का अर्थ 'कारण' किया है। विवृति में लिखा है कि धारणा स्मृति का कारण है, स्मृति संज्ञा का, संज्ञा चिन्ता का, आदि आदि। इसी को दृष्टि में रखकर प्रभाचन्द्र उक्त कारिका का अर्थ करते हुए लिखते हैं—"शब्दयोजना से जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे श्रुत कहते हैं। तथा शब्दयोजना से पहले शब्दोन्मुख ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान श्रुत हैं और उनका कारण मतिज्ञान है।" प्रभाचन्द्रजी के इस भ्रम का एक कारण तो विवृति ही जान पड़ती है। दूसरा कारण, कारिका से स्पष्टतया स्वतः प्रकट होनेवाले अर्थ का आगम और परम्परा के विरुद्ध होना हो सकता है, क्योंकि स्मृति आदि ज्ञानों को किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं माना है। किन्तु अकलंकदेव ने ६१ वीं कारिका की विवृति में स्मृति आदि ज्ञानों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के भेद बतलाया है और वही बात इस कारिका में भी कही गई है। अतः यथार्थ में प्रभाचन्द्र दार्शनिक होने की अपेक्षा तार्किक अधिक प्रतीत होते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में, जो कि उनके आरम्भिक काल की रचना है, उनकी तर्कशैली खूब विकसित हुई है।

जैनेतर ग्रन्थों में से जिन ग्रन्थों का न्यायकुमुदचन्द्र की शैली पर विशेष प्रभाव पड़ा है, वे हैं तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत पञ्जिका और जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी। क्या भाषासौष्ठव और क्या प्रतिपादनशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र कमलशील और जयन्तभट्ट के ऋणी प्रतीत होते हैं। किन्तु उन्होंने इस साहित्यिक ऋण को जिस विद्वत्ता और वाक्पटुता से व्याजसहित चुकाया है। उसकी सराहना करते ही बनता है। नीचे प्रत्येक दर्शन के तत्तद् ग्रन्थकारों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना क्रमशः की जाती है—

न्यायदर्शन—न्यायदर्शन के न्यायसूत्र, भाष्य, वार्तिक और तात्पर्यटीका का उपयोग प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्ष के स्थापन में किया है। न्यायभाष्य के उद्देश, लक्षणनिर्देश, और परीक्षा के क्रमानुसार अपने ग्रन्थप्रणयन में भी उन्होंने इसी क्रम को स्थान दिया है। तथा चतुर्थ भेद विभाग का अन्तर्भाव—न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के ही शब्दों में—उद्देश में किया है। इस प्रकार षोडश पदार्थ के निरूपण में न्यायसूत्र का प्रमाण रूप से उल्लेख करने पर भी उनका निरूपण भाष्य और मञ्जरी के ही शब्दों में किया है। कहीं कहीं प्रभाचन्द्र ने मञ्जरी के शब्दों को भी 'तथा-चाह न्यायभाष्यकारः' करके उद्धृत किया है। यद्यपि तात्पर्यटीका का भी अस्पष्ट आश्रय लिया

---

१ "अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः—"ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिवोधिकम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।" इति। तत्रेदं विचार्यते मतिज्ञानादाद्यादभिनिवोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेव इत्यवधारणम् श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा।" त० श्लो० पृ० २३९। २ "अत्र च यच्छब्दसंयोजनात्प्राक् स्मृत्यादिकमविसम्वादिव्यवहारनिवर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभावः।" सन्मति० टी० पृ० ५५३।

गया है तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाष्यवार्तिक और मञ्जरी ग्रन्थकार के सामने अवश्य थीं और ग्रन्थकार को उनका अच्छा अभ्यास था।

प्रभाचन्द्र और मञ्जरीकार जयन्त—प्रभाचन्द्र को जयन्त की मञ्जरी विशेष प्रिय जान पड़ती है। न्यायदर्शन के षोडशपदार्थ निरूपण में उन्होंने, जहाँ तक हो सका, जयन्त के ही शब्दों का उपयोग किया है। प्रमेय के बारह ही भेद क्यों किये गये, इसके उत्तर में प्रमाणरूप से जयन्त की ही कारिका उद्धृत की है। यद्यपि सामग्रीप्रामाण्य का निर्देश प्रशस्तपाद की व्योमवती टीका में पाया जाता है तथापि उसका स्वतंत्र निरूपण करके इतर मत का निरसन जयन्त ने ही किया है और न्यायकुमुद में उसका खण्डन है। प्रभाकराभिमत ज्ञातृव्यापार के पूर्वपक्ष में मञ्जरीगत पूर्वपक्ष से सहायता ली गई है। उत्तरपक्ष में भी कहीं कहीं तो मञ्जरी की पंक्तियाँ ही ले ली गई हैं। चार्वाक के प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद के पूर्वपक्ष में न्यायमञ्जरी से ही सहारा लिया गया है, उसमें 'अपि च' करके लिखी गईं १७ कारिकाएँ भी साक्षात् मञ्जरी से ही ली गई जान पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई प्रकरणों में मञ्जरी का अनुसरण किया गया है। कहीं कहीं तो इतना सादृश्य है कि उसके आधार पर हम न्यायकुमुद का पाठ शोधन कर सके हैं।

वैशेषिकदर्शन—वैशेषिकदर्शन के निरूपण में प्रशस्तपादभाष्य का मुख्यतया उपयोग किया गया है। तथा व्याख्याओं में भाष्य की टीका व्योमवती का अनुसरण किया है। चार्वाक के प्रति आत्मसिद्धि, ज्ञानाद्वैतवादी के प्रति बाह्यार्थसिद्धि आदि प्रकरणों में प्रयुक्त युक्तियाँ व्योमवती से शब्दशः मिलती हैं। व्योमवती में अनेकान्त भावना से मोक्ष प्राप्ति हो सकने का खण्डन किया गया है उसका खण्डन प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल में किया है। मोक्षसाधनस्वरूपविषयक खण्डन मण्डन में व्योमवती का साहाय्य स्पष्ट है।

सांख्य-योग—सांख्य-योग के निरूपण में योगसूत्र, व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, सांख्यकारिका, माठरवृत्ति आदि ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। पूर्वपक्ष के निर्देश में प्रमाणरूप से योगसूत्र का उल्लेख करने पर भी व्याख्यांश में व्यासभाष्य का आधार लिया है। इसी तरह प्रमाणरूप से सांख्यकारिका की कारिकाएँ उद्धृत करके व्याख्यांश में माठरवृति का उपयोग किया है। कहीं कहीं सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य का भी उपयोग किया है। प्राकृत, वैकारिक दक्षिणा आदि तीन बन्धों का स्वरूप माठरवृत्ति से लिया गया प्रतीत होता है।

वेदान्तदर्शन में—ब्रह्माद्वैतवाद के निरूपण में यद्यपि बृहदारण्यक, छान्दोग्य, आदि उपनिषदों के वाक्यों को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है तथापि उसका मुख्य आधार ब्रह्मसूत्र और उसका शांकरभाष्य ही है। शांकरभाष्य के ही शब्दों में ब्रह्माद्वैत का पूर्वपक्ष स्थापित किया है तथा उसी की युक्तियों के आधार पर पूर्वपक्ष में आगत वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषों का परिहार किया है।

मीमांसादर्शन में—जैमिनिसूत्र, शाङ्करभाष्य और कुमारिल के श्लोकवार्तिक का आधार लेकर शब्दनित्यत्ववाद की स्थापना बड़े विस्तार से की है। स्फोटवाद, अपोहवाद और सृष्टिकर्तृत्ववाद के खण्डन में कुमारिल का अनुसरण किया है और प्रमाणरूप से श्लोकवार्तिक की कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष की रूपरेखा तत्त्वसंग्रह से ली गई जान पड़ती है तथापि श्लोकवार्तिक की युक्तियाँ पूर्वपक्ष में समाविष्ट की गई हैं। प्रभाकर की बृहती में निर्दिष्ट स्मृतिप्रमोष का खण्डन यद्यपि इतर दार्शनिकों ने भी किया है फिर भी जैन

साहित्य में तो सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्तण्ड में ही उसके दर्शन होते हैं। शालिकानाथ का भी कहीं कहीं अनुसरण किया है। कुमारिल के अभिहितान्वय तथा प्रभाकर के अन्विताभिधान का खण्डन भी प्रभाचन्द्र ने किया है। सर्वज्ञविषयक पूर्वपक्ष के निरूपण में बहुत सी कारिकाएँ ऐसी उद्धृत हैं जो श्लोकवार्तिक में नहीं पाई जातीं। ऐसी संभावना है कि वे कुमारिल के बृहट्टीका नामक ग्रन्थ की कारिकाएँ हैं।

बौद्धदर्शन—भारतीयदर्शन शास्त्र के तीन युग कल्पना किये जा सकते हैं—वैदिकयुग, बौद्धयुग और जैनयुग। वैदिकयुग में वेदानुयायी दर्शनों का समावेश किया जाता है जो वेद के प्रामाण्य की रक्षा करते हुए पदार्थ का विवेचन करते हैं। बौद्धयुग में वेदप्रामाण्य का निरसन करके न्यायशास्त्र में खूब परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है। जैनयुग में बौद्धदर्शन की न्यायशास्त्रविषयक रूपरेखाओं का अनुसरण करते हुए आगमिक मन्तव्यों को दार्शनिक रूप दिया गया है। जैनयुग के आचार्यों ने किसी किसी मन्तव्य के सम्बन्ध में इतने मौलिक विचार प्रकट किये हैं कि उसे पृथक् युग कहना ही चाहिए। सभी मन्तव्यों का स्याद्वाददृष्टि से समन्वय करना ही इस युग की विशेषता है।

जैन और बौद्ध दोनों ही वेद को प्रमाण नहीं मानते, अतः वैदिकदर्शनों के खण्डन में हम दोनों को कन्धे से कन्धा मिलाये खड़ा देखते हैं किन्तु दोनों के खण्डनांश में अपनी अपनी दृष्टि काम करती है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र से उपाध्याय यशोविजय पर्यन्त सभी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर विद्वानों पर बौद्धयुग का प्रभाव होने पर भी उनकी मौलिक दृष्टि सुरक्षित बनी है। वेदविरोधी होने पर भी दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है अतः दोनों एक दूसरे का भी खण्डन करते हैं। जैनदर्शन का वह अंश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें बौद्धसम्मत मन्तव्यों की कड़ी आलोचना की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट, यशोमित्र, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिकों के ग्रन्थों का जहाँ खण्डन किया है वहाँ परपक्ष के खण्डन में उनका सहारा भी लिया गया है।

वैयाकरणदर्शन—शब्दाद्वैत के आद्य प्रवर्तक वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहे जाते हैं। प्रकृतग्रन्थ में स्फोटवाद, शब्दाद्वैतवाद आदि के पूर्वपक्ष के निरूपण में प्रभाचन्द्र ने यद्यपि तत्त्वसंग्रह, उसकी पञ्जिका और न्यायमञ्जरी से साहाय्य लिया है तथापि वे मन्तव्य वाक्यपदीय के ही हैं, तथा प्रमाणरूप से उसकी कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

उक्त दर्शनों के ग्रन्थों के सिवाय तत्त्वोपप्लववाद पर तत्त्वोपप्लव नामक ग्रन्थ के रचयिता जयसिंहराशिभट्ट का भी अनुसरण प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उसमें निर्दिष्ट विकल्पों के आधार पर ही संशयज्ञान आदि के पूर्वपक्षों का संघटन किया है। तथा समवाय के खण्डन में इस ग्रन्थ के बहुत से विकल्पों को अपनाया है।

जैनाचार्य—प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है और यह भी लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्तियों की सहायता से ही वे अकलङ्क के प्रकरणों को समझने में समर्थ हुए हैं तथा उनके ग्रन्थों का आलोडन करने से भी यही प्रतीत होता है कि उनपर विद्यानन्द और अनन्तवीर्य की शैली का ही विशेष प्रभाव है। उनके ग्रन्थों से न्यायकुमुद का जहाँ जहाँ सादृश्य है वहाँ वहाँ टिप्पणों के द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई है।

उत्तरकालीन ग्रन्थकारों में जो जैन ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र की शैली से प्रभावित हुए तथा जिन्होंने प्रभाचन्द्र के लेखों का अनुसरण किया, उनमें सन्मतितर्कटीका के रचयिता अभयदेव सूरि तथा स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि का नाम उल्लेखनीय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त समझे जाते हैं, एक केवलिमुक्ति और दूसरा स्त्रीमुक्ति। प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धान्तों का निषेध और विधि दोनों सम्प्रदाय के आगामिक ग्रन्थों में ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्षस्थापन और उसका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र में भी इस विवाद को स्थान दिया। अतः उनके बाद अभयदेव सूरि और वादिदेवसूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण करके उक्त दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बरमान्यता का खण्डन करके श्वेताम्बरमान्यता का स्थापन किया। स्याद्वादरत्नाकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों के प्रकाश में पढ़ने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों से रत्नाकर में कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध में यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि न्यायकुमुद के बहुत से अंश वहाँ आनुपूर्वी से ज्यों के त्यों पाये जाते हैं और न्यायकुमुद के संशोधन में हमें उनसे बहुत सहायता मिली है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा पर भी परम्परा से प्रभाचन्द्रका प्रभाव है, क्योंकि प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना के बाद अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला का निर्माण किया था और आचार्य हेमचन्द्र के प्रकरण पर प्रमेयरत्नमाला का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। मल्लिषेण की स्याद्वादमञ्जरी, तथा उपाध्याय यशोविजयजी पर भी प्रभाचन्द्र की शैली का प्रभाव पड़ा है। उपाध्यायजी ने उनके विकल्पजालों को अपने ढंग से अपनाया है।

इस प्रकार जैन तथा जैनेतर दार्शनिकों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना करने से प्रभाचन्द्र के अगाध पाण्डित्य और अनुपम तर्कशैली की रूपरेखा हृदय में अंकित हो जाती है और उसके प्रकाश में हम देखते हैं कि तत्त्वस्थापन में साम्प्रदायिक दृष्टि होते हुए भी दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान के आदानप्रदान में साम्प्रदायिकता नहीं थी और न एक दर्शन के विद्वान इतर दर्शनों का परिशीलन करने से विमुख ही होते थे। यदि पुरातन दार्शनिक विपक्षी दार्शनिकों के शास्त्रों के अध्ययन से मुख मोड़े रहते तो वे कभी भी दार्शनिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते थे और न उन ग्रन्थरत्नों का निर्माण ही कर सकते थे जिन पर न केवल उस समाज को ही बल्कि भारतवर्ष को अभिमान है।

३. विषयपरिचय

लघीयस्त्रय स्वोपज्ञविवृति और न्यायकुमुदचन्द्र का विषयपरिचय एक साथ देने से तुलनात्मक अध्ययन के प्रेमियों को सरलता रहेगी, तथा अन्य भी कई आवश्यक बातों पर प्रकाश पड़ सकेगा, अतः तीनों का संक्षिप्त विषयपरिचय क्रमशः एकसाथ दिया जाता है।

प्रथम परिच्छेद

का० १–२—प्रथम कारिका के द्वारा तीर्थङ्करों को नमस्कार और दूसरी के द्वारा कण्टकशुद्धि की गई है। न्या० कु० में प्रथम कारिका की केवल व्याख्या की गई है और दूसरी का व्याख्यान करते हुए बौद्धों के सन्तानवाद की विस्तार से आलोचना की है।

का० ३—तीसरी कारिका में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर उसके दो भेद किये हैं, एक मुख्य प्रत्यक्ष और दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, तथा शेष अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष बतलाया है। विवृति में अज्ञानरूप सन्निकर्षादि के प्रामाण्य का निरसन करके तत्त्व का निर्णय करने में साधकतम ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

न्या० कु० में सम्बन्ध, अभिधेय आदि की चर्चा करके कारिका का व्याख्यान करने के बाद, विवृति का व्याख्यान करते हुए, यौगों के सन्निकर्षवाद, भट्ट जयन्त के कारकसाकल्यवाद, सांख्यों के इन्द्रियवृत्तिवाद, प्राभाकरों के ज्ञातृव्यापारवाद, बौद्धों के निर्विकल्पकप्रामाण्यवाद तथा विपर्ययज्ञान को भिन्न २ रूप से मानने वाले वादियों की विवेकाख्याति आदि विप्रतिपत्तियों का निरसन करके प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक की आलोचना की है।

समन्वय—विवृति के सन्निकर्षादि शब्द से विभिन्न प्रामाण्यवादों का सङ्कलन किया है। विपर्यास शब्द का अवलम्बन लेकर ख्यातियों की चर्चा की है और परोक्षप्रमाण का समर्थन करने के लिये चार्वाक के मत की आलोचना की है।

का० ४—में वैशद्य और अवैशद्य का स्वरूप बतलाया है। उसकी विवृति में सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष के दो भेद-इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष-करके अतीन्द्रियज्ञानी सर्वज्ञ की सिद्धि की है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व, चक्षु के प्राप्यकारित्व सर्वज्ञाभाव तथा सांख्य और यौग के ईश्वरवाद की आलोचना की है।

समन्वय—इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की चर्चा व्याख्याकार से ही सम्बन्ध रखती है विवृति में उसका सङ्केत तक भी नहीं है। विवृतिकार ने सर्वज्ञ की चर्चा की है और उसी के सम्बन्ध से व्याख्याकार ने ईश्वरवाद का खण्डन किया है।

का० ५—में अवग्रह, ईहा और अवाय का स्वरूप बतलाया है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए प्रसङ्गवश, विषय, विषयी, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा लब्धि और उपयोग का भी स्वरूप बतलाया है। तथा यह भी बतलाया है ज्ञान के इन भेदों में अवस्थाभेद से नामभेद है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि की आलोचना की है। तथा इन्द्रियों को भौतिक मानने वाले नैयायिक और आहङ्कारिक मानने वाले सांख्यों के मत की समीक्षा करके अतीन्द्रियशक्ति का समर्थन किया है। अन्त में ज्ञान की साकारता की भी चर्चा की है।

समन्वय—इन्द्रियों का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु बतलाने के कारण व्याख्याकार ने अद्वैतवादों की समीक्षा की है। इन्द्रियों को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए नैयायिक और सांख्य की समीक्षा की है। लब्धि के लक्षण में आगत शक्तिशब्द का आश्रय लेकर शक्ति की सिद्धि की है। 'अर्थ' पद से ज्ञान की साकारता, निराकारता की चर्चा की है।

का० ६—के पूर्वार्द्ध में धारणा का स्वरूप बतलाकर उन्हें मतिज्ञान का भेद बतलाया है। विवृति में धारणा को ही संस्कार नाम देकर, ईहा और धारणा को ज्ञानस्वरूप मानने की सम्मति दी है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ६-७—में उक्त चारों ज्ञानों में से प्रत्येक के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, तथा इनके विपरीत एक, एकविध आदि भेद करके मतिज्ञान के ४८ भेद किये हैं और

स्वसंवेदन ज्ञान के भी इतने ही भेद माने हैं। तथा प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए पूर्व पूर्व ज्ञान को प्रमाण और उत्तर उत्तर ज्ञान को उनका फल बतलाया है विवृति में बौद्धाभिमत प्रमाण-फलव्यवस्था का खण्डन करके स्वमत का समर्थन किया है।

न्या० कु० में कारिका के 'स्वसंविदाम्' पद के आधार पर अस्वसंवेदिज्ञानवादी मीमांसक और सांख्य के तथा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादी नैयायिकों के मत की आलोचना करके ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है। तथा स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करके अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य की स्थापना की है। स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना मूलकार से सम्बन्ध नहीं रखती। अन्त में विवृति का व्याख्यान करते हुए प्रमाण और फल के सर्वथा भेदवाद का निरसन करके कथञ्चित् तादात्म्य का समर्थन किया है।

द्वितीय परिच्छेद

का० ७—के उत्तरार्द्ध में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाया है। विवृति में उसी का समर्थन करते हुए कहा है कि अनेकान्त से ही वस्तु की सिद्धि हो सकती है, भेदैकान्त या अभेदैकान्त से नहीं, तथा बौद्धों का स्वलक्षण और अद्वैतवादियों का सामान्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकते। न्या० कु० में विवृति में प्रतिपादित भेदैकान्त और अभेदैकान्त की अनुपलब्धि के आधार पर वैशेषिक के षट्पदार्थवाद, नैयायिक के षोडशपदार्थवाद, सांख्य के पञ्चविंशतितत्त्ववाद और चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का विस्तार से खण्डन किया है। अन्त में द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद मानने वाले यौगों का निरसन करके कथञ्चित् भेदाभेद की स्थापना की है।

का० ८—में बतलाया है कि नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्त में अर्थक्रिया नहीं हो सकती। विवृति में वस्तु की उत्पत्ति को ही उसकी अर्थक्रिया कहने वाले बौद्धों का उपहास करते हुए क्षणिकवाद में अर्थक्रिया के अस्तित्व की आलोचना की है। न्या० कु० में सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य वस्तु में अर्थक्रिया का अभाव सिद्ध करके, प्रसङ्गवश वैभाषिकों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद का खण्डन किया है।

का० ९—के पूर्वार्द्ध तथा उसकी विवृति में निरंशज्ञानवादी यौगाचार को उत्तर देते हुए एकत्व में विक्रिया और अविक्रिया का अविरोध प्रमाणित किया है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ९—के उत्तरार्द्ध और १० के पूर्वार्द्ध में संवेदनाद्वैतवादी का दृष्टान्त देकर तत्त्व को अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए द्रव्यपर्यायात्मक आन्तर और बाह्य वस्तु को ही प्रमाण का विषय बतलाया है। न्या० कु० में सत्ता के समवाय से वस्तु को सत् मानने वाले यौगों का निरसन करके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु को ही सत् बतलाया है।

तीसरा परिच्छेद

का० १०—के उत्तरार्द्ध और ११ के पूर्वार्द्ध में मति, स्मृति आदि ज्ञानों को शब्दयोजना निरपेक्ष होने से प्रत्यक्ष और शब्दयोजना सापेक्ष होने से परोक्ष बतलाया है। विवृति में उत्तरज्ञानों को पूर्वज्ञानों का फल बतलाकर स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों को प्रमाण माना है।

न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ११—के उत्तरार्द्ध और १२ के पूर्वार्द्ध में बतलाया है कि साध्य और साधन के अविनाभावसम्बन्ध को न तो निर्विकल्पकप्रत्यक्ष जान सकता है और न सविकल्पक, अतः उसके जानने के लिये तर्क नाम का प्रमाणान्तर मानना चाहिए। विवृति में भी इसी का समर्थन किया है। न्या० कु० में यौग और बौद्धों के इस मत की, कि प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले सविकल्पक ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, विस्तार से आलोचना की है और सिद्ध किया है कि इन्द्रिय मानस और योगिप्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

का० १२—के उत्तरार्द्ध और १३ के पूर्वार्द्ध में अनुमान प्रमाण का लक्षण और उसका फल बतलाया है। विवृति में विधिसाधक हेतु के केवल दो ही भेद—स्वभाव और कार्य—मानने वाले बौद्धों का खण्डन किया है। न्या० कु० में बौद्धों की आलोचना करते हुए, अनुमान में पक्षप्रयोग को आवश्यक बतलाया है। फिर त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य को हेतु का लक्षण मानने वाले बौद्ध और यौगों की मान्यता का निरसन करके विवृति के मन्तव्य को पुष्ट किया है।

का० १३—के उत्तरार्द्ध और उसकी विवृति में जलचन्द्र का दृष्टान्त देकर कारणहेतु का समर्थन किया है। कुमारिल का मत है कि जल आदि स्वच्छ वस्तुओं में हमें मुख आदि का जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वह प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु हमारी नयनरश्मियां जल से टकराकर लौटती हुई हमारे ही मुख को देखती हैं, उसे हम भ्रान्ति से जलगत बिम्ब का दर्शन समझ लेते हैं। न्या० कु० में इस मत की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि स्वच्छ वस्तुओं में दूसरी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।

का० १४—में पूर्वचर हेतु का समर्थन किया है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि बौद्धों के अनुमान के तीन प्रकार और नैयायिकों के पांच प्रकार का नियम नहीं बनता। तथा सांख्य के अनुमान के सात प्रकारों का स्वरूप समझाकर उनकी संख्या के नियम को भी पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुओं के आधिक्य से विघटित किया है।

का० १५—में बतलाया है कि अदृश्यानुपलब्धि से भी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो सकता है। विवृति में उसी को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में, अभाव को जानने के लिये अभाव नाम का एक पृथक् प्रमाण मानने वाले मीमांसकों के मत की विस्तार से आलोचना की है। और सिद्ध किया है कि अभाव भी वस्तु का ही धर्म है अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उसका ज्ञान हो सकता है।

का० १६—में बौद्धों को उत्तर देते हुए लिखा है कि सविकल्पकप्रत्यक्ष से क्षणभङ्गता की प्रतीति नहीं होती, उससे तो स्थिर स्थूलाकार पदार्थ की ही प्रतीति होती है। विवृति में भी कारिकोक्त मन्तव्य का समर्थन किया है। इस प्रकार बौद्धों के अनुपलब्धिहेतु की अलोचना करने के बाद।

का० १७—में उनके स्वभाव और कार्यहेतु की आलोचना की है। विवृति में भी उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, तर्कप्रमाण के बिना अनुमान-अनुमेय तथा कार्य-कारण व्यवहार की अनुपपति बतलाई है।

का० १८—में कहा है कि बौद्धमत में विकल्पबुद्धि ही सिद्ध नहीं होती। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, सविकल्पकबुद्धि का स्वतः और परतः निर्णय मानने में दोष बतलाये हैं। न्या० कु० में १६, १७ और १८ कारिका का व्याख्यानमात्र किया है।

का० १९—में नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए कहा है–यदि सादृश्यज्ञान को उपमान नामका प्रमाण मानते हो तो वैसादृश्य ज्ञान को किस प्रमाण के नाम से पुकारोगे ? विवृति में नैयायिकों की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। मीमांसक और नैयायिक के उपमान प्रमाण की परिभाषा में थोड़ा सा अन्तर है। अकलंकदेव ने केवल नैयायिक की परिभाषा का उल्लेख किया है किन्तु न्या० कु० में नैयायिक और मीमांसक, दोनों के लक्षणों की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान से अतिरिक्त उपमाननाम का कोई प्रमाण नहीं है। नैयायिक के मत की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने वृद्धनैयायिकों के एक मत का उल्लेख किया है, जो आप्त पुरुष के 'गौ के समान गवय होता है' इस सादृश्यप्रतिपादक वाक्य को ही उपमानप्रमाण कहते हैं। प्रभाचन्द्र ने इसे आगमप्रमाण बतलाया है।

का० २०—में कहा है कि यदि वाच्यवाचक सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाण नहीं है तो सादृश्य सम्बन्ध का ज्ञान उपमान भी प्रमाण नहीं हो सकता। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे किसी मनुष्य ने किसी आप्तपुरुष से जाना कि अमुक नगर से अमुक दिशा में अमुक नाम का ग्राम है और उसकी अमुक अमुक पहचान है। मनुष्य उस ग्राम के निकट पहुँच कर आप्त पुरुष के वचनों को स्मरण करके जान जाता है कि अमुक नाम का ग्राम यही है। इस प्रकार के संज्ञा और संज्ञी के सङ्कलनरूप ज्ञान को उपमान की तरह पृथक् प्रमाणान्तर मानना चाहिए। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र किया है।

का० २१—में स्मृति और प्रत्यक्ष के सङ्कलनात्मक ज्ञान के बहुत से भेद बतलाकर उन्हें उपमान से पृथक् प्रमाणान्तर आपादित किया है। विवृति में कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट करके अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। न्या० कु० में अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में कुमारिल के मत की विस्तार से आलोचना की है।

चतुर्थपरिच्छेद

का० २२—में लिखा है कि तैमिरिक रोगी का ज्ञान भी कथञ्चित् प्रत्यक्षाभास है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तैमिरिक रोगी को दो चंद्रमा दिखाई देते हैं, अतः उनका ज्ञान केवल संख्या के सम्बन्ध में ही विसम्वादी है, चंद्रमा के सम्बन्ध में नहीं। अतः द्विचन्द्रज्ञान को सर्वथा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

का० २३—में सविकल्पकज्ञान को प्रमाण और विवृति में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाणाभास बतलाया है।

का० २४—में 'प्रत्यक्षबुद्धि में कल्पना या विकल्प की प्रतीति नहीं होती अतः उसे निर्विकल्पक ही मानना चाहिए' बौद्ध के इस मत की आलोचना की है। विवृति में भी उसी बात को समझाया है।

का० २५—में प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था करते हुए बतलाया है कि प्रत्यक्ष स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि पूर्वोक्त ज्ञान प्रमाण हैं क्योंकि उनसे व्यवहार में कोई विसंवाद उप-

स्थित नहीं होता। किन्तु यदि उनमें से कोई ज्ञान कचित् कदाचित् वस्तु का ठीक ठीक प्रतिभास नहीं करा सकता तो उसे प्रमाणाभास समझना चाहिए। विवृति में भी कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में कारिका २२ से २५ तक का व्याख्यानमात्र है।

का० २६—में कहा है कि श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। विवृति में बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि शाब्दज्ञान से बाह्य अर्थ का बोध होता है। न्या० कु० में शाब्दज्ञान को अनुमान प्रमाण कहने वाले वादी के मत का खण्डन किया है। शाब्दज्ञान को अप्रमाण मानने वाले वादियों का निरसन करके उसे प्रमाण सिद्ध किया है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की आलोचना करके उनका कथञ्चित् नित्य सम्बन्ध बतलाया है। बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन करके केवल सामान्य को शब्द का विषय माननेवालों का निरसन किया है। और विधि नियोग भावना आदि को शब्द का अर्थ माननेवाले वेदान्ती भाट्ट आदि के मत की विस्तार से आलोचना की है।

का० २७—में कहा है कि कचित् कदाचित् श्रुतज्ञान को विसंवादी देखकर यदि उसे सर्वत्र सर्वदा मिथ्या ही माना जाएगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान को भी सर्वत्र मिथ्या मानना होगा, क्योंकि कभी कभी ये भी विसंवादी हो जाते हैं। विवृति में कारिका के मन्तव्य का समर्थन किया है।

का० २८—में कहा है कि यदि आप्तपुरुष के वचन और हेतुप्रयोग से बाह्य अर्थ का निश्चय नहीं मानते हो तो सत्य और असत्य वचनों की तथा साधन और साधनाभास की व्यवस्था किस प्रकार हो सकेगी? विवृति में उदाहरण देकर कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है।

का० २९—में बतलाया है कि यदि पुरुषों के मनोगत भावों में और वचनों में अन्तर देखकर वचन को अर्थ का व्यभिचारी कहा जाता है तो विजातीय कारण से कार्योत्पत्ति की संभावना मानकर विशिष्ट कार्य से विशिष्ट कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। विवृति में, बौद्धों के स्वभाव और कार्य हेतु में व्यभिचार की संभावना बतलाकर कहा है कि यदि अन्यथानुपपत्ति के बल पर स्वभाव और कार्य हेतु से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार करते हो तो शाब्दज्ञान से भी अर्थ की प्रतिपत्ति माननी चाहिए। अतः श्रुतज्ञान प्रमाण है। न्या० कु० में २७, २८ और २९ का० का व्याख्यान मात्र है।

पञ्चम परिच्छेद

का० ३०—में नय और दुर्नय की परिभाषा की है। विवृति में नय के दो भेद किये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक अभेद अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है।

का० ३१—में सत्सामान्य की व्याख्या करते हुए, जीव अजीव आदि समस्त भेदप्रभेदों को सत् में अन्तर्भूत बतलाया है। और उसके समर्थन में चित्रज्ञान और जीव का दृष्टान्त दिया है। विवृति में इसी का स्पष्टीकरण किया है।

का० ३२—में कहा है कि संग्रहनय शुद्धद्रव्य अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है। विवृति में कारिका के आशय को समझाते हुए लिखा है कि कोई भी वस्तु सर्वथा असत् नहीं है तथा कोई भी ज्ञान सत् को जाने बिना वस्तु को नहीं जान सकता।

का० ३३—में विशेषवादी बौद्ध को उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष में बौद्धकल्पित निरंशक्षणों की प्रतीति नहीं होती। विवृति में भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

का० ३४—में बतलाया है कि जैसे बौद्धमत में एक ज्ञान अपने अनेक आकारों के साथ प्रतिभासमान होता है उसी प्रकार जीवादि वस्तु अपने अनेक गुणों और पर्यायों के साथ सर्वदा प्रतिभासमान होती है। यहाँ क्षणपरम्परा में अनुस्यूत एक द्रव्य को न माननेवाले बौद्धों के प्रति ऊर्ध्वता सामान्य की सिद्धि की गई है और विवृति में भी उसी का समर्थन किया है।

का० ३५—में कहा है कि वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया है, किन्तु यह लक्षण क्षणिकैकान्त में नहीं रहता, क्योंकि यदि कारण के रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है तो कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। विवृति में भी इसी के सम्बन्ध में विशेष कहा है।

का० ३६—में कहा है कि कारण के रहते हुए यदि कार्य की उत्पत्ति न हो सकती तो क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का सिद्ध करना उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं है, कारण के कथञ्चित् रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है। विवृति में व्यतिरेकरूप से कारिका का व्याख्यान करते हुए क्षणिकैकान्त में कार्योत्पत्ति का निषेध किया है।

का० ३७—और उसकी विवृति में बौद्धों के क्षणिक स्वलक्षण और ज्ञानक्षण का उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि एक वस्तु अनेक कार्य कर सकती है और अनेक धर्मों में व्याप्त होकर रह सकती है।

का० ३८—में संग्रहनय और संग्रहाभास का विषय बतलाया है। विवृति में कहा है कि 'सन्मात्र ही तत्त्व है' यह संग्रहनय का अभिप्राय है। किन्तु इस अभिप्राय में भेददृष्टि का निषेध नहीं है। यदि ऐसा होता तो संग्रहनय के विषय और ब्रह्मवाद में कोई अन्तर ही नहीं होता।

का० ३९—में नैगम और नैगमाभास का स्वरूप बतलाया है। विवृति में कहा है कि गुण गुणी, या धर्म धर्मी में से जब एक का कथन किया जाता है तो दूसरा गौण हो जाता है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। किन्तु जहाँ गुण गुणी, अवयव अवयवी, क्रिया कारक, आदि को सर्वथा भिन्न माना जाता है, वह नैगमाभास है।

का० ४०—में यौगों के मत का निराकरण करते हुए कहा है कि सत्ता का सम्बन्ध होने से पहले वस्तु स्वयं सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत्ता का सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि असत् है तो खरविषाण की तरह उसका सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। विवृति में कारिका का आशय समझाते हुए, यौगों की तरह सांख्य की मान्यता को भी नैगमाभास में सम्मिलित किया है।

का० ४१—में कहा है कि प्रमाण की व्यवस्था व्यवहाराधीन है। किन्तु वह व्यवहार संग्रहाभास और नैगमाभास में मिथ्या है। अतः जब व्यवहार ही मिथ्या है तो मिथ्या व्यवहार के आधार पर निर्धारित प्रमाणव्यवस्था भी मिथ्या ही होगी, और प्रमाणव्यवस्था के मिथ्या होने पर स्वपक्ष और विपक्ष की सत्यता और असत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता, अतः या तो दोनों ही सत्य होंगे या दोनों ही असत्य। विवृति में संग्रहाभास और नैगमाभास में प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध किया है।

का० ४२—में व्यवहारनय और तदाभास की चर्चा करते हुए बाह्य अर्थ के अस्तित्व को व्यवहारनय और विज्ञप्तिवाद तथा शून्यवाद को तदाभास बतलाया है। विवृति में कारिका के आशय को स्पष्ट किया है।

का० ४३—में बतलाया है कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। किन्तु बौद्धकल्पित चित्रज्ञान ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं है क्योंकि वह वास्तव में एक नहीं है

किन्तु ज्ञानपरमाणुओं का एक समूहमात्र है। विवृति में संवित्परमाणुओं की आलोचना करके ऋजुसूत्र और तदाभास को समझाया है।

का० ४४—में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय का स्वरूप बतलाया है। शब्दनय काल, कारक और लिङ्ग के भेद से अर्थभेद मानता है। समभिरूढ़ पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। एवंभूत क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। विवृति में कालभेद, कारकभेद, लिङ्गभेद और पर्यायभेद को उदाहरण देकर समझाया है। बौद्धों के एक दो मन्तव्यों की भी आलोचना की है।

का० ४५—में बौद्धों की आशंका का उत्तर देते हुए कहा है कि बौद्धमत में जब इन्द्रियज्ञान अपने कारणभूत अतीत अर्थ को जानता है तो स्मृति भी अतीत विषय को क्यों नहीं जान सकती? इन्द्रियज्ञान और स्मृति, दोनों का विषय एक है, केवल इतना अन्तर है कि इन्द्रियज्ञान उसे स्पष्ट जानता है और स्मृति अस्पष्ट। विवृति में कारिकोक्त रहस्य को स्पष्ट करके शाब्दज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ४६—में कहा है कि शाब्दज्ञान और इन्द्रियज्ञान दोनों ही अविसंवादी हैं। केवल इतना अन्तर है कि शाब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। किन्तु इससे उसकी प्रमाणता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अनुमान को-अस्पष्ट होते हुए भी-बौद्धों ने प्रमाण माना है। विवृति में इसे स्पष्ट किया है।

का० ४७—में कहा है कि काल कारक आदि का लक्षण अन्यत्र कहा है, वहाँ से जान लेना चाहिए। विवृति में काल कारक का लक्षण बतलाकर कहा है कि एकान्तवाद में षट्कारकी नहीं बन सकती, अतः अनेकान्तवाद को अपनाना चाहिए।

का० ४८—में कहा है कि अनेक सामग्रियों की सहायता से एक वस्तु भी प्रतिसमय षट्कारकरूप हो सकती है। विवृति में कारिका को स्पष्ट करते हुए नय दुर्नय और प्रमाण में अन्तर बतलाया है।

पद्य ४९ और ५० में प्रकरण का उपसंहार करते हुए वीर प्रभु का स्मरण किया है। न्या० कु० में इस परिच्छेद का व्याख्यानमात्र किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद

का० ५१—में भगवान् महावीर को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

का० ५२—में प्रमाण, नय और निक्षेप का लक्षण बतलाया है। विवृति में ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ५३—में कहा है कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है किन्तु 'मैं अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ' यह नहीं जानता। यदि जानता, तो उसमें किसी को विवाद ही न होता। विवृति में कहा है कि यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता तो वह अर्थ को नहीं जान सकता, जैसे इन्द्रियों से उत्पन्न होकर भी वह इन्द्रियों को नहीं जानता है।

का० ५४—में कहा है कि यदि ज्ञान और अर्थ का अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण अर्थ को ज्ञान का कारण कहा जाता है तो संशय विपर्यय आदि ज्ञान किससे उत्पन्न हुए कहे जायेंगे? विवृति में कहा है कि यदि इन्द्रियगत और मनोगत दोषों को संशयादिज्ञान का जनक कहा जाता है तो अर्थ को ज्ञान का कारण मानने से क्या लाभ है? दोषरहित इन्द्रिय और मन

से ही सत्यज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए। अतः इन्द्रिय और मन को ज्ञान का कारण, तथा अर्थ को उसका विषय मानना ही श्रेयस्कर है।

का० ५५—में सन्निकर्ष के प्रामाण्य का निरसन करके ज्ञान को ही प्रामाण्य सिद्ध किया है। विवृति में कारिका का व्याख्यान करके आलोक को भी ज्ञान का कारण मानने का खण्डन किया है। न्या० कु० में का० ५१ से ५५ तक व्याख्यानमात्र किया है।

का० ५६—में कहा है कि अन्धकार का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु अन्धकार से आवृत वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। विवृति में कारिका के मन्तव्य को समझाते हुए सिद्ध किया है कि ज्ञान का रोधक ज्ञानावरणीय कर्म है, अन्धकारादि नहीं। न्या० कु० में, ज्ञान की अनुत्पत्तिमात्र ही तम है' इस मत की आलोचना करके तम और छाया को द्रव्य सिद्ध किया है।

का० ५७—में कहा है कि जैसे मल से आच्छादित मणि की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है उसी तरह कर्मों से आवृत आत्मा के ज्ञान का विकास भी हीनाधिकरूप से अनेक प्रकार का देखा जाता है। विवृति में बतलाया है कि अपने २ योग्य ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार मन और इन्द्रियाँ ही ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, अर्थ और आलोक नहीं।

का० ५८—में बौद्धों का निराकरण करते हुए कहा है कि तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय न तो पृथक् २ ही ज्ञान के प्रामाण्य में कारण हैं और न मिलकर ही। विवृति में तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय का निराकरण किया है।

का० ५९—में उक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए कहा है कि जैसे अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी अर्थ ज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान अर्थ को जानता है। विवृति में निष्कर्ष निकालते हुए कहा है कि अर्थ और ज्ञान में तदुत्पत्तिसम्बन्ध न होने पर भी स्वाभाविक ग्राह्य ग्राहकसम्बन्ध है।

का० ६०—में कहा है कि ज्ञान स्व और पर का निर्णायक है अतः उसे ही मुख्य प्रमाण मानना चाहिए। विवृति में कहा है कि निश्चयात्मकता के विना ज्ञान में अविसंवादकता नहीं आ सकती। आगे निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक की उत्पत्ति माननेवाले बौद्धों को लक्ष्य करके लिखा है कि जो स्वयं निर्विकल्पक है वह सविकल्पक को उत्पन्न नहीं कर सकता।

का० ६१—में और उसकी विवृति में प्रमाण के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रतिज्ञानुसार की गई है। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय। इन्द्रियप्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी चार भेद हैं—स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध। श्रुतज्ञान परोक्ष है और उसमें अर्थापत्ति, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है।

का० ६२— में श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं। उनमें से एक का नाम स्याद्वाद है और दूसरे का नाम नय है। संपूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद कहते हैं और उसके एकदेश के कथन को नय कहते हैं। विवृति में स्याद्वाद और नय का निरूपण विस्तार से किया है। और बतलाया है कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाणवाक्य है और 'स्यादस्त्येव जीवः' यह नयवाक्य है। न्या० कु० में का० ५७ से ६२ तक व्याख्यानमात्र है।

का० ६३—में कहा है कि प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द और 'एव' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। यदि किसी वाक्य के साथ उनका प्रयोग न किया गया हो तो भी अर्थवशात्

उनकी प्रतीति हो जाती है। विवृति में स्यात्कार और एवकार के प्रयोग की आवश्यकता प्रदर्शित की है। न्या० कु० में विरोधियों का निरसन करके 'स्यात्' पद की सार्थकता सिद्ध की है।

का० ६४ और ६५—में लिखा है कि वर्ण, पद और वाक्य कभी २ अवाञ्छित अर्थ को भी कह देते हैं और कभी २ वाञ्छित को भी नहीं कहते। फिर भी बौद्धों का यह कहना कि 'शब्द वक्ता के अभिप्रायमात्र का सूचक है', लोकप्रतीति का उल्लंघन करके बोलनेवाले बौद्धों को ही शोभा देता है। विवृति में कारिका का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य नहीं चाहता कि उसके मुख से अपशब्द निकलें, फिर भी वे निकल जाते हैं और मन्दबुद्धि मनुष्य चाहता है कि मैं शास्त्रों का व्याख्यान करूँ किन्तु नहीं कर पाता। अतः शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र के सूचक न होकर उससे भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। न्या० कु० में मीमांसकों के शब्दनित्यत्ववाद और वेदापौरुषेयत्ववाद की तथा वैयाकरणों के स्फोटवाद की विस्तार से आलोचना की है। इसके पश्चात् संस्कृत और प्राकृत भाषा के शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व की आलोचना करके कहा है कि शब्दों की प्रमाणता या अप्रमाणता में संस्कृतत्व और असंस्कृतत्व कारण नहीं है। जो शब्द सत्य अर्थ का प्रतिपादन करता है वह साधु है, जो नहीं करता वह असाधु है। जैसे संस्कृत शब्द संस्कृत के व्याकरण से सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्राकृतशब्द प्राकृतव्याकरण से सिद्ध होते हैं आदि। तथा 'प्रकृतेर्भवं प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति का निरसन करके 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति को अपनाया है। ब्राह्मणत्व जाति का भी खण्डन किया है।

का० ६६–६७ में कहा है कि श्रुतप्रमाण के नैगम आदि सात भेद हैं, जो नय कहाते हैं। विवृति में कारिकाओं का विस्तृत व्याख्यान करते हुए सब से प्रथम यह सिद्ध किया है कि श्रुत के सिवाय अन्य ज्ञानों के भेद नय नहीं हो सकते। उसके बाद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को मूल नय बतलाकर द्रव्य और पर्याय की विस्तृत चर्चा की है। निश्चय और व्यवहार का भी निरूपण किया है।

का० ६८—में नैगमनय और तदाभास की चर्चा करके, विवृति में लिखा है कि नैगमनय में गुण और गुणी दोनों की यथासंभव विवक्षा होती है किन्तु संग्रह में केवल एक की ही विवक्षा होती है। यही दोनों में अन्तर है।

का० ६९—और उसकी विवृति में संग्रहनय और तदाभास की चर्चा है।

का० ७०—और उसकी विवृति में व्यवहारनय और तदाभास का निरूपण किया है तथा अन्त में शून्याद्वैत आदि को नयाभास बतलाया हैं क्योंकि वे व्यवहार के घातक हैं।

का० ७१—में ऋजुसूत्र और तदाभास का निरूपण है। विवृति में बौद्धों की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रतिभासभेद से स्वभावभेद की व्यवस्थापना करनेवाले बौद्धों को प्रतिभास के अभेद से अभेद को भी मानना ही होगा।

का० ७२—में नैगमादि चार नयों को अर्थनय और शब्दादि तीन नयों को शब्दनय बतलाया है। विवृति में शब्दनयों का व्याख्यान करके व्याकरणशास्त्र को सच्चा बतलाया है। न्या० कु० में का० ६६ से ७२ तक का व्याख्यानमात्र किया है।

सप्तम परिच्छेद

का० ७३–७६—में लिखा है कि प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगों के द्वारा पदार्थों को जानकर तथा जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणास्थान के द्वारा जीवद्रव्य को विशेषतया

जानकर यह आत्मा अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करता है और तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके मुक्तिसुख का अनुभवन करता है। विवृति में लिखा है कि श्रुतप्रमाण और उसके भेद नयों के द्वारा जाने गये द्रव्य और पर्यायों का सङ्करव्यतिकररहित कथन करने को निक्षेप कहते हैं। उसके चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, और क्रिया की अपेक्षा न करके जो नामव्यवहार किया जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। किसी वस्तु में नामनिर्देशपूर्वक दूसरे की स्थापना करने को स्थापनानिक्षेप कहते हैं। भावि पर्याय की प्राप्ति के लिये अभिमुख वस्तु को द्रव्य कहते हैं। वह दो प्रकार का है—आगम और नोआगम। वर्तमानपर्यायविशिष्ट वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। निक्षेप से अप्रस्तुत का निराकरण और प्रस्तुत का प्ररूपण किया जाता है, अतः निक्षेप उपयोगी है। अन्त में वैशेषिक सौगत और सांख्य के द्वारा माने गये मुक्तात्माओं के स्वरूप को दृष्टि में रखकर लिखा है कि मुक्तावस्था में न तो आत्मा के विशेषगुणों का उच्छेद ही होता है, न गुण और गुणी की सन्तान का नाश ही होता है और न भोग्य के न होने के कारण आत्मा सर्वथा अभोक्ता ही होता है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए, आवरण का अस्तित्व तथा स्वरूप बतलाकर उसकी निर्जरा प्रमाणित की है। तथा सांख्य, वैशेषिक, वेदान्ती और बौद्धों के मोक्ष के स्वरूप की आलोचना करके मोक्ष का स्वरूप स्थिर किया है। अन्त में श्वेताम्बरों की केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्तिविषयक मान्यता का खण्डन किया है।

का० ७७—में शास्त्राध्ययन का फल 'जिन' पद की प्राप्ति बतलाया है।

का० ७८—में इसी बात को प्रकारान्तर से कहकर शुभ कामना की है। न्या० कु० में दोनों पद्यों का व्याख्यान किया है।

इस प्रकार इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थों का संक्षिप्त विषयपरिचय जानना चाहिए।

लघीयस्त्रय के दार्शनिक मन्तव्य

लघीयस्त्रय के विषयपरिचय को पढ़ने पर पाठकों को उसके दार्शनिक मन्तव्यों का आभास हो जाता है। लघीयस्त्रय में मुख्यतया तीन ही विषयों का विवेचन किया है—प्रमाण, नय और निक्षेप। उनमें से भी निक्षेप का तो केवल निर्देश कर दिया है। भट्टाकलंकविषयक प्रबन्ध के 'अकलंक के पहले जैनन्याय की रूपरेखा' और 'अकलंक की जैनन्याय को देन' शीर्षकों से प्रमाण की जैनसम्मत रूपरेखा पर प्रकाश पड़ सकेगा। यहाँ हम प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में वर्णित विषयों की प्रवचनप्रवेश में द्विरुक्ति किये जाने के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जाने वाले नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों का समूह है, और वह प्रमाण का विषय है। जैनसिद्धान्त में ज्ञान के उत्पादक कारणों को प्रमाण न मानकर ज्ञान को ही प्रमाण माना है। प्रमाण के दो रूप हैं—स्वार्थ और परार्थ। ज्ञान के द्वारा वस्तु की साक्षात् ज्ञप्ति तो ज्ञाता को ही होती है। एक ज्ञाता के ज्ञान का साक्षात् उपयोग दूसरा ज्ञाता नहीं कर सकता, अतः उसके लिये शब्द का सहारा लेना पड़ता है। ज्ञान के द्वारा ज्ञाता जानता है और शब्द के द्वारा उसे दूसरों पर प्रकट करता है। इसी लिये ज्ञान को स्वाधिगम का हेतु और वचन को पराधिगम का हेतु कहा जाता है। किन्तु अधिगम का

कारण होने पर भी दोनों में एक मौलिक अन्तर है, ज्ञान अनेक वस्तुओं को या एक वस्तु के अनेक धर्मों को युगपत् जान सकता है किन्तु शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह उन्हें एकसाथ कह सके, वह तो एक समय में एक वस्तु या उसके एक धर्म को ही कह सकता है। अतः एक वस्तु के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को श्रुत और उसके एक धर्म के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को नय कहते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र और शब्दशास्त्र के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और शब्द से अर्थ का बोध किस प्रकार होता है इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। किन्तु वस्तु और वस्त्वंश के वाच्य-वाचक के भेद का विवेचन उन्होंने नहीं किया, इसी से प्रमाण के भेद नय का उल्लेख जैनदर्शन के सिवाय इतर दर्शनों में नहीं पाया जाता है और उसका कारण उनका एकान्तवादी होना है। किन्तु अनेकान्तवादी होने के कारण जैन-दर्शन ने शब्द की प्रतिपादकत्वशक्ति पर भी विचार किया और उसकी असामर्थ्य का अनुभवन करके 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने देखा कि वस्तु के अनन्त-धर्मा होने पर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उसका विवेचन करते हैं। द्रव्यदृष्टिवाला उसे नित्य कहता है, पर्यायदृष्टिवाला उसे अनित्य कहता है, अतः इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होना आवश्यक है। इसके लिये जैनसिद्धान्त में नय का आविर्भाव हुआ, जो ज्ञाता के अभिप्राय को बतलाता है। इस प्रकार जैनशासन की मूलदृष्टि अनेकान्तवाद में से दो सिद्धान्तों का उद्गम हुआ। स्याद्वाद वस्तु को अनेकधर्मात्मक बतलाता है, नयवाद उसके किसी एक धर्म का कथन करनेवाले के दृष्टिकोण को बतलाता है। लघीयस्त्रय के प्रमाणप्रवेश में प्रमाण का और नयप्रवेश में नय का कथन करने पर भी दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसलिए प्रवचनप्रवेश में प्रमाण के भेदों को गिनाकर श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं-स्याद्वाद और नय, तथा यह भी बतलाया है कि नय श्रुतप्रमाण के ही भेद हैं। अतः प्रवचनप्रवेश की रचना में अकलंकदेव की वही दृष्टि नहीं है जो पहले के दो प्रवेशों में है। द्विरुक्ति होने पर भी उसमें मौलिकता है और वह मौलिकता जैनन्याय से ही सम्बन्ध रखती है।

श्रुत के दो उपयोग

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के आधीन है। अतः वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचनप्रयोग करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्मस्वरूप ही है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि वहाँ पर विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मों की गौणता है। इसी लिये गौणधर्मों का द्योतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्तरूप से सम्बद्ध रहता है। भगवान् महावीर ने अपने अनुपम वचनों के द्वारा पूर्ण सत्य का उपदेश किया और उनका उपदेश संसार में 'श्रुत' के नाम से ख्यात हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश का प्रत्येक वाक्य 'स्यात्' 'कथञ्चित्' या किसी अपेक्षा से होता था, क्योंकि उसके बिना पूर्ण वस्तु का कथन नहीं हो सकता अतः उनके उपदेश 'श्रुत' को आचार्य समन्तभद्र ने 'स्याद्वाद' के नाम से सम्बोधित किया है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बतलाये हैं—एक स्याद्वादश्रुत और दूसरा नयश्रुत। एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का बोध करानेवाले वाक्य को स्याद्वाद श्रुत कहते हैं। यह वाक्य पूर्ण वस्तु का बोध कराता है, अतः उसे सकलादेश भी कहते हैं। और अनेक धर्मा-

त्मक वस्तु का ज्ञाता ही ऐसे वाक्य का प्रयोग कर सकता है। अतः उसे प्रमाणवाक्य भी कहते हैं। तथा, अनेकधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध करानेवाले वाक्य को नयश्रुत कहते हैं, इसे विकलादेश भी कहते हैं। इस प्रकार श्रुत के दो उपयोग बतलाकर अकलंकदेव ने विवृति में दोनों के प्रयोग में कुछ अन्तर बतलाया है। वे लिखते हैं कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाण वाक्य या सकलादेश है और 'स्यादस्त्येव जीवः' यह नयवाक्य या विकलादेश है। इससे यह आशय निकलता है कि धर्मिवाचक शब्दों के साथ स्यात् और एवकार का यदि प्रयोग किया जाता है तो वह सकलादेश है और यदि धर्मवाचक शब्दों के साथ उक्त दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है तो वह विकलादेश है। किन्तु अपने राजवार्तिक में अकलंकदेव ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण 'स्यादस्त्येव जीवः' दिया है और उसके उभयरूप होने में युक्तियाँ भी दी हैं। जहाँ तक हम जानते हैं लघीयस्त्रय में प्रदर्शित मन्तव्य का अनुसरण उत्तरकालीन किसी भी आचार्य ने नहीं किया। प्रायः सभी ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण दिया है और प्रयोक्ता के दृष्टिकोण में अन्तर बतलाकर उसे ही प्रमाणवाक्य और उसे ही नयवाक्य बतलाया है। आचार्य विद्यानन्द ने तो स्पष्ट लिखा है कि समस्त शब्द किसी न किसी धर्म की अपेक्षा से ही व्यवहृत होते हैं। जैसे, जीव शब्द जीवनगुण की अपेक्षा से ही व्यवहृत होता है। इस प्रकार लघीयस्त्रय में प्रतिपादित उक्त मन्तव्य का प्रसार उत्तर काल में नहीं हो सका। इसी प्रकार प्रमाणों की परम्परा के सम्बन्ध में भी लघीयस्त्रय में एक नवीनता पाई जाती है। उसमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है, किन्तु उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे भी नहीं अपनाया और वे परोक्ष में ही अन्तर्भूत किये गये। इसका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना है कि लघीयस्त्रय के उक्त दो मन्तव्यों का अनुसरण नहीं किया गया, किन्तु शेष को सभी ने एक स्वर से अपनाया है।

श्रीमद्भट्टाकलङ्क

प्राक्कथन

लघीयस्त्रय और उसकी विवृति के रचयिता श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव का स्थान जैनवाङ्मय में अनुपमेय है। यद्यपि उनकी सभी कृतियाँ अतिगहन और प्रखर दार्शनिकों के लिये भी दुरूह हैं, उनमें से एक भी कृति ऐसी नहीं है जो स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार और उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की तरह जनसाधारण में प्रचलित हो, किन्तु जैनसमाज में ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जो उनके नामसे परिचित न हों और अकलङ्क नाम को सुनकर जिनके मस्तक श्रद्धा से नत न हो जाते हों। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी जैनों के दोनों सम्प्रदायों के महान् ग्रन्थकारों ने आदर के साथ उनका स्मरण किया है और जैनन्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किये गये मन्तव्यों को किसी भेदभाव के विना ज्यों का त्यों अपनाया है। इन्हें 'जैनन्याय के सर्जक' कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है और उनके नाम के आधार पर जैनन्याय को श्लेषात्मक 'अकलङ्कन्याय' शब्द से कहा है जो वीतराग जिन और उनके

---

१ पृ० १८१, श्ला० १८। २ त० श्लोकवार्तिक पृ० १३७, का० ५६।

अनुयायी भट्टाकलंक, दोनों का बोधक है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैनवाङ्मय के कोष को समृद्ध बनाया था। वे भारतीय साहित्यगगन में चमकनेवाले उन इने गिने नक्षत्रों में से थे जिनकी आलोकच्छटा से भारत-माता का मस्तक आज भी आलोकित है।

वे सब कुछ थे किन्तु उनकी जीवनगाथा गाने के लिये आज हमारे पास कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह 'न कुछ' के बराबर है। उनकी अमरकृतियाँ अपनी गोद में उनका अमर नाम लिये जीवित हैं, वे अपने कर्ता के बारे में जो कुछ बतला सकती हैं वह है उसका नाम, व्यक्तित्व और प्रकाण्ड पाण्डित्य। उनमें से एक आध कुछ अधिक बतलाने का साहस भी करती है तो उसका पता लगाने की सामग्री हमारे पास नहीं है। शिलालेख और ग्रन्थकार भी उनकी गुणगरिमा का गान करके ही रह जाते हैं। उन के पितृकुल गुरुकुल जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में वे मूक हैं। शेष रह जाती हैं कथाकारों की श्रद्धाञ्जलियाँ, किन्तु शताब्दियों का अन्तराल, कथाकारों की कल्पना, अन्य स्थलों से उनका समर्थन न होना आदि अनेक बातें एक इतिहासज्ञ को उनकी सत्यता में विश्वास न करने के लिये प्रेरित करती हैं। इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक आचार्य हो गये हैं। इन सब उलझनों के मध्य में से प्रकृत समस्या को सुलझाना और ऐतिहासिक तथ्य तक पहुँच जाना कितना दुष्कर है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तथापि प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है यह विचार कर हम इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं

अकलंक नाम के अन्य विद्वान्

नामसाम्य होने के कारण बहुत से महानुभाव समाननामा विभिन्न ग्रन्थकारों की कृतियों को एक ही की कृति समझ बैठते हैं। तथा कुछ ग्रन्थकार भी अपने नाम का लाभ उठाकर अपने नामराशि किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर अपने ग्रन्थों का नाम रखकर वैसा करने का प्रयत्न करते हैं, अतः प्रसिद्ध पुरुष की ख्याति को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक उस नाम के अन्य विद्वानों से भी परिचित हों। हमारे चरितनायक अकलंकदेव के पश्चात् अकलंक नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं और उनमें से कुछ ने कुछ रचनाएँ भी की हैं। अब तक ऐसे जितने अकलङ्कों का पता लग सका है उनकी तालिका नीचे दी जाती है।

१ अकलंक त्रैविद्य—इनके गुरु देवकीर्ति थे। समय, विक्रम की १२ वीं शताब्दी। इनका उल्लेख श्रवणबेल० शिला० ४०/६४ में मिलता है।

२ अकलंक पण्डित—श्रवण० शि० नं० ४३ में इनका उल्लेख है। यह शिलालेख ई० ११०० के लगभग का समझा जाता है।

३ अकलंक भट्टारक—यह जाति के पोरवाड़ थे। ये अकलंकसंहिता और श्रावकप्रायश्चित्त (ई० १३११ में रचित) के कर्ता थे।

४ अकलंक—परमागमसार के रचयिता।

५ अकलंक—विवेकमञ्जरीवृत्ति (ई० ११९२) के रचयिता।

६ भट्ट अकलंक—विद्यानुवाद नामक मंत्रशास्त्र के रचयिता।

---

१ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा प्रेषित तालिका तथा मद्रास विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित 'नवीन सूचीपत्रों का सूचीपत्र' के आधार पर यह तालिका दी गई है।

७ अकलंकदेव—ई० १६०४ में इन्होंने कर्नाटक शब्दानुशासन की रचना की थी। ये दक्षिण कनाड़ा के हाडुवल्ली मठ के जैनाचार्य के शिष्य थे।

८ अकलंक कवि—व्रतफलवर्णन के कर्ता।

९ अकलंकदेव—चैत्यवन्दनादिसूत्र, साधुश्राद्धप्रतिक्रमण, पदपर्यायमञ्जरी के रचयिता।

१० अकलंक—विद्याविनोद के कर्ता, इन्होंने अकलंक भट्टारक, वीरसेन, पूज्यपाद और धर्मकीर्ति महामुनि का उल्लेख किया है।

११ अकलंक-अकलंकप्रतिष्ठापाठ के रचयिता, यह ग्रन्थ १६ वीं अथवा १७ वीं शताब्दी का बना है। संभव है इनमें से कोई कोई अकलंक एक ही व्यक्ति हों, किन्तु वर्तमान परिस्थिति में हम उनका ऐक्य प्रमाणित कर सकने में असमर्थ हैं। प्रसिद्ध आद्य अकलंक को कुछ ग्रन्थकारों ने केवल 'देव' शब्द से स्मरण किया है, जैसा कि आगे मालूम होगा। तथा 'भट्ट' संभवतः उनकी उपाधि थी, जो उस समय के प्रकाण्ड विद्वानों के नाम के साथ प्रयुक्त की जाती थी, जैसे भट्ट कुमारिल, भट्ट प्रभाकर आदि।

जन्मभूमि और पितृकुल

प्रभाचन्द्र के गद्य कथाकोश ब्रह्मचारी नेमिदत्त के कथाकोश और कनड़ी भाषा के 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थ में अकलंक की जीवनकथा मिलती है।

कथाकोश के अनुसार अकलंक की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वहाँ के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के वे पुत्र थे। किन्तु राजावलीकथे के अनुसार वे काञ्ची के जिनदास नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है। उसमें उन्हें लघुहव्व नृपति का पुत्र बतलाया है। वह श्लोक निम्न प्रकार है

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥

यह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार का बनाया हुआ तो नहीं जान पड़ता। यद्यपि इसकी शब्दरचना राजवार्तिक की शब्दरचना से मेल खाती है और उसमें अकलङ्क के कवित्व की छाया भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उनके अन्य किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथा उक्त श्लोक ग्रन्थ के अन्त में न होकर उसके प्रथम परिच्छेद के अन्त में है, जब कि अन्य किसी भी परिच्छेद के अन्त में कोई श्लोक नहीं है। अतः श्लोक की स्थिति

---

१ दोनों कथाकोशों की कथाओं में कोई अन्तर नहीं है (देखो समन्तभद्र पृ० १०५ का नोट) नेमिदत्त ने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश को ही पद्य में परिवर्तित किया है। जैसा कि वह स्वयं लिखते हैं—

देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यैराराधनासारकथाप्रबन्धः॥ ६॥
तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः।
मार्गेण किं भानुकरप्रकाशे स्वलीलया गच्छति सर्वलोकः॥ ७॥

नेमिदत्तकृत कथाकोश

उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न करती है। तथापि कथाओं के साथ उसकी वास्तविकता की तुलना करने पर कथाओं की अपेक्षा उसे अग्रस्थान देना ही होगा।

अकलङ्क दक्षिणभारत के निवासी थे इसमें तो कोई सन्देह नहीं। कथाओं में दिये गये नगरों के नामों से भी इसका समर्थन होता है। लघुहव्व नाम दक्षिण भारत के अनुरूप है क्योंकि वहाँ इस प्रकार के नाम पाये जाते हैं यथा–चिक्क, नन्न आदि। किन्तु पुरुषोत्तम नाम उत्तरभारत की शैली को सूचित करता है। राजवलीकथे का जिनदास नाम ब्राह्मण का जैनत्व सिद्ध करने के लिये कल्पित किया गया प्रतीत होता है। और उसकी स्त्री का जिनमती नाम उसकी काल्पनिकता का रहस्य प्रकट कर देता है। अतः अकलङ्क न तो पुरुषोत्तम मंत्री के पुत्र थे और न जिनदास ब्राह्मण के, किन्तु वे राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम लघुहव्व था।

कथाकोश का मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओं की राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में से कृष्णराज प्रथम शुभतुंग नाम से प्रसिद्ध था तथा उसके भतीजे दन्तिदुर्ग का अपरनाम साहसतुङ्ग था। मल्लिषेणप्रशस्ति के एक श्लोक से प्रकट है कि अकलङ्क साहसतुङ्ग की सभा में गये थे। संभवतः इसी आधार पर कथाकोश के कर्ता ने उन्हें मान्यखेट का अधिवासी मान लिया है। किन्तु उस समय के इतिहास में मान्यखेट का कोई पता नहीं चलता। दन्तिदुर्ग के वंशज महाराज अमोघवर्ष ने शक सं० ७३७ (सन् ८१५) में अपनी राजधानी मान्यखेट में प्रतिष्ठित की थी। इसी समय से यह नगर इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। अतः कथाकोश का उल्लेख किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता।

राजावलिकथे का काञ्ची नामक नगर इतिहास में प्रसिद्ध है। यह द्रविणदेश की राजधानी था। प्राचीन काल से यह विद्या का केन्द्र रहा है। इसे दक्षिणभारत की काशी कहा जाता है। एक समय स्वामी समन्तभद्र ने यहाँ अपनी विजयदुन्दुभि बजाई थी। पल्लववंश के समय में यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार बड़े जोरों पर था, क्योंकि पल्लवराजा बौद्धधर्म के अनुयायी थे। बौद्धमत के प्रख्यात नैयायिक दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति काञ्ची के आसपास के ही निवासी थे और उन्होंने वहीं पर बौद्धदर्शन का अध्ययन किया था। इन सब बातों पर दृष्टि डालते हुए हमारा अनुमान है कि अकलंक के पिता लघुहव्व द्रविणदेश के ही किसी ताल्लुके के स्वामी होंगे और अकलंक का जन्म काञ्ची के निकट किसी ऐसे प्रदेश में हुआ होगा जहाँ पल्लवराज तथा उनके धर्मानुयायिओं के आतंक की चर्चा और प्रभाव हो। क्योंकि इस प्रकार के वातावरण में उत्पन्न होने से ही अकलङ्क के जीवन में वे सब बातें घट सकती हैं जिनका समर्थन न केवल कथाओं से किन्तु शिलालेखों और ग्रन्थकारों की श्रद्धाञ्जलियों से भी होता है।

बाल्यकाल और शिक्षा

जैनराजाओं या दानियों ने जैनधर्म की शिक्षा देने के लिये बौद्धों की तरह स्थान स्थान पर विद्यापीठ की स्थापना की हो, इतिहास में इस प्रकार का कोई सङ्केत नहीं मिलता। जैनों के आचार्य संसार से विरक्त साधु होते थे। वे ज्ञान और चारित्र के भण्डार होते थे। प्रायः नगरों के आसपास जंगलों में वे निवास करते थे। वे जैनों के धर्मगुरु होने के साथ ही साथ

---

१ देखो, 'महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार' शीर्षक प्रो० हीरालाल का लेख। जै० सा० संशो०, खंड २, अङ्क ३, पृ० १४७।

विद्यागुरु भी होते थे। जो विद्याप्रेमी भाई अपनी सन्तान को शिक्षित बनाने का इच्छुक होता था वह अपनी सन्तान को इन वनवासी गुरुओं के सुपुर्द कर देता था। तपस्वी गुरुओं का सहवास और वन का प्रशान्त वातावरण उनमें से अनेक छात्रों को त्यागमार्ग का अनुगामी बना देता था और वयस्क होने पर यदि वे योग्य प्रमाणित हुए तो दीक्षा लेकर गुरु के पट्ट को सुशोभित करते थे। जैनवाङ्मय के भण्डार को अपनी अमूल्य कृतियों से समृद्ध करनेवाले सभी शास्त्रकार प्रायः संन्यास-पथ के पथिक थे और उनके गुरु भी उसी मार्ग के नेता थे।

अकलङ्क की धार्मिकशिक्षा भी इसी परिपाटी के अनुसार हुई प्रतीत होती है। कथाकोश में लिखा है "एक बार अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर अकलङ्क के माता पिता उन्हें जैन मुनिराज के निकट ले गये। साथ में उनके लघुभ्राता निकलङ्क भी थे। धर्मोपदेश श्रवण करने के बाद पति-पत्नी ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया और कौतुकवश पुत्रों को भी ब्रह्मचर्यव्रत दिला दिया। जब दोनों भाई वयस्क हुए और पिता ने विवाह रचाने का उपक्रम किया तो दोनों भाइयों ने मुनिराज के सन्मुख दिलाई गई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर विवाह करने से साफ इन्कार कर दिया। पिता ने बहुतेरा समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो केवल आठ दिन के लिये दिलाई गई थी, किन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा दिलाते समय हमसे समय की मर्यादा की कोई चर्चा नहीं की गई थी। सारांश यह है कि उन्होंने विवाह नहीं किया और घर-बार का कामकाज छोड़कर विद्याभ्यास में चित्त लगाया।"

राजावलीकथे तथा दूसरी कई कथाओं के आधार से, जिनसे हम अपरिचित हैं, राइस सा० ने अकलंकदेव का जीवनवृत्तान्त लिखा है। वे लिखते हैं—"जिस समय काञ्ची में बौद्धों ने जैनधर्म की प्रगति को रोक दिया था उस समय जिनदास नामक जैन ब्राह्मण के यहाँ उसकी स्त्री जिनमती से अकलङ्क और निकलङ्क नाम के दो पुत्र थे। वहाँ पर उनके सम्प्रदाय का कोई पढ़ानेवाला नहीं था इसलिये इन दोनों बालकों ने गुप्तरीति से भगवद्दास नाम के बौद्ध-गुरु से—जिसके मठ में पाँच सौ शिष्य थे—पढ़ना शुरू किया।"

अकलंक के 'जन्मस्थान और पितृकुल' को बतलाते हुए हम इन कथाओं की यथार्थता के सम्बन्ध में ऊहापोह कर आये हैं और आगे भी करेंगे। किन्तु कथाकोशकार ने अकलङ्क के बाल्यजीवन की घटना का जो चित्रण किया है अर्थात् पिता के साथ मुनिराज के पास जाना, वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना और विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर बाल्यकाल में लिये गये व्रत का स्मरण दिलाकर आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प प्रकट करना तथा विद्याभ्यास में चित्त लगाना, वह सब इतना स्वाभाविक और सत्य प्रतीत होता है कि अकलंक के जीवन के साथ उसका सम्बन्ध अस्वीकार करने पर भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि अकलंकसदृश दृढ़ अध्यवसायी, प्रकाण्डपण्डित और कर्मठ व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार की घटना नहीं घट सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति महापुरुष हुए उनके जीवन में कोई न कोई ऐसी घटना अवश्य घटी जिसने उन्हें महापुरुष के पद पर पहुँचा दिया। जैन श्रावक, राजा हो या रंक, नगर के निकट मुनि के आने का समाचार सुनकर उनकी वन्दना किये बिना नहीं रह सकता। जैन कथानकों से स्पष्ट है कि नगर प्रान्त में किसी मुनि या संघ के पधारने का समाचार सुनकर श्रेणिक जैसे प्रभावशाली राजा न केवल स्वयं सपरिवार

यह वृत्तान्त जैनहितैषी, भा० ११, अंक ७-८ में प्रकाशित 'भट्टाकलंक' नामक लेख से दिया है।

मुनिवन्दना के लिये जाते थे किन्तु नगर में डुग्गी पीटकर इस सुसंवाद की घोषणा की जाती थी और सब नरनारी अपने अपने परिवार के साथ मुनिराज के पादमूल में धर्मोपदेश श्रवण करके यथाशक्ति व्रत नियमादि ग्रहण करते थे। अतः कथाकोश के पुरुषोत्तम मंत्री के स्थान में यदि लघुहव्व राजा अपने पुत्र अकलंक के साथ मुनि के पादमूल में गया हो और वहाँ अकलंक ने भी ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। प्रत्युत ऐसी घटना का न घटना ही अचरज की बात हो सकती है। क्योंकि राजपुत्र होकर विद्याभ्यासङ्ग में लगना और राजोचित भोगविलास को त्यागकर जगह जगह शास्त्रार्थ करते फिरना किसी प्रेरकसामग्री के बिना संभव नहीं है। कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के उत्कर्ष के कारण जैनधर्म के ह्रास को देखकर उन्हें राजकाज छोड़कर इस मार्ग में प्रवृत्त होने की अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह कहना हमारी कल्पना का फल होते हुए भी उतना ही सत्य है जितना अकलङ्कदेव का ऐतिहासिक व्यक्ति होना सत्य है। अन्तः प्रेरणा के बिना कोई भी व्यक्ति उस कठिन पथ का पथिक नहीं बन सकता, जिसे अकलङ्कदेव ने अपनाया था और न उसकी लेखनी में वह ओज ही आ सकता है जो अकलङ्क के साहित्य में हम पाते हैं। उनका साहित्य हमें बतलाता है कि जनता में फैलाये गये विपाक्त दुर्विचारों से वे कितने दुखी थे और इसे वे मूढ़ जनता का दुर्भाग्य समझते थे। अपने न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः ॥
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥

अर्थात्—"कल्याण के इच्छुक अज्ञजनों के पुरोपार्जित पाप के उदय से, गुणद्वेषी एकान्तवादियों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित होकर हम उस मलिन किये गये न्याय को निर्मल करते हैं।"

किन्तु इस अन्तः प्रेरणा को साहाय्य देने के लिये किसी बाह्य प्रेरक की भी आवश्यकता है। कथाकोश के अनुसार विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर अकलङ्क आजन्म ब्रह्मचारी रहने का निश्चय करके विद्याभ्यास में चित्त लगाते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके बौद्धधर्म पढ़ने के लिये विदेश जाते हैं। और राजावलीकथे के अनुसार काञ्ची में किसी जैन पाठक के न होने के कारण वे बौद्धगुरु के मठ में पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। राजावलीकथे में मुनि के पास जाने आदि की कोई चर्चा नहीं है। और वहाँ उस सब की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। क्योंकि राजावलीकथे के अकलङ्क ब्राह्मणपुत्र हैं और ब्राह्मणपुत्र का मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन होता ही है। अतः वे काञ्ची में जैनगुरु का प्रबन्ध न होने से बौद्धमठ में जा पहुँचते हैं। किन्तु राजपुत्र या मंत्रीपुत्र को अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर इस मार्ग में पैर रखने के लिये कोई बाह्य निमित्त मिलना ही चाहिए।

हमारा अनुमान है कि अकलङ्कदेव की आरम्भिक शिक्षा भी उसी पद्धति के अनुसार हुई थी जिसका उल्लेख हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर आये हैं, और यदि कथाकोश में वर्णित मुनि के पास जाने आदि की बात सत्य है तो संभव है वे ही मुनि उनके प्रारम्भिक गुरु हों और

उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य में जिनशासन का अभ्युदय कर सकने की क्षमता देखकर उसे इस ओर प्रेरित किया हो। अस्तु, जो कुछ हो। अकलङ्क एक राजपुत्र होते हुए भी बहुत बड़े तार्किक और वादी थे और उनका जीवन विद्याव्यासङ्ग में बीता था अतः उनकी शिक्षादीक्षा ऐसे वातावरण में हुई होगी जिसने उन्हें क्षत्रियोचित शस्त्रवीरता का मार्ग छुड़ाकर ब्राह्मणोचित शास्त्रवीरता के मार्ग का अनुगामी बनाया।

विद्यार्थीजीवन और संकट

अकलंक की जिन कथाओं का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उन सबमें थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अकलंक का अपने लघुभ्राता निकलंक के साथ अपने को छिपाकर बौद्धमठ में विद्याध्ययन करना, बौद्धगुरु की पुस्तक में जैनसिद्धान्त के किसी रहस्य या वाक्य को लिख देना, बौद्धगुरु को किसी जैनछात्र के छिपकर विद्याध्ययन करने का संदेह होना, छात्र की खोज निकालने के लिये कई उपायों का प्रयोग करना, अकलंक और निकलंक का पकड़े जाना, आत्मरक्षा के लिये रात्रि के समय कारागार से निकलकर भागना, अकलंक का प्राण बचाना किन्तु निकलंक का बौद्धसैनिकों के द्वारा वध किया जाना आदि बातों का वर्णन मिलता है।

कथाकोश में लिखा है—"मान्यखेट नगर में किसी बौद्धविद्वान् के न होने के कारण दोनों भाइयों ने बौद्धधर्म का अध्ययन करने के लिये विदेशयात्रा की और अज्ञ छात्र का रूप धरकर बौद्धाचार्य के पास अध्ययन करने लगे। जब गुरु अपने बौद्धशिष्यों को बौद्धशास्त्र पढ़ाते थे तो वे दोनों छिपकर सब सुनते रहते थे। एक दिन गुरुजी दिङ्नाग के किसी ग्रन्थ को पढ़ा रहे थे। दिङ्नाग ने अनेकान्त का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष में सप्तभंगी का निरूपण किया था। अशुद्ध होने के कारण बौद्धगुरु उसे समझ नहीं सके और पढ़ाना बन्द करके चले गये। अकलंकदेव ने पाठ शुद्ध कर दिया। पुनः पुस्तक खोलने पर गुरु ने शुद्ध पाठ लिखा देखा और अनुमान किया कि उनके मठ में जैनशास्त्रों का ज्ञाता कोई जैन बौद्धसाधु का वेश बनाकर अध्ययन करता है। उन्होंने खोज करना प्रारम्भ किया। एक दिन उन्होंने एक जैनमूर्ति मँगाकर सब शिष्यों को उसे लाँघने की आज्ञा दी। अकलंक तुरन्त ताड़ गये और मूर्ति पर एक धागा डालकर उसे तुरन्त उलंघ गये। इस उपाय में सफलता न मिलने पर आचार्य ने दूसरा उपाय खोज निकाला। एक दिन रात्रि के समय उन्होंने प्रत्येक छात्र की शय्या के पास एक एक मनुष्य को खड़ा कर दिया और ऊपर से बर्तनों का एक बोरा जमीन पर जोर से पटक दिया। भयङ्कर शब्द सुनकर सब छात्र जाग पड़े। पञ्चनमस्कारमंत्र का स्मरण करते हुए अकलंक निकलंक भी जागे और समीप में खड़े मनुष्यों के द्वारा पकड़ लिये गये।

दोनों भाई पकड़कर महल के सातवें खन पर रख दिये गये। अपने उद्देश्य को पूरा किये बिना संसार से विदा होने का समय निकट जान, छोटा भाई निकलंक बहुत दुःखी हुआ किन्तु अकलंक ने प्राणरक्षा का एक उपाय खोज निकाला। एक छाते की सहायता से, जो वहाँ पड़ा हुआ था, दोनों भाई महल से कूद पड़े और वहाँ से भाग दिये। आधीरात के समय मारने के लिये जब उनकी खोज की गई तो वे नहीं मिले। तब बहुत से सवार उनके पीछे दौड़ा दिये गये। निकलंक ने घोड़ों की टापों का शब्द सुनकर जान लिया कि उन्हें मारने के लिये चर आरहे हैं। उसने अपने भाई से कहा कि आप पण्डित और चतुर व्यक्ति हैं, आपके जीवित रहने से जिनशासन का महान् उपकार होगा, अतः आप इस समीपवर्ती तालाब में

छिपकर अपने प्राण बचाओ। दूसरा उपाय न देखकर दुःखी अकलंक तालाब में छिप गये और निकलंक भाग दिये। एक धोबी कपड़े धो रहा था। उसने निकलंक को भागता देखा और पीछे की ओर उड़ती हुई धूल भी देखी। डरकर वह भी भाग खड़ा हुआ। सवारों ने उनके निकट पहुँच कर दोनों के सिर धड़ से जुदा कर दिये। सवारों के लौट जाने पर अकलंक तालाब से निकले और एक ओर को चल दिये।

भगवद्दास के मठ में दोनों भाईयों के प्रविष्ट होने के बाद उक्त घटना के सम्बन्ध में राइस सा० लिखते हैं—

"एक कथाकार कहता है कि उन्होंने ऐसी असाधारण शीघ्रता के साथ उन्नति की कि गुरु को सन्देह हो गया और उसने यह जानने का निश्चय किया कि वे कौन हैं। अतः एक रात्रि को जब वे सोते थे उस बौद्धगुरु ने बुद्ध का दाँत उनकी छाती पर रख दिया। इससे वे बालक जिनसिद्ध कहते हुए एक दम उठ खड़े हुए और इससे गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दूसरी कथा के आधार पर, उन बालकों ने एक दिन—जब कि गुरु कुछ मिनिट के लिये उनसे अलग हुआ था—एक हस्तलिखित पुस्तक में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः' लिख दिया और इस बात की छानबीन करने पर गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दोनों कथाओं में, चाहे जो सच्ची हो आखिर नतीजा यह निकला कि उनके मारने का निश्चय किया गया और वे दोनों भाग निकले। निकलंक ने अपना पकड़ा जाना और मारा जाना स्वीकार किया ताकि उसके भाई को पीछा करनेवालों से बचने का अवसर मिल जाये। अकलंक ने एक धोबी की सहायता से, जिसने उसको अपने कपड़ों की गठरी में छिपा लिया, अपने को बचा लिया और दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्यपद शोभित किया।"

इस अंश से अकलंक की कथाओं में रोचकता अवश्य आजाती है और इसलिये कथा-साहित्य में उन्हें अच्छा स्थान भी मिल सकता है, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर अकलङ्क ने राजपाट छोड़ा और गृहस्थाश्रम से मुँह मोड़ा उसकी सिद्धि के लिये उनका बौद्धदर्शन का विद्वान् होना आवश्यक था और बौद्धदर्शन का विद्वान् होने के लिये किसी बौद्धाचार्य को गुरु बनाना भी आवश्यक था, क्योंकि एक तो किसी धर्म का जो रहस्य उसके अनुयायी विद्वान् के द्वारा प्राप्त हो सकता है वह दूसरे के द्वारा मिलना अशक्य है। दूसरे, इतिहास से पता चलता है कि उस समय जैनों में कोई अच्छे विद्वान् आचार्य भी नहीं थे। अतः बौद्धदर्शन का अध्ययन करने के लिये अकलङ्क का बौद्धमठ में प्रविष्ट होना बहुत अंशों में संभव है और इसके लिये उन्हें अपना असली रूप छिपाना भी पड़ा होगा। क्योंकि जब बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक उत्तरभारत की काशीपुरी में जैनविद्यार्थियों को अपना रूप छिपाकर विद्याभ्यास करना पड़ा है, तब सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत की काशी काञ्चीपुरी में, बौद्धधर्म के पालक पल्लवराज्य की छत्रछाया में, यदि अकलङ्क को बौद्ध बनकर विद्याभ्यास करना पड़ा हो तो अचरज ही क्या है? और ऐसी दशा में रहस्य खुल जाने पर संकट भी आसकता है। किन्तु रहस्य खुल जाने के जो कारण दिये गये हैं वे कुछ जँचते नहीं। छिपकर विद्याभ्यास करनेवाला व्यक्ति इस तरह बैठे बिठाये संकट मोल नहीं ले सकता। तथा रहस्य का उद्घाटन और छद्मवेषियों की गिरफ्तारी हो जाने के बाद उनके साथ बौद्धधर्म के उपासकों का जो क्रूर व्यवहार बतलाया गया है वह

वीसवीं शताब्दी के व्यक्तियों को धार्मिक द्वेष के रंग में रँगा हुआ जान पड़ता है। यद्यपि धर्मोन्माद सब कुछ करा सकता है और राजनैतिक इतिहास की तरह कुछ धर्मों का इतिहास भी रक्तपात और नृशंस हत्याओं से रञ्जित है। तथा दक्षिण में सुन्दरपाण्ड्य नाम के राजा ने जैनधर्म को छोड़कर शैवधर्म स्वीकार करने के बाद ८००० जैनों को शूली पर चढा कर मार डाला था। फिर भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में उसे सत्य नहीं माना जा सकता। और यदि स्वीकार भी कर लिया जाये तो अकलङ्क के एक छोटे भाई निकलंक की समस्या आड़े आ जाती है।

निकलङ्क ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है।

किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में निकलंक नाम के व्यक्ति का उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरों का तो कहना ही क्या, स्वयं अकलङ्क तक उसके सम्बन्ध में मूक हैं। जरा सोचिये तो सही, छोटा भाई बड़े भाई के प्राण बचाने के लिये सिर कटवादे और इस प्रकार जीवन के महान् उद्देश्य जिनशासन के प्रचार और प्रसार में सहायक हो और बड़ा भाई उसके इस महान् त्याग की स्मृति में उसका नाम तक भी न ले, क्या यह संभव है? हम हैरान हैं कि कथाकार ने किस आधार पर अकलङ्क के साथ एक निकलङ्क की कल्पना कर डाली।

दिगम्बर कथाकोशों के अकलङ्क की तरह श्वेताम्बर कथासाहित्य में हंस परमहंस की कथा वर्णित है। पहले में कम से कम इतनी तो ऐतिहासिकता है कि उसका मुख्य पात्र एक ऐति-

---

१ यह कथा चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावक चरित में वर्णित है। यह ग्रन्थ वि० सं० १३३४ का बना हुआ है। श्री राजशेखर सूरि का बनाया हुआ एक चतुर्विंशतिप्रबन्ध नामक संस्कृत ग्रन्थ भी है। वह वि० सं० १४०५ का बनाया हुआ है। उसमें भी हंस परमहंस की कथा लिखी हुई है। उसका सार यह है—हरिभद्रसूरि हंस परमहंस नामक अपने भानेजों को पढ़ाते थे। पण्डित होने पर, वे गुरु के मना करने पर भी बौद्धों से पढ़ने के लिये चले गये। एक वृद्धा के घर ठहरे और बौद्धवेश धारण करके पढ़ने लगे। वे कपलिका पर रहस्य लिख लेते थे। उनके प्रतिलेखन आदि क्रियाओं से गुरु ने उन्हें श्वेताम्बर समझा। दूसरे दिन सीढ़ियों पर खरिया मिट्टी से जिनबिम्ब की आकृति बना दी गई। हंस परमहंस ने उस पर यज्ञोपवीत का चिन्ह बना दिया, और इस प्रकार उसे बुद्धमूर्ति मानकर उलंघ गये और गुरु के पास पहुँचे। गुरु के मुख का भाव बदला हुआ देखकर, और वह सब प्रपञ्च गुरु का ही रचा हुआ जानकर, पेट की पीड़ा का बहाना करके वे अपने निवासस्थान को चले गये और कई दिनों तक पढ़ने नहीं आये। बौद्धगुरु ने राजा से शिकायत की और कपलिका मगाने के लिये आग्रह किया। सेना भेजी गई किन्तु हंस परमहंस ने उसे मार भगाया। पुनः बहुत सी सेना भेजी गई। तब एक भाई ने सेना से दृष्टि युद्ध किया और दूसरा परमहंस कपलिका लेकर भाग गया। हंस मारा गया और उसका सिर राजा के आगे उपस्थित किया गया। राजा ने गुरु को दिखाया। गुरु ने कपलिका लाने की आज्ञा दी। सैनिक पुनः गये और रात्रि में चित्रकूट नगर के द्वार पर सोते हुए परमहंस का सिर काटकर ले गये। हरिभद्रसूरि ने सुबह को उठकर अपने प्रिय शिष्य का रुंड देखा, बड़े क्रोधित हुए। तप्त तैल की कढ़ाई में १४४० बौद्धों को होम देने का विचार किया। गुरु ने वृत्तान्त जानकर साधुओं के हाथ गाथाएँ भेजीं" आदि। इस कथानक में शास्त्रार्थ तथा धोबीवाली घटना नहीं आई है। मुनि पुण्यविजयजी से ज्ञात हुआ है कि प्रभावकचरित से पहले के किसी ग्रन्थ में हंस परमहंस की कथा नहीं मिलती। भद्रेश्वरसूरि का बनाया हुआ प्राकृतभाषा का एक कथावली नामक ग्रन्थ है। मुनि जिनविजयजी इसको १२ वीं शताब्दी की रचना अनुमान करते हैं। इसमें भी सिद्धसेन दिवाकर के बाद हरिभद्रसूरि का एक कथानक दिया है। मुनि पुण्यविजयजी ने कृपा करके इस कथा की प्रेसकापी हमारे देखने के लिये भेज दी थी। कापी में स्थान स्थान पर पाठ छूटे हुए हैं। कथा का आशय निम्नप्रकार है—

हासिक व्यक्ति है और उसके सम्बन्ध की कुछ बातों का समर्थन शिलालेखों और विभिन्न ग्रन्थकारों के उल्लेखों से होता है, किन्तु दूसरे के तो पात्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित नहीं होते

"हरिभद्र ब्राह्मणपुत्र थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिसका कथन नहीं समझ सकूँगा उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक समय हरिभद्र चित्तौर आये। वहाँ जिनदत्ताचार्य के संघ में याकिनी नामकी एक साध्वी रहती थी। एक दिन हरिभद्र ने याकिनी के मुख से 'चक्किदुगं हरिपणगं' इत्यादि गाथा सुनी, किन्तु उसका अर्थ न समझ सके। हरिभद्र ने साध्वी से गाथा का अर्थ पूछा तो साध्वी उन्हें गुरु के पास ले गई। गुरु जिनदत्ताचार्य ने गाथा का अर्थ समझाया। हरिभद्र ने अपनी प्रतिज्ञा की बात कही। आचार्य ने साध्वी का धर्मपुत्र हो जाने के लिये कहा। हरिभद्र ने धर्म का फल पूछा। आचार्य ने कहा कि सकामवृत्तिवालों के लिये स्वर्गप्राप्ति और निष्कामकर्मवालों के लिये भवविरह (संसार का अन्त) धर्म का फल है। हरिभद्र ने भवविरह की इच्छा प्रकट की और जिनदत्ताचार्य ने उन्हें जिनदीक्षा दे दी। हरिभद्र के जिनभद्र और वीरभद्र नामके दो शिष्य थे। उस समय चित्तौड़ में बौद्धमत का प्राबल्य था और बौद्ध हरिभद्रसे ईर्षा करते थे। एकदिन बौद्धों ने हरिभद्र के दोनों शिष्यों को एकान्त में मारडाला। यह सुनकर हरिभद्र को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने अनशन करने का निश्चय किया। प्रभावक पुरुषों ने उन्हें ऐसा करने से रोका और हरिभद्र ने ग्रन्थराशि को ही अपना पुत्र मान उसकी रचना में चित्त लगाया। ग्रन्थनिर्माण और लेखनकार्य में जिनभद्र वीरभद्र के काका लल्लिक ने बहुत सहायता की। हरिभद्र जब भोजन करते थे लल्लिक शङ्ख बजाता था। उसे सुनकर बहुत से याचक एकत्र हो जाते थे। हरिभद्र उन्हें 'भवविरह करने में प्रयत्न करो' कहकर आशीर्वाद देते थे। इससे हरिभद्रसूरि भवविरहसूरि के नाम से प्रसिद्ध होगये थे"। प्रभावकचरित के वर्णन की अपेक्षा कथावली का लेख प्रामाणिक जँचता है और भवविरह शब्द की जो उपपत्ति कथावली में दी गई है वह हृदय को लगती है। हंस परमहंस नामकी अपेक्षा जिनभद्र वीरभद्र नाम भी वास्तविक जँचते हैं। प्रभावकचरित के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में मुनि कल्याणविजयजी लिखते हैं—"अमारा विचार प्रमाणे कथावलीनुं प्राचीन लखाण जे प्रामाणिक लागे छे, कारण के हंस अने परमहंस जेवां नामो जैन श्रमणोमां प्रचलित न होवा थी, ऐ नामो या तो कल्पित होवां जेइये अने नहि तो उपनाम होई शके, पण आवां मूल नामों होवां संभवतां नथी। ऐ सिवाय बीजु पण कथावलीमां लखली हकीकत वास्तविक जणाय छे, प्रबन्धमां केटलाक बनावो अतिशयोक्तिपूर्ण अने कल्पित जेवा लागे छे।"

जिन दिगम्बर कथाकोशों में अकलङ्क की कथा वर्णित है उनमें से नेमिदत्तका कथाकोश प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश का ही पद्यों में रूपान्तर है। वि० सं० १५७५ के लगभग नेमिदत्त के अस्तित्व का पता लगाया गया है। गद्यकथाकोश के बारे में प्रेमीजी का अनुमान है कि यह गद्यकथाकोश बहुत करके उन्हीं प्रभाचन्द्र का बनाया हुआ है जिनके पद पर पद्मनन्दि भट्टारक सं० १३८५ में बैठे थे। अर्थात् वे उसे वि० की चौदहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। रत्नकरंडश्रावकाचार की प्रभाचन्द्रकृत संस्कृतटीका में, जो इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है, कुछ कथाएँ मिलती हैं। हमने उक्त टीका में दत्त सम्यक्त्व के आठ अङ्गों की कथाओं का गद्यकथाकोश की कथाओं से मिलान किया तो उनमें अक्षरशः ऐक्य पाया। क्वचित् क्वचित् टीका में पाठ छूट गया है जो कथाकोश से पूर्ण हो जाता है। एक दो जगह साधारणसा शब्दभेद भी प्रतीत हुआ किन्तु वह प्रतिभेद का ही परिणाम जान पड़ा। पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने उक्त टीका का रचनाकाल वि० सं० १३०० के लगभग अन्दाजा है। अतः यदि रत्नकरण्ड की टीका में दत्त उक्त कथाएँ गद्यकथाकोश से ली गई हों या दोनों का कर्त्ता एक हो तो कथाकोश वि० की १३ वीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि अकलङ्क के भाई निकलङ्क और उसकी मृत्यु आदि की कल्पना श्वेताम्बरग्रन्थ कथावली वगैरह के प्रभाव का फल है और प्रभावकचरित में वर्णित हंस परमहंस की कथा पर गद्यकथाकोश में वर्णित अकलङ्क की कथा का प्रभाव है क्योंकि हंस परमहंस की कथा में शास्त्रार्थ तथा धोबी वगैरह की घटना कथाकार की जोड़ी हुई सी प्रतीत होती है।

और उसके चित्रण में भी कल्पना से पहले की अपेक्षा अधिक काम लिया गया प्रतीत होता है। तथा ऐसा जान पड़ता है कि पहले की कथा का दूसरे पर प्रभाव है। कथा इस प्रकार है—

हंस परमहंस की कथा

हरिभद्र सूरि के हंस और परमहंस नामके दो शिष्य थे। पिता के कर्कश वचनों से विरक्त होकर दोनों ने दीक्षा लेली थी। न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन कर चुकने के बाद उनकी इच्छा हुई कि हम बौद्धदर्शन का भी अध्ययन करें। उन्होंने बौद्धों के नगर में जाकर बौद्धदर्शन का अध्ययन करने की इच्छा गुरु पर प्रकट की। निमित्तज्ञानी गुरु ने भावी को जानकर उन्हें वैसा करने से रोका और स्वदेश में ही किसी गुणी यति से बौद्धशास्त्र पढ़ने की सम्मति दी। किन्तु भावी बलवान है। दोनों भाइयों ने सुगतपुर अर्थात् बौद्धों की नगरी को प्रस्थान किया और वहां पहुंच कर एक बौद्धमठ में पढ़ने लगे। उन्होंने एक पत्र पर जिनमत की युक्तियों के खण्डन का प्रतिखण्डन और दूसरे पर सुगतमत के दूषण लिख रखे थे। दैवयोग से एक दिन वे पत्र हवा में उड़ गये और किसी तरह बौद्धगुरु की दृष्टि में जा पड़े। उन्हें देखकर गुरु को किसी जैन छात्र के होने का सन्देह हुआ। परीक्षा के लिये उसने मार्ग में जिनबिम्ब का चित्र बनवा दिया और सब छात्रों को उस पर पैर रखकर आने की आज्ञा दी। प्राणों पर संकट जानकर दोनों भाईयों ने खड़िया मिट्टी से प्रतिमा के हृदय पर यज्ञोपवीत[1] का चिन्ह बना दिया और तब उसे बुद्धप्रतिमा मानकर वे झट लांघ गये। तब दूसरी परीक्षा का समय आया और रात्रि में ऊपर से बर्तन डालकर चौंका देनेवाला शब्द किया गया। सब विद्यार्थी जाग पड़े और अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। हंस परमहंस ने भी जिनदेव का स्मरण किया और पहरे पर नियुक्त चरों ने उसे सुन लिया और वे पकड़ लिये गये तथा महल की छत पर रखे गये। मृत्यु के भय से दोनों भाई छातों की सहायता से पृथ्वी पर आये और भाग दिये। उन्हें पकड़ने के लिये सवार दौड़ाये गये। सवारों को निकट आया जान हंस ने अपने छोटे भाई को तो सूरपाल राजा की शरण में भेज दिया और आप लड़कर मारा गया।

सवार राजा के पास गये और उससे अपना अपराधी मांगा। किन्तु राजा ने देने से साफ इन्कार कर दिया और शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। अधिपति ने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया। किन्तु यह कह कर कि बुद्ध के मस्तक पर पैर रखनेवाले व्यक्ति का मुख हम नहीं देख सकते, हंस का मुख देखने से इन्कार कर दिया।

बौद्धों ने घट में अपनी देवी का आह्वान किया और उससे हंस का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बहुत दिनों तक चला। अन्त में जिनशासनदेवी के द्वारा बतलाये गये उपाय से काम लिया गया। हंस ने विजय पाई और पर्दा खींच कर घड़े को पैर से फोड़ डाला।

हंस ने विजय तो पाई किन्तु उसकी विपत्ति का अन्त नहीं हुआ। पराजित बौद्ध और भी कुपित होगये। अस्तु, किसी तरह उनसे आंख बचाकर वह सूरपाल से विदा हुआ। रास्ते में उसने एक धोबी देखा और सवारों को समीप आया जानकर उससे कहा–'भागो सेना आरही

---

१ इस कथा के रचनाकाल में, श्वेताम्बरसंप्रदाय में, जिनबिम्ब का शृङ्गार करने की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः इसी से अकलङ्क की कथा में वर्णित, मूर्ति पर धागा डालकर उसे लांघने की घटना के स्थान में यज्ञोपवीत बनाकर उसे लांघने की कल्पना की गई है।

है।' बेचारा धोबी कपड़े धोना छोड़कर भाग खड़ा हुआ और परमहंस ने उसका स्थान ले लिया। सवारों के निकट आने पर और उस से उस मार्ग से जाने वाले एक मनुष्य का पता पूछने पर परमहंस ने भागते हुए धोबी की ओर संकेत कर दिया और इस प्रकार अपनी जान बचाकर गुरु के पास पहुंचा। और सब हाल सुनाते हुए तीव्र शोक के वेग से उसकी छाती फट गई और वह मर गया।

हरिभद्र सूरि को अपने प्रिय शिष्यों की मृत्यु से बहुत खेद हुआ और उसका बदला लेने के लिये उन्होंने बहुत से बौद्ध पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया और शर्त के अनुसार उन बौद्धों को तप्त तैल में डाल दिया।

किसी किसी का कहना है कि बौद्धों पर क्रुद्ध होकर उन्होंने आकर्षिणीविद्या के द्वारा उन्हें तप्त तैल में झोंक दिया। जब उनके गुरु को इस समाचार की सूचना मिली तो उन्होंने उनके पास क्रोध की शान्ति के लिये कुछ गाथा लिखकर भेजी, जिससे वे शान्त हुए। हरिभद्र के प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में 'विरह' शब्द आता है जो उनके प्रियशिष्यों के वियोग का चिह्न है।"

इस कथा को पढ़कर पाठक कथाओं के ऐतिहासिक मूल्य का अनुमान लगा सकेंगे। अतः अकलङ्क की कथा के आधार पर निकलङ्क को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति, बौद्धों से मुठभेड़ और अकलङ्क के साहित्य में विशेषतया बौद्ध-वाद का खण्डन देखकर अकलङ्क के बौद्धमठ में अध्ययन करने की किंवदन्ती सत्य प्रतीत होती है। विलसन साहब की 'मैकेंजी कलेक्शन' नामक पुस्तक के आधार पर राईस साहब ने लिखा है कि पोनतग के बौद्धविद्यालय में अकलङ्कदेव ने शिक्षा पाई थी।

शास्त्रार्थी अकलंक

बौद्धविद्यालय में अध्ययन कर चुकने के बाद गृहत्यागी अकलङ्क के सामने जीवन के महान् उद्देश्य को पूरा करने की समस्या उपस्थित हुई। उस समय विद्वत्समाज में शास्त्रार्थ करने का बहुत प्रचार था और राजा तथा प्रजा दोनों ही उसमें क्रियात्मक भाग लेते थे। इन शास्त्रार्थों का फल केवल जय और पराजय ही नहीं होता था किन्तु धर्मप्रचार का यह एक मुख्य साधन समझा जाता था। ये शास्त्रार्थ बहुत करके राजसभाओं में होते थे और राजन्यवर्ग उनमें मध्यस्थ रहता था। यदि राजा बुद्धिमान् शास्त्रज्ञ और विवेकी होता था तो विजयी पक्ष से प्रभावित होकर उसका धर्म स्वीकार कर लेता था और 'यथा राजा तथा प्रजा' की नीति का प्राधान्य होने के कारण प्रजा भी उसका अनुसरण करती थी। फलतः शास्त्रार्थ के द्वारा राज्य का राज्य स्वधर्मी बनाया जा सकता था। इसी लिये उस समय के वादी विद्वान् राजाओं की तरह दिग्विजय करने के लिये निकलते थे और मुख्य २ राजसभाओं में जाकर स्वामी समन्तभद्र की तरह ललकार कर कहते थे—

"राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी"

चीनी यात्री फाहियान और ह्यूनत्सांग ने अपने अपने यात्राविवरण में कई शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। ह्यूनत्सांग सातवीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था और बहुत समय तक नालन्दा के बौद्धविद्यापीठ में रहा था। एक बार वह भी एक शास्त्रार्थ करने के लिये गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन करते हुए वह लिखता है—"सबेरे से शाम तक

१ हुएन्त्सांग का यात्राविवरण पृ० ४९३।

लोग वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं। वृद्ध हो अथवा युवा, शास्त्रार्थ के समय सब मिल जुलकर एक दूसरे की सहायता करते हैं।......अन्य नगरों के विद्वान् लोग, जिनको शास्त्रार्थ में शीघ्र प्रसिद्ध होने की इच्छा होती है, झुँड के झुँड यहाँ आकर अपने संदेहों का निवारण करते हैं।........अगर दूसरे प्रान्तों के लोग शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इस संघाराम में प्रवेश करना चाहें तो द्वारपाल उनसे कुछ कठिन कठिन प्रश्न करता है जिनको सुनकर ही कितने ही तो असमर्थ और निरुत्तर होकर लौट जाते हैं। उन विद्यार्थियों को, जो यहाँ पर नवागत होते हैं और जिनको अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के द्वारा देना होता है, उत्तीर्ण संख्या दस में ७ या ८ होती है।"

इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शास्त्रार्थों का कितना प्राबल्य था और उनमें भाग लेने के लिये किस श्रेणी की विद्वत्ता की आवश्यकता थी। अध्ययन समाप्त करने के बाद कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर अकलंकदेव को भी राजसभाओं में जाकर जिनशासन की विजयवैयजन्ती फहराने के सुअवसर मिले। स्वामी समन्तभद्र की तरह विभिन्न देशों को दिग्विजय करते हुए पर्यटन करने का उल्लेख तो उनके बारे में नहीं मिलता। किन्तु कुछ राजसभाओं में बौद्धों के साथ उनको मुठभेड़ होने का वर्णन पाया जाता है। तथा कई शिलालेख और ग्रन्थकार उन्हें बौद्धों का विजेता कहते हैं।

कथाकोश में उनके एक शास्त्रार्थ का वर्णन इस प्रकार किया है—"कलिंगदेश में रत्नसंचयपुर नामका नगर था। वहाँ हिमशीतल राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था। एक बार अष्टाह्निकापर्व के अवसर पर रानी ने जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकालने का विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघश्री ने राजा को बहकाकर रथयात्रा उत्सव बन्द करा दिया। और यह शर्त रखी गई कि यदि कोई जैन विद्वान् शास्त्रार्थ में बौद्धों को हरा सकेगा तो रथयात्रा का उत्सव मनाने दिया जायेगा। रानी ने कोई उपाय न देखकर, खाना-पीना त्याग कर जिन मन्दिर में ध्यान लगाया। आधी रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवी का आसन डोला और उसने दिन निकलने पर अकलंकदेव के पधारने का सुसम्वाद सुनाया। अकलंकदेव आये और हिमशीतल राजा की सभा में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। सभा के बीच में एक परदा पड़ा था और उसके अन्दर से संघश्री शास्त्रार्थ करता था। छह मास हो गये, किन्तु किसी की भी हार नहीं हुई। एक दिन रात्रि के समय अकलंक इसी उधेड़बुन में पड़े हुए थे कि चक्रेश्वरी देवी ने खबर दी कि परदे की ओट से बौद्धों की इष्टदेवी तारा शास्त्रार्थ करती है। उसने उन्हें सम्मति दी कि कल को वे देवी से प्रकारान्तर से प्रश्न करें। अगले दिन अकलंक ने वैसा ही किया तो उत्तर न मिला। आगे बढ़कर उन्होंने पर्दा खींच लिया और घड़े को ठोकर से फोड़ डाला। जैनधर्म की खूब प्रभावना हुई और बड़े ठाठबाट से जिनेन्द्रदेव की सवारी निकली।"

राईस सा० के द्वारा सङ्कलित कथा में इस वाद के बारे में लिखा है—"अकलङ्कदेव ने दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्यपद सुशोभित किया। इस समय अनेक मतों के विद्वान आचार्य बौद्धों से वादविवाद में हार खाकर दुःखी हो रहे थे। उनमें से वीरशैव[1] सम्प्रदाय के आचार्य सुधापुर में अकलङ्कदेव के पास आये और उनसे उन्होंने सब हाल कहा। इस

[1] कलचुरि वंशीय राजा विजल के मंत्री बसव ने वि० स० १२०० के लगभग वीरशैव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। अतः अकलंक के समय में यह सम्प्रदाय नहीं हो सकता। यह कथालेखक की मनगढ़न्त है।

पर अकलङ्कदेव ने वहां जाने और बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। अकलङ्क ने अपनी मयूरपिच्छिका को छुपाकर, जिससे वे जैनमती जाने जाते, बौद्धों को यह विश्वास दिलाने की योजना की कि वे शैव हैं और इस ढंग पर उनको वाद में जीतकर पीछे उन्हें अपनी मयूरपिच्छी दिखलादी। इस पर बौद्धलोग बहुत ही क्रुद्ध और उत्तेजित हुए। कांची के बौद्धों ने जैनियों का हमेशा के लिये अन्त कर डालने के अभिप्राय से अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिये उत्तेजित किया कि अकलङ्क को इस शर्त के साथ उनसे वाद करने के लिये बुलाया जाये कि जो कोई वाद में हार जाये उसके सम्प्रदाय के कुल मनुष्य कोल्हू में पिलवा दिये जांये। वाद हुआ। (वाद का वर्णन कथाकोश से बिल्कुल मिलता है केवल इतना अन्तर है कि यहां चक्रेश्वरी देवी के स्थान में कुष्मांडिनी देवी ने अकलङ्कदेव को तारा की सूचना दी थी) और जैनों की विजय हुई। राजा ने बौद्धों को कोल्हू में पिलवा देने का हुक्म दे दिया। परन्तु अकलङ्क की प्रार्थना पर वे समस्त बौद्ध सीलोन के एक नगर कैंडी को निर्वासित कर दिये गये।"

हिमशीतल राजा की सभा में अकलङ्क के शास्त्रार्थ और तारा देवी की पराजय का उल्लेख श्रवणबेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में भी किया है। तथा उसमें राजा साहसतुंग की सभा में अकलङ्क के जाने और वहां आत्मश्लाघा करने का भी वर्णन है। प्रशस्ति के श्लोक इस प्रकार हैं—

"तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारा समं
बौद्धैर्यो धृतपीठपीडितकुदृग्देवात्तसेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजः स्नानञ्च यस्याचरे-
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती॥

चूर्णिः। *यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—*
राजन्साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः॥ १॥
राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम्।
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्॥ २॥
नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः॥ ३॥"

१ यहां 'सुगतः' के स्थान में 'स घटः' पाठ सम्यक् प्रतीत होता है। क्योंकि 'पादेन विस्फोटितः' के साथ उसकी सङ्गति ठीक बैठती है और हिमशीतल की सभा की घटना—पैर से घड़े को फोड़ने—का भी भाव स्पष्ट हो जाता है। अन्यथा 'सुगत को पैर से फोड़ दिया' अर्थ असङ्गत प्रतीत होता है।

अर्थात्—"जिसने गुप्तरूप से घट में अवतारित तारा देवी को बौद्धों के सहित परास्त किया, सिंहासन के भार से पीड़ित मिथ्यादृष्टि देवों ने जिसकी सेवा की। और मानों अपने दोषों का प्रायश्चित करने ही के लिये बौद्धों ने जिसके चरणकमल की रज में स्नान किया उस कृती अकलङ्क की प्रशंसा कौन कर सकता है? सुना जाता है कि उन्होंने अपने असाधारण निरवद्य पांडित्य का वर्णन इस प्रकार किया था—

राजन् साहसतुङ्ग! श्वेत छत्र के धारण करनेवाले राजा बहुत से हैं किन्तु आपके समान रणविजयी और दानी राजा दुर्लभ है। इसी तरह पण्डित तो बहुत से हैं किन्तु मेरे समान नानाशास्त्रों के जानने वाले कवि, वादी और वाग्मी इस कलिकाल में नहीं हैं।

राजन्! जिस प्रकार समस्त शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने में तुम्हारा चातुर्य प्रसिद्ध है उसी प्रकार विद्वानों के मद को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में मैं पृथ्वी पर ख्यात हूँ। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी सभा में बहुत से विद्वान् मौजूद हैं उसमें से यदि किसी की शक्ति हो और वह समस्तशास्त्रों का पारगामी हो तो मुझ से वाद करे।

राजा हिमशीतल की सभा में समस्त बौद्ध विद्वानों को जीतकर मैंने तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया। सो किसी अहङ्कार या द्वेष की भावना से मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु नैरात्म्यवाद के प्रचार से जनता को नष्ट होते देखकर, करुणाबुद्धि से ही मुझे वैसा करना पड़ा।"

इस प्रशस्ति का 'तारा येन विनिर्जिता' आदि श्लोक तो प्रशस्तिकार का ही बनाया हुआ प्रतीत होता है किन्तु चूर्णि से स्पष्ट है कि शेष तीन पद्य पुरातन हैं और प्रशस्तिकार ने उन्हें जन-श्रुति के आधार पर प्रशस्ति में सङ्कलित कर दिया है। इससे कथाओं में वर्णित अकलङ्क के शास्त्रार्थ की कथा शक सं० १०५० (प्रशस्तिलेखन का समय) से भी पहली प्रमाणित होती है।

श्रवणबेलगोला के एक अन्य शिलालेख में भी अकलङ्क का स्मरण इस प्रकार किया है—

"भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैस्सकलङ्कभूतम्।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव ॥ २१ ॥"

विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख न० १०५

अर्थात्—"बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेशरूपी पङ्क से सकलङ्क हुए जगत को मानों अपने नाम को सार्थक बनाने ही के लिये भट्टाकलङ्क ने अकलंक कर दिया।"

कुछ ग्रन्थकारों ने भी अकलंक को बौद्धविजेता लिखकर स्मरण किया है। महाकवि वादिराज सूरि अपने पार्श्वनाथचरित (श० सं० ९४८) में लिखते हैं—

"तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः ॥"

"वे तार्किक अकलंकदेव जयवन्त हों, जिन्होंने जगत की वस्तुओं के अपहर्ता अर्थात् शून्यवादी बौद्धदस्युओं को दण्ड दिया।"

पाण्डवपुराण में तारादेवी के घड़े को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम्।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥"

"कलिकाल में वे कलङ्करहित अकलङ्क श्रुत को भूषित करें जिन्होंने घड़े में बैठी हुई मायादेवी-मायारूपधारिणी देवी को पैर से ठुकराया।"

हनुमच्चरित में लिखा है—

"अकलङ्कगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः।"

"अकलङ्क पद के स्वामी वे अकलङ्क गुरु जयवन्त हों जो बौद्धों की बुद्धि की वैधव्य-दीक्षा के गुरु कहे जाते हैं अर्थात् जिन्होंने बौद्धों की बुद्धि को विधवा बना दिया।"

अकलंक के बौद्धविजयसम्बन्धी उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं जो उन्हें प्रबल तार्किक और वादिशिरोमणि बतलाते हैं। यथा—

न्यावि० वि० के अन्त में वादिराज उन्हें 'तार्किकलोकमस्तकमणि' लिखते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के तृतीय परिच्छेद के अन्त में आचार्य प्रभाचन्द्र उन्हें 'इतरमतावलम्बीवादिरूपी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह बतलाते हुए लिखते हैं—

"इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः॥"

अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र 'सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवः' लिखकर उनकी तार्किकता के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करते हैं। लघीयस्त्रय के वृत्तिकार अभयचन्द्र ने भी उन्हें इसी विशेषण से भूषित किया है। स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवसूरि 'प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कः' लिखकर उन्हें मतान्तरों के दोषों का उद्भावक बतलाते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव उन्हें 'तर्काब्जार्क'–तर्करूपी कमल के विकास के लिये सूर्य बतलाते हैं। विद्वत्समाजमें अकलंकदेव की तार्किकता और सभाचातुर्य की इतनी ख्याति थी कि उत्तरकाल में विद्वानों में उन गुणों की गरिमा बतलाने के लिये उनके नाम को उपमा दी जाती थी। महाकवि वादिराज की प्रशंसा में कहा गया है कि वे सभा में अकलंकदेव के समान थे। तथा मेघचन्द्र की प्रशंसा करते हुए उन्हें 'षड्दर्शनों में अकलंकदेव के समान निपुण' बतलाया है।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अकलंकदेव अपने समय के एक विशिष्ट विद्वान् और सभाचतुरवादी थे तथा बौद्धों को परास्त करने की घटना ने एक विश्रुत जनरव का रूप धारण कर लिया था। अतः अकलङ्ककथा का शास्त्रार्थसम्बन्धी भाग कल्पित नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसमें वर्णित बौद्धों का पर्दा डालना पर्दे के भीतर से घड़े में बैठी हुई तारादेवी का शास्त्रार्थ करना, अकलंक का उसे न जीत सकना, चक्रेश्वरी का आना और तारा को बीच में टोककर प्रकारान्तर से प्रश्न करने की सम्मति देना आदि, कुछ बातें ऐसी हैं जो बीसवीं शताब्दी के पाठकों को बिल्कुल असङ्गत प्रतीत होती हैं। परन्तु इतिहास का परिशीलन करने से कथा

---

१ पृ० ११३७। २ नियमसार की तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में। ३ सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिः वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः। इति समयगुरूणामेकतः सङ्गतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥ (vide ins no. 39. Nagar taluy by mr. Rice.)

४ "षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।" चन्द्रगिरि पर्वत का शिला० नं० ४७ (प्रो० हीरालाल)

में वर्णित कुछ बातों पर रोचक प्रकाश पड़ता है। ह्यूनत्सांग ने अपने यात्राविवरण में एक ऐसे ब्राह्मण की कथा का उल्लेख किया है जो पर्दे में बैठकर शास्त्रार्थ करता था और जिसे अश्वघोष बोधिसत्व ने उसी रीति से पराजित किया था जिस रीति से तारादेवी को पराजित करने की बात कथा में कही गई है। ह्यूनत्सांग लिखते हैं–"एक ब्राह्मण था जिसने मनुष्यों की पहुंच से बहुत दूर जंगल में एक स्थान पर एक कुटी बनाई थी और वहीं पर उसने सिद्धिलाभ करने के लिये राक्षसों का बलिप्रदान किया था। इस अन्तरिक्षीय सहायता को प्राप्त करके वह बहुत बढ़ चढ़ कर बातें मारने लगा और बड़े जोश में आकर विवाद करने लगा। उसकी इन वक्तृताओं का समाचार सारे संसार में फैल गया। कोई भी आदमी किसी प्रकार का प्रश्न उससे करे, वह एक परदे की ओट में बैठकर उसका उत्तर ठीक ठीक दे देता था। कोई भी व्यक्ति चाहे कैसा ही पुराना विद्वान और उच्च कोटि का बुद्धिमान हो, उसकी युक्तियों का खण्डन नहीं करपाता था।...... इसी समय अश्वघोषबोधिसत्त्व भी वर्तमान था...... वह उसकी कुटी पर गया और कहा–"मुझको आपके प्रसिद्ध गुणों पर बहुत दिनों से भक्ति है। मेरी प्रार्थना है कि जब तक मैं अपने दिल की बात न समाप्त करलूं आप परदे को खुला रक्खें।" परन्तु ब्राह्मण ने बड़े घमंड से परदे को गिरा दिया और उत्तर देने के लिये उसके भीतर बैठ गया और अन्ततक अपने प्रश्नकर्ता के सामने नहीं आया। अश्वघोष ने विचार किया जब तक इसकी सिद्धि इसके पास रहेगी, तब तक मेरी बुद्धि बिगड़ी रहेगी। इस लिये उसने उस समय बातचीत करना बन्द कर दिया। परन्तु चलते समय उसने कहा–"मैंने इसकी करामात को जान लिया, यह अवश्य परास्त होगा।" वह सीधा राजा के पास चला गया और कहा–"यदि आप कृपा करके मुझको आज्ञा दें तो मैं उस विद्वान महात्मा से एक विषय पर बातचीत करूँ।"......... विवाद के समय अश्वघोष ने तीनों पिटक के गूढ़ शब्दों का और पञ्च महाविद्याओं के विशद सिद्धान्तों का आदि से अन्त तक अनेक प्रकार से वर्णन किया। इसी विषय को लेकर जिस समय ब्राह्मण अपना मत निरूपण कर रहा था उसी समय अश्वघोष ने बीच में टोक दिया–"तुम्हारे विषय का क्रमसूत्र खण्डित होगया, तुमको मेरी बातों का क्रमशः अनुसरण करना चाहिये।" अब तो ब्राह्मण का मुख बन्द होगया और वह कुछ न कह सका। अश्वघोष उसकी दशा को ताड़ गया उसने कहा–"क्यों नहीं मेरी गुत्थी को सुलझाते हो? अपनी सिद्धि को बुलाओ और जितना शीघ्र हो सके उससे शाब्दिक सहायता प्राप्त करो।" यह कहकर उसने ब्राह्मण की दशा को जानने के लिये परदे को उठाया। ब्राह्मण भयभीत होकर चिल्ला उठा, "परदा बन्द करो, परदा बन्द करो।" इस कथा से इस बात का पता लगता है कि उस समय के कोई कोई मनुष्य इस तरह की कोई सिद्धि प्राप्त कर लेते थे जो शास्त्रार्थ के अवसर पर उनकी सहायता करती थीं। संभवतः ऐसी सिद्धियाँ तीक्ष्णदृष्टि मनुष्य के सामने अपना काम करने में असमर्थ होती थीं, इसी से बाजीगर की तरह पर्दे की ओट से उनका उपयोग किया जाता था और किसी प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर उनकी सहायता से तभी दिया जा सकता था जब कि वक्ता को बीच में टोका न जाये। टोकने पर उसका प्रवाह रुक जाता था और वह सब भूल जाता था। संभवतः अकलंकदेव को भी जिस बौद्ध विद्वान् से शास्त्रार्थ करना पड़ा था उसे तारादेवी सिद्ध थी और

१ यात्राविवरण पृ० ३९३–९६।

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने की अभिलाषा से पर्दे की ओट में घट रखकर उसने उसका आह्वान किया था। किन्तु शास्त्रार्थ में वह स्वयं ही बोलता होगा, जैसा कि हम ह्यूनत्सांग के विवरण में पढ़ चुके हैं।

बौद्धसम्प्रदाय में तारादेवी का बड़ा सन्मान था और उसके तान्त्रिक समाज की, जिसका एक समय भारत में बड़ा प्रभाव था, तारा अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित बौद्धस्तोत्रसंग्रह की प्रस्तावना में डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने ताराविषयक साहित्य का परिचय कराते हुए तिब्बतीय भाषा के ६२ तथा संस्कृत के ३४ ग्रन्थों की तालिका दी है। इससे पाठक सरलता से समझ सकते हैं कि बौद्धसम्प्रदाय में तारा की कितनी मान्यता थी। तारा का स्तवन करते हुए स्रग्धरास्तोत्र में लिखा है—

"विश्रान्तं श्रोतृपात्रे गुरुभिरुपहृतं यस्य नाम्नायभैक्ष्यं
विद्वद्गोष्ठीषु यश्च श्रुतधनविरहान्मूकतामभ्युपैति।
सर्वालङ्कारभूषाविभवसमुदितं प्राप्य वागीश्वरत्वं
सोऽपि त्वद्भक्तिशक्त्या हरति नृपसभे वादिसिंहासनानि ॥ २० ॥"

अर्थात्—"जिसने कभी गुरु के मुख से एक वाक्य भी नहीं सुना और जो अज्ञानी होने के कारण विद्वानों की सभा में एक शब्द भी नहीं बोल सकता, तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से वह मनुष्य चतुरवक्ता हो जाता है और राजसभा में वादिरूपी सिंहों के आसन को हर लेता है— उन्हें पराजित कर देता है।"

इससे पता चलता है कि तारा को बुद्धिऋद्धिदायिनी भी माना जाता था और उसकी भक्ति से न केवल मूक वाचाल हो जाता था किन्तु राजसभा में जाकर वादियों को पराजित भी कर सकता था। अतः कथा में वर्णित शास्त्रार्थ की रीति उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुकूल मालूम होती है। इस प्रकार ह्यूनत्सांग के संसारप्रसिद्ध ब्राह्मण की तरह इन्द्रजालिया बौद्धगुरु को अपने बुद्धिकौशल से पराजित करके अकलङ्कदेव ने तत्कालीन जनसमाज में काफी ख्याति प्राप्त की होगी, इसी से उनकी इस विजय का उल्लेख जगह जगह पाया जाता है।

इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के अतिरिक्त भी अकलङ्कदेव ने अन्य अनेकों शास्त्रार्थ किये, क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य केवल एक शास्त्रार्थ से पूरा होनेवाला न था और उस समय सर्वत्र विपक्षियों का इतना प्राधान्य था कि उनको पराजित किये बिना कुछ कर सकना अशक्य था।

ग्रन्थकार अकलङ्क

पिछले प्रकरण में अकलङ्कदेव के शास्त्रार्थीरूप का दिग्दर्शन कराते हुए शिलालेखों और ग्रन्थकारों के अनेक उल्लेखों के आधार पर हम उनकी वाक्पटुता और तार्किकता का थोड़ा सा परिचय करा आये हैं। किन्तु वह परिचय साक्षात् न होकर परम्परया है। उनकी अगाध विद्वत्ता, प्रौढ़लेखनी और गूढ़अभिसन्धि का साक्षात् परिचय प्राप्त करने के इच्छुक जन को उनकी साहित्यगंगोत्री में मज्जन करने का प्रयास करना होगा। उनके लघीयस्त्रय प्रकरण का परिचय कराते समय हम उनकी शैली आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतला आये हैं उनका लेख, गद्य हो या पद्य, सूत्र की तरह अति संक्षिप्त, गहन, और अर्थबहुल है। थोड़े से

शब्दों में बहुत कुछ कह जाना उनकी विशेषता है। उन्होंने अपने ग्रन्थों के भाष्य भी स्वयं लिखे हैं किन्तु वे भी इतने दुरूह और जटिल हैं कि व्याख्याकारों को भी उनका व्याख्यान करने में एक स्वर से अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी है। अकलङ्क के व्याख्याकारों में अनन्तवीर्य और स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द ये दो विद्वान बहुत ही पराक्रमी और बुद्धिवैभव-सम्पन्न हुए हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र और वादिराज ने अपने अपने व्याख्यानग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्ति की सहायता से ही वे अकलङ्क को समझने में समर्थ हो सके हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं—

"त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयो
दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात्।
स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितो
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसस्तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥"

अर्थात्—"त्रिलोकवर्ती वस्तुओं के ज्ञानके प्रभाव से अकलङ्कदेव की सरणि–पद्धति का उदय हुआ है अर्थात् त्रिलोकवर्ती वस्तुओं का ज्ञाता होने के कारण ही अकलङ्कदेव अपनी शैली को जन्म देसके हैं। यह शैली दुष्प्राप्य होने पर भी भाग्योदय से प्राप्त होगई है और अनन्त-वीर्य की उक्तियों से बारम्बार मैंने उसका अभ्यास और विवेचन किया है।" आदि।

न्यायविनिश्चयविवरण को प्रारम्भ करते हुए वादिराजसूरि लिखते हैं—

"गूढमर्थमकलंकवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम्।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे ॥"

अर्थात्—"अकलङ्क की वाङ्मयरूपी अगाधभूमि में निक्षिप्त गूढ़ आशय को अनन्तवीर्य के वचनरूपी दीपशिखा रातदिन पद पद पर व्यक्त करती है।"

अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता और अपनी असमर्थता बतलाते हुए वादिराज और भी लिखते हैं—

"भूयोभेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्
कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रभुर्मादृशः।"

अर्थात्—"अकलङ्कदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अति गहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उसका विस्तार से कथन, और वह भी विवेचनात्मक, कैसे कर सकता है ?"

इस प्रकार अनन्तवीर्य की उक्तियों से सहायता लेकर भी वादिराज अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता का अनुभवन करते हैं। अब देखिये कि स्वयं अनन्तवीर्य इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

अपनी सिद्धिविनिश्चयटीका का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि ॥"

अर्थात्–"यह बड़े अचरज की बात है कि अनन्तवीर्य–अनन्तशक्तिशाली भी अकलङ्कदेव के प्रकरण को पूरी तरह व्यक्त करना नहीं जानता।" इसी तरह आचार्य विद्यानन्द ने भी अकलङ्क के प्रकरणों को अनुपम बतलाया है।

अकलङ्कदेव की रचनाएँ दो प्रकार की हैं, एक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप और दूसरी स्वतंत्र। प्रथम प्रकार की रचनाओं में दो ग्रन्थ हैं एक तत्त्वार्थराजवार्तिक और दूसरा अष्टशती, तथा द्वितीयप्रकार की रचनाओं में लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, स्वरूपसम्बोधन, बृहत्त्रय, न्यायचूलिका, अकलंकस्तोत्र, अकलङ्कप्रायश्चित्त, और अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ ये दस ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते हैं। इन ग्रन्थों के अकलङ्करचित होने की विवेचना और उनका संक्षिप्त परिचय नीचे क्रमशः दिया जाता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य)—उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रों के दो पाठ प्रचलित हैं, उनमें से एक पाठ दिगम्बरजैनों में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बरजैनों में। दिगम्बरपाठ के आधार पर इस ग्रन्थराज की रचना की गई है। सप्त तत्त्वों का वर्णन होने के कारण उक्त सूत्रग्रन्थ 'तत्त्वार्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। महत्ता और गाम्भीर्य की दृष्टि से उसे तत्त्वार्थराज के आदरणीय नाम से भी पुकारा जाता है। इसी से प्रकृत वार्तिकग्रन्थ को तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिक कहा जाता है। पहले की अपेक्षा दूसरा नाम अधिक व्यवहृत है और उसका 'तत्त्वार्थ' पद उड़ाकर केवल 'राजवार्तिक' नाम रूढ़ होगया है। तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध आद्यटीका पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि है। वार्तिककार ने इस टीका का न केवल अनुसरण ही किया है किन्तु उसकी अधिकांश पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। ग्रन्थकारों ने दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख[1] किया है। उद्योतकर के न्यायवार्तिक और उसकी व्याख्या की तरह दोनों एककर्तृक ही प्रसिद्ध हैं। मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायों में विभक्त है अतः राजवार्तिक में भी दस ही अध्याय हैं किन्तु न्यायवार्तिक की तरह ही प्रत्येक अध्याय को आह्निकों में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैनसाहित्य में अध्याय के आह्निकों में विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। यह ग्रन्थ भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था से प्रकाशित होचुका है। इसमें 'जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा' आदि श्लोक को छोड़कर कहीं भी ग्रन्थकार का नाम नहीं आता। अभी तक केवल परम्परा और प्रौढ़ शैली के आधार पर ही इसे अकलङ्कदेवरचित माना जाता था किन्तु सिद्धिविनिश्चय की टीका के एक उल्लेख[2] पर से अब इसके प्रसिद्ध अकलङ्कदेवरचित होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता।

अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों की तरह इसकी शैली भी अतिप्रौढ़ और गहन है। वार्तिक तो प्रायः सरल और संक्षिप्त हैं किन्तु उनका व्याख्यान इतना जटिल है कि उसको विशद करने के लिये न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की कोटि की एक टीका का अभाव पद पद पर अखरता है। अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों के अवलोकन करने से पाठक के मानस पर उनके केवल प्रौढ़ दार्शनिकरूप का ही चित्रण होता है किन्तु इस ग्रन्थ में उसे उनकी त्रिमूर्ति–दार्शनिक सैद्धान्तिक और वैयाकरण के दर्शन होते हैं। उनका बहुश्रुतत्व और सर्वाङ्गीण पाण्डित्य इसी एक ग्रन्थ से प्रकट

१ न्यायदीपिका में 'तद्राजवार्तिकम्' और 'भाष्य...' करके दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है।
२ "सूरिणा अकलङ्केन वार्तिककारेण..." पृ० २५४ पू०।

हो जाता है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता और भी है। इसमें जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्तरूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे विरले ही सूत्र मिलेंगे जिनमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक न हो। यों तो वार्तिककार के दार्शनिक होने के कारण प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक सूत्र की व्याख्यानशैली में दार्शनिक दृष्टिकोण के दर्शन होते ही हैं किन्तु प्रथम और पञ्चम अध्याय का विषय दार्शनिक क्षेत्र से सम्बद्ध होने के कारण उनमें दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये पर्याप्त सामग्री भरी हुई है। शेष अध्यायों का विषय आगमिक है और जैनसिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ग्रन्थ के आलोडन से ही बहुत से शास्त्रों का रहस्य जान सकते हैं। तथा उन्हें इसमें कुछ ऐसी बातें भी मिलेंगी जो उपलब्धसाहित्य में अन्यत्र नहीं मिलतीं।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में सांख्य वैशेषिक और बौद्धों के मोक्ष का विवेचन, छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का निरूपण, ९वें से १२ वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविधविषयों की आलोचना, और अन्तिमसूत्र की व्याख्या में ऋजुसूत्र का विषयनिरूपण, द्वितीय अध्यायके ८ वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अनुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्यायके अन्त में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नयसप्तभंगी और प्रमाणसप्तभंगी का विवेचन, पांचवें अध्याय के २ रे सूत्रकी व्याख्या में वैशेषिक के 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' इस सिद्धान्त की आलोचना, ७ वें की व्याख्या में वैशेषिकदर्शन के 'आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म' (५-१-१) की आलोचना, ८ वें की व्याख्या में अमूर्तिक द्रव्यों का सप्रदेशत्वसाधन, १९ वें की व्याख्या में मन के सम्बन्ध में वैशेषिक बौद्ध और सांख्य के विविध दृष्टिकोणों की आलोचना, २२ वें की व्याख्या में अपरिणामवादियों के द्वारा वस्तु के परिणामित्व पर आपादित दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया को ही काल माननेवालों का खण्डन, २४ वें की व्याख्या में स्फोटवादका निराकरण, आदि विषय दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तथा जैनसिद्धान्त के प्रेमियों के लिये १-७ वें सूत्र की व्याख्या में अजीवादितत्त्वों के साथ निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना, १-२० की व्याख्या में द्वादशाङ्ग के विषयों का संक्षिप्त परिचय, १-२१, २२ की व्याख्या में अवधिज्ञान का विषय, २-७ की व्याख्या में सान्निपातिकभावों की चर्चा, २-४९ की व्याख्या में शरीरों का तुलनात्मक विवेचन, तीसरे अध्याय की व्याख्या में अधोलोक और मध्यलोक का विस्तृत वर्णन, ४-१९ की व्याख्या में स्वर्गलोक का पूरा विवेचन, पांचवें अध्याय की व्याख्या में जैनों के षड्द्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय की व्याख्या में विभिन्न कामों के करने से विभिन्न कर्मों के आस्रव का प्रतिपादन, सातवें अध्याय की व्याख्या में जैनगृहस्थ का आचार, आठवें में जैनों का कर्मसिद्धान्त, नवें में जैनमुनि का आचार और ध्यान का स्वरूप तथा दसवें में मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है।

अन्यमतों की विवेचना में जिन ग्रन्थों से उद्धरण आदि लिये गये हैं उनमें पतञ्जलि का महाभाष्य, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र, व्यासभाष्य, वसुबन्धु का अभिधर्मकोश, दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय, भर्तृहरि का वाक्यपदीय और बौद्धों के शालिस्तम्बसूत्र का नाम उल्लेखनीय है। जैनाचार्यों में स्वामी समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन और सिद्धसेन की द्वात्रिंशतिका से एक एक पद्य उद्धृत किया है। श्वेताम्बरसम्मत सूत्रपाठ का जगह जगह निराकरण किया है।

अष्टशती—स्वामी समन्तभद्र के आप्तमीमांसानामक प्रकरण का यह भाष्य है। इसका परिमाण आठसौ श्लोकप्रमाण होने के कारण इसे अष्टशती कहते हैं। यह नाम अष्टशती में तो नहीं पाया जाता, किन्तु आप्तमीमांसा और अष्टशती के व्याख्याकार स्वामी विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री में इसे इसी नाम से अभिहित किया है। इसके आदिमङ्गल तथा अन्तमङ्गल में अकलङ्क शब्द आता है तथा अष्टसहस्रीकार विद्यानन्द तथा उसके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र इसे अकलङ्करचित घोषित करते हैं अतः इसके अकलङ्करचित होने में कोई बाधा नहीं है। एक तो अकलङ्क का साहित्य वैसे ही गहन है उसमें भी उनकी यह कृति विशेषगहन है। यदि स्वामी विद्यानन्द इस पर अपनी अष्टसहस्री न रचते तो इसका रहस्य इसी में छिपा रह जाता। गहनता, संक्षिप्तता और अर्थगाम्भीर्य में इसकी समता करने के योग्य कोई ग्रन्थ दार्शनिकक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। आगे और पीछे की बहुत सी बातें सोचकर सूत्ररूप में एक गूढ़ पंक्ति लिखदेना अकलङ्क की शैली की विशेषता है और वह विशेषता इस ग्रन्थ में खूब परिस्फुट हुई है। इतना सब कुछ होने पर भी भाषा बड़ी सरस और रुचिकर है। उदाहरण के लिये आदि मंगल को ही ले लीजिये—

"उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला—
लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम्।
वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकांतान्धकारोदयाम्॥ १॥"

मूल प्रकरण में आप्त की मीमांसा करते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की अकाट्यता और युक्तिसंगतता को ही आप्तत्व का आधार माना है। संसार के समस्त दर्शन दो वादों में विभाजित हैं एक अनेकान्तवाद और दूसरा एकान्तवाद। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है और और शेष एकान्तवादी, अतः आप्तमीमांसाकार ने अनेकान्तवादी वक्ता को आप्त और एकान्तवादी को अनाप्त बतलाते हुए सदेकान्त, असदेकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, अपेक्षैकान्त, अनपेक्षैकान्त, युक्त्येकान्त, आगमैकान्त, अन्तरंगार्थतैकान्त, बहिरंगार्थतैकान्त, दैवैकान्त, पौरुषैकान्त, आदि एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्त का व्यवस्थापन किया है। तथा अन्तमें प्रमाण, फल, स्याद्वाद और नय की चर्चा की है। अष्टशती में इन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ में कुछ आनुषङ्गिक विषय भी प्रकारान्तर से ले लिये गये हैं। और इस तरह उन विषयों पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है जिन्हें मूलकार ने या तो छोड़ दिया था या जो उनके समय में प्रचलित नहीं हुए थे। सर्वज्ञ की चर्चा में सर्वज्ञसामान्य में विवादी मीमांसक और चार्वाक के साथ साथ सर्वज्ञविशेष में विवादी बौद्ध आदि की भी आलोचना की गई है और सर्वज्ञसाधक अनुमान का समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषों का उद्भावन करके खण्डन किया गया है जो दिङ्नाग आदि बौद्ध नैया-

---

१ "वृत्तिकारास्तु अकलङ्कदेवा एवमाचक्षते कापिलं प्रति।' अष्टस० पृ० १०१

"जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्द्धिकः॥"

नगर ताल्लुका (शिमोगा) के ४६ वें शिलालेख में।

यिकों ने माने हैं। ६ वीं कारिका की वृत्ति में विना इच्छा के भी वचन की उत्पत्ति सिद्ध की गई है और बौद्धों को व्याप्तिग्राहक तर्कप्रमाण मानने के लिये लाचार किया गया है। ७ वीं कारिका की वृत्ति में धर्मकीर्ति के निग्रहस्थान के लक्षण की आलोचना की है। १२ वीं कारिका की व्याख्या में स्वलक्षण को अनिर्देश्य माननेवाले बौद्धों के मत की विस्तार से आलोचना करके स्वलक्षण को भी कथंचित् अभिलाप्य सिद्ध किया है। सप्तभंगी का विवेचन करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने केवल आदि के चार भंगो का ही उपयोग किया था किन्तु अकलङ्कदेव ने वैदिकदर्शनों के सामान्यवाद को सद्वक्तव्य और बौद्धों के अन्यापोहवाद को असद्वक्तव्य बतलाकर शेष भंगों का भी उपयोग कर दिया है। ३६ वीं कारिका की वृत्ति में अनधिगतार्थग्राही अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण बतलाया है। ५२ वीं कारिका की वृत्ति में बौद्धों के निर्वाण का लक्षण 'सन्तान का समूल नाश' किया है तथा सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञि, वाक्कायकर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति और समाधि ये आठ अंग उसके हेतु बतलाये हैं। ९९ वीं कारिका की व्याख्या में ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्ववाद की आलोचना की है। का० १०१ में प्रमाणों की चर्चा करके सर्वज्ञ के ज्ञान दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति सिद्ध की है।

का० २ की वृत्ति में पूरणकाश्यप का नाम दिया है जो भगवान महावीर के समय में प्रभावशाली प्रतिद्वन्द्वियों में से था। का० ५२ की वृत्ति में 'न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्' यह पद प्रमाणवार्तिक से लिया है। का० ७६ में 'युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे' (   ) उद्धृत किया है। ७८ में पिटकत्रय को उदाहरण रूप में दिया है। ८० में 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' (प्रमाणविनिश्चय) उद्धृत किया है। ८९ में 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायाश्च तादृशः। सहायास्तादृशः सन्ति यादृशी भवितव्यता।' उद्धृत किया है। १०६ की वृत्ति में 'तथाचोक्तम्' करके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

"अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥"

इसके सिवा तत्त्वार्थसूत्र से भी एक दो सूत्र उद्धृत किये है।

लघीयस्त्रय—इस ग्रन्थ का परिचय वगैरह प्रारम्भ में दिया गया है। इसकी शैली तथा अन्तिम पद्यों में आये 'अकलङ्क' शब्द से इसके अकलङ्करचित होने में कोई विवाद शेष नहीं रह जाता। तथा उस पर न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता और तात्पर्यवृत्ति के रचयिता, दोनों उसे अकलङ्करचित बतलाते हैं। तथा आचार्य विद्यानन्द ने इसकी तीसरी कारिका को 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' करके अपनी 'प्रमाणपरीक्षा' में उद्धृत किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ को अकलङ्करचित ही मानना चाहिये।

स्वोपज्ञविवृति—लघीयस्त्रयग्रन्थ की विवृति भी अकलङ्करचित ही कही जाती है। प्रभाचन्द्र ने मूल और विवृति के आधार पर ही अपने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ की रचना की है। इसकी शैली अष्टशती से मिलती है और परिमाण भी करीब करीब उतना ही है। यद्यपि इन सब बातों से ही यह विवृति अकलङ्करचित प्रतीत होती है। किन्तु इसके समर्थन में एक और भी प्रबल प्रमाण मिलता है। सिद्धिविनिश्चय टीका में 'उक्तं लघीयस्त्रये' करके 'प्रमाणफलयोः

क्रमभावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम्' यह वाक्य उद्धृत किया है। जो उसकी छठी कारिका की विवृति का अन्तिम वाक्य है।

न्यायविनिश्चय—न्यायविनिश्चयविवरण के नाम से वादिराजरचित इसकी एक वृहत् टीका कुछ भण्डारों में मिलती है। अभी तक यह ग्रन्थ विशकलितरूप से इस टीका में ही पाया जाता था। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने बड़े परिश्रम से उस पर से इस ग्रन्थ का उद्धार करके उसे क्रमबद्ध किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के संपादन में इसका उपयोग करने के लिये हमने भी टीका पर से इस ग्रन्थ का सङ्कलन करके मुख्तार सा० की प्रति के आधार पर ही उसे क्रमबद्ध और पूर्ण किया था। किन्तु अभी इसके अविकल होने में सन्देह है, कारण यह है कि मुख्तार सा० के संग्रह में कई कारिकाएं ऐसी हैं, जो मूल की प्रतीत नही होती तथा खोजने पर कुछ नवीन किन्तु सन्दिग्ध कारिकाओं का भी पता चलता है।

इसमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्षप्रस्ताव, अनुमानप्रस्ताव और आगमप्रस्ताव। प्रथम प्रस्ताव के अन्त में एक, दूसरे के अन्त में दो और तीसरे के अन्त में तीन पद्य हैं। लघीयस्त्रय की तरह मंगलाचरण के बाद इसमें भी एक पद्य आता है, जिसमें 'न्यायो विनिश्चीयते' के द्वारा ग्रन्थ का नाम और उद्देश्य दोनों बतलाये गये हैं। शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है। वर्तमान संग्रह के अनुसार कारिका और पद्यों की संख्या मिलाकर पहले प्रस्ताव में १६९ दूसरे में २१६ और तीसरे में ९४ है। मङ्गलाचरण और उद्देश्यनिर्देश के पश्चात् प्रत्यक्ष के लक्षण से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। लघीयस्त्रय तथा प्रमाणसंग्रह में दत्त प्रत्यक्ष की परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें दत्त परिभाषा में कई विशेषताएँ हैं। प्रथम तो इसमें लक्षण का क्रम ऐसा रखा गया है कि उसमें प्रत्यक्ष का विषय भी बतला दिया गया है। किन्तु यह विशेषता तो साधारण है। दूसरी और ध्यान देने योग्य विशेषता है लक्षण में 'साकार' और 'अञ्जसा' पदों का बढ़ाया जाना तथा विषय में 'द्रव्य' और 'पर्याय' के साथ साथ 'सामान्य' और 'विशेष' पदों का भी प्रयोग करना। 'साकार' और 'अञ्जसा' पदों की सार्थकता अथवा आवश्यकता का निर्देश तो मूल ग्रन्थ में नहीं किया गया किन्तु अर्थ, द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष का विवेचन विस्तार से किया है। प्रथम प्रस्ताव में ज्ञान को अर्थग्राही सिद्ध करते हुए बौद्धाभिमत विकल्प के लक्षण, तदाकारता, विज्ञानवाद, नैरात्म्यवाद, परमाणुवाद आदि की विस्तार से आलोचना की है और ज्ञान को स्वसंवेदी तथा निराकार सिद्ध किया है। द्रव्य और पर्याय की चर्चा करते हुए गुण और पर्याय में भेदाभेद बतलाकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का निरूपण किया है। सामान्य और विशेष की चर्चा करते हुए यौगों और बौद्धों के दृष्टिकोणों की आलोचना की है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की परिभाषा में दत्त पदों के आधार पर विविध विषयों का विवेचन करने के बाद बौद्ध के इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष का, तथा सांख्य और नैयायिक के प्रत्यक्ष का खण्डन किया है। अन्त में अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के लक्षण के साथ पहला प्रस्ताव समाप्त होजाता है।

दूसरे प्रस्ताव में अनुमान, साध्य, साधन, हेत्वाभास, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, जाति, वाद आदि का सुन्दर विवेचन है। तथा प्रसङ्गवश शब्द की अर्थाभिधेयता, सङ्केतित शब्द की प्रवृत्ति का प्रकार, जीव का स्वरूप, चैतन्य के सम्बन्ध में चार्वाक आदि के मत का खण्डन, वैशेषिक

१ प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् ॥

के 'अगुणवान् गुणः' की आलोचना, नैयायिक के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट और सांख्य के वीत, अवीत और वीतावीत हेतुओं की समालोचना आदि, विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

तीसरे में आगम, मोक्ष और सर्वज्ञ का विवेचन करते हुए बुद्ध के करुणावत्व सर्वज्ञत्व चतुरार्यसत्य आदि का खूब उपहास किया है तथा वेदों के अपौरुषेयत्व और सांख्य के मोक्ष की भी आलोचना की है। अन्त में सप्तभंगी का विवेचन करके ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रमाण की चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। अकलङ्क के उपलब्ध साहित्य में यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। इसमें अपने विषय का खासकर अनुमान-प्रमाण का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसकी परिभाषाओं का उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने विशेष अनुसरण किया है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में इससे अनेक पद्य उद्धृत किये हैं और अपने श्लोकवार्तिक के मूल में इसकी कई कारिकाएँ ज्यों की त्यों सम्मिलित करली हैं। अकलंकदेव को भी यह ग्रन्थ विशेष प्रिय जान पड़ता है क्यों कि अष्टशती में इसकी दो एक कारिकाएँ गद्य रूप में मिलती हैं तथा प्रमाणसंग्रह का कलेवर तो इसकी कारिकाओं से ही पुष्ट किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टशती प्रमाणसंग्रह और संभवतः सिद्धिविनिश्चय से भी पहिले इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। सिद्धसेन के न्यायावतार के बाद न्यायविषय का यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है, और इसी के आधार पर उत्तरकालीन जैनन्याय-विषयक साहित्य का सर्जन हुआ है।

यद्यपि सन्धियों में इसे स्याद्वादविद्यापतिरचित बतलाया है किन्तु टीकाकार वादिराज इसे अकलङ्करचित लिखते हैं। तथा अन्तिम पद्यों में अकलंक पद आता है। शैली वगैरह भी अकलंकदेव के अन्य ग्रन्थों से मिलती हुई है। तथा 'तदुक्तमकलंकदेवैः' करके स्वामी विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में इसकी एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः इसके अकलंक-रचित होने में किसी प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं है।

न्यायविनिश्चयवृत्ति—अकलंकदेव ने प्रायः अपने सभी प्रकरणों पर छोटी सी वृत्ति भी लिखी है। न्यायविनिश्चय की वृत्ति अभी तक उपलब्ध तो नहीं हो सकी है, किन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय की तरह अकलंकदेव ने उस पर भी वृत्ति लिखी थी। तथा जब लघीयस्त्रय जैसे लघुप्रकरणों पर वृत्ति लिखी जा सकती है तब न्यायविनिश्चय सरीखे महत्त्वपूर्ण वृहत् ग्रन्थ को यों ही नहीं छोड़ा जा सकता।

न्यायविनिश्चय की वादिराजरचित एक स्थूलकाय टीका का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं। उस टीका में प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने प्रत्यक्ष के तीन भेद बतलाये हैं। उस पर शंकासमाधान करते हुए लिखा है—"कथं पुनः कारिकायामनुक्तं त्रैविध्यमवगम्यते? 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात्। ननु प्रत्यक्षलक्षणस्यापि तत्रैव प्रतिपादनात् इहावचनप्रसङ्ग इति चेत्, इहापि वृत्तिकारेण त्रैविध्यमुक्तमेव।"

शंका—कारिका में तो प्रत्यक्ष के तीन भेद नहीं बतलाये, तब आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं?

उत्तर—शास्त्रान्तर में (प्रमाणसंग्रह में) 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' ऐसा लिखकर प्रत्यक्ष के तीन भेद किये हैं।

शंका—प्रत्यक्ष का लक्षण भी शास्त्रान्तर में बतला ही आये हैं। तब यहाँ बतलाने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—यहाँ भी (न्यायविनिश्चय में) वृत्तिकार ने तीन भेद किये हैं।

इस शंकासमाधान से प्रमाणित होता है कि न्यायविनिश्चय पर भी एक वृत्ति लिखी गई थी।

टीकाकार ने किसी किसी स्थल पर कुछ वार्तिकों को संग्रहश्लोक और कुछ को अन्तरश्लोक लिखा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"निराकारेतरस्य' इत्यादयोऽन्तरश्लोका वृत्तिमध्यवर्तित्वात्। 'विमुख' इत्यादिवार्त्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिनः खल्वमी श्लोकाः। वृत्तिचूर्णितां १ तु विस्तारभयान्नास्माभिर्व्याख्यानमुपदर्श्यते। संग्रहश्लोकास्तु वृत्तिप्रदर्शितस्य वार्त्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।" (पृ० १२०)

अर्थात् 'निराकारेतरस्य' इत्यादि श्लोक 'विमुख' इत्यादि वार्तिक के व्याख्यानस्वरूप वृत्ति के अन्तर्गत हैं अतः वे अन्तरश्लोक हैं। विस्तार के भय से वृत्ति के चूर्णिभाग (संम्भवतःगद्य भाग) का व्याख्यान हमने नहीं किया है। जिन श्लोकों में वृत्ति में बतलाये गये वार्तिक के अर्थ को संगृहीत कर दिया जाता है, उन्हें संग्रहश्लोक कहते हैं। अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक में यही भेद है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि टीकाकार के सामने वृत्तिग्रन्थ मौजूद था और उसमें गद्य और पद्य दोनों थे। विस्तार के भय से उन्होंने गद्यभाग को तो छोड़ दिया किन्तु पद्यभाग को अपने व्याख्यान में सम्मिलित कर लिया। अनन्तवीर्य के एक उद्धरण से भी न्यायविनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व का पता लगता है। उन्होंने 'तदुक्तं न्यायविनिश्चये' करके एक वाक्य उद्धृत कियां है। 'तदुक्तं न्यायविनिश्चयवृत्तौ' न लिखकर 'तदुक्तं न्यायविनिश्चये' लिखने से शायद पाठक यह कल्पना करें कि वह वाक्य वृत्ति का न होकर मूलग्रन्थ का ही अंश है। किन्तु अनन्तवीर्य के लघीयस्त्रयविषयक एक उद्धरण से, जिसका उल्लेख लघीयस्त्रय के परिचय में हम कर आये हैं, इस प्रकार की कल्पना को जन्म देने के लिये स्थान नहीं रह जाता। अनन्तवीर्य ने 'तदुक्तं लघीयस्त्रये' करके भी एक वाक्य उद्धृत किया है और वह वाक्य लघीयस्त्रय की विवृति में मौजूद है। वास्तव में अनन्तवीर्य की दृष्टि में मूल और वृत्ति ये दो पृथक् पृथक् वस्तुएं न थीं। वे दोनों को ही मूल और एक ग्रन्थ मानते थे। इसी से उन्होंने अपनी टीका में सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान करके भी ग्रन्थ का नाम केवल 'सिद्धिविनिश्चय टीका' ही रखा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए प्रभाचन्द्र भी अपने न्यायकुमुदचन्द्र को 'लघीयस्त्रयालंकार' शब्द से ही पुकारते है यद्यपि उसमें लघीयस्त्रय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान है। यथार्थ में अकलङ्कदेव की वृत्तियां इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके निकाल देने पर न केवल अकलङ्क को समझ सकना ही दुष्कर होता है किन्तु उनके द्वारा अर्पित ज्ञानकोश के बहुत से अमूल्य रत्नों से भी वंचित होना पड़ता है। उनकी वृत्तियों में 'मूल' से भी अधिक पदार्थ भरा हुआ है। न्यायविनिश्चय के विवरणकार ने अपनी टीका में वार्तिकों के जो कई कई अर्थ किये हैं वह क्या उनकी अपनी बुद्धि का चमत्कार है ? नहीं, वृत्ति की सहायता पर ही उनका व्याख्यान अवलम्बित है। अतः विनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

---

१ सिद्धिविनि० टी० पृ० १२० पू०।

सिद्धिविनिश्चय—कच्छदेश के 'कोडाय' ग्राम के श्वेताम्बर ज्ञानभण्डार से 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की उपलब्धि हुई थी। वहां से यह ग्रन्थ अहमदावाद लाया गया और गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर में उसकी कापी कराई गई। इस टीका में मूल भाग बहुत ही कम है। मूल के केवल आद्य अक्षरों का ही उल्लेख करके टीका लिखी गई है। इसमें मूल का उल्लेख दो प्रकार से पाया जाता है, एक तो 'अत्राह' करके कारिकारूप से और दूसरे 'कारिका व्याख्यातुमाह' करके कारिका के व्याख्यारूप से। इससे पता चलता है कि यह टीका सिद्धिविनिश्चयमूल और उसकी स्वोपज्ञविवृति को लेकर बनाई गई है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री और प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र में उनका मूल अन्तर्निहित है और प्रयत्न करने पर उनमें से पूरा पूरा पृथक किया जा सकता है किन्तु सिद्धिविनिश्चयटीका में यह बात नहीं है जैसा कि हम लिख आये हैं। कहीं कहीं तो 'कारिकायाः सुगमत्वात् व्याख्यानमकृत्वा' लिखकर कारिका की कारिका ही छोड़ दी गई है। टीकाके प्रारम्भिक श्लोकों में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि ॥

इससे पता चलता है कि मूल ग्रन्थ अकलङ्कदेव का ही बनाया हुआ है। तथा 'तदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये' लिखकर वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में एक वाक्य उद्धृत किया है, उससे भी उक्त बात का समर्थन होता है। अकलङ्क के अन्य प्रकरणों की तरह इसमें भी नमस्कार के बाद एक पद्य आता है जिसमें कण्टकशुद्धिपूर्वक ग्रन्थ का नामनिर्देश किया है। इसका विनिश्चयान्त नाम भी धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का स्मरण कराता है। इसमें १२ प्रस्ताव हैं, प्रत्येक प्रस्ताव में एक एक विषय की सिद्धि की गई है। संक्षिप्त परिचय निम्नप्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि—में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि है। इसमें मुख्यतः धर्मकीर्तिकृत प्रत्यक्ष के लंक्षण का तथा सूचनरूप से सन्निकर्ष का खण्डन करके "इदं स्पष्टं स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्" प्रत्यक्ष का यह लक्षण स्थापित किया है। मुख्यतया बौद्ध का खण्डन होने से तत्सम्मत प्रत्यक्षग्राह्य क्षणिकपरमाणुरूप स्वलक्षण अर्थ का निरास करके स्थिर स्थूलरूप अर्थ की भी सिद्धि की गई है।

२ सविकल्पकसिद्धि—में प्रत्यक्ष के अवग्रहादि चार भेदों में प्रमाणफलभाव बताकर सभी ज्ञानों को सविकल्पक सिद्ध किया है। प्रसंगतः "बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्। ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्।" इस कारिका में धर्मकीर्तिकृत सन्तानान्तरसिद्धि में बताई गई युक्ति को क्षणिकैकान्त में असंभव बताकर अनेकान्तवाद में उसे संभव बताया है।

३ प्रमाणान्तरसिद्धि—में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को पृथक् प्रामाण्य सिद्धकरके चार्वाकादि की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। बौद्ध की सत्त्वहेतु की व्याप्ति का खण्डन करके अर्थक्रियाकारित्व को नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में असंभव बतलाया है और उत्पादादित्रयात्मक अर्थ की विस्तार से सिद्धि की है।

४ जीवसिद्धि—में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाकर, ज्ञानक्षणों के सर्वथा क्षणिकत्व का निरास करते हुए उनमें अन्वितरूप से रहने वाले जीवतत्त्व की विस्तार से

१ इस ग्रन्थ की उपलब्धि का इतिहास जानने के लिये देखो–अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १३६।

सिद्धि की हैं। तथा, 'ज्ञान अचेतन प्रधान का धर्म है, अदृष्ट आत्मा का गुण है,' आदि बातों का निराकरण करके आत्मा की विकारपरिणति को ही कर्मबन्ध का कारण बतलाया है।

५ जल्पसिद्धि—में स्वपक्षसिद्धि-असिद्धिनिबन्धन जयपराजयव्यवस्था का स्थापन करके धर्मकीर्ति द्वारा वादन्याय में स्थापित असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन नाम के निग्रहस्थानों की विविध व्याख्याओं का निर्देश करके खण्डन किया है। नैयायिकसम्मत छल, जाति आदि को अनुपादेय बतलाया है। वाद, जल्प और वितण्डा में वाद और जल्प को एक बतलाकर वितण्डा को कथाभास बतलाया है। प्रसङ्गवश वचन के विवक्षामात्रसूचकत्व और अन्यापोह-मात्राभिधायित्व का निरास करके उसे वास्तविक अर्थ का वाचक सिद्ध किया है।

६ हेतुलक्षणसिद्धि—में धर्मकीर्तिकृत हेतुबिन्दु की प्रथम कारिका—"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः स च त्रिधा। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे॥" का विस्तार से खण्डन करके हेतु का लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति ही सिद्ध किया है। कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओं को पृथक् हेतु बतलाया है। अनुपलब्धि को विधि और प्रतिषेध-दोनों का साधक बतलाया है। अदृश्यानुपलम्भ को भी वस्तुसाधक माना है। धर्मकीर्ति के 'सहोपलम्भनियमात्' हेतु का विविध विकल्पों द्वारा खण्डन किया है।

७ शास्त्रसिद्धि—में बतलाया है कि स्याद्वाददृष्टि से अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादक ही शास्त्र होता है अतः सुगतादिप्रणीत शास्त्र शास्त्र नहीं है। तथा वचन विवक्षामात्र के सूचक न होकर यथार्थ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं अतः सुगतमत में शास्त्र के लक्षण का अभाव बतलाकर देशना का भी अभाव बतलाया है। इसी तरह शरीर आदि से रहित होने के कारण ईश्वर में देशना का अभाव बतलाकर सृष्टिकर्तृत्व की विस्तार से मीमांसा की है। वेदों के अपौरुषेयत्व का भी खण्डन किया है। सराग भी वीतराग की तरह चेष्टा करते हैं अतः यथार्थ उपदेष्टा का निर्णय नहीं हो सकता, इस शंका का निरास किया है।

८ सर्वज्ञसिद्धि—में धर्मकीर्तिसम्मत सर्वज्ञ की केवल धर्मज्ञता का निराकरण करके विविध युक्तियों से पूर्ण सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन किया है। ज्योतिर्ज्ञान तथा सत्यस्वप्न के दृष्टान्त का उपयोग भी सर्वज्ञसिद्धि में किया है। कुमारिल द्वारा सर्वज्ञाभाव में दी गई प्रमेयत्व सत्त्व वक्तृत्वादि युक्तियों का तथा तत्त्वसंग्रह में कुमारिल के नाम से दी गई 'दशहस्तान्तरं व्योम्नि' इत्यादि कारिका में कही गई युक्तियों का भी निरास भले प्रकार किया है। अन्त में सर्वज्ञत्व-प्राप्ति के कारण तप आदि की भी चर्चा की है।

९ शब्दसिद्धि—में शब्द के आकाशगुणत्व, नित्यत्व, अमूर्तत्व आदि धर्मों का खण्डन करके उसे पौद्गलिक सिद्ध किया है। भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद तथा स्फोटवाद का भी खण्डन किया है। स्वलक्षण में सङ्केत की अशक्यता के कारण बौद्धों के द्वारा मानी गई अवाच्यता का खण्डन करके संकेत आदि की सिद्धि की गई है।

१० अर्थनयसिद्धि—में ज्ञाता के अभिप्राय को नय बतलाकर अर्थप्रधान नैगमादि तथा शब्दप्रधान शब्दादि नयों का निर्देश किया है। नैगमादि चार नयों का स्वरूप विस्तार से बतलाकर सांख्यादिकल्पित मतों को नयाभासों में गिनाया है। सुनय और दुर्नय का भी स्वरूप दर्शाया है। व्यवहारनयसम्मत व्यवहार को वास्तविक सिद्ध करके ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवादियों के द्वारा कल्पित व्यवहार का निरास किया है।

११ शब्दनयसिद्धि—में शब्दसिद्धि में व्याकरण की उपयोगिता बतलाकर बौद्ध, नैयायिक और वैयाकरणों के द्वारा अभिमत शब्द के स्वरूप का विचार किया है। शब्दभेद से अर्थभेद मानकर शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयों का तथा तदाभासों का स्वरूप बताया है।

१२ निक्षेपसिद्धि—में निक्षेप के अनन्तभेद होने पर भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से उसके चार प्रकार बताये हैं। नाम के व्यस्त, समस्त, एक, अनेक आदि आठ भेद किये हैं। स्थापना के सद्भाव और असद्भाव तथा द्रव्य के आगम और नोआगम भेद किये हैं।

सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाणमीमांसा और स्याद्वादमञ्जरी में इसकी कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। तत्त्वार्थटीका तथा जिनदास की चूर्णि में इसका नामोल्लेख भी है। चूर्णिकार ने तो इसे जिनशासन का प्रभावक ग्रन्थ माना है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजी के प्रयत्न से पाटन के भण्डार से यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। सिद्धिविनिश्चयटीका में इसका उल्लेख आता है। उसी टीका से यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य ने इस पर भी प्रमाणसंग्रहालङ्कार या प्रमाणसंग्रहभाष्य नाम की टीका रची है। प्रमाणसंग्रह की रचना संभवतः न्यायविनिश्चय के बाद हुई है। क्योंकि इसकी बहुत सी कारिकाएँ न्यायविनिश्चय में मौजूद हैं तथा उनके ऊपर अकलंकदेव ने कुछ वृत्ति या उपक्रमसूचक वाक्य नहीं लिखे हैं। यह गद्यपद्यात्मक है। कहीं कहीं गद्यभाग में पद्य का व्याख्यान भी किया है। किन्तु समस्त गद्य और पद्य का व्याख्यान-व्याख्येयरूप सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसका नाम सार्थक है क्योंकि प्रत्येक एकान्त पक्ष के विरुद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे, उन सबका संग्रह इस ग्रन्थ में किया है। इसी लिए इस ग्रन्थ की भाषा और भाव अति दुरवगाह्य है। अकलंक के उपलब्ध ग्रन्थों में इतना प्रमेयबहुल-प्रमाणों का संग्रह करनेवाला अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की रचना की तरह इसकी रचना भी गद्यपद्यात्मक तथा जटिल है। यह ग्रन्थ अकलंक के अन्य ग्रन्थों का परिशिष्ट कहा जा सकता है अतः संभव है कि ये उनके अन्तिमकाल की रचना हो। इसमें ९ प्रस्ताव हैं।

१ प्रस्ताव—में ८॥ कारिकाएँ हैं। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर उसके इन्द्रिय अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय रूप से तीन भेद किये हैं। इसके 'त्रिधा श्रुतमविप्लवम्' अंश पर जैनतर्कवार्तिककार शान्त्याचार्य ने आक्षेप किया है। इस प्रस्ताव में प्रत्यक्ष और उसके भेदों की चर्चा है।

२ प्रस्ताव—में ९ कारिकाएँ हैं। परोक्ष प्रमाण के भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रामाण्य सिद्ध करके आगम के बल से परोक्ष पदार्थों के साथ भी अविनाभावसम्बन्ध ग्रहण कर सकने का प्रतिपादन किया है।

३ प्रस्ताव—में १० कारिकाएँ हैं। अनुमान प्रमाण तथा उसके अवयव-साध्य साधन आदि का वर्णन है। इसकी २७ वीं कारिका में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की 'चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः' कारिका की समालोचना की गई है।

४ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें हेतु के त्रैरूप्य का खण्डन करके अन्यथानुपपन्नत्वरूप एक लक्षण का स्थापन किया है। हेतु के अनेक भेदों का विस्तार से वर्णन करके धर्मकीर्तिसम्मत हेतु के भेदों की संख्या का विघटन किया है।

५ प्रस्ताव—में विरुद्धादि हेत्वाभासों का विगतवार निरूपण किया है, तथा दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी नामके हेत्वाभास का विरुद्ध में अन्तर्भाव दिखाकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास से अवशिष्ट हेत्वाभासों का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रस्ताव में १२ कारिकाएँ हैं।

६ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें वाद का स्वरूप दर्शाया है। जय पराजय व्यवस्था तथा जाति का कथन करके धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाणवार्तिक में दिये गये दोष दधि उष्ट्र के अभेदत्वापत्ति को जात्युत्तर बतलाया है। तथा अनेकान्त में संभवित विरोधादि आठ दोषों का परिहार करके वस्तु को उत्पादादि रूप सिद्ध किया है।

७ प्रस्ताव—में ९॥ कारिकाएँ हैं। इसमें आगमप्रमाण का वर्णन है। आगम का प्रतिपादक होने के कारण सर्वज्ञ तथा अतीन्द्रियज्ञान की सिद्धि करते हुए उसमें आपादित दोषों का परिहार किया है। अन्त में, आत्मा कर्ममल से किस प्रकार छूटता है और उसे किस प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त होती है, इत्यादि बातों का खुलासा किया है।

८ प्रस्ताव—में १३ कारिकाएँ है। इसमें सप्तभंगी का निरूपण है। तथा नैगमादि सात नयों का भी कथन है। नयों का विशेष स्वरूप जानने के लिये नयचक्र ग्रन्थ देखने का निर्देश किया है।

९ प्रस्ताव—में २ कारिकाएँ हैं। निक्षेप का निर्देश करके प्रकरण का उपसंहार कर दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लगभग ८९ कारिकाएँ और शेष भाग गद्य में है।

इसके छठवें प्रस्ताव में एक बात विशेष मनोरंजक है। बौद्धों ने जैनों के लिये जो अह्रीक पशु, अलौकिक, तामस, प्राकृत आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं, उन्हीं के असंगत सिद्धान्तों के द्वारा उन विशेषणों को बौद्धों के ही लिये उपयुक्त बतलाया है। यथा—

शून्यसंवृतिविज्ञानकथा निष्फलदर्शनम्। सञ्चयापोहसन्तानाःश (स) तैते जाद्य (ड्य) हेतवः॥
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः। यददृश्यमसंज्ञानं त्रिकमज्ञी (ह्री) कलक्षणम्॥
प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम्। क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम्॥
प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत्। शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानित्यलौकिकम्॥
शब्दः स्वयंभूः सर्वकार्याकार्येष्वतीन्द्रिये। न कश्चिचेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम्॥
पदादिसत्त्वे साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमास्थितिः। प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम्॥

बृहत्त्रय—इस ग्रन्थ के अस्तित्व की सूचना जैनहितैषी[1] में प्रकाशित 'श्रीमद्भट्टाकलंक' शीर्षक निबन्ध में दी गई थी और कहा गया था कि कोल्हापुर में श्री पं० कल्लप्पा भरमप्पा निटवे के पास लघीयस्त्रय और बृहत्त्रय दोनों ग्रन्थ मौजूद हैं। इस सूचना के बाद अकलंकदेव के प्रायः सभी परिचयलेखकों ने उसे दोहराया। लघीयस्त्रय का प्रकाशन हुए वर्षों बीत गये किन्तु बृहत्त्रय के किसी को दर्शन भी न हो सके। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने निटवे महोदय से इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा पढ़ी की किन्तु उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला शायद निटवे महोदय उसे अपने साथ स्वर्ग में ले गये हों। हमारे मत से तो 'लघीयस्त्रय' नाम ने ही इस 'बृहत्त्रय' की कल्पना को जन्म दिया है। किसी ने सोचा होगा कि जब एक लघीयस्त्रय है तो कोई बृहत्त्रय भी होना ही चाहिये। एक बार अकलंकदेव के ग्रन्थों के बारे में लिखते हुए पं०

१ भाग ११, अंक ७-८।

जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस वृहत्त्रय की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था। आपने लिखा था—'अकलंकदेव के मौलिक ग्रन्थों में लघीयस्त्रय के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ सबसे अधिक महत्त्व के हैं—सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, और प्रमाणसंग्रह। शायद इन्हीं के संग्रह को वृहत्त्रय कहते हैं।" मुख्तार सा० की संभावना किसी हद तक ठीक हो सकती है, किन्तु लघीयस्त्रय का परिचय देते हुए हम बतला आये हैं कि इसका नाम लघीयस्त्रय अवश्य है किन्तु इसे हम तीन स्वतंत्र प्रकरणों का संग्रह नहीं कह सकते, अतः उसके आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को वृहत्त्रय नाम नहीं दिया जा सकता। हाँ, यह संभव है कि किसी ने लघीयस्त्रय की अन्तरंग परीक्षा किये विना केवल उसके नाम के आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को बड़ा होने के कारण वृहत्त्रय नाम दे दिया हो। किन्तु अभी तक 'वृहत्त्रय' का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया और हमें यह एक कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। अतः अकलंककृत ग्रन्थावली में से इस नाम को निकाल देना चाहिये।

न्यायचूलिका—इसका उल्लेख भी जैनहितैषी के उक्त लेख में ही सर्वप्रथम मिलता है। उसमें लिखा है—"न्यायचूलिका नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है कि वह अकलंकदेव का बनाया हुआ है।" किन्तु न तो लेखक ने ही उसके स्थान का निर्देश किया और न किसी स्थल से हमें ही इस ग्रन्थ के अस्तित्व का निर्देश मिल सका। अतः जब न्यायचूलिका नाम के किसी ग्रन्थ तक का भी पता नहीं है, तब उसको अकलंकरचित ठहराना निराधार है।

स्वरूपसम्बोधन—स्व० डा० विद्याभूषण ने अकलंकरचित ग्रन्थों में इसका निर्देश किया है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित लघीयस्त्रयादिसंग्रह नामक पुस्तक में अकलंक के नाम से यह प्रकाशित भी हो चुका है। उसकी प्रस्तावना में श्रीयुत प्रेमीजी ने इसे अकलंकरचित बतलाया है। सप्तभंगीतरङ्गिणी में इसकी तीसरी कारिका 'तदुक्तमकलंकदेवैः' करके उद्धृत की गई है। तथा अकलंक के अन्य ग्रन्थों के साथ स्वरूपसम्बोधन का अध्ययन करने से उसका कहीं कहीं अकलंक के अन्य प्रकरणों से मेल खाता है। यथा—

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता तत्फलानां स एव तु ॥ स्व० स०
कर्मणामपि कर्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ॥ न्या० वि०

इसके अतिरिक्त इसमें अनेकान्त की शैली का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातों के आधार पर इसे अकलंकरचित कहा जा सकता है किन्तु इसके विरुद्ध अनेक ठोस प्रमाण हैं जिनके आधार पर इसे अकलंक की रचना नहीं कहा जा सकता।

भण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३. पृ० ८८ पर स्वरूपसम्बोधन के कर्ता के सम्बन्ध में प्रो० ए० एन० उपाध्ये का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने लिखा है कि कोल्हापुर के लक्ष्मीसेनमठ में स्वरूपसम्बोधन की एक कनड़ी टीका मौजूद है। उसमें नयसेन के शिष्य महासेन को उसका कर्ता बतलाया है। तथा नियमसार की संस्कृत टीका में पद्मप्रभमलधारी देव ने 'उक्तञ्च पण्णवतिपापंडिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः' और 'तथा चोक्तं श्रीमहासेनपण्डितदेवैः' करके स्वरूपसम्बोधन की १२ वीं और ४ थी कारिका उद्धृत की है। इसी लेख के एक फुटनोट में यह भी लिखा है कि पण्डित

१ अनेकान्त वर्ष १, पृ० १३५. २ हिस्ट्री ऑफ दि मिडीवल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक पृ० २६। ३ पृ० ७९।

जुगलकिशोरजी ने मूडविद्रे के पट्टवरती भण्डार की ग्रन्थसूची देखी थी, उसमें भी स्वरूपसम्बोधन को महासेन की रचना बतलाया है। तथा उसी सूची में महासेन के एक प्रमाणनिर्णय नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। उक्त प्रतियों तथा उद्धरणों के आधार पर यह ग्रन्थ महासेन का सिद्ध होता है। इस तरह हम देखते हैं कि स्वरूपसम्बोधन के रचयिता के बारे में दो परम्पराएँ प्रचलित हैं, एक के अनुसार उसके कर्ता अकलंक हैं और दूसरी के अनुसार नयसेन के शिष्य महासेन। भरतेशवैभव में तत्त्वोपदेशप्रसङ्ग में कुछ जैन ग्रन्थों के नाम दिये हैं। उनमें पद्मनन्दिकृत स्वरूपसम्बोधन का नाम आया है। संभव है कि पद्मनन्दि ने भी स्वरूपसम्बोधन के नाम से कोई ग्रन्थ रचा हो। किन्तु पूर्वोक्त दो परम्पराएं तो एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रचलित हैं और दोनों ही प्राचीन हैं। शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में लिखा है कि शुभचन्द्र ने स्वरूपसम्बोधन पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के अवलोकन से स्वरूपसम्बोधन और उसके कर्ता के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत मालूम हो सकता है। किन्तु पता नहीं, वह प्राप्य भी है या नहीं। अतः वर्तमान परिस्थिति में हम उसके कर्ता का निश्चय कर सकने में असमर्थ हैं, किन्तु उसकी रचना आदि पर से वह हमें अकलंक की कृति नहीं प्रतीति होती।

अकलङ्कस्तोत्र—यह स्तोत्र मुद्रित हो चुका है। इसमें १२ शार्दूलविक्रीडित और ४ स्रग्धरा छन्द हैं। महादेव, शङ्कर, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध आदि नामधारी देवताओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है उसकी आलोचना करते हुए, निष्कलङ्क, ध्वस्तदोष, वीतराग परमात्मा को ही बुद्ध, वर्द्धमान, ब्रह्मा, केशव, शिव आदि नामों से पुकारते हुए उसी का स्तवन और वन्दन किया गया है, इसी से इस स्तोत्र को अकलङ्कस्तोत्र अर्थात् दोषरहित परमात्मा का स्तवन कहा जाता है। इसके ११ वें और १२ वें पद्य का अन्तिम चरण "नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्।" है। इन दोनों पद्यों के प्रारम्भ के तीन चरणों में बतलाया गया है कि संसार पर न तो ब्रह्मा के वेष की छाप है, न शम्भु के, न विष्णु के और न बुद्ध के ही वेष की। और उक्त अन्तिम चरण में कहा गया है कि हे वादियों देखो, यह संसार जैनेन्द्रमुद्रा अर्थात् नग्नता की छाप से चिह्नित है (प्रत्येक प्राणी नग्न ही पैदा होता है)।

इन श्लोकों के बाद मल्लिषेणप्रशस्ति का 'नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा' आदि श्लोक आता है। इस श्लोक के बाद पुनः पुराना राग अलापा जाता है और शिव के खट्वांग, मुण्डमाला, भस्म, शूल आदि की चर्चा शुरू हो जाती है। इसके बाद १५ वें और १६ वें पद्यों में अकलङ्क परमात्मा के स्थान में शास्त्रार्थी अकलङ्कदेव की प्रशंसा होने लगती है, और इस स्तोत्र की विचित्र रचना को देखकर तारादेवी के साथ साथ बेचारे पाठक को भी सिर धुनना पड़ता है। स्तोत्र को देखकर थोड़ासा भी समझदार मनुष्य बिना किसी सङ्कोच के कह सकता है कि इसका तेरहवां पन्द्रहवां और सोलहवां पद्य प्रक्षिप्त है, किसी ने इसे अकलङ्करचित प्रसिद्ध करने की धुन में उन्हें पीछे से जोड़ दिया है। जोड़नेवाले ने अपनी दृष्टि में बहुत बुद्धिमानी से काम लिया है क्यों कि ११ वें और १२ वें श्लोकों के, जिसमें वादियों को ललकारा है, बाद ही मल्लिषेण प्रशस्तिवाला १३ वां पद्य आता है। मानों, अकलङ्कदेवने किसी राजसभा में खड़े होकर स्तोत्र की रचना की है। किन्तु उसके बाद का 'खट्वाङ्गं नैव हस्ते' आदि श्लोक उसकी

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ३३४। २ 'नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा' आदि। यह पहले उद्धृत किया जा चुका है।

बुद्धिमानी का रहस्य उद्घाटित कर देता है। तथा अकलङ्कदेव की प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोक[1] उसके अकलङ्करचित होने की मान्यता का समूल उच्छेद कर देते हैं। किसी किसी का विचार[2] है कि—"मल्लिषेणप्रशस्तिवाले पद्य को स्वयं अकलङ्क के द्वारा कहा गया मानने में कोई बाधा नहीं दीखती। शेष अन्तिम दो पद्यों को अकलङ्क के किसी शिष्य ने रचा होगा, और उनका स्तोत्र के अन्त में होना यही सिद्ध करता है कि स्तोत्र अकलङ्क का रचा हुआ है। कम से कम उस समय और उस व्यक्ति के निकट तो यह अवश्य ही उनकी रचना थी, जिस समय जिस व्यक्ति ने उक्त दो प्रशंसात्मक श्लोक स्तोत्र के अन्त में जोड़े थे।" आदि। अकलङ्कस्तोत्र के अन्तिम दो पद्य तो अवश्य ही अकलङ्क के किसी भक्तजन के बनाये हुए हैं। हां, मल्लिषेणप्रशस्ति वाले श्लोक के स्वयं अकलङ्करचित होने में इतिहासज्ञों को विवाद हो सकता है। मल्लिषेणप्रशस्ति में यह श्लोक 'राजन्[3] साहसतुंग' आदि अन्य दो श्लोकों के बाद आता है और इससे ऐसा मालूम होता है कि साहसतुङ्ग राजा की सभा में अकलङ्क ने वे श्लोक कहे थे।

इतिहासप्रेमी पाठकों को स्मरण होगा कि स्वामी समन्तभद्र के बारे में भी इसी तरह के कुछ श्लोक सर्वविश्रुत हैं, जिनमें उनके दिग्विजय तथा किसी राजा की सभा में शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज देने का वर्णन उनके मुख से कराया गया है। मल्लिषेणप्रशस्ति के अकलङ्कसम्बन्धी प्रारम्भिक दो श्लोक भी उन्हीं श्लोकों की छाया में बनाये जान पड़ते हैं। इसी से अकलङ्क के श्लोक का एक चरण "वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्।" समन्तभद्र के श्लोक के एक चरण 'राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी' का बिलकुल प्रतिरूप जान पड़ता है। तथा अकलङ्क का अपने मुख से राजासाहसतुंग की और अपनी प्रशंसा में उस तरह के शब्द निकालना भी संभव प्रतीत नहीं होता। अतः प्रशस्ति में संकलित आरम्भिक दो श्लोक तो बनावटी जान पड़ते हैं किन्तु हिमशीतलवाला श्लोक, जो अकलङ्कस्तोत्र में भी है,[4] अकलङ्करचित हो सकता है क्यों कि उसमें वही कारुण्यभाव झलकता है जो न्यायविनिश्चय के द्वितीय पद्य में अङ्कित है। अतः पूर्वदर्शित विचारों के पूर्वार्ध से सहमत होने में हमें भी कोई बाधा नहीं दीखती किन्तु उस श्लोक के अस्तित्व से स्तोत्र का अकलङ्करचित होना प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि स्तवन में उस श्लोक की स्थिति उतनी भी उपयुक्त नहीं है जितनी

---

१ क्रियाचो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलङ्कः कलौ
काले यो जनतासु धर्मनिहितो देवोऽकलङ्को जिनः।
यस्य स्फारविवेकमुद्रलहरीजालेऽप्रमेयाकुला
निर्मग्ना तनुतेतरां भगवती तारा शिरःकम्पनम् ॥ १५ ॥
सा तारा खलु देवता भगवतीमन्यापि मन्यामहे
षण्मासावधिजाड्यसांख्यभगवद्भट्टाकलङ्कप्रभोः।
वाक्कल्लोलपरम्पराभिरमते नूनं मनोमज्जन–
व्यापारं सहते स्म विस्मितमतिः सन्ताडितेतस्ततः ॥ १६ ॥

२ देखो, जै० सि० भास्कर, भाग ३, पृ० १५५।

३ प्रशस्ति के तीनों श्लोक 'शास्त्रार्थी अकलङ्क' नामक स्तम्भ में उद्धृत किये जा चुके हैं।

४ यह श्लोक 'ग्रन्थकार अकलंक' शीर्षक में उद्धृत है।

कटे वस्त्र में पेबन्द (थेगरा) की होती है, वह तो यहां जबरन ठूसा गया जान पड़ता है, और इस कार्य को करने का सन्देह उन्हीं महात्मा पर किया जा सकता है जिन्होंने स्वरचित या पररचित प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोक जोड़े हैं।

अकलङ्कदेव को शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करना विशेष प्रिय था, अकलङ्क के प्रकरणों के उद्देश्यनिर्देशक और उपसंहारात्मक पद्यों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है। प्रकृत स्तोत्र भी उक्त दो छन्दों में ही रचा गया है। किन्तु उसका विषय अकलङ्क के व्यक्तित्व के बिल्कुल प्रतिकूल है, उसमें उनकी दार्शनिकता की छाया रंचमात्र भी नहीं है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के स्तोत्रों में गहन तत्त्वचर्चा का निरूपण देखने में आता है, तब अकलङ्क जैसे वाग्मी की लेखनी से इस प्रकार की तात्त्विकचर्चा से शून्य और असम्बद्ध स्तवन की आशा कैसे की जा सकती है? हम ऊपर लिख आये हैं कि अकलङ्कदेव अपने सभी प्रकरणों के अन्त में किसी न किसी रूप में अपना नाम देते हैं, किन्तु अकलङ्कस्तवन में किसी स्थल पर भी अकलङ्क नाम का निर्देश नहीं है। अतः अकलङ्कस्तवन को प्रसिद्ध अकलङ्करचित तो नहीं माना जा सकता। संभव है अकलङ्क नाम के किसी दूसरे विद्वान ने उसे रचा हो और हिमशीतलवाले श्लोक की उपस्थितिने उसे प्रसिद्ध अकलङ्कदेव रचित होने की जनश्रुति देदी हो।

अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपनी ग्रन्थपरीक्षा के तीसरे भाग में इस प्रतिष्ठापाठ की समीक्षा करके प्रमाणित किया है कि यह प्रतिष्ठापाठ प्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेव की कृति नहीं है किन्तु उनके समाननामा किसी दूसरे पंडित की कृति है। क्यों कि इसमें आदिपुराण, ज्ञानार्णव, एकसंधिसंहिता, सागारधर्मामृत, आदि ग्रन्थों से बहुत से पद्य लिये गये हैं। उन्होंने इसका रचनाकाल वि० सं० १५०१ और १६६५ के मध्य में प्रमाणित किया है।

अकलंकप्रायश्चित्त—यह ग्रन्थ इसी ग्रन्थमाला के १८वें ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें २९ श्लोक और अन्त में एक पद्य है। मंगलाचरण में 'जिनचन्द्र' के विशेषणरूप अकलङ्क पद आया है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इसमें विभिन्न प्रकार के दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। प्रायश्चित्त में अभिषेक का विधान बहुतायत से किया गया है। इससे यह ग्रन्थ भट्टारकयुग की रचना जान पड़ता है। मद्रास से प्रकाशित सूचीपत्र के अनुसार अकलंक नाम के विद्वानों की जो तालिका दी है उसमें भट्टारक अकलंक का उल्लेख है, जिन्हें श्रावकप्रायश्चित्त का रचयिता लिखा है। यह प्रायश्चित्त ग्रन्थ वि० सं० १२५६ में रचा गया था। संभवतः यह श्रावकप्रायश्चित्त ही अकलंकप्रायश्चित्त है और भट्टारक अकलंक उसके रचयिता हैं। यदि हमारा अनुमान सत्य है तो इसे विक्रम की १३ वीं शताब्दी की रचना मानना होगा।

प्रमाणरत्नदीप और जैनवर्णाश्रम नामक कन्नड़ ग्रन्थ भी अकलंक की कृतियाँ कही जाती हैं। ये दोनों ग्रन्थ भी अकलंक नाम के किसी अन्य ग्रन्थकार की रचना प्रतीत होते हैं। कन्नड़ ग्रन्थ तो संभवतः शब्दानुशासन के रचयिता अकलंक (१६ वीं शताब्दी) का होगा। मद्रास के 'सूचीपत्रों के सूचीपत्र' में 'वादसिन्धु' नामक ग्रन्थ को भी अकलंक की कृति लिखा है

तथा लिखा है कि सीतम्बूर तिन्दीवनम् के मठ में 'अकलंकवाद' नामक एक ग्रन्थ है, किन्तु इन ग्रन्थों को देखे विना इनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

इस विस्तृत चर्चा के आधार पर, वर्तमान में, केवल तत्वार्थराजवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय (सविवृति), न्यायविनिश्चय (सविवृति), सिद्धिविनिश्चय (सविवृति) और प्रमाणसंग्रह, ये ६ ग्रन्थ ही अकलंकदेवरचित प्रमाणित होते हैं। संभव है कुछ अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे हों और वे यदि मूषकों के आक्रमण से वचे हों तो किसी भण्डाररूपी कारागार में अपने जीवन की शेष घड़ियाँ गिनते हों, किन्तु अकलंकदेव के विरुद की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उक्त ग्रन्थरत्न ही पर्याप्त हैं। उनके अनुशीलन से प्रत्येक विद्वान् इस निर्णय पर पहुंचता है कि उनका रचयिता एक प्रौढ़ विद्वान् और उच्चकोटि का ग्रन्थकार था।

अकलंक का व्यक्तित्व

(उनके साहित्य के आधार पर)

किसी ने कहा है और ठीक कहा है कि साहित्य कवि के मनोभावों का न केवल मूर्तिमान् प्रतिविम्ब है किन्तु उसकी सजीव आत्मा है। कवि जो कुछ विचारता है और जो कुछ करता है उसकी प्रतिध्वनि उसके साहित्य में सर्वदा गूँजती रहती है। अतः कवि के व्यक्तित्व का प्रामाणिक परिचय उसके साहित्य से मिलता है।

यद्यपि अकलंकदेव का साहित्य तर्कवहुल और विचारप्रधान है, उसका वहुभाग इतर दर्शनों की समीक्षा से ओतप्रोत है, तथापि किसी किसी स्थल पर कुछ ऐसी वातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर हम उनके व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

अकलंक के प्रकरणों के अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अल्पभाषी और सतत विचारक थे, और ज्यों ज्यों वे वयस्क होते गये उनके ये गुण भी अधिक अधिक विकसित होते गये। उन्होंने जो कुछ लिखा वहुत थोड़े शव्दों में लिखा और खूब मनन कर लेने के वाद लिखा। इसी से उनकी रचना गहन और चिन्तनीय है, खोजने पर भी उसमें एक भी शव्द व्यर्थ नहीं मिल सकता। किन्तु वे शुष्क दार्शनिक नहीं थे, वल्कि वड़े विनोदी और परिहासकुशल व्यक्ति थे। उनके गहन साहित्यकानन में विचरण करते करते जव पाठक कुछ क्लान्ति सी अनुभव करने लगता है, तव दार्शनिक परिहास की पुट उसकी क्लान्ति को दूर करके पुनः उसके मस्तिष्क को तरोताजा वना देती है।

जिस समय अकलङ्कदेव ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया था वह समय वौद्धयुग का मध्याह्नकाल था। भारत के दार्शनिक धार्मिक राजनैतिक और साहित्यिक आकाश में, सर्वत्र उसकी प्रखरकिरणों का साम्राज्य था, उसके प्रताप से इतर दार्शनिक त्रस्त थे। इसी से अकलंक के साहित्य में वुद्ध और उसके मन्तव्यों की आलोचना वहुतायत से पाई जाती है और उनके परिहास का लक्ष्य भी वही है। मध्यकालीन खण्डनमण्डनात्मक साहित्य के देखने से पता चलता है कि उस समय इतर दर्शनों की आलोचना करते करते आलोचक मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे, और अपने विपक्षी को पशु तक कह डालने में संकोच न करते थे, किन्तु सदाशय अकलंक के व्यङ्ग-विनोद में हमें उस कटुता के दर्शन नहीं होते। कहीं कहीं वे 'देवानांप्रिय' जैसे शव्दों का प्रयोग श्लेषरूप में करते हैं और कहीं कहीं वौद्ध दार्शनिकों के द्वारा जैनों के

लिये प्रयुक्त शब्दों को ही उनके लिये प्रयुक्त कर देते हैं, किन्तु अधिकतर वे अपने विपक्षी की किसी दार्शनिक भूल को पकड़कर ही उसका उपहास करते हैं। उनके उपहास के कुछ उदाहरण देखिये—अद्वैतवाद में साध्य और साधन के द्वैत के लिये भी स्थान नहीं है, किन्तु उसके विना अद्वैतवाद का स्थापन नहीं किया जा सकता, अतः अद्वैतवादी योगाचारसम्प्रदाय का समर्थक धर्मकीर्ति उसे परिकल्पित कहता है। इस पर उपहास करते हुए अकलंक लिखते हैं—

"साध्यसाधनसंकल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः।
परमार्थावताराय कृतश्चित्परिकल्पितः॥
अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः।
केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकृपालुना॥" न्या० वि०

"साध्य और साधन का समर्थन तात्त्विक नहीं है, परिकल्पित है। श्रोताओं के हृदय में परमार्थ अद्वैत का अवतार कराने के लिये उसकी कल्पना की गई है, क्योंकि उसके बिना परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार अपने बुद्धिकौशल का प्रदर्शन करनेवाला धर्मकीर्ति अवश्य ही किसी निर्दयी के द्वारा ठगा गया है, हा, कष्ट !!!"

और सुनिये—

धर्मकीर्ति ने अनेकान्तवादियों का उपहास करते हुए लिखा है–एक को अनेक और अनेक को एक कहना बड़ी ही विचित्र बात है। अकलंक उसका प्रत्युपहास करते हुए लिखते हैं—

"चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः।
चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः॥" न्या० वि०

"निस्सन्देह, एक को अनेक और अनेक को एक कहना एक विचित्र सिद्धान्त है किन्तु दृश्यमान इस विचित्र जगत को शून्य कहना उससे भी बढ़कर विचित्र सिद्धान्त है।" कितना सात्त्विक और युक्तिपूर्ण परिहास है।

निरंशसंवेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि हमारा अद्वैत तत्त्व न तो किसी से उत्पन्न होता है और न कुछ करता ही है। इस पर अकलंक कहते हैं—

"न जातो न भवत्येव न च किञ्चित् करोति सत्।
तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते॥" न्या० वि०

"यदि आपका संवेदनाद्वैत न तो कभी उत्पन्न हुआ, न होता है और न कुछ कार्य ही करता है फिर भी वह है अवश्य। तो बुद्ध के मस्तक पर एक ऐसा तीक्ष्ण सींग भी क्यों नहीं मान लेते, जो न तो उत्पन्न होता है और न है।"

संभवतः बौद्ध दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अपने विपक्षियों के लिये जड़, अह्रीक, पशु आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जैनों के लिये 'अह्रीक' शब्द का प्रयोग तो एक रूढ़ शब्द बन गया है, क्योंकि उनके दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते हैं। अकलंकदेव ने इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या कुछ दार्शनिक मन्तव्यों के आधार पर इस रीति से की है, कि वे शब्द प्रकारान्तर से उनके प्रबल विपक्षी बौद्ध पर ही लागू हो जाते हैं। जैसे, शून्याद्वैत, संवेदनाद्वैत आदि की कथा, परमाणुसञ्चयवाद, अपोहवाद, सन्तानवाद

आदि सात बातें जड़ता के कारण हैं अर्थात् जो उन्हें मानता है वही जड़ है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा का साधन न करना आदि तीन बातों को 'अह्रीक' का लक्षण बतलाया है इस नूतन प्रकार से विपक्षी के अपशब्दों का परिहार और आपादन सज्जनोचित रीति से होजाता है और उससे हम उसके अविष्कर्ता के सौम्य स्वभाव और चातुर्य का विश्लेषण सरलता से कर सकते हैं।

अकलङ्कदेव बौद्धों के प्रबल विपक्षी थे और अवसर मिलते ही उन पर वार करने से नहीं चूकते थे। किन्तु किसी व्यक्तिगतद्वेष के कारण उनका यह भाव न था, बल्कि सिद्धान्तभेद के कारण था, और सिद्धान्तभेद में भी कदाग्रह कारण न था, किन्तु कारण था उनका परीक्षाप्रधानत्व। आप्तमीमांसा नामक स्तवन की प्रथमकारिका पर अष्टशती भाष्य का निर्माण करते हुए जब वे कहते हैं–"आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः।" अर्थात् "परमेष्ठी में पाई जाने वाली देवताओं का आगमन, आकाश में गमन आदि बातों को आज्ञाप्रधान भक्तजन परमात्मत्व का चिह्न मान सकते हैं किन्तु हमारे जैसे परीक्षाप्रधान व्यक्ति नहीं मान सकते क्योंकि ये बातें तो मायाविजनों में भी देखी जाती हैं।" तब उनकी तेजस्विता साकाररूप धारण करके आखों के सामने नर्तन करने लगती है, और पाठक बरबस कह उठता है–कितने गजब का व्यक्तित्व है इन पंक्तियों के लेखक का। सचमुच यह एक ही पंक्ति अपने रचयिता के व्यक्तित्व का चित्रण करने के लिये पर्याप्त है, इससे आत्मविश्वास, अप्रभावित प्रज्ञाशालीनता आदि कितने ही सद्‌गुणों का बोध होता है। अतः अकलंकदेव का सिद्धान्तमूलक मतभेद केवल जन्मागत नहीं था किन्तु उसमें उनका परीक्षाप्रधानत्व भी कारण था। वे बौद्ध सिद्धान्तों को न्यायसम्मत न होने के साथ ही साथ जनता के लिये कल्याणकारी भी नहीं समझते थे और इसी से उनका प्रसार देखकर दुःखी होते थे। तभी तो न्यायविनिश्चय का प्रारम्भ करते हुए उनका कारुण्यभाव जागृत हो उठता है और वे मलिनीकृत न्याय का शोधन करने के लिये उद्यत होते हैं। परीक्षाप्रधान होते हुए भी अकलङ्कदेव में श्रद्धा का अभाव न था, किन्तु इतना अवश्य है कि उनकी श्रद्धा परीक्षामूलक थी। अनेकान्ती होने के कारण वे न केवल हेतुवाद के ही अनुयायी थे और न केवल आज्ञावाद के ही, प्रत्युत दोनों का समन्वय ही उनके जीवन का मंत्र था। इसी से वे दोनों को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं–"सिद्धे पुनराप्तवचने यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोऽपि प्रमाणम्"। अर्थात् आज्ञा के सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो जाना आवश्यक है कि वह आज्ञा किसी आप्तपुरुष के द्वारा दी गई है। यह प्रमाणित हो जाने पर जैसे हेतुवाद प्रमाण है वैसे ही आज्ञावाद भी प्रमाण है।

इस प्रकार अकलङ्क के साहित्य के आधार पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की झलक का थोड़ा सा आभास मिलता है और उससे हम उनके जीवन की रूपरेखा का अनुमान करने में समर्थ होते हैं।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकलङ्क

अकलङ्क जैनन्याय के प्रस्थापक थे। उनके पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों ने उनके न्याय का 'आकलङ्कन्याय' शब्द से उल्लेख किया है और उनके द्वारा निर्धारित की गई रूपरेखा को दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने समान रूप से अपनाया है। अकलङ्क के द्वारा स्थापित की गई रूपरेखा कितनी सुव्यवस्थित और प्रामाणिक थी? इस बात का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनके उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकार ने उसमें परिवर्तन या संवर्द्धन

करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और प्रायः सभी ने उनके मन्तव्यों को लेकर न्यायशास्त्र के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थों की रचना की। यथार्थ में सातवीं शताब्दी के बाद में होने वाले जैन नैयायिकों को उत्पन्न करने का श्रेय अकलङ्कदेव को ही प्राप्त है। उन्हीं के सत्प्रयत्न से जैनवाङ्मय के भण्डार में आज न्यायशास्त्रविषयक अमूल्य ग्रन्थरत्नों के दर्शन होते हैं और उनसे न केवल जैनदर्शन का किन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र का मस्तक गौरव से उन्नत हो जाता है।

अकलङ्क ने जैनन्याय में किन किन सिद्धान्तों की प्रस्थापना की, यह जानने के लिये अकलङ्क के पूर्ववर्ती जैनन्याय की रूपरेखा का जानलेना आवश्यक है। अतः प्रथम उसी पर प्रकाश डाला जाता है।

अकलङ्क के पहले जैनन्याय की रूपरेखा

न्यायशास्त्र के इतिहास का परिशीलन करने से पता चलता है कि ईस्वी सन् से पहले न तो न्यायशब्द उस अर्थ में ही प्रचलित था जिसमें आज है, और न उस पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की ही पद्धति थी। तत्त्वचर्चा और वाद-विवाद में युक्तियों का उपयोग अवश्य किया जाता था किन्तु युक्तियों पर शास्त्र रचने की आवश्यकता का अनुभव संभवतः किसी ने भी न किया था। इसी से भगवान महावीर के उपदेश के सारभूत द्वादशाङ्ग श्रुत में अनेकान्तदृष्टि का अनुसरण होते हुए भी, उनमें से एक भी श्रुत स्वतंत्ररीति से प्रमाण, नय, स्याद्वाद और सप्तभंगी की चर्चा से सम्बन्ध नहीं रखता था।

प्रथम शताब्दी के विद्वान् आचार्य श्री कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में यद्यपि तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया गया तथापि उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षण और सात भंगों के परिगणन के सिवाय, उक्तदिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं की गई। किन्तु उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में 'मतिः स्मृतिःसंज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।' सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का सङ्केत किया और नयों की भी परिगणना की।

उसके बाद जैन वाङ्मय के नीलाम्बर में कालक्रम से दो जाज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी प्रभा से जैनवाङ्मय को आलोकित किया। ये दो नक्षत्र थे स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर। स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे, बाद के कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण से उनका उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्तवाद की स्थापना की, तथा उपेयतत्त्व के साथ ही साथ उपायतत्त्व—आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करके अनेकान्त के क्षेत्र को व्यापक बनाया। आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करने से ऐसा प्रतीत होता है कि समन्तभद्र के समय में हेतुवाद आगमवाद से पृथक् होगया था और उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करली थी। इसी से उन्हें आप्त की आगमसम्मत विशेषताओं में व्यभिचार की गन्ध आई और हेतुवाद के आधार पर आप्त की मीमांसा करना उचित प्रतीत हुआ। स्वामी समन्तभद्र का सम्पूर्ण विवेचन हेतुपरक होने पर भी उन्होंने हेतुशास्त्र-युक्तिशास्त्र या न्यायशास्त्र के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, उनकी लेखनी का केन्द्रबिन्दु था केवल अनेकान्तवाद, उसी के स्थापन और विवेचन में उन्होंने अपनी लेखनी को चमत्कृत कर दिया, इसी से उनके ग्रन्थों

में अनेकान्तवाद के फलितवाद नयवाद और सप्तभंगीवाद का भी निरूपण मिलता है। फिर भी उनकी शैली हेतुवाद के कुछ मन्तव्यों पर प्रकाश डालती है और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने उसके आधार पर कई एक रहस्यों का उद्घाटन करके उन्हें जैनन्याय में स्थान दिया है।

समन्तभद्र ने जैनन्याय को जो कुछ दिया, संक्षेप में उसकी विगत निम्न प्रकार है—

१ जैनवाङ्मय के जीवन अनेकान्तवाद और सप्तभंगीवाद की रूपरेखा स्थिर करके दर्शनशास्त्र की प्रत्येकदिशा में उसका व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली को प्रचलित किया।

२ प्रमाण का दार्शनिक लक्षण और फल बतलाया।

३ स्याद्वाद की परिभाषा स्थिर की।

४ श्रुतप्रमाण को स्याद्वाद और उसके विशकलित अंशों को नय बतलाया।

५ सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की।

२ अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने स्याद्वाद, सप्तभंगीवाद, प्रमाण और नय का स्पष्ट विवेचन करके जैनन्याय की नींव रक्खी। जैनसाहित्य में न्यायशब्द का सब से पहले प्रयोग भी इन्हीं के ग्रन्थों में देखा जाता है।

स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् जैन साहित्य के क्षितिज पर दूसरे नक्षत्र का उदय हुआ। यह नक्षत्र थे सिद्धसेन दिवाकर, जो न्याय के लिये तो सचमुच दिवाकर ही थे। इन्होंने सन्मतितर्क नामक प्रकरण में नयों का बहुत विशद और मौलिक विवेचन किया और कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बतलाकर विभिन्ननयों में विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया। इनके समय में बौद्ध दार्शनिकों में न्यायशास्त्र के विविध अंगों पर प्रकरण रचने की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः न्यायशास्त्र विषयक उनके प्रकरणों को देखकर ही दिवाकरजी का ध्यान जैनसाहित्य की इस कमी की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने न्यायावतार नामक प्रकरण को रचकर जैनसाहित्य में सर्वप्रथम न्याय का अवतार करने का श्रेय प्राप्त किया। इस छोटे से प्रकरण में दिवाकरजी ने प्रमाण की चर्चा की है। उन्होंने समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण में 'बाधविवर्जित' पद को स्थान दिया और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोनों की परिभाषा बतलाई। यद्यपि स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञसिद्धि में अनुमान का उपयोग किया था किन्तु अनुमान प्रमाण की परिभाषा और उसका स्वार्थ और परार्थ के भेद से विभाजन, जैनवाङ्मय में सबसे पहले न्यायावतार में ही मिलता है। और इसी लिये इसका 'न्यायावतार' नाम सार्थक है, क्योंकि न्यायशब्द का पारिभाषिक अर्थ परार्थानुमान ही किया गया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण और तदाभासों का संक्षिप्त विवेचन भी इस ग्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार

---

१ देखो, आप्तमीमांसा। २ "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।" स्वयंभूस्तो० श्लो० ६३। ३ "उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ॥ १०२ ॥" आ० मी०। ४ आ०मी० कारि० १०४। ५ आ० मी० कारि० १०६। ६ आ० मी० कारि० १०८। ७ स्वयंभूस्तो० श्लो० १०३। ८ तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तर्हि ? संशयितेऽर्थे ॥ न्या० भा० १-१-१ दिङ्नाग ने परार्थानुमान के पाँच अवयवों को 'न्यायावयव' लिखा है। विद्याभूषण का 'इन्डियनलॉजिक' पृ० ४२।

श्री सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायोपयोगी तत्त्वों का समावेश करके जैनसाहित्य में न्याय पर स्वतंत्र प्रकरण लिखने की पद्धति को जन्म दिया।

अकलङ्कदेव के पहले पात्रकेसरि श्रीदत्त आदि अन्य भी कई जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने त्रिलक्षणकदर्थन, जल्पनिर्णय आदि ग्रन्थों को रचकर जैन्य न्याय के अन्य अंगों का विकास किया था। किन्तु उनका साहित्य उपलब्ध न होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना संभव नहीं है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर ने जैन-न्याय की दिशा में प्रशंसनीय उद्योग किया और उन्हीं के द्वारा किये गये शिलान्यास के आधार पर कुशल शिल्पी अकलंक ने जैनन्याय के भव्य प्रासाद का निर्माण किया।

स्पष्टीकरण के लिये जैनन्याय के दो विभाग किये जा सकते हैं—एक विशेष और दूसरा सामान्य। विशेष विभाग का सम्बन्ध जैनन्याय के उन मन्तव्यों से है जो केवल जैनों की अनेकान्तदृष्टि से ही सम्बन्ध रखते हैं और इसलिये एकान्तवादी दर्शनों में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। और सामान्य विभाग का सम्बन्ध न्यायशास्त्र के उन मन्तव्यों से है जिनके कारण ही न्याय न्याय कहा जाता है। प्रथम विभाग में स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद का समावेश है और दूसरे में प्रमाणवाद, विशेषतया अनुमानप्रमाण और उसके परिकर हेतु हेत्वाभास आदि का। स्वामी समन्तभद्र ने प्रथम विभाग पर लेखनी चलाई और उसका ऐसा साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया कि बाद के लेखकों को उसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इसका यह आशय नहीं है कि समन्तभद्र के बाद के ग्रन्थकारों ने स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा, उन्होंने लिखा और खूब लिखा, किन्तु उनके लेख से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे उक्त विषय में कुछ नूतन वृद्धि कर रहे हैं या उन्होंने किसी ऐसे नूतन सिद्धान्त का समावेश उसमें किया है जो समन्तभद्र के वर्णन में नहीं था। हाँ, ऐसे कुछ तत्त्व अवश्य मिलते हैं, जो समन्तभद्र के लेख में अव्यक्त थे और बाद के लेखकों ने उन्हें व्यक्त किया। जैसे प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी का अस्पष्टसा उल्लेख समन्तभद्र और सिद्धसेन के प्रकरणों में मिलता है, अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिये। सिद्धसेन दिवाकर ने न्याय के पहले विभाग के साथ ही साथ दूसरे विभाग पर भी लेखनी उठाई। और जैसा कि लिखा जा चुका है इस दिशा में उनका यह प्रथम ही प्रयास था। अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र में बहुत उन्नति हो चुकी थी, बौद्धदर्शन के पिता दिङ्नाग के अस्त के बाद धर्मकीर्ति का अभ्युत्थान हो रहा था, बौद्धदर्शन का मध्याह्नकाल था, शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किये जानेवाले परार्थानुमान, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि अस्त्र-शस्त्रों के सञ्चालन में निपुण हुए बिना विजय पाना दुर्लभ था, तथा यदि शास्त्रार्थ के मध्य में उपेयतत्त्व पर वाद-विवाद होते-होते उपायतत्त्व पर भी वाद-विवाद होने लगे तो उस पर भी अपना शास्त्रीय अभिमत प्रकट करना आवश्यक था। ऐसी परिस्थिति में जैन-न्याय के उत्तराधिकारी के रूप में अकलंकदेव को जो निधि मिली, वह उस समय के लिये पर्याप्त नहीं थी। विपक्षीदल ने अपनी विरासत को खूब समृद्ध बना लिया था, तथा कुछ ऐसे उपायों का भी आविष्कार किया गया था जिनसे न्याय की हत्या हो रही थी, अतः न्याय का

---

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥ आप्तमीमांसा

२ नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि। संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥ ३० ॥ न्यायावतार

शोधन और अन्याय का परिमार्जन करने के लिये यह आवश्यक था कि वीर प्रभु के अनेकान्तवाद और अहिंसावाद के आधार पर सदुपायों की स्थापना की जाये और एकान्तवादियों के द्वारा अनेकान्तवाद पर किये गये आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में उनका उपयोग किया जाये।

अकलंकदेव ने इस आवश्यकता और कमी का अनुभव किया और उसे पूर्ण करने में अपनी समस्त शक्ति लगादी। सब से पहले उनका ध्यान जैनदर्शन की प्रमाणपद्धति की ओर आकर्षित हुआ। जैनदर्शन में प्रमाण के मूलभेद दो हैं एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और उनकी सहायता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें प्रारम्भ के दो ज्ञान केवल रूपीपदार्थों को ही जान सकते हैं इसलिये इन्हें विकलप्रत्यक्ष के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु केवलज्ञान त्रिकालवर्ती रूपी अरूपी प्रत्येक वस्तु को जान लेता है अतः इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। परोक्ष के दो भेद हैं मति और श्रुत। ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। जैनधर्म में प्रमाणपद्धति की यही प्रचीन परम्परा है। इस प्राचीन परम्परा में आचार्य उमास्वाति ने थोड़ा सा विकास किया। उन्होंने अपने समय के प्रचलित स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैनदर्शन में तार्किक प्रमाणपद्धति को स्थान दिया। इस कार्य में सूत्रकार ने बहुत दूरदर्शिता से काम लिया, कारण, जैनप्रमाणपरम्परा की प्रक्रिया और उसके नाम इतने विलक्षण थे कि इतर दार्शनिकों से उनका मेल खाना असम्भव था, तथा उसमें न्यायदर्शन के अनुमान उपमान आदि प्रमाणों का संकेत तक भी न था और चर्चा वार्ता में इन्हीं का प्रयोग बहुतायत से होता था। अतः इतर प्रमाणों का समन्वय करने की आवश्यकता संभवतः सूत्रकार के समय में उतनी न रही हो जितनी उनके उत्तराधिकारियों को हुई। उमास्वाति ने तार्किक परम्परा को मतिज्ञान में अन्तर्भूत करके अपने उत्तराधिकारियों को मार्गप्रदर्शन तो कर दिया किन्तु उससे प्रमाणपद्धति की गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकीं। सब से प्रबल समस्या थी इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष कहने की और उसके मतिज्ञान नाम की। जैनों के सिवाय किसी भी दार्शनिक ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष नहीं माना, सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते थे। तथा उसका यह मतिज्ञान नाम भी सब के लिये एक अजीब ही गोरखधन्धा था। यदि एक आधा दार्शनिक भी जैनों की इस परिभाषा और नाम में उनका सहयोगी होता तो भी एक और एक मिलकर दो हो जाते, किन्तु यहाँ तो अपने राम अकेले ही थे। इसलिये जिस किसी भी दार्शनिक के समक्ष ये अजीब बातें उपस्थित होतीं वही उनके उपस्थित कर्ता को नक्कू बनाता।

संभवतः दिवाकरजी के सन्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई थी इसी से न्यायावतार में प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष की कुछ अजीब सी परिभाषा करने के बाद किसी के भेद प्रभेद बतलाये बिना केवल शाब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण का ही निरूपण उन्होंने किया है।

अकलंकदेव ने इस तथा अन्य समस्याओं को बहुत ही सुन्दर रीति से हल करके प्रमाणविषयक गुत्थियों को सर्वदा के लिये सुलझा दिया। उन्होंने अपनी प्रमाणशैली का आधार तो वही स्थिर रक्खा जो उमास्वाति ने अपनाया था। तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर उन्होंने भी प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये। किन्तु प्रत्यक्ष के विकल-

प्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष के स्थान में सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष इस प्रकार दो भेद किये, और इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकाल कर और सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तन से प्राचीन परम्परा को भी कोई क्षति नहीं पहुँची और विपक्षी दार्शनिकों को भी क्षोदक्षेम करने का स्थान नहीं रहा, क्योंकि प्राचीन परम्परा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात् पारमार्थिक नहीं किन्तु लौकिकप्रत्यक्ष नाम दे देने से न तो जैनाचार्यों को ही कोई आपत्ति हो सकती थी क्योंकि परिभाषा और उसके मूल में जो दृष्टि थी वह सुरक्षित रखी गई थी, और न विपक्षी दार्शनिक ही कुछ कह सकते थे क्योंकि नाम में ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम देदेने से वह विवाद जाता रहा। मति को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लेने पर उसके सहयोगी[3] स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध प्रमाण भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत कर लिये गये। किन्तु इन सहयोगी प्रमाणों में मन की प्रधानता होने के कारण सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष[4] के दो भेद किये गये एक इन्द्रियप्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष में मति को स्थान मिला और अनिन्द्रिय में[5] स्मृति आदिक को। परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई अतः उसकी आगमिक परिभाषा के स्थान में अति संक्षिप्त और स्पष्ट परिभाषा निर्द्धारित की—स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

मति स्मृति आदि प्रमाणों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाते हुए अकलंकदेव ने लिखा है[6] कि मति आदि प्रमाण तभी तक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं, जब तक उनमें शब्दयोजना नहीं की जाती। शब्दयोजनासापेक्ष होने पर वे परोक्ष ही कहे जायेंगे और उस अवस्था में वे श्रुतज्ञान के भेद होंगे। इस मन्तव्य से प्रमाणों की दिशा में एक नवीन प्रकाश पड़ता है और उसके उजाले में कई रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं। अतः उनके स्पष्टीकरण के लिये ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करना आवश्यक है।

गौतम[7] ने अनुमान के—स्वार्थ और परार्थ—दो भेद किये थे, किन्तु उद्योतकर से पहले नैयायिक किसी व्यक्ति को ज्ञान कराने के लिये परार्थानुमान की उपयोगिता नहीं मानते थे। दिङ्नाग ने दोनों भेदों का ठीक ठीक अर्थ करके सबसे पहले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के मध्य में भेद की रेखा खड़ी की। दिवाकरजी ने परार्थानुमान को जैन न्याय में स्थान तो दिया किन्तु

---

१ "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम्। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाण इति संग्रहः ॥३॥" लघीयस्त्रय

२ "आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुरांजसा। केवलं लोकबुद्ध्यैव मतेर्लक्षणसंग्रहः ॥" न्या० वि०।

३ "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम् ॥" तत्त्वार्थसूत्र

४ "तत्र सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।" लघी० वि० कारि० ४।

५ "अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिवोधात्मकम् ॥" लघी० विवृ० का० ६१।

६ "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिवोधनम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥" लघीयस्त्रय

७ देखो, प्रो० शिरविट्स्की का 'बुद्धिस्ट लॉजिक'।

उसका समन्वय करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। पूज्यपाद देवनन्दि ने इस ओर ध्यान दिया और प्रमाण के स्वार्थ और परार्थ दो भेद करके श्रुतप्रमाण को उभयरूप बतलाया, अर्थात् ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान को स्वार्थ और वचनात्मक को परार्थ कहा, किन्तु शेष मति आदि प्रमाणों को स्वार्थ ही बतलाया। अकलंकदेव ने आगमिक परम्परा और तार्किक पद्धति को दृष्टि में रखकर उक्त प्रश्न को दो प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया। आगमिक परम्परा में तो उन्होंने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया और श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक-दो भेद करके स्वार्थानुमान वगैरह का अन्तर्भाव अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में और परार्थानुमान वगैरह का अन्तर्भाव अक्षरात्मक श्रुतज्ञान में किया। किन्तु तार्किक क्षेत्र में उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ा, क्योंकि श्रुतज्ञान का रूढ़ अर्थ तार्किक क्षेत्र में मान्य नहीं किया जा सकता था। सांख्य आदि दर्शनों में शब्दप्रमाण या आगमप्रमाण के नाम से एक प्रमाण माना गया था और वह केवल शब्दजन्य ज्ञान से ही सम्बन्ध रखता था, और श्रुतप्रमाण से भी उसी अर्थ का बोध होता था क्योंकि श्रुत का अर्थ 'सुना हुआ' होता है। अतः अकलंकदेव ने शब्दसंसृष्ट ज्ञान को श्रुत और शब्द-असंसृष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष निर्धारित किया जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

लघीयस्त्रय में स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध प्रमाणों का अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में जो अन्तर्भाव किया गया है, उसके मूल में केवल एक ही दृष्टि प्रतीत होती है और वह दृष्टि है सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना। सिद्धिविनिश्चय टीका के अवलोकन से भी यही प्रतीत होता है। अकलंक का मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी विवृति उपलब्ध होती तो इस सम्बन्ध में और भी विशेष प्रकाश डाला जा सकता था। किन्तु अकलंक के प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द को न तो स्मृति[3] आदिक को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष मानना ही अभीष्ट था और न वे परम्परा के विरुद्ध केवल शब्दसंसृष्ट ज्ञान को ही श्रुत मानने के लिये तैयार थे। विद्यानन्द ने अपनी प्रमाणपरीक्षा में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भेद करके भी अवग्रहादि धारणापर्यन्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माना है और शेष स्मृति आदि को परोक्ष ही माना है। तथा श्लोकवार्तिक में लघीयस्त्रय की उक्त कारिका के मन्तव्य की आलोचना भी की है और 'शब्दसंसृष्ट ज्ञान को ही श्रुत कहते हैं' इस परिभाषा की रचना में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद को कारण बतलाया है, क्यों कि भर्तृहरि के मत से कोई ज्ञान शब्दसंसर्ग के बिना नहीं हो सकता था अतः उसका निराकरण करने के लिये कहा गया है कि शब्दसंसर्गरहित ज्ञान मति है और शब्दसंसर्गसहित ज्ञान श्रुत है। अकलंक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि उन्होंने प्रमाणों के स्वार्थ और परार्थ भेद को मानकर भी स्वतंत्र रूप से कहीं अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद नहीं किये, क्योंकि उनके मत से केवल अनुमान प्रमाण ही परार्थ नहीं होता है बल्कि इतर प्रमाण भी परार्थ होते हैं और वे सब श्रुत कहे जाते हैं।

---

१ "श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् ॥" सर्वार्थ० पृ० ८।
२ देखो, राजवार्तिक पृ० ५४। ३ "एवमनन्तरप्रस्तावद्वयेन अशब्दयोजनं स्मरणादिश्रुतं व्याख्यातम्।" सि० वि० टी० पृ० २५३ पू०। ४ पृ० ६८-६९। ५ देखो 'श्रुतं मतिपूर्वम्' सूत्र की व्याख्या।

अकलंक के प्रमाणविषयक उक्त मन्तव्यों का सार, संक्षेप में इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्ष तीन तरह का होता है इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें प्रारम्भ के दो प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और अन्तिम पारमार्थिक।

२ मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान यदि शब्द-असंसृष्ट हो तो सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष के भेद हैं और यदि शब्द-संसृष्ट हों तो परोक्ष श्रुतप्रमाण के भेद जानने चाहिये।

३ दूसरों के द्वारा माने गये अर्थापत्ति, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुत प्रमाण में होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान को केवल शब्दसंसृष्ट कहने पर भी अकलंक को स्मृति आदि का परोक्षत्व और श्रुतज्ञान का अनक्षरत्व अभीष्ट था और उनके ग्रन्थों में इसका स्पष्ट आभास मिलता है। उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एक मत से सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया, किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं माना, और इस प्रकार अकलंक ने सूत्रकार के मत की रक्षा करने के लिये जो प्रयत्न किया था वह तो सफल न हो सका किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाणपद्धति को सब ने एक स्वर से अपनाया।

परोक्षप्रमाण

परोक्ष प्रमाणों में, नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए, अकलंक ने प्रत्यभिज्ञान प्रमाण के एकत्व, सादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक भेदों का उपपादन किया। अविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति बतलाकर उसका साकल्येन ग्रहण करने के लिये तर्कप्रमाण[१] की आवश्यकता सिद्ध की। साध्य[२] और साध्याभास का स्वरूप स्थिर किया। हेतु और हेत्वाभास की व्यवस्था की। बौद्ध दार्शनिक हेतु के केवल तीन ही भेद मानते हैं स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, किन्तु अकलंक ने उनके अतिरिक्त कारण[३], पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर को भी हेतु स्वीकार किया, तथा बौद्धों की तरह अनुपलब्धि हेतु को केवल अभावसाधक न मानकर, उसे उभयसाधक माना।

हेत्वाभास और जाति का जो विवेचन अकलंक के प्रकरणों में मिलता है वह उससे पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं मिलता। किन्तु उसे अकलंक की देन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अकलंक ने उसे अपने पूर्वज पात्रकेसरि के 'त्रिलक्षणकदर्थन' से लिया[६] है। किन्तु यतः वह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है अतः अकलंक के हेत्वाभास और जाति का भी संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा।

हेत्वाभास

नैयायिक[७] हेतु के पाँच रूप मानता है-पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषय और असत्प्रतिपक्ष, अतः उसने पाँच हेत्वाभास माने हैं। बौद्ध हेतु को त्रैरूप्य मानता है अतः

---

१ लघीयस्त्रय का० १९, २१ की विवृति। २ लघीयस्त्रय का० ११। ३ न्या० वि० २-३। ४ न्या० वि० २-१७३। ५ लघी० का० १४। ६ इसके लिये देखो 'पात्रकेसरि और अकलंक' शीर्षक स्तम्भ। ७ नैयायिक के हेत्वाभासों पर दिङ्नाग का प्रभाव जानने के लिये प्रो० चिरविट्स्की का बुद्धिस्ट लॉजिक दर्शनीय है।

उसने तीन ही हेत्वाभास माने हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। किन्तु जैन केवल एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी यथार्थ में एक ही है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकारों से देखा जाता है अतः हेत्वाभास के भी असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेद किये गये हैं। जो हेतु त्रिरूपात्मक होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के अभाव से गमक नहीं हो सकते, उन सबको अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में गर्भित किया जाता है। किन्तु कोई कोई अकिञ्चित्कर को पृथक् हेत्वाभास नहीं मानते।

जाति

मिथ्या उत्तर को जाति कहते हैं, अर्थात् वाद के समय येन केनापि प्रकारेण प्रतिवादी को पराजित करने के लिये जो असत् उत्तर दिये जाते हैं उन्हें जाति कहते हैं। अकलंक ने अपने प्रकरणों में साधर्म्यसमा आदि जातियों का वर्णन नहीं किया और ऐसा करने में वे दो हेतु देते हैं—एक तो असत् उत्तरों का कोई अन्त नहीं है और दूसरा शास्त्रान्तर में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जल्प या वाद

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से पता चलता है कि आचार्य श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे इस विषय को भी अकलंक की देन तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु एक तो वह ग्रन्थ अनुपलब्ध है और दूसरे, अकलंकदेव अपने समय के एक प्रबल वादी थे, तीसरे धर्मकीर्ति के वादन्याय की रचना के बाद उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रतिपादन किया था अतः उसमें बहुत कुछ मौलिकतत्त्व होने की संभावना है।

न्यायदर्शन में कथा के तीन भेद किये हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। न्यायसूत्रकार के मत से वीतराग कथा को वाद और विजिगीषुकथा को जल्प और वितण्डा कहते हैं। किन्तु अकलंकदेव जल्प और वाद में अन्तर न मानकर वाद को भी विजिगीषुकथा में ही सम्मिलित करते हैं। और वास्तव में लोकप्रसिद्धि से भी यही प्रमाणित है, क्योंकि गुरु-शिष्य की वीतरागकथा को कोई वाद नहीं कहता। दो वादियों के बीच में जब किसी बात को लेकर नियमानुसार पक्ष और प्रतिपक्ष की चर्चा छिड़ती है तभी वाद शब्द का प्रयोग किया जाता है। न्यायसूत्रकार ने जल्प वितण्डा को विजिगीषुकथा मानकर, प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिये छल जाति आदि असदुपायों का अवलम्बन करने का भी निर्देश किया है। किन्तु धर्मकीर्ति और अकलंक एक स्वर से इसका विरोध करते हैं। वाद को चतुरङ्ग कहा जाता

---

१ "अन्यथासंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः।
विरुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः ॥" न्या० वि० २-१९६।

२ "अन्यथानुपपन्नत्वरहिताः ये त्रिलक्षणाः।
अकिञ्चित्कारकाः सर्वाः तान् वयं संगिरामहे ॥" न्या० वि० २-२०१।

३ "असदुत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः।
साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥" न्या० वि० २-२०६॥

दिङ्नाग ने भी 'इस प्रकार के असदुत्तर अनन्त होते हैं' लिखकर जातियों का वर्णन करने में विशेष तत्परता नहीं दिखलाई। बुद्धिस्ट लॉजिक (चिरविट्स्की) पृ० ३४२। ४ पृ० २८०, का० ४५।

है क्योंकि उसके चार अङ्ग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। अकलंकदेव[1] ने सभापति के स्थान में राजा को वाद का अङ्ग माना है। इससे यही आशय व्यक्त होता है कि अध्यक्ष के आसन पर शक्तिशाली शास्त्रज्ञ पुरुष स्थित होना चाहिये जो वादी और प्रतिवादी को असद् उपायों का अवलम्बन करने से रोक सके।

जल्प और वाद को एक मान लेने से केवल एक वितण्डा ही शेष रह जाता है। वितण्डा-कथा में वादी और प्रतिवादी अपने अपने अपने पक्ष का समर्थन न करके केवल प्रतिपक्षी का खण्डन करने में ही लगे रहते हैं। अतः अककङ्क ने उसे वादाभास[2] कहा है। क्योंकि वाद में स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-दूषण, दोनों का होना आवश्यक है।

वाद में सबसे मुख्य प्रश्न जय और पराजय की व्यवस्था का है। प्रतिपक्षी को निगृहीत करने के लिये न्यायदर्शन में २२ निग्रहस्थानों की व्यवस्था की गई है। और धर्मकीर्ति ने वादी और प्रतिवादी के लिये एक एक निग्रहस्थान आवश्यक माना है। यदि वादी अपने पक्ष की सिद्धि करते हुए किसी ऐसे अङ्ग का प्रयोग कर जाये जो 'असाधनाङ्ग[3]' माना गया है या साधनाङ्ग को न कहे तो वह निगृहीत हो जाता है। इसी प्रकार वादी के अनुमान में दूषण देते हुए यदि प्रतिवादी किसी दोष का उद्भावन न कर सके या अदोष का उद्भावन करे तो वह निगृहीत कर दिया जाता है। अकलंक ने धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए इस प्रकार के निग्रह को अनुचित बतलाया है। वे कहते हैं[4]—"वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय है। यदि वादी अपने पक्ष का साधन करते हुए कुछ अधिक कह जाता है या प्रतिवादी अपने पक्ष की सिद्धि करके वादी के किसी दोष का उद्भावन नहीं कर सकता तो वे निगृहीत नहीं कहे जा सकते। कहावत प्रसिद्ध है-'स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्'। प्रमाण के बल से प्रतिपक्षी के अभिप्राय को निवृत्त कर देना ही सम्यक् निग्रह है। अतः जो वादी समीचीन युक्तिबल के द्वारा अपने पक्ष को सभ्यों के चित्त में अङ्कित कर देने में पटु है उसी की ही विजय मानना चाहिये, और जो चुप हो जाता है या अंट संट बोलता है वह पराजित समझा जाना चाहिए।"

इस प्रकार स्वाधिगम और पराधिगम के निमित्तभूत प्रमाणों की व्यवस्थापना करके अकलंकदेव ने जैन न्यायशास्त्र को सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध किया। इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग, मीमांसक, वैयाकरण और बौद्ध दर्शन के विविध मन्तव्यों पर सर्वप्रथम लेखनी चलाकर अपने उत्तराधिकारियों का मार्ग प्रशस्त किया।

अकलंक और इतर आचार्य

हम ऊपर बतला आये हैं कि अकलंक के पहले जैनन्याय की क्या रूपरेखा थी और उन्होंने उसमें किन किन सिद्धान्तों को सम्मिलित करके उसे पूर्ण और परिष्कृत बनाया था। तथा यह भी लिख आये हैं कि उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनका अनुसरण किया है। इन बातों पर विशेष प्रकाश डालने के लिये पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जैन तथा जैनेतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा करना दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों के लिये विशेष रुचिकर होगा और उससे वे जान सकेंगे कि साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है

१ सिद्धिविनि० टी० पृ० २५६ उ०। २ न्या० वि० २-२१४।

३ असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन के विविध अर्थों के लिये वादन्याय देखना चाहिये।

४ अष्टशती, अष्टस० पृ० ८१ तथा न्या० वि० २-२०७, ९।

तथा उसकी रचना में उसके समकालीन तथा पूर्वकालीन विचारों का कहाँ तक हाथ रहता है ? अतः जैन तथा जैनेतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा क्रमशः की जाती है।

अकलंक और जैनाचार्य

कुन्दकुन्द और अकलंक—कुन्दकुन्द सैद्धान्तिक थे और उनके समय में तर्कशैली का विकास भी न हो सका था। किन्तु अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में उन्होंने द्रव्यानुयोग का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है और उसमें उनकी तार्किक प्रतिभा झलकती है। अकलंकदेव ने अपने राजवार्तिक और अष्टशती में द्रव्य, गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की जो चर्चा की है वह कुन्दकुन्द का ही अनुसरण करते हुए की है। कुन्दकुन्द लिखते हैं—"द्रव्य ही सत्ता है, सत् और द्रव्य दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं।" इसी बात को प्रकारान्तर से दोहराते हुए अकलंक भी कहते हैं—"द्रव्य क्षेत्र काल और भाव सत्ता के ही विशेष हैं, सत्ता ही द्रव्य है, सत्ता ही क्षेत्र है, सत्ता ही काल है और सत्ता ही भाव है।" कुन्दकुन्द लिखते हैं—"उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्यस्वरूप हैं अतः द्रव्य ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।" इस सीधीसी बात को तार्किकदृष्टि से पल्लवित करते हुए अकलंक लिखते हैं—"उत्पित्सु ही नष्ट होता है, नश्वर ही स्थिर रहता है और स्थिर ही उत्पन्न होता है। और यतः द्रव्य और पर्यायें अभिन्न हैं अतः—स्थिति ही उत्पन्न होती है, विनाश ही स्थिर रहता है, और उत्पत्ति ही नष्ट होती है।" अष्टशती की व्याख्या करते हुए विद्यानन्द ने इस प्रकरण में 'तथाचोक्तं' करके कुन्दकुन्द के पञ्चास्तिकाय के एक गाथा की संस्कृत छाया उद्धृत की है। इससे प्रतीत होता है कि विद्यानन्द भी अकलंकदेव को उक्त विवेचन के लिये कुन्दकुन्द का ऋणी समझते थे। अतः अकलंक कुन्दकुन्द के अनुयायी थे और उनके ग्रन्थों का उनपर अच्छा प्रभाव था।

उमास्वाति और अकलंक—दिगम्बरसमाज में आचार्य उमास्वाति, उमास्वामी नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सबसे पहले जैनवाङ्मय को सूत्ररूप में निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र की रचना की थी। वर्तमान में इस सूत्रग्रन्थ के दो पाठ पाये जाते हैं। एक पाठ दिगम्बर सूत्रपाठ कहलाता है और दूसरा श्वेताम्बर। दिगम्बर सूत्रपाठ के ऊपर अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में उन्होंने स्थान स्थान पर श्वेताम्बर सूत्रपाठ की आलोचना भी की है। अकलंकदेव ने उमास्वाति के द्वारा निर्दिष्ट प्रमाणपद्धति का कितना और कैसा अनुसरण किया है यह हम पहले बतला आये हैं। उनके प्रमाणविषयक प्रकरणों का आधार 'तत्प्रमाणे' सूत्र है और 'प्रमाण इति संग्रह' लिखकर प्रत्येक प्रकरण में उन्होंने उक्त सूत्र का निर्देश किया है।

---

१ "तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥" २-१३ ॥ प्रवचनसार

२ "सत्तैव विशिष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना।" अष्टशती, अष्टस० पृ० ११३।

३ "उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु, पज्जाया।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सत्तं ॥" २-९ ॥ प्रवच०

४ "उत्पित्सुरेव विनश्यति, नश्वर एव तिष्ठति, स्थास्नुरेवोत्पद्यते।" अष्टश० अष्टस० पृ० ११२।

५ "स्थितिरेवोत्पद्यते, विनाश एव तिष्ठति, उत्पत्तिरेव नश्यति।" अष्टश०, अष्टस० पृ० ११२

६ अष्टसहस्री पृ० ११३। ७ गा० ८।

भाष्यकार और अकलंक—श्वेताम्बर सूत्रपाठ के ऊपर एक भाष्यग्रन्थ भी है जो स्वोपज्ञ कहा जाता है। किन्तु कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों को इसमें विवाद है और उसे वे बाद की रचना समझते हैं। अकलंक के वार्तिकग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अकलंकदेव के सन्मुख उक्त भाष्य उपस्थित था। कई स्थलों पर उन्होंने उसके मन्तव्यों की आलोचना की है और कहीं कहीं अनुसरण सा भी किया प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये, 'अणवः स्कन्धाश्च' सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'कारणमेव तदन्त्यः' आदि पद्य उद्धृत किया है। अकलंकदेव ने उसकी आलोचना की है। तथा 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्र की व्याख्या में 'वृत्तौ पञ्चत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघातः' वार्तिक का व्याख्यान करते हुए लिखा है—"वृत्तौ उक्तम्—अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित् पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति।" यह वाक्य भाष्य में इस प्रकार है—"अवस्थितानि च, न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्ति शब्द से अकलंक ने भाष्य का निर्देश किया है।

प्रथम अध्याय के 'एकादीनि' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने किसी आचार्य के मत का उल्लेख 'केचित्' करके किया है, जो केवलज्ञान की दशा में भी मति आदि ज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव ने इस मत का खण्डन किया है। 'दग्धे बीजे यथात्यन्तं' आदि एक श्लोक भी उद्धृत किया है जो भाष्य में पाया जाता है। तथा ग्रन्थ के अन्त में भी 'उक्तं च' करके कुछ श्लोक दिये हैं जो भाष्य में मिलते हैं। इसके सिवा भाष्य में सूत्ररूप से कही गई कई पंक्तियों का विस्तृत व्याख्यान राजवार्तिक में पाया जाता है। यथा, 'शुभं विशुद्धमव्याघाति' आदि सूत्र के भाष्य में शरीरों में संज्ञा, लक्षण आदि से भेद बतलाया है। अकलंकदेव ने उसका विवेचन दो पृष्ठों में किया है। तथा 'सम्यग्दर्शन' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्, उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः' लिखा है। अकलंकदेव ने इन्हें वार्तिक बनाकर उनका आशय स्पष्ट किया है। कहा जा सकता है कि वार्तिकग्रन्थ से भाष्यकार ने इन्हें ले लिया होगा। किन्तु पूर्वोक्त अन्य सब बातों के साथ इसकी समीक्षा करने पर यही प्रतीत होता है कि अकलंकदेव के सन्मुख उक्त भाष्यग्रन्थ उपस्थित था और उन्होंने उसके कुछ मन्तव्यों की आलोचना और कुछ का आदान करके अपनी न्याय्यबुद्धि का ही परिचय दिया है।

समन्तभद्र और अकलंक—स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद के प्रतिष्ठाता समन्तभद्र के प्रकरणों का अकलंकदेव पर बड़ा गहरा प्रभाव है। उनके 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरण पर उन्होंने अष्टशती भाष्य की रचना की थी। आप्तमीमांसा में प्रत्येक तत्त्व को अनेकान्त की तुला में तोला गया है। उसी का अनुसरण हम अकलंकदेव के राजवार्तिक में पाते हैं। क्योंकि राजवार्तिक में अनेकान्त के आधार पर तत्त्वस्थितिविषयक प्रायः प्रत्येक प्रश्न को हल करने का प्रयत्न अकलंक ने किया है। समन्तभद्र ने प्रमाण को 'स्याद्वादनयसंस्कृत' बतलाकर श्रुतज्ञान

---

१ भाष्य पृ० ११६ और राजवार्तिक पृ० २३६। २ राजवा० पृ० १९७। ३ पृ० १०७। ४ राजवा० पृ० ३६१। यह श्लोक तथा कुछ अन्त के श्लोक अमृतचन्द्र सूरि के तत्त्वार्थसार में भी पाये जाते हैं। ज्यों ज्यों के त्यों मूल में सम्मिलित कर लिये गये हैं। किन्तु ये श्लोक तत्त्वार्थसार के नहीं हैं क्योंकि अमृतचन्द्र अकलंक के कई सौ वर्ष बाद हुए हैं। ५ राजवा० पृ० १०८-१०९। ६ राजवा० पृ० १२। ७ "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥" आ०मी०।

को 'स्याद्वाद' शब्द से अभिहित किया है। लघीयस्त्रय में अकलंक ने भी उसी का अनुसरण करते हुए श्रुत के दो उपयोग बतलाये हैं एक स्याद्वाद और दूसरा नय। हम पहले बतला आये हैं कि समन्तभद्र के द्वारा स्थिर की गई स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद की रूपरेखा इतनी परिष्कृत थी कि अकलंक को जैनन्याय के इस अंग में परिवर्तन और विशेष परिवर्द्धन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और उसे उन्होंने ज्यों का त्यों अपना लिया।

इसके सिवा समन्तभद्र के कथनों के आधार पर उन्होंने न्यायशास्त्र के कई आवश्यक अंगों की स्थापना की। यथा, आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने जिनोक्त तत्त्व को प्रमाण से अवाधित बतलाकर एकान्तवादियों के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को प्रमाणवाधित लिखा है। इस पर आशङ्का की गई कि दोनों वातों को कहने की क्या आवश्यकता थी? जिनोक्त तत्त्व को प्रमाण से अवाधित कह देने से ही 'इतरोक्त तत्त्व प्रमाण से वाधित हैं' यह स्पष्ट हो जाता है। इसका समाधान करते हुए अकलंकदेव ने वादन्याय के स्वरूप का निर्धारण किया और बतलाया कि विजिगीषु को स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण दोनों करना चाहिये। इसी लिये स्वामी समन्तभद्र ने दोनों वातों का निर्देश किया है।

सारांश यह है कि जैसे अपने प्रमाणशास्त्रों का प्रणयन करते हुए अकलंक ने उमास्वाति के दृष्टिकोण का ध्यान रखा और द्रव्यानुयोग की चर्चा में कुन्दकुन्द का अनुसरण किया, उसी तरह जैनन्याय की रूपरेखा के निर्धारण में उन्होंने समन्तभद्र की उक्तियों का अनुशीलन किया।

सिद्धसेनदिवाकर और अकलंक—यद्यपि सिद्धसेन का न्यायावतार जैनन्याय का आद्यग्रन्थ माना जाता है फिर भी अकलंक के प्रकरणों पर उसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु उनके ख्यातग्रन्थ सन्मतितर्क का हम उनपर पर्याप्त प्रभाव देखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वाति ने गुण को पर्याय से जुदा मानकर द्रव्य का लक्षण 'गुणपर्ययवत्' किया था। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर ने शास्त्रीय युक्तियों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि गुण और पर्याय ये दो जुदी जुदी वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु दोनों एक ही अर्थ के वोधक हैं। द्रव्य और पर्याय की तरह यदि गुण भी कोई स्वतंत्र वस्तु होती तो उसके लिये गुणार्थिक नाम का तीसरा नय भी होना आवश्यक था। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए अकलंक ने सिद्धसेन के इस मत का पूर्वपक्षरूप से निर्देश किया है और प्रारम्भ में उसका समाधान करते हुए, शास्त्र तथा युक्तियों के आधार पर, गुण का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु अन्त में 'गुणा एव पर्यायाः' निर्देश करके गुण और पर्याय का अभेद स्वीकार कर लिया है।

गुण और पर्याय के अभेदवाद के सिद्धान्त की तरह आचार्य सिद्धसेन ने नयों में भी एक नवीन परिपाटी को स्थान दिया था। प्राचीन परम्परा के अनुसार नय सात हैं किन्तु सिद्धसेन ने नैगमनय को संग्रह और व्यवहार में सम्मिलित करके षड्नयवाद की स्थापना की थी। अकलंकदेव ने सिद्धसेन का अनुकरण करते हुए नयप्रवेश में संग्रह नय का पहले निरूपण किया हैं किन्तु वाद में नैगम का भी वर्णन कर दिया है। राजवार्तिक में भी सप्तभंगी का

---

१ स्याद्वादकेवलज्ञाने ॥ १०५ ॥ आ० मी०। २ उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ॥ ६२ ॥ ३ कारिका ६-७। ४ अष्टश०, अष्टसहस्री पृ० ८१। ५ प्रवचनसार अ० २, गा० ३। ६ तत्त्वार्थसूत्र ५-३७। ७ सन्मतितर्क, काण्ड ३, गा० ८-१५। ८ राजवार्तिक पृ० २४३। ९ सन्मति० कांड १, गा० ४। १० पृष्ठ १८६।

वर्णन करते हुए द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय को 'संग्रहाद्यात्मक' ही बतलाया है। तथा उसी के बाद अर्थनयों में जो सप्तविध वचनमार्ग और शब्दनय में द्विविध वचनमार्ग बतलाया है वह भी सन्मतितर्क का ही अनुकरण करते हुए लिखा है। लघीयस्त्रय में तो सन्मतितर्क की तीसरी गाथा की संस्कृतछाया मूल में सम्मिलित कर ली गई है। इस प्रकार सिद्धसेन के सन्मतितर्क का अकलंक के प्रकरणों पर खूब प्रभाव पड़ा है। किन्तु सन्मति में प्रतिपादित केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदवाद की चर्चा का अकलङ्क ने अनुसरण नहीं किया। लघीयस्त्रय के तीन प्रवेश सन्मतितर्क के तीन काण्डों का स्मरण कराते हैं। सिद्धसेन की एक द्वात्रिंशतिका से भी अकलंक ने एक पद्य उद्धृत किया है।

श्रीदत्त और अकलङ्क—अकलङ्क से पहले श्रीदत्त नाम के एक तार्किक विद्वान् हो गये हैं। आचार्य देवनन्दि ने अपने व्याकरण में उनका उल्लेख किया है। आचार्य विद्यानन्द के उल्लेख से प्रकट होता है कि श्रीदत्त त्रेसठ वादियों के विजेता थे और उन्होंने 'जल्पनिर्णय' नाम का कोई महत्त्वशाली ग्रन्थ रचा था। अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थ में भी 'जल्पसिद्धि' नाम से एक प्रकरण है और उसमें वाद और जल्प को एक ही बताया है। संभव है जल्पसिद्धि पर 'जल्पनिर्णय' का प्रभाव हो। ग्रन्थ उपलब्ध न होने से इसके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

पूज्यपाद और अकलङ्क—पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति को अन्तर्भूत करके अकलंक ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक नामक ग्रन्थ की रचना की है और उसकी बहुत सी पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। तथा शब्दों की सिद्धि करते हुए, पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण से अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं। जिससे पता चलता है कि वे जैनेन्द्रव्याकरण के अच्छे अभ्यासी थे और उसपर उनकी बड़ी आस्था थी।

पात्रकेसरी और अकलङ्क—अकलङ्क से पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं। उन्हें पात्रस्वामी भी कहते थे। उन्होंने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नाम का एक शास्त्र रचा था। हम पहले कह आये हैं कि बौद्ध आचार्य हेतु का लक्षण त्रैरूप्य मानते हैं। आचार्य वसुवन्धु ने यद्यपि त्रैरूप्य का निर्देश किया था किन्तु उसका विकास दिङ्नाग ने ही किया है। इसी से वाचस्पति उसे दिङ्नाग का सिद्धान्त बतलाते हैं। इसी त्रैरूप्य या त्रिलक्षण का कदर्थन करने के लिये पात्रकेसरी ने उक्त शास्त्र की रचना की थी। अतः पात्रकेसरी, दिङ्नाग (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के बाद के विद्वान् थे। त्रिलक्षण का कदर्थन करनेवाला उनका निम्नलिखित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह के 'अनुमानपरीक्षा' नामक प्रकरण में पात्रस्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ कारिकाएं पूर्वपक्षरूप से दी हैं। उनमें उक्त श्लोक भी है और

---

१ का० १, गा० ४१। २ कारिका ६६–६७ की विवृति। ३ राजवार्तिक पृ० २९५। ४ जैनेन्द्रव्याकरण, १-४-३४। ५ "द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्। त्रिपष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये॥ ४५॥" त०श्लो० वा० पृ० २८०।

१०

उसकी क्रमिकसंख्या १३६९ है। श्वेताम्बराचार्य वादिदेवसूरि ने भी पात्रस्वामी के नाम से उक्त श्लोक उद्धृत किया है।[1] यह श्लोक अकलंक के न्यायविनिश्चय के अनुमानप्रस्ताव नामक द्वितीय परिच्छेद में भी गर्भित है। न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराजसूरि इस श्लोक की उत्थानिका में लिखते हैं—

"तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्वं तत्र तत्र स्थाने प्रतिपाद्य भेदं ? स्वबुद्धिपरिकल्पितम् अपि तूपरागसिद्धम् इत्युपदर्शयितुकामः भगवत्सीमन्धर-स्वामितीर्थंकरदेवसमवसरणाद् गणधरदेवप्रसादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्र-केसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्तिकं तदाह—"[2]

अर्थात्-"भगवान् सीमन्धरस्वामी के समवशरण से, गणधर देव के प्रसाद से प्राप्त करके, पद्मावती देवी ने जो वार्तिक पात्रकेसरी स्वामी को समर्पित किया था, उसे कहते हैं।"

अकलंक के ही दूसरे ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चय की टीका में भी इस विषय की मनोरञ्जक चर्चा पाई जाती है। उक्त ग्रन्थ के 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठवें प्रस्ताव का प्रारम्भ करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि-"हेय-उपादेय के विवेक से शून्य मनुष्य स्वामी के अमलालीढ पद को नहीं समझ सकता"। रेखाङ्कित पदों की व्याख्या करते हुए टीकाकार अनन्तवीर्य लिखते हैं—

'अमलालीढम्'—अमलैर्गणधरप्रभृतिभिरालीढमास्वादितं न हि ते सदोषमालिहन्ति अमलत्वहानेः। कस्य तदित्यत्राह-'स्वामिनः' पात्रकेसारिणः इत्येके। कुत एतत्, तेन तद्विषय-त्रिलक्षणकदर्थनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमितिचेत्, नन्वेवं सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारि-णस्तीर्थंकरस्य स्यात् तेन हि प्रथमं "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुप-पन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।" इत्येतत् कृतम्। कथमिदमवगम्यते ? इति चेत्, 'पात्रकेस-रिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतम्' इति कथमवगम्यते इति समानम्। आचार्यप्रसिद्धेः, इत्यपि समानम्, उभयत्र च कथा महती सुप्रसिद्धा तस्य तत्कृतत्वे प्रमाणप्रामाण्ये तत्प्रसिद्धौ कः समाश्वासः ? तदर्थं करणात् तस्य, इति चेत्, तर्हि सर्वं शास्त्रं तदविधेय चात एव शिष्याणा-मेव न 'तत्कृतम्' इति व्यपदिश्येत। पात्रकेसरिणोऽपि वा न भवेत् तेनाप्यन्यार्थं तत्करणा-त्तेनाप्यन्यार्थम् इति न कस्यचित् स्यात् येन तद्विषयप्रबन्धकरणात् पात्रकेसरिणस्तत् इति चिन्तितं मूलसूत्रकारेण कस्यचिद् व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्। तस्मात् साकल्येन साक्षात्कृत्योपदिशत एवायं भगवतः तीर्थंकरस्य हेतुः, इति निश्चीयते।"

इस लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि 'पद' शब्द से टीकाकार ने 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि पद का ग्रहण किया है और उसके विशेषण 'अमलालीढ' पद का अर्थ 'गणधरों के द्वारा आस्वा-दित' किया है। तथा 'स्वामिनः' शब्द के अर्थ के बारे में उत्तर-प्रत्युत्तर करते हुए लिखा है— "स्वामी शब्द से कोई कोई पात्रकेसरी का ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि पात्रकेसरी ने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नाम के उत्तरभाष्य की रचना की थी और यह हेतुलक्षण उसी ग्रन्थ का है।

१ स्याद्वादरत्नाकर पृ० ५२१। २ न्या० वि० वि० पृ० ५०० पू०।

यदि ऐसा है तो इस हेतुलक्षण को सर्वदर्शी भगवान् सीमन्धर स्वामी का मानना चाहिये, क्योंकि पहले उन्होंने ही "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" इस वाक्य की रचना की थी। यदि कहा जाये कि इसके जानने में क्या साधन है तो 'पात्रकेसरी ने त्रिलक्षणकदर्थन की रचना की थी' इस बात के जानने में क्या साधन है? यदि कहा जाये कि यह बात आचार्यपरम्परा से प्रसिद्ध है तो उक्त श्लोक के सीमन्धरस्वामिरचित होने में भी आचार्यप्रसिद्धि है ही। तथा उसके सीमन्धर रचित होने की कथा भी सुप्रसिद्ध है।...... यदि यह कहा जाये कि सीमन्धर स्वामी ने पात्रकेसरी के लिये उक्त श्लोक की रचना की थी, अतः वह श्लोक पात्रकेसरिरचित कहा जाता है तो समस्त शास्त्र तीर्थंकरविहित न कहे जाकर शिष्यरचित कहे जाने चाहिये, क्योंकि शिष्यों के लिये ही उनका विधान किया गया था। अथवा वह पात्रकेसरिरचित भी न कहा जाना चाहिये क्योंकि उन्होंने भी दूसरों के लिये ही उसे रचा था। इसी प्रकार दूसरों ने भी दूसरों के लिये और उन दूसरों ने भी और दूसरों के लिये रचना की थी, अतः वह किसी का भी रचित नहीं कहा जायेगा। और ऐसी अवस्था में मूल सूत्रकार (अकलंक) उसे किसी का भी नहीं बतला सकते थे। अतः समस्त जगत का साक्षात्कार करके उपदेश देनेवाले तीर्थङ्कर भगवान् का ही उक्त हेतु है यह निश्चित है, और इसी लिये उसे 'अमलालीढ' बतलाया है।"

इस चर्चा से यही निष्कर्ष निकलता है कि अकलंकदेव ने भी उक्त हेतुलक्षण को स्वामी का बतलाया है और टीकाकार अनन्तवीर्य उसके 'अमलालीढ' विशेषण के आधार पर, प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार स्वामी का अर्थ सीमन्धरस्वामी करते हैं, जब कि कोई कोई विद्वान् 'स्वामी' से पात्रकेसरी का ग्रहण करते हैं। भट्टारक प्रभाचन्द्र के गद्य कथाकोश में पात्रकेसरी की कथा दी गई है। उसमें बतलाया गया है कि बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के अवसर पर, पद्मावती देवी ने सीमन्धर स्वामी के समवशरण से उक्त श्लोक लाकर पात्रकेसरी को दिया था, जिससे वे बौद्धों के त्रिलक्षणवाद का कदर्थन करने में समर्थ हुए थे। श्रवणबेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में भी एक श्लोक इसी आशय का इस प्रकार दिया है—

"महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावतीसहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥"

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि अकलंक के पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रभावशाली आचार्य हुए थे। उन्होंने त्रिलक्षणकदर्थन नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था और उसमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि श्लोक मौजूद था। उसे अकलंक ने अपने प्रकरणों में ज्यों का त्यों सम्मिलित कर लिया।

'सम्यक्त्वप्रकाश' आदि कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों के उल्लेखों के आधार पर ऐतिहासिकों में एक गलतफहमी फैल गई थी कि विद्यानन्द का ही अपरनाम पात्रकेसरी है और 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' आदि श्लोक भी उन्हीं का रचा हुआ है। विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में एक स्थल पर तो उक्त श्लोक को 'तथाह च' लिखकर मूल में सम्मिलित कर लिया है, और

१ इस गलतफहमी को दूर करने के लिये, अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ६७ पर मुद्रित 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये। २ पृ० २०३।

दूसरे स्थल पर 'हेतुलक्षणं वार्तिककारेण एवमुक्तम्' लिखकर उद्धृत किया है। स्वर्गीय डाक्टर पाठक उसी गलतफहमी के आधार पर लिखते हैं कि विद्यानन्द ने 'वार्तिककार' शब्द से स्वयं अपना ही उल्लेख किया है (क्योंकि वे श्लोकवार्तिक के रचयिता हैं)। यदि डाक्टर पाठक पात्रकेसरी और विद्यानन्द के पृथक् व्यक्तित्व से परिचित होते और अकलंक के न्यायविनिश्चय का अवलोकन कर पाते तो उनसे उक्त भूल न हुई होती। यथार्थ में 'वार्तिककार' पद से विद्यानन्द, राजवार्तिककार अकलंकदेव की ओर संकेत करते हैं। क्योंकि उन्होंने न्यायविनिश्चय में उक्त श्लोक को देखा होगा और संभवतः पात्रकेसरी का त्रिलक्षणकदर्थन या उसके सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्ती का उन्हें पता न होगा, अतः उसे अकलंकरचित ही समझा होगा। विद्यानन्द और पात्रकेसरी में ऐक्य मान लेने के कारण डा० पाठक से एक अन्य भूल भी हो गई है। वे लिखते हैं कि पात्रकेसरि ने धर्मकीर्ति के त्रिलक्षण हेतु पर आक्रमण किया है। विद्यानन्द को पात्रकेसरी मान लेने की दशा में तो डा० पाठक का लिखना ठीक है क्योंकि विद्यानन्द धर्मकीर्ति के बाद में हुए हैं। किन्तु पात्रकेसरी का एक स्वतंत्र विद्वान् होना और अकलंक के पूर्ववर्ती होना डाक्टर पाठक के मत को भ्रामक सिद्ध करता है।

वादिराज के अन्य उल्लेखों से पता चलता है कि अकलंकदेव ने पात्रकेसरी के 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक शास्त्र से केवल उक्त श्लोक ही नहीं लिया, किन्तु कुछ अन्य सामग्री भी ली है। अनुमानप्रस्ताव की एक अन्य कारिका की उत्थानिका में वे लिखते हैं—"एषां त्रैविध्यनियमं प्रतिषिध्य पात्रकेसरिणाऽपि तन्नियमः प्रतिषिद्धः इति दर्शयन् तद्वचनान्याह"। उसी प्रस्ताव में, जातियों का वर्णन करते हुऐ, एक कारिका के 'शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः' पद का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं–"त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्री पात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनात्।"

इन उल्लेखों से पता चलता है कि 'त्रिलक्षणकदर्थन' में अनुमान तथा उससे सम्बद्ध बहुत सी बातों का विस्तृत वर्णन था। और अकलंक ने उससे बहुत कुछ ग्रहण किया है।

मल्लवादी और अकलङ्क—अकलङ्क ने नयों का विशेष विवरण जानने के लिये नयचक्र देखने का अनुरोध किया है। दिगम्बर साहित्य में नयचक्र नाम से जो छोटा सा ग्रन्थ उपलब्ध है वह अकलङ्क से कई सौ वर्ष बाद में रचा गया है, तथा उसके लघुनयचक्र नाम और अन्य उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि नयचक्र नाम का कोई बृहत् ग्रन्थ भी था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मल्लवादी नाम के एक तार्किक विद्वान् हो गये हैं जिन्होंने बौद्धों को जीता था। उनका बनाया 'द्वादशारनयचक्र' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ–सिंहगणिक्षमाश्रमण की टीकासहित–उपलब्ध है। अतः यही संभावना की जाती है कि अकलङ्क ने मल्लवादिरचित नयचक्र का ही उल्लेख किया है।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण और अकलङ्क—श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगमकुशल विद्वान् हो गये हैं। इनका विशेषावश्यकभाष्य सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, उसी के कारण भाष्यकार नाम से भी उनकी ख्याति

---

१ पृ० २०५। २ भा० प्रा० वि० पूना की पत्रिका, जि० १२, पे० ७१–८० पर मुद्रित 'धर्मकीर्ति के त्रिलक्षणहेतु पर पात्रकेसरी का आक्रमण' शीर्षक लेख। ३ न्या० वि० वि० पृ० ५१० पूर्व०। ४ न्या० वि० वि० पृ० ५२७ उ०। ५ "इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः।" ३–९१, न्या० वि०।

है। इस भाष्य और अकलङ्कदेव के ग्रन्थों में कई चर्चाएँ ऐसी पाई जाती हैं जो परस्पर में मेल खाती हैं। तथा, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि एक पर दूसरे का प्रभाव है। यथा, चक्षु के प्राप्यकारित्व का खण्डन करते हुए अकलंक ने लिखा है—"यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात्, न च गृह्णाति, अतो मनोवदप्राप्यकारीति अवसेयम्।" विशेषावश्यक भाष्य में भी निम्न गाथा का न केवल आशय किन्तु शब्दरचना भी अकलंक की शब्दावली से मिलती है। तुलना कीजिये—

"जइ पत्तं गेण्हेज्ज उ तग्गयमंजण-रओ मलाईयं।
पेच्छेज्ज, जं न पासइ अपत्तकारी तओ चक्खु ॥ २१२ ॥"

अकलंक की तरह क्षमाश्रमणजी भी इन्द्रियनिमित्तक ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। तथा शब्दयोजनासहित इन्द्रियमनोनिमित्तक ज्ञान को श्रुतज्ञान और शेष को मतिज्ञान कहते हैं। दोनों आचार्य जिनशासन के युगप्रधान पुरुषों में गिने जाते हैं। दोनों में केवल इतना ही अन्तर प्रतीत होता है कि यदि क्षमाश्रमण जी आगमविशारद और तर्ककुशल व्यक्ति थे तो अकलंकदेव तर्कविशारद और आगमकुशल व्यक्ति थे।

क्षमाश्रमण जी का समय अभी तक सुनिश्चित रीति से निर्णीत नहीं हो सका है। पट्टावलियों के आधार पर उन्हें छठी शताब्दी का विद्वान माना जाता है। यतः हरिभद्रसूरि (ई० ७००–७७०) ने उनका उल्लेख किया है अतः ईसा की आठवीं शताब्दी के बाद के विद्वान तो वे हो ही नहीं सकते। और विशेषावश्यकभाष्य में सुबन्धु की वासवदत्ता का उल्लेख होने के कारण छठी शताब्दी से पहले के विद्वान नहीं हो सकते। डा० कीथ 'वासवदत्ता' को सातवीं शताब्दी की रचना बतलाते हैं, किन्तु बाणकविरचित हर्षचरित में उसका उल्लेख है और बाणकवि राजा श्रीहर्ष (ई० ६०६–६४७) का समकालीन था। अतः 'वासवदत्ता' को सातवीं शताब्दी की रचना नहीं माना जा सकता। वासवदत्ता में न्यायवार्तिककार उद्योतकर का उल्लेख है अतः उद्योतकर को अधिक से अधिक छठी शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान मान कर, वासवदत्ता को छठी शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में क्षमाश्रमण जी ई० ६०० से ७५० तक के मध्यकाल के विद्वान ठहरते हैं।

---

१ राजवार्तिक पृ० ४८। २ "इंदियमणोणिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं। निययत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं ॥ १०० ॥" ३ देखो 'हरिभद्र का समयनिर्णय' शीर्षक लेख। ४ गा० १५०८। ५ इण्डियन लॉजिक। ६ "कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।" परि० १। ७ "न्यायस्थितिमिवोद्योतकर-स्वरूपां'''वासवदत्तां ददर्श।" ८ डा० कीथ अपने इंडियन लॉजिक में लिखते हैं कि उद्योतकर ने वादविधि और वादविधान टीका का उल्लेख किया है संभवतः ये दोनों ग्रन्थ धर्मकीर्ति का वादन्याय और विनीतदेव की वादन्यायटीका ही हैं। किन्तु उनकी यह संभावना ठीक नहीं है। क्यों कि उस दशा में उद्योतकर को आठवीं शताब्दी के भी बाद का विद्वान मानना होगा, क्यों कि विनीतदेव का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। और ऐसी परिस्थिति में 'वासवदत्ता' की ऐतिहासिक शृङ्खला छिन्नभिन्न हो जायेगी। उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में स्रुघ्न का निर्देश किया है जिसे राजा हर्ष की राजधानी थानेश्वर से एक सड़क जाती थी। इस पर डा० कीथ लिखते हैं कि उद्योतकर राजा हर्ष का समकालीन था। किन्तु डाक्टर सा० की यह कल्पना भी निराली ही जान पड़ती है। थानेश्वर के निकटवर्ती स्रुघ्न ग्राम का निर्देश करने से यही अनुमान किया जा सकता है कि वे थानेश्वर के निवासी थे जैसा कि डाक्टर विद्याभूषण ने लिखा है, न कि किसी के समकालीन। तत्त्वसंग्रह की भूमिका में उद्योतकर का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया है।

विशेषावश्यकभाष्य में एक स्थल पर 'केइ दिहालोयणपुव्वमोग्गहं बेंति' इत्यादि लिखकर एक मत की आलोचना की है जो आलोचनज्ञानपूर्वक वस्तु का ग्रहण होना स्वीकार करता है। जैनशास्त्रों में दर्शनपूर्वक अवग्रह की चर्चा तो हमारे देखने में आई है किन्तु आलोचनज्ञानपूर्वक अवग्रह की चर्चा हमारे दृष्टिपथ से नहीं गुजरी। इसकी टीका में टीकाकार हेमचन्द्र मलधारिदेव ने क्षमाश्रमणजी द्वारा निरूपित मत का निर्देश करने के लिये 'अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्' आदि, कुमारिल के श्लोकवार्तिक की कारिका उद्धृत की है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकार उक्त मत को कुमारिल का मत समझते थे। यदि उन्हें किसी जैनाचार्य के उक्तमत का पता होता तो वे उसके समर्थन में कुमारिल की कारिका उद्धृत न करते। इस पर से ऐसा लगता है कि क्षमाश्रमणजी संभवतः कुमारिल के लघुसमकालीन थे। यदि हमारी कल्पना सत्य हो तो उन्हें अकलंक का भी समकालीन मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में यह निर्णय कर सकना शक्य नहीं है कि अमुक ने अमुक का अनुसरण किया है। समकालीन होने के कारण, यह भी संभव हो सकता है कि किसी स्रोत से दोनों ने एकसी विचारधारा ली हो और वह परस्पर में मेल खागई हो? उदाहरण के लिये सिद्धसेन दिवाकर को ही ले लीजिये। दिवाकर जी के सन्मतितर्क का दोनों ने ही मनन किया है और उसके षड्नयवाद के दृष्टिकोण को दोनों ने ही अपनाया है। परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदवाद के सिद्धान्त को दोनों ने ही नहीं अपनाया। अन्तर केवल इतना ही है कि आगमिक होने के कारण क्षमाश्रमणजी सिद्धसेन की आगमविरुद्ध मान्यता का विरोध करने से अपने को न रोक सके, किन्तु तार्किक अकलंक ने अपने पूर्वज तार्किकबन्धु के विरोध में एक भी शब्द नहीं लिखा।

हरिभद्र और अकलङ्क—हरिभद्र सूरि के दार्शनिक प्रकरणों पर अकलङ्क का प्रभाव प्रतीत होता है। उनकी अनेकान्तजयपताका और अकलङ्क के राजवार्तिक के कई स्थल परस्पर में मेल खाते हैं। बौद्धों के प्रत्यक्ष के लक्षण 'कल्पनापोढ' के निराकरण की शैली और भाव में राजवार्तिक में विहित निराकरण की स्पष्ट झलक है[1]। तथा, अकलङ्क की अष्टशती का भी अनुसरण उसमें पाया जाता है[2]। एक स्थल पर तो 'इति अकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः'[3] लिखकर अकलङ्कन्याय का स्पष्टतया उल्लेख किया है।

सिद्धसेनगणि और अकलंक—सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की अपनी टीका में अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय का तो उल्लेख किया ही है, किन्तु उनके राजवार्तिक के कई दार्शनिक मन्तव्यों को भी स्थान दिया है। इसके लिये गणिजी की टीका का पाँचवां अध्याय देखना चाहिए। सूत्र ५-२८ की व्याख्या में अकलंकदेव ने प्रतिबिम्ब का विचार किया है, गणिजी ने भी उसी स्थल पर उसकी चर्चा की है। राजवार्तिक में 'लौकान्तिकानाम्' (४-४२) इत्यादि सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का वर्णन करते हुए काल, आत्मा आदि की जो चर्चा की है, गणिजी ने भी ५-३१ की व्याख्या में उसे थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ सम्मिलित कर लिया है। तथा ४-४२ सूत्र की ही व्याख्या के अन्त में अकलंकदेव ने विकलादेश में सप्तभंगी का प्रतिपादन करते हुए जो अर्पित और अनर्पित तथा अर्थनय और शब्दनय का उल्लेख

१ अनेकान्तजय० पृ० २०२ और राजवा० पृ० ३१। २ अष्टसहस्री पृ० ११९ और अने० ज० प० पृ० १२२। ३ अने० ज० प० पृ० २५३।

करते हुए नययोजना की है, ५-३१ की व्याख्या में गणिजी ने वह सब सम्मिलित कर ली है। अतः गणिजी ने भी अकलंक के दार्शनिक रूप का अनुसरण किया है।

विद्यानन्द और अकलंक—अकलंक के अन्यतम टीकाकार स्वामी विद्यानन्द पर अकलंक का इतना अधिक प्रभाव है कि कुछ विद्वान् उन्हें उनका साक्षात् शिष्य समझते हैं। ऐतिहासिक खोज से विद्यानन्द अकलंक के साक्षात् शिष्य तो प्रमाणित नहीं होते किन्तु उनके ग्रन्थों के अवलोकन करने से पाठक की यह धारणा अवश्य हो जाती है कि विद्यानन्द ने अकलंक को अपना आदर्श बनाया है, तथा उन्हीं के निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर अपनी प्राञ्जलबुद्धि की सहायता से अकलङ्कन्याय को खूब पल्लवित और पुष्पित किया है। अकलंक के अस्त के बाद, दार्शनिक क्षेत्र में जो विचारधाराएँ तथा मौलिक तत्त्व आविर्भूत हुए, उनका समीकरण और परिमार्जन विद्यानन्द ने किया है। उनकी अष्टसहस्री तो अकलंक की अष्टशती का ही विशद विवेचन है। उनकी प्रमाणपरीक्षा अकलंक के प्रमाणविषयक प्रकरणों के आधार पर रची गई है। उसमें प्रतिपादित सम्यक्ज्ञान के प्रमाणत्व की व्यवस्था, प्रमाण के प्रत्यक्ष, परोक्ष भेद प्रत्यक्ष के इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय भेद, परोक्ष प्रमाणों की चर्चा, प्रमाण का विषय, फल आदि सभी बातें अकलंक के लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय से सम्बद्ध हैं। केवल इतना अन्तर है कि विद्यानन्द ने अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के विकल और सकल भेद करके अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों को भी गर्भित कर लिया है। अकलंकदेव ने अपने प्रमाणसंग्रह में हेतु के बहुत से भेद किये हैं। विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में भी विधिसाधक और प्रतिषेधसाधक हेतुओं के भेद बहुत ही सुन्दर रीति से क्रमवार दर्शाये हैं और अन्त में कुछ संग्रहश्लोक प्रमाणरूप से उद्धृत किये हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हेतु के भेद-प्रभेदों का आधार संभवतः अकलङ्क का प्रमाणसंग्रह न होकर उक्त संग्रहश्लोक हैं।

विद्यानन्द का तीसरा महत्त्वशाली ग्रन्थ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भी अकलंक की मुद्रा से अङ्कित है। न्यायविनिश्चय की अनेक कारिकाएँ उसके मूल भाग को सुशोभित करती हैं। अकलंक के कई मन्तव्यों की उसमें आलोचना भी की गई है। अकलंक के दो महत्त्वपूर्ण मन्तव्यों–शब्दयोजनासहित ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं और शब्दयोजना से पहले मति स्मृति आदि ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं—की विवेचना और उनका स्पष्टीकरण विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक में ही दृष्टिगोचर होता है। चतुरंगवाद, जय-पराजयव्यवस्था तथा जाति आदि का निरूपण भी 'अकलंकोक्तलक्षणा' 'अकलंककथितो जयः' 'ज्ञेयमकलंकावबोधने' आदि लिखकर अकलङ्क के द्वारा निर्णीत दिशा के आधार पर ही किया गया है।

माणिक्यनन्दि और अकलंक—आचार्य माणिक्यनन्दि का 'परीक्षामुख' नाम से एक सूत्रग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि अकलंक के वचनसमुद्र का मथन करके उन्होंने इस न्याय-अमृत का उद्धार किया था। इस सूत्रग्रन्थ में ६ उद्देश हैं—प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनन्दि से पहले प्रमाण का लक्षण 'स्वपरव्यवसायि ज्ञान' था, किन्तु उन्होंने उसमें 'अपूर्व' पद की वृद्धि करके स्वापूर्वार्थव्यवसायि ज्ञान को प्रमाण निर्धारित किया। कुछ ग्रन्थों में मीमांसक के नाम से निम्नलिखित कारिका उद्धृत पाई जाती है–

---

१ पृ० २३९। २ "अकलंकवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता। न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥" प्रमेयरत्नमाला।

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

इसमें अपूर्वार्थ के ज्ञान को प्रमाण माना है । प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट की श्लोकवार्तिक में उक्त कारिका नहीं मिलती, अतः यह अनुमान किया जाता है कि यह कारिका कुमारिल के किसी बृहट्टीका नामक ग्रंथ की है। अकलंकदेव ने भी प्रमाण को 'अनधिगतार्थग्राही' लिखा है अतः परीक्षामुखकार ने प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' पद का समावेश करते समय अकलंक के शब्दों का भी ध्यान रखा है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अपूर्व की परिभाषा 'अनिश्चित' की है।

माणिक्यनन्दि ने अपने सूत्रग्रन्थ को केवल न्यायशास्त्र की दृष्टि से ही संकलित किया है। अतः इसमें आगमिक परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले अवग्रहादि ज्ञानों का समावेश नहीं किया और आगमिक श्रुतप्रमाण को आगम नाम देकर—जैसा कि अकलङ्क ने अपने न्यायविनिश्चय में किया है—परोक्ष प्रमाण के भेदों में गिना दिया है। साध्य और साधन के लक्षण आदि भी अकलङ्कोक्त ही दिये गये हैं। विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि दोनों अकलङ्क के अनुयायी हैं, अतः दोनों के ग्रन्थों में साम्य होना अनिवार्य है। माणिक्यनन्दि ने अनुमान का लक्षण 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्' किया है। विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा में भी यही लक्षण पाया जाता है। तथा श्लोकवार्तिक पृ० १९७ पर 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः' लिखा है। इस पर से डाक्टर पाठक लिखते हैं–"माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र के बीच में विद्यानन्द को रखना होगा, क्योंकि विद्यानन्द ने अष्टसहस्री पृ० १९७ में 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुः' करके परीक्षामुख के सूत्र ३-१४ का उल्लेख किया है।" अकलङ्क के न्यायविनिश्चय को न देख सकने के कारण ही डाक्टर पाठक को यह भी भ्रम हुआ है। श्लोकवार्तिक में (अष्टसहस्री में लिखना गलत है, अष्टसहस्री के उक्त पेज पर उक्त वाक्य नहीं है) उक्त कारिका अकलङ्क के न्यायविनिश्चय से ली गई है। माणिक्यनन्दि ने भी उसी के शब्दों को ज्यों का त्यों लेकर अनुमान की परिभाषा बनाई है। इन दोनों ग्रन्थकारों का पौर्वापर्य निर्णीत कर सकने की सामग्री अभी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

अकलङ्कन्याय के आधार पर परीक्षामुख का निर्माण किया गया, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु उसके निर्माण में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सूत्रग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। तुलना के लिये कुछ सूत्र नीचे दिये जाते हैं—

न्यायप्रवेश	परीक्षामुख
१ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शंखशुक्तिवत् ।	१ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शंखशुक्तिवत् ।
२ माता मे वन्ध्या ······	२ माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽपि अगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।
३ बाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः ।	३ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रति अग्निरत्र धूमात् । तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात् ।
४ तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी	४ पक्ष इति यावत् । प्रसिद्धो धर्मी ।

१ "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।" अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

२ देखो, 'अकलङ्क का समय' शीर्षक लेख, भण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर की पत्रिका, जिल्द १३ पृ० १५७ ।

न्यायबिन्दु	परीक्षामुख
१ अनुमानं द्विधा।	१ तदनुमानं द्वेधा।
२ स्वार्थं परार्थं च।	२ स्वार्थ-परार्थभेदात्।
३ नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावात्।	३ नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निः, धूमानुपलब्धेः।
४ नात्र शिंशपा, वृक्षाभावात्।	४ नास्त्यत्र शिंशपा, वृक्षानुपलब्धेः।
५ नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, धूमात्।	५ नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, धूमात्।

वार्तिककार और अकलंक—श्वेताम्बरसम्प्रदाय में जैनतर्कवार्तिक के नाम से एक वार्तिक-ग्रन्थ पाया जाता है। उस पर शान्तिसूरि की वृत्ति है। पहली कारिका में ग्रन्थकार ने 'सिद्धसेनार्कसूत्रितम्' पद के द्वारा सिद्धसेनदिवाकर के सूत्र संभवतः न्यायावतार का निर्देश किया है, क्योंकि वार्तिक की दूसरी कारिका न्यायावतार की ही प्रथम कारिका है। ग्रन्थकार के प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार उसके आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। किन्तु ग्रन्थ का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि न्यायावतार के आधार पर ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है किन्तु अकलङ्क के प्रकरणों का उस पर काफी प्रभाव है। तथा ग्रन्थकार ने उनके मत की आलोचना भी की है। नीचे के उद्धरणों से वार्तिकों पर अकलङ्क का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है—

"सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा" यह वार्तिक लघीयस्त्रय के "*उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्। तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम्॥*" वार्तिक का आशय लेकर ही बनाई गई है। न्यायविनिश्चय में प्रत्यक्ष का विषय बतलाते हुए लिखा है—

"*द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।*"

इसी को लेकर वार्तिककार लिखते हैं—

"*द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः।*"

अकलङ्क ने लिखा है—

"*भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते प्रादुर्भावात्ययौ यदि।*
अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित्॥" न्या० वि०

वार्तिककार लिखते हैं—

"*भेदज्ञानात्प्रतीयन्ते यथा भेदाःपरिस्फुटम्।*
तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः॥"

सिद्धिविनिश्चय में अकलङ्क लिखते हैं—

"*असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः।*
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने॥"

---

१ किन्हीं का मत है कि वार्तिक भी वृत्तिकार की ही बनाई हुई हैं। किन्तु बड़ौदा से प्रकाशित पाटन के कैटलॉग में वार्तिक के आगे कर्ता का नाम नहीं दिया है।

इसमें देवनन्दि के स्थान पर श्वेताम्बराचार्य मल्लवादि का नाम बदल कर वार्तिककार ने इस कारिका को ज्यों का त्यों अपना लिया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वार्तिक की रचना में अकलङ्क के प्रकरणों से बहुत कुछ लिया गया है। प्रमाणसंग्रह में प्रमाणों की चर्चा प्रारम्भ करते हुए अकलंक ने लिखा है—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण इति संग्रहः।"

"प्रत्यक्षं विशदज्ञानम्—तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम्, अनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, अतीन्द्रियप्रत्यक्षम्, त्रिधा श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि-स्मरणपूर्वकं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थम्, द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः प्रतिभासभेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः।"

वार्तिककार लिखते हैं—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधेन्द्रियमानीन्द्रियम्।
योगजं चेति वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्॥"

वार्तिककार ने अकलङ्क के अनुसार विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर उसके तीन भेद किये हैं—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और योगज (अतीन्द्रिय)। इस कारिका की वृत्ति में वैशद्य का विवेचन करते हुए शान्तिसूरि ने अकलङ्क का खण्डन किया है। प्रमाणसंग्रह की उक्त कारिका के मध्य में स्थित त्रिधा शब्द की अनुवृत्ति प्रत्यक्ष में भी होती है और श्रुत में भी। अतः प्रत्यक्ष की तरह श्रुत के भी तीन भेद अकलङ्क ने माने हैं—प्रत्यक्षनिमित्तक, अनुमाननिमित्तक और आगमनिमित्तक। शान्तिसूरि ने उनकी भी आलोचना की है। क्यों कि वार्तिककार ने परोक्ष के दो ही भेद किये हैं—एक लिङ्गजन्य और दूसरा शब्दजन्य। तथा—"लैङ्गिकं प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते।" लिखकर अकलंक के मत का उल्लेख किया है। इसकी वृत्ति में 'अन्ये' पद का अर्थ 'समानतंत्राः' किया है, और प्रमाणसंग्रह की कारिका के दो चरण "परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि, त्रिधा श्रुतमविप्लवम्।" उद्धृत किये हैं। आगे की कारिका में परोपदेशजन्य ज्ञान को श्रुत और शेष को मति, तथा प्रत्यभिज्ञादि को परोक्ष लिखकर श्रुत के तीन भेदों को वार्तिककार ने भी अयुक्त बतलाया है[1]। इस प्रकार इस वार्तिक ग्रन्थ की रचना अकलङ्क के प्रकरणों के आधार पर ही हुई है और वार्तिककार श्रुत के तीन भेदों के सिवा अकलंक के द्वारा निर्धारित की गई शेष व्यवस्था के समर्थक और अनुसर्ता हैं।

वादिराज और अकलंक—यों तो वादिराज ने अकलंक के न्यायविनिश्चय पर विस्तृत व्याख्यानग्रन्थ लिखा है, किन्तु 'प्रमाणनिर्णय' नाम से उनका एक स्वतंत्र प्रकरण भी है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि 'देव' के मत का संक्षिप्त दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। इस ग्रन्थ[2] में परोक्ष के दो भेद किये हैं—एक अनुमान और दूसरा आगम, तथा अनुमान के गौण और मुख्य भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को गौण अनुमान स्वीकार किया है। अनुमान के भेदों की यह परम्परा बिल्कुल नूतन प्रतीत होती है और अन्य किसी ग्रन्थ में इसका इतना स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। किन्तु यह स्वयं वादि-

१ "परोपदेशजं श्रौतं मतिः शेषं जगुर्जिनाः। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत्।" पृ० १३२।
२ पृ० ३३।

राज की कल्पना नहीं है, अकलङ्क के न्यायविनिश्चय के आधार पर ही इसकी सृष्टि की गई है। हम लिख आये हैं कि न्यायविनिश्चय में केवल तीन ही प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। अनुमानप्रस्ताव में ही उसके अंगरूप से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का वर्णन किया गया है। वादिराज ने भी उन्हें अनुमान बतलाते हुए लिखा है कि उत्तरोत्तर कारण होते हुए अनुमान के निमित्त होने से ये तीनों अनुमान कहे जाते हैं।

अभयदेव और अकलङ्क—सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी अकलङ्क को अपनाया है। प्रत्यक्ष के भेद अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा को बतलाकर लघीयस्त्रय के 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' का अनुसरण करते हुए पूर्व पूर्व ज्ञानों को प्रमाण और उत्तर उत्तर ज्ञानों को उनका फल बतलाया है। तथा 'शब्दयोजनानिरपेक्ष ज्ञान को मति और शब्दयोजनासापेक्ष को श्रुत कहते हैं' अकलङ्क के इस मत के किसी अनुयायी के शब्दों का उल्लेख करके अकलङ्क के प्रसिद्ध मत का निर्देश किया है। अन्त में जयपराजय की व्यवस्था भी अकलङ्कोक्तदिशा के आधार पर ही की गई है।

हेमचन्द्र और अकलङ्क—प्रमाणमीमांसा नामक सूत्रग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए हेमचन्द्रने किसी के द्वारा उपपत्ति कराते हुए लिखा है कि अकलङ्क धर्मकीर्ति आदि की तरह प्रकरणग्रन्थ क्यों नहीं रचते हो ? इत्यादि। प्रमाणमीमांसा में प्रत्यक्ष का लक्षण, उसके भेद, अवग्रहादि ज्ञानों में प्रमाणफलव्यवस्था, अनुमान का लक्षण आदि अनेक बातें अकलंकन्याय के अनुसार दर्शाई गई हैं। प्रत्यभिज्ञान के प्रकरण में लघीयस्त्रय की दो कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं तथा अन्त में जय-पराजयव्यवस्था भी अकलंकोक्तदिशा के आधार पर ही निर्धारित की है।

वादिदेव और अकलङ्क—अकलङ्क के अनुयायी माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र के ही आधार पर वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्रग्रन्थ की रचना की है और स्याद्वादरत्नाकर के नाम से उस पर एक बृहद् टीकाग्रन्थ लिखा है। इस टीकाग्रन्थ में प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप और भेद बतलाते हुए लघीयस्त्रय से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं। तथा 'यदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये' करके सिद्धिविनिश्चय से एक पंक्ति उद्धृत की है। तथा अन्त में जय पराजय की व्यवस्था करते हुए प्रमाणरूप से अकलङ्क के कुछ शब्द उद्धृत किये हैं, जो संभवतः उनके किसी वृत्तिग्रन्थ के हो सकते हैं। इसी प्रकरण में 'अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्' लिखकर निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है—

"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥"

यह कारिका या इसका पूर्वार्द्ध तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, न्यायविनिश्चयविवरण, सन्मतितर्कटीका तथा प्रमाणमीमांसा में भी उद्धृत है। किन्तु अकलङ्क के उपलब्ध साहित्य में अभी इस कारिका का पता नहीं लग सका है। संभव है यह कारिका सिद्धिविनिश्चय की हो। इस प्रकार वादिदेवसूरि ने भी अकलङ्क का अनुसरण करके अकलङ्कन्याय को समृद्ध किया है।

---

१ सन्मति० टी०, पृ० ५५३। २ का० १९, २१। ३ प्र० मी० पृ० ५३। ४ का० १९, २१। ५ पृ० ४९८। ६ पृ० ६४१। ७ पृ० ११३७। ८ पृ० ११४१।

विमलदास और अकलङ्क—विमलदास नाम के एक ग्रन्थकार ने सप्तभंगीतरंगिणी नामक एक सुन्दर प्रवन्ध लिखा है। इस प्रवन्ध की रचना भी अधिकतर अकलङ्कदेव के राजवार्तिक नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित सप्तभंगी का आश्रय लेकर ही की गई है। सप्तभंगी का लक्षण, काल, आत्मा आदि की अपेक्षा से भेदाभेद, स्व और पर का विभाजन, अनेकान्त में छल, संशय आदि दोषों का निराकरण आदि बातें राजवार्तिक से ली गई हैं। लघीयस्त्रय से थोड़े से परिवर्तन के साथ एक कारिका भी उद्धृत की है।

धर्मभूषण और अकलङ्क—धर्मभूषण की न्यायदीपिका भी अकलङ्कन्याय का ही प्रदीपन करती है। 'तदाहुर्वार्तिककारपादाः,' 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये,' 'यद्राजवार्तिकम्' आदि लिखकर स्थान स्थान पर अकलङ्क के प्रकरणों से प्रमाण उद्धृत किये हैं।

यशोविजय और अकलङ्क—उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी अगाध विद्वत्ता से अकलङ्कन्याय को खूब समृद्ध बनाया है। उनके प्रकरणों पर अकलङ्क का काफी प्रभाव है। नयरहस्य में उन्होंने नय के अकलङ्कोक्तलक्षण 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' का उल्लेख किया है। तथा जैनतर्कभाषा में प्रमाणों का विवेचन अकलङ्क के द्वारा स्थापित की गई शैली के अनुसार ही किया है। वैशद्य की परिभाषा भी अकलङ्कोक्त ही ली गई है। निक्षेपों का विवेचन करते हुए लघीयस्त्रय की विवृति से एक वाक्य भी उद्धृत किया है।

अकलङ्क और जैनेतर ग्रन्थकार

पतञ्जलि और अकलङ्क—तत्त्वार्थराजवार्तिक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि की शैली भी अकलङ्क को प्रिय थी। उन्होंने अपने राजवार्तिक में पतञ्जलि के मत की आलोचना करके उसमें अनेकान्त को घटित किया है। साथ ही साथ स्थान स्थान पर महाभाष्य से अनेक उदाहरण और पङ्क्तियां भी ली हैं। यथा—

"न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा—शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते"। महाभा० पृ० २८०

"तद्यथा—कतरद् देवदत्तस्य गृहम्? अदो यत्रासौ काकः, इति उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं भवति।" महा० पृ० २८६।

वसुबन्धु और अकलंक—बौद्धाचार्य वसुबन्धु का प्रभाव तो अकलंक के प्रकरणों पर प्रतीत नहीं होता। इसका कारण है। अकलंक के पूर्वज दिङ्नाग और समकालीन धर्मकीर्ति ने न्यायशास्त्र का बहुत विकास किया था और उनके समय में उसी विकसित रूप का राज्य था। अतः इन दोनों आचार्यों की रचनाओं ने ही अकलंक को विशेषतया प्रभावित किया है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि वसुबन्धु के ग्रन्थों को उन्होंने देखा था। एक दो स्थल पर वसुबन्धु के अभिधर्मकोश से उन्होंने प्रमाण उद्धृत किये हैं।

---

१ सप्तभंगी० पृ० ३१। २ देखो 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके' वार्तिक का व्याख्यान—राज० पृ० २३। और 'इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद्यथालोके', का व्याख्यान—महाभाष्य पृ० २७५-२७७। ३ राजवा० पृ० ३९, २२१।

दिङ्नाग और अकलंक—दिङ्नाग का साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आया है, इसलिये उनका अकलंक के प्रकरणों पर कैसा और कितना प्रभाव है, इसका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति को हृदयङ्गम करते हुए यह संभव प्रतीत नहीं होता कि बौद्धदर्शन के प्रतिष्ठाता महामति दिङ्नाग के प्रभाव से अकलंक का व्यक्तित्व अछूता रहा होगा। दिङ्नाग के प्रमुख ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय से उन्होंने एक कारिका उद्धृत की है[1] और लघीयस्त्रय की विवृति में 'अपरे' करके एक मत का उल्लेख किया है जिसे प्रभाचन्द्र दिङ्नाग का मत बतलाते हैं[2]।

धर्मकीर्ति और अकलंक—इतर दार्शनिकों में से जिसने अकलंक को सब से अधिक प्रभावित किया वह उनका समकालीन बौद्धनैयायिक धर्मकीर्ति था। अकलंक ने धर्मकीर्ति के प्रायः सभी ग्रन्थों का आलोडन किया था और उनकी शैली के आधार पर अपने प्रकरणों की रचना की थी। धर्मकीर्ति के प्रकरणों में प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रमाणवार्तिक तो अभी अभी प्रकाश में आया है किन्तु प्रमाणविनिश्चय के दर्शन का अवसर अभी नहीं आया। मालूम[3] हुआ है कि प्रमाणविनिश्चय की रचना गद्य पद्यात्मक है तथा उसका बहुभाग प्रमाणवार्तिक से लिया गया है। धर्मकीर्ति के इन प्रकरणों के प्रकाश में अकलंक के प्रकरणों का अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि अकलंक का प्रमाणसंग्रह भी गद्यपद्यात्मक है तथा उसकी बहुत सी कारिकाएँ न्यायविनिश्चय से ली गई हैं। 'न्यायविनिश्चय' नाम सुनकर धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का स्मरण हो आता है। प्रमाणविनिश्चय में तीन परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। न्यायविनिश्चय में भी तीन ही परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रमाणवार्तिक के देखने से प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलगान करने के बाद शास्त्र का प्रयोजन बतलाने के लिये एक पद्य देते हैं। अकलंक के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय में भी हम ऐसा ही देखते हैं। न्यायविनिश्चय के परिचय में हम लिख आये हैं कि न्यायविनिश्चय की कुछ कारिकाओं को टीकाकार संग्रहश्लोक और कुछ को अन्तरश्लोक बतलाता है। मुद्रित प्रमाणवार्तिक में भी हम ऐसा ही पाते हैं। न्यायविनिश्चय के टीकाकार की परिभाषा के अनुसार अन्तरश्लोक वृत्ति के मध्यगत होते हैं और संग्रहश्लोकों में वृत्ति में वर्णित मुख्य मुख्य बातों का संग्रह रहता है। तब क्या धर्मकीर्ति ने पूरी प्रमाणवार्तिक पर वृत्ति रची थी ? अभी तक तो यही सुना जाता है कि उन्होंने केवल पहले ही परिच्छेद की वृत्ति बनाई थी और शेष तीन परिच्छेद अपने शिष्य देवेन्द्रबुद्धि को सौंप दिये थे।

धर्मकीर्ति और अकलंक की शैली की इस संक्षिप्त तुलना से पाठक अकलंक पर धर्मकीर्ति के बाहिरी प्रभाव का अनुमान कर सकते हैं। अब आभ्यन्तर प्रभाव को बतलाने का प्रयास करते हैं। नीचे कुछ कारिकाएँ दी जाती हैं जो धर्मकीर्ति के मत के आलोचनार्थ रची गई हैं। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में, अनेकान्त के खण्डन में कुछ कारिकाएँ लिखी हैं। न्यायविनिश्चय में अकलंक ने उन सब का ही मखौल उड़ाया है। धर्मकीर्ति लिखते हैं—

---

१ राजवा० पृ० ३८। २ न्यायकु० च० पृ० ६६। ३ बुद्धिस्ट लॉजिक (चिरविट्स्की)

"एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥ १-१८२ ॥"

इस कारिका में अनेकान्तवादियों के कथन को यत्किञ्चित्, अश्लील, आकुल और प्रलाप बतलाया है। उन्हीं शब्दों में उत्तर देते हुए अकलंक लिखते हैं—

"ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्,
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥१-१७० ॥"

इसे ही कहते हैं जैसे को तैसा। धर्मकीर्ति पुनः लिखते हैं—

"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥ १-१८३ ॥"

अर्थात्—"यदि प्रत्येक वस्तु उभयात्मक है और किसी में कोई वैशिष्ट्य नहीं है तो दही खाने के लिये प्रेरित किया गया मनुष्य ऊँट की ओर क्यों नहीं लपकता है ?"

धर्मकीर्ति के इस आक्षेप को अकलंक असत् उत्तर कहते हैं और इसी से पूर्वपक्ष अनेकान्त को बिना समझे बूझे धर्मकीर्ति ने जो परिहास किया है उसे 'जाति' का उदाहरण बतलाते हुए लिखते हैं—

"तत्र मिथ्योत्तरं जातिर्यथानेकान्तविद्विषाम् ।
दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ॥२०२॥
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ।"

पुनः कहते हैं—

"सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वंद्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥ २०३ ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ? ॥ २०४ ॥" द्वि० प्र०

धर्मकीर्ति लिखते हैं—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ॥ ३-१२३ ॥"

अकलंक कहते हैं—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ॥ १-१४९ ॥"

धर्मकीर्ति लिखते हैं—

"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकास्मिन्नयोगतः ॥ १-९१ ॥"

अकलंक उत्तर देते हैं—

"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात् ॥ १-१२१ ॥"

धर्मकीर्ति दो निग्रहस्थान मानते हैं—असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन। वादन्याय का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

"असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥"

अकलंक इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

"असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥२-२०८॥"

प्रमाणविनिश्चय में धर्मकीर्ति लिखते हैं—

"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।"

अकलंक उसका खण्डन करते हैं—

"सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः ।"

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मकीर्ति के प्रकरणों की अकलंक ने खूब आलोचना की है। क्वचित् कचित् ऐसे स्थल भी दृष्टिगोचर होते हैं जहाँ अकलंक ने धर्मकीर्ति की युक्तियों को अपनाया है। जैसे, जन्मान्तरसिद्धि के प्रकरण में धर्मकीर्ति ने लिखा है—

"अविकृत्य हि यद्वस्तु यः पदार्थो विकार्यते ।
उपादानं न तत्तस्य युक्तं गोगवयादिवत् ॥ ६१ ॥
बुद्धिव्यापारभेदेन निर्ह्रासातिशयावपि ।
प्रज्ञादेर्भवतो देहनिर्ह्रासातिशयैर्विना ॥ ७३ ॥" प्रमा० वा० १ परि० ।

अकलंक भी लिखते हैं—

"प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद् विकृतेरविकारिणी ।
निर्ह्रासातिशयाभावान्निर्ह्रासातिशये धियः ॥ २-७३ ॥"

बौद्ध अवयवी को नहीं मानते। अतः अवयवी का खण्डन करते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है कि यदि कोई एक अवयवी है तो उसके एक देश में कम्पन होने से पूर्ण अवयवी में कम्पन होना चाहिये। एक देश में आवरण होने से पूरा अवयवी आवृत और अनावृत होने से अनावृत होना चाहिये। यथा—

"पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः ।

× × ×

एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ ।
दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः ।"

इन्हीं युक्तियों से अनेकान्त का समर्थन करते हुए अकलंक लिखते हैं—

"एकं चलं चलैर्नान्यैर्नष्टैर्नष्टं न चापरैः ।
आवृतमावृतैर्भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥ २-१०१ ॥"

उक्त तुलना से स्पष्ट है कि अकलंक ने धर्मकीर्ति का अच्छा अध्ययन किया था और उनकी ही शैली के आधार पर अपने प्रकरणों की रचना करके धर्मकीर्ति के प्रायः सभी मुख्य मुख्य मन्तव्यों की आलोचना की थी।

भर्तृहरि और अकलंक—धर्मकीर्ति के ही समय में प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि हो गये हैं। ये शब्दाद्वैतवादी थे। इनका रचा वाक्यपदीय ही इस समय इस मत का मूलग्रन्थ माना जाता है। शब्दाद्वैतवादियों का मत है कि शब्दब्रह्म ही परम तत्त्व है, अविद्यावासना के कारण भेद को प्राप्त होकर वही अर्थरूप में विभाजित होता है। वस्तुतः वाचक से भिन्न वाच्य है ही नहीं। ज्ञान भी शब्दात्मक ही है। जैसा कि लिखा है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ १-१२४॥" वा० प०

अर्थात् "लोक में ऐसा कोई ज्ञान ही नहीं है जो शब्दसंसर्ग के बिना हो सके। सब ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही भासते हैं।"

अकलंक के न्याय का परिचय कराते समय हम लिख आये हैं कि अकलंक ने शब्दसंश्लिष्ट ज्ञान को श्रुत और शब्दसंसर्ग से रहित इन्द्रियज्ञान को मति निर्धारित किया था। किन्तु यह बात आगमिक परम्परा के विरुद्ध थी क्योंकि जैन शास्त्रों में श्रुतज्ञान का सम्बन्ध केवल कर्णेन्द्रिय से ही नहीं बतलाया है बल्कि शेष चार इन्द्रियों से भी बतलाया है। इस लिए आचार्य विद्यानन्द को अकलंक के उक्त मत में आशङ्का प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि अकलङ्क जैसे समन्वयकर्ता से उन्हें यह आशा नहीं हो सकती थी कि वे बिना किसी हेतु के पुरानी व्याख्या में सुधार कर सकते हैं। आशङ्का का समाधान करते हुए अकलंक के वेत्ता विद्यानन्द ने ज्ञानों को दो भागों में विभाजित करने की अकलङ्क की दृष्टि को पहचान ही तो लिया। भर्तृहरि की उक्त कारिका को उद्धृत करके वे लिखते हैं कि 'शब्द संसर्ग के बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता' इस एकान्तवाद का निराकरण करने के लिये ही अकलंक ने ज्ञान के दो विभाग किये थे। उनका कहना था कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ज्ञान शब्दसंश्लिष्ट ही हो, शब्दसंसर्ग के बिना भी ज्ञान होता है।

अन्य वैयाकरणों की तरह भर्तृहरि भी स्फोटवादी थे। स्फोटवादियों का मत है कि क्षणिक होने के कारण ध्वनि से अर्थ का बोध नहीं हो सकता, अतः ध्वनि नित्य शब्दात्मा की अभिव्यक्ति करती है और उससे अर्थबोध होता है। उसी अभिव्यङ्ग्य शब्दात्मा को स्फोट कहते हैं। भर्तृहरि ने इस अभिव्यक्तिवाद में तीन मत बतलाये हैं। यथा—

"इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥ ७९॥"

अर्थात् "कुछ अभिव्यक्तिवादियों का मत है कि ध्वनि इन्द्रियों का ही संस्कार करती है, कुछ का मत है कि शब्द का ही संस्कार करती है, और कुछ का कहना है कि उभय का संस्कार करती है।"

---

१ त० श्लोकवार्तिक पृ० २३९-२४०

स्फोटवाद का खण्डन करते हुए अकलंक ने उक्त तीनों पक्षों की आलोचना की है। और भर्तृहरि ने पृथिवी की गन्ध के लिये उदक और आंख के लिये अंजन का जो दृष्टान्त दिया है उनका भी उल्लेख किया है। तथा एक अन्य प्रकरण में वाक्यपदीय की एक कारिका भी उद्धृत की है।

कुमारिल और अकलंक—कुमारिल के सम्बन्ध में डाक्टर के० बी० पाठक का विशाल अध्ययन था। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई खोजपूर्ण निबन्ध लिखे थे। उनका प्रसिद्ध निबन्ध 'दिगम्बर जैन साहित्य में कुमारिल का स्थान' देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु 'कुमारिल की कारिकाएँ जैन और बौद्ध मत पर आक्रमण करती हैं' तथा 'समन्तभद्र और अकलंक पर कुमारिल के आक्रमण का उल्लेख शान्तरक्षित करता है' शीर्षक उनके अन्य दो लेख हमें पढ़ने को मिले और 'दिगम्बर जैन साहित्य में कुमारिल का स्थान' शीर्षक निबन्ध के कुछ नोट्स भी पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार की कृपा से प्राप्त हो सके, जो उन्होंने अपने दृष्टिकोण से लिये थे। अपने इन लेखों में डाक्टर पाठक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने कटाक्ष किया है, और यतः अकलंक का अवसान कुमारिल से पहले हुआ और कुमारिल उनके बाद भी जीवित रहे, अतः अकलंक को कुमारिल के आक्षेपों के निराकरण करने का अवसर नहीं मिला। अकलंक के पश्चात् उनके शिष्य विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ने यह कार्य किया।

समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की पहली कारिका की विवृति में अकलंक ने लिखा है— "आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन्, नास्मदादयः, तादृशो मायाविष्वपि भावात्, इत्यागमाश्रयः।"

अर्थात्—"आज्ञाप्रधान पुरुष ही देवताओं के आगमन वगैरह को परमात्मपद का चिह्न मान सकते हैं, किन्तु हमारे सरीखे परीक्षाप्रधान इन बातों को परमात्मत्व का चिह्न नहीं मान सकते, क्यों कि ये बातें तो मायाविजनों में भी देखी जाती हैं। अतः देवागमन, आकाश में गमन आदि हेतुओं के आधार पर जिनेन्द्र को परमात्मा कहना आगमसङ्गत हो सकता है, किन्तु युक्तिसंगत नहीं हो सकता।"

उधर जैनों के केवलज्ञान का खण्डन करते हुए कुमारिल लिखते हैं—

"एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥ १४१॥
नर्ते तदागमात्सिध्येन्न च तेनागमो विना।
दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृपु कश्चित् प्रवर्तते॥ १४२॥"

अर्थात्—"कुछ वादियों ने जीव के केवलज्ञान माना है। यह ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा से नहीं होता और सूक्ष्म, अतीत आदि विषयों को जानता है। किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं

---

१ राजवार्तिक पृ० २३१। २ वाक्यपदीय १-८०, ८१। ३ राजवा० पृ० ४०। ४ 'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।' २-२३५। ५ भ० प्रा० वि० की पत्रिका, जिल्द १२, पे० १२३-१३१। ६ भ० प्रा० वि० पत्रिका जि० ११ पे० १५५ से।

है क्यों कि इस प्रकार का ज्ञान आगम प्रमाण से सम्बन्ध रखता है। अतः आगम का प्रामाण्य सिद्ध हो तो उक्त ज्ञान या उसका धारक सर्वज्ञ सिद्ध हो, और सर्वज्ञ सिद्ध हो तो आगम का प्रामाण्य सिद्ध हो। अतः इतरेतराश्रय होने के कारण दोनों में से किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती।"

डाक्टर के० बी० पाठक का कहना है कि अकलंक की उक्त अष्टशती पर ही आक्षेप करते हुए कुमारिल ने इतरेतराश्रय दोष दिया है। अकलंक कहते हैं कि इस प्रकार का स्तवन आगमाश्रय है। उस पर कटाक्ष करते हुए कुमारिल कहते हैं कि केवल इस प्रकार का स्तवन ही आगमाश्रय नहीं है किन्तु किसी को सर्वज्ञ मानना भी आगमाश्रय ही है। डाक्टर पाठक की इस धारणा के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले हम उनका यह भ्रम दूर कर देना आवश्यक समझते हैं कि अकलंक ने इस आक्षेप का उत्तर नहीं दिया। हम पहले लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक को अकलंक के न्यायविनिश्चय को देखने का अवसर नहीं मिला। न्यायविनिश्चय के तीसरे प्रस्ताव में कुमारिल के उक्त आक्षेप का ही समाधान नहीं है किन्तु कुमारिल की उक्त कारिका भी परिवर्तन के साथ मौजूद है। अकलंक लिखते हैं—

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्ध्येन्न च तेन विनागमः॥ २६॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥ २७॥"

अर्थात्—"आगम में उपदिष्ट सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास के बिना केवलज्ञान की सिद्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती और केवलज्ञान के बिना आगम की सिद्धि (निष्पत्ति) नहीं हो सकती, यह बात सत्य है, क्यों कि आगमज्ञान के बल से ही पुरुष में केवलज्ञानादिरूप अतिशय प्रकट होता है और उस अतिशय से आगम का प्रभव होता है। सर्वज्ञ और आगम की सन्तान अनादि है।"

हमें दुःख है कि डाक्टर पाठक अब जीवित नहीं हैं। यदि वे होते और उन्हें अपने भ्रम का पता चलता तो कुमारिलविषयक अपनी खोज में उन्हें स्वयं परिवर्तन करने का अवसर मिल जाता।

डाक्टर पाठक लिखते हैं कि कुमारिल के उक्त आक्षेप का परिहार विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ने किया है। विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ने कुमारिल की सर्वज्ञविरोधी कारिकाओं की खूब आलोचना की है, यह सत्य है। किन्तु कुमारिल के उक्त आक्षेप 'एवं यैः केवलज्ञान' आदि की प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में तो गन्ध तक भी नहीं है। हाँ, विद्यानन्द ने 'ततो यदुपहसनमकारि भट्टेन–एवं यैः केवलज्ञान'' तदपि परिहृतम्' इतना अवश्य लिख दिया है।

श्लोकवार्तिक के जिस प्रकरण में उक्त कारिकाएं मौजूद हैं, उसका पूर्वापर आलोचन करने से मालूम होता है कि कुमारिल ने केवल जैनों की ही सर्वज्ञविषयक मान्यता को आगमाश्रय घोषित नहीं किया, किन्तु उन्होंने बौद्धों की मान्यता को भी 'एवमाद्युच्यमानन्तु श्रद्दधानस्य शोभते' लिखकर श्रद्धापरक ही बतलाया है। उनका तो कहना यह है कि यदि कोई सर्वज्ञ

१ तत्त्वार्थश्लोक० पृ० २५३।

हो, तो भी जनसमूह उसकी सर्वज्ञता की प्रतीति किस प्रकार कर सकता है ? अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि को अशक्य बतलाकर कुमारिल आगम पर आते हैं। आगम के उन्होंने दो भेद किये हैं–एक अनित्यआगम और दूसरा नित्यआगम। अनित्यआगम का प्रत्याख्यान करके नित्यआगम का प्रत्याख्यान किया है। स्पष्टीकरण के लिये यहां कुछ कारिकाएं उद्धृत की जाती हैं—

"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येव तत्काले तु बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥१३४॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव। य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥१३५॥
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति। तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥१३६॥
रागादिरहिते चास्मिन् नुर्व्यापारे व्यवस्थिते। देशनान्यप्रणीतैव स्यादृते प्रत्यवेक्षणात् ॥१३७॥
सान्निध्यमात्रतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव। निस्सरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥१३८॥
एवमाद्युच्यमानन्तु श्रद्दधानस्य शोभते। कुड्यादिनिसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः ॥१३९॥
किन्तु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद्दुरात्मभिः। अदृश्यैर्विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः ॥१४०॥
एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥१४१॥
नर्ते तदागमात्सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना। दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते ॥१४२॥
नित्यागमाववोधोऽपि प्रत्याख्येयोऽनया दिशा। न हि तत्रापि विस्रम्भो दृष्टोऽनेन कृतोऽथवा ॥१४३॥
सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः। यथाद्यत्वे न विस्रम्भस्तथाऽतीतार्थकीर्तने ॥१४४॥"

चोदनासूत्र।

अतः डाक्टर पाठक की यह धारणा भी, कि कुमारिल ने अकलङ्क की अष्टशती के उक्त वाक्य पर आक्रमण किया है, असङ्गत प्रतीत होती है। क्योंकि अष्टशती के उक्त वाक्य और कुमारिल के कटाक्ष का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता, और न उससे वह आशय ही निकलता है जो डाक्टर पाठक निकालना चाहते हैं। अपौरुषेय वेदवाक्य को प्रामाण्य सिद्ध करते हुए कुमारिल सर्वज्ञवादियों के मत की आलोचना करते हैं और उसी सम्बन्ध में जैनों के केवलज्ञान को आगमाश्रित बतलाकर इतरेतराश्रय दोष देते हैं। जैनदर्शन में केवलज्ञान की मान्यता अति प्राचीन है। उसका सम्बन्ध न तो केवल अष्टशतीकार से ही है और न आप्तमीमांसाकार से, अतः उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कुमारिल ने अमुक जैनाचार्य के मत पर आक्रमण किया है। उनका आक्रमण जैनों की सर्वज्ञ की मान्यता के मूल आधारभूत उस केवलज्ञान पर है, जिसका धारक सर्वज्ञ और जैन आगम का सर्जक कहा जाता है।

अकलङ्क ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक को देखा था, इस के समर्थन में एक अन्य भी प्रमाण मिलता है। कुमारिल के उक्त प्रकरण में एक कारिका इस प्रकार है—

"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥ १३२ ॥"

"जिस सर्वज्ञ के सद्भाव का निराकरण करने के लिये प्रमेयत्व आदि हेतु मौजूद हैं उस सर्वज्ञ को कौन स्वीकार करेगा ?"

इसी की प्रतिध्वनि अकलङ्क के निम्न वाक्य से होती है–"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।" अर्थात्–"जहाँ प्रमेयत्व, सत्त्व आदि हेतु प्रकृत हेतु के स्वरूप का पोषण करते हैं, कोई चेतन उसका प्रतिषेध या उसके अस्तित्व में संशय कैसे कर सकता है?"

यद्यपि दोनों वाक्य ऐसी स्थिति में हैं कि यह निश्चय कर सकना अशक्य है कि कौन किसको उत्तर देता है। फिर भी अष्टशती का पर्यवेक्षण करने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि कुमारिल के कथन की प्रकारान्तर से प्रतिध्वनि अकलङ्क के वाक्य में गूँजती है। क्योंकि समन्तभद्र ने सर्वज्ञ की सिद्धि में 'अनुमेयत्व' हेतु दिया था। अकलङ्क ने प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतुओं को जो उसका समर्थक बतलाया है वह अकारण नहीं जान पड़ता। अवश्य ही उनकी दृष्टि में कुमारिल का उक्त वाक्य होगा और उसी का निराकरण करने के लिये उन्हें इन हेतुओं को 'अनुमेयत्व' का पोषक बतलाना पड़ा। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये 'वेदाध्ययनवाच्यत्व' हेतु का उपयोग किया है। अष्टशती में अकलङ्क ने उसका भी खण्डन किया है।

ऐसा मालूम होता है कि श्लोकवार्तिक से अतिरिक्त भी कुमारिल का कोई ग्रन्थ था या है जिसमें सर्वज्ञ का खण्डन किया गया है। क्योंकि सर्वज्ञ के खण्डन में जैन और बौद्ध ग्रन्थकारों ने जो बहुत सी कारिकाएँ उद्धृत की हैं, वे श्लोकवार्तिक में नहीं मिलतीं किन्तु उनकी शैली कुमारिल के जैसी ही है। और कोई कोई उन्हें भट्ट के नाम से उद्धृत करते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में इस प्रकार की अनेक कारिकाएँ हैं। उन कारिकाओं में से पांच कारिकाएँ निम्नप्रकार हैं—

"नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि। साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञान्यूनमेव तत् ॥३२३०॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते। यत्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥३२३१॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्ध्यै सर्वज्ञतोच्यते। न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥३२३२॥
यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा। यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः॥३२३३॥
अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता। सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥३२३४॥"

'तदुक्तं भट्टेन' करके ये कारिकाएँ अष्टसहस्री में भी उद्धृत हैं। स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञता का साधन करते हुए 'कस्यचित्' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् कोई पुरुष सर्वज्ञ है। इसी तरह अकलङ्क ने भी अर्हत् आदि को सर्वज्ञ सिद्ध न करके सामान्यतया ही सर्वज्ञ का साधन किया है। तत्त्वसंग्रह के व्याख्याकार कमलशील ने उक्त कारिकाओं की उत्थानिका में लिखा है–"येऽपि मन्यन्ते–नास्माभिः श्रृङ्गग्राहिकया सर्वज्ञः प्रसाध्यते, किं तर्हि? सामान्येन सम्भवमात्रं प्रसाध्यते–अस्ति कोऽपि सर्वज्ञः, कचिद्वा सर्वज्ञत्वमस्ति, प्रज्ञादीनां प्रकर्षदर्शनात् इति, तान् प्रतीदमाह–'नर' इत्यादि।" इससे स्पष्ट है कि कुमारिल ने उक्त कारिकाएँ न केवल जैनों को लक्ष्य करके लिखी हैं बल्कि समन्तभद्र और संभवतः अकलङ्क को लक्ष्य करके लिखी हैं क्योंकि उन्होंने सर्वज्ञविशेष की सिद्धि न करके सर्वज्ञसामान्य की सिद्धि की थी। डाक्टर

१ अष्टसहस्री पृ० ५८। २ अष्टसहस्री पृ० २३७। ३ देखो–अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषपरीक्षा।
४ पृ० ७५। ५ आप्तमीमांसा का० ५। ६ पृ० ८४१।

पाठक का भी यही मत है। अष्टसहस्रीकार ने इन कारिकाओं को सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष में उद्धृत न करके उस कारिका की व्याख्या में उद्धृत किया है जिसमें अर्हत्[१] को ही सर्वज्ञ बतलाया है, और लिखा है कि भट्ट का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध बोलने के कारण अर्हत् ही सर्वज्ञ प्रमाणित होते हैं।

विद्यानन्द के इस लेख से भी कुमारिल का आक्षेप समन्तभद्र और संभवतः अकलङ्क के भी सामान्य सर्वज्ञसाधन पर ही प्रतीत होता है। यदि इस आक्षेप के भागी अकलङ्क भी हैं, जैसा कि डाक्टर पाठक का मत है, तो कहना होगा कि कुमारिल का वह ग्रन्थ जिसमें उक्त आक्षेप किये हैं श्लोकवार्तिक की रचना के बाद रचा गया था, और उसे अकलङ्क नहीं देख सके थे। यदि यह कल्पना सत्य हो तो डाक्टर पाठक का यह मत, कि कुमारिल अकलङ्क के बाद तक जीवित रहे थे, सङ्गत बैठ जाता है। किन्तु सिद्धिविनिश्चय की सर्वज्ञसिद्धि में आक्षिप्त मन्तव्यों को दृष्टि में रखते हुए हम इसे मानने के लिये तैयार नहीं है। इस लम्बी चर्चा से स्पष्ट है कि कुमारिल और अकलङ्क के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा इतिहास और दर्शनशास्त्र के प्रेमियों के लिये आनन्द की वस्तु है।

अकलंक और शान्तभद्र—मानसप्रत्यक्ष की आलोचना में अकलङ्क ने लिखा है कि बौद्धों के मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। आगे की कारिका में लिखा है–यदि कहा जायेगा कि मानसप्रत्यक्ष के बिना इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ में विकल्प ज्ञान नहीं हो सकता''आदि। अकलङ्क के टीकाकार वादिराज आगे की कारिका में प्रदर्शित उक्त मत को शान्तभद्र का मत बतलाते हैं।[२] अकलङ्क के दूसरे टीकाकार अनन्तवीर्य[३] के लेख से भी ऐसा प्रतीत होता है कि अकलङ्क ने शान्तभद्र का खण्डन किया है। शान्तभद्र नाम के किसी बौद्धाचार्य का उल्लेख राहुल जी के द्वारा संकलित ग्रन्थकारों की सूची में नहीं है और न किसी अन्यस्रोत से ही उनके नाम का परिचय मिलता है। हाँ, डा०कीर्थ ने उनका उल्लेख अवश्य किया है और उन्हें सातवीं शताब्दी का विद्वान् बतलाया है किन्तु उनके किसी ग्रन्थ का परिचय नहीं दिया। यदि सातवीं शताब्दी में शान्तभद्र नाम के कोई आचार्य हुए हैं तो संभव है कि अकलङ्क ने उन्हें भी देखा हो। किन्तु यदि वे उसके बाद में हुए हैं तो यही मानना होगा कि अकलङ्क के टीकाकारों ने कोई बात, जिसका उल्लेख अकलङ्क ने किया था, उनके ग्रन्थों में देखकर उसे शान्तभद्र का मत समझ लिया है। जैसा कि आगे के उल्लेखों से स्पष्ट होगा।

धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर तथा अकलङ्क—अकलंक के टीकाकारों के विवेचन से प्रकट होता है कि धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर के मत का भी अकलङ्क ने खण्डन किया है। धर्मकीर्ति और अकलङ्क का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए हम दिखला आये हैं कि अकलङ्क ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का, खासकर प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय का अच्छा आलोडन किया था और उनके मतों की भी अच्छी आलोचना की थी। धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के प्रकरणों के ख्यातनामा टीकाकार हुए हैं। प्रमाणवार्तिक पर आठ विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं किन्तु उनमें प्रज्ञाकर के वार्तिकालङ्कार ने जो ख्याति पाई वह अन्य किसी को भी प्राप्त न हो सकी। धर्मकीर्ति के परिवार में ये दोनों ही ग्रन्थकार विशेषतया ख्यात हैं।

---

१ आप्तमी० का० ६। २ न्यायविनिश्चयविवरण पृ० ३८८–८९। कारि० १–१५७, १५८। ३ सिद्धिविनिश्चयटीका पृ० १०९ उ०। ४ बुद्धिस्ट लॉजिक। ५ देखो, वादन्याय के परिशिष्ट।

धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय और न्यायविन्दु पर टीका लिखी है। डाक्टर सतीशचंन्द्र विद्याभूषण और डाक्टर[२] कीथ उन्हें नवीं शताब्दी का विद्वान वतलाते हैं। डा० विद्याभूषण का अनुमान है कि वंगाल के राजा वनपाल (ई० ८४७) के समय में धर्मोत्तर हुए हैं। रशियन पंडित चिरविट्स्की (tcherbatsky[३]) लिखते हैं कि ई० ८०० में काश्मीर के राजा जया पीड़ ने धर्मोतर को आमंत्रित किया था ऐसा राजतरंगिणी ४–४९८ से प्रकट होता है। किन्तु राजतरङ्गिणी में उस स्थल पर केवल इतना ही लिखा है कि–"उसने स्वप्न में, पश्चिम दिशा में सूर्य का उदय होता देखा तो उसने समझा कि किसी नैयायिक ने (Master of the law) देश में प्रवेश किया है[४]।" आर. एस. पंडित लिखते हैं कि यह नैयायिक चीनी यात्री ह्यून्त्सांग था।

जैनन्याय के ग्रन्थों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि जैननैयायिकों में धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर की अच्छी ख्याति थी, उन्होंने दोनों की रचनाओं का केवल अच्छा अध्ययन ही नहीं किया था वल्कि वौद्धदर्शन का जो कुछ ज्ञान जैन नैयायिकों ने प्राप्त किया था उसका अधिकतया आधार धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर की रचनाएं ही थीं, यही कारण है कि प्रायः सभी प्रमुख जैननैयायिकों ने अपने ग्रन्थों में दोनों का उल्लेख किया है। 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' शीर्षक निवन्ध में मुनि जिनविजय जी ने लिखा है कि हरिभद्र सूरि ने, जिनका समय वहुत ही प्रामाणिक आधारों पर मुनि जी ने ई० ७०० से ७७० तक सुनिश्चित किया है, धर्मोत्तर का उल्लेख किया है। किन्तु डाक्टर विद्याभूषण वगैरह ने धर्मोत्तर को ९ वीं शताब्दी का विद्वान् माना था, अतः मुनि जी को लिखना पड़ा कि उस धर्मोत्तर से हरिभद्र के द्वारा उल्लिखित धर्मोत्तर कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं। इस मत के समर्थन में मुनि जी ने वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर से एक प्रमाण भी खोज निकाला। पर रत्नाकर के उस प्रमाण का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से पता चलता है कि मुनि जी ने ग्रन्थकार के आशय को समझने में अवश्य ही धोखा खाया है। 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्' सूत्र की व्याख्या में लक्ष्य और लक्षण के विधेयाविधेय की चर्चा का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने 'अत्राह धर्मोत्तरः' करके धर्मोत्तर के मत का निर्देश और उसकी आलोचना की है। यह धर्मोत्तर धर्मकीर्ति का टीकाकार प्रसिद्ध धर्मोत्तर ही है क्यों कि वादिदेवसूरि ने चर्चा के मध्य में उसकी न्यायविनिर्श्चयटीका और न्यायविन्दुवृत्ति का उल्लेख किया है। रत्नाकर पृ० २० पं० ३ से प्रारम्भ होकर पृ० २४ पं० ९ तक धर्मोत्तर की आलोचना करने के वाद ग्रन्थकार लिखते हैं—

"वलदेववलं स्वीयं दर्शयन्ननिदर्शनम्
वृद्धधर्मोत्तरस्यैव भावमत्र न्यरूपयत् ॥ १७ ॥"

---

१ इन्डियन लॉजिक। २ वु० लॉजिक। ३ वुद्धिस्ट लॉजिक। ४ राजतरङ्गिणी का आर. एस्. पंडितकृत अंग्रेजी अनुवाद। ५ पण्डित महाशय का यह लेख प्रामाणिक नहीं जान पड़ता क्योंकि चीनी यात्री ह्यून्त्सांग ई० ६३५ में नालन्दा आया था अतः राजा जयापीड़, जिसका राज्यकाल श्री युत पंडित ने ३१ वर्ष लिखा है और जो ई० ७५१ में गद्दी पर वैठा था, के काल में ह्यून्त्सांग का अस्तित्व संभव नहीं है। ६ "यतो न्यायविनिश्चयटीकायां स्वार्थानुमानस्य लक्षणे···इति पर्युञ्जानः···इति अनुमन्यमानश्चानुमापयसि स्वयमेव लक्ष्यस्यापि विधिम्। स्पष्टमेवाभिदधासि च न्यायविन्दुवृत्तौ···।" प्रमाणविनिश्चय के स्थान में भ्रमवश न्यायविनिश्चय पाठ हो गया जान पड़ता है।

इसके आगे धर्मोत्तर के उक्त मत के समर्थन में एक पूर्वपक्ष प्रारम्भ होता है, जिसका अन्त निम्नलिखित श्लोक के साथ होता है—

"वृद्धसेवाप्रसिद्धोऽपि ब्रुवन्नेवं विशङ्कितः ।
बालवत्स्यादुपालभ्यस्त्रैविद्यविदुषामयम् ॥ १८ ॥"

इस पूर्वपक्ष के कर्ता को ग्रन्थकार वृद्धधर्मोत्तरानुसारी बतलाते हैं। धर्मोत्तर के साथ संभवतः वृद्ध शब्द लगा देखकर ही मुनि जी ने दो धर्मोत्तरों के अस्तित्व की कल्पना की है। किन्तु इस पूर्वपक्ष के प्रारम्भ में और अन्त में उक्त कारिकाओं का देना रहस्य से खाली नहीं है। प्रारम्भ की कारिका में ग्रन्थकार घोषणा करता है कि आगे वाले पक्ष में वृद्धधर्मोत्तर का ही भाव कहा गया है। इस कारिका का पूर्वार्द्ध कुछ अशुद्ध सा प्रतीत होता है और उसका 'बलदेवबलं' पद कुछ खटकता सा है, कारिका को बार बार पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों में ग्रन्थकार ने वृद्धधर्मोत्तर के किसी शिष्य का नाम लिया है, जिसका अगला पूर्वपक्ष है। अन्तिम कारिका में इस पूर्वपक्ष के कर्ता को बाल बतलाकर उसके कथन को उपेक्षणीय दर्शाया है। यदि यह 'बालवत् उपालभ्य' व्यक्ति वही धर्मोत्तर है जिसके मत का उल्लेख करके उक्त चर्चा का प्रारम्भ किया गया है तो उस वृद्धधर्मोत्तर का क्या मत है, जिसका अनुसारी और सेवक इस धर्मोत्तर को कहा जाता है? यदि धर्मोतर नाम के दो व्यक्ति हुए हैं और प्रकृतधर्मोत्तर से वृद्धधर्मोत्तर एक पृथक् व्यक्ति हैं तो ग्रन्थकार उनके इस विषयक मत को अवश्य ही जानता होगा; अन्यथा वह उनके अनुसारी के लिये इतनी तुच्छता के द्योतक शब्दों का प्रयोग न करता। और ऐसी परिस्थिति में वृद्धधर्मोत्तर से चर्चा का प्रारम्भ न कराके उसके एक तुच्छ अनुसारी से चर्चा का प्रारम्भ कराना किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता। ग्रन्थकार ने आगे भी कुछ स्थलों पर धर्मोत्तर का उल्लेख किया है, किन्तु वृद्धधर्मोत्तर का उल्लेख उक्त चर्चा के सिवा अन्यत्र नहीं किया। एक स्थल पर स्या० रत्नाकर में लिखा है—"एतेन यदपि धर्मोत्तरविशेषव्याख्यानकौशलाभिमानी देवबलः प्राह।" इस लेख से स्पष्ट है कि देवबल नाम का कोई विद्वान धर्मोत्तर का कुशल व्याख्याकार हो गया है। लक्ष्य और लक्षण के विधेयाविधेय की उक्त चर्चा में वृद्धधर्मोत्तर के अनुसारी के पूर्वपक्ष का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं और 'बलदेवबलं स्वीयं' आदि कारिका को अशुद्ध बतलाकर उसमें वृद्धधर्मोत्तर के किसी शिष्य के नामनिर्देश का सङ्केत भी कर आये हैं। रत्नाकर के इस उल्लेख से हमारा उक्त मत निर्भ्रान्त प्रमाणित होता है। पूर्वपक्ष की उक्त कारिका में धर्मोत्तर के व्याख्यानकौशलाभिमानी देवबल का ही नाम ग्रन्थकार ने दिया है और आगे का पूर्वपक्ष भी उसी का है। कारिका का 'बलदेवबलं' पद अशुद्ध है उसके स्थान में 'बलं देवबलः स्वीयं' पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इस देवबल को बाल और वृद्धसेवापरायण बतलाकर उसका मखौल करने के लिये ही धर्मोत्तर को वृद्ध लिखा है। अतः प्रसिद्ध धर्मोत्तर ही वृद्धधर्मोत्तर हैं। उनके सिवा धर्मोत्तर नामका कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हुआ है।

हरिभद्र सूरि के द्वारा उल्लिखित धर्मोत्तर प्रसिद्ध धर्मोत्तर से पृथक् व्यक्ति हैं, इस मत के समर्थन में मुनिजी ने दूसरा प्रमाण न्यायबिन्दुटीका के टिप्पणकार मल्लवादी का दिया

१ पृ० ५७५

है। मल्लवादी लिखते हैं कि धर्मोत्तर ने अपनी टीका में विनीतदेव के मत पर आक्षेप किये हैं। और डा० विद्याभूषण ने विनीतदेव का समय ७०० ई० के लगभग निर्धारित किया है अतः हरिभद्र सूरि के धर्मोत्तर कोई प्रथक् व्यक्ति हैं। रशियन विद्वान् चिरविट्स्की ने भी मल्लवादी के उल्लेख को प्रमाण मानकर विनीतदेव को धर्मोत्तर का पूर्वज बतलाया है। किन्तु खोज से पता चला है कि धर्मोत्तर के द्वारा आक्षिप्त मन्तव्य विनीतदेव के नहीं हैं किन्तु किसी दूसरे ग्रन्थकार के हैं। बौद्धभिक्षु राहुलजी ने तिब्बतदेशीय प्रमाणों के आधार पर बौद्ध ग्रन्थकारों की जो तालिका प्रकाशित की है तथा उनका समय निर्दिष्ट किया है, उसमें भी धर्मोत्तर नाम के दो व्यक्तियों का सङ्केत तक नहीं है। तथा धर्मोत्तर का समय ७२५ ई० और विनीतदेव का ७५० ई० लिखा है। अतः टीकाटिप्पणकारों के निर्देशों को सर्वथा निर्भ्रान्त समझकर प्रमाण मान लेना किसी भी तरह उचित नहीं है, और विशेषतया उस दशा में, जब मूलकार और टीका-टिप्पणकार के समय में शताब्दियों का अन्तराल हो। भारत में ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन की पद्धति का चलन न होने के कारण टीकाकार जिस उपलब्ध ग्रन्थ में मूलकार के द्वारा आक्षिप्त मत का सङ्केत पाते थे उसी के रचयिता का वह मत मान लेते थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण न होने के कारण संभवतः वे इस बात की खोज न करते थे कि वही मत उपलब्ध ग्रन्थ के पूर्ववर्ती किसी अन्य ग्रन्थ में तो नहीं है? अकलंक के टीकाकारों को भी संभवतः इसी प्रकार का भ्रम हुआ है और उन्होंने अकलंक के द्वारा धर्मोत्तर का खण्डन करा दिया है। हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि धर्मोत्तर नाम के दो व्यक्ति नहीं हुए और हरिभद्रसूरि (७००–७७० ई०) के द्वारा उल्लिखित धर्मोत्तर ही प्रसिद्ध धर्मोत्तर हैं। अतः ७०० ई० से ७८० ई० तक उनका समय मान लेने पर हरिभद्र के द्वारा उनका उल्लेख तथा तिब्बतीय प्रमाण ठीक ठीक घटित हो जाते हैं। तथा यह समय चिरविट्स्की महोदय के लेख के भी अनुकूल बैठ सकता है। क्योंकि काश्मीर नरेश जयापीड़ ने ७५१ ई० में राजपद प्राप्त किया था, अतः उसके द्वारा धर्मोत्तर का निमंत्रित किया जाना सर्वथा संभव है।

प्रज्ञाकर—धर्मोत्तर की तरह प्रज्ञाकर का समय भी अभी तक सुनिश्चित नहीं हो सका है। डा० विद्याभूषण उन्हें १० वीं शताब्दी का विद्वान् बताते हैं, और रशियन पंडित चिरविट्स्की उनके बारे में कोई निर्णय नहीं कर सके हैं। जैनाचार्य विद्यानन्द ने प्रज्ञाकर का उल्लेख किया है। और डा० विद्याभूषण उन्हें नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान् बताते हैं। इस कारण वे लिखते हैं कि यह प्रज्ञाकर बौद्धनैयायिक प्रज्ञाकर गुप्त से जुदा प्रतीत होता है। किन्तु हमें तो विद्याभूषणजी की उक्त संभावना मुनि जिनविजयजी की धर्मोत्तरविषयक कल्पना जैसी ही प्रतीत होती है। हम ऊपर लिख आये हैं कि जैन नैयायिकों ने प्रज्ञाकर को खूब देखा था और वह प्रज्ञाकर वार्तिकालङ्कार का रचयिता प्रसिद्ध प्रज्ञाकर गुप्त ही था। वार्तिकालङ्कार के प्रकाश में आ जाने पर, इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला जा सकेगा। राहुलजी के संग्रह में भी प्रज्ञाकर नाम के एक ही व्यक्ति का उल्लेख है जो वार्तिकालंकार के रचयिता

---

१ देखो, वादन्याय के परिशिष्ट। २ हिस्ट्री आफ़ दी मिडियावल स्कूल ऑफ इन्डियन लॉजिक पृ० १३५। ३ बुद्धिस्ट लॉजिक। ४ अष्टसहस्री पृ० २१। ५ हिस्ट्री आफ़ दी मिडियावल स्कूल आफ इन्डियन लॉजिक पृ० २८।

हैं। तिब्बतदेशीय उल्लेखों के आधार पर राहुलजी ने उनका समय ७०० ई० लिखा है जो जैनाचार्यों के उल्लेखों से भी प्रमाणित होता है। मुनि कल्याणविजयजी के द्वारा लिखित हरिभद्रसूरि के धर्मसंग्रहणी नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना हमारे सन्मुख है। उसमें धर्मसंग्रहणी में उल्लिखित ऐतिहासिक पुरुषों की नामावली में प्रज्ञाकर का नाम दिया है। हरिभद्र का सुनिश्चित समय (७०० से ७७० ई०) हम ऊपर लिख आये हैं। अतः राहुलजी द्वारा आविष्कृत समय हमें उचित जान पड़ता है और इस लिये प्रज्ञाकर को धर्मोत्तर का गुरुसमकालीन मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

अर्चट—अनन्तवीर्य के उल्लेख से प्रकट होता है कि धर्मकीर्ति के टीकाकार अर्चट का भी अकलंक ने खण्डन किया है। विद्याभूषण लिखते हैं कि न्यायावतार की विवृति से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्चट ने धर्मोत्तर का खण्डन किया है। राहुलजी ने भी अर्चट का समय धर्मोत्तर के बाद ८२५ ई० बतलाया है। अतः अर्चट को ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ का विद्वान् मानना होगा।

इस प्रकार प्रज्ञाकर का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, धर्मोत्तर का मध्य और अर्चट का समय ९वीं का प्रारम्भ प्रमाणित होता है। इस पर से हम कह सकते हैं कि टीकाकारों ने अकलंक के द्वारा जो उक्त ग्रन्थकारों का खण्डन कराया है वह इतिहासविरुद्ध है जैसा कि अकलंक के समयनिर्णय से ज्ञात हो सकेगा। हम लिख आये हैं कि दार्शनिकों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का ध्यान रखते हुए अनुशीलन करने की पद्धति का प्रचार न था। तथा इसकी पुष्टि में धर्मोत्तर के टिप्पणकार मल्लवादी का उदाहरण भी दे आये हैं। दूसरा उदाहरण और लीजिये। हम लिख आये हैं कि 'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात्' धर्मकीर्ति के 'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः' का ही उत्तर है। किन्तु न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराज इसे व्याससूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' का उत्तर बतलाते हैं। यद्यपि अकलंक के उक्त कारिकार्ध को व्याससूत्र के विरोध में भी उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र में भी एक वस्तु में अनेक धर्मों की स्थिति को असंभव बतलाया है। किन्तु धर्मकीर्ति के कारिकार्ध के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः वादिराज का लेख निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर और अर्चट का अकलंक के ग्रन्थों में खण्डन होने का जो उल्लेख टीकाकारों ने किया है वह तब तक निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता जब तक उक्त तीनों बौद्ध विद्वानों को धर्मकीर्ति के साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त न हो।

---

१ धर्मसंग्रहणी का पूर्व भाग उपलब्ध नहीं हो सका इसलिये हम इसका निर्णय नहीं कर सके कि प्रज्ञाकर का उल्लेख मूल में है या मलयगिरि की टीका में है? क्योंकि शीर्षक में 'सटीकायां धर्मसंग्रहणी' लिखा है। किन्तु स्थलनिर्देश में सर्वत्र गाथानम्बर और उसकी १ या २ पंक्ति का ही निर्देश किया है। जैसे प्रज्ञाकर के आगे ४०३-२, ४४०-२ लिखा है। इस पर से हम इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि हरिभद्र ने स्वयं प्रज्ञाकरगुप्त का उल्लेख किया है। २ वादन्याय का परिशिष्ट। ३ हिस्ट्री आफ दी मिडियावल स्कूल आफ इन्डियन लाजि० पृ० १३३। ४ व्याससूत्र बहुत प्राचीन है, अतः अकलंक के वचनों के द्वारा उसका खण्डन कराने में समयक्रम में कोई गड़बड़ी उपस्थित नहीं होती। किन्तु यहां केवल यही बतलाना है कि टीकाकार एक ही विचार को किसी का भी विरोधी देखकर उसका ही विरोधी लिख देते थे। पौर्वापर्य का विशेष ध्यान नहीं रखते थे। या रखने पर भी भ्रमवश ऐसा हो जाता था।

शंकराचार्य और अकलंक—बौद्धों के विभिन्न मतों की आलोचना करने के बाद अकलंक ने न्यायविनिश्चय के प्रथम प्रस्ताव का उपसंहार करते हुए '*ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च*' इत्यादि श्लोक लिखा है[1]। शांकरभाष्य में भी हम बिल्कुल इसी आशय की दिग्दर्शक पंक्तियाँ पाते हैं। यथा—"केषाञ्चित् किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता। नासौ सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एव अभिप्रेतः।······अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वम्।"[2]

शांकरभाष्य का परिशीलन करने से कुछ अन्य भी ऐसे स्थल मिलते हैं जिनमें अकलंक की लेखनी प्रतिबिम्बित सी प्रतीत होती है। शंकराचार्य ने जैनमत का जो निर्देश किया है वह भी तत्त्वार्थसूत्र की किसी टीका से लिया गया जान पड़ता है, क्योंकि उसमें सात तत्त्व, पञ्च अस्तिकाय, और उनके फल सम्यग्दर्शन का निर्देश किया है। संभव है ये सब बातें अकलंक के राजवार्तिक से ली गई हों, क्योंकि उक्त सब बातों के साथ साथ सप्तभंगी का विवेचन उसी में मिलता है। यदि हमारी संभावना सत्य है तो कहना होगा कि शंकराचार्य ने अकलंक के प्रकरणों का विहङ्गावलोकन किया था।

वाचस्पति और अकलंक—ब्राह्मण विद्वानों में वाचस्पति नाम के एक प्रकाण्ड विद्वान् हो गये हैं। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर 'भामती' नाम की इनकी टीका सर्वविश्रुत है। इस टीका में इन्होंने एक स्थल पर 'यथाहुः' करके निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है[3]—'नहीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं संनिहितविषयबलेनोत्पत्तेः अविचारकत्वात्।" अकलंकदेव के लघीयस्त्रय की विवृति में यह वाक्य निम्न प्रकार से पाया जाता है—"न हि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद् धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्।" यद्यपि दोनों वाक्यों में कुछ अन्तर पड़ गया है फिर भी दोनों की साम्यता स्पष्ट है। वाचस्पति ने समन्तभद्र के आप्तमीमांसा नामक प्रकरण से दो कारिकाएँ[4][5] उद्धृत की हैं[6]। अतः उन्होंने आप्तमीमांसा की विवृति अष्टशती भी अवश्य देखी होगी, क्योंकि वाचस्पति और अकलंक के बीच में दो शताब्दियों का अन्तराल है।

अकलङ्कदेव का समय

हम लिख आये हैं कि कथाकोश में अकलङ्क को मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के मंत्री का पुत्र लिखा है। राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में कृष्णराज प्रथम की उपाधि शुभतुङ्ग कही जाती है। किन्तु उसके समय में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट नहीं थी। अस्तु, मुख्यतया इसी आधार पर डा० के० बी० पाठक ने अकलङ्क को कृष्णराज प्रथम का समकालीन घोषित किया था। डा० विद्याभूषण ने भी डा० पाठक के उक्त मत का अनुसरण करते हुए, अकलङ्क का समय ई० ७५० के लगभग निर्धारित किया था[7]। उसके बाद पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'भट्टाकलङ्क' शीर्षक से एक विस्तृत निबन्ध लिखा था[8] और उसमें उक्त दोनों विद्वानों के मत को

१ 'धर्मकीर्ति और अकलंक' शीर्षक में यह श्लोक लिख आये हैं। २ पृ० ४७९। ३ भामती पृ० ७६६। ४ का० ३-२। ५ का० १०३-१०४। ६ भामती पृ० ४८२। ७ हिस्ट्री आफ दी मिडियावल स्कूल ऑफ इन्डियन लॉजिक, पृ० २६। ८ जैनहितैषी भाग ११, अंक ७-८।

प्रमाण मानकर अकलङ्क का समय विक्रम सं० ८१० से ८३२ तक (ई० ७५३ से ७७५ तक) बतलाया था। कुछ वर्षों के पश्चात् डाक्टर पाठक ने अपने उक्त मत में थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया, उन्होंने अकलङ्क को राष्ट्रकूटराजा शुभतुङ्ग के स्थान में उसके भतीजे राजा साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग का समकालीन माना। इस मतपरिवर्तन का कारण उन्होंने नहीं बतलाया। हम मल्लिषेणप्रशस्ति के कुछ श्लोक उद्धृत कर चुके हैं, जिनमें से एक श्लोक में साहसतुङ्ग राजा का नाम आता है। संभवतः कथाकोश के उल्लेख की अपेक्षा प्रशस्ति के उल्लेख को विशेष प्रामाणिक मानकर ही उक्त मतपरिवर्तन किया गया था। किन्तु उससे अकलङ्क के निर्धारित समय में विशेष अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि राजा कृष्णराज, राजा दन्तिदुर्ग का उत्तराधिकारी था और दन्तिदुर्ग की मृत्यु के पश्चात् वि० सं० ८१७ (ई० ७६०) के लगभग राज्यासन पर बैठा था। दन्तिदुर्ग का राज्यकाल वि० सं० ८०१ से ८१६ तक (ई० ७४४ से ७५९) बतलाया जाता है, अतः डाक्टर पाठक के मत से अकलङ्क का भी यही समय समझना चाहिये।

इस प्रकार डाक्टर के० बी० पाठक ने अकलङ्क का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का मध्यकाल निर्धारित किया और एक दो के सिवाय सभी उत्तरकालीन लेखकों ने न केवल उसे स्वीकार ही किया किन्तु उसके समर्थन में बहुत से हेतु भी सङ्कलित कर डाले। किन्तु आगे के विवेचन से प्रतीत होगा कि वे हेतु प्रकृत पक्ष का समर्थन करने में न केवल अशक्त ही हैं किन्तु उसके विरुद्ध भी हैं।

प्रकृतपक्ष के समर्थन में जो हेतु दिये जाते हैं, संक्षेप में वे निम्नप्रकार हैं—

१ स्वर्गीय भण्डारकर ने लिखा है कि जिनसेनाचार्य ने अपने हरिवंशपुराण में सिद्धसेन, अकलंक आदि का उल्लेख किया है। हरिवंशपुराण के देखने से पहिले सर्ग का ३१ वां और ३९ वां श्लोक ऐसे मिलते हैं जिनसे प्रकारान्तर रूप में अकलंक का उल्लेख हुआ कहा जा सकता है। ३१ वें श्लोक में लिखा है कि इन्द्र, चन्द्र, अर्क, जैनेन्द्र व्याकरणों से अत्यन्त शुद्ध देवसंघ के देव की वाणी नियम से वन्दनीय है। अकलंकदेव का उल्लेख केवल देव नाम से हुआ मिलता है और वे देवसंघ के आचार्य भी थे। अतः यह माना जा सकता है कि हरिवंशपुराण के कर्ता ने इस श्लोक द्वारा श्री अकलंकदेव का स्मरण किया है। ३९ वें श्लोक में श्री वीरसेनाचार्य की कीर्ति को अकलंक कहा गया है। इस प्रकार यदि यह माना जाये कि उक्त श्लोकों में अकलंक का उल्लेख हुआ है, तो कहना होगा कि हरिवंशपुराण की रचना के समय अर्थात् वि० सं० ८४० (ई० ७८३) में अथवा उससे पहले अकलंक देव विद्यमान थे।

२ हरिवंशपुराण वि० सं० ८४० में बना है। उसमें कुमारसेन का उल्लेख है। इन्हीं कुमारसेन का उल्लेख विद्यानन्द स्वामी ने अपनी अष्टसहस्री के अन्त में किया है। लिखा है कि उनकी सहायता से हमारा यह ग्रन्थ वृद्धि को प्राप्त हुआ। अकलंकदेव विद्यानन्द से पहले

१ भा० विद्या० मं० पू० की पत्रिका जिल्द ११, पे० १५५ पर मुद्रित "शान्तरक्षितास् रिफ्रेन्सेस् टु कुमारिलास् अटैक्स ओन समन्तभद्र एन्ड अकलङ्क।" २ जैनहितैषी भा० ११, अंक ७,८ तथा जै० सि० भास्कर भा० ३, किरण ४ में प्रकाशित 'भट्टाकलंक' शीर्षक निवन्धों से ये हेतु संकलित किये गये हैं। ३ R. G. Bhandarkar's, Principal Results of My last Two years Studies in Sanskrit M. Ss. list (1889) पे० ३१। ४ "इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न वन्दते गिरः कथम्।" ५ 'वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते।'

हैं, क्योंकि उनके अष्टशती भाष्य पर ही अष्टसहस्री लिखी गई है। इससे भी ज्ञात होता है कि अकलंकदेव संवत् ८४० के पहले हो गये हैं। आश्चर्य नहीं कि हरिवंश की रचना के समय उनका अस्तित्व न हो।

३ धर्मकीर्ति ने 'त्रिलक्षण हेतु' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। अकलंक की अष्टशती में उसका खण्डन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति के बाद अकलंकदेव हुए हैं। धर्मकीर्ति का समय ईस्वी सातवीं शताब्दी का पूर्व भाग माना जाता है। अंतः उसके बाद आठवीं शताब्दी में अकलंकदेव का अस्तित्व मानना उचित है

४ 'दिगम्बर जैन साहित्य में कुमारिल का स्थान' नामक लेख में यह सिद्ध किया गया है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने कटाक्ष किये हैं। और कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे। यही कारण है कि अकलंक, अष्टशती पर किये गये आक्षेप का उत्तर नहीं दे सके थे। कुमारिलभट्ट का समय वि० सं० ७५७ से ८१७ (ई० ७०० से ७६०) तक निश्चित है अत एव अकलंक का समय भी करीब करीब यही हो सकता है।

५ अकलङ्कचरित नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि शक सं ७०० में अकलङ्कयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था। इससे सिद्ध है कि शक सं० ७०० (ई० ७७८, अथवा वि० सं० ८३५) में अकलङ्क विद्यमान थे।

आलोचना

१ दिगम्बर जैन परम्परा में दो जैनाचार्य, पूज्यपाददेवनन्दि और अकलङ्कदेव, 'देव' नाम से ख्यात हैं। संभवतः डा० भण्डारकार को (यदि उन्होंने हरिवंश पुराण के ३१ वें श्लोक में आगत 'देव' शब्द से अकलङ्कदेव का ग्रहण किया है तो) यह बात ज्ञात न थी इसी से उन्होंने हरिवंशपुराण में आगत 'देव' शब्द से अकलङ्क का ग्रहण किया है। किन्तु 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण से यह बात स्पष्ट होजाती है कि वे 'देव' इन्द्र, चन्द्र आदि समस्त व्याकरणों के पारगामी थे, अतः इस विशेषण के आधार पर, 'देव' शब्द से जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दि का ही स्मरण किया गया है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। आदिपुराणकार तथा वादिराज ने–जिन्होंने अकलङ्कदेव का भी स्मरण किया है—इनका इसी संक्षिप्त नाम से स्मरण किया है। यथा—

"कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरांस्तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥५२॥" आ० पु० प्र० पर्व
"अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥" पार्श्व० च० १-१८।

हरिवंशपुराण के पश्चात् आदिपुराण की रचना हुई है और हरिवंशपुराण की तरह आदिपुराणकार ने भी 'देव' की वाणी की ही प्रशंसा की है। तथा हरिवंशपुराण में 'देव' के पश्चात् ही वज्रसूरि का स्मरण किया गया है जो देवनन्दि के शिष्य थे और जिनका पूरा नाम वज्रनन्दि था। अतः जिस प्रकार वज्रनन्दि का नन्दि पद छोड़कर केवल 'वज्र' नाम ग्रहण किया है उसी प्रकार देवनन्दि का नन्दि पद छोड़कर केवल देव शब्द से ही उल्लेख किया है। अतः हरिवंशपुराण के ३१ वें श्लोक में देवनन्दिका ही स्मरण किया गया है। किन्तु

इसमें एक बाधक है और वह है श्लोक में आगत 'देवसंघस्य' पद। देवनन्दि नन्दिसंघ के आचार्य थे और अकलङ्क देवसंघ के। यद्यपि अकलङ्क ने अपने संघ आदि का कहीं उल्लेख नहीं किया और श्रवणबेलगोलों के एक शिलालेख में अकलङ्कदेव के बाद संघभेद होने का उल्लेख है, तथापि परम्परा से ऐसा ही सुना जाता है। परन्तु हरिवंशपुराण की अन्य प्रतियों में इस पद के स्थान में दो पाठान्तर पाये जाते हैं और उनसे इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। एक प्रति में 'देववन्द्यस्य' पाठ है और दूसरी में 'देवनन्दस्य'। दूसरा पाठ यद्यपि शुद्ध प्रतीत नहीं होता तथापि उससे इतना पता चलता है कि पूर्वज विद्वान भी 'देव' पद से 'देवनन्दि' का ही ग्रहण करते थे और उसी का फल 'देवनन्दस्य' पाठ है। प्रथम पाठ शुद्ध है और 'देवसंघस्य' के स्थान में वही उपयुक्त प्रतीत होता है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भी 'देववन्द्यस्य' पाठ ही रखा है। अतः हरिवंशपुराण के ३१ वें श्लोक में देवनन्दि का ही स्मरण किया गया है।

३९ वें श्लोक में यद्यपि वीरनन्दि की कीर्ति को 'अकलङ्का' बतलाया है किन्तु अकलङ्क जैसे महान् वाग्मी का इस प्रकार उल्लेख किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता। अतः हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हरिवंशपुराणकार ने अकलङ्कदेव का स्मरण नहीं किया। किन्तु उनके स्मरण करने या न करने से प्रकृत मन्तव्य की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि स्मरण करने से केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि अकलङ्क वि० सं० ८४० से पहले हो गये हैं, जो हमें भी इष्ट है। और न करने से यही कहा जा सकता है कि अकलंक हरिवंशपुराण की रचना के बाद में हुए हैं। किन्तु अकलंक को राजा कृष्णराज या दन्तिदुर्ग का समकालीन मानने वालों को भी यह अभीष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह निष्कर्ष उनके मत के विरुद्ध जाता है। अतः प्रथम हेतु निस्सार है और यदि वह सारवान् हो भी तो उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि अकलंक हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए हैं, जो हमें अभीष्ट ही है।

२ दूसरे हेतु से भी केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अकलंक हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए हैं और इसमें किसी को भी विवाद नहीं है।

३ धर्मकीर्ति से अकलंक की तुलना करते हुए हम बतला आये हैं कि अकलंक ने धर्मकीर्ति के प्रकरणों को न केवल देखा ही है किन्तु उनके अनेक मन्तव्यों का उन्हीं के शब्दों में खण्डन किया है और उनके कुछ अंश भी उद्धृत किये हैं। अतः इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि अकलंक ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया है। किन्तु इससे धर्मकीर्ति और अकलंक के बीच में एक शताब्दी का अन्तराल नहीं माना जा सकता, दो समकालीन ग्रन्थकार भी—यदि उनमें से एक वृद्ध हो और दूसरा युवा तो—एक दूसरे का खण्डन मण्डन कर सकते हैं। इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। अतः धर्मकीर्ति का खण्डन करने के कारण अकलंक को उससे एक शताब्दी बाद का विद्वान नहीं माना जा सकता।

३ ऊपर लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक ने पहले अकलंक को शुभतुंग का समकालीन घोषित किया था, बाद को साहसतुंग का समकालीन मानकर अपने मत में परिवर्तन कर डाला, और वहीं उसका कारण भी बतला आये हैं। किन्तु उक्त कारण के सिवाय इस मतपरिवर्तन

---

१ जै० शिला० सं० पृ० २१२। २ हरिवंशपुराण (मा० ग्र० मा०) पृ० ४। ३ 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दि' शीर्षक लेख, जैन सा० संशो० भाग १, अंक १।

का एक अन्य कारण भी दृष्टिगोचर होता है, जो पहले की अपेक्षा विशेष प्रबल प्रतीत होता है। अकलंक और कुमारिल का पारस्परिक सम्बन्ध निर्णय करने के बाद डाक्टर पाठक इस परिणाम पर पहुंचे कि समकालीन होने पर भी कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे और कुमारिल का समय ई० ७०० से ७६० तक निर्णीत किया गया था। अतः यदि अकलंक को शुभतुंग कृष्णराज का समकालीन बतलाया जाता तो अकलंक कुमारिल के बाद तक जीवित प्रमाणित होते थे, क्योंकि शुभतुंग नरेश वि० सं० ८१७ (ई० ७६०) में राज्याधिकारी हुए थे। संभवतः इसलिये डाक्टर पाठक ने उन्हें शुभतुंग के पूर्वाधिकारी दन्तिदुर्ग का समकालीन मानना उचित समझा।

कुमारिल और अकलंक की विवेचना में हम डाक्टर पाठक के मत को भ्रान्त सिद्ध कर आये हैं और बतला आये हैं कि कुमारिल की जिन कारिकाओं को डा० पाठक अष्टशती पर कटाक्ष करनेवाली बतलाते हैं उनका उत्तर अकलंक ने अपने न्यायविनिश्चय में दे दिया है। किन्तु, कुमारिल के नाम से उद्धृत कुछ कारिकाएं ऐसी पाई जाती हैं जो श्लोकवार्तिक में नहीं मिलतीं और जिनका उत्तर अकलंक के उत्तरकालीन अनुयायियों ने दिया है। संभव है वे कारिकाएं कुमारिल के जिस ग्रन्थ की हैं उसे अकलंक ने न देखा हो और इसलिये डाक्टर पाठक के मतानुसार कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे हों। किन्तु समकालीन होने पर भी हमें अकलंक की अपेक्षा कुमारिल ही ज्येष्ठ प्रतीत होते हैं। जैसा कि आगे के विवेचन से ज्ञात हो सकेगा। असत्य ऐतिहासिक शृंखला के आधार पर डाक्टर पाठक ने कुमारिल और अकलंक को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ला रक्खा है, किन्तु उनका यह मत सर्वथा भ्रान्त है। ऐतिहासिक पर्यालोचन से कुमारिल और अकलंक दोनों ही ईस्वी सातवीं शताब्दी के विद्वान प्रमाणित होते हैं।

हम लिख चुके हैं कि मुनि जिनविजय जी ने अनेक सुनिश्चित प्रमाणों के आधार पर हरिभद्रसूरि का समय ई० ७०० से ७७० तक निर्णीत किया है। हरिभद्रसूरि ने कुमारिल का उल्लेख किया है। इस उल्लेख के आधार पर कुमारिल को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उठाकर कम से कम उसके पूर्वार्ध में तो लाना ही होगा। किन्तु यह बला इतने से ही दूर नहीं हो जाती, क्योंकि हरिभद्र ने बौद्ध विद्वान शान्तरक्षित का भी उल्लेख किया है। और शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ कुमारिल की कारिकाओं से भरा पड़ा है। शान्तरक्षित की आयु सौ वर्ष के लगभग थी और प्रायः ७८० ई० में, तिब्बत में उनका देहावसान हुआ था। इस उल्लेख के आधार पर कुमारिल ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से उठकर

---

१ भाण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर की पत्रिका, जिल्द ११, पे० १४९ पर मुद्रित 'समन्तभद्र का समय' शीर्षक लेख। २ देखो, राहुलजी लिखित 'तिब्बत में बौद्धधर्म' पृ०१२। वादन्याय के परिशिष्टों में, राहुलजी ने शान्तरक्षित का समय ई० ७४० से ८४० तक लिखा है, किन्तु वह ठीक नहीं जंचता, क्योंकि ७४० ई० में शान्तरक्षित का जन्म मानने से हरिभद्रसूरि के द्वारा उनका उल्लेख किया जाना सङ्गत प्रतीत नहीं होता। तथा शान्तरक्षित और उसके साक्षात् शिष्य तथा टीकाकार कमलशील ने न धर्मोत्तर का ही उल्लेख किया है और न प्रज्ञाकर का। जब धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् हैं तो आठवीं के उत्तरार्द्ध और ९ वीं के पूर्वार्द्ध के विद्वानों के द्वारा उनका उल्लेख किया जाना आवश्यक था। अतः यही प्रतीत होता है कि तत्त्वसंग्रह की रचना धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर के साहित्यिक अभ्युदय होने से पहले ही हो गई थी।

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आ जाते हैं। यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह है कि तत्त्वसंग्रह में केवल कुमारिल का ही उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु उनके साक्षात् शिष्य उम्बेयक उपनाम भवभूति का भी उल्लेख मिलता है। अतः इन उल्लेखों के आधार पर कुमारिल ईसा की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान सिद्ध होते हैं। अतः डाक्टर पाठक के मत में एक शताब्दी की भूल तो स्पष्ट ही है। किन्तु धर्मकीर्ति और अकलंक के साथ कुमारिल की आलोचना करने पर उसमें लगभग आधी शताब्दी की वृद्धि और भी हो सकती है जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। इस प्रकार तीसरे हेतु में दर्शित अकलंक और कुमारिल का संबन्ध तथा कुमारिल का समय बिल्कुल मिथ्या है और उसके आधार पर अकलंक को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता।

५ अकलंकचरित के जिस श्लोक में अकलंक का बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ होने का समय दिया है वह निम्न प्रकार है—

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।

कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥"

इस श्लोक में 'विक्रमार्कशक' सम्वत् का उल्लेख किया है। भारतीय इतिहास में विक्रम-सम्वत् और शकसम्वत् अति प्रसिद्ध हैं। विक्रम सम्वत् के प्रचलितकर्ता विक्रम राजा के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ जन अभी तक भी एकमत नहीं हैं। जैनकालगणना के अनुसार गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को हराकर अपने पिता का राज्य पुनः विजय किया था और इस विजय के उपलक्ष में विक्रम संवत् की नींव डाली थी। संम्भवतः इसी कारण से विक्रमसम्वत् का उल्लेख 'विक्रमार्कशक' नाम से किया गया है। शकसम्वत् के लिये इस प्रकार का उल्लेख हमारे देखने में नही आया। 'इन्सक्रिपशन्स् एट श्रवणबेलगोला' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में आर० नरसिंहाचार्य ने उक्त श्लोक उद्धृत किया है और उसका अर्थ विक्रम संवत् ७०० ही किया है। तथा अकलंक के समय की विवेचना में हम आगे जो प्रमाण उपस्थित करेंगे उनके आधार पर भी अकलंक के बौद्धों से शास्त्रार्थ करने का काल विक्रम सम्वत् ७०० (ई० ६४३) ही उचित प्रतीत होता है। अतः अकलंकचरित से भी अकलंक का समय ईसा की आठवीं शताब्दी के बदले सातवीं शताब्दी ही प्रमाणित होता है।

इस प्रकार अकलंक को राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराजप्रथम का समकालीन प्रमाणित करने के लिये जो हेतु दिये जाते हैं, वे सब लचर हैं और उनसे अकलंक का समय ईसा की सातवीं शताब्दी ही प्रमाणित होता है। अब शेष रह जाता है मल्लिषेण प्रशस्ति के श्लोक में साहसतुंग नरेश का नाम। यह साहसतुंग कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रशस्ति आदि में नहीं है। दन्तिदुर्ग की उपाधि साहसतुंग कही जाती है किन्तु उसमें भी इतिहासज्ञों का मतैक्य नहीं है। लेविस राइस साहसतुंग के पहचानने में अपने को असमर्थ बतलाते हैं। अतः केवल 'साहसतुंग' नाम के आधार पर दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम के साथ अकलंक का गठबन्धन नहीं किया जा सकता। कर्नाटक शब्दानुशासन की प्रस्तावना में राईस सा० ने लिखा है कि जैन परम्परा के अनुसार ई० ८५५ में, काञ्ची में अकलंक ने बौद्धों को परास्त किया था। पता नहीं, राईस

१ देखो 'दिगम्बर जैन' वर्ष २६, अंक १-२ में प्रकाशित 'भगवान महावीर का समय' शीर्षक लेख।

सा० ने इस जैनपरम्परा का आविष्कार कहां से किया जो अकलंक को नवीं शताब्दी में ला रखती है। इस प्रकार की दन्तकथाओं और उल्लेखों के आधार पर ऐतिहासिक पर्यवेक्षण नहीं हो सकता। अतः अकलंक के समय की प्रचलित परम्परा भ्रान्त है और उसका आधार बिल्कुल निर्बल है। उसकी अपेक्षा अकलंकचरित का उल्लेख प्रामाणिक और साधार प्रतीत होता है। अब हम कुछ कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करेंगे जो अकलंकचरित में निर्दिष्ट समय के पोषक हैं और जिनके प्रकाश में अकलंकदेव को ईसा की आठवीं शताब्दी का विद्वान नहीं माना जा सकता।

१ अनन्तवीर्य के समय के सम्बन्ध में डाक्टर पाठक के मत की आलोचना करते हुए एक फुटनोट में प्रो० ए. एन. उपाध्ये ने अकलङ्क के समय के सम्बन्ध में भी उनके मत की आलोचना की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुङ्ग ठहराना अनुमानमात्र बतलाया है। तथा यह भी लिखा है कि धवलाटीका में, जो जगत्तुङ्ग के राज्य में (ई० ७८४ से ८०८) समाप्त हुई थी, वीरसेनाचार्य ने अकलङ्क के राजवार्तिक से लम्बे लम्बे वाक्य उद्धृत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जी ने धवला टीका का समाप्तिकाल शक सं० ७३८ (ई० ८१६) लिखा है। यद्यपि अकलङ्क को दन्तिदुर्ग का समकालीन मान कर भी वीरसेन के द्वारा धवलाटीका में उनके राजवार्तिक से उद्धरण दिये जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि अकलङ्क के अन्त और धवला की समाप्ति में कई दशक का अन्तर है, तथापि धवल सरीखे सिद्धान्त ग्रन्थ में वीरसेन जैसे सिद्धान्तपारगामी के द्वारा आगमप्रमाण के रूप में राजवार्तिक से वाक्य उद्धृत किया जाना प्रमाणित करता है कि वीरसेन के समय में राजवार्तिक ने काफी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी और उसमें काफी समय लगा होगा। अतः अकलङ्क को दन्तिदुर्ग का समकालीन नहीं माना जा सकता।

२ सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की टीका में अकलङ्क के 'सिद्धिविनिश्चय' का उल्लेख किया है। 'जैन साहित्यनो इतिहास' में परम्परा के आधार पर इन्हें देवर्द्धिगणि (५ वीं शताब्दी के लगभग) का समकालीन बतलाया है। किन्तु इतने प्राचीन तो यह हो ही नहीं सकते, क्योंकि उस दशा में उनके ग्रन्थ में अकलङ्क का उल्लेख नहीं मिल सकता। गणिजी ने अपनी उक्त टीका में धर्मकीर्ति का नाम निर्देश किया है और दूसरी तरफ नवमी शताब्दी के विद्वान शीलाङ्क ने गन्धहस्ती नाम से इनका स्मरण किया है। अतः उनका सातवीं और नवमी शताब्दी के मध्य में होना सुनिश्चित है। पं० सुखलाल जी का कहना है कि हरिभद्र और सिद्धसेनगणि ने परस्पर में एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया। अतः ऐसी संभावना जान पड़ती है कि ये दोनों या तो समकालीन हैं या इनके बीच में बहुत ही थोड़ा अन्तर है। हरिभद्र का समय हम ऊपर लिख आये हैं, अतः सिद्धसेनगणि को आठवीं शताब्दी का विद्वान मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अब यदि अकलङ्क का समय भी आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है तो उनकी सुप्रसिद्ध कृति का सिद्धसेनगणि द्वारा उल्लेख किया जाना किसी भी तरह संभव

---

१ जैनदर्शन, वर्ष ४, अंक ९, पृ० ३८६। २ समन्तभद्र पृ० १७४। ३ "एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेण।" पृ० ३७। ४ मोहनलाल देसाई कृत, पृ० १४३। ५ पृ० ३९७। ६ आचाराङ्ग टीका पृ० १, तथा ८२। ७ 'तत्वार्थसूत्र के व्याख्याकार और व्याख्याएँ' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १, पृ० ५८०।

प्रतीत नहीं होता। अतः अकलङ्क को आठवीं शताब्दी का विद्वान न मानकर सातवीं शताब्दी का विद्वान मानना चाहिये।

३ हरिभद्र और अकलङ्क की विवेचना में हम हरिभद्र पर अकलङ्क का प्रभाव दिखला आये हैं। और यह भी लिख आये हैं कि हरिभद्र ने अपनी अनेकान्तजयपताका में 'अकलङ्क-न्याय' शब्द का प्रयोग किया है। अतः अकलङ्क को हरिभद्रसूरि (ई० ७००–७७०) से पूर्व का विद्वान मानना चाहिये।

४ जिनदासगणिमहत्तर ने निशीथसूत्र पर एक चूर्णि रची है। इनकी एक चूर्णि नन्दि-सूत्र पर भी है। इस चूर्णि की प्राचीन विश्वसनीय प्रति में इसका रचनाकाल शक सं० ५९८ (ई० ६७६) लिखा है। नन्दिसूत्र पर हरिभद्रसूरि ने भी एक संस्कृत टीका रची है। इस टीका में उन्होंने बहुत सी जगह इसी सूत्र पर जिनदासमहत्तर की बनाई हुई उक्त चूर्णि से बड़े लम्बे लम्बे अवतरण दिये[२] हैं। अतः चूर्णि में लिखे गये रचना काल की प्रामाणिकता में किसी सन्देह को स्थान नहीं रहता। निशीथचूर्णि में जिनदासमहत्तर ने सिद्धसेनदिवाकर के 'सन्मति-तर्क' के साथ ही साथ अकलङ्क के 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख[३] किया है और उसे प्रभावकशास्त्र बतलाया है। इस उल्लेख से अकलङ्क को सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान मानने में कोई शङ्का अवशिष्ट नहीं रह जाती। निशीथचूर्णि के इस उल्लेख से भी अकलङ्कचरित के उक्त श्लोक का अर्थ विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) ही प्रमाणित होता है। अतः ई० ६४३ में अकलङ्क के शास्त्रार्थ करने से तथा ई० ६७६ के आस पास रचे गये निशीथचूर्णि नामक ग्रन्थ में अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख मिलने से अकलङ्क का समय ई० ६२० से ६८० तक निर्णीत होता है।

---

१ सन्मतिप्रकरण (गुजराती अनुवाद) की प्रस्तावना, पृ० ३५–३६। तथा जयसलमेर भण्डार की सूची (बड़ौदा) पृ० १८। २ 'हरिभद्रसूरि का समयनिर्णय' जै० सा० संशो० भाग १, अङ्क १ पृ० ५०। "वि० सं० ७३३ वर्षे रचिताया निशीथचूर्ण्या अवतरणानि हरिभद्रसूरीयावश्यकवृत्तौ दृश्यते।" जैसल० सूची (बड़ौदा) पृ० १८। ३ 'दंसणगाही–दंसणणाणपभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसम्मदिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।' सिद्धिविनिश्चय का परिचय कराते हुए पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'अनेकान्त' में लिखा था कि श्वेताम्बरों के जीतकल्पचूर्णि ग्रन्थ की श्रीचन्द्रसूरिरचित टीका में सिद्धिविनिश्चय को प्रभावक ग्रन्थों में गिनाया है। तथा निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय के उल्लेख होने का भी उल्लेख किया था। इसपर उसी पत्र की चतुर्थ किरण में पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजी की ओर से एक संशोधन और सूचन प्रकाशित हुआ था, जिसमें लिखा था कि निशीथचूर्णि में निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अकलंकदेव का तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे उक्त चूर्णि के रचयिता जिनदास-महत्तर के बाद ही हुये हैं। अतः चूर्णि में निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अन्य किसी का रचा होना चाहिये। और वे अन्य संभवतः श्वेताम्बरीय विद्वान् होंगे। अपनी इस संभावना के उन्होंने दो मुख्य कारण बतलाये थे—एक तो श्वेताम्बरीय किसी ग्रन्थ में निश्चित दिगम्बरीय ग्रन्थ का प्रभावक के तौर पर अन्यत्र उल्लेख न मिलना, दूसरे सन्मतितर्क जो श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थ है उसके साथ और उससे पहले सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होना। जहाँ तक हम जानते हैं सिद्धिविनिश्चय के प्रकाश में आने से पहले शायद ही किसी को यह पता हो कि इस नाम का भी कोई ग्रन्थ है। दिगम्बरसाहित्य में, जहाँ अकलंक के अन्य ग्रन्थों का निर्देश मिलता है सिद्धिविनिश्चय की तो गंध तक भी नहीं मिलती। इसके विपरीत श्वेताम्बरसाहित्य में उक्त उल्लेखों के सिवा सिद्धसेनगणि और देवसूरि के ग्रन्थों में भी सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख है। तथा देवसूरि ने तो 'तदाह अकलकः सिद्धिविनिश्चये' लिखकर सिद्धिविनिश्चय को अकलंककृत घोषित किया है।

अवशिष्ट विप्रतिपत्तियों का निराकरण

अकलङ्क के उपर्युक्त निर्धारित समय में धर्मकीर्ति, भर्तृहरि, कुमारिल और प्रभाचन्द्र को लेकर कुछ विप्रतिपत्तियां अवशेष रह जाती हैं। जिनका आभास डाक्टर के० बी० पाठक के विविध लेखों में मिलता है। अतः अकलङ्क के निर्धारित समय को विवादरहित करने के लिये उनका दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भर्तृहरि नाम के एक प्रसिद्ध वैयाकरण हो गये हैं। चीनी यात्री इत्सिंग के उल्लेख के आधार पर ई० ६५० में उनकी मृत्यु हुई थी। अकलंक ने उनके वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ से एक कारिका उद्धृत की है यह हम बतला चुके हैं। कुमारिल ने भी अपने तंत्रवार्तिक के प्रथम प्रकरण में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के साथ साथ भर्तृहरि के ऊपर भी आक्षेप किये हैं। और वाक्यपदीय में से अनेक श्लोकों को उद्धृत करके उनकी तीव्र आलोचना की है। इस पर डाक्टर पाठक लिखते हैं कि–"मेरे विचार से यह तो स्पष्ट है कि कुमारिल के समय में व्याकरणशास्त्र के ज्ञाताओं में भर्तृहरि भी एक विशिष्ट प्रमाणभूत विद्वान माने जाते थे। भर्तृहरि अपने जीवनकाल में तो इतने प्रसिद्ध हुए ही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनिसम्प्रदाय के अनुयायी उन्हें अपने सम्प्रदाय का एक आप्तपुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतञ्जलि के साथ वे भी महान् मीमांसक की समालोचना के निशान बने हों। इसी कारण से हुएन्त्सांग, जिसने ई० स० ६२९-६४५ के बीच में भारतभ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा। परन्तु इत्सिंग, जिसने उक्त समय से

जैनसाहित्य में ग्रन्थों के विनिश्चयान्त नाम बौद्धसाहित्य के अन्यतम निर्माता धर्मकीर्ति के ऋणी हैं। अतः अकलंक के सिद्धिविनिश्चय के सिवाय किसी श्वेताम्बर विद्वान् के द्वारा रचित सिद्धिविनिश्चय की कल्पना करना तो बिल्कुल असंगत ही प्रतीत होता है। रह जाता है श्वेताम्बरसाहित्य में, और वह भी सिद्धसेन के सन्मतितर्क से पहले, सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होना। सो सिद्धिविनिश्चय की महत्ता तथा उसमें साम्प्रदायिक चर्चा न होकर इतर दर्शनों का निरसनपूर्वक जैनदर्शन के मन्तव्यों के विनिश्चय को देखते हुए असंगत नहीं जान पड़ता। हम लिख आये हैं कि इस ग्रन्थ का श्वेताम्बर आचार्यों में काफी प्रचार था और वे उसपर मुग्ध थे। अतः उनकी गुणग्राहकता और स्वदर्शनप्रेम ने यदि सिद्धिविनिश्चय को उक्त सन्मान, जिसके वह सर्वथा योग्य था, प्राप्त करा दिया हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होने पर एक आपत्ति यह की गई है कि अकलंक जिनदासमहत्तर के बहुत बाद हुए हैं। किन्तु यह आपत्ति उसी समय तक संगत थी जब तक अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् माना जाता था; उनके सातवीं शताब्दी का विद्वान् प्रमाणित होने पर उक्त आपत्ति को स्थान नहीं रहता। उक्त आपत्तियों को देखकर कुछ विद्वान् कल्पना करते हैं कि निशीथचूर्णि का उक्त उल्लेख प्रक्षिप्त है और संभवतः वह जीतकल्पचूर्णि की चन्द्रसूरिरचित टीका से वहाँ आघुसा है, क्योंकि दोनों की शब्दरचना बिल्कुल मिलती है। किन्तु हमारा विश्वास है कि उक्त वाक्य निशीथचूर्णि का ही होना चाहिये और वहीं से उसे चन्द्रसूरि ने अपनी टीका में लिखा है। क्योंकि चूर्णि की रचना संस्कृत और प्राकृत में की जाती थी और उक्त वाक्य में इसकी गन्ध मौजूद है, किन्तु चूर्णि की संस्कृत टीका में इस प्रकार का वाक्य मौलिक नहीं हो सकता। अतः हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निशीथचूर्णि का उक्त वाक्य प्रक्षिप्त नहीं है और उसमें जिस सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख है, वह अकलंककृत सिद्धिविनिश्चय के सिवाय कोई अन्य ग्रन्थ नहीं है।

'१ 'भर्तृहरि और कुमारिल' शीर्षक लेख में। खोजने पर भी यह लेख हमें नहीं मिल सका। मुनि जिनविजयजी के 'हरिभद्रसूरि का समयनिर्णय' शीर्षक निबन्ध से उसके उद्धरण लिये हैं।

आधी शताब्दी बाद अपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारतवर्ष के पांचों खण्डों में भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस विवेचन से हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्ष में तंत्रवार्तिक की रचना हुई उसके और भर्तृहरि की मृत्युवाले ई० ६५० के बीच में आधी शताब्दी बीत चुकी होगी। अतएव कुमारिल ई० स० की ८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान होने चाहिये।"

यहां यह बतला देना आवश्यक है कि डाक्टर पाठक ने यह लेख उस लेख से बहुत पहले लिखा था जिसमें उन्होंने अकलंक और कुमारिल को आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का विद्वान बतलाया था। इस लेख में डाक्टर पाठक ने जिस सिद्धान्त का आविष्कार किया है वह एक अजीब ही वस्तु प्रतीत होता है। प्रथम तो किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि के लिये उसकी मृत्यु के पश्चात् आधी शताब्दी बीतना कोई आवश्यक नियम नहीं है। आज की तरह प्राचीन समय में भी विद्वान अपने जीवनकाल में ही ख्यात हो जाते थे। यदि थोड़ी देर के लिये यह बात स्वीकार भी कर ली जाये तो प्रसिद्ध विद्वानों का ही खण्डन किये जाने का कोई नियम नहीं है। हरिभद्रसूरि ने अपने समकालीन विद्वान शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर और धर्मोत्तर के मत की आलोचना की है। विद्वानों की लेखनी का निशाना बनने के लिये केवल प्रसिद्धि ही आवश्यक नहीं है। किसी अप्रसिद्ध विद्वान की भी कृति में यदि कोई मौलिक विचारधारा हो, जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर सकती हो, तो प्रतिपक्षी समर्थ विद्वान उसकी आलोचना किये बिना नहीं रह सकता। हुएन्त्सांग के समय में भर्तृहरि की उतनी ख्याति न होगी, जितनी इत्सिंग के समय में थी। किन्तु उनकी कृति में कुमारिल को कुछ मौलिकता अवश्य प्रतीत हुई होगी। इसी से उन्होंने प्राचीन वैयाकरणों के साथ साथ भर्तृहरि की भी आलोचना करना उचित समझा। अतः वाक्यपदीय की आलोचना करने के कारण, भर्तृहरि और कुमारिल को विभिन्न समय में रखने की आवश्यकता नहीं है। और इसलिये भर्तृहरि और कुमारिल के आलोचक अकलंक को भी सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

धर्मकीर्ति और कुमारिल के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। जब धर्मकीर्ति पढ़ लिखकर विद्वान हुए तो उन्होंने प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल की बहुत ख्याति सुनी। फलतः मीमांसाशास्त्र का रहस्य जानने के लिये उन्होंने कुमारिल की सेवा करना स्वीकार किया और अपनी सेवा से गुरु और गुरुपत्नी को प्रसन्न करके उनके कृपाभाजन बन गये। इस प्रकार मीमांसाशास्त्र में पारङ्गत होने के पश्चात् धर्मकीर्ति ने शास्त्रार्थ के लिये कुमारिल को ललकारा और शास्त्रार्थ में हारकर कुमारिल अपने पांचसौ शिष्यों के साथ बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये। इस किंवदन्ती के सम्बन्ध में डाक्टर पाठक 'अकलंक का समय' शीर्षक अपने निबन्ध में लिखते हैं—

"The date of अकलंक is so firmly fixed that it is impossible to assign his critic कुमारिल to the first or second half of the seventh century in order to make him embrace Buddhism with his 500 followers or to make him the teacher of Bhavabhuti"

अर्थात्—"अकलंक का समय इतना सुनिश्चित है कि उसके आलोचक कुमारिल को सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता है और इसलिये कुमारिल का

१ भण्डारकर प्रा० वि० मन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३, पृ० १५७ पर मुदित।

अपने पांचसौ शिष्यों के साथ बौद्धधर्म स्वीकार करना या उसका भवभूति का गुरु होना संभव नहीं है।"

धर्मकीर्ति और कुमारिल के सम्बन्ध की उक्त किंवदन्ती की सत्यता में इतिहासज्ञों का विश्वास नहीं है। कुमारिल के बुद्धधर्म स्वीकार करने की कथा तो स्पष्टतया कल्पित प्रतीत होती है। जहां तक हम जान सके हैं धर्मकीर्ति और कुमारिल के ग्रन्थों में परस्पर में कोई आदान प्रदान हुआ प्रतीत नहीं होता। हां, वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में धर्मकीर्ति ने वेदाध्ययन-वाच्यत्व हेतु का प्रकारान्तर से निर्देश करके उसकी आलोचना की है। यदि यह हेतु कुमारिल के द्वारा ही आविष्कृत हुआ है तो कहना होगा कि धर्मकीर्ति ने कुमारिल को देखा था। उधर 'भर्तृहरि और कुमारिल' शीर्षक निबन्ध में डाक्टर पाठक ने लिखा है कि—"मीमांसा-श्लोकवार्तिक के शून्यवाद-प्रकरण में कुमारिल ने बौद्धमत के 'आत्मा बुद्धि से भेदवाला दिखाई देता है' इस विचार का खण्डन किया है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र ने धर्मकीर्ति का निम्नलिखित श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी लिखा है, बारम्बार उद्धृत किया है—

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥"

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति-दोनों के विचारों की समालोचना की है। अतः यह सिद्ध होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के बाद हुए।" यदि हमारा और डाक्टर पाठक का दृष्टिकोण सत्य है तो धर्मकीर्ति और कुमारिल को समकालीन मानना ही होगा। यह बात अकलङ्क के निर्धारित किये गये समय से भी प्रमाणित होती है, क्योंकि जब अकलङ्क का समय ई० ६२० से ६८० तक प्रमाणित होता है और अकलङ्क ने धर्मकीर्ति और कुमारिल दोनों की ही आलोचना की है तो दोनों को समकालीन मानने के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है।

धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष धर्मपाल के शिष्य थे। चीनी यात्री हुएनत्सांग जब ई० ६३५ में नालंदा पहुँचा, तब उसे मालूम हुआ कि कुछ ही समय पहले आचार्य धर्मपाल अपने पद से निवृत्त होगये हैं। इस वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि धर्मपाल ई० ६३५ तक विद्यमान थे। अतः धर्मकीर्ति का काल ६३५ ई० से ६५० तक माना जाता है। हुएनत्सांग ने अपने यात्राविवरण में भर्तृहरि की तरह धर्मकीर्ति का भी उल्लेख नहीं किया है। इसपर भिक्षुवर राहुल जी का मत है कि हुएनत्सांग के नालन्दा आने से पहले धर्मकीर्ति की मृत्यु हो चुकी थी, और यतः वह सब विद्वानों के नाम लिखने के लिये बाध्य नहीं था अतः उसने धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिखा। राहुल जी की यह कल्पना डाक्टर पाठक की भर्तृहरिविषयक कल्पना से सर्वथा विपरीत है। डाक्टर पाठक की कल्पना में तो यह विचार अन्तर्निहित था कि मनुष्य अपने जीवनकाल में ख्यात नहीं होता किन्तु मृत्यु के बाद उसे ख्याति मिलती है। किन्तु राहुल-जी की कल्पना में इसके बिल्कुल विपरीत विचार काम करता है। वे सोचते हैं कि धर्मकीर्ति सरीखे तेजस्वी विद्वान के उपस्थित रहते ह्यूनत्सांग का उनसे परिचय न हुआ हो, यह संभव नहीं है। और परिचय होने से उसका उल्लेख होना चाहिये था। यहां, राहुल जी यह भूल जाते

१ देखो, 'वादन्याय' की प्रस्तावना।

हैं कि धर्मकीर्ति की जो अगाध विद्वत्ता उन्हें इस बात के लिये प्रेरित करती है कि यदि धर्मकीर्ति उस समय जीवित थे तो ह्यूनत्सांग को उनका उल्लेख अवश्य करना चाहिये था, वही विद्वत्ता धर्मकीर्ति की मृत्यु मानकर ह्यूनत्सांग के उल्लेख न करने पर कैसे सन्तोष धारण करा देती है ? क्या राहुल जी यह स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के साथ धर्मकीर्ति सरीखे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की कीर्ति भी लुप्त होगई थी ? यह सत्य है कि कोई व्यक्ति समस्त विद्वानों के नाम लिखने के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु क्या धर्मकीर्ति का व्यक्तित्व शेष समस्त विद्वानों की ही कोटि का था ? यदि ऐसा था तो राहुल जी के इस तर्क का प्रयोग धर्मकीर्ति की जीवित दशा में भी किया जा सकता है, क्योंकि नालन्दा विश्वविद्यालय में धर्मकीर्ति सरीखे स्नातकों की कमी नहीं थी। अतः राहुल जी का तर्क असङ्गत है और उसके आधार पर ह्यूनत्सांग के आने के समय धर्मकीर्ति को मृत नहीं माना जा सकता। इतिहासज्ञों का मत है कि उस समय धर्मकीर्ति तरुण थे और शिक्षा समाप्त करके कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। अतः ह्यूनत्सांग ने उनका उल्लेख नहीं किया। किन्तु जब इत्सिंग भारत आया तब उनकी प्रतिभा की सर्वत्र ख्याति थी, जिसका उल्लेख इत्सिंग ने अपने यात्राविवरण में किया है।

तथा, अकलङ्क के साहित्य पर से भी इस बात का समर्थन होता है। विद्वान पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि धर्मकीर्ति ने अपने पूर्वज दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को स्थान दिया था। दिङ्नाग के प्रत्यक्ष का लक्षण केवल 'कल्पनापोढ' था, धर्मकीर्ति ने उसके साथ अभ्रान्त पद और जोड़ दिया। अकलङ्क ने अपने राजवार्तिक में दिङ्नाग के लक्षण का खण्डन किया है, तथा उस प्रकरण में जो दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, उनमें से एक दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की है और दूसरी वसुबन्धु के अभिधर्मकोश की। इसके अतिरिक्त उसी प्रकरण में कल्पना का लक्षण करते हुए उसके पांच भेद किये हैं। रशियन प्रो० चिरविंट्स्की लिखते हैं कि दिङ्नाग ने कल्पना के पांच भेद किये थे—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक की रचना अपने प्रारम्भिक जीवन में की थी, उस समय तक या तो धर्मकीर्ति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि की रचना नहीं की थी, या वे प्रकाश में नहीं आये थे। उसके बाद के ग्रन्थों में अकलङ्क ने धर्मकीर्ति के न केवल प्रत्यक्ष के लक्षण का ही खण्डन किया है किन्तु उनके प्रसिद्धग्रन्थों से उद्धरण तक लिये हैं जैसा कि हम 'धर्मकीर्ति और अकलङ्क' शीर्षक में लिख आये हैं। अतः ह्यूनत्सांग के समय में धर्मकीर्ति जीवित थे और उसी समय कुमारिल भी मौजूद थे। इस विस्तृत विवेचन के बाद भारत के इन चार प्रख्यात विद्वानों का समयक्रम इस प्रकार समझना चाहिये—भर्तृहरि ई० ५९० से ६५० तक, धर्मकीर्ति और कुमारिल ई० ६०० से ६६० तक, और अकलङ्क ई० ६२० से ६८० तक।

१ पृ० ३८। २ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना। असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते॥ १॥" "सवितर्कविचारा हि पञ्चविज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः॥ १॥" ३ बुद्धिस्ट लाजिक २ य भाग, पृ० २७२ का फुटनोट नं ९। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के उल्लेख से भी यह पता चलता है कि दिङ्नाग ने कल्पना के पांच भेद किये थे। यथा—"संप्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति अथ केयमिति ? लक्षणवादिन उत्तरं नामेति। यदृच्छाशब्देषु हि नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थेति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। सेयं कल्पना।"

उक्त चारों विद्वानों के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना और उसका समीकरण करने के पश्चात् अकलंक के निर्धारित समय की बाधक एक उलझन शेष रह जाती है। 'अकलंक का समय' शीर्षक डाक्टर पाठक के निबन्ध से कुमारिल के सम्बन्ध में हम एक वाक्य उद्धृत कर आये हैं। उसके आरम्भिक शब्द 'The date of अकलंक is so firmly fixed' की ओर हम पाठकों ध्यान आकर्षित करते हैं। इन शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि डाक्टर पाठक को अपने द्वारा निर्धारित अकलंक के समय की सत्यता में कितना दृढ़ विश्वास था। उनके इस विश्वास का आधार था प्रभाचन्द्र के एक श्लोक के निम्न चरण—

"बोधः कोप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याकलंकं पदम्
जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम्।" न्या० कु०

जिसका अर्थ यह किया गया कि प्रभाचन्द्र ने अकलंक के चरणों के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। और उससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य थे। अपने उक्त लेख में श्रीकण्ठशास्त्री के मत की आलोचना करते हुए डा० पाठक ने बड़े जोर के साथ लिखा है कि—"यदि अकलंक का समय ६४५ ई० माना जायेगा तो 'प्राप्याकलंकं पदं' के अनुसार प्रभाचन्द्र, जिनका स्मरण आदिपुराण (ई० ८३८) में किया गया है और जो अमोघवर्ष प्रथम के समय में हुए हैं—अकलंक के चरणों में नहीं पहुँच सकते।"

आदिपुराणकार ने जिन प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है, वे न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से जुदे व्यक्ति हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता का विचार करते समय इसका स्पष्टीकरण किया जायेगा। उक्त श्लोक में 'पद' शब्द का अर्थ प्रकरण है न कि चरण। यदि प्रभाचन्द्र अकलंकदेव के शिष्य होते तो लघीयस्त्रय के व्याख्यान में इतनी भारी भूल न करते और न न्यायकुमुद के अन्त में 'साहाय्यं च न कस्यचिद् वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये।' लिखकर न्यायकुमुद की रचना में किसी की सहायता न मिलने का ही उल्लेख करते। प्रभाचन्द्र की तो बात ही क्या? अकलंक के प्रकरणों के दक्ष व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द भी, जिनका स्मरण प्रभाचन्द्र ने किया है, अकलंक के समकालीन नहीं है, जैसा कि आगे के लेख से ज्ञात हो सकेगा। अतः प्रभाचन्द्र के उक्त श्लोक के आधार पर प्रभाचन्द्र को अकलंक का साक्षात् शिष्य बतलाना और इसी लिये अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्य से खींच कर आठवीं शताब्दी के मध्य में लारखना सर्वथा भूल है।

इस प्रकार अकलंक को ईसा की सातवीं शताब्दी का विद्वान मानने में जो बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं, वे यथार्थ नहीं है। और उन्हें आठवीं शताब्दी का विद्वान् सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिये जाते हैं उनमें से कोई हेतु उन्हें आठवीं शताब्दी का विद्वान सिद्ध नहीं करता, बल्कि उनमें से दो हेतु तो उन्हें सातवीं शताब्दी का ही विद्वान सिद्ध करते हैं। अतः अकलंक का काल ई० ६२० से ६८० तक मानना चाहिये।

---

१ भण्डारकर प्रा० वि० म० की पत्रिका, जिल्द १२, पृ० २५३–२५५ में 'विद्यानन्द और शङ्कर-मत' शीर्षक से श्रीकण्ठशास्त्री का एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें लेखक ने अकलंक का समय ६४५ ई० लिखा है, जो हमारे मत के अनुकूल है। २ इस भूल का दिग्दर्शन न्यायकुमुदचन्द्र पर विचार करते समय करा आये हैं। ३ विशेष जानने के लिये देखो, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा लिखित "प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य नहीं थे" शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १ पृ० १३०।

समकालीन विद्वान

अब तक निम्नलिखित विद्वान अकलंकदेव के समकालीन कहे जाते हैं—पुष्पषेण, वादीभसिंह, कुमारसेन, कुमारनन्दिभट्टारक, वीरसेन, परवादिमल्लदेव, श्रीपाल, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, और प्रभाचन्द्र। किन्तु यह तालिका अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान मानकर सङ्कलित की गई है। अतः अकलंक के सातवीं शताब्दी का विद्वान प्रमाणित होने के कारण अब उसमें से अधिकांश विद्वानों का नाम खारिज कर देना होगा। नीचे उक्त विद्वानों के समय की चर्चा संक्षेप में की जाती है, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि कौन विद्वान उनका समकालीन है और कौन उत्तरकालीन।

पुष्पषेण और वादीभसिंह—मल्लिषेणप्रशस्ति में अकलंकविषयक श्लोकों के बाद ही निम्नलिखित श्लोक आता है—

"श्री पुष्पषेणमुनिरेव पदं महिम्नो देवः स यस्य समभूत स महान् सधर्मा।
श्रीविभ्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव पुष्पेषु मित्रमिह यस्य सहस्रधामा॥"

इस श्लोक में पुष्पषेणमुनि को अकलंक का सधर्मा अर्थात् गुरुभाई बतलाया है। संभवतः यह पुष्पषेण मुनि वही हैं जिन्हें, गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ में वादीभसिंह ने अपना गुरु बतलाया है।

वादीभसिंह का यथार्थ नाम अजितसेन था। मल्लिषेणप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ये बहुत बड़े वादी और स्याद्वादविद्या के वेत्ताओं के अन्तरंग का अन्धकार दूर करने के लिये दूसरे सूर्य थे। अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र अष्टसहस्री के मंगलश्लोक पर टिप्पण करते हुए लिखते हैं—"तदेवं महाभागैः तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेन उपलालितामाप्तमीमांसामलञ्चिकीर्षवः········प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः–श्रीवर्धमानमित्यादि।" इससे पता चलता है कि आप्तमीमांसा पर वादीभसिंह ने कोई टीका बनाई थी और वह टीका अष्टसहस्री से पहले बनी थी। अष्टसहस्री के अन्त में विद्यानन्द ने 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' लिखकर 'जयति जगति' आदि पद्य लिखा है और उसके बाद 'श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिदं वदन्ति' लिखकर अकलंकदेव की अष्टशती का अन्तिम मंगलश्लोक दिया है, तत्पश्चात् 'वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः' लिखकर अपना अन्तिम मंगल दिया है। 'केचित्' शब्द पर अष्टसहस्री की मुद्रित प्रति में एक टिप्पण भी है। जिसमें लिखा है कि–'केचित् शब्द से आचार्य वसुनन्दि का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उन्होंने अपनी वृत्ति के अन्त में इस श्लोक को दिया है'। पुनः लिखा है कि—'शास्त्रपरिसमाप्तौ मंगलवचनम्' इस वाक्य से तथा वसुनन्दि आचार्य के वचनों से यह श्लोक भी स्वामी समन्तभद्रकृत ही प्रतीत होता है, अतः स्वामी की बनाई हुई कारिकाओं की संख्या ११५ है, किन्तु विद्यानन्द के मत से आप्तमीमांसा की कारिकाओं का प्रमाण ११४ है।" पता नहीं यह टिप्पणी टिप्पणकार समन्तभद्र की ही है या संपादक ने अपनी ओर से लगा दी है? हमें तो इसका पूर्व भाग संपादकजी की ही कृति प्रतीत होता है क्योंकि लघुसमन्तभद्र वसुनन्दि से पहले हो गये हैं, अतः वे ऐसा नहीं लिख सकते। तथा विद्यानन्द की लेखनपद्धति से ऐसा प्रतीत होता है कि

१ अष्टसहस्री पृ० २९४, टिप्पण ३।

वह उस मंगल को किसी वृत्तिकार का ही मानते थे, और प्रतीत भी ऐसा ही होता है, क्योंकि 'इतीयमाप्तमीमांसा' आदि श्लोक के द्वारा आप्तमीमांसा का उपसंहार करने के बाद उक्त श्लोक की संगति नहीं बैठती अतः उसे मूलकार का तो नहीं माना जा सकता। कहीं उक्त श्लोक वादीभसिंह की वृत्ति का अन्तिम मंगल तो नहीं है ? रह रहकर हृदय में यह प्रश्न पैदा होता है, किन्तु अभी उसके सम्बन्ध में विशेष नहीं कहा जा सकता है। अस्तु,

वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि में बाण की कादम्बरी की झलक मारती है अतः वादीभसिंह को राजा हर्ष (६१०-६५०) के समकालीन बाणकवि के पश्चात् का विद्वान मानना होगा। यह समय अकलंकदेव के निर्धारित समय के सर्वथा अनुकूल बैठता है, क्योंकि अकलंक के समकालीन पुष्पषेण का समय ई० ६२० से ६८० तक मानने पर उनके शिष्य वादीभसिंह को ई० ६५० के बाद ही रखना होगा।

किन्तु इसमें एक बाधा उपस्थित होती है। यशस्तिलकचम्पू के द्वितीय उच्छ्वास के १२६ वें श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार श्रुतसागरसूरि ने महाकवि वादिराज का एक श्लोक उद्धृत किया है और लिखा है कि वादिराज भी सोमदेवाचार्य के शिष्य थे। तथा सोमदेवाचार्यका 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्री वादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' पद्य उद्धृत करके वादीभसिंह को वादिराज का गुरु-भाई और सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाया है। यद्यपि सोमदेव ने शक सं० ८८१ (ई० ९५९) में अपना यशस्तिलकचम्पू समाप्त किया था, और वादिराज ने शक सं० ९४७ (ई० १०२५) में अपना पार्श्वनाथचरित समाप्त किया था। किन्तु जब तक उक्त उल्लेख के स्थल आदि का पूरा विवरण नहीं मिलता और अन्य स्थलों से उसका समर्थन नहीं होता तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि, दोनों विद्वानों में से किसी ने भी सोमदेव के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तथा वादिराज ने न्यायविनिश्चयालङ्कार के अन्त में दी गई प्रशस्ति में मतिसागर को अपना गुरु बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पषेण का स्मरण करते हैं, अतः उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में हमें तो अकलंकदेव के सतीर्थ्य पुष्पषेण ही वादीभसिंह के गुरु प्रतीत होते हैं और उस दशा में उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

आदिपुराणकार जिनसेनस्वामी ने वादिसिंह नामके एक आचार्य का स्मरण निम्न शब्दों में किया है—

> *"कवित्वस्य परा सीमा वाग्मितस्य परं पदम् ।*
> *गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥"*

इससे प्रतीत होता है कि वादिसिंह बड़े भारी कवि और उत्कृष्ट वाग्मी थे। अपने पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में वादिराज ने भी वादिसिंह का स्मरण इस प्रकार किया है—

> *"स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।*
> *दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः ॥"*

इस श्लोक में बौद्धाचार्य दिङ्नाग और कीर्ति (धर्मकीर्ति) का ग्रहण करके वादिसिंह को उनका समकालीन बतलाया है। प्रेमीजी का मत है कि वादीभसिंह और वादिसिंह एक ही व्यक्ति हैं। यदि यह सत्य है तो इन उल्लेखों से वादीभसिंह के सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के

विद्वान होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता। और उस दशा में उन्हें अकलंक का समकालीन मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

कुमारसेन और कुमारनन्दि—हरिवंशपुराण (ई० ७८३) में कुमारसेन का स्मरण किया है। और विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री के अन्त में लिखते हैं कि कुमारसेन की उक्ति से उनकी अष्टसहस्री वर्धमान हुई है। कुमारनन्दि भट्टारक का उल्लेख भी विद्यानन्द के ग्रन्थों में ही दीख पड़ता है। उन्होंने अपनी प्रमाणपरीक्षा में 'तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः' करके कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे ये दोनों विद्वान ईसा की आठवीं शताब्दी के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। अतः उन्हें अकलंक का समकालीन नहीं माना जा सकता।

वीरसेन—जिनसेन के गुरु वीरसेन का स्मरण हरिवंशपुराण (ई० ७८३) के कर्ता ने किया है। इन्होंने शक सं० ७३८ (ई० ८१६) में धवलाटीका को समाप्त किया था। अतः ये भी अकलंक के समकालीन नहीं माने जा सकते।

परवादिमल्लदेव—मल्लिषेणप्रशस्ति में इन्हें बड़ा भारी वादी बतलाया है जैसा कि इनके नाम से व्यक्त होता है। तथा उक्त प्रशस्ति से ही यह भी ज्ञात होता है कि कृष्णराज के पूछने पर इन्होंने अपने नाम की निरुक्ति बतलाई थी। राष्ट्रकूट राजाओं में कृष्णराज नाम के एक प्रतापी राजा हो गये हैं, जिनकी उपाधि शुभतुंग थी और अकलंक को जिनका समकालीन कहा जाता था। यदि परवादिमल्लदेव इन्हीं कृष्णराज के समकालीन हैं तो अब वे भी अकलङ्कदेव के समकालीन नहीं हो सकते, क्यों कि कृष्णराज प्रथम के राज्यारोहण का काल ई० ७६० के लगभग माना जाता है।

श्रीपाल—आदिपुराण (ई० ८३८) के कर्ता ने श्रीपाल नाम के एक विद्वान का स्मरण किया है। यह वीरसेनाचार्य के समकालीन थे। इन्होंने जयधवलाटीका का सम्पादन किया था। अतः इन्हें भी अकलंक की समकालीनता का लाभ नहीं हो सकता।

माणिक्यनन्दि—माणिक्यनन्दि तथा अकलंक के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना पहले कर आये हैं और यह भी बतला आये हैं कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का उनके परीक्षामुख सूत्र पर प्रभाव है। परीक्षामुख सूत्र के टीकाकार प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य के सिवा किसी दूसरे ने इनका उल्लेख नहीं किया। अतः इन्हें अकलंक और प्रभाचन्द्र के मध्यकाल का विद्वान कहा जा सकता है। माणिक्यनन्दि और विद्यानन्द का एक दूसरे के ग्रन्थों पर कोई प्रभाव नहीं ज्ञात होता, अतः संभव है ये दोनों विद्वान समकालीन हों। और उस दशा में उन्हें अकलंक का समकालीन नहीं माना जा सकता।

विद्यानन्द—विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर तथा मण्डनमिश्र का उल्लेख किया है। तथा सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक से कारिकाएँ उद्धृत की हैं। धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर ईसा की आठवीं शताब्दी के विद्वान हैं, यह हम सिद्ध कर आये हैं। मण्डनमिश्र के समय के बारे में अनेक मत हैं, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि वे कुमारिल के बाद के हैं। सुरेश्वराचार्य, शंकराचार्य के शिष्य थे। शंकर के समय के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। उनमें से एक मत है कि शंकराचार्य का काल ई० ७८८ से ८२० तक है। आजकल इसी मत की विशेष मान्यता है और ऐतिहासिक अनुशीलन से भी यही प्रमाणित होता है। इसी से पी. वी. काने (P. V. Kane) ने सुरेश्वर का कार्यकाल ई० ८०० से ८४० तक

१ देखो, तत्त्वबिन्दु की रामस्वामीशास्त्री लिखित अंग्रेजी प्रस्तावना।

निर्धारित किया है। इस कालनिर्णय के अनुसार विद्यानन्द नवमी शताब्दी के विद्वान् प्रमाणित होते हैं, अतः वे अकलंक के समकालीन नहीं हो सकते।

अनन्तवीर्य—सिद्धिविनिश्चयटीका के रचयिता अनन्तवीर्य ने भी धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर और अर्चट का उल्लेख किया है। हेतुबिन्दुटीका के रचयिता अर्चट का समय राहुलजी ने ८२५ ई० लिखा है। अतः अनन्तवीर्य भी नवमी शताब्दी के विद्वान प्रमाणित होते हैं। इस लिये ये भी अकलंक के समकालीन नहीं थे।

प्रभाचन्द्र—न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र ने विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है, अतः जब विद्यानन्द और अनन्तवीर्य ही अकलंक के समकालीन प्रमाणित नहीं होते तब प्रभाचन्द्र की तो बात ही क्या है। इस प्रकार अकलंक के सातवीं शताब्दी का विद्वान् सिद्ध हो जाने के कारण उनके समकालीन कहे जानेवाले विद्वानों में उनके सधर्मा पुष्पषेण और पुष्पषेण के शिष्य वादीभसिंह ही अकलंक के समकालीन प्रमाणित होते हैं। संशयकोटि में माणिक्यनन्दि, कुमारसेन और कुमारनन्दि भट्टारक को रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त आचार्य सुमति और वराङ्गचरित के रचयिता जटिलकवि अकलंक के समकालीन ज्ञात होते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में, जो आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है, सुमतिदेव की कुछ कारिकाएँ उद्धृत करके उनकी आलोचना की गई है। तथा वरांगचरित का रचनाकाल सातवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है।[1] अतः ये दोनों जैनाचार्य अकलंक के समकालीन मालूम होते हैं।



न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र और उनका समय

जैनसाहित्य और पुरातत्त्व का आलोडन करने से प्रभाचन्द्र नाम के व्यक्तियों की एक लम्बी तालिका तैयार हो जाती है। किन्तु उनमें से प्रत्येक का जो कुछ परिचय प्राप्त होता है, वह इतना अपर्याप्त है कि उसके आधार पर हम उनकी समानता या असमानता का निर्णय नहीं कर सकते। हमारे विचार में उनकी बहुतायत का यह भी एक कारण हो सकता है। न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के बारे में उनकी प्रशस्तियों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे।

प्रशस्तियों[2] के परिचयविषयक श्लोक निम्न प्रकार हैं—

१ "बोधो मे न तथाविधोऽस्ति न च सरस्वत्या प्रदत्तो वरः
साहाय्यं च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये।
यत्पुण्यं जिननाथभक्तिजनितं येनायमत्यद्भुतः
संजातो निखिलार्थबोधनिलयः साधुप्रसादात्परः ॥ १ ॥

× × ×

१ देखो 'वरांगचरित' शीर्षक प्रो० उपाध्याय का लेख, जैनदर्शन, वर्ष ४, अंक ६। २ तत्त्वार्थवृत्ति की टीका की प्रशस्ति में तीन श्लोक हैं, प्रमेयकमल की प्रशस्ति में चार और न्यायकुमुद की प्रशस्ति में पाँच। इस प्रकार प्रशस्ति में क्रमशः एक एक श्लोक अधिक होना संभवतः उनके रचनाक्रम को सूचित करता है। अर्थात् प्रथम तत्त्वार्थवृत्ति की टीका रची गई, उसके पश्चात् प्रमेयकमल और उसके पश्चात् न्यायकुमुद।

भव्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधिर्योऽभूज्जगद्भूषणः
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात्सन्न्यायमार्गोऽखिलः
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जातः प्रभाचन्द्रतः ॥ ४ ॥
अभिभूय निजविपक्षं निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधिः ।
सविता जयतु जिनेन्द्रः शुभप्रबन्धः प्रभाचन्द्रः ॥ ५ ॥"

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः ।

२ *"गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं*
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः ।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥

× × ×

गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥ ३ ॥
श्री पद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् रत्ननन्दिपदे रतः ॥ ४ ॥"

श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।

३ *"ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्ननितर (कर) श्चारित्रवीचीचयः*
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।

---

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा तत्त्वार्थवृत्ति की प्रशस्ति के अन्तिम दो श्लोकों को पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रभाचन्द्र की कृति नहीं मानते । प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्तिम दो श्लोकों के बारे में आप लिखते हैं[1]—" इन पद्यों से पहले दो पद्यों और न्यायकुमुदचन्द्र की प्रशस्ति को देखते हुए, ये दोनों श्लोक अपने साहित्य और कथनशैली पर से प्रभाचन्द्र के मालूम नहीं होते । बल्कि प्रमेयकमलमार्तण्ड पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले किसी दूसरे विद्वान् के जान पड़ते हैं ।" इसी तरह तत्त्वार्थवृत्ति की प्रशस्ति के बारे में आपने लिखा है—"इनमें पहला पद्य तो प्रभाचन्द्र द्वारा रचित है और वह अपने साहित्यादि पर से *प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र* के अन्तिम पद्यों के साथ ठीक तुलना किया जा सकता है । शेष दोनों पद्य दूसरे विद्वान द्वारा इस पद्य पर लिखी गई टीका-टिप्पणी के पद्य जान पड़ते हैं और वे संभवतः उसी विद्वान के पद्य हैं जिसने प्रमेयकमलमार्तण्ड पर टीका लिखी है ।" मुख्तार सा० के इस मत से हम सहमत नहीं हैं । हमारा मत है कि ये श्लोक भी मूल प्रशस्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि प्रथम तो उनकी रचना में कोई ऐसी हीनता प्रतीत नहीं होती, जिस पर से उन्हें प्रभाचन्द्र आचार्य की कृति मानने में बाधा उपस्थित हो । दूसरे, प्रमेयकमल की जिन प्रतियों में 'श्रीमद्भोजदेवराज्ये' आदि वाक्य नहीं है, उनमें भी अन्तिम दोनों पद्य पाये जाते हैं । तीसरे, जहाँ प्रमेयकमलमार्तण्ड में 'रत्ननन्दिपदे रतः'

---

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृष्ठ १३० । २ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९७ । ३ जयसलमेरकैटलाग (बड़ौदा) ।

तच्छिष्यान्निखिलप्रबोधजननं तत्त्वार्थवृत्तेः पदं
सुव्यक्तं परमागमार्थविषयं जातं प्रभाचन्द्रतः ॥ १ ॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रतः ॥ २ ॥
मुनीन्दुर्नन्दितादिन्दनिजमानन्दमन्दिरम्।
सुधाधारोद्गिरन् मूर्तिः काममामोदयज्जनम् ॥ ३ ॥"

श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ४० (६४) में अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य और कुलभूषण के सधर्मा एक प्रभाचन्द्र का उल्लेख है, जो शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथित तर्कग्रन्थकार थे। शिमोगा जिले से मिले हुए नगर ताल्लुके के ४६ वें नम्बर के शिलालेख में एक पद्य निम्न प्रकार पाया जाता है—

"सुखि···न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

इसमें न्यायकुमुदचन्द्रोदय के कर्ता को शाकटायनसूत्रन्यास का कर्ता बतलाया है। इस न्यास ग्रन्थ का कुछ भाग उपलब्ध है किन्तु उस पर से उसके रचयिता के बारे में कुछ मालूम नहीं होता। किंवदन्ती है कि यह न्यास तथा जैनेन्द्रव्याकरण का शब्दाम्भोजभास्कर नाम का महान्यास न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता का ही बनाया हुआ है और शाकटायनन्यास की शैली आदि पर से उसका आभास सा भी होता है। श्रवणबेलगोला के उक्त शिलालेख में प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक बतलाया है और उन्हें शब्दाम्भोरुहभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण के न्यास का नाम) तथा प्रसिद्ध न्यायग्रन्थों के रचयिता लिखा है। अतः उन प्रभाचन्द्र और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के एक ही व्यक्ति होने में किसी प्रकार के सन्देह की संभावना नहीं जान पड़ती।

मुख्तार सा० प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति के 'श्री पद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्यो' आदि श्लोक को और उसके बाद की 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि पंक्ति को प्रमेयकमलमार्तण्ड के टीका-

---

पाठ है, तत्त्वार्थवृत्ति में उसके स्थान पर 'पूज्यपादपदे रतः' पाठ किया गया है, जो इस बात को प्रमाणित करता है कि प्रभाचन्द्र ने ही तत् तत् ग्रन्थकार में अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिये ऐसा लिखा है। किसी टिप्पण या टीकाकार के द्वारा इस प्रकार के लेख की संभावना नहीं की जा सकती। मुख्तार सा० की दूसरी आपत्ति यह है कि न्यायकुमुदचन्द्र में इस तरह के श्लोक नहीं हैं। निस्सन्देह, इस प्रकार के युगल श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र में नहीं हैं, किन्तु अन्य प्रकार का एक श्लोक मौजूद है जिसमें विशेषणरूप से प्रभाचन्द्र की जयकामना की गई है। शेष रह जाता है 'रत्ननन्दिपदे रतः' या 'पूज्यपादपदे रतः' वाला श्लोक, सो 'अकलंकमार्गनिरतात्' पद देकर उसकी भी पूर्ति कर दी गई है। अतः दोनों ग्रन्थों के अन्तिम श्लोकयुगल को प्रभाचन्द्र की ही कृति समझना चाहिये।

१ "अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके। कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥ तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिःसिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्म्मो महान्। शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभाचन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्री कुन्दकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥" जैनशि० संग्रह, पृ० २६।२ रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (मा० ग्र० मा०) पृ० ५८।

टिप्पणकार की रचना मानकर उसके निर्माता को पद्मनन्दि का शिष्य मानते हैं, अर्थात् वे समझते हैं कि प्रमेयकमल के टीका-टिप्पणकार का नाम भी प्रभाचन्द्र था, और वे पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे। तथा भोजदेव के राज्यकाल में धारानगरी में रहते थे। इसी से वे इन प्रभाचन्द्र तथा श्रवणबेलगोला के ४० वें शिलालेख में वर्णित प्रभाचन्द्र के बारे में लिखते हैं—"यदि इन प्रभाचन्द्र के गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक और आठवें नम्बरवाले प्रभाचन्द्र के गुरु अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक दोनों एक ही व्यक्ति हों तो ये दोनों प्रभाचन्द्र भी एक ही व्यक्ति हो सकते हैं।" हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र ही पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य हैं और उक्त श्लोक भी उन्हीं का बनाया हुआ है, अतः वे, न कि प्रमेयकमल के टिप्पणकार, और उक्त शिलालेख में वर्णित प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं, क्योंकि दोनों के गुरु का नाम एक है तथा शिलालेख में उनके जो विशेषण दिये हैं, वे विशेषण न्यायकुमुद या प्रमेयकमल के रचयिता प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ही घटित होते हैं, क्यों कि इनके सिवाय कोई दूसरे प्रभाचन्द्र शब्दाम्भोजभास्कर और प्रथित-तर्कग्रन्थकार नहीं हुए हैं। अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

समयविचार

आदिपुराण के प्रारम्भ में आचार्य जिनसेन ने प्रभाचन्द्र नामके एक आचार्य का स्मरण निम्नशब्दों में किया है—

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्—"चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत यश के धारक प्रभाचन्द्र कवि का स्तवन करता हूँ, जिन्होंने चन्द्रोदय की रचना करके संसार को आह्लादित (प्रसन्न) किया।" इस चन्द्रोदय को सभी इतिहासज्ञ न्यायकुमुदचन्द्र समझते हैं, और चूँकि आदिपुराण की रचना ई० ८३८ में हुई थी अतः प्रभाचन्द्र का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और नवमी का पूर्वार्ध माना जाता है। आदिपुराण के इस उल्लेख के आधार पर निर्धारित किये गये प्रभाचन्द्र के समय में आज तक किसी ने शंका तक भी नहीं की और उसे यहाँ तक प्रमाण माना गया कि न्यायकुमुदचन्द्र का नाम न्यायकुमुदचन्द्रोदय रूढ़ होगया। किन्तु हम सिद्ध कर आये हैं कि उक्त ग्रन्थ का वास्तविक नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही है, चन्द्रोदय नहीं है। सब से प्रथम इस नाम भेद ने ही हमें न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र और चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र के ऐक्य के सम्बन्ध में शङ्कित किया। पश्चात् जब हमने न्यायकुमुदचन्द्र में स्मृत स्वामीविद्यानन्द और अनन्तवीर्य तथा उद्धृत पद्यों के समय की जांच की तो हमारा सन्देह निश्चय में परिणत होगया, और इस परिणाम पर पहुँचे कि आदिपुराण में स्मृत प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पृथक् व्यक्ति हैं। इसका स्पष्टीकरण और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता के समय का विवेचन नीचे किया जाता है।

१ इतिहासप्रेमी पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन और आदिपुराण के कर्ता जिनसेन—दोनों[2] समकालीन थे, तथा हरिवंशपुराण (ई० ७८३)

---

१ रत्नकरंड (मा० ग्र० मा०) की प्रस्तावना पृ० ६०। २ अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के हिन्दीभाषानुवाद की प्रस्तावना में गवर्नमेंट संस्कृत कालिज के भूतपूर्व प्रिंसिपल

आदिपुराण (ई०८३८) से पहले रचा गया था। हरिवंशपुराण में भी एक प्रभाचन्द्र का स्मरण किया गया है जो कुमारसेन के शिष्य थे। श्लोक निम्न प्रकार है:—

"आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्याजितात्मकम् ॥ ३८ ॥" प्र० सर्ग

इस श्लोक के 'प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्' पद का 'चन्द्रोदय' शब्द ध्यान देने के योग्य है। यद्यपि यहाँ उसका अर्थ जुदा है, तथापि हमें लगता है कि इसके प्रयोग में श्लेष से काम लिया गया है और वह प्रभाचन्द्र के उस चन्द्रोदय का स्मरण कराता है जिसका उल्लेख आदिपुराण में किया गया है। यदि हमारा अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि दोनों पुराणों में स्मृत प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं और वे कुमारसेन के शिष्य थे। ऐसी दशा में न्यायकुमुद के कर्ता का पार्थक्य उनसे स्वतः होजाता है क्योंकि इनके गुरु का नाम पद्मनन्दि था।

२ न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र ने स्वामी विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है। यदि आदिपुराण में उल्लिखित प्रभाचन्द्र और उनका चन्द्रोदय प्रकृत प्रभाचन्द्र और उनका ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र ही है तो यह संभव प्रतीत नहीं होता कि आदिपुराणकार न्यायकुमुदचन्द्र का तो स्मरण करें किन्तु उसमें स्मृत आचार्य विद्यानन्द और अनन्तवीर्य सरीखे यशस्वी ग्रन्थकारों को भूल जायें। विद्यानन्द और अनन्तवीर्य के ग्रन्थों के उल्लेखों के आधार पर दोनों का समय ईसा की नवमी शताब्दी से पहले नहीं जाता, अतः उनके स्मरणकर्ता प्रभाचन्द्र का स्मरण नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना आदिपुराण में नहीं किया जा सकता।

३ प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी दर्शनों के प्रख्यात प्रख्यात ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। उनकी रचना पर जिन इतर ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है उनमें जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी का नाम उल्लेखनीय है। कारकसाकल्यवाद का प्रतिष्ठाता जयन्त को ही बतलाया जाता है,

---

श्रीगोपीनाथ कविराज ने गुणभद्र के गुरु जिनसेन को ही हरिवंशपुराण का रचयिता लिखा है। किन्तु यह ठीक नहीं है। हरिवंशपुराणकार ने गुणभद्र के गुरु जिनसेन का स्मरण किया है, अतः ये दोनों जिनसेन दो व्यक्ति हैं। नामसाम्य से इनकी एकता का धोखा लग जाता है।

१ विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री के अन्त में लिखा है कि कुमारसेन की उक्ति से उनकी अष्टसहस्री वर्धमान हुई है, और कुमारसेन तथा उनके यश को उज्ज्वल करने वाले उनके शिष्य प्रभाचन्द्र का स्मरण हरिवंशपुराण (ई० ७८३) में किया गया है। अतः यदि आदिपुराण (ई० ८३८) की रचना के बाद विद्यानन्द की कृतियों का जन्म माना जायेगा तो उस समय उन्हें कुमारसेन का साहाय्य नहीं मिल सकता। क्योंकि हरिवंशपुराण के उल्लेख के आधार पर उनके समय की अन्तिम अवधि अधिक से अधिक ८०० ई० तक मानी जा सकती है। उक्त कथन में इस प्रकार की विप्रतिपत्ति पैदा की जा सकती है किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो 'उक्ति' से अभिप्राय केवल 'वाचनिक साहाय्य' ही नहीं लिया जाता, बल्कि लिखित भी लिया जाता है जैसा कि न्यायकुमुदचन्द्र के पांचवे परिच्छेद के प्रारम्भ में प्रभाचन्द्र ने लिखा है कि—"मैंने अनन्तवीर्य की उक्ति की सहायता से अकलंकदेव की सरणि का खूब अभ्यास किया है"। तथा न्यायविनिश्चयविवरण के प्रारम्भ में वादिराज ने लिखा है कि—"अकलङ्क की वाणी रूपी अगाध भूमि में छिपे हुए पदार्थों को अनन्तवीर्य के वचनरूपी दीपशिखा पद पद पर प्रकाशित करती है"। दोनों उल्लेखों में उक्ति और वचन से अभिप्राय अनन्तवीर्य की रचनाओं का ही लिया गया है। अतः कुमारसेनोक्ति से भी कुमारसेन की कोई रचना ही अभीष्ट प्रतीत होती है। दूसरे, हरिवंशपुराण में स्मृत कुमारसेन ही विद्यानन्द के कुमारसेन हैं. यह भी अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

जिसका खण्डन प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुद दोनों में ही किया है। न्यायकुमुदचन्द्र में तो न्यायमञ्जरी का एक श्लोक भी उद्धृत किया है। जयन्तभट्ट ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के रचयिता वाचस्पतिमिश्र का 'आचार्याः' करके उल्लेख किया है और मिश्रजी ने ई० ८४१ में अपना न्यायसूचीनिबन्ध रचा था। अतः जयन्तभट्ट का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। ऐसी दशा में ८३८ ई० में रचे गये आदिपुराण में प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र का उल्लेख कैसे हो सकता है ?

४ तथा आदि पुराणकार जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के आत्मानुशासन का, जो उनके प्रौढ़काल की रचना जान पड़ती है, ३५ वाँ पद्य न्यायकुमुदचन्द्र में उद्‌धृत किया गया है। गुणभद्र ने ई० ८९८ में, अर्थात आदिपुराण की रचना से ६० वर्ष के बाद, उत्तरपुराण समाप्त किया था। यदि उस समय उनकी आयु ८० वर्ष की मानी जाये तो भी आदिपुराण की रचना के समय वे २० वर्ष के ठहरते हैं। ऐसी दशा में आत्मानुशासन की रचना करना और उसका उद्धरण न्यायकुमुदचन्द्र में होना तथा न्यायकुमुदचन्द्र का आदिपुराण के प्रारम्भ में स्मरण किया जाना किसी तरह संभव प्रतीत नहीं होता।

इन कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिपुराण में चन्द्रोदय के कर्ता जिन प्रभाचन्द्र का स्मरण किया गया है वे न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र नहीं हैं, किन्तु उनके नामराशि कोई दूसरे ही ग्रन्थकार हैं। अतः आदिपुराण के उल्लेख के आधार पर प्रभाचन्द्र का जो समय निर्णीत किया गया था, वह भ्रान्त है। अतः उसके लिये हमें पुनः प्रयत्न करना होगा।

प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड का उल्लेख वादिदेवसूरि (ई० १०८८–११६९) ने अपने स्याद्वादरत्नाकर में किया है। इससे पहले किसी ग्रन्थ में इनका उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में (ई० १०२५) विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदि अनेक ग्रन्थकारों का स्मरण किया है, किन्तु प्रभाचन्द्र का स्मरण उन्होंने भी नहीं किया। अतः प्रभाचन्द्र के समय की अन्तिम अवधि ई० ११५० के लगभग समझनी चाहिये। शाकटायन ने अपने सूत्रों पर अमोघवृत्ति नाम से एक वृत्तिग्रन्थ रचा था। यह वृत्ति, जैसा कि उसके नाम से व्यक्त होता है, महाराज अमोघवर्ष के राज्यकाल में रची गई थी। अमोघवर्ष प्रथम ने ई० ८१५ से ८७८ तक राज किया है। इस अमोघवृत्ति को लेकर ही प्रभाचन्द्र ने शाकटायनन्यास की रचना की थी। तथा नवमी शताब्दी के विद्वान गुणभद्र के आत्मानुशासन से प्रभाचन्द्र ने एक पद्य उद्‌धृत किया है, और नवमी शताब्दी के विद्वान विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है, तथा जयन्तभट्ट, जिनका समय नवमी शताब्दी का उत्तरार्ध है, के मत का न्यायकुमुदचन्द्र आदि में न केवल खण्डन ही किया है किन्तु उनकी मञ्जरी से एक

---

१ न्या० कु०, पृ० ३९३। २ 'न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के पुत्र अभिनन्द ने 'कादम्बरीकथासार' नामक काव्य की रचना की है। उसके प्रारम्भ में उन्होंने अपनी वंशावली दी है। जिसमें लिखा है कि भारद्वाजकुल में शक्ति नाम का गौड़ ब्राह्मण था, जिसका पौत्र शक्तिस्वामी काश्मीर के कर्कोटवंश के मुक्तापीड ललितादित्य (ई० ७३३–७६९) का मंत्री था। इसका पुत्र कल्याणस्वामी याज्ञवल्क्य के समान बुद्धिमान था। इसी कल्याणस्वामी का पौत्र वृत्तिकार जयन्तभट्ट था। (सं० सा० का इतिहास) इस उल्लेख से शक्तिस्वामी की तीसरी पीढ़ी में जयन्त भट्ट आते हैं। प्रत्येक पीढ़ी का यदि २५ वर्ष समय माना जाये तो नवीं शताब्दी के मध्य में जयन्त का उदयकाल ठहरता है।

पद्य भी उद्धृत किया है, अतः प्रभाचन्द्र के समय की आदि अवधि ई० ९०० प्रमाणित होती है। इस प्रकार ई० ९०० से ११५० तक के बीच में किसी समय प्रभाचन्द्र का उदय समझना चाहिए। अब हम इस लम्बी अवधि को सङ्कुचित करके प्रभाचन्द्र का ठीक समय निर्धारित करने का प्रयत्न करेंगे।

इतर दर्शनों के साथ न्यायकुमुदचन्द्र की तुलना करते हुए बतलाया गया है कि वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में व्योमवती टीका का प्रभाव प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों पर है। इस टीका में प्रतिपादित मोक्षस्वरूपविचारणा के साथ प्रमेयकमलमार्तण्ड के द्वितीय अध्याय के अन्त में निरूपित मोक्षविचारणा का मिलान करने पर इसमें कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता कि प्रभाचन्द्र ने इस विचारणा को शब्दशः व्योमवतीटीका से लिया है। तथा उसी प्रकरण में व्योमवतीटीका में जो अनेकान्तभावना के अभ्यास से मोक्ष मानने का खण्डन किया है उसका भी खण्डन प्रमेयकमलमार्तण्ड में पाया जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि प्रभाचन्द्र ने व्योमवती को देखा था। जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी, व्योमशिव की व्योमवती और उदयन की किरणावली की अन्तरंगपरीक्षा करने से ज्ञात होता है कि व्योमशिव ने 'अन्ये तु' करके जयन्त का उल्लेख किया है और किरणावलीकार ने व्योमशिव का 'आचार्य' शब्द से उल्लेख किया है। अतः जयन्त और उदयन के बीच में व्योमशिव को रखना होगा। जयन्त का समय ईसा की नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है और उदयन ने ई० ९८४ में अपनी लक्षणावली समाप्त की थी, अतः ई० ९०० से ९८० तक के समय में व्योमशिव का कार्यकाल समझना चाहिये। यदि इस समय को घटाकर व्योमशिव के समय की अन्तिम अवधि ई० ९५० मान ली जाये तो इसके बाद प्रभाचन्द्र का समय मानना होगा।

पुष्पदन्त कवि कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण पर आचार्य प्रभाचन्द्रकृत एक टिप्पण उपलब्ध है। रत्नकरंड की प्रस्तावना में उसकी अन्तिम प्रशस्ति उद्धृत की गई है, जो निम्नप्रकार है—

"नित्यं तत्र तव प्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं
यातन्तेन समस्तवस्तुविषयं चेतश्चमत्कारकः।
व्याख्यातं हि तदा पुराणममलं स्वस्पष्टमिष्टाक्षरैः
भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चन्द्रार्कताराavधि ॥ १ ॥
तत्त्वाधारमहापुराणगमनद्योती जनानन्दनः
सर्वप्राणिमनःप्रभेदपटुताप्रस्पष्टवाक्यैः करैः।
भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूभृत्प्रभाचन्द्रतः
जीयाट्टिप्पणकः प्रचण्डतरणिः सर्वार्थमग्रद्युतिः ॥ २ ॥

श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।"

---

१. डा० कीथ ने अपने इन्डियन लॉजिक में भी व्योमशिव का लगभग यही समय बतलाया है।
२ पृ० ६१।

महापुराण का जो प्रथमखण्ड इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है, उस की प्रस्तावना में प्रभाचन्द्र के टिप्पण की जयपुरवाली प्रति से एक अन्तिम वाक्य उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेन-सैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणकांचालोक्य कृतमिदंसमुच्चयटिप्पणंअज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला"" रगण श्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्री भोज-देवस्य ॥१०२॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम् ।" इसमें लिखा है कि भोजदेव के राज्य में विक्रम सम्वत् १०८० (ई० १०२३) में चन्द्रमुनि ने यह टिप्पण रचा था। श्रीयुत वैद्य ने इस लेख को प्रमाण मानकर इसका रचनाकाल ई० १०२३ ही स्वीकार किया है। इस उल्लेख की प्रामाणिकता पर विश्वास करके रत्नकरंड की प्रस्तावना में उद्धृत उक्त प्रशस्ति का अन्तिम वाक्य 'श्रीजयसिंहदेव राज्ये''' आदि ठीक नहीं जान पड़ता, क्यों कि भोजदेव की मृत्यु के बाद ई० १०५६–५७ में जयसिंह मालवा के सिंहासन पर बैठा था। यहाँ हम इस अन्तिम वाक्य के सम्बन्ध में विचार करेंगे, क्यों कि प्रमेयकमलमार्तण्ड की मुद्रित प्रति के अन्त में तथा न्यायकुमुदचन्द्र की भा० और श्र० प्रति के अन्त में भी इसी प्रकार के वाक्य मिलते हैं। केवल इतना अन्तर है कि मार्तण्ड में 'श्री भोजदेवराज्ये''परीक्षामुखपद-मिदं विवृतम्' लिखा है तथा न्यायकुमुद में 'श्री जयसिंहदेव राज्ये''न्यायकुमुदचन्द्रो लघीय-स्त्रयालङ्कारः कृत इति मङ्गलम्' लिखा है। न्यायकुमुदचन्द्र के आरम्भिक श्लोकों से स्पष्ट है कि प्रमेयकमल की रचना के बाद न्यायकुमुद की रचना की गई है। अतः पहले की रचना भोज-देव के समय में और दूसरे की उसके उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के समय में हुई, इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम भी ठीक ठीक बैठ जाता है। पहले प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० के कर्ता प्रभाचन्द्र का समय ईस्वी आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और नवमी का पूर्वार्ध माना जाता था अतः पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने प्रमेयकमल० के अन्तिम वाक्य को उसके टीका-टिप्पण-कार का बतलाया था। किन्तु विचार करने पर प्रभाचन्द्र ईसा की दसवीं शताब्दी से पहले के विद्वान् प्रमाणित नहीं होते अतः उक्त वाक्यों को टीका-टिप्पणकार का भी कहकर नहीं टाला जा सकता। तब क्या ये वाक्य स्वयं प्रभाचन्द्र के हैं ? यदि ऐसा हो तो वे धारा के भोज और उसके उतराधिकारी जयसिंह के समकालीन प्रमाणित होते हैं। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें पुनः महापुराण के प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण के प्रशस्ति श्लोकों पर दृष्टिपात करना होगा।

न्यायकुमुद० और प्रमेयकमल० के आदि और अन्त के श्लोकों के साथ टिप्पण के प्रशस्ति-श्लोकों का मिलान करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि टिप्पणकार ने अपने प्रशस्तिश्लोकों को उक्तग्रन्थ के श्लोकों की छाया में बैठकर बनाया है, उन्होंने किसी श्लोक का कोई पद और किसी श्लोक का कोई पद लेकर उक्त श्लोकों की रचना की है। दो श्लोकों की आठ पंक्तियों में से प्रायः एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है, जिसमें एक आधा पद प्रमेयकमल या न्यायकुमुद के श्लोकों से न लिया गया हो। स्पष्टीकरण के लिये—दूसरी पंक्ति का 'यातन्तेन समस्तवस्तु-विषयम्' पद न्या० कु० के प्रारम्भ के श्लोक ५वें के 'जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम्' से लिया गया है। चौथी पंक्ति "भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चंद्रार्कतारावधि" प्रमेयकमल० की प्रशस्ति के श्लोक के "स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि" पद

१ प्रो० हीरालालजी से ज्ञात हुआ है कि जयपुर की उक्त प्रति में उक्त प्रशस्तिश्लोक नहीं हैं।

की ही प्रतिकृति है। छठवीं पंक्ति का 'सर्वप्राणिमनः प्रभेद' पद प्र० मा० के प्रारम्भ के श्लोक के 'सर्वप्राणिहितं प्रभेन्दु' का ही अनुसरण है। अन्तिम की दो पंक्तियां भी प्र० मा० की प्रशस्ति के श्लोक की—"शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्, जीयात् सोऽत्र निबन्ध एष सुचिरं मार्तण्डतुल्योऽमलः," इन पंक्तियों से ही ली गई हैं। सारांश यह है कि उक्त दो श्लोक प्र० मा० और न्या० कु० के श्लोकों के आधार पर ही रचे गये हैं। इस पर से मुख्तार सा० ने इस आशंका को प्रगट करते हुए, कि प्रमेयकमल आदि के कर्ता प्रभाचन्द्र ही उत्तरपुराण के टिप्पणकार हैं, उसका निराकरण किया है और वही समय-वाला बाधक प्रमाण दिया है। टिप्पण के अन्तिम वाक्यों का पर्यवेक्षण करने से न्या० कु० के कर्ता और टिप्पण के कर्ता एक ही व्यक्ति नहीं जान पड़ते। न्या० कु० के कर्ता ने अपनी प्रत्येक कृति के अन्त में अपने गुरु पद्मनन्दि का स्मरण किया है किन्तु टिप्पणवाली प्रशस्ति में ऐसा नहीं है। तथा टिप्पण के जिस अन्तिम वाक्य में समय दिया है उसमें टिप्पणकार ने अपने गुरु को बलात्कारगण के श्रीसंघ का आचार्य बतलाया है तथा उन्हें सत्कवि लिखा है यथा-'बला''रगण श्री संघाचार्यसत्कविशिष्येण'। सत्कवि नाम तो प्रतीत नहीं होता, उपाधि अवश्य हो सकती है। संभव है पाठ अशुद्ध हो या नाम लिखने से छूट गया हो। किन्तु न्या० कु० के कर्ता ने अपने संघ, गण या गच्छ का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्र के गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक को गोल्लाचार्य का प्रशिष्य बतलाया है और गोल्लाचार्य को देशीयगण का आचार्य लिखा है। यदि यह परम्परा ठीक हो तो प्रभाचन्द्र के गुरु देशीयगण के आचार्य ठहरते हैं। अतः दोनों प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति नहीं हैं। टिप्पण के अन्तिम श्लोकों का प्र० क० और न्या० कु० के साथ मिलान करते हुए हम लिख आये हैं कि उन श्लोकों की रचना उक्त दोनों ग्रन्थों के श्लोकों को देखकर की गई है और टिप्पण का रचनाकाल १०२३ ई० लिखा है अतः उससे यह प्रमाणित होता है कि इस समय से पहले न्यायकुमुद और प्रमेयकमल की रचना हो चुकी थी।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि टिप्पण, न्यायकुमुद तथा प्रमेयकमल की किसी किसी प्रति के अन्त में जो वाक्य लिखा मिलता है वह पीछे के किसी व्यक्ति की करतूत है। वह व्यक्ति चाहे कोई टीका-टिप्पणकार हो या अन्य कोई हो, क्योंकि प्रभाचन्द्रभट्टारककृत गद्यकथाकोश की जो प्रति हमें श्रीयुत प्रेमीजी की कृपा से प्राप्त हो सकी है उसमें भी यह वाक्य मिलता है तथा उसकी प्रशस्ति के श्लोकों में भी न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र का अनुसरण किया गया है। प्रति में ८९ वीं कथा की समाप्ति के बाद लिखा है-

"यैराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधनां निर्मलां
प्राप्तं सर्वसुखास्पदं निरुपमं स्वर्गापवर्गप्रदा ? ।
तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना संस्थिता
स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्रकृतः प्रबन्धः ।
कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणां सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ ॥ २ ॥

१ रत्न० प्रस्ता० पृ० ६२।

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः ॥" इसके बाद पुनः कथाएँ प्रारम्भ होजाती हैं। अन्त में 'सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः' आदि पद लिखकर "इति भट्टारक श्रीप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" लिखा है। यह प्रति सम्वत् १६३८ की लिखी हुई है।

जिन ग्रन्थों की जिन प्रतियों के अन्त में उक्त प्रकार का वाक्य पाया जाता है उन की जांच करने से शायद इस प्रवृत्ति के चलन पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। वर्तमान में इसके सम्बन्ध में कुछ कह सकना संभव नहीं है। अस्तु।

इस प्रकार प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण के प्रशस्तिश्लोकों की परीक्षा के परिणामस्वरूप न्यायकुमुद के कर्ता का समय ई० १०२३ के बाद नहीं जाता और व्योमवतीटीका के रचयिता के समय की अवधि ९५० ई० मानने पर प्रभाचन्द्र उसके पहले के विद्वान नहीं हो सकते। अतः ई० ९५० से १०२० तक के मध्य में प्रभाचन्द्र का कार्यकाल प्रमाणित होता है। अतः प्रभाचन्द्र को ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान समझना चाहिये। यह वादिराज के गुरुसमकालीन थे इसी से वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में (१०२५ ई०) अनेक आचार्यों का स्मरण करने पर भी इनका स्मरण नहीं किया है।

सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि भी प्रभाचन्द्र के लघुसमकालीन ज्ञात होते हैं, क्योंकि उनके टीकाग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र के दोनों ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत होता है। और पं० सुखलाल बेचरदास जी ने उनका[1] समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और ग्यारवीं का पूर्वार्ध बतलाया है अतः सन्मतिटीका के रचनाकाल में प्रभाचन्द्र की वृद्धावस्था होनी चाहिये।

प्रभाचन्द्र का बहुश्रुतत्व

आचार्य प्रभाचन्द्र एक बहुश्रुत विद्वान थे। न्यायकुमुदचन्द्र के टिप्पणों तथा प्रस्तावना में दर्शित तुलना से उनके व्यापकज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। सभी दर्शनों के प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का उन्होंने अभ्यास किया था, उनका इतरदर्शनविषयक ज्ञान केवल ऊपरी न था; बल्कि वे प्रत्येक दर्शन के अन्तस्तल में प्रवेश किये हुए थे। यदि ऐसा न होता तो वे अपनी कृतियों में इतने अधिक सफल न हुए होते। इतरमतों की आलोचना करने से पूर्व वे उनके जो पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं वे इतने परिपूर्ण और न्याय्य होते हैं कि उन्हे पढ़कर विपक्षी का आशय स्पष्टतया समझ में आ जाता है और ऐसा मालूम नहीं होता कि लेखक अपनी ओर से झूठी बातें गढ़कर विपक्षी के सिर पर लाद रहा है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिन ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं उनमें से कुछ की तालिका निम्न प्रकार है—न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायमञ्जरी, वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तपादभाष्य, पातञ्जलमहाभाष्य, योगसूत्र, व्यासभाष्य, सांख्यकारिका, शावरभाष्य, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, छान्दोग्योपनिषत्, बृहदारण्यक, अभिधर्मकोश, न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक, माध्यमिकवृत्ति आदि। ये सभी ग्रन्थ अपने अपने दर्शन के मौलिक ग्रन्थ हैं और उनका उपयोग करने से प्रभाचन्द्र के बहुश्रुत विद्वान होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

---

१ सन्मति० की गुजराती प्रस्तावना पृ० ८५।

प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ

प्रभाचन्द्र के तीन ग्रन्थों का ही पता अब तक चल सका है। यदि शाकटायनन्यास भी इन्हीं प्रभाचन्द्र की रचना है, जैसा कि शिलालेखों के उल्लेख से स्पष्ट है तो इनके चार ग्रन्थ कहे जाने चाहिये। उनका परिचय संक्षेप में निम्न प्रकार है—

प्रमेयकमलमार्तण्ड—माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ का यह विस्तृत भाष्य है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में भी प्रभाचन्द्र ने अपने गुरु का नाम पद्मनन्दिसैद्धान्तिक लिखा है। तथा न्यायकुमुदचन्द्र के 'माणिक्यनन्दिपदमप्रतिमप्रबोधम्' आदि श्लोक से स्पष्ट है कि न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता की ही यह रचना है और उससे पहले इसका निर्माण हुआ है। परीक्षामुख शुद्धन्याय का ग्रन्थ है अतः प्रमेयकमल का प्रतिपाद्य विषय भी न्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। सन्मतिटीकाकार अभयदेवसूरि और स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि ने इसग्रन्थ का विशेष अनुसरण किया है। स्याद्वादरत्नाकर में तो प्रमेयकमल और उसके रचयिता का नामनिर्देश भी किया है और स्त्री मुक्ति तथा केवलिमुक्ति के समर्थन में उसकी युक्तियों का खण्डन किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र—प्रस्तावना के प्रारम्भ में इसकी आलोचना तथा विषयनिरूपण कर आये हैं। इसके बहुत से विषय प्रमेयकमलमार्तण्ड से मिलते हैं, किन्तु उनमें द्विरुक्ति नहीं आने पायी है। प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना के बाद जो नवीन नवीन युक्तियां ग्रन्थकार के विचार में अवतरित हुईं उनका निर्देश इसमें किया गया है, तथा जिन विषयों में द्विरुक्ति होने की संभावना थी उनका निरूपण न करके प्रमेयकमलमार्तण्ड में उन्हें देखलेने का अनुरोध कर दिया है। फिर भी इसमें अनेक ऐसे विषय हैं जो प्रमेयकमल में नहीं है। यद्यपि इसका मुख्य कारण मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय भी है क्यों कि उसमें नय और निक्षेप की विस्तृत चर्चा है, जो परीक्षामुख में नहीं है, तथापि ग्रन्थकार ने भी अपने स्वतंत्र प्रबन्धों में बहुत सी मौलिक बातें बतलाई हैं। उदाहरण के लिये—वैभाषिकसम्मत प्रतीत्यसमुत्पाद का खण्डन, संस्कृत और प्राकृत भाषा के साधुत्व और असाधुत्व की चर्चा, प्रतिबिम्बविचार, तम और छाया को द्रव्यत्वसिद्धि आदि प्रकरणों का नाम उल्लेखनीय है। इसके सिवा न्यायकुमुद की रचनाशैली भी प्रसन्न और मनोमुग्धकर है जैसा कि प्रारम्भ में लिख आये हैं।

तत्त्वार्थवृत्ति—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इसके अस्तित्व की सूचना प्रकाशित की थी और उसकी प्रति का भी परिचय दिया था।[1] किन्तु उन्होंने यह नहीं लिखा कि यह प्रति किस भण्डार में मौजूद है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की यह लघुवृत्ति है। इसमें सर्वार्थसिद्धि के अप्रकटित पदों को व्यक्त किया गया है। प्रारम्भिक भाग निम्नप्रकार है "कश्चिद्भव्यः प्रसिध्यैकनामा प्रत्यासन्ननिष्ठः निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं चोच्यते प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः।"

इसकी प्रशस्ति उद्धृत कर आये हैं। उस से स्पष्ट है कि यह न्यायकुमुद के रचयिता की ही कृति है। यद्यपि प्रशस्ति आदि से ही न्यायकुमुदचन्द्र और इस वृत्ति का एककर्तृकत्व प्रतीत हो जाता है, किन्तु प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थ पर कोई वृत्ति लिखी थी, यह बात स्याद्वादरत्नाकर

---

1 अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९७।

के एक उल्लेख से भी प्रमाणित होती है। केवलिभुक्ति के निषेधक दिगम्बरों के मत की आलोचना करते हुए वादिदेवसूरि लिखते हैं—"प्रभाचन्द्रस्तु 'छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश' इति 'बादरसाम्पराये सर्वे' इति च पूर्वापरपरिगतां सूत्रद्वयीं विधिपरां परामृशताऽन्तरालिकं तु 'एकादश जिने' इति सूत्रं निषेधनिष्ठं निष्टङ्कयितुमेकादशशब्दस्यैकाधिकदशस्वरूपं प्रसिद्धं सम्भविनं चार्थमवगणय्य···'एकेनाधिका न दश एकादश इति व्युत्पत्तेः इत्येवमर्थं परिकल्पयन्···" इत्यादि। इसमें लिखा है कि प्रभाचन्द्र 'सूक्ष्मसाम्पराययोश्चतुर्दश' तथा 'बादरसाम्पराये सर्वे' इन दोनों सूत्रों का अर्थ तो विधिपरक करते हैं किन्तु इन दोनों के बीच में पड़े हुए 'एकादशजिने' सूत्र का अर्थ 'एकेनाधिका न दश एकादश' करके निषेधपरक करते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में केवलिभुक्ति के खण्डन में 'एकादशजिने' का उक्त अर्थ किया गया है, किन्तु वहाँ आगे और पीछे के शेष दो सूत्रों का कोई उल्लेख नहीं है। इससे पता चलता है कि प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थ पर भी कोई वृत्ति रची है जिसमें उक्त तीनों सूत्रों में से दो का अर्थ विधिपरक किया है।

शाकटायनन्यास—शिलालेखों के उल्लेख तथा किंवदन्ती के आधार पर यह ग्रन्थ भी न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र की ही कृति कहा जाता है। ग्रन्थ का कुछ भाग उपलब्ध होने पर भी उसके कर्ता के सम्बन्ध में कोई निर्णयात्मक बात का पता उससे नहीं चल सका।

इस प्रकार ये चार ग्रन्थ, जिनमें से तीन विशालकाय हैं और एक लघुकाय, अपने कर्ता के पाण्डित्य और नाम को आचन्द्रदिवाकर अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ हैं।

इस प्रकार इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थों का तुलनात्मक परिचय और ग्रन्थकारों का विस्तृत इतिवृत्त देने के पश्चात इस प्रस्तावना को यहीं समाप्त किया जाता है।

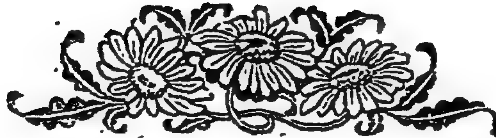
आत्मनिवेदन और आभारप्रदर्शन

न्यायकुमुदचन्द्र के संपादन में सहयोग का वचन देने पर जो कार्य मेरे सुपुर्द किया गया, उसमें यह प्रस्तावना भी थी। मैं इस कार्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ यह तो ऐतिहासिकों की पर्यालोचना से ही जाना जा सकेगा। इतिहास का विषय अति जटिल है, पद पद पर भ्रम होने की संभावना बनी रहती है। तथा ऐतिहासिक को उपलब्ध सामग्री और कल्पना के आधार पर ही अपना अन्वेषणकार्य करना होता है। फलतः किसी नवीन सामग्री के प्रकाश में आने पर कभी कभी सब करा कराया चौपट हो जाता है। अतः ऐतिहासिक के सामने सफलता की अपेक्षा असफलता की ही संभावना अधिक रहती है किन्तु इससे वह अपने कार्य से विरत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो आज संसार का प्राचीन इतिवृत्त अन्धकार में ही छिपा रहता। यही सब बातें सोच विचार कर मैंने इस दिशा में पग बढ़ाया है। मेरे इस प्रयास से भारत के दार्शनिक महापुरुषों के समय निर्धारण में यदि थोड़ी सी भी प्रगति हुई और ऐतिहासिक पर्यालोचना को अनुपयोगी समझकर उधर से आंख बन्द करनेवाली विद्वन्मण्डली का ध्यान इस ओर आकर्षित होसका तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

अन्त में, मैं उन सब महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट किये विना नहीं रह सकता, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से मुझे अपने कार्य में सहायता मिल सकी है। इस प्रस्तावना की रूपरेखा सन्मतितर्क की गुजराती प्रस्तावना की आभारी है। सहयोगी होने के

नाते पं० महेन्द्रकुमार जी से तो पूरी सहायता मिलनी ही चाहिये थी। और वह मिली भी है। सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह का परिचय तथा न्यायकुमुद की इतर दर्शनों के ग्रन्थों के साथ तुलना तो उनकी ही लेखनी से प्रसूत हुई है, और प्रभाचन्द्र के समयनिर्द्धारण में उससे काफी सहायता मिली है। श्वेताम्बरविद्वान मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने कृपा करके प्राकृतकथावली ग्रन्थ की प्रेसकापी से हरिभद्रसूरि की कथा का भाग भेज दिया था। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश की प्रति अवलोकनार्थ भेजने की कृपा की थी। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने समय समय पर पत्रों का उत्तर देकर तथा अकलंक नाम के विद्वानों की सूची भेजकर अनुगृहीत किया है। प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने डा० पाठक के लेखों की सूची, पत्र-पत्रिकाओं के स्थल निर्देश के साथ भेजने का कष्ट किया था। प्रो० हीरालाल जी ने पुष्पदन्तकृत महापुराण के टिप्पण के बारे में जो कुछ पूछा गया उसका तुरन्त उत्तर देकर अनुगृहीत किया। इन महानुभावों के सिवाय, मेरे अनुजतुल्य श्री खुशालचन्द्र वात्सल्य द्वारा, जो हिन्दूविश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा में अध्ययन करते हैं, हिन्दू विश्वविद्यालय की विशाल लांइब्रेरी से बहुत सी आवश्यक पुस्तकें और पत्रिकाएँ देखने को मिल सकीं तथा प्रूफसंशोधन में उन्होंने पूरी पूरी सहायता पहुंचाई है। उक्त सभी सज्जनों और बन्धुजनों का मैं हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ।

स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, बनारस
ज्येष्ठ शुक्ला १२, वी० नि० सं० २४६४ } कैलाशचन्द्र शास्त्री



प्रस्तावना में उपयुक्त पुस्तक-पत्रों की सूची[1]

संस्कृत

अकलंकप्रायश्चित्त (प्रायश्चित्तादिसंग्रह में)	(माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला वम्बई)
अकलंकस्तोत्र	(जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता)
आदिपुराण	(पं० लालारामजी की टीका सहित)
गद्यचिन्तामणि	(टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री तंजोर)
चतुर्विंशतिप्रवन्ध	(सिन्धी सिरीज, कलकत्ता)
जैन शिलालेखसंग्रह	(माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला वम्बई)
जयसलमेर कैटलाग	(गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा)
जैनेन्द्र सूत्रपाठ	(जैनेन्द्र मुद्रणालय, कोल्हापुर)
धर्मसंग्रहणी (उत्तरभाग)	(देवचन्द लालचन्दभाई ट्रस्ट, सूरत)
नेमिदत्तकृत कथाकोष	(वम्बई)
नियमसार टीका	(जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, वम्बई)
प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोष	(पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्रेषित प्रति)
प्रभावकचरित	(निर्णयसागर प्रेस, वम्बई)
प्राकृतकथावली का भाग	(मुनि पुण्यविजय जी द्वारा प्रेषित प्रेसकापी)
पाटन कैटलाग	(गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा)
यशस्तिलकचम्पू	(निर्णयसागर प्रेस, वम्बई)
वासवदत्ता	(कलकत्ता, संस्करण)
स्वरूपसम्वोधन (लघीयस्त्रयादिसंग्रह में)	(माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, वम्बई)
हर्षचरित	(निर्णयसागर प्रेस, वम्बई)
हरिवंशपुराण	(निर्णयसागर प्रेस, वम्बई)

हिन्दी

अनेकान्त (पत्र)	(सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, सरसावा)
ग्रन्थपरीक्षा तीसरा भाग	(लेखक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, सरसावा)
जैनहितैषी (पत्र)	(सम्पादक पं० नाथूराम जी प्रेमी, वम्बई)
जैनसिद्धान्त भास्कर (पत्र)	(जैन सिद्धान्त भवन, आरा)
जैनदर्शन (पत्र)	(जैन संघ, अम्वाला छाउनी)
जैन साहित्य संशोधक (पत्र)	(सम्पादक मुनि जिनविजयजी)

---

१ इस तालिका में निर्दिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन दार्शनिक ग्रन्थों का उपयोग भूमिका लिखने में किया गया है उनका नामनिर्देश न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त ग्रन्थसूची में किया है।

तिब्वत में बौद्धधर्म (भिक्षु राहुल सांकृत्यायन)
'दिगम्बर जैन' का सिल्वरजुबिली अंक (सम्पादक मूलचन्द किसनदास कापडिया सूरत)
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना (ले० प्रिंसि० गोपीनाथ कविराज काशी)
भारत के प्राचीन राजवंश द्वितीयभाग (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
भारत के प्राचीन राजवंश तृतीयभाग (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
रत्नकरण्डश्रावकाचारकी भूमिका (माणिकचन्द्रजैन ग्रन्थमाला बम्बई)
ह्वेनत्सांग का यात्राविवरण (इण्डियन प्रेस, प्रयाग)
संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (ले० पं० सीताराम जोशी, विश्वनाथ शास्त्री काशी)
समन्तभद्र (ले० पं० जुगलकिशोर मुख्तार)

गुजराती

जैन साहित्यनो इतिहास (मोहनलाल दुलीचन्द देसाई)
प्रभावकचरित्र की प्रस्तावना (मुनि कल्याणविजयजी, आत्मा० जै० स० भावनगर)
सन्मतितर्क की प्रस्तावना (पं० सुखलाल बेचरदासजी अहमदाबाद)
हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास, प्रथमभाग (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद)
हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास, द्वितीयभाग (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद)

ENGLISH.

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona
Buddhist Logic, Part 1 (Professor. Stcherbatsky)
Buddhist Logic, Part 2. (Professor Stcherbatsky)
Catalogus Catalogorum of the Univrsity of Madras.
History of the Indian Logic (S. C. Vidyabhushana)
History of the Mediaeval school of Indian Logic (S. C. Vidyabhushana)
History of the Indian Logic (Dr. Keith)
Inscriptions at Sramanabelgola (Epigraphia Karnataka vol II, second edition)
Introduction of the Maha Purana (Manikch. Granthamala Bombay)
Journal of the Royal Asiatic Society Bombay Branch.
Nyaya Praves'a Pt. 1 (Gaikwara Series Baroda)
Nyaya Praves'a. Pt. 2. (Gaikawara series Baroda)
Raja Tarangini (Translated by R. s. Pandit)
Tattva bindu, Introduction (Annamalai University)
Tattva sam'graha, Introduction (Gaikawara Series Baroda)
Vadanyaya, Introduction (Bhikshu Rahula Sam'krtyayan)



मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम्

अर्थसं०	अर्थसंग्रहः	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
अद्वयवज्रसं० तत्त्वरत्ना०	अद्वयवज्रसंग्रहतत्त्वरत्नावली	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
अनुयोगद्वा०	अनुयोगद्वारसूत्रम्	(आगमोदय समिति सूरत)
अनेकान्तवादप्र० टि०	अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणकम्	(हेमचन्द्राचार्यसभा पाटन)
अनेका० प० अनेकान्तजय०	अनेकान्तजयपताका	(काशी यशोविजयग्रन्थमाला)
अभि० कोश अभिधर्मको०	अभिधर्मकोशः	(काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला)
अभिध० व्या०	अभिधर्मकोशनालन्दाव्याख्या	(काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला)
अभि० आलोक	अभिसमयालङ्कारालोकः	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
अमरको०	अमरकोशः	(निर्णयसागर बंबई)
अलंचि०	अलङ्कारचिन्तामणिः	(प्र० नेमीचन्द्र सखारामदोशी सोलापुर)
अवयविनिरा०	अवयविनिराकरणम्	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
अष्टश० अष्टसह०	अष्टशती अष्टसहस्री	(निर्णयसागर प्रेस बंबई)
अष्टसह०	अष्टसहस्री	(निर्णयसागर प्रेस बंबई)
आ०	आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः	
आ० वि०	आदर्शप्रतौ त्रुटिता विवृतिः	
आत्मानु०	आत्मानुशासनम्	(प्रथमगुच्छक काशी)
आप्तप० आप्तपरी०	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	(,, ,,)
आलापपद्धतिः	आलापपद्धतिः	(नयचक्रसंग्रहः माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
आवश्यकनि० आ० नि०	आवश्यकनिर्युक्तिः	(आगमोदयसमिति सूरत)
आव० नि० हरि०	आवश्यकनिर्युक्तिहरिभद्रटीका	(आगमोदयसमिति सूरत)
उपायहृदय०	उपायहृदयम्	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
कठोप०	कठोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
क्षुर०	क्षुरोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
कात्यायनवार्त्तिकम्	पाणिनिसूत्रोपरि कात्यायनवार्त्तिकम्	(निर्णयसागर बंबई)
कादम्बरी	कादम्बरीकाव्यम्	(निर्णयसागर बंबई)
काव्यानुशा०	काव्यानुशासनम्	(निर्णयसागर बंबई)
कौ० ब्रा०	कौशीतकिब्राह्मणम्	(निर्णयसागर बंबई)
खंडनखंड०	खंडनखंडखाद्यम्	(लाजरस कं० काशी)

गौडपादभा०	सांख्यकारिकागौडपादभाष्यम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
क्षण० सि०	क्षणभङ्गसिद्धिः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
चतुःश०	चतुःशतकम्	(विश्वभारती शान्तिनिकेतन)
चन्द्रप्रभच०	चन्द्रप्रभचरित्रम्	(निर्णयसागर बम्बई)
चरकसं०	चरकसंहिता	(,, ,,)
चित्सुखी	तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी	(,, ,,)
छन्दोमं०	छन्दोमञ्जरी	(जीवानन्द भट्टाचार्य कलकत्ता)
छान्दोग्यो०, छान्दोग्योप०	छान्दोग्योपनिषत्	(निर्णयसागर बम्बई)
ज०	जयपुरीयबाबादुलीचन्द्रभण्डारीया न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः	
ज० वि०	जयपुरीयबाबादुलीचन्द्रभण्डारीया विवृतेः लिखिता प्रतिः	
जैनतर्कभा०	जैनतर्कभाषा	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
जैनतर्कवा०	जैनतर्कवार्त्तिकम्	(लाजरस कं० काशी)
जैनतर्कवा० वृ०	जैनतर्कवार्त्तिकवृत्तिः	(,, ,,)
तर्कभा०, तर्कभाषा	तर्कभाषा केशवमिश्रकृता	(निर्णयसागर बम्बई)
तर्कसं० दी०	तर्कसंग्रहदीपिका	(नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स काशी)
तर्कशा०	तर्कशास्त्रम्	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
तत्त्वचि० अव०	तत्त्वचिन्तामणि-अवयवग्रन्थः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
तत्त्वयाथा०	तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रहः	(बड़ौदा गा० सीरिज़)
तत्त्वसं० पं०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका	(बड़ौदा गा० सीरिज़)
तत्त्वा० सू०, तत्त्वार्थसू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	(जैनग्रन्थरत्नाकर बम्बई)
तत्त्वार्थराज०, त० राजवा०, राजवा०, तत्त्वार्थराजवा०	तत्त्वार्थराजवार्त्तिकम्	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनीसंस्था कलकत्ता)
तत्त्वार्थश्लो०, तत्त्वा०श्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम्	(निर्णयसागर प्रेस बम्बई)
तत्त्वार्थसार	तत्त्वार्थसारः	(ग्रंथमगुच्छक काशी)
तत्त्वार्थाधि०सू०	तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्	(आर्हत्प्रभाकरकार्यालय पूना)
तत्त्वार्थभा०, तत्त्वार्थाधिग०भा०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम्	(आर्हत्प्रभाकरकार्यालय पूना)
तत्त्वार्थभा० व्या०	तत्त्वार्थभाष्यव्याख्या सिद्धसेनीया	(आगमोदयसमिति सूरत)

तत्त्वो० तत्त्वोप०	तत्त्वोपप्लवसिंहः लिखितः	(पं० सुखलालजी B.H.U.)
तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषत्	(निर्णयसागर बम्बई)
द्रव्यानुयोगत०	द्रव्यानुयोगतर्कणा	(रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बई)
धर्मसं०	धर्मसंग्रहणी	(आगमोदयसमिति सूरत)
नयचक्रवृ०	नयचक्रवृत्तिः लिखिता	(श्वे० जैनमन्दिर रामघाट काशी)
नयचक्रसं०	नयचक्रसंग्रहः	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
नयोप० वृ०	नयोपदेशवृत्तिः	(आत्मानन्द सभा भावनगर)
न्यायवि० न्या० वि०	न्यायविनिश्चयः न्यायविनिश्चयविवरणाद् उद्धृतः	(स्याद्वाद विद्यालय काशी)
न्यायविनि० वि० न्यायवि० वि०	न्यायविनिश्चयविवरणम् लिखितम्	(स्याद्वाद विद्यालय काशी)
न्यायदी०	न्यायदीपिका	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
न्यायाव०	न्यायावतारः	(श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स बंबई)
न्यायाव० टी०	न्यायावतारटीका	(„ „ „)
न्यायावता० टी० टि० न्यायाव० टि०	न्यायावतारटीकाटिप्पणम्	(„ „ „)
न्यायप्र०	न्यायप्रवेशः	(बड़ौदा गा० सिरीज़)
न्यायप्र० वृ०	न्यायप्रवेशवृत्तिः	(„ „ „)
न्यायप्र० वृत्तिपं० न्यायप्र० वृ० पं०	न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका	(„ „ „)
न्यायबि०	न्यायबिन्दुः	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायबि० टी०	न्यायबिन्दुटीका	(„ „ „)
न्यायबि० टी० टि०	न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
न्या० सू० न्यायसू०	न्यायसूत्रम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायभा०	न्यायभाष्यम्	(गुजराती प्रेस, बंबई)
न्यायवा० न्या० वा०	न्यायवार्त्तिकम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायवा० ता० टी० न्या० वा० ता० टी० ता० टी०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(„ „ „)
न्यायसू० वृ० न्या० सू० वृ०	न्यायसूत्रवृत्तिः	(„ „ „)
न्यायसार	न्यायसारः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
न्यायसारटी०	न्यायसारतात्पर्यदीपिकाटीका	(„ „ „)

न्यायमं०	न्यायमञ्जरी	(विजयनगरम् सीरिज् काशी)
न्यायकलि०	न्यायकलिका	(प्रिन्स ऑफ वेल्स सीरिज् काशी)
न्यायकु०	न्यायकुसुमाञ्जलिः	(चौखम्बा सीरिज् काशी)
न्यायकु० प्रका०	न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशः	(,, ,, ,,)
न्यायली० / न्यायलीला०	न्यायलीलावती	(निर्णयसागर बंबई)
न्यायली० प्रका०	न्यायलीलावतीप्रकाशः	(चौखम्बा सीरिज् काशी)
न्यायली० कण्ठा०	न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्	(,, ,, ,,)
न्यायमुक्ता० दिन०	न्यायमुक्तावली दिनकरी	(निर्णयसागर बंबई)
न्यायसि० मं०	न्यायसिद्धान्तमञ्जरी	(न्यायकोश पृ० ५५४)
न्यायबो०	तर्कसंग्रहन्यायबोधिनी	(नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स काशी)
न्यायको०	न्यायकोशः	(भाण्डारकर सीरिज् पूना)
परीक्षामु० / परीक्षामुखसू०	परीक्षामुखसूत्रम्	(जैनग्रन्थरत्नाकर बंबई)
पञ्चाध्यायी	पञ्चाध्यायी रायमल्लकृता	(प्र०कलप्पा भरमप्पा निटवे कोल्हापुर)
पञ्चास्तिका०	पञ्चास्तिकायः	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई)
पञ्चा० टी०	पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्तिः	(,, ,, ,,)
पञ्चास्ति० तत्त्व०	पञ्चास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः	
पात० महाभा०	पातञ्जलमहाभाष्यम्	(चौखम्बा सीरिज् काशी)
प्रकरणपं० / प्रक० पं०	प्रकरणपञ्जिका	(,, ,, ,,)
प्रज्ञापना	प्रज्ञापनासूत्रम्	(आगमोदयसमिति सूरत)
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रहः लिखितः	(मुनि पुण्यविजयजी पाटन)
प्रमाणपरी० / प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनीसंस्था कलकत्ता)
प्रमाणलक्षणटी०	प्रमाणलक्षणटीका	(कलकत्ता)
प्रमाणतत्त्वा० / प्रमा०त० / प्रमाणत०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः	(यशोविजयग्रन्थमाला काशी)
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा	(आर्हत्प्रभाकर कार्यालय पूना)
प्रमाणस० / प्रमा० स०	प्रमाणसमुच्चयः	(मैसूर युनि० सीरिज)
प्रमाणसमु० टी०	प्रमाणसमुच्चयटीका	(,, ,, ,,)
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्त्तिकम् पं० राहुलसांकृत्यायनेन संप्रेषितं प्रूफपुस्तकम्	
प्रमाणवा० अलं०	प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारः	(महाबोधि सोसाइटी सारनाथ)
प्रमेयरत्नमा० / प्रमेयरत्न०	प्रमेयरत्नमाला	(विद्याविलास प्रेस काशी)
प्रमेयर० टि०	प्रमेयरत्नमालाटिप्पणम्	(,, ,, ,,)

प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्त्तण्डः	(निर्णयसागर बंबई)
प्रमेयक० टि०	प्रमेयकमलमार्त्तण्डटिप्पणी	(,, ,,)
प्रव० सार	प्रवचनसारः	(रायचन्द्रशास्त्रमाला बंबई)
प्रशस्तपा० भा० / प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्यम्	(विजयनगरम् सीरिज़ काशी)
प्रश० व्योमवती / प्रश० व्यो०	प्रशस्तपादभाष्यव्योमवतीटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
प्रशस्त० क० / प्रश० कन्दली / प्रश०भा०कन्द०	प्रशस्तपादभाष्यकन्दलीटीका	(विजयनगरम् सीरिज़ काशी)
प्रशस्त० किरणा०	प्रशस्तपादभाष्यकिरणावलीटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
ब०	वनारसस्थस्याद्वादविद्यालयसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः	
बोधिनी०	न्यायकुसुमाञ्जलिबोधिनी	(प्रिन्स ऑफ वेल्स सीरिज़ काशी)
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतारः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
बोधिचर्या० पं०	बोधिचर्यावतारपञ्जिका	(,, ,, ,,)
बृह० टी०	बृहतीटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
बृहत्स्वय० / बृहत्स्व०	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्	(प्रथमगुच्छक काशी)
बृह० सर्वज्ञ सि० / सर्वज्ञसि०	बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः	(लघीयस्त्रयादिसंग्रहः माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बंबई)
बृहद्द्रव्यसं०	बृहद्द्रव्यसंग्रहः	(रायचन्द्रशास्त्रमाला बंबई)
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
बृहदा० वार्त्ति० / बृहदा० वा०	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिकम्	(आनन्दाश्रम पूना)
ब्रह्म०	ब्रह्मोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
ब्रह्मबिन्दूपनि०	ब्रह्मबिन्दूपनिषत्	(,, ,,)
ब्रह्मसू०	ब्रह्मसूत्रम्	(,, ,,)
ब्रह्मसू० भास्करभा०	ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
ब्रह्मसू० शां० भा०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्	(निर्णयसागर बंबई)
ब्रह्मसू०शा०भा०आनंद०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य-आनन्दगिरिटीका	(,, ,,)
ब्रह्मसू०शा०भा०रत्नप्रभा	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाटीका	(,, ,,)
भगवद्गी०	भगवद्गीतोपनिषत्	(आनन्दाश्रम पूना)
भगवद्गी० शा० भा०	भगवद्गीतोपनिषत् शाङ्करभाष्यम्	(,, ,,)
भावप्रका०	भावप्रकाशः	(वेङ्कटेश्वर प्रेस बंबई)
भां०	भण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरपूनासत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य ताडपत्रे कार्णाटाक्षरे लिखिता प्रतिः	

मध्यान्तवि० सू० टी०	मध्यान्तविभागसूत्रटीका	(विश्वभारती–शान्तिनिकेतन)
महाभा० प्रदीप	महाभाष्यप्रदीपव्याख्या	(चौखम्बा सीरिज्)
महायानसूत्रालं०	महायानसूत्रालङ्कारः	(पेरिस सं० सिल्वनलेवी)
माण्डूक्य० गौडपा० शाङ्करभा०	माण्डूक्योपनिषद्गौडपादकारिकाशाङ्करभाष्यम्	(आनन्दाश्रम पूना)
माध्यमिकवृ०	माध्यमिकवृत्तिः	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
मीमां० द०	मीमांसासूत्रम्	(निर्णयसागर बंबई)
मी० श्लो० मीमांसाश्लो० मीमां० श्लो०	मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम्	(चौखम्बा सीरिज् काशी)
मी० श्लो० न्यायर० मी० श्लो० टी०	मीमांसाश्लोकवार्त्तिकन्यायरत्नाकरव्याख्या	(,, ,, ,,)
मुक्तावली	मुक्तावली विश्वनाथीया	(निर्णयसागर बंबई)
मुक्ता० दिन० रामरुद्री	मुक्तावलीदिनकरीरामरुद्रीटीका	(,, ,,)
मुण्डकोपनि०	मुण्डकोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
मैत्र्युप०	मैत्र्युपनिषत्	(,, ,,)
युक्तिप्रबो०	युक्तिप्रबोधः	(भावनगर)
युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासनम्	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
युक्त्यनुशा० टी०	युक्त्यनुशासनटीका	(,, ,, ,,)
योगसू०	योगसूत्रम्	(चौखम्बा सीरिज काशी)
योगसू० व्यासभा० व्यासभा० योगद० व्यासभा०	योगसूत्रव्यासभाष्यम्	(,, ,, ,,)
योगद० तत्त्ववै०	योगदर्शनतत्त्ववैशारदी	(,, ,, ,,)
योगकारिका योगका०	योगकारिका	(,, ,, ,,)
योगवा०	योगवार्त्तिकम्	(,, ,, ,,)
योगशा०	योगशास्त्रम् हेमचन्द्राचार्यकृतम्	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
रत्नाकरावता०	रत्नाकरावतारिका	(यशोविजयग्रन्थमाला काशी)
लघी०	लघीयस्त्रयम्	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
लघी० वृ०	लघीयस्त्रयवृत्तिः अभयनन्दीया	(,, ,, ,,)
लंकावतारसू०	लंकावतारसूत्रम्	(लन्दन)
लौकिकन्यायाञ्जलिः	लौकिकन्यायाञ्जलिः प्रथमभागः	(निर्णयसागर बंबई)
वाक्यप०	वाक्यपदीयम्	(चौखम्बा सीरिज काशी)

वाक्यप० टी०	वाक्यपदीयटीका हेलाराजीया	(चौखम्बा सीरिज काशी)
वादन्याय	वादन्यायः	(महाबोधि सोसाइटी सारनाथ)
विधिवि०	विधिविवेकः	(लाजरस कंपनी काशी)
विधिवि० न्यायकणि०	विधिविवेकन्यायकणिकाटीका	(,, ,, ,,)
विवरणप्र० / विवरणप्र० सं०	विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः	(विजयनगरम् सीरिज काशी)
विंश० विज्ञप्तिमा०	विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः	(पेरिस सं० सिल्वनलेवी)
विशेपाव० भा० / विशेपा० भा०	विशेपावश्यकभाष्यम्	(यशोविजय ग्रन्थमाला काशी)
विशेपाव० बृहद्वृ०	विशेपावश्यकभाष्यबृहद्वृत्तिः	(,, ,, ,,)
वेदान्तपरि०	वेदान्तपरिभापा	(निर्णयसागर बंबई)
वैशे० सू० / वैशे० द०	वैशेपिकसूत्रम्	(,, ,,)
वैशे० उप०	वैशेपिकसूत्रोपस्कारः	(,, ,,)
वै० सू० वि०	वैशेपिकसूत्रविवृतिः	(,, ,,)
व्या० प्रज्ञ०	व्याख्याप्रज्ञप्तिः	(आगमोदयसमिति सूरत)
व्योम०	प्रशस्तपादभाष्यव्योमवतीटीका	(चौखम्बा सिरीज् काशी)
शां०भा०भामती / भामती	शांकरभाष्यभामतीटीका	(निर्णयसागर बंबई)
शावरभा०	शावरभाष्यम्	(आनन्दाश्रम पूना)
शावरभा० बृह० / बृहती	शावरभाष्यबृहतीटीका	(चौखम्बा सीरिज् काशी)
शावरभा० प्रभाटी०	शावरभाष्यप्रभाटीका	(आनन्दाश्रम पूना)
शास्त्रवा०	शास्त्रवार्त्तासमुच्चयः	(आगमोदयसमिति सूरत)
शास्त्रवा० टी०	शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीका यशोविजयकृता	(यशोविजयग्रन्थमाला काशी)
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका	(विद्याविलासप्रेस काशी)
शास्त्रदी० युक्तिस्नेह-प्र० सि०	शास्त्रदीपिकायुक्तिस्नेहप्रपूरिणीसिद्धान्त-चन्द्रिका	(निर्णयसागर बंबई)
शिक्षासमु०	शिक्षासमुच्चयः	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
श्वेताश्व०	श्वेताश्वतरोपनिपत्	(निर्णयसागर बंबई)
श्र०	श्रवणबेलगोलीयजैनमठसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य ताड़पत्रे कार्णाटाक्षरे लिखिता प्रतिः	
सन्मति० टी०	सन्मतितर्कटीका	(गुजरातपुरातत्त्वमंदिर अमदावाद)

सर्वद० सं०	सर्वदर्शनसंग्रहः	(भाण्डारकरसीरिज़ पूना)
सम्बन्धवा०	सम्बन्धवार्त्तिकम्	(आनन्दाश्रम पूना)
समव० स्तो०	समवशरणस्तोत्रम्	(सिद्धान्तसारादिसंग्रहः माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
सर्वार्थसि०	सर्वार्थसिद्धिः	(कलाप्पा भरमाप्पा निटवे कोल्हापुर)
सप्तभंगित०	सप्तभंगितरंगिणी	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई)
सं० सिद्धभ०	संस्कृतसिद्धभक्तिः पूज्यपादीया	(प्र० पं० जुगुलकिशोर मुख्तार सरसावा)
सांख्यका०	सांख्यकारिका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
सां० माठरवृ० सांख्यका० माठरवृ० माठरवृ०	सांख्यकारिका माठरवृत्तिः	(,, ,, ,,)
सांख्यकौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
सांख्यसं०	सांख्यसंग्रहः	(,, ,, ,,)
सांख्यद०	सांख्यदर्शनम्	(,, ,, ,,)
सांख्यसू०	सांख्यसूत्रम्	(,, ,, ,,)
सां० प्र० भा०	सांख्यप्रवचनभाष्यम्	(,, ,, ,,)
सि० चन्द्रोदय	सिद्धान्तचन्द्रोदयः	(,, ,, ,,)
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखिता	(पं० सुखलालजी B.H.U.)
सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासनम्	(प्र० मनसुखभाई अमदावाद)
सुश्रुत०	सुश्रुतसंहिता	(निर्णयसागर बंबई)
स्थानाङ्गसूत्र	स्थानाङ्गसूत्रम्	(आगमोदयसमिति सूरत)
स्पन्दका० व्या०	स्पन्दकारिकाव्याख्या	(काश्मीर संस्कृत सीरिज़)
स्फुटार्थ अभि०	स्फुटार्थ-अभिधर्मकोशव्याख्या	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
स्या० मं०	स्याद्वादमञ्जरी	(आर्हत्प्रभाकर कार्यालय पूना)
स्या० रत्ना० स्या० रत्नाकर	स्याद्वादरत्नाकरः	(,, ,, ,,)
स्वामिकार्त्ति०	स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	(जैन सिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
षट्प्रा० टी०	षट्प्राभृतटीका	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
षड्द० स० टी० षड्द० टी०	षड्दर्शनसमुच्चयटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
षड्दर्शनसमु० बृह०	षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः गुणरत्नकृता	(आत्मानन्द सभा भावनगर)
हेतुबिन्दु	हेतुबिन्दुः लिखितः	(पं० सुखलालजी B.H.U.)
हेतुबिन्दुटी०	हेतुबिन्दुटीका अर्चटकृता लिखिता	(,, ,,)

——:o:——

न्यायकुमुदचन्द्रस्य विषयानुक्रमणिका

इति प्रमाणप्रवेशे प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

रूपादिव्यतिरिक्त-अवयविसद्भाववादः २३१-२३६

इति प्रमाणप्रवेशे द्वितीयो विषयपरिच्छेदः।



स्वविवृतिकं लघीयस्त्रयम्

तदलङ्कारभूतश्च

न्या य कु मु द च न्द्रः

(प्रथमो विभागः)

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्य-तुलना-ऽर्थबोधकटिप्पण्याद्यंशुभी राजितः]

कल्याणावसथः सुवर्णरचितः विद्याधरैः सेवितः,
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीको गिरीन्द्रोपमः।
भ्राम्यद्भिर्न बृहस्पतिप्रभृतिभिः प्राप्तं यदीयं पदम्,
न्यायाम्भोनिधिमन्थनः चिरमसौ स्थेयात् प्रबन्धः परः॥

—प्रभाचन्द्रः



श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कदेवरचितम्

स्वविवृतियुतं लघीयस्त्रय-प्रकरणम्

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यनिर्मित-

न्यायकुमुदचन्द्राख्य-व्याख्यासहितम् ।



प्रमाणप्रवेशे प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

सिद्धिप्रदं प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वमानन्दमन्दिरमशेषगुणैकपात्रम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रमकलङ्कमनन्तवीर्यमानम्य लक्षणपदं प्रवरं प्रवक्ष्ये ॥ १ ॥

यज्ज्ञानोदधिमध्यमुन्नतमिदं विश्वं प्रपञ्चार्च्चितम्,
प्राप्याभाति विचित्ररत्ननिचयप्रख्यं प्रभाभासुरम् ।
श्रीचिन्तामणिसुप्रभेन्दुसदृशः शास्त्रप्रबन्धश्चिरम्,
जीयात्सोऽत्र कुतर्कदर्पदलनो भव्याब्जतेजोनिधिः ॥ २ ॥

माणिक्यनन्दिपदमप्रतिमप्रबोधम्, व्याख्याय बोधनिधिरेष पुनः प्रबन्धः ।
प्रारभ्यते सकलसिद्धिविधौ समर्थे, मूले प्रकाशितजगत्त्रयवस्तुसार्थे ॥ ३ ॥

---

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डस्य प्रारम्भोऽपि अनेनैव ग्रन्थकृता "सिद्धेर्धाम महारिमोहहननम्" इत्यादिना कृतः । पूज्यपादेनापि "सिद्धिरनेकान्तात्" इति सूत्रेण जैनेन्द्रव्याकरणं प्रारब्धम् । आदौ सकारप्रयोगः सुखदः, तथा च "सहो सुखदाहदो" अलं० चि० १।४९ । "मङ्गलार्थम्—माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दम् आदितः प्रयुङ्क्ते" । पात० महाभा० पृ० ५७ । २ जिनेन्द्रविशेषणम्, लघीयस्त्रयकर्त्तुर्नाम च । ३ जिनेन्द्रविशेषणम् । अकलङ्कविरचितगूढाभिसन्धिप्रकरणानां ख्यातनामा ज्ञाता, सिद्धिविनिश्चयप्रकरणस्य टीकाकारश्च; तथा च "गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् । व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाग् दीपवर्त्तिरनिशं पदे पदे ।" न्यायविनि० वि० पृ० १, तथा ४७६ पृ० । ४–ञ्चार्चि–त्र०,–ञ्चान्वि–भां० । ५ न्यायकुमुदचन्द्रकर्त्तुर्नाम । 'प्रभेन्दुभवनम्' इत्यादि, प्रमेयक० पृ० १ । ६ कुतर्कतर्कद्–ज० । ७ परीक्षामुखम् । ८–विधे–ज० ।

बोधः कोप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याऽकलङ्कं पदम्,
जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम् ।
किन्न श्रीगणभृत् जिनेन्द्रपदतः प्राप्तप्रभावः स्वयम्,
व्याख्यात्यप्रतिमं वचो जिनपतेः सर्वात्मभाषात्मकम् ॥ ४ ॥
येषां न्यायमहोदधौ प्रतरणे वाञ्छास्ति सद्धीमताम्,
नौतुल्यं निखिलार्थसाधनमिदं प्रारभ्यते तान् प्रति ।
ये तु स्वान्ततमस्तरङ्गतरलावर्तभ्रमभ्रामिताः,
ते दोषेक्षणतत्पराः पदमपि प्राप्तुं न तत्र क्षमाः ॥ ५ ॥

श्रीमन्न्यायमहार्णवस्य निखिलप्रमेयरत्नसन्दर्भगर्भस्यावगाहनमव्युत्पन्नप्रज्ञैः कर्तुमशक्यमिति सङ्क्षेपतस्तद्व्युत्पादनाय तदवगाहने पोतप्रख्यप्रकरणमिदमाचार्यः प्राह । तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्करोति–

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥ १ ॥

---

१ प्रकरणम् । २ सविवृतिलघीयस्त्रयम् । ३ तथाच "तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्" बृहत्स्व० श्लो० ९६ । "गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं दोषैरपेतं हितम्, कण्ठौष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् । स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकम्, दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः" ॥ २९ ॥ समव० स्तो० । "सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे" । काव्यानुशा० श्लो० १ । ४ "ये नूनं प्रथयन्ति नोऽसमगुणा" इत्यादिना प्रमेयकमलमार्त्तण्डेऽपि स्मृतो दुर्जनः । वादिराजोऽपि अमुमेव अनुसरति; तथाहि–"येषामस्ति गुणेषु सस्पृहमतिर्ये वस्तुसारं विदुः"–इत्यादि, न्याय वि० वि० । ५–धिप्र-भां । ६ यत्तु-आ०, ब०, ज० । ७ न्यायस्य विविधलक्षणानि–"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम् सा अन्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् । यत्पुनः अनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः इति" । न्यायभा० पृ० ६ । "साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्य अवयवा उच्यन्ते । तेषु प्रमाणसमवायः–आगमः प्रतिज्ञा, हेतुः अनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयः उपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति । सोऽयं परमो न्यायः इति ।" न्याय भा० पृ० ९ । "समस्तरूपोपपन्नलिङ्गबोधकवाक्यजातम्" । न्यायकु० प्रका० पृ० १, बोधिनी पृ० २ । "न्यायः तर्कमार्गः" न्यायप्र० वृत्ति पं० पृ० ३८ । "अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यम्" । तत्त्वचि० अव० पृ० ६९१ । वैशे० उप० पृ० ३२९ । "न्यायः परार्थानुमानम्" न्यायली० पृ० ५६ । "अनिश्चितं निर्बाधश्च वस्तुतत्त्वं नीयतेऽनेन इति न्यायः" । न्यायविनि० वि० पृ० १५ पू० । न्यायाव० टि० पृ० १ । प्रमेयर० टि० पृ० ३ । ८ अखिल-भां० । ९ भट्टाकलङ्कः । १० आदिपदेन नास्तिकत्वपरिहारशिष्टाचारपरिपालनादिकं समुच्चीयते । ११ वृष-लघी० ।

धर्मः सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं पुण्यम्, उत्तमक्षमादिस्वरूपो वा, तत्साध्यः कर्तृशुभफलदः पुद्गलपरिणामो वा, जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वभावो वा। न पुनः

कारिकार्थः— परपरिकल्पित आत्मविशेषगुणः, द्रव्यगुणकर्मलक्षणो वा, प्रकृतिपरिणामविशेषो वा, अचेतनस्वभावो वा, तस्याऽग्रे यथास्थानं निराकरिष्यमाणत्वात्। स एव **तीर्थं** संसारार्णवोत्तरणहेतुत्वात्, तस्य वा **तीर्थम्** आगमस्तदवगाहनहेतुत्वात्, तत् कृतवन्तोऽनुष्ठितवन्तः उपदिष्टवन्तश्च ये **ऋषभादिमहावीरान्ता** भगवन्तस्तेभ्यो **नमोनमः अस्तु** इत्याभीक्ष्ण्यप्रयोगेणात्यर्थं नमस्क्रियायां व्याप्तमात्मानं दर्शयति। पुनरपि किंविशिष्टेभ्यः ? **स्याद्वादिभ्यः**, "स्याच्छब्दोऽनेकान्तार्थः, **स्यात्**

---

१ "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्"। तत्त्वा० सू० ८।२५। "सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।" तत्त्वार्थभा० ८।२६। २ "उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"। तत्त्वा० सू० ९।६। ३ "पुद्गलस्य कर्तृनिश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम्"। पञ्चास्ति० तत्त्व० पृ० १९६। ४–तत्त्वभा–आ०, ब०, ज०। "धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो। चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो"॥ 'उक्तं च' इति कृत्वा षट्प्रा० टी० पृ० ८। ५ "प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः।" न्या० सू० ४।१।५२। "प्रीतिः आत्मप्रत्यक्षत्वाद् आत्माश्रया, तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितम्, धर्मस्य आत्मगुणत्वात् तस्मादात्मव्यतिरेकानुपपत्तिः।" न्याय भा० पृ० ३७३। "धर्मः पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियः अन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः। तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेन अवस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि......दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य एतानि साधनानि भावप्रसादं च अपेक्ष्य आत्ममनसोःसंयोगाद् धर्मोत्पत्तिरिति"। प्रश० भा० पृ० २७२। ६ "श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः। चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता" ॥१९१॥ मी० श्लो० सू० २। ७ "अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्" ॥२३॥ तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति–धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यम् इति"–सांख्य का० माठर वृ०। "अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्"। सांख्य द० ५।२५। ८ चेतननानात्व– भा०। बौद्धास्तु धर्मशब्दार्थमित्थं वर्णयन्ति–आत्मसंयमकं चेतः परानुग्राहकं च यत्। मैत्रं स धर्म तद्बीजं फलस्य प्रेत्य चेह च। (?)...धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापितः स्वलक्षणधारणार्थेन, कुगतिगमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन। तत्र स्वलक्षणधारणार्थेन सर्वे सास्रवा अनास्रवाश्च धर्मा इत्युच्यन्ते, कुगतिगमनविधारणार्थेन च दश कुशलादयो धर्मा इत्युच्यन्ते–'धर्मचारी सुखं शेते अस्मिंल्लोके परत्र च'। पाञ्चगतिकसंसारविधारणार्थेन निर्वाणो धर्म इत्युच्यते। धर्मं शरणं गच्छति इत्यत्र कुगतिगमनविधारणार्थेनैव धर्मशब्दोभिप्रेतः'। माध्यमिक वृ० पृ० ३०३-३०४। ९–येते वृष–भा०। १० "वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषकः। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि" ॥ १०३ ॥ आप्तमी०। युक्त्यनु० श्लो० ४७। "स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः, तस्य अनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो

स्वपररूपादिना सदसदाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु वदन्तीत्येवंशीलास्तेभ्यः। किमर्थं तेभ्यो नमोनमोस्तु ? इत्याह–**स्वात्मोपलब्धये** स्वस्य नमस्कर्तुः आत्मा नास्तिकतापरिहारादिविशिष्टं स्वरूपम्, तस्य उपलब्धये सकलजनप्रतीतये। अथवा, स्वस्य नमस्कर्तुरात्मनोऽनन्तज्ञानादिस्वरूपस्य उपलब्धये सिद्धये "*सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः*" [सं०सिद्धभ०श्लो०१] इत्यभिधानात्।

ननु चैकस्यापीष्टदेवताविशेषस्य नमस्कारकरणान्नास्तिकतापरिहारादिप्रयोजनप्रसिद्धेरशेषस्य तत्करणप्रयासो निष्प्रयोजन इति चेत्; तन्न; अशेषेष्टदेवताविशेषसंस्तवनस्य अशेषविघ्नविनाशेन अशेषप्रमाण-प्रमेय-नय-निक्षेपनिरूपणपरिसमाप्तिप्रयोजनेन सप्रयोजनत्वात्। न खलु निखिलं प्रमाणादिप्ररूपणं निखिलविघ्नविनाशव्यतिरेकेण सिद्धिमध्यास्ते, निखिलविघ्नविनाशोऽप्यखिलेष्टदेवतासंस्तवनव्यतिरेकेण। अथवा सर्वेषामप्यविशेषतो विघ्नविनाशनिमित्तत्वख्यापनार्थं तत्करणम्, उक्तविशेषणविशिष्टेष्टदेवताविशेषस्य इयत्ताख्यापनार्थं वा। अस्तु नामैतत्; तथापि–अनन्तगुणोदधिस्वरूपाणां भगवतामनन्तगुणसद्भावे किमित्येतद्गुणद्वयद्वारेण संस्तवनम् ? इत्यप्यचोद्यम्; शास्त्रकृतस्तद्गुणार्थित्वात्, यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्कुर्वाणो दृष्टः यथा कश्चिद्धनुर्वेदपरिज्ञानार्थी तत्परिज्ञानगुणोपेतम्, धर्मतीर्थकरत्व-स्याद्वादित्वगुणार्थी चायं शास्त्रकार इति।

ननु क्षणिक-नित्यत्वादि-यथावस्थितवस्तुस्वभाववादित्वात् सुगतेश्वरकपिलब्रह्मणामेव धर्मतीर्थकरत्वम्, अतस्त एव शास्त्रस्यादौ वन्द्याः तत्प्रणीतमेव च प्रमाणादिलक्षणं तत्र व्युत्पादनार्हम् इत्याशङ्क्य स्वप्रमाणादिलक्षणवर्त्मनि कण्टकशुद्ध्यर्थं निराकुर्वन्नाह–

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम्।
सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः,
स्यान्नित्यत्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२॥

निरन्वयक्षणिकचित्तानाम् अन्योन्यविलक्षणक्षणिकज्ञानानां **सन्तानेषु** सन्ततिषु, कथंभूतेषु ? **असत्स्वेव** अविद्यमानेष्वेव, असत्त्वं च तेषां प्रमाणतोविचार्यमाणानामनुपपद्यमानत्वात्सिद्धम्, तदनुपपद्यमानत्वं चानन्तरमेव समर्थयिष्यते। ननु माभूवंस्तत्सन्तानाः तच्चित्तानि तु

कारिकार्थः

गृह्यते"। त० राजवा० पृ० १८१। "सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे। स्यात्कारः संप्रयुज्येत अनेकान्तद्योतकत्वतः" ॥ ५४ ॥ तत्त्वार्थश्लो० १।६। पद्मा० तत्त्वप्र० पृ० ३०। "स्याद् इत्यव्ययम् अनेकान्तावद्योतकम्"–रत्नाकरावता० ४। १५। सिद्ध हे० पृ० १। स्या० मं० पृ० १५।

१ स्वरूपपर– भां०। २–खिल प्र– भां०। ३–वनाव्य–आ०, ब०, ज०। ४–त्यचो–भां०। ५ तुलना–"यो यद्गुणलब्ध्यर्थी स तं वन्दमानो दृष्टः, यथा शस्त्रविद्यादिगुणलब्ध्यर्थी शस्त्रविद्यादिविदं तत्प्रणेतारं च" आप्तप० पृ० ३। ६ शास्त्रे। ७–निष्कंट–ब०।

कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्त्तमानानि भविष्यन्ति इत्यत्राह– **तत्त्वाहेतुफलात्मनां** तत्त्वेन-परमार्थेन अहेतुफलभूतः अकार्यकारणभूतः आत्मा स्वरूपं येषां तेषां तथाभूतानां तच्चित्तानां **सन्तानेषु असत्स्वेव** सत्सु, **चेत्** यदि **बुद्धः स्वयम्** आत्मना **व्यवतिष्ठते**–स्थितिं लभते, केन ? **स्वपरसङ्कल्पेन** स्वपरयोः संङ्कल्पः 'असतोः सन्तौ' इत्यवसायः तेन, किमर्थं व्यवतिष्ठत इत्याह–**सत्त्वार्थं** दुःखाद् दुःखहेतोर्वा विनेयजनोद्धरणार्थम्, कया ? **करुणया** तदुक्तम्– *"निर्वाणेऽपि परे प्राप्ते कृपार्द्रीकृतचेतसाम् ।*
तिष्ठन्त्येवं पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" [ ] इति ।

स इत्थंभूतो बुद्धः असति वस्तुनि सत्त्वाध्यवसायवान् नैव धर्मतीर्थकरो यथावस्थितवस्तुस्वभाववादित्वाभावाद् ईश्वरकपिलब्रह्मवत्, किन्तु **मिथ्याविकल्पात्मक** एव मिथ्या असत्यो यो विकल्पः संवृत्त्यपरनामा तदात्मक एव, किंवत् ? **नित्यत्ववत्**–यथा नित्यत्वमीश्वर-कपिल-ब्रह्मणाम् तत्प्रणीततत्त्वस्य च येत् परैः प्रतिज्ञातं तत् मिथ्याविकल्पात्मकमेव, न पुनः परमार्थतोऽस्ति तथा बुद्धोऽपि इति । नन्वस्य सर्वस्याऽभ्युपगमान्न दोष इति प्रतिभासाद्वैतवादी, तं प्रति **तत्र** इत्याद्याह । **तत्र** तस्मिन् प्रतिभासाद्वैतवाद्यभ्युपगते, कस्मिन् ? **समये** संगतः सकलविज्ञानव्यक्तितादात्म्येन स्थितः अयः प्रतिभासस्तस्मिन् समये **नार्थक्रिया** अनुभवः *"अन्त्या तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नाम"* [ ] इत्यभिधानात् । सा न, कस्य ? **वस्तुनः** अद्वयपदार्थस्य । **'वस्तुतः'** इति च क्वचित्

१ संकल्पौ आ०, ब०, ज० । २ "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिवर्द्धिताः । तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" अभि० आलोक पृ० १३४ । 'तिष्ठन्त्येव' इत्यादि उत्तरार्द्धस्तु प्रमाणवार्तिके (२।१९९) मूलरूपेण, तथा सिद्धि वि० टी० पृ० ३८६ उ० । आप्तप० पृ० ४३ । प्रमेयक० पृ० २५ पू० । न्यायविनि० वि० पृ० ४७१ उ० । लघी० वृ० पृ० ४ । इत्यादिषु अवतरणरूपेण उपलभ्यते । ३ चेतसः भां० । ४ तिष्ठन्त्येव ज० । ५–वापरा–भां० । ६ सुगतानाम् । ७ "कृपा हि त्रिविधा सत्त्वालम्बना पुत्रकलत्रादिषु, धर्मालम्बना सङ्घादिषु, निरालम्बना संपुटसंदष्टमण्डूकोद्धरणादिषु । तत्र महती निरालम्बना कृपा सुगतानां सत्त्वधर्माऽनपेक्षत्वात् इति । ते तिष्ठन्त्येव न कदाचित् निर्वान्ति धर्मदेशनया जगदुपकारनिरतत्वात् जगतश्च अनन्तत्वात् ।" आप्तप० पृ० ४३ । ८–त्यपरिणामा–ब० । ९ नित्यवत्–भां० । १०–ब्रह्मणात–आ०,ब०,ज० । ११ नैयायिकादिभिः । १२–ज्ञानं–ब०,ज० । १३ बुद्धेपि–आ०, ब०, ज० । १४ सर्वथा–ब० । १५–वादित्वं प्र–भां० । १६ "तत्रेत्यादि—तस्मिन् समये संगतः समस्तज्ञानेष्वनुगतः अयः प्रतिभासः समयः, तस्मिन् प्रतिभासाद्वैते वस्तुनः अद्वयपदार्थस्य अर्थक्रिया अनुभवो न स्यात् ।" लघी० वृ० पृ० ५ । १७–दने नाना–आ०, ब०, ज० । "तदुक्तम्–मत्या (?) तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नाम इति ।" तत्त्वार्थ श्लो० पृ० १९५ । १८ "वस्तुतः परमार्थतः पाठान्तरापेक्षया इदमुक्तम् ।" लघी० वृ० पृ० ५ ।

पाठः। तत्रापि **वस्तुतः** परमार्थतो न, संवृत्या तु स्यात्। यथा च नित्य-क्षणिकैकान्तेऽद्वैते चार्थक्रिया नोपपद्यते तथाग्रे प्रतिपादयिष्यते। अतो बुद्धादिवत् प्रतिभासाद्वैतमपि मिथ्याविकल्पात्मकमेव।

योप्याह–प्रमाणादिलक्षणपरीक्षार्थं शास्त्रमिदमारभ्यते, नचासत्प्रमाणादेः परीक्षा घटते, तदसत्त्वं च 'सर्वप्रत्ययानां निरालम्बनतया स्वप्नप्रत्ययतुल्यत्वात्' इति, तन्मतमपाकर्त्तुमाह–**तत्र** इत्यादि। **तत्र** तस्मिन् परोपगते **समये** समः सदृशो जाग्रत्स्वप्नदशासाधारणोऽयो बोधः 'शकन्ध्वादित्वादकारस्य पररूपत्वम्' तस्मिन्, किम्? इत्याह–**नार्थक्रिया** इति। अर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन अनर्थस्यापि ग्रहणम्। तत्र अर्थः क्षणिकनिरंशज्ञानमात्रम् तस्य तेन अर्थ्यमानत्वात्, ततोऽन्यःअनर्थः विपर्ययात्, तयोः क्रिया हानोपादानलक्षणा सा न स्यात्; नह्यर्थस्योपादानमनर्थस्य च परिहारः सर्वज्ञानानां समत्वे युक्त इत्यग्रे प्रतिपादयिष्यते। कथं सा न स्यात्? इत्याह–**वस्तुनः** परमार्थेन। '**वस्तुनः**' इति च पाठे साधनदूषणलक्षणाद् वस्तुनः सकाशादित्यर्थः। एतेन 'भ्रान्तिमात्रमपि' निरस्तं न्यायस्य समत्वात्।

ननु च '**असत्स्वेव चित्तसन्तानेषु**' इत्ययुक्तमुक्तम् तेषां सत्त्वसंभवात्; तथाहि–

सन्तानवादे बौद्धानां पूर्वपक्षः—

परमार्थसन्तः कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्त्तमानाः पूर्वोत्तरचित्तक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवोऽपरामृष्टभेदाः सन्तानशब्दवाच्याः। न च प्रतिक्षणविशरारुत्वे चित्तक्षणानां कर्मफलसम्बन्धाश्रयस्यैकस्यात्मनोऽसत्त्वात् कृत-

---

१ अर्थक्रिया। २–था प्रति–भां०। ३–दिव प्र–आ०,ब०,ज०। ४ माध्यमिकः। ५ आदिपदेन प्रमेय-नय-निक्षेपाः। ६ परोगते–आ०, ब०, ज०। ७ "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इति कात्यायनवार्तिकम्। ८ अर्थाऽनर्थयोर्मध्ये। ९ ततो यो नार्थो–आ०, ब०, ज०। १० विभ्रमैकान्तः। ११–त्रं नि–आ०, ब०, ज०। १२–णाविश–आ०, ब०, ज०। १३ "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा। सन्तानो नाम न कश्चिदेकः परमार्थसन् संभवति। किं तर्हि? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायम्, ततो व्यतिरिक्तस्य अनुपलम्भात्। तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सङ्केतः कृतो बुद्धैः व्यवहारार्थं सन्तान इति"। बोधिचर्या० पृ० ३३४। "नैव, सन्ततिशब्देन क्षणाः सन्तानिनो हि ते। सामस्त्येन प्रकाश्यन्ते लाघवाय वनादिवत् ॥१८७७॥ नैष दोषः, सन्ततिशब्देन क्षणा एव वस्तुभूताः सन्तानिनो व्यवहारलाघवाय सामस्त्येन युगपत् प्रकाश्यन्ते वनादिशब्देन इव धवादयः"। तत्त्वसं० पं०। न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ४१। इदमेव सन्तानलक्षणम् बृहदा० वार्त्ति० पृ० १४८९, न्यायवा० ता० टी० पृ० २१४, न्यायमं० पृ० ४४३, सिद्धिवि० टी० पृ० १९६ उ०, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३, अष्टसह० पृ० १६५ इत्यादिषु उद्धृत्य खण्डितम्। जैननये सन्तानलक्षणं तु—"पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोः अतिशयात्मनोः अन्वयः सन्तानः"। अष्टश० अष्टसह० पृ० १८६।

नाश-अकृताभ्यागमदोषोपनिपातैः; सन्तानापेक्षया तत्सम्बन्धसंभवात्। एकसन्ततिपतितानां हि चित्तक्षणानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वेऽपि कर्मफलसम्बन्धस्योपपत्तेर्न तद्दोषोपनिपातप्रसङ्गः। नापि सन्तानिभ्य सन्तानो भिन्नो (भिन्नोऽभिन्नो) वेत्याद्यनल्पविकल्पापातः; तस्य वस्तुविषयत्वात् सन्तानस्य चाऽवस्तुत्वात्। व्यवहारार्थं हि विभिन्नेष्वपि क्षणेष्वभेदपरामर्शरूपा संवृतिः सन्तानः, सोऽवस्तुत्वाद्भेदाभेदविकल्पैः अवक्तव्य एव, यदवस्तु तद्भेदाभेदादिविकल्पैरवक्तव्यमेव यथा गगनेन्दीवरम्, अवस्तु च विभिन्नक्षणेष्वभेदकल्पनारूपतया सन्तान इति।

नन्वेवमप्यन्योन्यविलक्षणचित्तक्षणेषु प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यात्मनोऽनभ्युपगमात् प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिः; इत्यप्यसमीचीनम्; "सादृश्यादेव तदुपपत्तेः प्रदीपवत्, यथैव हि प्रतिक्षणविना-

---

१ "तत्र कुशलाकुशलं चित्तमुत्पाद्य निरुद्ध्यमानं स्वोपादेयचित्तक्षणे कुशलाकुशलादिसंस्कारविशेषवासनामादधाति। तदपि तदाहितवासनम् उत्तरोत्तरतदभिसंस्कृतक्षणपरम्पराविच्छेदनः सन्तानप्रवर्त्तमानं परिणतिविशेषमुपगच्छन् कर्मविशेषानुरूपं सुखादिस्वभावं चित्तात्मकमेव फलमभिनिर्वर्त्तयति परलोके...... इति नाऽकृताभ्यागमो न कृतप्रणाशो बाधकम्। ततो नात्मानमन्तरेण कर्मफलसम्बन्धो न युज्यते"। बोधिचर्या० पं० पृ० ४७२। "कृतनाशो भवेदेवं कार्यं न जनयेद्यदि। हेतुरिष्टं न चैवं यत् प्रबन्धेनास्ति हेतुता॥ ५३८॥ अकृताभ्यागमोऽपि स्यात् यदि येन विना क्वचित्। जायेत हेतुना कार्यं नैतन्नियतशक्तितः॥ ५३९॥ तत्त्व सं०। यदि हि परमार्थतः कर्त्ता भोक्ता वा अभीष्टः स्यात् तदा क्षणभङ्गित्वाङ्गीकारेण कृतनाशादिप्रसङ्गः स्यात्। यावता इदं प्रत्ययमात्रमेव विश्वम्, न केनचित् कर्त्रा किंचित् कृतं नापि भुज्यते तत्कथं कृतनाशादिप्रसङ्गापादनं स्यात्.........लाक्षादिरसावसिक्तानामिव बीजानां सन्तानमनुवर्त्तन्त एव पूर्वकर्माहिता सामर्थ्यविशेषा यत उत्तरकालं लब्धपरिपाकेभ्य इष्टमनिष्टं वा फलमुदेति"। तत्त्व सं पं०। –'बृहदा० वा० (पृ० १५०१) न्यायमं० (पृ० ४४३)' इत्यादौ तु सन्तानवादस्य पूर्वपक्षे "यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव सन्ताने कार्पासे रक्तता यथा" इति श्लोकमुद्धृत्य अकृताभ्यागमकृतनाशदोषस्य परिहारः कृतः। २ "भेदाभेदविकल्पस्य वस्त्वधिष्ठानभावतः। तत्त्वान्यत्वाद्यनिर्देशो निःस्वभावेषु युज्यते"॥ ३४०॥ तत्त्वसं०। ३ अनल्पविकल्पापातस्य ४–र्थाविव०। –र्थाहि आ०, ज०। ५–पुभे-आ०, ब०, ज०। ६ "तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामवाच्यमथ वर्ण्यते। सन्तानादीव कारित्रं स्यादेवं सांप्रतं ननु॥ १८०७॥ तत्त्व सं०। यथा सन्तानिभ्यः तत्त्वान्यत्वेन अवाच्यत्वात् पुद्गलवत् सन्तानो निःस्वभावः। स्वभावेहि सति तत्त्वमन्यत्वं वा अवश्यम्भावि।" तत्त्व सं० पं०। तुलना—"अथ न सन्ताने भेदाभेदादिविकल्पोपनिपातः तस्य वस्तुविषयत्वात् सन्तानस्य चावस्तुत्वात्......" स्या० रत्ना० पृ० १०८९। ७-तद् भेदादि–भां०। ८–नासहृतया ब०। ९–नन्वे-आ०, ब०, ज०। १० "सदृशापरभावनिबन्धनं च एकतया प्रत्यभिज्ञानं लूनपुनर्जातेष्विव नखकेशादिषु इत्यत्र विरोधाभावात्।" हेतुबि० टी० पृ० १३३ उ०। "केषाञ्चिदेव चित्तानां विशिष्टा कार्यकारिता। नियता तेन निर्बाधा सर्वत्र स्मरणादयः॥५४३॥ तत्त्व सं०। यत्र सन्ताने पटीयसा अनुभवेन उत्तरोत्तरविशिष्टतरतमक्षणोत्पादात् स्मृत्यादिबीजमाहितम् तत्रैव स्मरणादयः समुत्पद्यन्ते नान्यत्र, प्रतिनियतत्वात् कार्यकारणभावस्य......स्मरणादिपूर्वकाश्च प्रत्यभिज्ञानादयः प्रसूयन्त इत्यविरुद्धम्"। तत्त्व सं० पं०।

शिखायां प्रदीपज्वालादिषु सादृश्यात् 'स एवायं प्रदीपः' इति प्रत्यभिज्ञानमाविर्भवति एवमत्रापि।

नित्यैकरूपत्वे चात्मनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तितोऽसत्त्वात् कथं प्रत्यभिज्ञानादिहेतुत्वम्? यत्र क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः तदसत् यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, अस्ति च नित्यैकरूपतयाभिमते आत्मनि तथा तदनुपपत्तिः। न चास्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिरसिद्धा; तथाहि–क्रमेणास्यार्थक्रियाकारित्वे किं येनैव स्वभावेनैकं कार्यं करोति तेनैवापरम्, स्वभावान्तरेण वा? यदि तेनैव; तर्हि द्वितीयादिक्षणसाध्यकार्यस्य प्रथमक्षण एवोत्पादप्रसङ्गः, तदुत्पादकस्वरूपस्य प्रागपि भावात्। प्रयोगः–यदा यदुत्पादकहेतुरस्ति तत्तदोत्पत्तिमत्प्रसिद्धम् यथा तत्कालाभिमतं कार्यम्, अस्ति च द्वितीयादिक्षणसाध्यकार्यस्य प्रथमक्षण एवोत्पादको नित्यैकरूपतयाभिमतस्यात्मनः स्वभाव इति। अथ स्वभावान्तरेणासौ तत्करोति; तर्हि पूर्वस्वभावस्य प्रच्युतत्वात् सिद्धमस्य क्षणिकत्वं स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तस्य। यौगपद्येनाप्यस्य कार्यकारित्वे युगपदेवाखिलकार्योत्पादकस्वभावतया प्रथमक्षण एवाखिलकार्योत्पादनात् क्षणान्तरे तदुत्पाद्यकार्याऽभावतोऽनर्थक्रियाकारित्वेन अश्वविषाणवदसत्त्वानुषङ्गः।

किञ्च, क्रमभाविसुखादिपर्यायव्यापकत्वमात्मनो भवताभ्युपगम्यते, तच्च किमेकेन स्वभावेनाभ्युपगम्यते, अनेकेन वा? यद्येकेन; तदा तेषामेकरूपतापत्तिः, यदेकस्वभावेन व्याप्यते तदेकरूपमेव यथैकपर्यायस्वरूपम्, एकस्वभावेन व्याप्यन्ते चात्मना सुखादयोऽनेकपर्याया इति। अथानेकेन; तदा सोऽप्यनेकस्वभावोऽपरेणानेकस्वभावेन व्यापनीय इत्यनवस्था। अथैकदेशेन स्वभावेन तेन ते व्याप्यन्ते अत्रापि 'अनेकस्वभावेन सजातीयेन' इत्युक्तं स्यात्, तत्र च सैवानवस्था। नचापरं प्रकारान्तरमस्ति, अतः कथं क्रमभुवां सुखादीनामन्वितं रूपं सिद्ध्येत येनात्मसिद्धिः स्यादिति?

---

१ "क्रमयौगपद्याभ्याम् इत्यादि। नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा शक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते, किन्तु तद्व्यापकविरहात्; तथाहि–क्रमयौगपद्याभ्यां अर्थक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराऽभावात्। ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोः तयोः अक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेः तद्व्याप्तायाः क्रियाशक्तेरपि निवृत्तिः इति सर्वशक्तिविरहलक्षणम् असत्त्वम् अक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिः आकर्षति विरुद्धयोरेकत्राऽयोगात्। ततो निवर्तमानं सत्त्वं क्षणिकेष्वेव अवतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति–यत् सत् तत् क्षणिकमेव"………। हेतुबि० टी० पृ० १४२ उ०। "क्रमाक्रमविरोधेन नित्या नो कार्यकारिणः ॥ ७६ ॥ क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः। न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः" ॥ ३९४ ॥ तत्त्वसं०। २ क्रमयौगपद्याभ्याम्। ३ अर्थक्रिया। ४ "किं येन स्वभावेनाद्यामर्थक्रियां करोति किं तेनैवातराणि कार्याणि सम्पादितस्वभावान्तरेण वा करोति"। तत्त्वोप० पृ० १२६। ५ यथा यदुत्पादकमस्ति-भां०। ६ अर्थक्रियाकारित्वाभावेन। ७–प्येत–ब०, ज०। जैनेन। ८ सुखादिपर्यायाणाम्। ९–त्मनः–आ०, ब०, ज०। १०–तेनत्या–ज०। स्वभावेन ते–आ०, ब०। आत्मना।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'कार्यकारणभाव' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; क्षणिकैकान्ते कार्यकारणभावस्यैवासंभवात्। तत्र हि किं कार्यम्, किञ्च कारणम्? यदभूत्वा भवति तत्कार्यमिति चेत्; नन्वभवने भवने च कस्य कर्तृत्वम् तस्यैव, अन्यस्य वा? न तावत्तस्यैव, सर्वथाप्यसतः कर्तृत्वधर्माधारत्वानुपपत्तेः। यत् सर्वथाप्यसत् न तत् कर्तृत्वधर्माधारः, यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, सर्वथाप्यसंश्च परमते कार्यमिति। भवनं हि स्वरूपस्वीकरणम्, तच्च सर्वथाप्यसतो वन्ध्यास्तनन्धयस्येवाऽतिदुर्घटम्। नाप्यन्यस्य; अस्यैव कार्यत्वप्रसङ्गात्, यदेव ह्यभवने भवने च कर्तृ तदेव कार्यम्, तस्यापि सर्वथाप्यसत्त्वे न कार्यत्वम् उक्तानुमानविरोधात्।

सन्तानवादे जैनानामुत्तरपक्षः–

कारणत्वमपि कार्यमात्रोत्पादकत्वम्, नियतकार्योत्पादकत्वं वा? प्रथमपक्षे सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्, ततः कार्यार्थी न कश्चिन्नियतोपादानं कुर्यात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; खपुष्पप्रख्येण कार्येण कारणस्वरूपस्य विशेषयितुमशक्यत्वात्। यद् वास्तवं रूपं तद्विद्यमानेनैव विशेषणेन विशेष्यते यथा स्वसंवेदनं स्वसंविद्रूपतया, वास्तवं च कारणत्वं (णस्व) रूपमिति। असता कार्येण 'इदमस्य जनकम्' इति कारणस्य विशेष्यत्वे चाऽसत्त्वप्रसङ्गः। यत् सर्वथाप्यसता विशेष्यते तदसत् यथा 'असन् घटः' इत्यभावेन विशेष्यमाणो घटः, असता सर्वथा कार्येण विशेष्यते च परमते कारणमिति। विकल्पाधिरूढेन कार्येण कारणस्य विशेष्यत्वमित्यप्येतेन प्रत्याख्यातम्; न खलु विकल्पाधिरूढं कार्यमसद्रूपतां परित्यजति। विकल्पाधिरूढेन विशेष्यत्वे च न वास्तवरूपं कारणत्वं सिद्ध्येत्। यत् विकल्पाधिरूढविशेषणसापेक्षं रूपं न तद्वास्तवम् यथा माणवकेऽग्नित्वम्, विकल्पाधिरूढकार्यलक्षणविशेषणसापेक्षञ्च कारणे कारणत्वं रूपमिति। सर्वथाऽसति च कार्ये व्याप्रियमाणानां कारणानां निरालम्बना प्रवृत्तिरिष्टा स्यात्, एवञ्च विवक्षितकार्योत्पत्तिवत् आकाशकुशेशयाद्युत्पत्तावपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात् न किञ्चिदत्यन्तमसत् स्यात्। तत्र तेषामप्रवृत्तौ वा विवक्षितकार्येऽप्यप्रवृत्तिः सर्वथाऽसत्त्वाऽविशेषात्। यत् सर्वथाप्यसत् न तत्र कारणानां प्रवृत्तिः यथा खपुष्पादौ, सर्वथाऽसत्त्वं भवन्मते कार्यमिति। यदि च, किमप्यनालम्ब्य कारणानां प्रवृत्तिः स्यात्तदा विवक्षितकारणस्य विवक्षितकार्यवत् कार्यान्तरेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् कारणान्तरकल्पनानर्थक्यं स्यात्।

१ पृ० ६ पं० १४। २ "यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत्खलु अभूत्वा भवति यथा घटादि कार्यम्।" न्याय भा० पृ० ४४२। "कार्यत्वम् अभूत्वाभावित्वम्" प्रशस्त० किरणा० पृ० २९। क्षण० सि० पृ० ३०। "अभूत्वाभावरूपत्वाज्जन्मनो नान्यथा स्थितिः ॥५११॥" तत्त्व सं०। अभूत्वाभावित्वं स्याद्वादरत्नाकरे (पृ० ४१८) प्रमेयरत्नमालायाञ्च (पृ० ६८) प्रसङ्गतः चर्चितम्। ३–सत्त्व आ०, ब०, ज०। ४ बौद्धमते। ५ खपुष्पाख्येन ब०, ज०। ६–दनं संवि–ब०। ७ वासत्त्व–भां०। ८ परमते अवीरमतेका–आ०, ब०, ज०। ९ यद्धि भां०। १०–क्षत्वं–भां०। ११–णत्वरूप–भां०। १२ सत् तत्र–आ०, ब०, ज०। १३–असत्त्व–आ०, ब०, ज०।

अस्तु वा अविचारितरमणीयस्वभावं भवन्मते किञ्चित् कार्यत्वं[1] कारणत्वञ्च; तथापि विनष्टात्[2] कारणात् कार्यमुत्पद्येत, अविनष्टात्, विनश्यदवस्थाद्वा ? न तावद्विनष्टात्; स्वरूपेणासतः सकलशक्तिविकलस्य तत्प्रति[3] कारणत्वानुपपत्तेः[4]। यत् स्वरूपेणासत् न ततः किञ्चित् प्रभवति यथा वन्ध्यास्तनन्धयात् पुत्रः, स्वरूपेणासच्च[5] परमते कारणमिति। 'विनष्टम् कार्यं[6] करोति' इति किमपि महाद्भुतम् ! न हि मृताच्छिखिनः केकायितसम्भवः। कथं वाऽतो जायमानं कार्यं सहेतुकं स्यात् ? अथाविनष्टात्ततः तदुत्पद्यते; तर्हि दत्तो जलाञ्जलिः क्षणक्षयाय भावानामनेकक्षणस्थायित्वप्रसिद्धेः, ते हि प्रथममुत्पद्य कार्यकरणाय व्याप्रियन्ते तदनन्तरं कार्यमाविर्भावयन्तीति। अथोत्पत्तिसमय एवैते कार्यमाविर्भावयन्ति; तन्न; सकलसन्तानोच्छेदप्रसक्तेः तदुत्पाद्यकार्यस्यापि तदैव स्वकार्योत्पादकत्वप्रसङ्गात्।

अथ विनश्यदवस्थात् कारणात् कार्यमुत्पद्यते; न; एकान्तवादिनो विनश्यदवस्थाया एवानुपपत्तेः। एकदैकस्य हि वस्तुनः केनचिद्रूपेण विनाशः केनचिच्चावस्थानं विनश्यदवस्थोच्यते, सा च अनेकान्तस्वभावत्वाद् एकान्ते कथं घटेत[7] ? किञ्च, असौ विनश्यदवस्था सती, असती वा ? यदि सती; तदा तयापि क्षणिकस्वभावया[8] भवितव्यम् इति कोऽस्यास्तद्वतो[9][10] विशेषः ? अथ असती; कथं तया क्रोडीकृतस्य जनकत्वम् ? यदसद्रूपेण क्रोडीकृतं न तत् कस्यचिज्जनकम्; यथा गगनाम्भोजम्, असद्रूपया[11] विनश्यदवस्थया क्रोडीकृतं च भवन्मते कारणत्वेनाभिमतं वस्त्विति।

किञ्च, अयं कार्यकारणभावसम्बन्धः काल्पनिकः, वास्तवो वा ? काल्पनिकत्वे कर्मफलसम्बन्धोऽपि तादृश एव स्यात्, लौकायतिकत्वप्रसङ्गश्च पूर्वभवान्त्यचित्तक्षणस्य ऐहिकाद्यचित्तक्षणेन सह वास्तवसम्बन्धाभावात्। अथ वास्तवः; तन्न; एकान्तभिन्नानां क्षणिकार्थानां वास्तवे[12]तत्सम्बन्धानुपपत्तेः[13]। अथ 'कार्यस्य भवनं कारणस्य भवनम्' इत्येतावानेव अत्र कार्यकारणभावः; ननु यत् कार्यस्य भवनं तत् कार्यनिष्ठमेव, यच्च कारणस्य भवनं तत् तन्निष्ठमेव इति नैनयोः कश्चित् सम्बन्धः, अन्यथा 'घटस्य भवनं पटस्य भवनम्' इत्ययमपि कार्यकारणभावः स्यात्, ततश्च नियतकार्यार्थिना यत्किञ्चित् कारणमुपादीयेत[14]। अथ

---

१ कार्यं का–आ०, ब०, ज०। २ तुलना–"किञ्चान्यत् नष्टाद्वा पूर्वक्षणादुत्तरस्य क्षणस्य उदयः स्यात्, अनष्टात्, नश्यमानाद्वा इत्यादि।" माध्यमिक वृ० पृ० २८२। तत्त्व सं० श्लो० ४८८–४८९। "न विनष्टं कारणमसत्त्वाच्चिरतरातीतवत्"...अष्टश० अष्टसह० पृ० १८२। "क्षणिकं वस्तु विनष्टं सत् कार्यमुत्पादयति, अविनष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ?" प्रमेयक० पृ० १४७ पू०। सन्मति० टी० पृ० ३१८। स्या० रत्ना० पृ० ७७७। ३ कार्यं प्रति। ४–णतानु–भां०। ५ असद्रूपात्। ६ तुलना–"सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्त्ति स्यात्, कारणक्षणकाले एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततः सन्तानाऽभावात्।" अष्टसह० पृ० १८७। ७ घटते भां०। ८ क्षणिकत्व स्व- भां०। ९ अवस्थायाः। १० अवस्थावतः। ११ असद्रूपतया ब०। १२ कार्यकारणभाव। १३ कार्यकारणयोः। १४–दीयते ब०, भां०।

यत्स्वरूपमात्रे व्यावर्तमाने यस्य व्यावृत्तिः स तस्मिन् स[1]ति भवति असति च न भवति इत्यन्वयव्यतिरेक[2]तः तत्कार्यम्; तन्न; क्षणक्षयैकान्ते अन्वयव्यतिरेकाऽसिद्धेः[3], कारणाभावे एव कार्यस्य सदा संभवात्। स्वकाले सति समर्थे कारणे अनन्तरं कार्यमुत्पद्यते नासति इत्यन्वयव्यतिरेकसंभवः [4]अकिञ्चित्करेष्वविशिष्टः, यथैव हि कार्यं विवक्षितक्षणेन समनन्तरभाविना[5] विना नाविर्भवति एवं पूर्वोत्तरसमानसमयैर्नानाविधैः क्षणान्तरैरपि। नियतकाले हि[6] भवता भावेन अवश्यं कुतश्चित् पूर्वकालभाविना कुतश्चिदुत्तरकालभाविना केनचित्समानसमयभाविना भवितव्यम्। न च ते पूर्वोत्तरसमानसमयवर्तिनः सन्तानान्तरक्षणाः तस्य कारणम् अकिञ्चित्करत्वात्, एवं विवक्षितोपि क्षणोऽकिञ्चित्करत्वात् पूर्वकालवर्त्यपि न तस्य कारणं स्यात्।

किञ्च, उपादान-सहकारिभावेन कारणं कार्यमाविर्भावयते, न च क्षणिकैकान्ते तद्भावो[7] घटते। तत्र हि उपादानत्वं पूर्वकालभावित्वम्, स्वसदृशसमानदेशकार्यारम्भकत्वं वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; सन्तानान्तरक्षणैः व्यभिचारात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; सौगतैः देश-सादृश्ययोरनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा अत्यन्तविलक्षणक्षणिक[8]वादविरोधः। नीलादिज्ञानस्य[9] पीतादिज्ञानं प्रति अयोगिचित्तस्य योगिचित्तं प्रति उपादानत्वाभावः स्यात् अत्यन्तवैसादृश्यात्। तदेवं क्षणिकैकान्ते[10] उपादानकारणस्याऽव्यवस्थितेः सहकारिकारणस्या[11]प्य(प्यव्य)वस्थितिः स्यात् [12]तन्मूलत्वात्तस्याः। अतः[13] कथञ्चिदन्वयिन्येवाऽर्थे कार्यकारणभावः उपादानत्वञ्चोपपन्नम्, तत्रैव अन्वयव्यतिरेकयोः तन्निबन्धनयोः पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तो[14]-

---

१ सति भवति इत्य-आ०, ब०, ज०। २-रेकस्तत्-भां०। ३ तुलना-"तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यम् इति चेन्न; तस्य असिद्धेः।" अष्टसह० पृ० १८२। ४ नित्येऽपि। ५-भाविनाविर्भ-भां०। ६ हि भवन्तावेतावश्यं आ०, ब०, ज०। ७ उपादान-सहकारिभावः। ८-क्षणिकक्षणवाद-ज०, भां०। ९-स्य च पी-आ०, ब०, ज०। तुलना-"तद्भावेऽपि न ज्ञायते किं कस्य तत्र उपादानम् इति? रूपज्ञानं रूपज्ञानस्य एवमन्यत्रापि योज्यम् इतिचेत्; आद्यं सौगतं ज्ञानम् अनुपादानं प्रसक्तं पूर्वं तथाविधस्य तदुपादानस्य अभावात्, अन्यथा कुतः सोपायं सुगतत्वम्।" सिद्धि वि० टी० पृ० १९७ पू०। १० तुलना-"कथञ्च निरन्वयविनाशे कारणस्य उपादानसहकारित्वस्य व्यवस्था?" प्रमेयक० पृ० १४७ पू०। ११ तुलना-"तदा प्रवृत्तिविज्ञानानाम् उपादानताविरहे निमित्तताऽपि न स्यात् उपादानताव्याप्तत्वान्निमित्ततायाः।" वैशे० उप० पृ० १४५। १२ उपादानव्यवस्थितिमूलत्वात् सहकारिव्यवस्थितेः। १३ तुलना-" एकद्रव्यस्वभावत्वात् कथञ्चित्पूर्वपर्ययः। उपादानम् उपादेयश्चोत्तरो नियमात्ततः॥ १८२॥" तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३८। "तदुक्तम्-त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत् पूर्वाऽपूर्वेण वर्तते। कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥ यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा। तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥" अष्ट सह० पृ० २१०। "पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्य उपादानत्वप्रतीतेः।" अष्ट सह० पृ० ६५। १४-त्तोत्तरोपा-आ०, ब०, ज०।

न्तराकारोपादानस्य च उपादानलक्षणस्य संभवात्। अतः पूर्वोत्तरचित्तविशेषाणां कार्यकारणभावमिच्छता एकप्रमातृसमन्वयोऽभ्युपगन्तव्यः।

कार्यकारणभाववत् तदधिगमोऽप्येकप्रमातृव्यतिरेकेण अनुपपन्नः। प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकसाधनो हि कार्यकारणभावो बौद्धैरिष्टः, प्रथमं हि कार्यकारणयोरनुपलम्भः शुद्धभूतलोपलम्भलक्षणः, तदुत्तरकालं वह्नेः उपलम्भः तदनन्तरञ्च धूमस्य, तदुत्तरकालं वह्नेरनुपलम्भे धूमस्याप्यनुपलम्भः, तदित्थमनुपलम्भत्रयेण उपलम्भद्वयेन च वह्निधूमयोः तद्भावौ[7] गृह्यते। उपलम्भत्रयेण अनुपलम्भद्वयेन वा, प्रथमतो हि वह्निधूमयोरुपलम्भः, तदुत्तरकालं वह्नेरनुपलम्भः तदनन्तरञ्च धूमस्य, पुनर्वह्नेरुपलम्भे धूमस्याप्युपलम्भ इति, तान्येतानि प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन पञ्चवस्तूनि एकसंविदपरामर्शविषयताम् एकप्रमात्रैवानीयन्ते। तावत्कालव्याप्यशेषसंवेदनानवच्छिन्नान्वयिस्वसंवेदनावभास एव च एकप्रमात्रवभासः। न हि क्रमेण प्रतिक्षणमुत्पद्यापगच्छतां परस्परविषयवार्तानभिज्ञानानाम् (भिन्नानाम्) एवंविधपरामर्शात्मको व्यापारो घटते। विकल्पस्यापि निर्विकल्पकविषय एव व्यापारादसौ[10] न युक्तः; य एव हि नीलाद्यर्थो निर्विकल्पकेन गृहीतः तत्रैव तदनुसारी विकल्पः प्रवर्तते नाधिकविषये, अगृहीतग्राहित्वेन प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गात्।

अस्तु वा अस्य[11] तद्व्यापारः[12]; तथाप्यसौ क्षणिकः, अक्षणिको वा? अक्षणिकत्वे नाममात्रभेदः स्यात् 'आत्मा विकल्पः' इति च। क्षणिकत्वेऽपि निर्विकल्पान्न विशेषः, तथा चैकस्य कार्यकारणतापत्तिर्न स्यात् प्रतिक्षणं भेदात्, यस्य हि कारणप्रत्यक्षता न तस्य कार्यप्रत्यक्षता। अस्तु वैकस्य उभयप्रत्यक्षता; तथापि 'यस्य कारणप्रत्यक्षतायां कार्यप्रत्यक्षता सोऽन्यः, यस्य च कारणानुपलम्भे कार्यानुपलम्भः सोऽन्यः' इति विभिन्नप्रमातृप्रत्यक्षानुपलम्भवत् एकप्रमातृप्रत्यक्षानुपलम्भयोरप्यत्यन्तभेदात् कथं तेन[13] तदवगमः स्यात्? तथाहि–यौ परस्परतोऽत्यन्तविभिन्नौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ न तौ कस्यचित् कार्यकारणभावमवगच्छतः यथा देवदत्त-यज्ञदत्तप्रत्यक्षानुपलम्भौ, परस्परतोऽत्यन्तविभिन्नौ च भवद्भिरभ्युपगम्येते[16] कार्यकारणक्षणयोः प्रत्यक्षा-

१–न्तरस्य ल–मां०। २–नुभि ग–आ०, ब०, ज०। ३ "तदुत्पत्तिविनिश्चयोऽपि कार्यहेतुः पञ्च प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भसाधनः–कार्यस्य उत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सत्युपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात् कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति कार्यस्य द्वौ अनुपलम्भौ एकः उपलम्भः कारणस्य च उपलम्भानुपलम्भौ इति। एवम् उपलम्भानुपलम्भैः पञ्चभिः सत्येव अग्नौ धूमस्य भावः असति अभावो निश्चीयते।" प्रश० कन्दली पृ० २०६। सर्वद० सं० पृ० १७। ४–च्च सा–मां०। ५–स्याप्युप–आ०, ब०, ज०। ६–ह्नेः धू–आ०, ब०, ज०। ७ कार्यकारणभावः। ८ तत्काल–मां०। ९–मात्राव–ब०। १० एवंविधपरामर्शात्मको व्यापारः। ११ विकल्पस्य। १२ परामर्शात्मको व्यापारः। तद्व्या–आ०, ब०, ज०। १३ प्रत्यक्षानुपलम्भतः। १४–लम्भौ क–आ०, ब०, ज०। १५–न्नौ प्र–ज०। १६ सौगतैः। १७–कारणयोः प्र–मां०।

नुपलम्भौ इति । तन्नैक[1]प्रमात्रनभ्युपगमे कार्यकारणभावः तत्प्रतिपत्तिर्वा घटते, तत्कथं तेषां[2] तद्भाव[3]प्रबन्धेन[4] प्रवृत्तिः स्यात् ?

किञ्च, क्षणिकत्वे सिद्धे तेषां कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवृत्तिर्युक्ता, न[5] तु तत्सिद्धं[6] तत्प्रसाधकप्रमाणाऽभावात्, तदभावश्च अक्षणिकत्वसिद्धौ प्रसाधयिष्यते । किञ्च, अर्थानां क्षणिकत्वमिच्छतापि प्रमातुरेकत्वमवश्य[7]मभ्युपगन्तव्यम्, तदभावे पूर्वोत्तरक्षणविवेकलक्षणक्षणिकत्वस्य प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । पूर्वाकारदर्शनं ह्यन्यस्य ज्ञानस्य संवृत्तम् उत्तराकारदर्शनं चान्यस्य, अतश्चोत्तरज्ञानं स्वविषयपरिच्छेदमात्रोपक्षीणशक्तिकं[8] न 'पूर्वज्ञानगृहीतविषयाकारात् विलक्षणोऽयम्' इति परामृष्टुं क्षमं सर्वथा तद्विषयवार्तानभिज्ञत्वात् । यत् सर्वथा यद्विषयवार्तानभिज्ञं न तत् तद्विषयात्[9] स्वविषयस्य वैलक्षण्यपरामर्शे समर्थम् यथा [10]चैत्रज्ञानं मित्रज्ञानविषयात्, सर्वथा पूर्वज्ञानविषयानभिज्ञश्च उत्तरज्ञानमिति । न खलु चैत्रेण अन्याकारेऽर्थे दृष्टे तदनन्तरं मित्रस्य अन्याकारार्थदर्शने सति 'विलक्षणोऽयम्' इति प्रत्यवमर्शो दृष्टः ।

[11]यच्चान्यदुक्तम्-'पूर्वोत्तरक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवः' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; पूर्वोत्तरक्षणयोः वर्तमानक्षणकालेऽसत्त्वेन अस्य[12] [13]ताभ्यामसम्बद्धस्य [14]सन्तानत्वानुपपत्तेः, सतामेव हि अन्योन्यसम्बन्धा(द्धा)नां लोके सन्ततिः प्रसिद्धा पक्षिवत् । अथ वर्तमानक्षणोऽतीतानागतक्षणापेक्षः सन्तानः स्यात्; नन्वनयोः[15] विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्योमोत्पलप्रख्ययोः कापेक्षा नाम ? अन्यथा शशशृङ्ग-वन्ध्यास्तनन्धयापेक्षयापि वर्तमानक्षणस्य एकसन्तानता स्यात् । [16]अत्रैवार्थे प्रयोगद्वयम्[17]-बौद्धाभिमतो वर्तमानज्ञानक्षणः [18]तदुत्पाद्योत्पादकाभिमतज्ञानक्षणान्तरेण एकसन्ता[19]निको न भवति, सत्त्वात्, अनभिमतज्ञानक्षणवत् । तथा, विवादापन्नानामतीताऽनागतवर्तमानज्ञानक्षणानां नैकः सन्तानः सदसद्रूपत्वात्, वन्ध्या-तत्पुत्रक्षणवत् ।

यदप्युक्तम्[20]-'अपरामृष्टभेदाः' इति; तदप्ययुक्तम्; [21]यतोऽभेदपरामर्शस्तेषां[22] ज्ञानान्तरात्, स्वतो वा ? यदि ज्ञानान्तरात्; किमस्मदादिसम्बन्धिनः, योगिसम्बन्धिनो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; अस्मदादेरतीतादिक्षणगोचरस्य ज्ञानस्याऽसंभवात् स्वहेतुक्षणमात्रविषयतया तस्य सौगतैरभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षोऽप्यसम्भाव्यः; योगिज्ञानस्य विधूतकल्पनाजालतयाऽभेदपराम[23]-

---

१-भिन्नैक प्र-आ०, ब०, ज० । २ पूर्वोत्तरक्षणानाम् । ३ कार्यकारणभावप्रबन्धेन । ४-प्रबन्धनेन ब० । ५ न च तत्-भां० । ६ क्षणिकत्वप्रसाधक । ७-श्याभ्यु-आ०, ब०, ज० । ८-कं पू-आ०, ब०, ज० । ९-पयः स्व-आ०, ब०, ज० । १० मित्रज्ञानं चैत्रज्ञान-भां० । ११ पृ० ६ पं० १४ । १२ वर्तमानक्षणस्य । १३ पूर्वोत्तरक्षणाभ्याम् । १४ संज्ञान-आ०, ब० ज० । १५ अतीतानागतक्षणयोः । १६ तत्रै-आ०, ब०, ज० । १७ एतत्प्रयोगद्वयं स्याद्वादरत्नाकरस्य १०८७ पृष्ठेऽपि । १८ उत्पाद्य उत्तरक्षणः, उत्पादकः पूर्वक्षणः । १९-सन्तानकः-भां० । २० पृ० ६ पं० १४ । २१ तुलना-"यस्मादभेदपरामर्शः प्राचीनोत्तरक्षणानाम् ज्ञानान्तरात्, स्वतो वा ? यदि ज्ञानान्तरात्; किमस्मदादिसम्बन्धिनो योगिसम्बन्धिनो वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १०८८ । २२ तेषां ज्ञानान्तरात्किमस्म-आ०, ब०, ज० । २३-मर्शहे-आ०, ब०, ज० ।

र्शाऽहेतुत्वात्। अथ स्वत एव; तन्न; अतीताऽनागतक्षणयोरसत्त्वेन अभेदपरामर्शहेतुत्वानुपपत्तेः। यदसत् न तदभेदपरामर्श[1]हेतुः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, असन्तौ च अतीताऽनागतौ ज्ञानक्षणाविति। वर्तमानज्ञानक्षणस्यापि अतीताऽनागतज्ञानक्षणाभ्यां सह नाऽभेदपरामर्शहेतुत्वं तत्कालेऽसत्त्वात्। यद्यत्काले असत् न तस्य तेन सह एकसन्तानहेतुरभेदपरामर्शः यथा[2] रावण-शङ्खचक्रवर्त्यादिना, अतीतानागतक्षणकाले असंश्च वर्तमानक्षण इति। ततः प्रतिक्षणविशरारुक्षणानामुक्तप्रकारेण कार्यकारणभावस्य अभेदपरामर्श[3]स्य चानुपपत्तेः कथं यथोक्तलक्षणः सन्तानो व्यवतिष्ठेत ?

अस्तु वा; तथाप्य[4]सौ सन्[5] स्यात्, असन् वा ? यदि सन्; तदाऽसौ अनित्यः, नित्यो वा ? प्रथमपक्षे सन्तानिभ्योऽस्याऽविशेषात् कथं कर्मफलसम्बन्धव्यवस्थाहेतुत्वं यतः कृतनाशाकृताभ्यागमदोषोपनिपातो न स्यात् ? द्वितीयपक्षे[6] तु नास्ति[7] विवादो नार्थे, आत्मन एव 'सन्तानः' इति नामान्तरकरणात्। अथ असन्[8]; कथं तद्व्य[9]वस्थाहेतुः ? यदसत् न तत् कस्यचिद् व्यवस्थाहेतुः यथा खरविषाणम्, असंश्च भवन्मते सन्तान इति।

यदप्युक्तम्[10]–'भेदाभेदादिविकल्पैरवक्तव्य एव सन्तानोऽवस्तुत्वात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; अवस्तुनो[11] वस्तुव्यवस्थाहेतुत्वाऽसंभवात्। तथाहि–सन्तानः कर्मफलसम्बन्धादिव्य[12]वस्थाहेतुर्न भवति अवस्तुत्वात् आकाशकुशेशयवत्। तद्व्यवस्थाहेतुत्वे[13] वा अवस्तुत्वविरोधः। यद् वस्तुव्यवस्थाहेतुः न तदवस्तु यथा प्रत्यक्षादि, कर्मादिवस्तुव्यवस्थाहेतुश्च भवद्भिः परिकल्पि[14]तः सन्तान इति। वस्तुत्वे चास्य[15] सन्तानिभ्यो भेदः, अभेदो वा स्यात् ? अभेदे प्रतिक्षणं तेनापि

१–मर्शाहे–आ०, ब०, ज०। २ "यथा रावणशङ्खचक्रवर्त्तिभ्यां सह इति" स्या० रत्ना० पृ० १०८८। ३–मर्शानु–भां०। ४ सन्तानः। ५ सत् स्यादसद् वा आ०, ब०, ज०। ६ तुलना–"अथ द्रव्यसत्त्वमस्यावसीयते; संज्ञाभेदमात्रम् 'आत्मा सन्तानः' इति नार्थविप्रतिपत्तिः" राज वा० पृ० ८५। "सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात् अन्यथात्मा तथोच्यताम् ॥ ८३ ॥" तत्त्वा० श्लो० पृ० २३। ७ नास्ति वि–आ०, ब०, ज०। ८ असत् आ०, ब०, ज०। ९ कर्मफलसम्बन्धव्यवस्था। १० पृ० ७ पं० ५। ११ तुलना–"अवस्तुनो वस्तुव्यवस्थाहेतुत्वानुपपत्तेः।" स्या० रत्ना० पृ० १०८९। १२–धादि हे–भां०। १३–हेतुः वा–आ०, ब०, ज०। १४ परिकल्प्यते भां०, ज०। १५ सन्तानस्य भिन्नाभिन्ननित्यानित्यादिविकल्पैः प्रत्यवस्थितिः इतरग्रन्थेष्वपि दृश्यते। तथाहि–"व्यतिरिक्तो हि सन्तानो यदि नाभ्युपगम्यते। सन्तानिनामनित्यत्वात् कर्त्ता कश्चिन्न लभ्यते ॥३७॥ सन्तानानन्यतायां तु वाचोयुक्त्यन्तरेण ते। तत्र चोक्तं नचाऽवस्तु सन्तानः कर्त्तृतां व्रजेत् ॥ ३९ ॥ सन्तानक्षणिकत्वे च तदेवाऽक्षणिकस्त्वथ। सिद्धान्तहानिरेवञ्च सोऽपि द्रव्यान्तरं भवेत् ॥ ४० ॥ एका चाऽव्यतिरिक्ता च सन्तानिभ्योऽथ सन्ततिः। भेदाऽभेदौ प्रसक्तव्यौ ग्राह्यग्राहकयोर्यथा ॥ ४१ ॥" मीमांसा श्लो० पृ० ६९७। "सन्तानिभ्यश्च सन्तानोऽभिन्नो भिन्नोऽथवा द्विधा ॥ ६३३ ॥ अभेदे ऽनित्यतासक्तिः स्यात्सुभेदे प्रसज्यते। कार्यकारणभावश्च न च वः स्यादभीप्सितः ॥ ६३४ ॥ भिन्नाऽभिन्नत्वपक्षोऽपि विरोधान्न च युज्यते। स्वसिद्धान्तस्य च ध्वस्तिर्न च संगच्छते जनैः ॥ ६३५ ॥ सन्तानिनां स्वसन्तानाद्भिन्नाऽभिन्नत्वकल्पने। वाच्या दोषा यथायोगं सन्तानार्थानुरोधतः ॥ ६३६ ॥ अवाच्यमितिपक्षश्चेन्मैवं तस्याप्यसंभवात्। अन्याऽनन्योभयात्म-

तद्वत् विनष्टव्यं ततोऽभिन्नत्वात तत्स्वरूपवत्, सन्तानिव[2]द्वा सन्तानस्य भेदप्रसङ्गश्च तत[3] एव तद्वत्। भेदे नित्यः, अनित्यो वा स्यात्? नित्यत्वे स एव नाममात्रभेदः, सत्त्वादेर्नश्वरत्वे साध्यां (ध्ये)ऽनैकान्तिकत्वञ्च। अनित्यत्वे तु सन्तानिवद् भेदात् कथं क[5]र्मादिप्रतिनियमनिबन्धनत्वम्? कथं वा रूपा[6]दिस्कन्धपञ्चकव्यवस्था सन्तानलक्षणस्य षष्ठस्कन्धस्य प्रसङ्गात्?

किञ्च, अस्य त[7]द्विकल्पैरवक्तव्यत्वमसत्त्वात्, वक्तुरशक्तेः, अज्ञानाद्वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सन्तानस्याऽसत्त्वे कर्मादिव्यवस्थाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात्। अस्तु वाऽसत्त्वम्; तथापि असद्रूपस्य[9] सद्रूपाद् भेदोपपत्तेः भेदेन वक्तुं शक्तेश्च कथमसौ [10]तद्रूपोऽप्यवक्तव्यः स्यात्? असद्रूपोह्यर्थः सद्रूपतया वक्तुमशक्यो न पुनरसद्रूपतयापि। द्वितीयविकल्पोऽप्यसाम्प्रतः; सुगतस्याऽचिन्त्यशक्तिसद्भावाभ्युपगमात्। तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; तस्याऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। †[11]यच्चोक्तम्–'संवृतिः सन्तानः' इति; तदतीवाऽसङ्गतम्; [12]संवृतेर्मृषारूपतया दृष्टाऽदृष्टप्रयोजनप्रसाधकत्वानुपपत्तेः। किञ्च, [13]संवृतिः कल्पनोच्यते; सा च असति मुख्ये न प्रवर्तते।

"*अन्य[14]त्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्राध्यारोपः कल्पना*" [　　] इत्यभिधानात्। न च मुख्यरूपतयान्वितं रूपं भव[15]तां क्वापि प्रसिद्धं यत् पूर्वोत्तरक्षणेषु कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्त्तमानेषु कल्प्येत। अतः संवृतिरूपसन्तानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याप्येकप्रमातृसद्भावोऽवसीयते।

त्वकल्पने ह्यसदेव तत् ॥ ६३७ ॥" बृहदा० वार्ति० पृ० १४८९। "अथ सन्तानमाश्रित्य क्रियते तत्समर्थनम्। न तस्य भिन्नाऽभिन्नत्वविकल्पाऽनुपपत्तितः ॥ अभेदपक्षे क्षणवत् व्यवहारो न सिद्ध्यति। व्यतिरेके तु चिन्त्योऽसौ वास्तवोऽवास्तवोऽपि वा ॥ अवास्तवत्वे पूर्वोक्तं कार्यं विघटते पुनः। वास्तवत्वे स्थिरो वा स्यात् क्षणिको वेति चिन्त्यताम् ॥ सन्तानिनिर्विशेषः स्यात् सन्तानः क्षणभङ्गुरः। न सिद्ध्येत् पुनरप्येष व्यवहारः पुरोदितः ॥ अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्तानामानमुपैषि भावम्। उत्तिष्ठ भिक्षो फलिता तवाशा सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥" न्याय मं० पृ० ४६४।

१ सन्तानिक्षणवत्। २–वत्तावद्धा सन्ता–भां०। ३ ततोऽभिन्नत्वादेव। ४–ध्य अनै–भां०। ५ कर्मफलसम्बन्धादि। ६ रूपस्कन्ध–ब०। रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानरूपाः पञ्च स्कन्धाः। ७ भेदाऽभेदादिविकल्पैः। ८–त्वसमत्वात्–आ०, ब०, ज०। "अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात् किमबोधतः ॥ ५० ॥" आप्तमी०। ९–स्यास–आ०, ब०, ज०। १० असद्रूपोऽपि। ११ इतिः सं–आ०, ब०, ज०। १२ संवृतेस्तृपा–आ०, ब०, ज०। तु०–"अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्। मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥ ४४ ॥" आप्तमी०। "न संवृतिः साऽपि मृषास्वभावा......मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टा" युक्त्यनु० पृ० ४१। "सत्यं चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम् ॥ ६ ॥" मी० श्लो० पृ० २१८। १३ तुलना–"अपि च संवृतिः कल्पना उच्यते, सा च असति मुख्ये न संभवति" स्या० रत्ना० पृ० १०९०। "संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतप्रकाशनाच्च ! अनया इति संवृतिः। अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायाः।" बोधिचर्या० पं० पृ० ३५२। १४ उद्धृतश्चैतत् स्या० रत्ना० पृ० १०९०। १५ भवतः भां०। †पृ० ७ पं० ५।

प्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेश्च; नहि 'यमहमद्राक्षमेतर्हि तमेव स्पृशामि' इति एकानुसन्धातृव्यतिरेकेणैवंविधमनुसन्धानं संभवति, प्रतिक्षणमाविर्भवतामपरापरज्ञानानां परस्परस्वरूपाऽनभिज्ञतया अन्योन्यं[2] प्रत्यवमर्शाऽसामर्थ्यात्। यत् परस्परस्वरूपानभिज्ञं न तद् अन्योन्यप्रत्यवमर्शसमर्थम् यथा देवदत्त-यज्ञदत्तविज्ञानम, परस्परस्वरूपानभिज्ञं च उक्तप्रकारं रूपस्पर्शादिज्ञानमिति। अथ एकमेवोभयप्रतिसन्धानात्मकमेतज्ज्ञानमिष्यते; कथमेवं क्षणिकवादः तदात्मनो ज्ञानस्याऽनेकक्षणस्थायित्वात्? कथं वा नैरात्म्यवादः[6] तस्यैवाऽऽत्मत्वोपपत्तेः? एकस्य ग्रहण-स्मरणानुसन्धातुः सिद्धत्वात्। न खलु ज्ञानादर्थान्तरमात्मानं प्रतिजानीमः, पूर्वोत्तरचिद्विवर्त्तवर्तिनोऽनुस्यूतचैतन्यस्य आत्मत्वप्रतिज्ञानात्। न हि प्रमाता नाम अननुभूतपूर्वं

---

१ भारतीयदर्शनेषु सर्वत्रैव प्रत्यभिज्ञानादेव आत्मनित्यत्वसिद्धिः दृश्यते। तथाहि-"दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। ३।१।१।" न्यायसू०। "यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामि इति, यं चास्पार्क्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि इति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययौ एककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते" न्याय भा० पृ० २१८। "नहि भवति यद्रूपमद्राक्षं सोऽयं स्पर्श इति, नापि भवति 'यत् स्पर्शमस्प्राक्षं तद्रूपं पश्यामि' इति। नापि देवदत्तदृष्टे यज्ञदत्तप्रतिसन्धानं दृष्टम्, नहि भवति देवदत्तो यमाद्राक्षीत् यज्ञदत्तः तमद्राक्षम् इति। किं कारणम्? बुद्धिभेदानां प्रतिनियतविषयत्वात् इति। प्रतिनियतविषया इतरेतरव्यावृत्तिरूपा नैरात्म्यवादिनो न भवन्ति इति न युक्तं प्रतिसन्धानम्, तस्मात् यः प्रतिसन्धाता स आत्मा इति।" न्याय वा० पृ० ६४। "स्मरणप्रत्यभिज्ञाने प्रत्युत स्थैर्यसाधके। एवञ्च वञ्चनामात्रम् आशुनाशित्वदेशना॥" ......इत्यादि, न्यायमं० पृ० ४४४। "अनुस्मृतेश्च" ब्रह्म सू० २।२।२५। "कथं हि 'अहमदोऽद्राक्षम् इदं पश्यामि' इति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात्। अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्त्तर्येकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धः 'अहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामि'। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात् ततोऽहं स्मरामि अद्राक्षीदन्यः इति प्रतीयात्, नत्वेवं प्रत्येति कश्चित्......तथा अनन्तरामनन्तराम् आत्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन् एककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासाद् अतीताश्च प्रतिपत्तीराजन्मनः आत्मैककर्तृकाः प्रतिसन्दधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नाऽपत्रपेत्?" ब्रह्म० सू० शां० भा०। "प्रत्यभिज्ञायते कर्ता यः पूर्वापरकालयोः। तस्य स्यात्मनः स्फुटो भेदो विज्ञानात् क्षणभङ्गुरात्॥ विषयप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेर्ज्ञातुरेकत्वकल्पनायां स्यादप्येतदुत्तरम् 'सन्तानैकत्वादेव उपपद्यते' इति। यदा तु ज्ञातैवैकः पूर्वापरकालयोः प्रत्यभिज्ञायते 'योऽहं पूर्वमद्राक्षं स एवाऽहमनुपश्यामि' इति तदा प्रत्यभिज्ञयैव ज्ञातुरेकत्वावगमात्, विज्ञानस्य च क्षणिकत्वात् ततोऽन्यो ज्ञाता सिद्धो भवतीति।" शास्त्रदी० पृ० ४७५। प्रत्यभिज्ञानं तु भिन्नकर्तृकेभ्यो व्यावर्तमानमेककर्तृकतायां पर्य्यवस्यति।" वैशे० उप० पृ० ९९। "क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥ ४१॥" आप्तमी०। २-न्य प्र-भां०। ३-भिज्ञानं त-आ०, ब०, ज०। ४-स्परूपा-भां०। ५-र रूप-ज०, भां०। ६ "तत्र आत्मा नाम योऽपरायत्तस्वरूपः स्वभावः, तदभावो नैरात्म्यम्। तच्च धर्मपुद्गलभेदाद् द्वैतं प्रतिपद्यते-धर्मनैरात्म्यम्, पुद्गलनैरात्म्यञ्चेति।" चतुःश० पृ० १५१। ७ उभयप्रतिसन्धानात्मनो ज्ञानस्यैव।

किञ्चिद्वस्तु; किं तर्हि ? प्रतिनियतार्थावभासिज्ञानेषु अहमहमिकया प्रतिप्राणि भासमानमन्वितं[1] चिद्रूपम्, तदनभ्युपगमे प्रतिसन्धानवार्त्तोच्छेदः[2] स्यात्। न[3] हि अन्येनानुभूते घटे अन्यस्य 'स एवायं घटः' इति प्रतिसन्धानं प्रतीतम्, अन्यथा प्रथमदर्शनेऽपि तत् स्यात्। अथ द्वितीयदर्शने सत्येव तद् भवति, नन्वेकस्यावस्थातुः[4][5] तद् द्वितीयदर्शनम्, अनेकस्य वा ? यद्येकस्य; अस्मन्मतसिद्धिः। अनेकपक्षे तु एकावस्थातृरहितत्वात् देवदत्तदर्शनानन्तरं यज्ञदत्तदर्शन इव प्रतिसन्धानानुपपत्तिः, नहि देवदत्तानुभूतमर्थं यज्ञदत्त इत्थं प्रतिसन्धत्ते 'यमहमद्राक्षं देवदत्तः तमेवाहं यज्ञदत्तः स्पृशामि' इति, एतत्तु[6] स्यात् 'तेन दृष्टं स्पृशामि' इति।[7] क्षणिकचित्तपक्षे तदपि वा न स्यात्; पूर्वोत्तरचित्तक्षणयोर्विभिन्नकालत्वेतोऽन्योऽन्यार्थदर्शनाऽभावात्,[8][9] अभिन्नकालयोरेव हि देवदत्त-यज्ञदत्तयोः अन्योन्यार्थदर्शने सति 'तेन दृष्टं स्पृशामि' इति प्रतिसन्धानं प्रतीतम्।

यदपि 'सादृश्यात् प्रदीपवत् प्रतिसन्धानम्' इत्युक्तम्[10], तदप्ययुक्तम्[11]; दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यात्, प्रदीपादौ हि प्रमातुरवस्थाने सति विषयभेदेऽपि सादृश्यात् प्रतिसन्धानं युक्तम्, नात्र, प्रमातृ-प्रमेययोरत्यन्तभेदात्। न हि अन्येन दृष्टेऽन्यस्य सादृश्यात् 'मया दृष्टोऽयम्'[12] इति प्रतिसन्धानं दृष्टम्, 'सोऽयम्' इत्यादिज्ञानं हि स्मृतिमपेक्षते, स्मृतिः संस्कारम्, सोऽप्यनुभवमित्यनुभवादिज्ञानमुक्ताफलानामनुस्यूतैकप्रमातृसूत्रानुप्रवेशे सत्येव 'अनुभवात् स्मृतिः' इत्याद्युपपद्यते, नान्यथा। प्रदीपवत् प्रमातुर्मुहुर्मुहुर्निरन्वयनिवृत्तौ[13] पूर्वोत्तरदर्शिनो भिन्नसन्ता-

१ "अहमहमिकयात्मा विवर्त्ताननुभवन् अनादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकानां......गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव सिद्धः।" अष्टसह० पृ० १२८। २ प्राणिप्रति आ०, ब०, ज०। ३ प्रत्यभिज्ञान। ४ "स्थित्यभावे हि प्रमातुः अन्येन दृष्टं नाऽपरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति।" अष्टसह० पृ० २०५। ५ नत्वेकस्यावस्थानः आ०, ब०, ज०। ६-तुः द्वि-भां०। ७ 'तेन दृष्टं स्पृशामि' इत्यपि। ८-लतोऽन्यार्थ-आ०, ब०, ज०। ९ अन्यार्थ-भां०। १० पृ० ७ पं० ८। ११ "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा चेत् न स्यादसदृशेषु सा ॥ १२१ ॥ गामहं ज्ञातवान् पूर्वमश्वं जानाम्यहं पुनः ॥" मीमां० श्लो० पृ० ७२०। "स यदि ब्रूयात् सादृश्यादेतत् संपत्स्यत इति, तं प्रति ब्रूयात् 'तेनेदं सदृशम्' इति, द्वयायत्तत्वात् सादृश्यस्य। क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोः ग्रहीतुरेकस्याऽभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानम् इति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्।" ब्रह्म सू० शा० भा० २।२।२५। "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं कृत्तकेशनखादिवत्। इति चेन्नैतदेवं स्यात् सादृश्याऽसंभवात्तव ॥ ६६४ ॥ सादृश्याऽसंभवश्चापि सर्वस्य क्षणिकत्वतः। नाप्यनेकार्थदर्श्यस्ति सादृश्यं स्याद्यतस्तव ॥ ६६५ ॥" बृहदा० वा० पृ० १४९६। "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम्।" न्या० वि० पृ० ४७० पू०। "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं नानासन्तानभागिनाम्। भेदानामिति तत्रापीत्यदृष्टपरिकल्पनम् ॥१४७॥ तदेवेदमिति ज्ञानादेकत्वस्य प्रसिद्धितः। सर्वस्याप्यस्खलद्रूपात् प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिवत् ॥ १४८ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३३। "यदप्युक्तम्-'सादृश्यादेव तत्संभवात् प्रदीपवत्' इति; तदपि नावदातम्; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्।" स्या० रत्ना० पृ० १०९०। १२ इति संधानं-आ०, ब०, ज०। १३ प्रमातुर्मुहुर्नि-आ०, ब०, ज०।

नवदन्यत्वात्। न च पूर्वबुद्धिविशेषात्[1] तच्छक्त्यनुविधानेन उत्तरं बुद्धयन्तरमुत्पद्यते, अतः संस्कारादेः संभव इत्यभिधातव्यम्; पूर्वबुद्धिविशेषस्यानुभवरूपत्वात् तत्प्रभवबुद्धयन्तरस्यापि अनुभवरूपस्यैवोत्पत्तिप्रसङ्गात्।

प्रमातुरन्वितत्वाऽभावे च आम्रफलादिरूपोपलम्भे[2] तद्रूपाविनाभाविषु गन्धरसादिषु विभिन्नप्रमातृवत् स्मरणपूर्वकस्यैवाभिलापादेरनुपपत्तेस्तदुपभोगाय प्रवृत्तिरतिदुर्घटा[3] स्यात्। इष्टानिष्टयोः प्राप्तिपरिहारेच्छा[4] हि अनुभवस्मरणाधारैकप्रमातृनिष्ठा तदनन्तरं नियमेनोत्पद्यमानत्वात्, या तु नैकप्रमातृनिष्ठा नासौ तदनन्तरं नियमेनोत्पद्यते यथा देवदत्तानुभूते यज्ञदत्तस्येच्छा, अनुभवाद्यनन्तरं नियमेनोत्पद्यते च तत्प्राप्तिपरिहारायेच्छेति। न खलु विभिन्नकर्तृकत्वे देवदत्तेनानुभूते इष्टेऽनिष्टे वाऽर्थे तत्प्राप्तिपरिहाराय यज्ञदत्तस्येच्छा प्रादुर्भवन्ती प्रतीयते, अतो विभिन्नकर्तृकत्वाद् व्यावर्तमानेयम्[5] एककर्तृकत्वेनैव[6] व्याप्यते, ततो 'य एवानुभवति स्मरति च स एवेच्छति' इत्येकप्रमातृसिद्धिः। अथ एकप्रमात्रभावेऽपि वासनावशादेवेच्छा प्रभवतीत्युच्यते; ननु सा वासना[7] वस्तु, अवस्तु वा स्यात्? वस्तुत्वे नाममात्रभेदः 'वासना, आत्मा' इति च। अवस्तुत्वे गगनाम्भोरुहवत् तद्धेतुत्वानुपपत्तिः। क्षणिकैकान्ते च वास्यवासकभावाऽसंभवः[8], स्थितस्य स्थितेन तद्दर्शनात् वस्त्रधूपादिवत्।

---

१ पूर्वबुद्धिविशेषगतशक्ति। २ उपलादि–आ०, ब०, ज०। तुलना–"इन्द्रियान्तरविकारात्" न्यायसू० ३।१।१२। "कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्य इन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्धिप्रवर्तितो दन्तोदकसम्प्लवभूतो गृह्यते। तस्य इन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः नान्यदृष्टमन्यः स्मरति।" न्यायभा० पृ० २२९। "प्रमातुरेकस्याऽभावे च आम्लादिरूपोपलम्भे तद्रूपाविनाभाविषु गन्धरसादिषु विभिन्नप्रमातृवत् स्मरणपूर्वकस्य इच्छाभिलापादेरनुपपत्तेः तदुपभोगाय प्रवृत्तिरिति दुर्घटा स्यात्"......स्या० रत्ना० पृ० १०९१। ३–त्तिरिति–आ०, ब०, ज०। ४ "इच्छा नाम तावदित्थमुपजायते–यज्जातीयमर्थमित्थमुपयुञ्जानः पुरुषः पुरा सुखमनुभूतवान् पुनःकालान्तरे तज्जातीयमुपलभ्य सुखसाधनतामनुस्मृत्य तमादातुमिच्छति सेयमनेन क्रमेण समुपजायमाना इच्छा पूर्वाऽपरानुसन्धानसमर्थमाश्रयमनुमापयति।" न्यायमं० पृ० ४३४। "इष्टानिष्टयोः विवादापन्ना प्राप्तिपरिहारेच्छा अनुभवस्मरणाधारैकप्रमातृनिष्ठा......"स्या० रत्ना० पृ० १०९१। ५ इच्छा। ६–तृत्वे–आ०, ब०, ज०। ७ तुलना–"ज्ञातरि प्रत्यभिज्ञां च वासना कर्तुमर्हति॥१२४॥" मी० श्लो० पृ० ७२०। "वास्यवासकभावाच्चेत् नैतत्तस्याप्यसंभवात्। असंभवः कथं न्वस्य विकल्पाऽनुपपत्तितः॥ ३२५॥ वासकाद्वासना भिन्ना अभिन्ना वा भवेद् यदि।" शास्त्रवार्ता०। "नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते यथा। तथैव प्रत्यभिज्ञेयं पूर्वतद्वासनोद्भवा॥ १७२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३७। ८ "अस्थिरत्वाद्बुद्धीनाम्, स्थिरं हि वासकेन वास्यमानं दृष्टम्।" न्यायवा० पृ० ६६। "अवस्थिता हि वास्यन्ते भावा भावैरवस्थितैः॥ १८७॥" मी० श्लो० पृ० २६२। "भिन्नकालक्षणानामसंभवद्वासनत्वादकार्यकारणवत्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८२। "पूर्वचित्तस्य वासकता अपरस्य वास्यता न भवत्येव कुत इत्याह–प्रत्यासत्तेरभावात्" सिद्धिवि० टी० पृ० १९७ उ०। "न च अस्थिराणां भिन्नकालतया अन्योन्याऽसम्बद्धानाञ्च

यदप्यभिहितम्[1]–'नित्यैकरूपत्वे चात्मनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः' इत्यादि; तदप्यसम्यक्; नित्यैकरूपत्वस्यात्मनोऽनभ्युपगमात्, तस्य परिणामिनित्यताप्रतिज्ञानात्[2]। तत्र च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वं यथा संभवति तथाऽक्षणिकत्वसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादयिष्यते।

यदप्युक्तम्[3]–'सुखादीनां क्रमभुवामात्मा व्यापको भवन्[4] किमेकेन स्वभावेन भवति अनेकेन वा' इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्; अनेकस्वभावेनैव तेन तेषां[5] व्याप्यत्वात्। नचैवमनवस्था[6][11] अर्थान्तरभूतानां तेषामर्थान्तरभूतैः स्वभावैर्व्याप्त्यनभ्युपगमात्, तद्रूपतया परिणामो हि तद्व्याप्तिः चित्रज्ञाने[7] नीलाद्याकारव्याप्तिवत्। नहि तद्रूपतया परिणतेरन्या[8] तत्र तदाकारव्याप्तिरस्ति, तज्ज्ञानात्[9] तदाकाराणामर्थान्तरत्वानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा तद्दोषोपनिपातप्रसक्तिः। अथ चित्रज्ञानस्य नीलाद्याकारात्मकतया तद्व्यापिनः स्वयं संवेदनान्न तत्प्रसक्तिः[10]; तर्हि आत्मनोऽपि सह क्रमेण च सुखाद्यनेकाकारव्यापिनः स्वयं संवेदनात् कथं तद्दोषोपनिपातः स्यात्? नहि दृष्टेऽनुपपत्तिर्नाम। [12]तदपह्नवे च बन्धमोक्षयोरभावः स्यात् तयोरेकाधिकरणत्वात्; तथाहि–विवादापन्नौ बन्धमोक्षौ एकाधिकरणौ तत्त्वात्[13] लोकप्रसिद्धबन्धमोक्षवत्। सर्वथा भेदे हि बद्ध-मुक्तपर्याययोः 'अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते' इति बद्धस्यैव मोक्षार्था प्रवृत्तिर्न स्यात्। सन्ता-

---

तेषां वास्यवासकभावो युज्यते, स्थिरस्य सम्बद्धस्य च वस्त्रादेः मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति।" स्या० मं० पृ० १६०।

१ पृ० ८ पं० २। २ "जीवो अणाइणिहणो परिणममाणो हु णवणवं भावं॥२३१॥" स्वामिकार्त्ति०। ३ पृ० ८ पं० १५। तुलना–"स्यान्मतं सुखादीनां चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन भवति अनेकेन वा? यद्येकेन...तदेतत् चित्रज्ञानेऽपि समानम्।" अष्ट सह० पृ० ७७। "कथमेकः पुरुषः क्रमेण अनन्तान् पर्यायान् व्याप्नोति? न तावदेकेन स्वभावेन सर्वेषामेकरूपतापत्तिः...तेऽपि दूषणाभासवादिनः; कथम्? क्रमतोऽनन्तपर्यायान् एको व्याप्नोति ना सकृत्। यथा नानाविधाकारांश्चित्रज्ञानमनंशकम्॥१५४॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३४। आप्तप० पृ० ४४। ४–को भवति किमेकेन स्वभावेन न भवति अनेकेन न वा भां०। ५ सुखादीनाम्। ६–चैवान–आ०, ब०, ज०। ७–ज्ञानने–भां०। ८–न्या तदा–आ०, ब०, ज०। ९ चित्रज्ञानात्। १० "तस्य पीताद्याकारव्यापिनः स्वयं संवेदनान्न तत्प्रसक्तिः; तर्हि आत्मनोऽपि सह क्रमेण च सुखाद्यनेकाकारव्यापिनः स्वयं संवेदनात् कथमुपालम्भः स्यात्, नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम।" अष्टसह० पृ० ७७। स्या० रत्ना० पृ० १०९२। ११ अनवस्था। १२ सुखाद्यनेकाकारव्यापिन आत्मनोऽपह्नवे। तु०–"न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ" युक्त्यनु० श्लो० १५। "आत्मापलापे बन्धमोक्षयोरप्यभावः स्यात् तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रतीतेः।" स्या० रत्ना० पृ० १०९२। "बुद्धिसन्ततिमात्रे तु न कश्चिद् दीर्घमध्वानं संधावति न कश्चित् शरीरबन्धाद् विमुच्यते इति संसारापवर्गाऽनुपपत्तिः।" न्यायभा० पृ० ३१५। १३ बन्धमोक्षत्वात्। तत्त्वसंग्रहे कर्मफलसम्बन्धपरीक्षायां पूर्वपक्षरूपेण कस्यचिदुक्तिः–"एकाधिकरणावेतौ बन्धमोक्षौ तथास्थितेः। लौकिकाविव तौ तेन सर्वं चारुतरं स्मृतम्॥४९९॥"

नापेक्षया बद्धस्यैव मोक्षः; इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्; सन्तानस्यैवोक्तप्रकारेण असंभवात्। तथा निहित-मन्त्रिता-ऽधीतस्मृतिः दत्तग्रहादिश्च एकात्माऽपह्नवे दुर्घट इति।

तदेवं कण्टकशुद्धिं विधाय स्वमते प्रमाणादिलक्षणप्ररूपणार्थं शास्त्रमिदमुपक्रमते। ननु[2] सम्बन्धा-ऽभिधेय-शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति शास्त्राणि प्रेक्षावद्भिराद्रियन्ते नेतराणि। अतः शास्त्रमिदमारभ्यमाणमभिधेय-तत्सम्बन्धवत्, तद्रहितं वा स्यात्? यदि तद्रहितम्; तदारम्भ-प्रयासो निष्फलः स्यात्, उन्मत्तवाक्यवत् प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात्। तद्वच्चेदस्तु, तथापि तदभिधेयं निष्प्रयोजनम्, प्रयोजनवद्वा[3] स्यात्? निष्प्रयोजनं चेत्; तर्हि तदारम्भप्रयासो व्यर्थः काकदन्तपरीक्षावत् तत्र प्रामाणिकानामादराऽसंभवात्। अथ प्रयोजनवत्; तत् किमभिमत-प्रयोजनवत्, अनभिमतप्रयोजनवद्वा? अनभिमतप्रयोजनवत्त्वे मातृविवाहोपदेशवत् नितरा-मनादरणीयत्वम्। अभिमतप्रयोजनवत्त्वेऽपि तत्प्रयोजनस्याऽशक्यानुष्ठानत्वे सर्वज्वरहरतक्ष[4]क-चूडारत्नालंकारोपदेशवत् कथं कस्यचित्तत्रोपादेयता स्यात्? इत्यारेकापनोदार्थमक्षुण्णसकल-शास्त्रार्थसंग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह—

प्रत्यक्षं[5] विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे[6] इति संग्रहः ॥ ३ ॥ इति

---

१ "बुद्धिसन्ततिमात्रे च सत्त्वभेदात् सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहितमव्यावृत्तमपरिनिष्ठितञ्च स्यात्, ततः स्मरणाऽभावात्।" न्यायभा० पृ० ३१५। "एवं तु निष्प्रमाणे पदार्थाऽस्थैर्यपक्षे ज्ञानं तु जनकस्य नियतस्य वस्तुनो दर्शनं दर्शनविपयीकृतस्य प्रवृत्तिः, प्रवृत्तिविपयीकृतस्य प्राप्तिः इति व्यवहारो न स्यादर्थक्षणनानात्वात्······पूर्वदृष्टस्य स्मरणं स्मृतस्य कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञातस्य गृहादेरर्थकृतस्य समापनम् इत्यादयश्च व्यवहारा विलुप्येरन्।" न्यायमं० पृ० ४६४। २ "अभिधेयं तु यदि निष्प्रयोजनं स्यात् तदा तत्प्रतिपत्तये शब्दसन्दर्भोऽपि नारम्भणीयः स्यात् यथा काकदन्तप्रयोजनाऽभावात् न तत्परीक्षा आरम्भणीया प्रेक्षावता······सर्वे प्रेक्षावन्तः प्रवृत्तिप्रयोजनमन्विष्य प्रवर्त्तन्ते, ततश्च आचार्येण प्रकरणं किमर्थं कृतं श्रोतृभिश्च किमर्थं श्रूयते इति संशयव्युत्पादनं प्रयोजनमभिधीयते··· अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिः निष्प्रयोजनमभिधेयं सम्भाव्येत अस्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षावत्। अशक्यानुष्ठानं वा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालंकारोपदेशवत्। अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत्।" न्यायवि० टी० पृ० २। सम्बन्धाभिधेयाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य व्यस्त-समस्तरूपेण चर्चा निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्या। माध्यमिक वृ० पृ० ३। हेतुबि० टी० पृ० १। बोधिचर्या० पं० पृ० ५। तत्त्वसं० पं० पृ० २। मीमांसाश्लो० पृ० ४। सम्बन्धवा० पृ० ७। माण्डूक्य० गौडपा० शाङ्करभा० पृ० ४। शास्त्रदी० पृ० ४। न्यायवा० ता० टी० पृ० ४। न्यायमं० पृ० ६। सिद्धिवि० टी० पृ० ४ पू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३। जैनतर्कवा० पृ० २। प्रमेयक० पृ० २। सन्मति० टी० पृ० १६९। स्या० रत्ना० पृ० १४। रत्नाकराव० पृ० ५। ३–वद्वा निष्प्र–आ०, ब०, ज०। ४–तक्ष चू–भां०। ५–"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥१॥" प्रमाणसं०। ६ "तत्प्रमाणे।" तत्त्वार्थसू० १।१०।

विवृतिः–सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् । न वै 'ज्ञानम्' इत्येव प्रमाणम्, संशयविपर्यासकारणस्य अकिञ्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । नहि 'तत्त्वज्ञानम्' इत्येव यथार्थनिर्णयसाधनमित्यपरः, तेनापि तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्येत, वस्तुबलायाततदर्थान्तरस्यापि परम्परया तत्कारणतोपपत्तेः । तत्र अज्ञानस्य प्रमाणता अन्यत्रोपचारात् । ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ।

शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयादिसमर्थनम्–

त्रिधा[2] हि शास्त्राणां प्रवृत्तिः–उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति । तत्र नाममात्रेणार्थानामभिधानम् उद्देशः । उद्दिष्टस्य स्वरूपव्यवस्थापको धर्मः लक्षणम्[3] । उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च 'यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा' इति प्रमाणतोऽर्थावधारणं परीक्षा । विभागश्च[4] उद्देश एवान्तर्भवति, सामान्यसंज्ञया हि कीर्तनम् उद्देशः, प्रकारभेदसंज्ञया कीर्तनं विभागः इति । तत्र प्रत्यक्षेतरप्रमाणभेदाः श्रुतभेदाश्च नयनिक्षेपाः लक्षण-सङ्ख्या-विषय-फलसम्पत्समन्विताः शास्त्रस्यास्याभिधेयाः इत्युद्देशतः सकलशास्त्रार्थस्याभिधेयस्यानेन प्रतिपादनाद् अभिधेयरहितत्वाशङ्काव्युदासः । तेन च सहास्य वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः इति सम्बन्धरहितत्वारेकानिरासः । शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनं तु साक्षात् तल्लक्षणव्युत्पत्तिरेव, परम्परया तु अभ्युदयनिःश्रेयसावाप्तिः । परव्युत्पादनार्था हि शास्त्रकृतः प्रवृत्तिः । नचाभिधेयादिरहितं शास्त्रं कुर्वता परो व्युत्पादितो भवति, तथाविधस्यास्य परप्रतारकत्वप्रसङ्गात् । स च व्युत्पाद्यत्वेनाभिप्रेतः परस्त्रिधा भिद्यते–सङ्क्षेपरुचिः,

---

१ न विज्ञान–ज० वि० । २ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्य अभिधानम् उद्देशः । तत्र उद्दिष्टस्याऽतत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा ।" न्यायभा० पृ० १७ । न्यायमं० पृ० १२ । न्यायसू० वृ० पृ० ३ । "पदार्थव्युत्पादनप्रवृत्तस्य शास्त्रस्य उभयथा प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणञ्च । परीक्षायास्तु न नियमः ।" प्रश० कन्दली पृ० २६ । ३ "परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ।" तत्त्वार्थराजवा० पृ० ८२ । "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः ।" न्यायमं० पृ० ६५ । प्रश० कन्दली पृ० २६ । "एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्, यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् । स एव असाधारणधर्म इत्युच्यते ।" तर्कसं० दी० पृ० ५ । तर्कभाषा पृ० १ । ४ "उद्दिष्टविभाग उद्देश एवान्तर्भवति" न्यायवा० पृ० २८ । "ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव......उद्देशरूपानपायात्तु उद्देश एव असौ । सामान्यसंज्ञया कीर्त्तनमुद्देशः प्रकारभेदसंज्ञया कीर्त्तनं विभाग इति ।" न्यायमं० पृ० १२ । प्रश० कन्दली पृ० २६ । ५–यानुकी–आ०, ब०, ज० । ६ प्रमाणादिलक्षण । ७ शास्त्रकारस्य । ८–प्रभारक–आ०, ब०, ज० । ९ "केचित् सङ्क्षेपरुचयः, अपरे नाऽतिसङ्क्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्याः" सर्वार्थसि० पृ० १३ । तत्त्वार्थरा० वा० पृ० ३१ ।

विस्तररुचिः, मध्यमरुचिश्चेति। स च त्रिविधोऽपि परः प्रत्येकं चतुर्धा भिद्यते–व्युत्पन्नः, अव्युत्पन्नः, सन्दिग्धः, विपर्यस्तश्च। तत्र व्युत्पन्नो विपर्यस्तश्च न प्रतिपाद्यः, व्युत्पित्साविरहात्। अव्युत्पन्नस्तु स्वभावतो व्युत्पित्सारहितोऽपि लोभभयादिना व्युत्पित्सायामुत्पादितायां व्युत्पाद्यो भवत्येव, यथा पितुः पुत्रः। सन्दिग्धोऽपि यदा स्वगतसंशयख्यापनपूर्वकम् 'अनयोः कः सत्यः इति पूर्वापरपक्षयोः गुणदोषनिरूपणद्वारेण मां बोधयतु भवान्' इति तत्त्वज्ञानार्थमाचार्यमुपसर्पति तदैव व्युत्पित्सासंभवात् प्रतिपाद्यः, नान्यदा।

प्रासङ्गिकी प्रमाणसिद्धिः–

ननु प्रसिद्धे प्रमाणे अभिधेयादिमत्ता शास्त्रस्य स्यात्, न च तत् प्रसिद्धम्; तस्य हि प्रसिद्धिः प्रमाणान्तरात्, तदन्तरेण वा? यदि प्रमाणान्तरात्; तदानवस्था, कुतः? प्रमाणान्तरस्यापि प्रमाणान्तरात् प्रसिद्धिप्रसङ्गात्। प्रमाणान्तरमन्तरेण तत्सिद्धौ च सर्वं सर्वस्येष्टं सिद्ध्येत्, तथा च सकलशून्यतासिद्धेरपि प्रसङ्गात् कथमस्याऽभिधेयादिमत्त्वा सिद्ध्येदिति? तदसमीक्षिताभिधानम्; सकलशून्यतामभ्युपगच्छताऽपि प्रमाणाभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तथाहि–सकल-

१ "तत्त्वप्रतिपित्सायां सत्यां त्रिविधः प्रतिपाद्यः संशयितो विपर्यस्तबुद्धिः अव्युत्पन्नश्च।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५३। "चत्वारो हि प्रतिपाद्याः व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तश्च।" लघी० वृ० पृ० ६। २ "तत्र संशयितः प्रतिपाद्यः तत्त्वपर्यवसायिना प्रश्नविशेषेण आचार्यं प्रति उपसर्पकत्वात्, नाऽव्युत्पन्नो विपर्यस्तो वा तद्विपरीतत्वाद् वालकवद् दस्युवद्वा।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५२। ३–स्य अन्यथा स्यात् न न च आ०, ब०, ज०। ४ प्रमाणम्। ५ "प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः।" न्या० सू० २।१।१७। यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणेन उपलभ्यन्ते येन प्रमाणान्तरेण उपलभ्यन्ते तत् प्रमाणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्यते इत्यनवस्थामाह–तस्याप्यन्येन तस्याप्यन्येन इति, न च अनवस्था शक्याऽनुज्ञातुम् अनुपपत्तेरिति।" "तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः" न्या० सू० २।१।१८। "यदि प्रत्यक्षाद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्त्तते, आत्मेत्युपलब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्त्स्यति अविशेषात्, एवं च सर्वप्रमाणविलोप इति।" न्यायभा० पृ० १०७। न्यायवा० पृ० १९८। "प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यात् स्वत एव वा? यदि यथा प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाधीना एवं प्रमाणसिद्धिरपि प्रमाणान्तराधीना इति तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यत् इत्यनवस्था। अथ स्वत एव सिद्धिः एवमपि यथा प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिः तथा प्रमेयस्यापि प्रमेयात्मन एव सिद्धिरिति प्रमाणव्यवस्थाकल्पना न घटते।" तत्त्वा० राजवा० पृ० ३५। "ननु प्रमाणसंसिद्धिः प्रमाणान्तरतो यदि। तदानवस्थितिर्नो चेत् प्रमाणान्वेषणं वृथा॥ १३४॥" तत्त्वा० श्लो० पृ० १७८। ६–द्धेरति प्र–भां०। ७ शास्त्रस्य। ८–मत्त्वम् भां०। ९ "अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्। बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम्॥ १२॥" आप्तमी०। "बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनोऽसंभवात् न प्रमाणम्, ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य स्वार्थं परार्थं वा केन दूषणं बहिरन्तश्च भावस्वभावानाम्.........बहिरन्तश्च परमार्थसत् तदन्यतरापायेऽपि साधनदूषणप्रयोगाऽनुपपत्तेः।" अष्टसह० पृ० ११५। "स्वेष्टाऽनिष्टार्थयोर्ज्ञातुर्विधानप्रतिषेधयोः। सिद्धिः प्रमाणसंसिद्ध्यभावेऽस्ति न हि कस्यचित्॥ १३३॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७८।

शून्यवादिनोऽपि अस्ति प्रमाणम्, इष्टानिष्टयोः साधनदूषणाऽन्यथानुपपत्तेः। नचैवमनवस्था, इष्टसिद्धेः अनिष्टप्रतिषेधस्य च प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वेन अशेषवादिनां निर्विवादतः प्रमाणान्तरापेक्षानुपपत्तेः। निराकरिष्यते च सकलशून्यता बाह्यार्थसिद्ध्यवसरे विस्तरतः इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

ननु सिद्धेऽपि प्रमाणसद्भावे तत्स्वरूपविशेषनिश्चयासिद्धिः, ज्ञानाऽज्ञानरूपतया तत्र वादिनां विप्रतिपत्तेरित्याह–**ज्ञानम्** इति। यत् तदिष्टाऽनिष्टसाधनदूषणा-

कारिकाव्याख्यानम्–

न्यथानुपपत्तितः प्रसाधितं प्रमाणं तज्ज्ञानम् प्रमाणत्वात्, यत् पुनर्ज्ञानं न भवति न तत् प्रमाणम् यथा घटादिः, प्रमाणञ्चेदं विवादापन्नम्, तस्माज्ज्ञानम्, इति[1] प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तच्चैतल्लक्षणलक्षितं प्रमाणं प्रत्यक्ष-परोक्षप्रकारेण द्विधा[2] भिद्यते इत्येतत् '**प्रमाणे**' इत्यनेन दर्शयति। तत्राद्यप्रकारस्वरूपं '**प्रत्यक्षं विशदम्**'

१ "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः।" प्रमाणप० पृ० १। प्रमेयक० पृ० ३ पू०। प्रमेयरत्न० पृ० १०। स्या० रत्ना० पृ० ४१। २–ति सामान्यप्रमाण–ब०। प्रमाणस्य क्रमविकसितानि सामान्यलक्षणानि निम्नप्रकारेण द्रष्टव्यानि–"तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्॥ १०१॥" आप्तमी०। "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्॥ ६३॥" बृ० स्वय०। "प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।" सर्वार्थसि० पृ० ५८। त० राजवा० पृ० ३५। "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५। "कोऽस्याऽतिशयः सकलप्रमेयव्यवस्थाहेतुत्वं यद्वक्ष्यते 'सिद्धं यन्नपरापेक्ष्यम्' (?) इत्यादि–सिद्धि वि० टी० पृ० ३ उ०। एषैव कारिका 'तदुक्तम्' इति निर्दिश्य उद्धृता न्यायविनिश्चयटीकायाम् (पृ० ३० उ०) सिद्धं यन्न परापेक्ष्यं सिद्धौ स्वपररूपयोः, तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्।" "तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानम्॥ ७७॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७४। प्रमाणप० पृ० ५३। "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" परीक्षामुख १।१। "गेण्हइ वत्थुसभावं अविरुद्धं सम्मरूव जं णाणं। भणियं खु तं पमाणं पच्चक्खपरोक्खभेयेहिं॥" नयचक्रसं० पृ ६५। आलापपद्धतिः पृ० १४५। पञ्चाध्यायी श्लो० ६६६। तत्त्वार्थसार १।१७। "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।१।" न्यायाव०। जैनतर्कवा० श्लो० २। "प्रमीयन्तेऽर्थास्तैः इति प्रमाणानि।" तत्त्वार्थभा० १।१२। "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।" सन्मति० टी० पृ० ५१८। "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।" प्रमा० त० १।२। जैनतर्कभा० पृ० १। "सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।" प्रमाणमी० १।१।२। स्या० मं० पृ० २२८। "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपाद्‍र्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥ १०॥" प्रमा० स० पृ० २४। "अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्" प्रमाणसमु० टी० पृ० ११। "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्॥" प्रमाणवा० २।१। न्यायवि० टी० पृ० ५। "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्।" न्यायवि० पृ० २५। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यताऽपि वा॥१३४४॥" तत्त्वसं०। "बाह्यर्थे प्रमेये······सारूप्यं तु प्रमाणम् ज्ञानात्मनि तु प्रमेये······योग्यता प्रमाणम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ३९८। "योगाचारास्तु बाह्यार्थमपलपन्तो ज्ञानस्यैव अनादिवासनोपप्लावितः नीलपीतादिविषयाकारः प्रमेयम्, स्वाकारः प्रमाणम्, स्वसंवित्तिः

इत्यनेन प्ररूपयति। वक्ष्यमाणलक्षण-वैशद्येन यदुपलक्षितं ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षम्। प्रयोगः–

फलम् इति मन्यन्ते।" मी० श्लो० न्यायर० पृ० १५९ "निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनः तत्रार्थे प्रमाणम् इति वैभाषिकोक्तम्।" सन्मति० टी० पृ० ४५९। "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्।" न्यायभा० पृ० ९९। न्यायवा० पृ० ५। "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्।" न्यायसार पृ० १। "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" न्यायमं० पृ० १२। "यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥" न्यायकु० स्तवक ४। "तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपप्रकर्षविशिष्टज्ञानकारणत्वं प्रमाणत्वम्।" न्या० सू० वृ० पृ० ६। "साधनाश्रयाऽव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्।" सर्वद० सं० पृ० २३५। "प्रमायाः करणं प्रमाणम्।" न्यायसि० मं० पृ० १। तर्कभा० पृ० २। "यथार्थं प्रमाणम्।" प्रमाणलक्षणटी० पृ० १। "अदुष्टं विद्या।" वैशे० सू० ९।२।१। "अदुष्टेन्द्रियजन्यं यत्र यदस्ति तत्र तदनुभवो वा, विशेष्यवृत्तिप्रकारकानुभवो वा विद्या।" वैशे० उप० पृ० ३४४। "प्रमीयतेऽनेन इति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते। असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति।" साङ्ख्य० कौ० पृ० १९। योगद० तत्त्ववै० पृ० २७। "द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधम् प्रमाणम्।" साङ्ख्यद० १।८७। "अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमेव उच्यते तदा बुद्धिवृत्तिरेव प्रमाणम्। यदि च बुद्धिनिष्ठमात्रमुच्यते तदा तु उक्तेन्द्रियसन्निकर्षादिरेव प्रमाणम्।" सा० प्र० भा० १।८७। "प्रमाणं वृत्तिरेव च।" योगवा० पृ० ३०। अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्।" वेदान्तपरि० पृ० १७। "एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।" शास्त्रदी० पृ० १५२। "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः।" सि० चन्द्रोदय पृ० २०। "अनुभूतिश्च प्रमाणम्।" शाबरभा० बृह० १।१।५। प्रकरणपं० पृ० ४२। ३ प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण द्विविधप्रमाणविभागस्य उल्लेखः निम्नपुरातनग्रन्थेषु दृश्यते–"जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु। जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खम् ॥५८॥" प्रवचनसार। "आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।" तत्त्वार्थसू० १।११,१२। "दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा–पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।" स्थानाङ्गसूत्र २।१।७१। "प्रत्यक्षञ्च परोक्षञ्च द्विधा मेयविनिश्चयात्।" न्यायाव० श्लो० १। धर्मकीर्तिकृतप्रमाणवार्तिके "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः" (३।६३) इत्यादिना मेयस्य प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण विभागो विद्यते।

१ "प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ॥ ३ ॥" न्यायविनि०। "इदमनन्तरोक्तं स्पष्टं विशदं व्यवसायात्मकं ज्ञानम्, कथंभूतम्? स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसङ्ख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्।" सिद्धिवि० टी० पृ० ९६ उ०। "विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्।" प्रमाणप० पृ० ६७। परीक्षामुख सू० २।३। "असहायं प्रत्यक्षम्।" पञ्चाध्यायी १।६९६। "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षम्"'न्यायाव० श्लो० ४। "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्।" जैनतर्कवा० पृ० ९३। "स्पष्टं प्रत्यक्षम्।" प्रमाण० तत्त्वा० २।२। प्रमाणमी० १।१।१३। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥ ३ ॥" प्रमाणस० पृ० ८। "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।" न्यायवि० पृ० १६।

विशदस्वभावमेव ज्ञानं प्रत्यक्षम् प्रमाणान्तरत्वान्यथानुपपत्तेः । नचायमसिद्धो हेतुः ; तदन्तरत्वेनास्य वक्ष्यमाणत्वात् । तदेवंविधं प्रत्यक्षं द्वेधा प्रतिपत्तव्यम् । कथम् ? इत्याह–**मुख्यसंव्यवहारतः** इति । इन्द्रियाद्यनपेक्षं प्रतिबन्धकापायोपेतात्ममात्रनिबन्धनं स्वविषये निःशेषतो विशदम् अवधि-मनःपर्यय-केवलाख्यं ज्ञानं मुख्यतः प्रत्यक्षम् ।

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तु स्वविषये देशतो विशदं चक्षुरादिज्ञानं संव्यवहारतः प्रत्यक्षम् । कथं पु-

---

तत्त्वसं० कारिका १२१४। "यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् उच्यते ।" न्यायवि० टी० पृ० ११। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" न्या० सू० १।१।४ । "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा ।" न्यायभा० पृ० १७ । न्या० वा० पृ० २८। "सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम् ।" न्यायसार पृ० २ । "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ।" वैशे० द० ३ । १ । १८। "अक्षमक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्...सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षाद् अवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" प्रशस्तपा० पृ० १८६ । "इन्द्रियजन्यं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्, अथवा ज्ञानाऽकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।" मुक्तावली श्लो० ५२ । न्यायबो० पृ० ४७। "साक्षात्काररूपप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।" न्यायसि० मं० पृ० २ । तर्कभा० पृ० ५। "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।" सांख्यका० ५ । "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" योगद० व्यासभा० पृ० २७ । "यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।" सांख्यद० १।८९ । "सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।" मीमां० द० १।१।४ । "साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम् ।" प्रकरणपं० पृ० ५१ । "तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव(पृ०१२)तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्त्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याऽभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ।" वेदान्तपरि० पृ० २६ । "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।" चरकसं० ११।२०।

१ प्रमाणान्तरत्वेन । २ "इन्द्रियाऽनिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।" तत्त्वार्थराज० पृ० ३८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४। तत्त्वार्थसार १।१७। "सामग्रीविशेषविश्लेषिताऽखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।" परीक्षामुख २।११। न्यायदी० पृ० १० । "पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् ।" प्रमा० तत्त्वा० २।१८। "तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् १।१।१५। "तत्तारतम्ये अवधिमनःपर्यायौ ।" प्रमाणमी० १।१।१८ । ३–यादिनि–भां० । "तदाह-हिताऽहितातिनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम् । यद्देशतोऽर्थज्ञानं तद् इन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥" न्या० वि० वि० पृ० ५३ उ०। "इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खम् ॥९५॥" विशेषा० भा० । "तत्र इन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं देशतो विशदत्वात् ।" प्रमाणपरी० पृ० ६८। "गौणं तु संव्यवहारनिमित्तमसर्वपर्यायद्रव्यविषयम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रभवम् अस्मदाद्यध्यक्षं विशदमुच्यते ।" सन्मति० टी० पृ० ५५२ । "इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।" परीक्षामु० २।५। "इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ।" प्रमाणमी० १।१।२१ । "देशतो विशदं सांव्यवहारिकम् ।" न्यायदी० पृ० ९। "तत्रेन्द्रियजमध्यक्षमेकांशव्यवसायकम् ।" जैनतर्कवा० पृ० १०० । ४ दिगम्बराम्नाये अकलङ्कदेवैः, श्वेताम्बराम्नाये च

-न्तरन[1]क्षाश्रितज्ञानस्य प्रत्यक्षव्यपदेशः? इति चेत्; [2]प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्। अक्षाश्रितत्वं हि प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गतिक्रियेव गोशब्दस्य। [3]प्रवृत्तिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिना अक्षाश्रित[4]त्वेनोपलक्षितमर्थसाक्षात्कारित्वम्, गतिक्रियोपलक्षितगोत्ववद् गोशब्दस्य। अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यद्वाच्यम्, अन्यथा गच्छन्त्येव गौः 'गौः' इत्युच्येत नान्या व्युत्पत्तिनिमित्ताभावात्, जात्यन्तरञ्च गतिक्रियापरि[5]णतं व्युत्पत्तिनिमित्तसद्भावाद् गोश[6]ब्दवाच्यं स्यात्। यदि वा, व्युत्पत्तिनिमित्तमप्यत्र विद्यत एव; तथा हि–अक्षशब्दोयमिन्द्रियव[7]त् आत्मन्यपि प्रवर्तते, '[8]अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति' इति अक्ष आत्मा इति व्युत्पत्तेः। तमेव क्षीणोपशान्तावरणं क्षीणावरणं वा प्रति नियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दातिशयता [9]सुघटैव।

तच्चेदं द्विविधमपि प्रत्यक्षं किंविशिष्टम्? इत्याह–**विज्ञानम्** इति। [10]विविधं स्वपरसम्बन्धि [11]ज्ञानं भासनं यस्य यस्मिन् वा तद्विज्ञानम्, अनेन '[12]स्वस्यैव परस्यैव[13] वा ज्ञानं ग्राहकम्'

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः (विशेषावश्यकभाष्ये) मुख्यसंव्यवहाररूपेण प्रत्यक्षं द्विधा विभक्तम्। बौद्धग्रन्थेष्वपि सांव्यवहारिकशब्दस्य निर्देशो दृश्यते यथा 'सांव्यवहारिकस्य इदं प्रमाणस्य लक्षणम्' तत्त्वसं० पं०पृ० ७८४।

१ इन्द्रियाऽनाश्रित। २ "अक्षाश्रितत्वञ्च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्। अनेन तु अक्षाश्रितत्वेन एकार्थसमवेतम् अर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते, तदेव च शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते। यदि च अक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात् इन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दः गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति।" न्यायबि० टी० पृ० ११। "यद् इन्द्रियमाश्रित्य उज्जिहीते अर्थसाक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् इत्यर्थः, एतच्च प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं न प्रवृत्तिनिमित्तम्"–इत्यादि, न्यायाव० टी० पृ० १६। ३ "वैशद्यांशस्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः ॥ १८१ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। "इन्द्रियज्ञानमपि व्यवहारे वैशद्यमात्रेण प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्"……न्या० वि० वि० पृ० ४८ उ०। इत्यादिना वैशद्यांशमेव प्रवृत्तिनिमित्तं ज्ञायते। ४–त्वेनोपलक्षितत्त्वेनोपलक्षित–ब०। ५–णत व्यु–आ०, ब०, ज०। ६–ब्दस्य वा–भां०। ७ 'अक्षो रथस्यावयवे व्यवहारे विभीतिके। पाशके शकटे कर्षे ज्ञाने चात्मनि रावणौ। इति विश्वः।' श्लोकोऽयं ज० प्रतौ 'इन्द्रियवत्' इत्यस्यानन्तरमुल्लिखितः। ८ "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रति नियतं प्रत्यक्षम्।" सर्वार्थसि० पृ० ५९। तत्त्वार्थराज० पृ० ३८। प्रमाणप० पृ० ६८। षड्द० स० टी० पृ० ५४। "तथाच भद्रबाहुः–जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टइ तं तु होइ पच्चक्खं। परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होइ पारोक्खं।"–(निर्युक्ति) न्यायाव० टी० टि० पृ० १५। "जीवो अक्खो अत्थव्वावण भोयण गुणण्णिओ जेण। तं पई वट्टइ णाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहम् ॥ ८९ ॥" विशेषाव० भा०। ९ संघटैव भां०। १० "विशब्दः अतिशयप्रकर्षद्वैं(वै)विध्यनानात्वेषु वर्त्तमानो गृह्यते।" सिद्धिवि० टी० पृ० ३ पू०। ११ ज्ञान भा–आ०, ब०, ज०। १२ स्वग्राहकज्ञानवादिनः–विज्ञानाऽद्वैतवादिनो योगाचाराः, पुरुषाद्वैतवादिनः, निरालम्बनज्ञानवादिनो माध्यमिकाश्च। १३ परग्राहकज्ञानवादिनः–परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकाः, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनो यौगाः, अस्वसंवेदनज्ञानवादिनः सांख्याः, भूतचैतनिकाश्चार्वाकाश्च।

इत्येकान्तो निरस्तः। अथवा विशिष्टं बाधवर्जितं तद् यस्य यस्मिन् वेति ग्राह्यम्। अनेनापि 'भ्रान्तमेव स्वपररूपयोः[1] सकलं ज्ञानम्' इत्येकान्तः[2] प्रत्याख्यातः। यदि वा[3], पि (वि) नाना द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषरूपार्थ (रूपा अर्था) विषयतया तद् (?) यस्य यस्मिन् वा इति प्रतिपत्तव्यम्, अनेनापि 'द्रव्यमात्रस्य[4], पर्यायमात्रस्य[5], सामान्यविशेषयोरन्यतरमात्रस्य[6], अन्योन्यविभिन्नोभयरूपस्य[7] वा ज्ञानं ग्राहकम्' इत्येकान्तः प्रतिव्यूढः। विगतं वा स्वरूपे पररूपे वा अपेक्ष्यं तद् यस्य तत्तथोक्तमिति। अनेनापि "*यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता*" [ ] इत्येकान्तः प्रतिक्षिप्तः। तत्तदेकान्तानां च प्रपञ्चतः प्रतिक्षेपोऽग्रे विधास्यत इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

इदानीं द्वितीयं प्रमाणप्रकारं **'परोक्षं शेषम्'** इत्यनेन प्ररूपयति। यत् तद्विशदस्वरूपाज्ज्ञानात्[8] शेषमविशदस्वभावं ज्ञानं तत् परोक्षम्[9]। किंविशिष्टं तत्? इत्याह-**विज्ञानम्** इति। अस्य[10] च व्याख्यानं पूर्वमिव[11] अत्रापि द्रष्टव्यम्। तथा च प्रमाणविशेषलक्षणस्य द्विप्रकारस्यैव प्रसिद्धेः द्वे एव प्रमाणे प्रसिद्धे, सकलतद्व्यक्तिभेदानामत्रैवान्तर्भावादिति दर्शयन्नाह- **प्रमाणे इति संग्रहः** इति 'द्वे एव प्रमाणे' इत्येवं संग्रहः सकलशास्त्रार्थस्येति।

तत्र प्रमाणस्य यज्ज्ञानमिति सामान्यलक्षणं कृतं तत **'सन्निकर्षादेः'** इत्यादिना समर्थयते। **सन्निकर्षः** इन्द्रियार्थसम्बन्धः[12], स आदिर्यस्य कारकसाकल्येन्द्रियवृत्त्यादेः। कथंभूतस्य? **अज्ञानस्य** अचेतनस्य

विवृतिव्याख्यानम्-

प्रामाण्यमनुपपन्नम्। कस्येव? **अर्थान्तरवत्**, अर्थः सन्नि-

१-परस्वरूप-ब०। २ विभ्रमैकान्तवादिनः। ३ वा नाना भां०। ४ वेदान्तिनो द्रव्यमात्रवादिनः। ५ बौद्धाः पर्यायमात्रवादिनः। ६-स्यान्योन्यतरमात्रस्यअ-ब०, ज०। ७ विभिन्नोभयवादिनो यौगाः। ८-रूपज्ञानात्-ब०, ज०। ९ "जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ॥५९॥ प्रव० सार पृ० ७५। पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते।" सर्वार्थसि० पृ० ५९। "उपात्ताऽनुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्।" तत्त्वार्थरा० वा० पृ० ३८। "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैः इन्द्रियादिभिः ऊक्ष्यते सिञ्च्यते अभिवर्ध्यत इति परोक्षम्।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। "परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्।" प्रमाणप० पृ० ६९। "परोक्षमितरत्।" परीक्षामुख ३।१। "भवति परोक्षं सहायसापेक्षम्।" पञ्चाध्यायी श्लो० ६९६। "इतरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेच्छया।" न्यायाव० श्लो० ४। "अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेणं। तेहिं तो जं णाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥९०॥" विशेषाव० भा०। "अविशदमविसंवादिज्ञानं परोक्षम्।" सन्मति० टी० पृ० ५९५। "अस्पष्टं परोक्षम्।" प्रमाण० त० ३।१। प्रमाणमी० ३।१। "अक्षाणां परं परोक्षम्, अक्षेभ्यः परतो वर्त्तत इति वा, परेण इन्द्रियादिना वा ऊक्ष्यते परोक्षम्।" षड्द० टी० पृ० ५४। १० विज्ञानशब्दस्य। ११ पूर्वमेव ज०। १२-न्धः आ-भां०।

कर्षादिः, तस्मादन्यः प्रमेयो घटादिः तदन्तरम् तस्येव तद्वत्। ननु प्रमाणत्वञ्च स्यात् अज्ञानत्वञ्च विरोधाऽभावात्, अतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकत्वम्; इत्यनुपपन्नम्; अज्ञानविरोधिना ज्ञानत्वेन प्रमाणत्वस्य व्याप्तत्वात् तत्र[1] तद्[2]विरोधसिद्धेः[3]। प्रकर्षेण हि संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते अव्यवधानेन परिच्छिद्यते येनार्थः तत् प्रमाणम्, तत्कथमज्ञानरूप[4]सन्निकर्षादिस्वभावं घटेत ? न खलु सन्निकर्षादिना किञ्चिन्मीयते, ज्ञानकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्। अतो 'ज्ञानमेव प्रमाणम्' इति उपपत्तिचक्षुषाऽभ्युपगन्तव्यम्।

सन्निकर्षवादे यौगस्य पूर्वपक्षः–

स्यान्मतिरेषा ते–'ज्ञानमेव प्रमाणम्' इत्यवधारणमनुपपन्नम्, अज्ञानरूपस्यापि सन्निकर्षादेः प्रमाजनकत्वेन प्रमाणत्वोपपत्तेः; तथा हि–"प्रमाजनकं प्रमाणम्" [ ] इति सूत्रं[5] व्याचक्षाणेन भाष्यकारेण[6] "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि" [न्यायभा० पृ० १८] इत्युक्तम्। तत्र व्याख्यातॄणां[7] मतभेदः–केचित्[8] "सान्निकर्षः अर्थोपलब्धौ साधकतमत्वात् प्रमाणम्" [ ] इति प्रतिपन्नाः, अन्ये[9] तु कारकसाकल्यम्। तत्राद्यमतं तावत् समर्थ्यते। तत्र हि सन्निकर्ष एव अर्थोपलब्धौ साधकतमत्वात् प्रमाणम्। साधकतमत्वं हि प्रमाणत्वेन व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा, संशयादिवत् प्रमेयार्थवच्च। तच्च[10] अर्थोपलब्धौ सन्निकर्षस्यास्त्येव। "नह्यसन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति" सर्वस्य सर्वत्रार्थे[11] तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तत्सद्भावावेदकञ्च[12] प्रमाणं [13]व्यवहितार्थानुपलब्धिरेव। यदि ह्यसन्निकृष्टमप्यर्थं चक्षुरादीन्द्रियं गृह्णीयात्, तर्हि व्यवहितमपि किन्न गृह्णीयाद् अविशेषात् ?

किञ्च, इन्द्रियं कारकम्, [14]कारकञ्चासन्निकृष्टं न फलप्रादुर्भावाय प्रभवति; तथा हि–इन्द्रियं नाऽसन्निकृष्टेऽर्थे फलमुत्पादयति कारकत्वात् वास्यादिवत्। स्पर्शनादीन्द्रिये च प्राप्यकारित्वं सुस्पष्टम्, तत्साधर्म्यादिन्द्रियान्तरेष्वपि तत् कल्प्यताम् अविशेषात्। स चैवं प्रसिद्धस्वरूपः स-

---

१ प्रमाणे। २ अज्ञानेन सह। ३–सिद्धिः आ०। ४–रूपं–ज०। ५ सूत्रमिदम् उपलब्धगौतमीयसूत्रपाठे नोपलभ्यते। ६ वात्स्यायनेन। ७ न्यायवार्तिककृतः उद्योतकराचार्याः–"उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्'''यदुपलब्धिनिमित्तं तत् प्रमाणम्।'''अकरणा प्रमाणोत्पत्तिः इतिचेत्,'''न; इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणभावात्'''साधकतमत्वाद्वा न प्रसङ्गः।" न्यायवा० पृ० ५–६। ८ न्यायमञ्जरीकृतो जयन्तभट्टाः। ९ "तदेवं ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्''' " न्यायवा० ता० टी० पृ० २२। १० साधकतमत्वम्। ११–ति सर्वत्रा–आ०, ब०, ज०। १२ तद्भावा–श्रां०। १३ "कुड्यान्तरिताऽनुपलब्धेरप्रतिषेधः।" न्यायसू० १।१।४५। "अप्राप्यकारित्वे सति इन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्याऽनुपलब्धिर्न स्यात्।" न्यायभा० पृ० २५५। "ननु सन्निकर्षावगमे किं प्रमाणम्? व्यवहिताऽनुपलब्धिः इति ब्रूमः। यदि हि असन्निकृष्टमपि चक्षुरादीन्द्रियम् अर्थं गृह्णीयाद् व्यवहितोऽपि ततोऽर्थ उपलभ्येत।" न्यायमं० पृ० ७३। १४ "इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात्। संसृष्टञ्च कारकं फलाय कल्पते इति कल्पनीयः संसर्गः।'''‘कारकञ्च अप्राप्यकारि च’ इति चित्रम्।" न्यायमं० पृ० ७३ तथा ४७९।

न्निकर्षः पट्प्रकारो भवति–संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, सम्बद्धविशेषणीभावश्चेति । तत्र चक्षुषो द्रव्येण संयोगः, तत्समवेतैर्गुणकर्मसामान्यैः संयुक्तसमवायः, गुणकर्मसमवेतैः सामान्यैः संयुक्तसमवेतसमवायः, श्रोत्रस्य शब्देन समवायः, शब्दत्वेन समवेतसमवायः, घटाद्यभावेन समवायेन च सम्बद्धविशेषणीभाव इति । प्रत्यक्षञ्चोत्पद्यमानं चतुस्त्रिद्विसन्निकर्षादुत्पद्यते, तत्र बाह्ये रूपादौ चतुःसन्निकर्षादेव प्रत्यक्षमुत्पद्यते–आत्मा हि मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति । सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षादेव तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनां द्वयोरेवात्ममनसोः सन्निकर्षादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'सन्निकर्ष एव साधकतमत्वात् प्रमाणम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; तस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वाऽसंभवात् । यद्-

सन्निकर्षस्य प्रतिविधानम्– भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाऽभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम् ।

"भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्" [ ] इत्यभिधानात् ।

न चैतत् सन्निकर्षे सम्भवति, तस्मिन् सत्यपि क्वचित् प्रमित्यनुपपत्तेः, आकाशादिना हि घटवत् चक्षुषः संयोगो विद्यते, न चासौ तत्र प्रमितिमुत्पादयति । न चाकाशघटयोश्चक्षुषा संयोगाविशेषेऽपि प्रमितेर्विशेषो युक्तः; तस्याः तद्धेतुकत्वाभावानुषङ्गात् । यदविशेषेऽपि यद्-

१ "सन्निकर्षः पुनः पोढा भिद्यते···" न्यायवा० पृ० ३१ । न्यायमं० पृ० ७२ । प्रशस्त० क० पृ० १९५ । २ तत्रसम–भां० । ३ गुणत्वकर्मत्वादिभिः । ४ कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात् शब्दस्य च आकाशगुणत्वेन तत्र समवायात् । ५ 'घटाऽभाववद्भूतलम्' इत्यत्र चक्षुषा संयुक्तं भूतलम्, तद्विशेषणीभूतश्च अभावः इति । ६–"समवायेऽभावे च विशेषणविशेष्यभावात्" न्यायवा० पृ० ३१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १११ । "एतेन समवायेऽपि प्रत्यक्षत्वं प्रकाशितम्, इहेति तन्तुसम्बद्धपटप्रत्ययदर्शनात् ।" न्यायमं० पृ० ८४ । –इत्यादिना नैयायिकमतेऽस्ति समवायस्य प्रत्यक्षता । वैशेषिकसिद्धान्ते तु–"अतएव अतीन्द्रियः" प्रशस्तपा० भा० ३२९ । वैशे० उप० पृ० २९६ । –इत्यादिना समवायस्य अतीन्द्रियत्वमेव । "सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्, समवायस्य एकतया एकदा भाविभूतसकलाश्रयव्यक्तीनां ज्ञानाऽसंभवात् ।" मुक्ता० दिन० रामरुद्री पृ० २६१ । ७ "द्रव्ये तावत् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम्······शब्दस्य त्रयसन्निकर्षात् श्रोत्रसमवेतस्य तेनैव उपलब्धिः······बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगादुपलब्धिः···" प्रशस्त० भा० पृ० १८७ । न्यायमं० पृ० ७४ । ८ पृ० २८ पं० १३ । ९–वे प्र–आ०, ब०, ज० । "यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे च अभाववत्ता······" । अष्टसह० पृ० २७६ । प्रमाणप० पृ० १ । प्रमेयक० पृ० ४ उ० । १० "कः खलु साधकतमार्थः···भावाऽभावयोस्तद्वत्ता ।" न्यायवा० पृ० ६ । ११–पत्तिः आ० । १२ "क्षितिद्रव्येण संयोगो नयनादेर्यथैव हि । तस्य व्योमादिनाप्यस्ति न च तज्ज्ञानकारणम् ॥ १२४ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६८ । "न हि चक्षुषा घटवदाकाशे संयोगो विद्यमानोऽपि प्रमित्युत्पादकः······"इत्यादिसर्वम् अत्रैवाऽऽनुपूर्व्या (प्रमेयक० पृ० ४–५, स्या० रत्ना० पृ० ५४–६१) चर्चितम् । १३ प्रमितेः । १४ चक्षुःसंयोगहेतुकत्व ।

विशिष्यते न तत् तद्धेतुकम् यथा परमाणोरविशेषेऽपि विशिष्यमाणौ घटपटौ, सन्निकर्षाविशेषेऽपि विशिष्यते च प्रमितिरिति। तस्माद् यद् यत्रोत्पन्नमव्यवधानेन फलमुत्पादयति तदेव तत्र साधकतमम् यथा अपवरकान्तर्वर्तिपदार्थप्रकाशे प्रदीपः, अव्यवधानेन प्रमितिमुत्पादयति च उत्पन्नं स्वविषये विज्ञानम्, तस्मात्तदेव[1] तत्र साधकतमम्। तस्माच्च प्रमाणम्, न पुनः सन्निकर्षो विपर्ययात्[2]।

किञ्च, सन्निकर्षमात्रमत्र प्रमाणम्, तद्विशेषो वा ? न तावत् सन्निकर्षमात्रम्; संशयादावप्यस्याऽविशेषतः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। विशिष्टश्चेत्; किमिदं तस्य वैशिष्ट्यं[3] नाम-विशिष्टकारणादात्मलाभः, विशिष्टप्रमोत्पादकत्वं वा ? प्रथमपक्षे घटादिवदाकाशेऽप्यस्य[4] प्रामाण्यप्रसङ्गः, विशिष्टकारणादात्मलाभस्योभयत्राविशेषात्। तदविशेषे चासौ[5] कथं घटाद्यर्थ एव वैशिष्ट्यं प्रामाण्यं वा स्वीकुर्यान्नाकाशे ? द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; विशिष्टप्रमोत्पादकत्वस्य सन्निकर्षे प्रमितिं प्रति साधकतमत्वाभावतोऽसिद्धेः, तदभावश्चानन्तरमेव[6] प्रतिपादितः। सिद्धौ वा कथमाकाशादिपरिहारेण घटादावेवास्य तत्[7] स्यात् ? उभयत्राप्यविशेषेणासौ प्रमामुत्पादयेत् नैकत्रापि वा।

ननु आकाशादावेवासौ प्रमां नोत्पादयति योग्यताया[8] अभावात्, न घटादौ विपर्ययात्[9]। ननु केयं योग्यता नाम-शक्तिः[10], प्रतिपत्तुः प्रतिबन्धापायो वा। शक्तिश्चेत्; किमतीन्द्रिया, सहकारिसन्निधिलक्षणा वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्[11]। द्वितीयपक्षे तु कारकसाकल्यपक्षभाव्यशेषदोषानुषङ्गः, सहकारिसान्निध्यस्य कारकसाकल्यस्वरूपानतिक्रमात्। सहकारिकारणञ्च विषयगतातिशयविशेषः, करणपाटवम्, धर्मविशेषः, अधर्मप्रक्षयः, द्रव्यम्, गुणः, कर्म वा स्यात्। यदि विषयगतातिशयविशेषः; किं[12] रूपादिसमवायः, दृश्यता वा ? न तावद्रूपादिसमवायः; अस्य प्रमोत्पत्तिं प्रत्यकारणत्वात्। कथमन्यथा गुणकर्मसामान्येषु तद्रहितेषु प्रमोत्पत्तिः स्यात् ? कथं वा परमाणौ तदुत्पत्तिर्न[13] स्यात् तत्र तत्समवाय[14]संभवात् ? "*महत्यनेकद्रव्यत्वाद्*[15]*रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः*" [वैशे० सू० ४।१।६] इत्यभ्युपगमेऽपि नेत्रमला-

१ तस्मात्तत्प्र-ब०, ज०। २ साधकतमत्वाऽभावात्। ३-ष्ट्यं वि-आ०, ब०, ज०। ४ सन्निकर्षस्य। ५-सौ घ-ब०, ज०। ६ प्रमितिं प्रति साधकतमत्वाभावः। ७ विशिष्टप्रमोत्पादकत्वं। ८ योग्यता भा-भां०, ब०, ज०। "ननु नभसि नयनसन्निकर्षस्य योग्यताविरहात् न संवेदननिमित्तता इत्यपि न साधीयः; तद्योग्यताया एव साधकतमत्वाऽनुषङ्गात्। का चेयं सन्निकर्षस्य योग्यता नाम ?..." प्रमाणपरी० पृ० ५१। ९ विपर्यासात् भां०। १०-क्तिः प्रतिब-आ०, ब०, ज०। ११ "स्वरूपादुद्भवत् कार्यं सहकार्युपबृंहितात्। न हि कल्पयितुं शक्यं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्॥" (न्यायमं० पृ० ४१) इत्यादिना नैयायिकमते स्वरूपसहकारिरूपैव शक्तिः स्वीकृता। १२ किंचित् रू-आ०। १३ प्रमोत्पत्तिः। १४ रूपादिसमवाय। तत्र सम-भा०। १५-द्रव्यवत्त्वा-भां०। वैशेषिकदर्शने तु-"महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" "अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः" (४।१।६, ८) इति द्वे

-अनादौ प्रमोत्पत्तिप्रसङ्गः तदविशेषात्। अथ दृश्यता; सा आकाशादावस्त्येव, कथमन्यथा अस्येश्वरप्रत्यक्षता? करणानाञ्च पाटवम् काचकामलाद्यनुपहतत्वम्, आलोकादिसहकृतत्वं वा? द्वयमपि आकाशादौ संभवत्येव। धर्मविशेषोऽपि आकाशादिना चक्षुषः संयोगे सहकार्यस्त्येव। न खलु तस्य[1] तेन[2] विरोधः; येन तत्सद्भावे धर्मविशेषस्यानुत्पत्तिः[3] प्रध्वंसो वा स्यात्, विरोधे वा न घटाद्युपलम्भः कदाचिदपि स्यात् तदुत्पत्तौ धर्मविशेषस्य सहकारिणो विरोध्याकाशादिसंयोगसद्भावतोऽसंभवात्। अधर्मप्रक्षयस्तु प्रतिबन्धकापाय एव, तस्य च ज्ञानहेतुत्वे सर्वं सुस्थम् तस्यैव प्रमां प्रति नियामकत्वोपपत्तेः। द्रव्यमपि नित्यव्यापिस्वरूपम्, तद्विपरीतं वा सन्निकर्षस्य सहकारि स्यात्? नित्यव्यापिस्वरूपञ्चेत्; तत् नयननभःसन्निकर्षेप्यस्त्येव, अन्यथा कथं दिक्कालाकाशात्मनां[4] नित्यव्यापिद्रव्यस्वरूपता? अनित्याऽव्यापिस्वरूपञ्चेत्; तत् मनः, नयनम्, आलोको वा स्यात्? त्रितयमपि आकाशादिनेन्द्रियसन्निकर्षे[5] संभवत्येव घटादिवत्। गुणोऽपि प्रमेयगतः, प्रमातृगतः, उभयगतो वा तत्सहकारी स्यात्? प्रमेयगतश्चेत्; किन्नाकाशस्य प्रत्यक्षता गुणसद्भावाविशेषात्? निर्गुणत्वे अस्य द्रव्यत्वानुपपत्तिः, गुणवत्त्वलक्षणत्वाद् द्रव्यस्य[7]। अरूपित्वात्तस्याऽ[8]प्रत्यक्षत्वे सामान्यादेरप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम्। प्रमातृगतोपि अदृष्टः, अन्यो[9] वा गुणो गगनेन्द्रियसन्निकर्षसमयेऽस्त्येव। उभयगतपक्षेपि[6] उभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः। कर्मापि अर्थगतम्, इन्द्रियगतं वा तत्सहकारि स्यात्? न तावदर्थगतम्; प्रमोत्पत्तौ तस्यानङ्गत्वात्, कथमन्यथा स्थिरार्थानामुपलब्धिः? इन्द्रियगतं तु तत् तत्रास्त्येव, आकाशेन्द्रियसन्निकर्षे[10] नयनोन्मीलनादिकर्मणः सद्भावात्। तस्मात् प्रतिपत्तुः[11] प्रतिबन्धापायरूपैव योग्यता उररीकर्त्तव्या, तत्रैवोक्ताशेषदोषाणामसंभवात्। यस्य यत्र यथाविधो हि प्रतिबन्धापायः, तस्य तत्र तथाविधाऽर्थपरिच्छित्तिरुत्पद्यते। प्रतिबन्धापायश्च मोक्षविचारावसरे प्रसाधयिष्यते। न चैवं योग्यताया एवार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वतः प्रमाणत्वात् 'ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रतिज्ञा विरुद्ध्यते; अस्याः[12] स्वार्थग्रहणशक्तिस्वभावायाः स्वार्थावभासिज्ञानलक्षणप्रमाणसामग्रीत्वतः तदुत्पत्तावेव[13] साधकतमत्वोपपत्तेः।

चक्षुषश्च अप्राप्यकारित्वेन[14] प्रसाधयिष्यमाणत्वान्न घटादिना संयोगः, तदभावान्न रूपादिना

सूत्रे। सन्मति० टी० पृ० १००, स्या० रत्नाकर पृ० ५६ इत्यादौ तु वैशेषिकसूत्रसम्मत एव पाठः। प्रमेयकमलमार्त्तण्डे (पृ० ७५ पू०) तु ग्रन्थोक्त एव पाठः।

१ धर्मविशेषस्य। २ आकाशादिना चक्षुःसंयोगेन। ३–नुपपत्तिः आ०, ब०, ज०। ४ दिक्कालात्मनाम् आ०, भां। 'दिक्कालाकाशात्मनाम्' प्रमेयक० पृ० ५ उ०। ५–शादिसन्नि–ब०, ज०। ६–पक्षेः ब०, ज०। ७ "क्रियागुणवत् समवायिकारणम् इति द्रव्यलक्षणम्।" वैशे० सू० १।१।१५। ८ आकाशस्य। ९ इच्छादिः। १०–कर्षेण न–ब०,ज०। ११–पत्तृ प्रति–ब०,ज०। १२ योग्यतायाः। १३ प्रमाणोत्पत्तावेव। १४–त्वेनसाध–भां०।

संयुक्तसमवायादिः। संयुक्तसमवायाच्च चक्षुषो रूपवत् शब्दरसादौ, दिवाकररूपवत् तत्कर्मण्यपि च ज्ञानमुत्पद्येत अविशेषात्। संयुक्तसमवेतसमवायाच्च रूपत्ववद् रसत्वादौ, समवायात् शब्दवत् नभोमहत्त्वादौ, समवेतसमवायात् शब्दत्ववत् महापरिमाणत्वादौ। योग्यताभ्युपगमे सैव नियामिकाऽस्तु अलं सन्निकर्षषट्कोद्घोषणेन। सम्बद्धविशेषणीभावस्तु संयोगादिसम्बन्धाऽसंभवादेव प्रत्युक्तः। न हि सम्बन्धान्तरेणाऽसम्बद्धे वस्तुनि स घटते सह्यविन्ध्यवत्।

एतेन 'असन्निकृष्टस्य ग्रहणे सर्वस्य सर्वत्रार्थे ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्' इति प्रत्युक्तम्; योग्यस्यैव ग्रहणात्। कथमन्यथा सन्निकृष्टे सर्वत्राप्यर्थे ज्ञानं नोत्पद्येत? ततो यस्मिन् सत्यपि यन्नोत्पद्यते न तत् तद्धेतुकम् यथा विद्यमानेऽपि यवबीजेऽनुत्पद्यमानो गोधूमाङ्कुरः, विद्यमानेऽपि सन्निकर्षे नोत्पद्यते चार्थपरिच्छित्तिरिति।

यदपि 'सन्निकर्षसद्भावे प्रमाणं व्यवहितार्थानुपलब्धिरेव' इत्युक्तम्[११]; तदप्ययुक्तम्; असिद्धत्वात्तस्याः, काचाभ्रपटलस्फटिकस्वच्छोदकादिव्यवहितानामप्यर्थानामुपलब्धेः। यदपि 'कारकत्वात्' इत्यादि तत्प्राप्यकारित्वे साधनमुक्तम्[१४]; तदपि चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रसाधनप्रस्तावे प्रतिविधास्यते। अतः 'प्रत्यक्षञ्चोत्पद्यमानं चतुः-त्रि-द्विसन्निकर्षाद्युत्पद्यते' इत्यादि, वन्ध्या[१६]सुतसौभाग्यत्वादिव्यावर्णनप्रख्यं प्रतिभासते सन्निकर्षस्याऽसंभवे। संभवे वा असाधकतमत्वे ततस्तथा प्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः।

कथञ्च सन्निकर्षप्रामाण्याभ्युपगमे सर्वज्ञवार्त्तापि स्यात्? तद्विज्ञानं हि मानसमिन्द्रियजं वा चतुस्त्रिद्विसन्निकर्षाद् वर्त्तमानेष्वेवार्थेषु स्यात् नातीतानागतेषु, तेषामसत्त्वे तत्र तद्धेतोः सन्निकर्षस्य[२२] सत्त्वविरोधात्। यदसन् न तत्र ज्ञानहेतुः सन्निकर्षोऽस्ति यथा खरविषाणादौ, न सन्ति च अतीतानागता वर्त्तमानार्थज्ञानोत्पत्तिसमये भावा इति। अथ यदा ते भविष्यन्ति तदा तत्सन्निकर्षात् तत्र ज्ञानमुत्पत्स्यते; कथमेवमनन्तेनापि कालेन ईश्वरस्याऽशेषज्ञता स्यात्? वर्त्तमानाशेषार्थग्रहणादस्याशेषज्ञताभ्युपगमेऽपि, कथं तदुपदेशस्य अनागतेऽर्थे प्रामाण्यं स्यात्

१-वायत्वम् च ज०। २-वद् रसादौ-भां०। ३ दिनकर-भां०। ४ कर्मणोऽपि भां०। ५ 'ज्ञानमुत्पद्येत अविशेषात्' इति पूर्वेण अन्वयः। ६ "योग्याऽयोग्यत्वकृतग्रहणाऽग्रहणनियमवादे वा योग्यतैव सन्निकर्षो भवतु किं षट्कघोषणेन?" न्यायमं० पृ० ४९। ७-षट्कोषणेन-आ०, ब०, ज०। ८ सम्बन्धमन्तरेण-आ०। ९ सम्बद्धविशेषणीभावः। १०-द्यते भां०। ११ पृ० २८ पं० १६। इत्युक्तमसि-आ०, ब०, ज०। १२-भ्रक प-भां०। १३-पि बोधकत्वात् इ-भां०। १४ पृ० २८ पं० १८। १५-र्षादित्यादि ब०, ज०। १६-सुतभाग्यव्याव-भां०। सौभाग्यव्याव-ब०, ज०। १७ सन्निकर्षात्। १८-क्षानुप-भां०। १९ "यदि सन्निकर्षः प्रमाणं सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसङ्गः......अतः सर्वज्ञत्वाऽभावः स्यात्।" सर्वार्थसि० पृ० ५७। "सन्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदाभावः तदभावात्।" तत्त्वार्थराज० पृ० ३६। २० अतीतानागतादौ २१ तद्विज्ञानहेतोः। २२-स्य विरो-आ०।

यतस्तदर्थिनां तदुपदेशात्तत्र प्रवृत्तिः स्यात् ? नित्यत्वात्तज्ज्ञानस्यायमदोषः; इत्यप्यसमीचीनम्; तन्नित्यत्वस्येश्वरनिराकरणावसरे निराकरिष्यमाणत्वात्।

कथञ्चैवं वादिनः साध्यसाधनयोः व्याप्तिः सिद्ध्येत् यतोऽनुमानं स्यात्, इन्द्रियप्रत्यक्षस्येव मानसप्रत्यक्षस्यापि सन्निकृष्टेष्वेवार्थेषु प्रवृत्तेः, व्याप्तिश्चानियतदेशकाला इति कथं सन्निकर्षप्रभवप्रत्यक्षात् प्रतीयेत ? ननु सामान्येन व्याप्तिः, तत्र च तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य[3] सामर्थ्यसंभवात् कथन्नातस्तत्सिद्धिः[4] ? इत्यप्यसांप्रतम्; सामान्येन व्याप्तेः व्याप्तिविचारप्रघट्टके निराकरिष्यमाणत्वात्। तन्न सन्निकर्षस्याज्ञानात्मनोऽनुपचरितं प्रामाण्यं घटते, नापि कारकसाकल्यस्य।

कारकसाकल्यापरनामिका सामग्री प्रमाणयतो भट्टजयन्तस्य पूर्वपक्षः।

अथ मतमेतत्–अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्। न च सामग्र्याः कारककलापरूपत्वात्, तत्र च स्वरूपातिशयाभावान्न कस्यचित्साधकत्वमुपपद्यत इत्यभिधातव्यम्; कारकसाकल्यस्य करणताभ्युपगमे[6] साधकतमत्वस्योपपत्तेः। नह्येकस्य सामग्र्येकदेशस्य प्रदीपादेः क्वचित्कार्ये करणता प्रतीयते। किं तर्हि ? सामग्रीस्वरूपस्य कारकसाकल्यस्यैव; तच्च प्रमातृप्रमेयसद्भावे संपद्यते। अतः सामग्र्येकदेशकारकसद्भावेऽपि कार्यस्यानुत्पत्तेः नैकदेशस्य करणता, सामग्रीसद्भावेतु तस्यावश्यंभावेनोत्पत्तेः तस्या एव सन्निपत्यजनकत्वेन साधकतमत्वादुपपन्नं करणत्वम्। करणं च प्रमाणम्, करणसाधनत्वात् प्रमाणशब्दस्य। न च साकल्यव्यतिरेकेण कारकान्तरे साधकतमत्वं संभावयितुं शक्यम्। यदि हि तद्व्यतिरेकेणासकलावस्थायामपि क्वचित्कारके प्रमितिरवकल्प्येत, स्यात्तत्रापि साधकतमत्वात्करणत्वम्, न चासौ तत्रावकल्प्यते प्रतीतिविरोधात्, तस्मात् साकल्यमेव करणम्।

ननु करणं कर्तृकर्मापेक्षं भवति, कर्तृकर्मणोश्च सामग्र्यन्तः–पतितयोः स्वरूपप्रच्युतितः असंभवात् कथं तदपेक्षं साकल्यस्य करणत्वमिति ? तदविचारितरमणीयम्; साकल्यान्तर्गत-

१ अनागतेऽर्थे। २ सन्निकर्षवादिनः। ३–क्षसामर्थ्य–। ४ व्याप्तिसिद्धिः। ५ "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। बोधाऽबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्।" न्यायमं० पृ० १२। ६–णाभ्युभां०। ७ "यत एव साधकतमं करणं करणसाधनश्च प्रमाणशब्दः, तत एव सामग्र्याः प्रमाणत्वं युक्तम्, तद्व्यतिरेकेण कारकान्तरे क्वचिदपि तमवर्थसंस्पर्शाऽनुपपत्तेः। अनेककारकसन्निधाने कार्यं घटमानम् अन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत्। न च अतिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात्...स च सामग्र्यन्तर्गतस्य न कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते। सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः; सन्निहिता चेत् सामग्री संपन्नमेव फलम् इति सैव अतिशयवती।" न्यायमं० पृ० १३। ८ "यत्तु किमपेक्षं सामग्र्याः करणत्वम् इति; 'तदन्तर्गतकारकापेक्षम्' इति ब्रूमः। कारकाणां धर्मः सामग्री न स्वरूपहानाय तेषां कल्पते साकल्यदशायामपि तत्स्वरूपप्रत्यभिज्ञानात्......तस्मात् अन्तर्गतकारकापेक्षया लब्धकरणभावा सामग्री प्रमाणम्। न्यायमं० पृ० १४।

कारकापेक्षयैवास्य करणत्वोपपत्तेः। साकल्यं हि नाम कारकाणां धर्मः, न च स्वकीयो धर्मः स्वस्यैव स्वरूपापहाराय प्रभवति, साकल्यावस्थायामपि कारकस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न तत्रैषां[1] स्वरूपप्रच्युतिः, तस्मात्तदन्तर्गतकारकापेक्षया लब्धकरणभावं साकल्यं प्रमाणम्, न तु ज्ञानं[2] फलरूपत्वात्तस्य। फलस्य च प्रमाणतानुपपन्नैव; ततो[3] भिन्नत्वात्तस्य[4], प्रमीयते हि येनार्थः तत्प्रमाणम् इति करणसाधने[5] प्रमाणशब्दव्युत्पादनात् करणस्यैव तद्रूपतोपपन्ना। अथ व्यतिरिक्तफलजनकमपि ज्ञानमेव प्रमाणमुच्यते; तदयुक्तम्; सकल[6]लोकाङ्गीकृत-अज्ञानस्वभावस्य[7] शब्दलिङ्गादेरप्रमाणता प्रसङ्गात्। ततो[8] ज्ञानमपि सामग्र्यनुप्रविष्टमेव, विशेषणज्ञानमिव विशेष्यप्रत्यक्षे, लिङ्गज्ञानमिव लिङ्गिप्रतीतौ, सारूप्यदर्शनमिव उपमाने, शब्दज्ञानमिव तदर्थज्ञाने, प्रमाणत्वं प्रतिपद्यते। तस्मात् 'बोधाबोधस्वभावं कारकसाकल्यं प्रमाणम्' इत्ययमेव पक्षः प्रमाणोपपन्न इति[9]।

कारकसाकल्यस्य प्रतिविधानम्

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'अव्यभिचारादिविशेषण' इत्यादि; तदयुक्तम्; यतो [10]मुख्यतः, उपचारेण वा कारकसाकल्य[11]स्य प्रामाण्यं स्यात्? मुख्यो[12]पचारभेदेन हि शब्दानां द्विविधा प्रवृत्तिः प्रतीयते, 'अन्नं वै प्राणाः' इत्यादिवत्। तत्र न तावन्मुख्यतः, अज्ञानरूपस्यास्य स्वपरप्रमितौ मुख्यतः साधकतमत्वाभावतो मुख्यतः प्रमाणत्वस्यानुपपत्तेः। [13]तत्प्रमितौ मुख्यतः साधकतमत्वं

१ तत्र तेषां—भां०। २ "बोधः खलु प्रमाणस्य फलं न साक्षात् प्रमाणम्।" न्यायमं० पृ० १५। ३ प्रमाणतः। ४ फलस्य। ५–साधन प्रमाण–आ०। ६ "सकलजगद्विदितबोधेतरस्वभावशब्दलिङ्गदीपेन्द्रियादिपरिहारप्रसङ्गात्।" न्यायमं० पृ० १५। ७–स्वरूपभावस्य–ब०। ८ "तस्मात् सामग्र्यनुप्रविष्टबोधो विशेषणज्ञानमिव क्वचित् प्रत्यक्षे लिङ्गज्ञानमिव लिङ्गिप्रमितौ सारूप्यदर्शनमिव उपमाने शब्दश्रवणमिव तदर्थज्ञाने प्रमाणतां प्रतिपद्यते। अतएव बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" न्यायमं० पृ० १५। ९ इदं सामग्रीप्रमाणवादिजयन्तमतम् अनयैव प्रक्रियया सन्मतिटीकायां (पृ० ४७१–७२) स्या० रत्नाकरे च (पृ० ६२–६४) वर्त्तते। स्या० रत्नाकरे तु–"तत्राऽसन्दिग्धनिर्बाधवस्तुबोधविधायिनी। सामग्री चिदचिद्रूपाप्रमाणमभिधीयते ॥ १ ॥ फलोत्पादाऽविनाभावि स्वभावाऽव्यभिचारि यत्। तत्साधकतमं युक्तं साकल्यान्न परं च तत् ॥ २ ॥ साकल्यात् सदसद्भावे निमित्तं कर्तृकर्मणोः। गौणमुख्यत्वमित्येवं न ताभ्यां व्यभिचारिता ॥ ३ ॥ संहन्यमानहानेन संहतेरनुपग्रहात्। सामग्र्या पश्यतीत्येवं व्यपदेशो न दृश्यते ॥ ४ ॥ लोचनालोकलिङ्गादेर्निर्देशो यः तृतीयया। स तद्रूपसमारोपादुपया पचतीति वत् ॥ ५ ॥ तदन्तर्गतकर्मादिकारकापेक्षया च सा। करणं कारकाणां हि धर्मोऽसौ न स्वरूपवत् ॥ ६ ॥ सामग्र्यन्तःप्रवेशेऽपि स्वरूपं कर्तृकर्मणोः। फलवत् प्रतिभातीति न चतुष्टं विनङ्क्ष्यति ॥ ७ ॥ इति।" एते सप्तश्लोकाः भट्टजयन्तकर्त्तृकपल्लवगताः समुद्धृताः, परं च मुद्रितन्यायमञ्जर्यां ते नोपलभ्यन्ते। न्यायमञ्जर्यां (पृ० १५) कर्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्' इत्यपरोऽपि प्रकारः सामग्र्याः प्रदर्शितः। १० "तस्य तत्त्वं गौणं मुख्यं वा स्यात्? नतावद्गौणम्" न्यायविनि० वि० पृ० २९ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ६६। ११–स्य भा–भां०। १२ "अभिधानधर्मो द्वेधाऽभिधीयते प्रधानं भाक्तश्च।" न्याय वा० पृ० १७७। १३ स्वपरप्रमितौ।

हि अज्ञानविरोधिना ज्ञानेनैव व्याप्तम् तत्रास्य[1] अपरेणाव्यवधानात्। साकल्यस्य तु ज्ञानेन व्यवधानान्न तन्मुख्यम्[2]; प्रयोगः-यद्[3] यत्र अपरेण व्यवहितं न तत्तत्र मुख्यरूपतया साधकतमव्यपदेशमर्हति यथा छिदिक्रियायां कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारः, स्वपरप्रमितौ विज्ञानेन व्यवहितं च परपरिकल्पितं साकल्यमिति। उपचारेण तत्प्रामाण्याभ्युपगमे[4] तु न किञ्चिदनिष्टम्, मुख्यरूपतया हि स्वपरप्रमितौ साधकतमस्य[5] ज्ञानस्य उत्पादकत्वात्तस्यापि[6] साधकतमत्वम्, तस्माच्च प्रमाणत्वम्, कारणे कार्योपचारात 'अन्नं वै प्राणाः' इत्यादिवत्।

किञ्च तमग्रहणस्य[7] प्रकर्षोऽर्थः, प्रकर्षश्च अपकृष्टसव्यपेक्षः, अतो यावन्न पृथक् साधकं साधकतरं वा[8]ऽवस्थितम्, न तावत्साधकतमत्वं वक्तुं शक्यते तदपेक्षत्वात्तस्य। सामग्री च अनेककारकस्वभावा, अनेककारकसमुदाये च न कस्यचित् स्वरूपातिशयः शक्यते वक्तुम्, सर्वेषामभिप्रेत[9]कार्यं प्रति व्यापाराऽविशेषात्। कर्तृ-कर्म-करणसन्निधौ हि समुत्पद्यमानं प्रतीयते कार्यम्, तदभावे चानुत्पद्यमानं तत्कथं कस्यचिदतिशयो निर्देष्टुं [10]शंक्यते ? निःशेषविवक्षायां च अपेक्षणीयस्याभावात् कथं साधकतमत्वम् ? सकलकारककलापरूपा किल सामग्री, तस्याः किमपेक्षं[11] साधकतमत्वम् ? अपेक्षणीयसद्भावे [12]वा न तद्रूपता[13] अस्याः स्यात्।

किञ्च इदं साधकतमत्वं विवक्षातः कस्यचित्स्यात्, सन्निपत्य कार्यजननात्, सहसा कार्योत्पादनाद्वा ? तत्र यद्यपि अनेककारकजन्यं कार्यम् तथापि विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तिः, इति कस्यचिदेव साधकतमत्वं विवक्ष्यते[14] इति चेत्; ननु विवक्षा पुरुषेच्छा, नचासति वैल[15]क्षण्ये तन्निबन्धना[16] वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्। अथ [17]सन्निपत्यकार्यजननम्, तदपि ज्ञाने कर्त्तव्ये सर्वेषामिन्द्रियमनोऽर्थादीनां तुल्यम्, कस्यचिदपि असन्निपत्यजनकत्वाभावात्, इतरेतरसंसर्गे सत्येवास्योत्पत्तेः।

नापि स[18]हसैव कार्योत्पादकत्वं साधकतमत्वम्, कर्मण्यपि अस्य गतत्वात्। सीमन्तिनीसमुदाये हि अद्भुतरूपा सीमन्तिनी झटित्यात्मविषयं विज्ञानमुत्पादयति।

---

१ ज्ञानस्य। २ साधकतमत्वं। ३ "यद् यत्र अपरेण व्यवहितम्"...प्रमेयक० पृ० ३ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ६६। ४-गमे न-आ, ब०, ज०। ५-तमज्ञानस्य ब०। ६ साकल्यस्यापि। ७ प्रगहणस्य-ज०। ननु साधकाद्यपेक्षया साधकतमं भवति अतिशयनस्य एवं रूपत्वात् तदर्थत्वाच्च तमप्रत्ययस्य। तत् किमिदानीं साधकादिकं यदपेक्ष्यं स्यात्।" न्यायवि० वि० पृ० २९ पू०। ८-चाव-भां०। ९ अर्थपरिच्छित्तिलक्षण। १० शक्येत् भां०। ११-पेक्ष्य-ब०, ज०। १२-वा तद्रूपता स्यात्-भां०। १३ साधकतमरूपता। १४-ते चेत्-ब०, ज०, भां०। १५ वैलक्ष्ये आ०। १६-नाव्य-भां०। १७ "सन्निपत्यजनकत्वम् अतिशय इतिचेत्; आरादुपकारकाणामपि कारकत्वाऽनपायात्। ज्ञाने च जन्ये किमसन्निपत्यजनकम् ? सर्वेषामिन्द्रियमनोऽर्थादीनाम् इतरेतरसंसर्गे सति ज्ञाननिष्पत्तेः।" न्यायसं० पृ० १३। १८ सहैव कार्योत्पादकत्वं कर्मण्यस्य-भां०। "अथ सहसैव कार्यजननमतिशयः; सोऽपि कस्याञ्चिदवस्थायां करणस्येव कर्मणोऽपि शक्यते वक्तुम्।"...एवं

यदप्युक्तम्–'न ह्येकदेशस्य दीपादेः करणता' इत्यादि; तदप्यनुपपन्नम्; प्रतीतिबाधितत्वात्। न हि कश्चिल्लौकिकः परीक्षको वा सामग्र्याः करणत्वं प्रतिपद्यते, 'सामग्र्या पश्यामः' इति तस्याः करणविभक्त्या निर्देशप्रसङ्गात्। न चैवं कश्चिदपि निर्दिशति 'दीपेन पश्यामः, चक्षुषा निरीक्षामहे' इति तदेकदेशानामेव तन्निर्देशप्रतीतेः। किञ्च, करणमिति योऽयं व्यपदेशः स कर्तृकर्मापेक्षः, कर्त्रा कार्ये व्यापार्यमाणस्य कारकविशेषस्य करणत्वप्रतीतेः कुठारादिवत्।

सामग्र्याश्च करणत्वे कर्तृकर्मणी तदन्तर्गते, ततोऽर्थान्तरभूते वा स्याताम्? प्रथमपक्षे सामग्रीस्वरूपादभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत् तयोः करणतैवोपपन्ना। न च करणरूपतायामपि अनयोः कर्तृकर्मरूपता युक्ता परस्परविरोधात्। कर्तृता हि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारतेष्यते, निर्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्वं कर्मत्वम्, करणत्वं तु साधकतमत्वम् इत्येषां कथमेकत्र संभवः? विषयाभावे च निरालम्बनाः सर्वाः संविदः प्रसज्यन्ते, चक्षुरादिवत् आलम्बनकारकस्य प्रमाणान्तःपातित्वात्। कश्चेदानीं सामग्र्या प्रमेयं प्रमिमीते? प्रमातुरपि अस्यामेवान्तर्लीनत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; सकलकारकव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतयोः कर्तृकर्मणोरभावात्, भावे वा न कारकसाकल्यम्। कार्योत्पत्तौ हि यावतामुपयोगः ते सकलशब्दवाच्याः, कर्तृकर्मणोश्च व्यतिरेके कथं परिशिष्टानां सकलत्वम्?

यच्चान्यदुक्तम्–'साकल्यान्तर्गतकारकापेक्षयैवास्य करणत्वोपपत्तेः' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यतः पृथगवस्थापेक्षाणि कारकाणि कर्मादिभावं भजन्ते, समुदायावस्थापेक्षाणि तु करणभावं। तथा च यदा कर्मादिता न तदा करणता, यदा तु सा, न तदा कर्मादिता इति नैकमपि रूपं व्यवतिष्ठेत अन्योन्यापेक्षत्वात्, कर्मादिरूपं हि करणस्वरूपापेक्षं तच्च कर्माद्यपेक्षमिति।

मितरकारककदम्बसन्निधाने सत्यपि सीमन्तिनीमन्तरेण तद्दर्शनं न सम्पद्यते, आगतमात्रायामेव तस्यां भवति इति तदपि कर्मकारकम् अतिशययोगित्वात् करणं स्यात्।" न्यायमं० पृ० १३।

१ पृ० ३३ पं० ११। २ "न च लोकोऽपि सामग्र्याः करणभावमनुमन्यते तस्यां करणविभक्तिमप्रयुञ्जानः। नहि एवं वक्तारो भवन्ति लौकिकाः 'सामग्र्या पश्यामः' इति, किन्तु 'दीपेन पश्यामः चक्षुषा निरीक्षामहे' इत्याचक्षते।" न्यायमं० पृ० १३। "लौकिकानां तु कथमसौ भविष्यति, न हि ते सामग्र्या नामापि जानते"··· स्या० रत्ना० पृ० ६। ३ कर्तृकर्मणोः। ४ "न चैतेषां कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्वं परस्परविरोधात्"–प्रमेयक० पृ० ३ उ०। सन्मति टी० पृ० ४७३। ५ "ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्तृत्वम्।" न्यायमं० पृ० २०२। ६ "निरालम्बनाश्च इदानीं सर्वप्रमितयो भवेयुः आलम्बनकारकस्य चक्षुरादिवत् प्रमाणान्तःपातित्वात्।" न्यायमं० पृ० १३। ७ "कश्च सामग्र्याः प्रमेयं प्रमिमीते? प्रमाताऽपि तस्यामेव लीनः।" न्यायमं० पृ० १३। ८ सामग्र्यामेव। ९ पृ० ३३ पं० २०। १० "अथ च तानि पृथगवस्थितानि कर्मादिभावं भजन्ते, अथ च तान्येव समुदितानि करणीभवन्ति इति कोऽयं नयः?" न्यायमं० पृ० १४। ११–यथा–भां०। १२–तथा–भां०। १३ करणता। १४ करणस्वरूपम्।

किञ्च[1] सामग्रीजनने व्यापृताः कर्मादयः, तेऽस्यां[2] कारणत्वेन प्रतीयन्ते सा[3] च प्रमितिलक्षणे फले करणत्वेन, अतश्च फलं प्रति सा एकैव व्याप्रियमाणा कथं विषयान्तरे व्यापृतकर्तृकर्मभ्यामतिशयं[4] प्रतिपद्येत ? अपि च, सामग्रीजनने व्याप्रियमाण आत्मा यदा सामग्रीकरणतां[5] प्रतिपद्यते तदा फलविषये कस्य कर्तृत्वम् आत्मनः सामग्रीजनने व्यापारात् ? न च आत्मा आत्मानं सामग्र्या मध्ये प्रक्षिप्य सामग्रीं जनयन् पश्चात्तामेव करणत्वेन व्यापारयन् कर्तृतामनुभवति एकस्वरूपस्य[6]ैवं विधानेकव्यापारविरोधात्, नित्यैकरूपे वस्तुनि कार्यकारित्वानुपपत्तेश्च ।

किञ्च, समग्रा एव सामग्री, समग्राणां धर्मो वा ? तत्राद्यपक्षे सर्वेषां फलं प्रति अन्वयव्यतिरेकानुविधानात् 'कस्य करणता' इति न विद्मः । करणं हि साधकतमम्, तमार्थश्च प्रकर्षः कार्यं प्रति अव्यवधानेन व्यापारः, स चेत् सर्वेषां[7] तुल्यस्तदा कथं कस्यचिदेव करणत्वं सिद्ध्येत् ? अथ[8] तेषां धर्मः ; स किं नित्यः, अनित्यो वा स्यात् ? न तावन्नित्यः, कादाचित्कत्वात् सुखादिवत् । अथानित्यः; कुतो जायेत तत एव, अन्यतो वा ? न तावदन्यतः ; अनभ्युपगमात् । तत एवचेत् ; तर्हि अयमर्थः सम्पन्नः-समग्रास्तावत् सामग्रीलक्षणं कार्यं जनयन्ति, सा च फलम्, तदा तस्या[9] एकत्वात् किमपेक्ष्य साधकतमत्वं स्यात् ?

किञ्च, समग्राणां भावः सामग्री, भावशब्देन च तेषां[10] सत्ता, स्वरूपमात्रम्, समुदायः, सम्बन्धः, ज्ञानजनकत्वं वाऽभिधीयेत[11] प्रकारान्तरासंभवात ? तत्राद्यविकल्पद्वये अतिप्रसङ्गः ; व्यस्तावस्थायामपि तत्सत्तायाः स्वरूपमात्रस्य च सद्भावतः प्रामाण्यप्रसङ्गात् । समुदायोऽपि एकाभिप्रायतालक्षणः, एकदेशे मिलन[12]स्वभावो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः ; विषयेन्द्रियादेः निरभिप्रायत्वात् । द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः ; चन्द्राऽर्कादिविषयस्य इन्द्रियादेश्च एकदेशे मिलनाऽसंभवात् । सम्बन्धपक्षोऽपि अनेनैव प्रत्याख्यातः ; चन्द्रादेश्चक्षुरादिना सम्बन्धाऽभावात् तस्याप्राप्यकारित्वात् ; तदप्राप्यकारित्वञ्चाग्रे प्रसाधयिष्यामः । अथ ज्ञानजनकत्वं भावशब्देनाभिधीयते; तर्हि प्रमातृप्रमेययोरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः तज्जनकत्वाऽविशेषात् ; तथाच प्रतीतिसिद्धतद्व्यवस्था[13]विलोपः स्यात् । न च तज्जनकत्वाऽविशेषेऽपि स्वेच्छावशात् क्वचिदेव प्रमात्रादिव्यवस्था युक्ता; सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् इच्छायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् ।

१ "एवं च साकल्यलक्षणधर्मस्य जनने व्यापृताः कर्त्रादयः तस्मिन् कर्तृत्वेन प्रतीयन्ते, स च प्रमितिलक्षणे फले करणत्वेन''''स्या० रत्ना० पृ० ६८ । २ तस्यां ब०, ज० । ३ सामग्री । ४ करणत्वलक्षणम् । ५ कारणताम् ब०, ज० । ६ एकरूप ब०, ज० । ७ कारकाणाम् । ८ "यतः तेषां स धर्मः किं नित्यः, अथाऽनित्यः ?''''स्या० रत्ना० पृ० ६८ । ९ "सामग्र्याश्चैकत्वात् अतिरिक्तसाधकान्तरानुपलम्भात् किमपेक्षमस्या अतिशयं ब्रूमः ।" न्यायमं० पृ० १३ । १० "तच्च इह सत्ता, स्वरूपमात्रम्, समुदायः, सम्बन्धः, ज्ञानजनकत्वं वा व्याक्रियेत पक्षान्तराऽभावात्''''स्या० रत्ना० पृ० ६९ । ११-धीयते आ०, भां० । १२ मीलन-आ०, ब०, ज० । १३ प्रमातृप्रमेयव्यवस्था ।

किञ्च, आत्मादयो भावाः नित्यैकरूपास्तज्जननस्वभावाः सन्तः तज्जनयन्ति, अतज्जननस्वभावा वा ? न तावदतज्जननस्वभावाः; सर्वस्मात् सर्वस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अथ तज्जननस्वभावाः; किन्न सर्वदा ते तज्जनयन्ति नित्यानां[1] सर्वदा तज्जननस्वभावानां तेषां सदा सत्त्वात् ? एकप्रमाणोत्पत्तिसमये सक[2]लतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसङ्गश्च । यदा हि यज्जनकमस्ति तत् तदोत्पत्तिमत् प्रसिद्धम् यथा तत्कालाभिमतं प्रमाणम्, अस्ति च पूर्वोत्तरकालभाविनां निखिलप्रमाणानां तदा नित्याभिमतमात्मादिका[3]रणमिति । तत्सद्भावेऽप्येषामनुत्पत्तौ न कदाचिदप्यतस्तदुत्पत्तिः इत्यखिलं जगत् प्रमाणविकलमापद्ये[4]त । तत्करणसमर्थे सत्यप्यात्मादिकारणेऽभवतां स्वयमेव पश्चाद्भवतां तत्कार्यता च कथमेषामुपपद्यते ? य[5]द् यस्मिन् समर्थे सत्यपि नोत्पद्यते स्वयमेव पश्चाद्यथाकालमुत्पद्यते न तत् तत्कार्यम् यथा सत्यपि कुम्भकारेऽनुत्पद्यमानः पटः, नोत्पद्यते च आत्मादौ तत्करणसमर्थे सत्यप्यखिलप्रमाणानीति । य[6]त्र यदा यथा यत् प्रमाणमुत्पित्सुः तत्र तदा तथा आत्मादेस्तत्करणसमर्थत्वान्नैकदा सकलप्रमाणोत्पत्तिः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्वभावभूतसामर्थ्यभेदमन्तरेण कार्यस्य कालादिभेदानुपपत्तेः । यस्य स्वभावभूतसामर्थ्यभेदो नास्ति नासौ कालादिभिन्नकार्यकारी यथा निरंशः सौगतपरिकल्पितः क्षणः, नास्ति च स्वभावभूतसामर्थ्यभेदो नित्यैकस्वभावाभिमतस्यात्मादेरिति । स्वभावभूतसामर्थ्याभेदेऽपि कार्यभेदाभ्युपगमे च पार्थिवपरमाण्वादिकारणभेदपरिकल्पनं व्यर्थम्, एकमेव नित्यैकस्वभावं प[7]रमब्रह्मादिकारणं पृथिव्याद्यनेककार्यकारि परिकल्प्यताम् । कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदा[8]ऽसंभ[9]वे शक्तिभेदोऽप्यस्तु, ते[10]मन्तरेणापि त[11]दसंभवात् ।

किञ्च, स[12]कलेभ्यः साकल्यं भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात् ? भि[13]न्नञ्चेत्; किमिति पृथक् घटादिवन्नोपलभ्यते[14] ? किञ्च, भिन्नं सत् तत्तत्र सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा ? असम्बद्धं चेत्; कथं तद्धर्मः ? यद् यत्र न सम्बद्ध्यते न तत् तद्धर्मः यथा सह्योऽसम्बद्धो विन्ध्यो न तद्धर्मः, कारकेष्वसम्बद्धञ्च तत्साकल्यमिति । सम्बद्धञ्चेत्[15] किं समवायेन, संयोगेन, विशेषणभावेन वा ? न तावत्समवायेन; अस्याऽसिद्धेः, तदसिद्धिश्च षट्पदार्थपरीक्षायां निराकरिष्यमाणत्वात्सिद्धा । नापि संयोगेन; अस्य गुणत्वेन द्रव्येष्वेव संभवात्, साकल्यस्य चाऽद्रव्यत्वात् ।

---

१ "नित्यानां तज्जननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तिः,…" प्रमेयक पृ० ३ उ० । सन्मति० टी० पृ० ४७३ । २ समन्तादुत्पाद्य–ज० । ३–करणमिति आ० । ४–द्यते आ० । ५ यच्च ब०, ज० । ६ "यदा यत्र यथा यद्भवति…यथा च कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदो नोपपद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेणापि ।" प्रमेयक पृ० ३ । सन्मति० टी० पृ० ४७३ । ७ परब्रह्म–भां० । ८–भेदसंभवे ब०, ज० । ९–भवे कारणजातिभेदाभ्युपगमे शक्ति–आ० । १० कारणशक्तिभेदमन्तरेणापि । ११ कार्यभेदाऽसंभवात् । १२ "तथापि सकलेभ्यः किमेतद्भिन्नमभिन्नं वा"… । स्या० रत्ना० पृ० ७० । १३ "ननु समग्रेभ्यः सामग्री भिन्ना चेत् कथन्नोपलभ्यते ।" न्यायमं० पृ० १४ । १४–भ्येत ब०, ज० । १५–त् कथं स–भां० ।

नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धे वस्तुनि विशेषणभावस्यैवासंभवात्। अस्तु[1] वा केनचित्तत्त्रैव[2] सम्बद्धम्; तथापि युगपत् सकलकारकेषु सम्बद्ध्यते, क्रमेण वा? युगपच्चेत्[3]; किमेकं सत्, अनेकं वा? यद्येकम्; सामान्यादिरूपताप्रसङ्गः[4], तद्रूपता च सामान्यादिदोषेण[5] दुष्टत्वान्न[6] श्रेयसी। अथानेकम्; तर्हि यावन्ति कारकाणि तावद्धा तद्[7] भिद्येत। अथ क्रमेण; तर्हि सकलकारकधर्मता साकल्यस्य न स्यात्; यदैव हि तस्यैकेन सम्बन्धो, न तदैवान्येनेति। अर्थाभिन्नं तत् तेभ्यः; तर्हि तान्येव न साकल्यम्[8], तदा करणरूपतैव[9] वाऽशेषकारकाणां स्यात्, सापि वा न स्यात् कर्तृकर्मापेक्षत्वात्त[10]स्याः, त[11]योश्चेत्थमसंभवात्, तथा च कस्य प्रमाणता स्यात्? ततः कारकसाकल्यस्य स्वरूपेण विचार्यमाणस्यानुपपत्तेर्न प्रामाण्यम्। यत् स्वरूपेण विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत् प्रमाणम् यथा गगनेन्दीवरम्, स्वरूपेण विचार्यमाणं नोपपद्यते च परपरिकल्पितं कारकसाकल्यमिति। उपपद्यतां वा तत्; तथापि न मुख्यतः प्रमाणम्, अज्ञानरूपस्यास्य उपचारादन्यत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः। न च लिङ्ग-शब्दादिना व्यभिचारः; तस्यापि उपचारादेव प्रामाण्याभ्युपगमात्।

किञ्च, निर्विकल्पकप्रमित्यपेक्षया सन्निकर्षस्य कारकसाकल्यस्य वा प्रमाजनकत्वेन प्रामाण्यं स्यात्, सविकल्पकप्रमित्यपेक्षया वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; संशयादिहेतुनिर्विकल्पकदर्शनजनकस्यापि सन्निकर्षादेः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च तत्रा[12]स्य[13] त[14]ज्जनकत्वं नास्तीत्यभिधातव्यम्; संशयादेः प्रत्यक्षाभासत्वाभावप्रसङ्गात्। द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः; सविकल्पकप्रमोत्पत्तौ सन्निकर्षादेर्निर्विकल्पकज्ञानेन व्यवधानतः साधकतमत्वानुपपत्तेः। यस्य यदु[15]त्पत्तौ अपरेण व्यवधानं न तस्य तदुत्पत्तौ साधकतमत्वम् यथा छिदिक्रियोत्पत्तौ कुठारेण व्यवहितस्यायस्कारस्य, व्यवधानञ्च निर्विकल्पकेन सविकल्पक[16]प्रमोत्पत्तौ सन्निकर्षादेरिति। अतोऽज्ञान[17]रूपस्य सन्निकर्षादेर्न मुख्यतः कथमपि प्रामाण्यमुपपद्यते।

---

१ "अस्तु वा केनचित् सम्बन्धेन सम्बद्धं तत् तेषु; तथापि युगपत् सकलेषु सम्बद्ध्यते क्रमेण वा?......" स्या० रत्नाकर० पृ० ७१। २ चित्तत्रै–ब०, ज०। तत्–साकल्यम्, तत्रैव–कारकेषु। ३ "सम्बन्धेऽपि सकलकारकेषु युगपत्तस्य सम्बन्धे अनेकदोषदुष्टसामान्यादिरूपतापत्तिः।" प्रमेयक० पृ० ३ उ०। ४ "बहुत्वसंख्याततपृथक्त्वसंयोगविभागसामान्यानाम् अन्यतमस्वरूपापत्तिः तस्य।" सन्मति० टी० पृ० ४७३। ५ एकस्वभावेन स्वभावभेदेन च वृत्तौ सामान्यत्वाऽनवस्थादयः। ६ श्रेयसे भां०। ७ साकल्यम्। ८ "अभेदे तु सर्वकारकाणि करणीभूतान्येव इति कर्तृकर्मव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः।" न्यायमं० पृ० १४। ९–त्वं करण–ज०, भां०। १० करणरूपतायाः। ११ कर्तृकर्मणोश्च। १२ संशयादौ। १३ सन्निकर्षादेः। १४ निर्विकल्पकजनकत्वं। १५ यदुपपत्तौ ब०, ज०, आ०। १६–कोत्पत्तौ ब०, ज०, भां०। १७–न स्वरूप–भां०।

'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्' इति सांख्यमतनिरसनम्–

[1]'ननु यद्यपि सन्निकर्षस्य कारकसाकल्यस्य वाऽज्ञानरूपस्य प्रामाण्यं नोपपद्यते; तथापि न ज्ञानमेव प्रमाणं सिद्ध्यति, इन्द्रियवृत्तेः अर्थप्रमितौ साधकतमत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। इन्द्रियाणां हि वृत्तिः विषयाकारपरिणतिः। न खलु तेषां प्रतिनियतशब्दाद्याकारपरिणतिव्यतिरेकेण प्रतिनियतशब्दाद्यालोचनं घटते। अतो विषयसम्पर्कात् प्रथममिन्द्रियाणां ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः, तदनु विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः। अथ कस्मान्मनोवृत्तिः अक्षवृत्त्यालम्बना न शब्दाद्यालम्बना? इति चेत्; अबहिर्वृत्तित्वात्, अन्यथा बाह्येन्द्रियकल्पनानर्थक्यं स्यात्।' इत्यभिदधानः साङ्ख्योऽप्येतेनैव प्रत्या[2]ख्यातः।

अचेतनस्वभावाया इन्द्रियवृत्तेरप्युपचारादन्यतोऽर्थप्रमितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः। का चेयमिन्द्रिय[3]वृत्तिः–विषयं प्रति तेषां गमनम्, आभिमुख्यं वा स्यात्, आकारधारित्वं वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; विषयं प्रतीन्द्रियाणां गमनस्य इन्द्रियाप्राप्यकारित्वप्रक्रमे निराकरिष्यमाणत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; विषयं प्रत्याभिमुख्यस्य प्रगुणतापरपर्यायस्य अर्थपरिच्छितौ साधकतमज्ञानहेतुत्वाद् उपचारत एव साधकतमत्वोपपत्तेः। विषयाकारधारित्वं पुनरिन्द्रियस्य अनुपपन्नम्; प्रतीतिविरोधात्। न ख[4]लु दर्पणादिवत् तदाकारधारित्वेन श्रोत्रादीन्द्रियं प्रत्यक्षतः प्रतीयते त[5]द्वत्तत्र[6] विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। न हि प्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽर्थे कश्चिदबालिशो विप्रति-

१ "रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ॥" सांख्यका० २८। "बुद्धिरहङ्कारो मनः चक्षुः इत्येतानि चत्वारि युगपद् रूपं पश्यन्ति अयं स्थाणुः अयं पुरुष इति''' एवमेषां युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिः''' क्रमशश्च–एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा चक्षूरूपं पश्यति, मनः सङ्कल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति।" माठरवृ० पृ० ४७। "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्।" योगद० व्यासभा० पृ० २७। "चैतन्यमेव बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं बुद्धिवृत्त्या अर्थाकारया तदाकारतामापद्यमानं फलम्।" योगद० तत्त्ववै० पृ० २९। "अत्रेयं प्रक्रिया–इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।" सां० प्र० भा० पृ० ४७। "विषयैश्चित्तसंयोगाद् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात्। प्रत्यक्षं साम्प्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम् ॥ २३ ॥" योगकारिका। "प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च। प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥" योगवा० पृ० ३०। "बुद्धिः किल त्रैगुण्यविकारः, त्रैगुण्यञ्च अचेतनम्, इत्यचेतनं केवलम् इन्द्रियप्रणालिकया अर्थाकारेण परिणमते''''''तेन योऽसौ नीलाकारः परिणामो बुद्धेः स ज्ञानलक्षणा वृत्तिः इत्युच्यते।" न्यायवा० ता० टी० पृ० २३३। २ श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु। प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिः तद्विकारानुकारिणी ॥" न्यायवि० पृ० ३९३। सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ पू०। "श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षम् इत्यप्येतेन चिन्तितम्। तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥३६॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७। तत्त्वोप० पृ०। ३–य प्रवृत्तिः भां०। ४ "न हि स्फटिकमुकुरादिकमिव तदाकारधारित्वेन श्रवणादिकमिन्द्रियं प्रत्यक्षतः प्रतीयते"–स्या० रत्ना० पृ० ७२। ५ दर्पणादिवत्। ६ श्रोत्रादौ।

पद्यते। नाप्यनुमानतः; तदविनाभाविनो लिङ्गस्याऽसंभवात्। न च प्रतिनियतार्थ[1]प्रतिपत्तिरेव लिङ्गमित्यभिधातव्यम्; तस्याः सारूप्य[2]मन्तरेणाप्युपपत्तेः। तथोपपत्तिश्चास्याः विज्ञाननिराकारतासिद्ध्यवसरे प्रसाधयिष्यते।

अस्तु वा काचित् तद्वृत्तिः; तथाप्यसौ[3] तेभ्यो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात्? यद्यभिन्ना; श्रोत्रादिमात्रमेव सा, तच्च सुषुप्तादावप्यस्तीति सुप्त-प्रबुद्धयोरविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यवहाराभावः स्यात्। अथ भिन्ना; किमसौ तत्र सम्बद्धा, असम्बद्धा वा? यद्यसम्बद्धा; कथं [4]श्रोत्रादेरियं वृत्तिरिति व्यपदिश्येत? यद् यत्राऽसम्बद्धं न तत् तस्येति व्यपदिश्यते यथा सह्ये विन्ध्यः, असम्बद्धा च श्रोत्रादिना वृत्तिरिति। अथ सम्बद्धा; किं समवायेन, संयोगेन, विशेषणभावेन वा? न तावत् समवायेन; [5]अस्याऽसिद्धस्वरूपत्वात्, [6]तदसिद्धस्वरूपता चाग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् (प्रसिद्धा)। तत्स्वरूपसिद्धौ वा नित्यव्यापिनोऽस्य श्रोत्रादेश्च तथाविधस्य सद्भावे "*प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्यते*[7]" [ ] इति दुर्घटम्। नापि संयोगेन; तद्वृत्तेर्द्रव्यान्तरत्वानुषङ्गात्, न हि द्रव्याऽद्रव्ययोः संयोगो युक्तः; [8]अस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्। तथा च इन्द्रियधर्मताभ्युपगमो वृत्तेर्विरुद्ध्यते। नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणाऽसम्बद्धेऽर्थे सह्यविन्ध्यादिवत्तस्या[9]ऽसंभवात्। तस्माद्[10] इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणायाः सत्त्वाऽसंभवात् कथम् 'विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः' इति सुघटं स्यात्? इन्द्रियवृत्तेर्विषयाकारपरिणतत्वानुपपत्तौ मनोवृत्तेस्तदालम्बनत्वानुपपत्तेः। ततो वाह्यार्थालम्बनैवासौ[11] युक्ता। न चैवं वाह्येन्द्रियकल्पनानर्थक्यानुषङ्गः; मनसः तत्[12]सापेक्षस्यैव [13]अर्थप्रवृत्तिप्रतीतेः, विज्ञानोत्पत्तौ तेषा[14]-[15]मन्योन्यं सहकारिभावात्। न खलु वाह्येन्द्रियनिरपेक्षा मनसो विज्ञानोत्पत्तौ प्रवृत्तिः; अदृष्टपूर्वेऽप्यर्थे तत[16]स्त[17]दुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि मनोऽनपेक्षा वाह्येन्द्रियाणाम्[18]; अन्यत्र गतचित्तस्याप्यतो[19] विज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गादिति।

ननु सन्निकर्षकारकसाकल्येन्द्रियवृत्तीनाम् उक्तदोषदुष्टत्वान्माभूत् प्रामाण्यम्, [20]ज्ञातृव्या-

---

१ विषयाकारधारित्वमन्तरेण। २ सारूप्यमन्तरेणापि प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिः। ३ "न च इन्द्रियेभ्यो-वृत्तिर्व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा घटते…"। प्रमेयक० पृ० ६ पू०, स्या० रत्ना० पृ० ७३। ४ श्रोत्रादेरिन्द्रियस्य वृत्तिः आ०। ५ अस्य सि-भां०। ६ तदपि सि-भां०। ७ प्रमेयक० पृ० ६ पू०। ८ संयोगस्य। ९ विशेषणभावस्य। १० "तस्मादित्थम् इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणायाः सत्त्वाऽसंभवात् कथं विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः इति सुघटं स्यात्।" स्या० रत्ना० पृ० ७३। ११ मनोवृत्तिः। १२ वाह्येन्द्रियसापेक्षस्यैव। १३ वहिरर्थे। १४ इन्द्रियमनसाम्। १५-न्योन्य सह-आ०। १६ मनसः। १७ विज्ञान। १८ 'विज्ञानोत्पत्तौ प्रवृत्तिः' इत्यन्वयः। १९ वाह्येन्द्रियात्। २० "ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकम्, क्रिया च फलानुमेया, ज्ञातृव्यापारमन्तरेण फलाऽनिष्पत्तेः।" न्यायमं० पृ० १७।

ज्ञातृव्यापारप्रामाण्यवादे प्राभाकरस्य पूर्वपक्षः-

पारस्य तु भविष्यति; तमन्तरेण अर्थप्रकाशताख्यफलाऽनिष्पत्तेः। न हि व्यापारमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात्। कारकस्य[1] कारकत्वमपि क्रियावेशवशादेव उपपद्यते, 'करोतीति कारकम्' इति व्युत्पत्तेः, इतरथा हि तद् वस्तुमात्रं स्यान्न कारकम्, "*क्रियाविष्टं[2] द्रव्यं कारकम्*" [ ] इत्यभिधानात्। न च तन्मात्रं[3] फलार्थिभिरुपादीयते; अभिप्रेतप्रयोजनप्रसाधकस्यैव तैरुपादानात्। ततो[4] यथा कारकाणि तन्दुल-सलिला-ऽनल-स्थाल्यादीनि सिद्धस्वभावानि असिद्धस्वभावपाकलक्षणधात्वर्थं साधयितुं संसृज्यन्ते, संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति, तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसम्प्रयोगे सति ज्ञातुर्व्यापारो[5]ऽर्थप्राकट्यहेतुरुपजायते अतो[6]ऽसौ प्रमाणम्, अर्थप्राकट्यलक्षणे फले साधकतमत्वात्, यत्पुनः प्रमाणं न भवति न तत् तत्र साधकतमम् यथा सन्निकर्षादि, साधकतमश्च तल्लक्षणे फले ज्ञातृव्यापार इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-'ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यं भविष्यति' इत्यादि; तदसमीचीनम्;

अचेतनस्वरूपस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यनिरासः-

यतोऽस्य प्रसिद्धसत्ताकस्य प्रामाण्यं प्रार्थ्येत, अप्रसिद्धसत्ताकस्य वा? न तावदप्रसिद्धसत्ताकस्य; अतिप्रसङ्गात्, अनुमानविरोधानुषङ्गाच्च। तथाहि-यदप्रसिद्धसत्ताकं न तत् प्रमाणम् यथा गगनेन्दीवरम्, अप्रसिद्धसत्ताकश्च प्रभाकरमतानुसारिभिरभिप्रेतो ज्ञातृव्यापार इति। अथ प्रसिद्धसत्ताकस्यास्य प्रामाण्यं प्रार्थ्येत, ननु कुतोऽस्य प्रसिद्धा सत्ता-स्वप्रक्रियोपवर्णनमात्रात्, प्रमाणतो वा? प्रथमपक्षे सन्निकर्षादेरपि तथा[7] प्रसिद्धसत्ताकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा भवत्पक्षसिद्धिः स्यात्? प्रमाणतोऽपि-प्रत्यक्षात्[8], अनुमानादेर्वा तत्सिद्धिः स्यात्? यदि

---

१ "क्रियावेशवशाच्च कारकं कारकं भवति, अपरथा हि तद् वस्तुस्वरूपमात्रमेव स्यात् न कारकम्। ततश्च न फलार्थिभिः उपादीयेतेति व्यवहारविप्रलोपः।" न्यायमं० पृ० १७। "न द्रव्यमात्रं कारकं न क्रियामात्रम्। किं तर्हि? क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्।" न्यायभा० पृ० १०६। २-याविशिष्टं भां०। 'चत्वारो ह्यर्थनया ह्येते' इति कारिकाविवृतौ। ३ वस्तुमात्रम्। ४ "तस्माद् यथाहि कारकाणि तण्डुलसलिलाऽनलस्थाल्यादीनि सिद्धस्वभावानि साध्यं धात्वर्थमेकं पाकलक्षणमुररीकृत्य संसृज्यन्ते, संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति, तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षे सति ज्ञानाख्यो व्यापार उपजायते।" न्यायमं० पृ० १७। ५ "तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते। तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणञ्च धीः॥ ५६॥ जन्मैव अस्य क्रिया······तदेव च अर्थप्रकाशनफलविशेषात् प्रमा तद्योगाद् धीः करणम्। चशब्दात् प्रमाणञ्चोच्यते।" मीमांसाश्लो० पृ० १५१। "अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्य आत्मनः कर्मभूतस्य च अर्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति।" शास्त्रदी० पृ० २०२। ६ ततोऽसौ भां०। ७ स्वप्रक्रियोपवर्णनमात्रात्। ८ "तद्धि प्रत्यक्षमनुमानमन्यद्वा? यदि प्रत्यक्षं तत्किं स्वसंवेदनं बाह्येन्द्रियजं मनःप्रभवं वा?"····प्रमेयक० पृ० ६ पू०। सन्मति० टी० पृ० २०।

प्रत्यक्षात्[1]; तत्किम् इन्द्रियार्थसंयोग[2]जात्, आत्ममनःसन्निकर्षप्रभवात्, स्वसंवेदनाद्वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वसम्बद्धे[3] ग्रहणयोग्ये चार्थे ज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात्। न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां[4] सम्बन्धः संभवति; प्रतिनियतैः रूपादिभिरेवैषां सम्बन्धसंभवात्, अत्यन्तपरोक्षतया तस्य[5] ग्रहणायोग्यत्वाच्च। अस्तु वा तस्य तैः सम्बन्धः, ग्रहणयोग्यता च; तथाप्य[6]सौ चक्षुरादिसहायः स्वविषयविज्ञानमुत्पादयन् अपरज्ञातृव्यापारसहकृत उत्पादयति, असहकृतो वा? प्रथमपक्षे, अनवस्था[7]-तद्व्यापारस्यापि अपरतद्व्यापारसापेक्षस्य स्वविषयविज्ञानोत्पादकत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षस्त्वनुपपन्नः; अपरत[8]द्व्यापाराऽसहकृतस्यास्य[9] कर्मभूतस्य स्वविषयविज्ञानजनकत्वानुपपत्तेः। तथाहि-ज्ञातृव्यापारः स्वविषयं विज्ञानमपरज्ञातृव्यापारसहकृत एवोत्पादयति, कर्मतया स्वविषयविज्ञानोत्पादकत्वात्, घटादिवत्। तथा[10]भूतस्याप्यस्य [11]तदसहकृतस्य तज्जनकत्वे घटादेरपि [12]तन्निरपेक्षस्यैव स्वविषयविज्ञानजनकत्वप्रसङ्गाद् अलं ज्ञातृव्यापारपरिकल्पनया। एतेन द्वितीयपक्षोऽप्यपास्तः; प्रतिपादितदोषाणां तत्राप्यनुषङ्गाऽविशेषात्। न च ग्रहणाऽयोग्ये वस्तुनि आत्ममनःसन्निकर्षप्रभवं प्रत्यक्षं प्रवर्त्तितुमुत्सहते, तद्योग्य एव सुखादावस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः। भवत्कल्पितयोः नित्यनिरंशस्वभावयोः व्यापकाऽणुरूपयोः आत्ममनसोः प्रमाणतोऽप्रसिद्धेश्च। तदप्रसिद्धिश्च षट्पदार्थपरीक्षायां आत्म-मनोद्रव्यपरीक्षावसरे प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्यामः। नापि स्वसंवेदनात्तत्सिद्धिः; अनभ्युपगमात्, अत्यन्तपरोक्षे तस्मिन् स्वसंवेदनविरोधाच्च। तन्न प्रत्यक्षाज्ज्ञातृव्यापारसिद्धिः।

नाप्यनुमानात्; *"ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः"*[13] [शावरभा० १।१।५ पृ० ३६] इत्येवंरूपत्वात्तस्य। [14]सम्बन्धप्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षतः; ज्ञातृव्यापारस्य अत्यन्तपरोक्षतयाभ्युपगमे अर्थप्राकट्यलक्षणहेतोः तत्सम्बद्धत्वेन प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः, उभयस्वरूपग्रहणे हि 'इदमनेन सम्बद्धम्' इति सम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अग्निधूमवत्। नाप्यनुमानात्; अनवस्थाप्रसङ्गात्-तदपि ह्यनुमानं निश्चितप्रतिबन्धाद्धेतोरुत्पद्यते तत्प्रतिबन्धनिश्चयश्च अनुमानान्तरादिति। प्रथमानुमानात्तन्निश्चये च इतरेतराश्रयः। एतेन अर्थापत्तितोऽपि ज्ञातृव्यापारसिद्धिः प्रत्युक्ता; [15]तदुत्थापकस्याप्यर्थस्य साध्यसम्बन्धसिद्धावेव गमकत्वोपपत्तेः, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्, तत्सिद्धौ चोक्तदोषानुषङ्गः।

१-क्षात् किम् भां०। २-संप्रयोगात् आ०। ३-द्धे प्रत्यक्षग्रहण-ब०। ४ इन्द्रियाणाम्। ५ ज्ञातृव्यापारस्य। ६ ज्ञातृव्यापारः। ७ "अथ कारकनिर्वर्त्या क्रिया, साऽपीदानीं कार्यत्वात् सव्यापारकारककार्या भवेद् इत्यनवस्था।" न्यायमं० पृ० १८। ८ अपरज्ञातृव्यापार। ९ ज्ञातृव्यापारस्य। १० कर्मतया स्वविषयविज्ञानोत्पादकस्य। ११ ज्ञातृव्यापाराऽसहकृतस्य। १२ ज्ञातृव्यापारनिरपेक्षस्यैव। १३ "अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः।" शावरभा० पृ० ३६। १४ "स च सम्बन्धः किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण वा? प्रथमपक्षे किं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा तन्निश्चयः?" प्रमेयक० पृ० ६ उ०, सन्मति० टी० पृ० २०। १५ अर्थापत्त्युत्थापक।

किञ्च, असौ ज्ञातृव्यापारः कारकजन्यः, तदजन्यो वा ? न तावत्तदजन्यः ; तथाहि–ज्ञातृव्यापारो न कारकाऽजन्यः, व्यापारत्वात्, पाचकादिव्यापारवत्। किञ्च, असौ तदजन्यः सन् भावरूपः, अभावरूपो वा स्यात् ? अभावरूपत्वे अर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधः। अविरोधे वा फलार्थिनः कारकान्वेषणमफलमेव स्यात्, विश्वमदरिद्रञ्च स्यात् कारणाऽभावादेवाऽखिलप्राणिनामभिमतफलसिद्धेः। अथ भावरूपः; तत्रापि किमसौ नित्यः, अनित्यो वा ? नित्यत्वे सर्वस्य सर्वपदार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् प्रदीपादिकारकान्वेषणवैयर्थ्यम्, अन्ध-सुप्तादिव्यवहारोच्छेदानुषङ्गश्च स्यात्। अथाऽनित्यः; तदयुक्तम्; भावस्वभावस्य अजन्यात्मनोऽर्थस्य अनित्यत्वविरोधात्। यो भावस्वभावोऽजन्यार्थो नाऽसौ अनित्यः यथाऽऽकाशादिः, तथाभूतश्चायं ज्ञातृव्यापार इति। अस्तु वा अनित्यः; तथाप्यसौ–कालान्तरस्थायी, क्षणिको वा ? प्रथमपक्षे "*क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते*" [ ] इति वचो विरुद्ध्यते। द्वितीयपक्षे तु क्षणादूर्ध्वम् अर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गाद् अन्धमूकं जगत्स्यात्। प्रतिक्षणमपरापरव्यापारोपगमे तु तदवस्थः सुप्ताद्यभावदोषानुषङ्गः, कारकाऽजन्यस्यास्य देशकालस्वभावप्रतिनियमाऽयोगात्।

अथ कारकजन्योऽसौ, अस्त्वेतत्; तथापि क्रियारूपः, अक्रियारूपो वा स्यात् ? यदि क्रियारूपः; तदासौ क्रिया परिस्पन्दस्वभावा, अपरिस्पन्दस्वभावा वा स्यात् ? तत्राद्यविकल्पोऽपेशलः; व्यापकत्वेनाऽऽत्मनः तथाभूतक्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः। यद् व्यापकं न तत् परिस्पन्दस्वभावक्रियाश्रयः यथा आकाशादिः, व्यापकश्च भवन्मते आत्मेति। यदि वा, परिस्पन्दस्वभावा क्रिया व्यापकद्रव्यवृत्तिर्न भवति यथा ध्वजादिक्रिया, परिस्पन्दस्वभावा च ज्ञातृव्यापारलक्षणा क्रियेति। तथा च तद्व्यापारस्य ज्ञातुरन्यत्राश्रितत्वप्रसङ्गात् कथं ज्ञातृव्यापाररूपता प्रमाणता वा स्यात् ? ध्वजाद्याश्रितस्योत्क्षेपणादिव्यापारस्यापि तत्प्रसक्तेः। द्वितीयविकल्पेऽपि अपरिस्पन्दः–परिस्पन्दाभावः, वस्त्वन्तरं वा ? यदि परिस्पन्दाभावः; तदाऽस्य फलजनकत्वानुपपत्तिः अभावस्य कार्यकारित्वविरोधात्, यथा चाऽस्य तत्कारित्वं विरुद्ध्यते तथा अभावपरीक्षाप्रस्तावे सप्रपञ्चं प्रपञ्चयिष्यते। वस्त्वन्तरमपि किं चिद्रूपम्, अचिद्रूपं वा ? चिद्रूपमपि–किं धर्मी, धर्मो वा ? यदि धर्मी; तदासौ प्रमाणं न स्याद् आत्मवत्। धर्मोऽपि

---

१ "किञ्चासौ ज्ञातृव्यापारः कारकैर्जन्योऽजन्यो वा ?" प्रमेयक० पृ० ७ पू०, सन्मति० टी० पृ० २५। २ ज्ञातुर्व्या– ब०, ज०। ३ सद् भावरू–आ०, ब०, ज०। "यद्यजन्यः तदाऽसौ अभावरूपः भावरूपो वा ?" प्रमेयक० पृ० ७ पू०, सन्मति० टी० पृ० २५। ४ "तत्र यदि नित्या; तर्हि सर्वदा वस्तुनः क्रियायोगात् फलनिष्पत्तिप्रसङ्गः।" न्यायमं० पृ० १८। ५ शाबरभाष्ये तु (पृ० ३२) "क्षणिका हि सा न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते" इति। –प्रमेयक० पृ० ७ पू०, सन्मति० टी० पृ० २५, स्या० रत्ना० पृ० १२२– इत्येतेषु 'न चिरकालमवतिष्ठते' इति पाठः। ६ परिस्पन्दस्वभाव। ७ क्रिया सा व्यापक–आ०, ज०, भां०। ८ ज्ञातृव्यापारता। ९ जडं वा ब०, ज०, भां०।

किमात्मनो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यद्यभिन्नः; तदा 'आत्मैव[1]' इति प्रमाणतानुपपत्तिः। भेदे तु असम्बन्धात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः । तत्कार्यत्वात् 'तस्य' इति व्यपदेशे, तस्य तत्कारित्वं किं व्यापारान्तरेण, अन्यथा वा ? यदि व्यापारान्तरेण; अनवस्था। अथ अन्यथा[2]; तन्न; निर्व्यापारस्य कार्यकारित्वाभ्युपगमे व्यापारकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । [3]अचिद्रूपमपि वस्त्वन्तरम्-धर्मी, धर्मो वा स्यात् ? यदि धर्मी; लोष्ठवन्न प्रमाणं स्यात्। अथ धर्मः; कस्य ? आत्मनः, अन्यस्य वा ? यद्यन्यस्य; न प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात्। अथ आत्मनः; तन्न; अजडस्यास्य[4] जडधर्मत्व[5]विरोधात्। तन्न क्रियारूपो व्यापारो घटते। अक्रिया[6]रूपोऽप्यसौ किं बोधरूपः, अबोधरूपो वा ? बोधरूपत्वे अत्यन्तपरोक्षत्वविरोधः, तथा[7]भूतस्य बोधरूपतानुपपत्तेः, तदनुपपत्तिश्च स्वसंवेदनसिद्धौ प्रसाधयिष्यते। अबोधरूपत्वे तु प्रमाणत्वानुपपत्तिः घटादिवत्, चिद्रूपस्यात्मनो अचिद्रूपव्यापारविरोधाच्च[8]। ततो ज्ञातृव्यापारस्य उक्तन्यायेन विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः कथं प्रामाण्यं स्यात् ?

यदप्युक्तम्[9]-'कारकस्य कारकत्वमपि क्रियावेशवशादेव' इत्यादि; तत्सत्यमेव; न[10] हि परिस्पन्दात्मकं परिदृश्यमानं कारकव्यापारमपह्नुमहे प्रतिकारकं विचित्रस्य ज्वालादिव्यापारस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः, अतीन्द्रियस्यैव व्यापारस्य भवत्कल्पितस्याऽपह्नवात्, तस्योक्तप्रकारेण कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रतीतेः । न च नित्यैकरूपस्याऽपरिणामिनो ज्ञातुरन्यस्य वा व्यापारादिकार्यकारित्वं घटते। एतच्च "[11]अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः" इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्यते। ततः 'प्रमाणं ज्ञातृव्यापारोऽर्थप्राकट्यलक्षणे फले[12] साधकतमत्वात्' इत्यादि, वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यतां प्रतिपद्यते, इत्युपरम्यते। तदेवम्-अज्ञानात्मनः सन्निकर्षादेर्विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अर्थप्रमितौ मुख्यतः साधकतमत्वानुपपत्तितः प्रामाण्यस्यापि मुख्यतोऽनुपपत्तेः[13], 'तत्प्रमितौ[14] मुख्यतः साधकतमज्ञानलक्षणप्रमाणोत्पादकत्वाद् उपचारादेव[15]' अत्रास्य प्रामाण्यं[16] प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। इति युक्तमुक्तम्-'**सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत्**' इति।

ननु भवतु ज्ञानमेव प्रमाणम्। तत्तु द्विविधम्-निर्विकल्पकम्, सविकल्पकञ्चेति। तत्र

१-त्मैव प्रमा-आ०। २ व्यापारमन्तरेण। ३ जडमपि ब०, ज०, भां०। ४ आत्मनः। ५ जडः धर्मो यस्य। ६ "अक्रियात्मको हि व्यापारो बोधरूपोऽबोधरूपो वा।"...प्रमेयक० पृ० ७ उ०, सन्मति० टी० पृ० २५। ७ अत्यन्तपरोक्षस्य। ८-रोधश्च ब०, ज०, भां०। ९ पृ० ४२ पं० २। १० "न हि वयं परिस्पन्दात्मकं परिदृश्यमानं व्यापारमपह्नुमहे, प्रतिकारकं विचित्रस्य ज्वलनादेर्व्यापारस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्, अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्ति इति ब्रूमहे।" न्यायमं० पृ० १८। ११ लघी० प्रमाणप्र० कारि० ८। १२ फले इत्या-आ०, ब०, ज०। १३-पत्तिः आ०, भां०। १४ अर्थप्रमितौ। १५-देव तत्रास्य ब०, ज०,-देव तत्राप्यस्य भां०। १६-ण्यं परीक्षादक्षैः भां०।

निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति बौद्धस्य पूर्वपक्षः-

प्रत्यक्षरूपं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, अनुमानरूपं तु सविकल्पकम्। तत्र प्रत्यक्षलक्षणम्–"*प्रत्यक्षं*[1] *कल्पनापोढमभ्रान्तम्*" [न्यायबि० पृ० ११] इति। "*अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना*[2]" [न्यायबि० पृ० १३] ततोऽपोढम्। न हि प्रत्यक्षेऽभिलापसंसृष्टार्थग्रहणं संभवति, तद्विषये[3] सङ्केत-व्यवहारकालाऽननुयायिनि शब्दसन्निवेशाऽसंभवात्। यः[4] सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दो निवेश्यते यथा उत्पन्नमात्रप्रध्वंसिनि कचिदर्थे, नान्वेति[5] च नियतदेशकालाकारं स्वलक्षणं देशान्तरादाविति। अतः कथं तद्विशिष्टार्थग्रहणं[6] प्रत्यक्षेण यतः सविकल्पकं तत्स्यात्? यो यत्र शब्दो न निवेशितो न तद्विशिष्टस्य तस्य ग्रहणं यथा अनिवेशिताऽश्वशब्दस्य [7]गोद्रव्यस्य नाऽश्वशब्दविशिष्टस्य ग्रहणम्, अनिवेशितश्च स्वलक्षणे कश्चिदपि शब्द इति।

किञ्च, अतीताद्यर्थं स्ववाचकसंसर्गेण विकल्पयतः पुरोवर्तिनि रूपादौ यदोत्पद्यते ज्ञानं तस्य कथं सविकल्पकता वर्तमानार्थनामसंसर्गस्य तदाऽनुपलब्धेः? अर्थे[8] च शब्दानामसंभवात् तत्तादात्म्याभावाच्च कथमर्थप्रभवे ज्ञानेऽजनकस्य शब्दस्य आकारसंसर्गः? यद् यस्याऽजनकं

---

१ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्, यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितम्।" न्यायप्रवेश पृ० ७। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥ ३ ॥" प्रमाणस० पृ० ८। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमभिलापिनी। प्रतीतिः कल्पना क्लृप्तिहेतुत्वाद्यात्मिका न तु ॥ १२१४ ॥" तत्त्वसं० पृ० ३६६। "केचित्तु स्वयूथ्या एव अभ्रान्तग्रहणं नेच्छन्ति, भ्रान्तस्यापि पीतशङ्खादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्; तथा हि-न तदनुमानम् अलिङ्गजत्वात्, प्रमाणञ्च अविसंवादित्वात्। अतएव आचार्यदिङ्नागेन लक्षणे न कृतमभ्रान्तग्रहणम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ३९४। २ "अथ कल्पना च कीदृशी? चेदाह-नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देन जात्या गौरयम् इति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणी इति।" प्रमाणस० टी० पृ० १२। "वैभाषिकाः इन्द्रियविज्ञानं वितर्कविचारचैतसिकसंप्रयुक्तं कल्पनामिच्छन्ति। योगाचारमतेन च तथागतज्ञानमद्वयं मुक्त्वा सर्वं ज्ञानं ग्राह्यग्राहकत्वेन विकल्पितं कल्पना। जात्यादिसंसृष्टं तु मनोज्ञानं कल्पना इत्यन्ये कथयन्ति।" न्यायबि० टी० टि० पृ० २१। "कल्पना हि जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकृतो वाग्बुद्धिविकल्पः।" तत्त्वार्थरा० पृ० ३९। ३ प्रत्यक्षविषये स्वलक्षणे। ४ "तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते। सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिवियोगतः ॥ ८७२ ॥" तत्त्वसं०। "न च स्वलक्षणस्य सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति, तस्मान्न तत्र समयः" तत्त्वसं० पं० पृ० २७७। ५ "व्यक्त्यात्मानोऽनुयन्त्येते न परस्पररूपतः। देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः ॥ ८७३ ॥ तस्मात् सङ्केतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते।" तत्त्वसं० पृ० २७७। ६ शब्दविशिष्टार्थ। ७ गोशब्दस्य आ०। ८ "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा अव्युत्पन्नस्यापि प्रतीतिप्रसङ्गात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५३१, न्यायवा० ता० टी० पृ० १३३। "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्निति वचनात्।" न्यायप्रवेशवृ० पृ० ३५। अष्टसह० पृ० ११८। सिद्धिवि० टी० पृ० ७५ उ०।

न तत् तस्याकारमनुविधत्ते यथा रसादुत्पन्नं रसज्ञानं[1] नाऽजनकस्य रूपादेः, नीलाद्यर्थादेवोत्पन्नञ्चेन्द्रियज्ञानं[2]मिति। ततो यदेव ज्ञानमर्थसंसृष्टं वाचकत्वेन शब्दं प्रतिपद्यते तदेव सविकल्पकम्, नान्यत्। अत एव योगिज्ञानमनेकशब्दार्थप्रतिभासमपि योजनाऽभावान्न सविकल्पकम्, विशेषणविशिष्टार्थग्रहणाभावाच्च अविकल्पकं प्रत्यक्षम्। न खलु विशेषणविशिष्टता प्रत्यक्षेण ग्रहीतुं शक्या, तुल्यकालस्याऽर्थद्वयस्य तत्र प्रतिभासनात्। न च स्वरूपमात्रेण प्रतीयमानयोः विशेषणविशेष्यभावः; अतिप्रसङ्गात्। प्रयोगः–यद् यदर्थसाक्षात्करणप्रवृत्त(त्तं)ज्ञानं तत् तत्स्वरूपव्यतिरिक्त-विशेषणविशेष्याकार-तत्संयोजनास्वभाव-कल्पनाकारं न भवति, यथा रूपाद्याकारप्रवृत्तचक्षुरादिज्ञानम् अविषयीकृतगन्धादिविशेषणयोजनाकारं न भवति, तथा च सर्वं स्वविषयप्रवृत्तं ज्ञानमिति।

तच्च इत्थम्भूतं प्रत्यक्षम् स्वसंवेदन-इन्द्रिय-मनो-योगिप्रत्यक्षविकल्पाच्चतुर्धा भिद्यते। तत्र *"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्"* [न्यायबि० पृ० १६] *"इन्द्रियार्थसमनन्तरप्रत्ययप्रभवम् इन्द्रियप्रत्यक्षम्"* [ ] *"स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनःप्रत्यक्षम्"* [न्यायबि० पृ० १८] *"भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षम्"* [न्यायबि० पृ० २०] इति।

निर्विकल्पकनिरसन-पुरस्सरं सविकल्पक-प्रामाण्यव्यवस्थापनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[3]–'कल्पनापोढम्' इत्यादि; तत्र केयं कल्पना[4]–अभिलापवत्प्रतिभासः, निश्चयः, जात्याद्युल्लेखः, अस्पष्टाकारता, अर्थसन्निधिनिरपेक्षता, अनक्षप्रभवता, धर्मान्तरारोपो वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; प्रतिभासस्याऽभिलापव[5]त्त्वानुपपत्तेः। तद्धि तत्स्वभावत्वात्, तद्धेतुत्वाद्वा स्यात्? न तावत्तत्स्वभावत्वात्; चेतनाऽचेतनयोः विरुद्धधर्माध्यासतः तादात्म्याऽसंभवात्। ययोर्विरुद्धधर्माध्यासः न तयोस्तादात्म्यम् यथा जलाऽनलयोः, विरुद्धधर्माध्यासश्च चेतनाऽचेतनरूपतया शब्द-ज्ञानयोरिति। अतः तत्स्वभावशून्यतया प्रत्यक्षस्याऽविकल्पकत्वसाधने सिद्धसाधनम्। नापि तद्धेतुत्वात्; तद्धि तज्जन्यत्वम्, तज्जनकत्वम्, उभयं वा? तज्जन्यत्वेन तद्वत्त्वे, श्रोत्रज्ञानस्य अविकल्पकत्वं न स्यात्, तस्याऽभिलापप्रभवतया तद्वत्त्वप्रसङ्गात्। तज्जनकत्वात्तद्वत्त्वे, प्रकृति-प्रत्ययादिप्रत्यक्षस्य

१ रासनज्ञानं ज०। २–ज्ञानं ततो आ०, ब०, ज०। ३ पृ० ४६ पं० २। ४–ल्पना नाम–भां०। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति केचन। तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाऽथवा ॥ ८ ॥ स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः। अभिलापवती वित्तिः तद्योग्या वाऽपि सा यतः ॥ ९ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। "का चेयं कल्पना नाम-ज्ञानस्य स्मरणानन्तरभावित्वम्, शब्दाकारानुविद्धत्वं वा, जात्याद्युल्लेखो वा, असदर्थविषयत्वं वा,। अन्यापेक्षतया अर्थस्वरूपावधारणं वा, उपचारमात्रं वा?" प्रमेयक० पृ० १८ उ०। ५–वत्तानु– आ०।

सविकल्पकत्वं स्यात्। उभयपक्षेऽपि उभयदोषानुषङ्गः, एकत्रोभयरूपताविरोधश्च। अतः अभिलापवत्प्रतिभासस्य[1] कल्पनालक्षणत्वाऽनुपपत्तेः 'यो यत्र शब्दो न निवेशितः' इत्यादि प्रत्याख्यातम्।

अथ निश्चयः कल्पनोच्यते;[2] सत्यमेतत्; तद्रहितत्वं तु[3] प्रत्यक्षस्याऽसत्यम्; प्रमाणस्याऽनिश्चयात्मकत्वानुपपत्तेः; तथाहि–प्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकं प्रमाणत्वाद् अनुमानवत्। यत्पुनः स्वयमनिश्चितस्वरूपम् अर्थाऽनिश्चयात्मकञ्च न तत्प्रमाणम्, यथा पुरुषान्तरज्ञानं संशयादिज्ञानं[4]च। न खलु स्वार्थाऽव्यवसायात्मकत्वं विहाय आत्मान्तरज्ञानस्य संशयादेश्चाऽप्रामाण्ये अन्यन्निबन्धनमस्ति, तच्च[5] परैः प्रत्यक्षे प्रतिज्ञायमानम् अप्रामाण्यमन्वाकर्षति। निश्चयो हि संशयादिव्यवच्छेदेन अर्थस्वरूपावधारणम्, तद्रूपता च प्रमाणस्य प्रमाणशब्दस्य[6] निरुक्त्यैवाऽवसीयते। तथाहि–प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनाऽर्थः तत् प्रमाणम्, न चैतन्निर्विकल्पके संभवतीति कथं तत्र प्रमाणशब्दस्यापि प्रवृत्तिः? व्यवहाराऽनुपयोगित्वाच्च न तत्[7] प्रमाणम्, यद्व्यवहारानुपयोगि न तत् प्रमाणम् यथा गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनम्, तथा च[8] परपरिकल्पितं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमिति। व्यवहारञ्चाङ्गीकृत्य भवद्भिः प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते, "*प्रामाण्यं व्यवहारेण*"[9] [प्रमाणवा० २।५] इत्याद्यभिधानात्। न चाऽविकल्पकस्य प्रवृत्त्यादिव्यवहारप्रसाधकत्वमस्ति; स्वार्थाऽनिश्चायकात्[10] ततोऽनध्यवसायादिवद् व्यवहारिणां क्वचित्प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेः।

[11]ननु निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षं व्यतिरिक्तविकल्पोत्पादकत्वतः प्रवर्तकत्वात् प्रमाणतां प्रतिपद्यते; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; तस्याऽविदितस्वरूपस्य सन्निकर्षादविशेषप्रसङ्गात्, तस्यापि[12] हि इत्थं प्रवर्तकत्वमुपपद्यते। न च चेतनाऽचेतनत्वकृतस्तयोर्विशेषः[13]; निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यापि चेतनत्वाऽप्रसिद्धेः। परनिरपेक्षतया स्वरूपोपदर्शकं हि चेतनमुच्यते, न चाऽविकल्पकाध्यक्षं स्वप्नेऽपि तथा[14] स्वरूपमुपदर्शयतीति कथं तच्चेतनं यतः सन्निकर्षाद्विशिष्येत? अतः तद्विशेष-

---

१–सत्त्वस्य ज०। २ "स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात् कल्पना यदि सम्मता। तदा लक्षणमेतत् स्यादसम्भाव्येव सर्वथा ॥ १२ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। ३ तु तत्प्र–भां०। ४–नं वा–ब०, ज०। ५ स्वार्थाऽव्यवसायात्मकत्वम्। ६–शब्दनिरु–ब०, ज०, भां०। ७ निर्विकल्पकम्। ८–चेदं प–ब०, ज०, भां०। ९ "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम्। अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम् ॥" प्रमाणवा० २।५। १० अविकल्पकात्। ११ "तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति। अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाऽव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम्, तथा च प्रमाणफलम् अर्थाधिगमरूपत्वमनिष्पन्नम्, अतः साधकतमत्वाभावात् प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम्।" न्यायवि० टी० पृ० २७। "अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्। निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥ १३०६ ॥" तत्त्वसं० पृ० ३९०। १२ सन्निकर्षस्यापि। १३–तनकृतः–आ०, ब०, ज०। १४ परनिरपेक्षतया।

मिच्छता व्यवसायात्मकं तत् प्रतिपत्तव्यम्, निर्व्यापारस्य अननुभूयमानस्वरूपस्यास्य अपरप्रकारेण सन्निकर्षाद् भेदाऽप्रसिद्धेः।

ननु 'पश्यामि' इत्येवंभूतो विकल्प एवाऽध्यक्षस्य व्यापारः, तत्कथं निर्व्यापारता ? इत्यप्यसुन्दरम्; तद्व्यवसायात्मकत्वप्रसङ्गात्। न खलु व्यापारः तद्वतो भिन्नो भवद्भिरङ्गीक्रियते; तत्स्वभावत्वात्तस्य। अथ तत्कार्यत्वात् ततो भिन्नोऽसौ; कथं तर्हि तद्व्यापारः ? न हि पुत्रः पितुर्व्यापारो भवति। अस्तु वा; तथापि–यदि अविकल्पकाध्यक्षे व्यवसायस्वभावता न स्यात् तदा तत्प्रभवविकल्पेऽपि कुतोऽसौ स्यात् ? स हि बोधरूपतया, विलक्षणसामग्रीप्रभवतया वा व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्यात् ? यदि बोधरूपतया; तदाऽसौ प्रत्यक्षेऽप्यस्ति, इति तदपि व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्यात्। तद्विशेषेऽपि 'यस्य साक्षादर्थे ग्रहणव्यापारः तन्न निश्चिनोति, यस्य तु तद्व्यापारोपजीवित्वम् असौ निश्चिनोति' इति असेः कोशस्य तीक्ष्णता। विलक्षणसामग्रीप्रभवता च अनयोः भेदे सिद्धे सिद्ध्येत्, न च विकल्पव्यतिरेकेण अविकल्पकस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रसिद्धम्। एकमेव हीदं स्वार्थव्यवसायात्मकमिन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं विज्ञानमनुभूयते, न तत्र स्वरूपभेदः सामग्रीभेदो वा कश्चित् कदाचित् कस्यचित् प्रतिभाति अन्यत्र महामोहाक्रान्तान्तःकरणात् सौगतात्। कथञ्चैवं बुद्धिचैतन्ययोर्भेदं प्रतिवर्णयन् साङ्ख्यः प्रतिक्षिप्येत ? विकल्पाऽविकल्पयोरिव अनयोरप्रतिपन्नस्वरूपयोरपि अभ्युपगममात्राद् भेदसिद्धिप्रसङ्गात्। तयोरेकत्वाध्यवसायाद् भेदेनाऽप्रतिपत्तिरित्यपि उभयत्र समानम्।

किञ्च, उभयोर्भेदेन स्वरूपसंवित्तौ अन्यस्य अन्यत्राऽध्यारोपाद् एकत्वाध्यवसायो युक्तः अग्निमाणवकवत्, न च विकल्पाऽविकल्पयोः क्वचित् कदाचित् कस्यचित् संवित्तिरस्ति इत्युक्तम्। एकत्वाध्यवसायश्च अनयोः अन्यतरस्मात्, अन्यतो वा स्यात् ? अन्यतरस्माच्चेत्; किं विकल्पात्, निर्विकल्पकाद्वा ? न तावन्निर्विकल्पकात्; तस्य परामर्शशून्यतया एकत्वाध्यवसायाऽसमर्थत्वात्। नापि विकल्पात्; तस्य निर्विकल्पकाऽविषयत्वात्। यद् यद्विषयं न भवति न तत् तस्य केनचिदेकत्वमध्यवस्यति, यथा घटविषयं विज्ञानं परमाण्वविषयत्वान्न तस्य घटादिना एकत्वमध्यवस्यति, निर्विकल्पकाऽविषयश्चेदं विकल्पज्ञानमिति। तद्विषयत्वे वा स्वलक्षण-

१ "अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाऽभेदात् सुषुप्तचैतन्यवत्। सन्निधानं हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षः।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७५। २ बोधरूपताऽविशेषेऽपि। ३ निर्विकल्पकस्य। ४ निर्विकल्पकव्यापार। ५ विकल्पः। ६ निर्विकल्पक-सविकल्पकयोः। ७ "कथञ्चैवं कापिलानां बुद्धिचैतन्ययोर्भेदोऽनुपलभ्यमानोऽपि न स्यात् ?" प्रमेयक० पृ० ८ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ७९। ८ "तदेकत्वं हि दर्शनमध्यवस्यति, तत्पृष्ठजो व्यवसायो वा, ज्ञानान्तरं वा ?" प्रमाणपरी० पृ० ५३। प्रमेयक० पृ० ९ उ०। सन्मति० टी० पृ० ५००। "कोऽयं तदध्यारोपो नाम ? दृश्यप्राप्ययोरेकत्वग्रहणम् इति चेत्; न, तर्हि इदं प्रत्यक्षतः संभवति; तस्य स्वलक्षणपर्यवसितवस्तुविषयत्वेन अभ्यनुज्ञानात्।"...न्यायवि० वि० पृ० ५४ उ०। ९ परमाणोः।

विषयत्वं विकल्पानामपि स्यात्। अन्यतोऽपि पूर्वज्ञानात्, उत्तरज्ञानात्, अन्वितरूपात्प्रतिपत्तुर्वा तदेकत्वाध्यवसायः स्यात् ? न तावत्पूर्वज्ञानात्; तस्य[1] तत्काले प्रध्वस्तत्वात्। नापि उत्तरज्ञानात्; तत्काले तयोरभावात्। तथैव[2] तद्द्वयस्यापि निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा सतोर्न तदेकत्वाध्यवसायहेतुत्वं युक्तम्; उभयत्रोभयदोषानुषङ्गात्। नाप्यन्वितरूपात्प्रतिपत्तुः तदेकत्वाध्यवसायः; तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्। ततः प्रतीतितो वस्तुव्यवस्थामभ्युपगच्छता एकमेवानुभवसिद्धस्वार्थव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं प्रतिपत्तव्यम्, स्वपरपरिच्छित्तेः सकलव्यवहारिणा[3]ञ्च तन्मु[4]खप्रेक्षित्वात्। तस्यैव 'अविकल्पकम्' इति नामान्तरकरणे न किञ्चिदनिष्टम्, संज्ञाभेदस्य अर्थभेदाऽप्रसाधकत्वात्। 'जात्याद्युल्लेखः कल्पना' इत्यप्येवं[5]विरुद्धम्; जात्यादीनां विशेषणविशेष्यभूतानां परमार्थसतां व्यामोहविच्छेदेनावसायस्य कल्पनात्वोपपत्तेः।

यदप्युक्तम्[6]-'यद् यदर्थसाक्षात्कारप्रवृत्तं ज्ञानम्' इत्यादि; तत्र कोऽयं विशेषणविशेष्याद्याकारो नाम योऽर्थसाक्षात्करणप्रवृत्ते ज्ञाने प्रतिषिद्ध्येत्-प्रतिबिम्बम्, उल्लेखो वा ? प्रतिबिम्बञ्चेत्; सिद्धसाध्यता, ज्ञाने तत्प्रतिषेधस्य अस्माभिरप्यभ्युपगमात्, सकलज्ञानानां निराकार[7]त्वप्रतिज्ञानात्। अथ उल्लेखः; तन्निषेधोऽनुपपन्नः; प्रमाणस्य यथावस्थितार्थस्वरूपोद्योतकत्वात्, तत्स्वरूपञ्च जात्यादिविशिष्टं 'गौः' 'शुक्लः' 'चरति' इत्यादिप्रत्ययात् प्रसिद्धम्। न खलु प्रतीयमानस्याऽपलापो युक्तः; सर्वत्राऽनाश्वासप्रसङ्गात्। जात्यादिसद्भावः तद्विशिष्टत्वञ्च अर्थानां विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्यते इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अथ अस्पष्टाकारता[8] विकल्पस्वरूपम्, तच्चास्य विकल्पकत्वादेव सिद्ध्यति; तथाहि-यत् सविकल्पकं ज्ञानं तदस्पष्टम् यथा अनुमानम्, तथाचेदं विवादापन्नं ज्ञानम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्[9]; निर्विकल्पकत्व-सविकल्पकत्वाभ्यां ज्ञानानां स्पष्टत्वाऽस्पष्टत्वयोरप्रसिद्धेः, स्वसामग्रीविशेषादेव तेषां तत्प्रसिद्धेः। कथमन्यथा प्रत्ययत्वात् प्रत्यक्षमपि अनुमानवदस्पष्टं न स्यात् ? अन्योन्याश्रयश्च; अस्पष्टाकारत्वे हि सिद्धे सविकल्पकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अस्पष्टाकारत्वसिद्धिरिति। किञ्च, अस्य अस्पष्टता विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वात्, एकत्वपरामर्शित्वात्, परोक्षाकारोल्लेखित्वाद्वा स्यात् ? तत्र आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; वस्तुस्वरूपस्य अस्पष्टत्वाऽहेतुत्वात्। यत्

१ पूर्वज्ञानस्य निर्विकल्पकसविकल्पककाले। २ तथैतद्द्वयस्यापि ब०, ज०। ३-हाराणा- ब०, ज०। ४ स्वार्थव्यवसायात्मकप्रत्यक्ष। ५ "न च जात्यादिरूपत्वमर्थस्याऽसिद्धमञ्जसा। निर्बाधबोधविध्वस्तसमस्ताऽऽरेकितत्त्वतः ॥ १९ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६। ६ पृ० ४७ पं० ६। ७-कारित्व-ज०। ८ "विकल्पज्ञानं हि सङ्केतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णत् शब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात्। सङ्केतकालदृष्टत्वञ्च सङ्केतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्। यथा च पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं सम्प्रत्यसत् तद्वत्पूर्वविनष्टज्ञानविषयत्वमपि सम्प्रति नास्ति वस्तुनः, तद् असद्रूपं वस्तुनो गृह्णद् असन्निहितार्थग्राहित्वात् अस्फुटाभम्। अस्फुटाभत्वादेव च सविकल्पकम्।" न्यायवि० टी० पृ० २१। ९-तम् विकल्पत्वाविकल्पत्वाभ्याम् भां०।

खलु वस्तुस्वरूपं तत्राऽस्पष्टत्वहेतुः यथा नीलत्वादि, वस्तुस्वरूपञ्च विशेषणविशिष्टत्वादिकमिति । परोक्षाकारोल्लेखित्वञ्च यत्रास्ति तत्र अस्पष्टत्वमप्यस्तु, नान्यत्र । न हि सर्वत्र विकल्पः परोक्ष एवार्थे प्रवर्तते; वर्तमाने पुरोवर्तिन्यप्यर्थे स्पष्टाकारोल्लेखमुखेन तत्प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

नापि अर्थसन्निधिनिरपेक्षता विकल्पलक्षणम्; पुरोवर्तिन्यर्थे सत्येव अस्येदन्तया प्रवृत्तेः, न हि ईदृशो विकल्पोऽसन्निहितेऽर्थे संभवति । अतश्च सन्निहितार्थलक्षणत्वेऽपि यदि अस्याऽप्रत्यक्षता, न किञ्चित् प्रत्यक्षं स्यात् ।

नापि अनक्षप्रभवता तल्लक्षणम्; अक्षाऽन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वतः अक्षप्रभवत्वस्यात्रैवावसायात्, न हि निर्विकल्पकम् अक्षव्यापारानन्तरं कदाचिदप्युपलभ्यते । अर्थसाक्षात्कारिणश्चास्याऽक्षप्रभवत्वं भवति । न चाऽविकल्पस्य तत्साक्षात्कारित्वं संभवति; स्वरूपेणाप्यस्याऽप्रसिद्धत्वात् । यत् स्वरूपेणाऽप्रसिद्धं न तद् अर्थसाक्षात्कारि यथा वन्ध्यास्तनन्धयविज्ञानम्, स्वरूपेणाप्रसिद्धञ्च अविकल्पकत्वाभिमतं विज्ञानमिति ।

धर्मान्तरारोपोऽपि न तल्लक्षणम्; विकल्पे हि कस्य धर्मान्तरमारोप्यते ? निर्विकल्पकस्य चेत्; किं तद्धर्मान्तरम् ? वैशद्यञ्चेत्; 'वन्ध्यासुतसम्बन्धि तत् तत्रारोप्यते' इत्यपि किन्न स्यात् ? 'तस्य तद्धर्माधारतयाऽप्रसिद्धेः कथं तत् तत्रारोप्यते' इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु निर्विकल्पमपि प्रामाणिकस्य अनन्यमनसो विस्फारिताक्षस्य तद्धर्माधारतया कदाचिदपि प्रसिद्धम्, इति अक्षव्यापारप्रभवं वैशद्याध्यासितं स्वार्थसाक्षात्कारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं प्रतिपत्तव्यम् । ततो भवत्परिकल्पितप्रत्यक्षलक्षणस्याऽनुपपत्तेः 'स्वसंवेदनेन्द्रिय' इत्यादिना तद्भेदोपवर्णनम् आकाशकुशेशयसौरभव्यावर्णनप्रख्यमित्युपेक्षते ।

---

१ "कुतः पुनरेतद् विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यत इति ? अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात् ।" न्यायवि० पृ० १५ । २ विकल्पस्य । ३-णश्चाक्ष-ब०, ज०, भां० । ४ निर्विकल्पकस्य । ५ विकल्पलक्षणम् । ६ वैशद्यारोपस्य भङ्ग्यन्तरेण विस्तृतचर्चा न्यायविनिश्चयटीकायाम् (पृ० ४२-४७) द्रष्टव्याम् । ७ वन्ध्यासुतसमन्वितं न चारोप्यते ब०, ज० । ८ वैशद्यम् । ९ विकल्पे । १० वन्ध्यासुतस्य वैशद्यधर्माधारतया । ११ बौद्धसम्मतं केवल निर्विकल्पकप्रामाण्यपक्षं वैयाकरणसम्मतं केवलसविकल्पकप्रामाण्यपक्षञ्च निराकृत्य निर्विकल्पकसविकल्पकोभयप्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं कुमारिलेन चर्चा कृतास्ति मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० ८६-१४५ । सैव चर्चा वाचस्पतिमिश्रेण न्यायवा० ता० टीकायाम् (पृ० १३३-१३७) भट्टजयन्तेन न्यायमञ्जर्याम् (पृ० ९२-१००) श्रीधराचार्येण च प्रशस्तपा० कन्दल्यां (पृ० १८९-१९४) भङ्ग्यन्तरेण विस्तरमुपनीता दृश्यते । सामान्यतो निर्विकल्पकप्रामाण्यप्रत्यवस्थानं प्रकरणपञ्जिकायाम् (पृ० ४७-५१) द्रष्टव्यम् । "प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् । विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो न तावकद्वेषिणि वीर सत्यम् ॥ २२ ॥" इत्यनेन प्रतिविहितं युक्त्यनुशासने निर्विकल्पकलक्षणम् । निर्विकल्पकस्य विविधरीत्या खण्डनं तु-तत्त्वार्थरा० पृ० ३९ । अनेका० प० पृ० २०७ । सिद्धिवि० टी० प्रत्यक्षसि० पृ० ३२ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणपरी० पृ० ५३ ।

एतदेवाह–'न वै' इत्यादि। न वै नैव ज्ञानमित्येव ज्ञानमित्येतावतैव प्रमाणम्। कुत एतत्? अतिप्रसङ्गात्। अतिप्रसङ्गमेव दर्शयति 'संव्यवहार' इत्यादिना। समीचीनः सङ्गतो वा वादिप्रतिवादिनोऽविप्रतिपत्तिभूतो व्यवहारः हेयोपादेययोर्हानोपादानलक्षणः संज्ञानादिलक्षणो वा, तत्र अनुपयोगिनः। कस्य? ज्ञानस्य। पुनरपि कथम्भूतस्य? इत्यत्राह–'संशय' इत्यादि। 'इयं शुक्तिका रजतं वा' इति ज्ञानं संशयः। 'रजते शुक्तिका' इति, 'शुक्तिकायां रजतम्' इति वा ज्ञानं विपर्ययः। तत्कारणस्य तत्कारणत्वादेव तदनुपयोगिनः भावाऽविरोधात् सत्त्वाऽविरोधात्। अयमर्थः–यथा संशयादिहेतोर्ज्ञानस्य ज्ञानत्वे सत्यपि संव्यवहारानुपयोगित्वान्न प्रामाण्यम्, तथा भवत्परिकल्पितनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यापि।

विवृतिव्याख्यानम्–

अत्र वादिनां विवेकाख्याति-अख्याति-असत्ख्याति-प्रसिद्धार्थख्याति-आत्मख्याति-प्रसिद्धार्थख्याति-सदसत्त्वाद्यनिर्वचनीयार्थख्याति-अलौकिकार्थख्याति-विपरीतार्थख्यातिरूपा विप्रतिपत्तयः सन्ति। तत्र–

विपर्ययज्ञाने विवेकाऽख्यातिवादिनः प्राभाकरस्य पूर्वपक्षः–

प्रभाकरमतानुसारिणो विवेकाऽख्यातिं विपर्ययज्ञाने प्रतिपन्नाः। तथाहि–'इदं रजतम्' इत्यन्योन्यं[2] विभिन्नं ज्ञानद्वयं प्रत्यक्ष-स्मरणरूपम् विभिन्नकारणप्रभवत्वाद् विभिन्नविषयत्वाच्च सिद्ध्यत्येव। इन्द्रियं हि इदमंशोल्लेखिनः प्रत्यक्षस्य कारणम्, संस्कारश्च स्मरणस्य, इति सिद्धमत्र विभिन्नकारणप्रभवत्वम्। ययोश्च विभिन्नकारणप्रभवत्वं तयोरन्योन्यं भेदः यथा प्रत्यक्षानुमानयोः, विभिन्नकारणप्रभवत्वञ्च 'इदम्' 'रजतम्' इति ज्ञानद्वयस्य। विभिन्नविषयत्वञ्चात्र सुप्रसिद्धम्–'इदम्' इति ज्ञानस्य पुरोवर्तिशुक्तिशकलावलम्बनत्वात्, 'रजतम्' इति ज्ञानस्य च व्यवहितरजतविषयत्वात्। यत्र च विभिन्नविषयत्वं तत्रान्योन्यं भेदः यथा रूप-रसादिज्ञाने, अस्ति च विभिन्नविषयत्वम् 'इदं रजतम्' इति ज्ञाने इति। इत्थं प्रत्यक्षात् स्मृतिर्विभिन्नापि 'प्रमुष्टा' इति न विवेकेन प्रतिभासते इत्यविवेकख्यातिः, न तु एकमेवेदं ज्ञानम्; तथात्वेन तदुत्पत्तौ कारणाऽभावात्। तत्र हि कारणम्-इन्द्रियम्, अन्यद्वा? न तावदन्यत्; उपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियम्; तद्धि रजतसदृशे शुक्तिशकले सम्प्रयुक्तं सत् तत्र निर्विकल्पकमुपजनयत् सविकल्पकमपि तत्रैवोपजनयेत् न रजते; तस्य इन्द्रियेणाऽसम्बन्धाद् अवर्तमानत्वाच्च।

प्रमेयक० पृ० ८ उ०। न्यायवि० वि० पृ० ३८४ पू०। सन्मति० टी० पृ० ४९९। स्या० रत्ना० पृ० ७६। रत्नाकराव० पृ० १८। शास्त्रवा० टी० पृ० १५६। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

१ विपर्ययविषये। २–न्य वि–भां०। ३ "विज्ञानद्वयञ्चैतद् इदमिति प्रत्यक्षं रजतमिति स्मरणम्।" बृह० टी० पृ० ५१। प्रकरणपं० पृ० ४३। ४ "न ह्यन्यसम्प्रयुक्ते चक्षुष्यन्यालम्बनस्य ज्ञानस्य उत्पत्तिः संभवति अन्धस्याऽनुत्पादात्।" बृह० पृ० ५०। "न हि तदिन्द्रियजम् तेन सम्प्रयोगाऽभावात्, असंयुक्ते च इन्द्रियं विज्ञानं न जनयति" बृह० टी० पृ० ५१। प्रकरणपं० पृ० ३४।

न चाऽसम्बद्धमवर्तमानञ्चेन्द्रियग्राह्यम् "*सम्बद्धं वर्त्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना*" [मीमां० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४] इत्यभिधानात्। अन्यथा विप्रकृष्टाऽशेषार्थानामपि तद्ग्राह्यत्वप्रसङ्गतोऽनुपायसिद्धमशेषस्य अशेषज्ञत्वं स्यात्। न च दोषाणामयं महिमा इत्यभिधातव्यम्; यतः कोऽयं तन्महिमा नाम–इन्द्रियशक्तेः प्रतिबन्धः, तत्प्रध्वंसः, विपरीतज्ञानाविर्भावो वा ? तत्र आद्यविकल्पद्वयमयुक्तम्; कार्यानुत्पादप्रसङ्गात्, न हि मणिमन्त्रादिना दहनशक्तेः प्रतिबन्धे प्रध्वंसे वा स्फोटादिकार्योत्पत्तिर्दृष्टा। तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; न खलु दुष्टा यवा विपरीतं कार्यमाविर्भावयन्तः प्रतीयन्ते। अतः ज्ञानद्वयमेतत्–'इदम्' इति हि प्रत्यक्षं पुरोऽव्यवस्थितार्थग्राहि, 'रजतम्' इति च अनुभूतरजतस्मरणमिति। रजताकारा हि प्रतीती रजतविषयैव न शुक्तिविषया, अन्याकारायाः प्रतीतेः अन्यविषयत्वाऽयोगात्, तद्योगे वा सर्वं ज्ञानं सर्वविषयं स्यात्, इति सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तिः। प्रयोगः–यद् यदाकारं ज्ञानं तत् तद्विषयमेव यथा घटाकारं घटविषयमेव, रजताकारञ्चेदं ज्ञानमिति। यदि च अन्याकारापि प्रतीतिः अन्यविषया स्यात्, तदा अस्याः स्वार्थव्यभिचारतः सर्वत्राप्यनाश्वासान्न क्वचित् कस्यचित् प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कुतश्चित् इत्यशेषव्यवहारोच्छेदः। ततः रजताकारं ज्ञानं रजतविषयमेवाभ्युपगन्तव्यम्। न च रजतमग्रतः सन्निहितम्, अतोऽतीतमेव तत् तदा स्मर्यत इति। न तज्ज्ञानं प्रत्यक्षम्; इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजत्वाऽभावात्, अगृहीतरजतस्य 'इदं रजतम्' इति प्रत्ययानुत्पत्तेश्च। यदि हि तत्प्रत्यक्षं स्यात् तदाऽगृहीतरजतस्यापि इन्द्रियव्यापारात् तदुत्पद्येत।

ननु यदि अतीतं रजतं स्मर्यते तदाऽतीतस्यास्य अतीततयैव प्रतिभासः स्यात्, न तु वर्तमानरजततुल्यतया; इत्यप्यपेशलम्; अतीतस्यापि रजतस्य दोषतोऽतीतत्वेनाऽप्रतिभासनात्, वर्तमानस्य च शुक्तिलक्षणार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं 'शुक्तिकेयम्' इति तल्लक्षणमर्थं सर्वरूपेण

१ 'सन्निहितं वर्त्तमानञ्च'……सिद्धिवि० टी० पृ० ४१३। '……गृह्यते चक्षुरादिभिः' अष्टसह० पृ० ४५। २ "यदि चाऽप्रत्यक्षमपि चक्षुरध्यक्षयति सर्वस्य सर्ववित्त्वं केन वार्येत?" प्रश० भा० कन्द० पृ० १८०। ३–बन्धं प्रध्व–आ०, ब०, ज०। ४ "युक्तञ्च दुष्टतायाः कार्याऽक्षमत्वं न पुनः कार्यान्तरसामर्थ्यम्।" बृहती पृ० ५३। "दौर्बल्यञ्च कार्याऽक्षमत्वं न कार्यान्तरोत्पत्तिसमर्थत्वम्।" बृहती पृ० ५७। ५ "इदं रजतमित्यत्र रजतञ्चाऽवभासते। तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥२४॥ तेनाऽन्यस्यान्यथा भानं प्रतीत्यैव पराहतम्। परस्मिन् भासमाने हि न परं भासते यतः ॥२५॥" प्रकरणपं० पृ० ३३। ६ "रजतप्रतिपत्तिश्च नेयमन्धस्य जायते। तेनेयमिन्द्रियाधीना संयुक्ते चेन्द्रियं धियम् ॥ १२ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३३। ७ विषयान्तरसादृश्यमवलम्ब्य अगृहीतविवेकं यत् ज्ञानमुत्पन्नं तत्सदृशविषयान्तरे स्मृतिहेतुतां प्रतिपद्यते 'स्मरामि' इति ज्ञानशून्यस्य।" बृहती पृ० ५१। "उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम् ॥ २६ ॥ शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद्भेदहेतवः। ते न ज्ञाता अभिभवाज् ज्ञाता सामान्यरूपता ॥ २७ ॥ अनन्तरञ्च रजते स्मृतिर्जाता तथापि च। मनोदोषात् तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम् ॥ २८ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३४। ८ स्वस्वरूपेण ज०।

प्रतिपत्तुमसमर्थम्। शुक्तित्वलक्षणविशेषणस्य रजताच्छुक्तेर्भेदकस्याऽग्रहणात्, साधारणात्मना तु रजतान्वयिना स्थितं वस्तु प्रतिपद्यमानं रजतस्मृतिविज्ञानस्य 'स्मरामि' इत्याकारशून्यस्य कारणतां प्रतिपद्यते। 'स्मरामि' इत्याकारशून्यत्वमेव चास्याः प्रमोषः। 'रजतमिदम्' इति सामानाधिकरण्यं समीचीनसन्निहितरजतप्रत्ययतुल्यव्यवहारत्वञ्चात्र न दुर्घटम्; भेदाऽग्रहतः तद्घटनात्। भेदाऽग्रहश्च त्रिप्रकारः; तथा हि–प्रकाश्ययोर्भेदो न गृह्यते, प्रकाशकयोः भेदो न गृह्यते, सम्यग्ज्ञानाच्च भेदो न गृह्यते इति च। न च स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमे रजतज्ञानस्य सत्यत्वात् उत्तरज्ञानेन बाध्यतानुपपत्तिरित्यभिधातव्यम्; 'शुक्तिकेयम्' इति भेदबुद्धौ भेदाऽनध्यवसायनिवारणेन पूर्वप्रत्ययप्रशंसितरजतोचितप्रवृत्त्यादिव्यवहारनिवारणतः तस्याः उपपत्तेः। ये तु स्मृतिप्रमोषमनिच्छन्तः शुक्तौ रजतप्रतिपत्तिं विपरीतख्यातिं प्रतिपद्यन्ते तेषां बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति; तद्दृष्टान्तेनाऽशेषप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गात्। यथैव हि रजतप्रत्ययो रजताऽभावेऽपि रजतमवभासयति तथा सर्वे बाह्यार्थप्रत्ययास्तदवभासिनः इत्यद्वैतवादिमतसिद्धिः स्यात्। तामनिच्छता तत्र स्मृतिप्रमोष एवाभ्युपगन्तव्य इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[10]—'विभिन्नकारणप्रभवत्वात्' इत्यादि; तत्र किं

---

१ "शुक्तिकायां रजतज्ञानं 'स्मरामि' इति प्रमोषात् स्मृतिज्ञानमुक्तं युक्तं रजतादिषु।" बृहती पृ० ५३। "स्मरामि इति ज्ञानशून्यानि स्मृतिज्ञानान्येतानि।" बृहती पृ० ५५। २ "ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकाऽनवभासिनी ॥ ३३ ॥ सम्यग्रजतबोधात्तु भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः। तथापि भिन्ने नाऽभातः भेदाऽग्रहप्रमत्वतः ॥ ३४ ॥ सम्यग्रजतबोधश्च समक्षैकार्थगोचरः। ततो भिन्ने अबुद्ध्वा तु स्मरणग्रहणे इमे ॥३५॥ समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः। व्यवहारोऽपि तत्तुल्यः तत एव प्रवर्तते ॥३७॥ स्मरणेन च संवित्तेः भेदस्याऽग्रहणेन च।" प्रकरणपं० पृ० ३४। "तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्त्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च भेदाऽग्रहात् सन्निहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येण 'इदम्' 'रजतम्' इति भिन्ने अपि स्मरण-ग्रहणे अभेदव्यवहारं सामानाधिकरण्यव्यपदेशञ्च प्रवर्तयतः।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८। भामती पृ० १४। ३-हारकत्व-भां०। ४ "बाधकप्रत्ययस्यापि बाधकत्वमतो मतम् ॥ ३९ ॥ प्रसज्यमानरजतव्यवहारनिवारणात् ॥ ४० ॥ तत्तुल्यव्यवहारप्रसक्तिरपि युज्यते चातः। तद्विनिवारणकरणाद् बाधकता बाधकस्याऽपि ॥ ४३ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३५। "भेदाऽग्रहप्रसञ्जिताऽभेदव्यवहारबाधनाच्च नेदं रजतमिति विवेकप्रत्ययस्य बाधकत्वमपि उपपद्यते।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८। भामती पृ० १४। ५-निराकरणेन भां०। ६ तस्यानुपपत्तेः ब०; ज०। ७ "ये तु विवेकाऽख्यातिद्विषन्तः शुक्तौ रजतप्रतीतिं ख्यापन्ति न ते सद्ख्यातिविदः, इत्थं हि तेषां बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति" स्या० रत्ना० पृ० १०७। ८-रीतार्थख्या-भां०। ९ 'सोऽयं स्मृतिप्रमोषः तत्त्वाऽग्रहणम् अख्यातिरुच्यते, ते एते ग्रहणस्मरणे विविक्ते अपि विविक्ततया न गृह्येते इति विवेकाऽग्रहणम् अख्यातिः' (न्याय मं० पृ० १७१) इत्यादिना भट्टजयन्ताः स्मृतिप्रमोषम् अख्यातिपदेन व्यपदिशन्ति। अन्ये च वाचस्पतिमिश्रप्रमुखाः भामत्यादौ विवेकाऽख्यातिपदेन। १० पृ० ५२ पं० १४।

स्मृतिप्रमोषापर-पर्यायायाः विवेकाख्यातेः प्रतिविधानम्–

कारणभेदमात्रात् कार्यभेदः प्रसाध्यते, सामग्रीभेदाद्वा ? प्रथमपक्षे न किञ्चिदेकं ज्ञानं स्यात्, आलोकेन्द्रियादिभिरनेकैः कारणैर्जन्यमानस्य घटादिज्ञानस्याप्यनेकत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; सामग्रीभेदस्यात्राऽसंभवात्, चक्षुरादिकारणकलापस्यैकस्यैव तत्कारणत्वात्। कार्यभेदकल्प्यत्वाच्च तद्भेदस्य, न चात्र कार्यभेदोऽस्ति। ननु 'रजतमिदम्' इति स्मृतिप्रत्यक्षरूपः कार्यभेदोऽत्र विद्यत एव, अतः सामग्रीभेदः कल्प्यत इति चेत्; न; अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्–सिद्धे हि सामग्रीभेदे 'रजतमिदम्' इत्यत्र स्मृतिप्रत्यक्षरूपतया कार्यभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सामग्रीभेदसिद्धिरिति।

एतेन 'ययोर्विभिन्नकारणप्रभवत्वम्' इत्याद्यनुमानं प्रत्युक्तम्; तयोर्हि भेदे सिद्धे विभिन्नकारणप्रभवत्वं सिद्ध्येत, तत्सिद्धौ च तयोर्भेदः सिद्ध्येदिति। तथा च 'इन्द्रियं हि प्रत्यक्षस्य कारणम्' इत्यादिस्वप्रक्रियाप्रदर्शनमनुपपन्नम्। यदि चान्यत्र इन्द्रियसंस्कारयोः स्मृतिप्रत्यक्षकारणत्वेन प्रतिपन्नत्वाद् अत्रापि तत्कार्यभेद इष्यते; तर्हि प्रत्यभिज्ञानस्यापि एकत्वं न स्यात् संस्कारेन्द्रियप्रभवत्वाऽविशेषात्। अथात्र कार्यस्यैक्यदर्शनात् तावत्येकैव सामग्री कल्प्यते; तदितरत्र समानम्। तथा च 'नैकमेवेदं ज्ञानं कारणाभावात्' इत्याद्ययुक्तम्; चक्षुरादिसामग्र्या एव तत्कारणत्वात्। न च कार्यप्रतीतौ कारणाभावाऽऽशङ्का युक्ता, तत्प्रतीतेरेव तत्सद्भावप्रसिद्धेः। न खलु निर्हेतुका कार्यस्योत्पत्तिरुपलब्धचरी। तन्न कारणभेदादस्य भेदः।

नापि विषयभेदात्; शुक्तिशकलस्यैकस्यैव एतज्ज्ञानविषयत्वात्। पुरोवर्तमानं हि शुक्तिशकलं चक्षुरादयः काचकामलादिदोषोपनिपाताद् रजतरूपतया दर्शयन्ति। कथमन्यथा शुक्तिसन्निधानानपेक्षस्तज्ज्ञानस्य आविर्भावो न भवेत् ? तर्हि तत्र कारणतामात्रेण व्याप्रियेत, विषयतया वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सत्यरजते चक्षुराद्यभाव इव शुक्तिशकलाभावेऽपि रजतज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। द्वितीयविकल्पे तु सिद्धं शुक्तिविषयत्वं तज्ज्ञानस्य। एकार्थविषयमेकमेव हि 'इदं रजतम्' इति ज्ञानमनुभूयते, इदंशब्दो ह्यत्र पुरोवर्तितामात्रं परामृशति, रजतशब्दस्तु रजतरूपतामात्रं न पुनर्विषयान्तरम्, तदत्र ज्ञाने कथं भेदाशङ्का स्यात् ? सत्यरजतज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात्, तयोः स्वरूपमात्रप्रतिभासे विशेषाभावात्।

यच्चान्यत्–'दोषैरिन्द्रियशक्तेः प्रतिवन्धः प्रध्वंसो वा' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; यतो "नं तैस्तस्याः प्रतिवन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते, किन्तु स्वसन्निधाने 'रजतमिदम्' इति ज्ञानमेवोत्पाद्यते"। दोषाणां चायमेव महिमा यदविद्यमानेऽप्यर्थे ज्ञानोत्पादकत्वन्नाम।

---

१ "तत्र विभिन्नकारणजन्यत्वादिभ्यः सामग्र्यन्तर्गताऽनेककारणभेदात् प्रस्तुतकार्यभेदः सिसाधयिषितः, सामग्रीभेदाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १०९। २–लापस्यैव त–आ०, भां०। ३ सामग्रीभेदस्य। ४ कार्यप्रतीतेरेव। ५ कारणसद्भाव। ६ शुक्तिशकलं। ७–त्वं ज्ञानस्य भां०। रजतज्ञानस्य। ह्यदन्यत्र भां०। ९ पृ० ५३ पं० ४। १० "न दोषैः शक्तेः प्रतिवन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते" प्रमेयक० पृ० १५ पू०। ११–त्पद्यते आ०, ब०।

यदप्युक्तम्[1]–'न खलु दुष्टा यवाः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतो दुष्टस्य अयमेव धर्मो यत्कार्यानुत्पादकत्वं विपरीतकार्योत्पादकत्वं वा दुष्टभृत्यवत्, तच्चोभयमपि यवादावस्त्येव अङ्कुरलक्षणकार्यानुत्पादकत्वस्य उपयुक्तानामुदरव्यथादिविपरीतकार्योत्पादकत्वस्य च प्रतीतेः। 'ननु दुष्टस्य कार्योत्पादकत्वं विरुद्धम्[2]' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्; तस्य हि अविपरीतकार्योत्पादकत्वं विरुद्धं न पुनर्विपरीतकार्योत्पादकत्वम्। अथ कार्योत्पादकत्वमात्रमपि तत्र विरुद्धम्; तर्हि कथं ततः स्मृतिप्रमोपलक्षणकार्योत्पादः स्यात्? ततः युक्तो दोषतो विपरीतज्ञानस्य शुक्तिशकलविषयतयोत्पादः। अतो न विषयभेदात्तज्ज्ञानस्य भेदः। पञ्चाङ्गुलादिज्ञानेन अनेकान्ताच्च; न खलु विषयभेदेऽप्यस्य[3] भेदः संभवतीति।

किञ्च, रजतज्ञानस्य शुक्तिशकलाऽविषयत्वे किं निर्विषयत्वम्, अतीतरजतविषयत्वं वा स्यात्? न तावन्निर्विषयत्वम्; 'रजतमिदम्' इति विषयोल्लेखप्रतीतेः। नाप्यतीतरजतविषयत्वम्; अतीततयैव तत्र रजतप्रतिभासप्रसङ्गात्, तथा च तत्प्राप्त्यर्थिनाम् अतः प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति; अतीतस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्। अतः[4] वर्तमानपुरोवर्तिशुक्तिशकलविषयमेव तज्ज्ञानं प्रतिपत्तव्यं तत्रैव प्रवृत्तिहेतुत्वात्, यद् यत्रैव प्रवृत्तिहेतुः तत् तद्विषयमेव यथा सत्यरजते रजतज्ञानम्, वर्तमाने पुरोवर्तिन्येव शुक्तिशकले प्रवृत्तिहेतुश्चेदं ज्ञानमिति। अथ अतीतरजतविषयत्वेऽप्यस्य दोषतोऽतीतस्य रजतस्य शुक्तिकातो भेदाऽग्रहणात् तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वम्; तन्न; भेदाऽग्रहमात्रस्य पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः, पुरोवर्तितया रजतप्रतिभासो हि तत्प्रवृत्तिहेतुः न पुनर्भेदाऽग्रहः। अथ अतीतरजतविषयत्वेऽप्यस्य रजतप्रतिभासस्य पुरोवर्तिसत्यरजतप्रतिभासतुल्यत्वात् पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वम्, तत्तुल्यता च ततो भेदानवसायः इति चेत्; नन्वेवं वर्तमानानवभासितया अतीतरजतावभासिज्ञानतुल्यताप्यस्यास्ति इति तत्तुल्यतया[5] तदप्रवृत्तिहेतुताऽप्यस्य स्याद् अविशेषात्[6]। तथा[7] चाऽयं रजतज्ञानवान् पुरोवर्तिनि शुक्तिशकललक्षणेऽर्थे प्रवर्तेत निवर्तेत वा युगपत्परस्परविरुद्धक्रियाद्वयमापन्नः किं कुर्यात्? न च 'तत्तुल्यताऽविशेषेऽपि[8] एकत्र स्वोचितव्यवहारप्रवर्तकत्वं नान्यत्र' इत्यभिधातुं युक्तम्; अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात्। ततः शुक्तिशकलस्यैव 'रजतमिदम्' इत्येतज्ज्ञानविषयता प्रतिपत्तव्या। इति न विषयभेदादपि अस्य ज्ञानस्य भेदः।

अथ विभिन्नाकारत्वात् तत्र तद्भेदः[9] प्रसाध्यते; तदयुक्तम्; यतो[10] नाऽऽकारभेदादपि तद्भेदः चित्रज्ञानेन प्रत्यभिज्ञानेन[11] चानेकान्तात्, तद्धि अनेकाकाराक्रान्तमपि एकमेव[12], एवम् 'रजत-

१ पृ० ५३ पं० ६। २–रुद्धमप्यनेन भां०। ३ पञ्चाङ्गुलादिज्ञानस्य। ४ "तत्सिद्धमेतद् विवादाध्यासितं रजतादिविज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयं रजतार्थिनः तत्र नियमेन प्रवर्त्तकत्वात्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ९०। ५ अतीतरजतावभासिज्ञानतुल्यतया। ६ अतिविशेषात् भां०। ७ यथा भां०। ८ 'पुरोवर्तिसत्यरजतप्रतिभासः अतीतरजतावभासिज्ञानञ्च' एतदुभयतुल्यता। ९ ज्ञानभेदः। १० "यतो नाकारभेदादपि ज्ञानस्य भेदः संगच्छते; प्रत्यभिज्ञानेन व्यभिचारात्" स्या० रत्ना० पृ० ११५। ११–ज्ञानेनानेनचा–ब०, ज०। १२ एकमेवं रज–ब०, ज०। एकमेव रज–भां०।

मिदम्' इत्यादिज्ञानमपि । अतः तज्ज्ञानस्य कुतश्चिद्भेदाऽप्रसिद्धेः एकत्वमेवाभ्युपगन्तव्यं तथैव तत्स्वरूपप्रकाशनात्; यस्य यथैव स्वरूपं प्रकाशते तत् तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा सत्यरजतादौ 'रजतमिदम्' इत्यादिज्ञानस्यैकत्वेन प्रकाशमानं स्वरूपम् एकत्वेनैवाभ्युपगम्यते, एकत्वेनैव प्रकाशते च शुक्तिकाशकले 'रजतमिदम्' इति ज्ञानस्य स्वरूपमिति । न हि प्रतिभासकृतं विशेषमुभयत्र कञ्चित्पश्यामः, येन एकत्रैकं ज्ञानम् अन्यत्र तु द्वयं प्रतिपद्यामहे । एतत्तु-स्यात्–एकं प्रमाणं यथावस्थितवस्तुस्वरूपग्राहित्वात्, अपरं त्वप्रमाणं तद्विपर्ययादिति ।

अस्तु वा ज्ञानद्वयम्; तथापि युगपत्, क्रमेण वाऽस्योत्पत्तिः स्यात् ? न तावद्युगपत्; ज्ञान-यौगपद्यप्रसङ्गात्, 'करणस्य क्रमेणैव ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यम्' इत्यभ्युपगमक्षतिप्रसङ्गाच्च । क्रमेणोत्पत्तावपि 'इदम्' इति प्रत्यक्षात् पूर्वम्, उत्तरत्र वा रजतस्मृतिः स्यात् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तदा स्मृतिबीजस्य संस्कारस्य प्रबोधकप्रत्ययाऽपायात् । प्रबुद्धे च संस्कारे स्मृतिरुत्पद्यते नाप्रबुद्धे अतिप्रसङ्गात् । अथ निर्विकल्पकात् तत्संस्कारप्रबोधः; तर्हि सविकल्पकेन सह रजत-स्मृतेर्यौगपद्यप्रसङ्गात् सैवाभ्युपगमक्षतिः । 'न च निर्विकल्पकं ज्ञानं कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्धम्' इत्युक्तं सविकल्पकसिद्धौ । अथ पश्चादुत्पद्यते; तन्न; यस्मात् 'इदम्' इति प्रत्यक्षात् पश्चादुत्पद्यमानं रजतज्ञानं निरुद्धव्यापारेऽपि चक्षुषि उत्पद्येत, तथा च निमीलिताक्षस्यापि तज्ज्ञानानुभवः स्यात् । प्रतीतिविरुद्धा च तत्क्रमोत्पत्तिः, न खलु पूर्वं पुरोवर्तिशुक्तिशकलं गृहीत्वा पश्चाद् रजतं स्मरामि इति तत्संवेदनयोः स्वप्नेऽपि क्रमप्रतीतिरस्ति, रजतात्मकं पुरोवर्ति वस्तु सकृदेव प्रतिभाति इत्यखिलजनानां प्रतीतेः, अन्यथा बाधकोपनिपाते सति 'नेदं रजतम्' इति तादात्म्यप्रतिषेधो न स्याद् अप्रसक्तत्वात्तस्य । अस्ति चायम्–अङ्गुलिनिर्देशेन शुक्तिशकलस्य रजततया प्रतिषेधप्रतीतेः । अतः यद् यत्र प्रतिषिध्यते तत् तत्र प्रसक्तम् यथा क्वचित्प्रदेशे घटः, प्रतिषिध्यते च पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले रजतमिति ।

नन्वेवमपि घट-भूतलयोरिव शुक्ति-रजतयोः संयोगनिषेधो भविष्यति; इत्यप्यसुन्दरम्; तद्वदत्र वैयधिकरण्याऽप्रतीतेः, न खलु यथा 'नास्त्यत्र घटः' इति वैयधिकरण्यप्रतीतिः तथा 'नेदं रजतम्' इत्यत्रापि । यत्र च वैयधिकरण्यप्रतीतिर्नास्ति न तत्र संयोगनिषेधः यथा 'नेदं नीलम्' इत्यादौ, नास्ति च 'इदं रजतम्' इत्यादौ वैयधिकरण्यप्रतीतिरिति । यथैव हि अद्वैत-वादिना विश्वस्यैकत्वमभ्युपगच्छता पीतस्य नीलात्मकत्वं यदारोपितं तदेव 'नेदं नीलम्' इत्यनेन प्रतिषिध्यते, तथा शुक्ति-रजतयोर्यत् तादात्म्यं पूर्वविज्ञानेनारोपितं तदेव 'नेदं रजतम्' इत्यनेन बाधकेन अपनीयते, नतु इदमंशो रजतांशो वा निषिध्यते । तथा च सतः शुक्तिशकलस्य या रजतात्मकताप्रतीतिः सा अवस्थितरूपविरुद्धत्वाद् विपरीतख्यातिः न पुनः स्मृतिप्रमोषः ।

१ सत्यरजतज्ञाने मिथ्यारजतज्ञाने च । २ सत्यरजतज्ञाने । ३ मिथ्यारजतज्ञाने । ४ "तस्य किं यौगपद्येन पर्यायेण वा प्रादुर्भावः स्यात् ?" स्या० रत्ना० पृ० ११९ । ५ पृ० ४९ पं० ११ । ६ तत्प्रमोत्पत्तिः भां० । ७–तापि तस्य भां०, आ० । ८–क्तिकाश–भां० । ९ सा च स्थित–ब०, ज० ।

किञ्च, [1]कोऽयं स्मृतेः प्रमोषो नाम–विनाशः, प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायः, प्रत्यक्षरूपतापत्तिः, तदित्यंशस्यानुभवः, तिरोभावमात्रं वा ? यदि विनाशः; तदा साध्यसाधनसम्बन्धस्मृतेः साध्यप्रतिपत्तिकाले विनाशात् तत्रापि स्मृतिप्रमोषः स्यात्। अथ प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायोऽस्याः प्रमोषः; ननु कुतस्तयोरेकत्वाध्यवसायः–विषयैकत्वाध्यवसायात्, स्वरूपैकत्वाध्यवसायाद्वा ? प्रथमविकल्पे कोऽयं विषयैकत्वाध्यवसायो नाम ? अन्यतरविषयस्यान्यतरविषये आरोपश्चेत्; किं प्रत्यक्षविषयस्य स्मृतिविषये, तद्विषयस्य वा प्रत्यक्षविषये आरोपः स्यात् ? तत्राद्यपक्षे स्मर्यमाणरजतदेशे स्पष्टतया शुक्तिकायाः प्रतिभासः स्यान्न तु 'इदम्' इत्युल्लेखेन पुरोवर्तितया, तत्रारोप्यमाणत्वात्, यत्र यदारोप्यते तस्य तद्देशे प्रतिभासो भवति यथा मरीचिकायामारोप्यमाणस्य जलस्य[2] मरीचिकादेशे[3], स्मृतिविषये रजते आरोप्यते च प्रत्यक्ष[4]विषया शुक्तिकेति। द्वितीयपक्षे तु इदन्त[5]या शुक्तिकायाः स्पष्टः प्रतिभासो न प्राप्नोति, तत्रारोप्यमाणस्य स्मृतिविषयस्याऽस्पष्टत्वात्। तन्न विषयैकत्वाध्यवसायात् स्मृतेः प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायो युक्तः।

नापि स्वरूपैकत्वाध्यवसायात्; स हि ताभ्यामेव विधीयते, अन्येन वा ? न तावत्ताभ्यामेव; अस्वसंविदितस्वभावयोः स्मृति-प्रत्यक्षयोः स्वरूपमात्राध्यवसायेऽप्यसामर्थ्ये अन्येन सहैकत्वाध्यवसाये सामर्थ्यानुपपत्तेः। ना[6]प्यन्येन ज्ञानान्तरेण तदेकत्वाध्यवसायः; तस्यापि अस्वसंविदितस्वभावस्य स्वरूपमात्रस्यापि वार्तानभिज्ञस्य[7] अन्येनैकत्वाध्यवसायवार्ताभिज्ञताऽनुपपत्तेः। किञ्च, तेन तद्द्वयस्य प्रतीतस्य एकत्वमध्यवसीयते, अप्रतीतस्य वा ? न तावत्प्रतीतस्य; द्वयप्रतीतौ तदेकत्वाध्यवसायविरोधात्। नाप्यप्रतीतस्य; अतिप्रसङ्गात्। अथ[8] यदैव तद्द्वयं प्रतीयन्ते[9] न[10] तदैव तदेकत्वाध्यवसायो येन विरोधः स्यात्, किन्तु पूर्वं तद्द्वयं प्रतीत्य पश्चादेकत्वेनाध्यवसीयत इति; तदयुक्तम्; संवेदनस्य क्षणिकत्वेन एतावन्तं कालमवस्थित्यनुपपत्तेः। तन्न प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायः स्मृतेः प्रमोषः।

---

१ "कोऽयं विप्रमोषो नाम–किमनुभवाकारस्वीकरणम्, स्मरणाकारप्रध्वंसो वा, पूर्वार्थगृहीतित्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाजत्वं वा ?" तत्त्वो० पृ० २५। "कश्चाय स्मृतेः प्रमोषः ? स्मृतेरभावः, अन्यावभासो वा स्यात्, विपरीताकारवेदित्वं वा, अतीतकालस्य वर्त्तमानतया ग्रहणं वा, अनुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेन उत्पादो वा ?" प्रमेयक० पृ० १५ उ०। "किं स्मृतेरभावः, उत अन्यावभासः, आहोस्विदन्याकारवेदित्वम् इति विकल्पाः।" सन्मति०टी०पृ०२८। "किं प्रध्वंसः, उत प्रत्यक्षेण सह एकत्वाध्यवसायः, आहोस्वित् प्रत्यक्षरूपतापत्तिः, उतचित् तदित्यंशस्य अननुभवः, तिरोभावमात्रं वा भवेत् ?" स्या० रत्ना० पृ० १२०। २ 'जलस्य' इति शब्द आदर्शे टिप्पण्यां पतितः। ३ विपर्यैकादेशे ब०, ज०। ४–क्षविषयतः शु–भां०। ५–न्तया स्पष्टः आ०। ६ नानेन ज्ञा–भां०। ७–ज्ञस्याऽन्यस्य अन्ये–ब०, ज०, भां०। ८ अथ न यदैव भां०। ९–ते तदैव भां०। १० न तदेक–आ०।

नापि प्रत्यक्षरूपतापत्तिः; तद्रूपतापत्तौ हि तस्याः स्मृतिरूपतापरित्यागात् प्रत्यक्षरूपतैव स्यान्न स्मृतिरूपता, तत्कथमस्याः प्रमोषः? अन्यथा मृत्पिण्डस्यापि घटरूपतापत्तौ मृत्पिण्डरूपतापरित्यागेऽपि मृत्पिण्डत्वप्रसङ्गात् मृत्पिण्डप्रमोषोऽपि स्यात्, प्रत्यक्षबाधा उभयत्र समाना। अथ 'तत्' इत्यंशस्याननुभवः स्मृतेः प्रमोषः, 'तद्रजतम्' इत्याकारा हि प्रतीतिः स्मृतिः, तच्छब्दस्य अनुभूतपरोक्षार्थाभिधायकत्वात्, स यत्र नानुभूयते तत्र स्मृतिः 'प्रमुष्टा' इत्युच्यत इति; तदसाम्प्रतम्; रजताकारस्याप्यनुभवाभावप्रसङ्गात्, 'तद्रजतम्' इति हि रजतांशसम्वलितमेकमेवेदं स्मरणं भवतेष्यते, तत्र तच्छब्दस्य प्रमोषे रजतांशस्यापि प्रमोषः स्यात् निरंशस्यैकदेशेन प्रमोषानुपपत्तेः।

किञ्च, 'प्रमोषः' इत्यत्र प्रशब्देन कोऽर्थोऽभिधीयते–एकदेशापहारः, सर्वापहारो वा? न तावदेकदेशापहारः; तत्रास्य प्रयोगवैयर्थ्यात्। एकदेशेन हि चौरैर्द्रव्यापहारे मोषशब्द एव लोके प्रयुज्यते, अतः सर्वापहार एव अस्यार्थो युक्तः 'प्रकृष्टो मोषः प्रमोषः' इति। मोषस्य चायं प्रकर्षो यत् सर्वात्मना वस्तुनोऽपहार इति। एवञ्च स्ववचनविरोधः; 'स्मृतिरस्ति, किन्तु प्रमुष्टा' इति। यदि हि सा अस्ति; कथं प्रमुष्टा? प्रमुष्टा चेत्; कथमस्ति इति?

तिरोभावोऽपि ज्ञानयौगपद्ये सिद्धे सिद्ध्येत, न च भवतस्तत्सिद्धम् अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। किञ्च, अस्यास्तिरोभावः कार्याऽकर्तृत्वम्, आवृतत्वम्, अभिभूतस्वरूपाया अवस्थानं वा? प्रथमपक्षे किं तस्याः कार्यम्, यदकर्तृत्वात् तत्तिरोभावः स्यात्? परिच्छित्तिश्चेत्; सा तत्रास्त्येव, रजतपरिच्छित्तेरत्रानुभूयमानत्वात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; ज्ञानस्य आव्रियमाणत्वानुपपत्तेः। चिरस्थायिनो हि पदार्थस्याव्रियमाणत्वं दृष्टम्, नच ज्ञानं चिरस्थायितया केनचिद् दृष्टमिष्टं वा। तृतीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; बलवता हि दुर्बलस्य स्वरूपाभिभवो दृष्टः, यथा सवित्रा तारानिकुरम्बस्य। दुर्बलत्वञ्चास्याः अतीतविषयत्वात्, बाध्यमानत्वाद्वा? प्रथमविकल्पे स्मृतिवार्तोच्छेदः, सर्वस्याः स्मृतेरतीतविषयतया दुर्बलत्वतो वर्तमानवस्तुप्रतिभासिज्ञानेन स्वरूपाभिभवप्रसङ्गात्। बाध्यमानत्वं तु विपरीतख्यातिव्यतिरेकेण नोपपद्यते इत्युक्तम्। अतः स्मृतिप्रमोषानुबन्धं परित्यज्य सैवाभ्युपगन्तव्या।

यदप्युक्तम्–'विपरीतख्यात्यभ्युपगमे बाह्यार्थसिद्धिर्न स्यात्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; असत्यप्रत्ययानाम् अर्थाऽनालम्बनत्वेऽपि सत्यप्रत्ययानां तदालम्बनत्वप्रसिद्धेः। सत्येतरव्यवस्था

१ "तद्रजतम् इत्याकारा हि प्रतीतिः स्मृतिः, तच्छब्दस्य अनुभूतपरोक्षार्थाऽऽलम्बनत्वात्। स यत्र नानुभूयते तत्र स्मृतिः प्रमुष्टा इत्यभिधीयते इति।" स्या० रत्ना० पृ० १२१। २ स्मृतिः प्रमोषस्य अनुभूतपरोक्षार्थाभिधायकतच्छब्दसंवलिताऽनुभूयते तत्र आ०, ब०, ज०। ३ "अपि च प्रमोषशब्दस्य कोऽर्थोऽभिप्रेतः प्रज्ञाशालिना–किमेकदेशापहारः सर्वापहारो वा?" स्या० रत्ना० पृ० १२२। ४ तत्राप्यस्य ब०। ५ यदि हि नास्ति कथं प्रमुष्टा चेत् कथमस्तीति भां०। ६–पद्ये सिद्ध्येत् ब०, ज०। ७ विपरीतख्यातिरेव। ८ पृ० ५४ पं० १०।

च प्रत्ययानां साधकबाधकप्रमाणसद्भावात् सुप्रसिद्धेति। एतच्च विस्तरतो बाह्यार्थसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादयिष्यते इत्यलमतिप्रसङ्गेन। तदेवं[1] विवेकाख्यातिपक्षस्य विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तेर्नात्राग्रहः प्रेक्षादक्षैः कर्तव्य इति।

विपर्ययज्ञानेऽख्यातिवादिनश्चार्वाकस्य प्रतिविधानम्-

अपरे अख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि-'इदं रजतम्' इति ज्ञाने रजतसत्ता विषयभूता तावन्नास्ति; अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्[2]। रजताभावोऽपि न तदालम्बनम्; तद्विधिपरत्वेनास्य प्रवृत्तेः। अत एव शुक्तिशकलमपि न तदालम्बनम्। रजताकारेण शुक्तिशकलमालम्बनमित्यप्ययुक्तम्; अन्यस्य अन्याकारेण ग्रहणाऽप्रतीतेः, न खलु घटाकारेण पटस्य ग्रहणं प्रतीतम्। अतो न किञ्चिदत्र ज्ञाने ख्याति[3] इति सिद्धा अख्यातिः; तदसमीक्षिताभिधानम्; विशेषतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्, यत्र हि न किञ्चिदपि प्रतिभाति तत्केन विशेषेण रजतज्ञानमन्यद्वा व्यपदिश्येत?

का चेयमख्यातिः-किं ख्यातेरभावः, ईषत्ख्यातिर्वा? प्रथमपक्षे भ्रान्ति-सुषुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, प्रतिभासविशेषात्मकत्वे हि भ्रान्तेः सुषुप्तावस्थातो भेदः स्यान्नान्यथा। अथ ईषत्ख्यातिः अख्यातिः; ननु किमिदं ख्यातेरीषत्त्वम्? यथावस्थितार्थाऽप्रतिभासित्वमिति चेत्; तर्हि विपरीतार्थख्यातिरियं स्यान्न[4] तु अख्यातिः। तन्न अख्यातिपक्षोऽप्युपपन्नः।

विपर्ययज्ञाने असत्ख्यातिवादिनोः सौत्रान्तिकमाध्यमिकयोः निराकरणम्-

अपरे तु असत्ख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि-'इदं रजतम्' इति प्रतिभासमानं वस्तुस्वरूपं ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा स्यात्[5]? न तावज्ज्ञानधर्मः; अनहङ्कारास्पदत्वात्, बहिः इदन्तया प्रतिभासमानत्वाच्च। नाप्यर्थधर्मः; तत्साध्यार्थक्रियाकारित्वाऽभावात्, बाधकप्रत्ययेन तद्धर्मतयाऽस्य बाध्यमानत्वाच्च। अतः असदेव तत् तत्र प्रतिभातमिति असत्ख्यातिः; तदसमीक्षिताभिधानम्; असतः प्रख्योपाख्याविरहितस्य[6] खपुष्पादिवत् प्रतिभासाऽसंभवात्। विप्रतिषिद्धश्चैतत्

१ प्रथमं तावत् प्रभाकरगुरुणा 'स्मरामि इति स्मृतिप्रमोषात् प्रत्यक्षसम्मितं तत्' इत्यादिना शाबरभाष्यस्य बृहतीटीकायां (पृ० ५६) स्मृतिप्रमोषशब्दः प्रयुक्तः। ब्र० शाङ्करभाष्ये (पृ० १५) विवेकाग्रहपदेन, विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे (पृ० २८) न्यायमञ्जर्यां (पृ० १७९) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाञ्च (पृ० ८९) अख्यातिपदेन अस्य उल्लेखो वर्तते। अस्य च विविधरूपेण समीक्षा-तत्त्वोप० लि० पृ० २५। न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८। भामती पृ० १४। प्रशस्त० कन्द० पृ० १८०। न्यायमं० पृ० १७६। विवरणप्र० सं० पृ० २८। न्यायलीला० पृ० ४१। सर्वद० सं० द० १६ पं० ३४४। प्रमेयक० पृ० १४ उ०। सन्मति० टी० पृ० २८, ३७२। न्यायवि० वि० पृ० ३४ उ०। स्या० रत्ना० पृ० १०४। इत्यादिषु अवलोक्या। २ "जलावभासिनि ज्ञाने तावन्न जलसत्ता आलम्बनीभूताऽस्ति अभ्रान्तत्वप्रसङ्गात्" प्रमेयक० पृ० १३ उ०। स्या० रत्ना० पृ० १२४। ३ प्रतिभाति। ४ न पुनरख्यातिः भां०। ५ "इदं रजतम् इति प्रतिभासमानं वस्तु ज्ञानम्, अर्थो वा भवेत्?" स्या० रत्ना० पृ० १२५। ६-विरहित ख-ज०।

'असत्, प्रतिभाति च' इति । प्रतिभासमानत्वमेव हि सत्त्वं पदार्थानाम्। नहि सर्वथाऽसन्तः शशविषाणादयः स्वप्नेऽपि प्रतिभासन्ते । भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गश्च तन्निबन्धनाऽभावात्, नहि असत्ख्यातिवादिनो ज्ञानगतमर्थगतं वा वैचित्र्यमस्ति यन्निबन्धनाऽनेकप्रकारा भ्रान्तिः स्यात् ।

यदप्युक्तम्–'अर्थक्रियाकारित्वाभावात्' इति; तत्रापि किं ज्ञानसाध्यार्थक्रियाकारित्वाभावोऽभिप्रेतः, ज्ञेयसाध्यार्थक्रियाकारित्वाऽभावो वा ? तत्राद्यपक्षे ज्ञानधर्मतयैवास्य सत्त्वमनुपपन्नम्, न पुनः सर्वथा । नहि अन्यस्य अन्यसाध्यार्थक्रियाकारित्वाभावादसत्त्वम्; घटस्यापि पटसाध्यामर्थक्रियामकुर्वतोऽसत्त्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; जलहेतोरभिलापप्रवृत्त्याद्यर्थक्रियाकारित्वस्य तत्र संभवात् । कथमेवमस्य भ्रान्तता इति चेत् ? स्नानाद्यर्थक्रियाकारित्वाऽभावात् । द्विविधा हि अर्थक्रिया–अर्थमात्रनिबन्धना, सत्यार्थनिबन्धना चेति । तत्र अभिलापादिरूपा अर्थमात्रनिबन्धना । स्नानादिरूपा तु सत्यार्थनिबन्धना । अतः तत्कारिण एवार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमभ्रान्तं नान्यत् । ततः असत्ख्यातिपक्षोऽनुपपन्न एव ।

विपर्ययज्ञाने प्रसिद्धार्थख्यातिवादिनः सांख्यस्य पर्यालोचनम्–

अन्ये तु प्रसिद्धार्थख्यातिं प्रतिपन्नाः । तथाहि–प्रतीतिसिद्ध एवार्थो विपर्ययज्ञाने प्रतिभाति । न चास्य विचार्यमाणस्य असत्त्वं वाच्यम्; प्रतीतिव्यतिरेकेण अपरस्य विचारस्यैवासंभवात् । प्रतीति (त्य) बाधितत्वाच्च, न च तदप्रसिद्धेऽर्थे विचारो युक्तः, करतलगताऽऽमलकादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम्, स च प्रतिभासोऽन्यत्राप्यविशिष्टः । अथ मरीचिकाचक्रादौ जलाद्यर्थस्य प्रतिभातस्य तद्देशोपसर्पणे सति उत्तरकालं प्रतिभासाभावादसत्त्वम्; तदयुक्तम्; यतो यद्यपि उत्तरकालं सोऽर्थो न प्रतिभाति, तथापि यदा प्रतिभाति तदा तावदस्त्येव, अन्यथा विद्युदादेरपि स्वप्रतिभासकाले सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् । तस्मात् प्रसिद्धार्थख्यातिरेवेयमिति; तदविचारितरमणीयम्; भ्रान्ताऽभ्रान्तप्रतीतिव्यवहारवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात् । न खलु यथावस्थितार्थग्राहित्वाऽविशेषे 'काचित्प्रतीतिर्भ्रान्ता काचिच्चाऽभ्रान्ता' इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिर्युक्ता; स्वेच्छाकारित्वप्रसक्तेः । किञ्च, उत्तरकालमुदकादेरभावेऽपि तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरुपलम्भः स्यात् । नहि विद्युदादिवद् उदकादेरपि आशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते । तन्न प्रसिद्धार्थख्यातिपक्षोऽपि श्रेयान् ।

---

१ "भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गश्च; नहि असत्ख्यातिवादिनोऽर्थगतं ज्ञानगतं वा वैचित्र्यमस्ति येन अनेकप्रकारा भ्रान्तिः स्यात् ।" प्रमेयक० पृ० १४ पू० । २ पृ० ६० पं० १८ । ३ "द्विविधाहि अर्थक्रिया–अर्थमात्रनिबन्धना, अर्थविशेषनिबन्धना च ।" स्या० रत्ना० पृ० १२६ । ४ असत्ख्यातेः प्रतिविधानम्–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८६ । न्यायमं० पृ० १७७ । प्रमेयक० पृ० १४ पू० । स्या० रत्ना० पृ० १२५ । इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । ५ "नचास्य विचार्यमाणस्य असत्त्वं विचारस्य प्रतीतिव्यतिरेकेण अन्यस्य असंभवात्, प्रतीत्यबाधितत्वाच्च, करतलादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम् ।" प्रमेयक० पृ० १४ पू० । स्या० रत्ना० पृ०१२६ । ६ न तत्प्र–ब०, ज०, भां० । ७ प्रसिद्धार्थख्यातेः मीमांसा प्रमेयक० मार्त्तण्डे (पृ० १४ पू०) स्या० रत्नाकरे च (पृ० १२६) अवलोकनीया ।

विपर्ययज्ञाने आत्मख्याति-वादिनो योगाचारस्य खण्डनम्–

अन्ये च आत्मख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि–शुक्तिकायाम् 'इदं रजतम्' इति रजतं प्रतिभासते, तस्य च बाह्यस्य बाधकप्रत्ययात् प्रतिभासो नोपपद्यते। न खलु 'यथैव प्रतिभासते तथैवार्थः' इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम्; भ्रान्तत्वाऽभावप्रसङ्गात्। अतः ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्यावासनासामर्थ्याद् बहिरिव प्रतिभासते इत्यात्मख्यातिः; तदसमीचीनम्; यतः स्वरूपमात्रसंवित्रिष्ठत्वे अर्थाकारधारित्वे च सिद्धे ज्ञानस्य आत्मख्यातिः सिद्ध्येत, न च तत्सिद्धम्; उत्तरत्र उभयस्यास्य निराकरिष्यमाणत्वात्। स्वाकारमात्रग्राहित्वे च अखिलज्ञानानां भ्रान्ताऽभ्रान्तविवेकः बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, तत्र कस्यचिदपि व्यभिचाराऽभावात्। स्वात्मस्वरूपतया रजताद्याकारस्य संवेदने च 'अहं रजतम्' इति स्वात्मनिष्ठतयैव संवित्तिः स्यात्, न तु 'इदं रजतम्' इति बहिर्निष्ठतया। यत् स्वात्मरूपतया संवेद्यते न तत्र बहिर्निष्ठतया संवित्तिः यथा विज्ञानस्वरूपे, स्वात्मरूपतया संवेद्यते च आत्मख्यातिवादिमते रजताद्याकार इति। अथ अनाद्यविद्यावासनावशाद् बहिर्निष्ठत्वेनाऽसौ प्रतीयते; कथमेवं विपरीतख्यातिरेवेयं न स्यात्, ज्ञानादभिन्नस्य रजताद्याकारस्य अन्यथाऽध्यवसायात्?

किञ्च, विज्ञानाद्वैते ब्रह्माद्वैते वा इयमात्मख्यातिः स्यात्। तत्र द्विविधेऽप्यद्वये द्वयदर्शननिबन्धना कथं भ्रान्तिः स्यात्? अनाद्यविद्योपप्लववशादिति चेत्; ननु तत्रापि किं स्वरूपं प्रतिभाति, अन्यरूपं वा? यदि स्वरूपम्; कथं भ्रान्तिः? अथ अन्यरूपम्; कथमात्मख्यातिः? अथ आत्मरूपस्यैव भ्रान्तिवशादन्यरूपत्वेनाऽवभासनम्; नन्विदमितरेतराश्रयत्वम्, तथाहि–अन्यरूपावभासनाद् बुद्धेर्भ्रान्तित्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च अन्यरूपावभासनसिद्धिरिति। यदि च

ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वन्नेष्यते तर्हि यावद् रजताकारोल्लेखेन तद्भवति तावन्नीलाद्याकारोल्लेखेनापि कस्मान्न भवति नियामकाऽभावात् ? अथ अनाद्यविद्यावासनैव तन्नियामिका ; कथमेवं देशादिनियमेन तज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् ? अथ अविद्यायाः इदमेव माहात्म्यम्–यदसन्तमपि देशादिनियमं ज्ञाने दर्शयति इति चेत् ; नैवम् ; असत्ख्यातित्वप्रसङ्गात् ? कथञ्चात्मख्यातिवादिनः छेदाऽभिघातादिप्रतीतिः स्यात्, स्वरूपमात्रसंवित्तौ तदसंभवात् ? न खलु विज्ञानस्वरूपस्य सुखादेः संवित्तौ तत्प्रतीतिर्दृष्टा । तन्न आत्मख्यातिपक्षोऽप्युपपन्नः ।

विपर्ययज्ञाने अनिर्वचनीयार्थख्यातिं प्रतिपद्यमानस्य ब्रह्माद्वैतवादिनः प्रतिविधानम्–

केचित् पुनरनिर्वचनीयार्थख्यातिमत्र उररीकुर्वन्ति । तथाहि–शुक्तिकादौ रजताद्याकारः प्रतिभासमानः सन् स्यात्, असन्, उभयरूपो वा ? न तावत् सन् ; उत्तरकालं बाधकानुत्पत्तिप्रसङ्गतस्तद्बुद्धेरभ्रान्तत्वप्रसक्तेः । नाप्यसन् ; आकाशकुशेशयवत् प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् । नापि सदसद्रूपः ; उभयदोषानुषङ्गात्, सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च । तस्मादयं बुद्धिसन्दर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनोभयधर्मेण वा निर्वक्तुं न शक्यत इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः ; तदसमीक्षिताभिधानम् ; प्रतिभासमानस्यानिर्वचनीयख्यातित्वविरोधात् ; तथाहि–'ख्यातिः' इति किमयं 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रयोगः, 'ख्या प्रथने' इत्यस्य वा ? उभयत्र सतोऽसतश्च वचनीयता प्रतिभास्यता च घटत एव । सन् खलु सत्त्वेनावग्रहीतुं वक्तुञ्च यात्येव, अन्यथा घटादीनामपि अनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गः । असञ्चाऽसत्त्वेन; अन्यथा घटाद्यभावस्यापि अनिर्वचनीयतानुषङ्गः । यदि चानिर्वचनीयताऽङ्गीक्रियते तदा 'इदं रजतम्' इति ज्ञानस्य व्यपदेशस्य चानुत्पत्तिरेव स्यात् । सदैव हि पूर्वदृष्टं रजतं देशादिव्यवहितमपि सादृश्यवशात्तत्र प्रतिभाति, तस्मात् 'इदं तत्' इत्युल्लेख एव वचनीयता, तदनुल्लेख एव अवचनीयतेति । तन्न "अनिर्वचनीयार्थख्यातिपक्षोऽप्युपपन्नः ।

१ आत्मख्यातेः प्रकारान्तरेण प्रतिविधानम्–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८५ । भामती पृ० १४ । न्यायमं० पृ० १७८ । विवरणप्र० सं० पृ० ३४ । सर्वद० सं० द० १६ पं० ६०० । प्रमेयक० पृ० १४ पू० । स्या० रत्ना० पृ० १२८ । इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । २ सन् असन् आ० । ३–प्रसङ्गात् त–भां० । ४–द्धिदर्शि–आ० । ५ "तत्किं मरीचिषु तोयनिर्भासप्रत्ययः तत्त्वगोचरः तथा च समीचीन इति न भ्रान्तो नापि बाध्येत । अद्धा न बाध्येत यदि मरीची न तोयात्मतत्त्वा न तोयात्मना गृह्णीयात् । तोयात्मना तु गृह्णन् कथमभ्रान्तः कथं वाऽबाध्यः । हन्त तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावन्न सत्; तेषां तोयाभावादभेदेन तोयभावात्मतानुपपत्तेः। नाप्यसत् ;वस्त्वन्तरमेव वस्त्वन्तरस्य असत्त्वमास्थीयते......तस्मान्न सत् । नापि सदसत्; परस्परविरोधात् इत्यनिर्वाच्यमेव आरोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम् ।" भामती पृ० १३ । "प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् । गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः ॥" चित्सुखी पृ० ७९ । ६ "अपि च अनिर्वचनीयार्थख्यातिः इत्यत्र ख्यातिरिति किमयं 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रयोगः 'ख्या प्रथने' इत्यस्य वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १३३ । ७ स खलु ब०, ज० । ८ वक्तुं या–भां० । ९ घटास्वभा–ज० । १०–वस्य निर्व–भां० । ११ अनिर्वचनीयख्यातिवादस्य आलोचना–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८७ । प्रमेयक० पृ० १४ उ० । स्या०रत्ना० पृ० १३३ अन्येषु च द्वैतवादिग्रन्थेषु द्रष्टव्या ।

अपरमते अलौकिकार्थ-ख्यातिवादिनो निरासः—

अपरे अलौकिकार्थख्यातिं प्रतिपद्यन्ते। ते हि प्राहुः—यस्मादुक्तप्रकारेण ख्यात्यन्तराणि विचार्यमाणानि नोपपद्यन्ते तस्माद् अलौकिकस्यान्तर्बहिर्वाऽनिरूपितस्वरूपस्यार्थस्य ख्यातिरभ्युपगन्तव्या इति। तदविचारितरमणीयम्; यतः किमिदम् अलौकिकत्वं नाम अर्थस्य–किमन्यरूपत्वम्, अन्यक्रियाकारित्वम्, अन्यकारणप्रभवत्वम्, अकारणप्रभवत्वं वा? न तावद् अन्यरूपत्वम्; यादृशमेव हि सत्यस्य रूपं प्रतिभाति तादृशमेव असत्यस्यापि, अन्यरूपावभासित्वे च विपरीतख्यातेरेव 'अलौकिकार्थख्यातिः' इति नाम कृतं स्यात्। नाप्यन्यक्रियाकारित्वम्; अन्यस्य अन्यसाध्यक्रियाकारित्वे कारणान्तरपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्, एकस्मादेव कारणात् सकलकार्याणामुत्पत्तेः। एतेन अन्यकारणप्रभवत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तः। अकारणप्रभवत्वेऽपि सद्रूपत्वम्, असद्रूपत्वं वा अर्थस्य स्यात्? सद्रूपत्वे नित्यत्वप्रसङ्गः, सतः कारणादनुत्पद्यमानस्याऽनित्यत्वानुपपत्तेः। अथ असद्रूपः; कथम् 'इदं रजतम्' इति विधिरूपतया तत्प्रतीतिः? न खलु घटस्य असद्रूपत्वे 'अयं घटः' इति विधिरूपा प्रतीतिः स्वप्नेऽपि प्रतीयते। अथाऽसद्रूपस्याप्यर्थस्य कुतश्चिद् विभ्रमनिमित्तात् सद्रूपतया प्रतीतिः; तर्हि विपरीतार्थख्यातिरियम् नालौकिकार्थख्यातिः स्यात्। तन्नाऽलौकिकार्थख्यातिपक्षोऽपि श्रेयस्करः।

तदेवं शुक्तिकायां रजतज्ञाने परोपवर्णितख्यात्यन्तराणां विचार्यमाणानामनुपपत्तेः विपरीतख्यातिरेव अत्र प्रतिपत्तव्या।

विपरीतख्यातौ दोषापादनम्—

ननु विपरीतख्यातिरपि विचार्यमाणा नोपपद्यते। तथाहि–तस्याः किमालम्बनं रजतम्, शुक्तिका वा? यदि रजतम्; तदा असत्ख्यातिरियं स्यान्न विपरीतख्यातिः असतस्तत्र रजतस्य प्रतिभासनात्। अथ अन्यदेशकालं सदेव तत् तत्र प्रतिभाति अतो न तद्दोषः; तदयुक्तम्; एवं सति 'इदं रजतम्' इत्युल्लेखेन ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नहि अतद्देशकाले रजते असन्निकृष्टे चाक्षुषं ज्ञानं भवितुमर्हति, अन्यथा सर्वत्र तदुत्पत्तिप्रसक्तेर्विभ्रमस्यापि तद् ग्राहकं स्यात्। तन्न अस्याः रजतमालम्बनम्। नापि शुक्तिका; रजताकारेण उत्पद्यमानत्वात्, न च

१ "तत्र व्यवहारप्रवर्तनं लौकिकमुच्यते अन्यत् अलौकिकम् इति।" न्यायमं० पृ० १८७। "किम् अन्यस्वभावत्वमर्थस्य, अन्यार्थक्रियाकारित्वम्, अन्यकारणजन्यत्वम्, अकारणजन्यत्वं वा? स्या० रत्ना० पृ० १२५। २ 'अकारणप्रभवत्वम्' इति नास्ति भां०। ३ –रणत्व प्र–ब०, ज०। ४ अलौकिकार्थख्यातेः समीक्षा–न्यायमं० पृ० १८७। प्रशस्त० कन्द० पृ० १८१। स्या० रत्ना० पृ० १३५। इत्यादिषु द्रष्टव्या। ५ "तत्र यदि रजतमालम्बनं तदियमसत्ख्यातिरेव न विपरीतख्यातिः असतस्तत्र रजतस्य प्रतिभासनात्। अथान्यदेशकालं तदस्त्येवेत्यभिधीयते। इहासन्निहितस्यास्य तेन सत्त्वेन कोगुणः?" न्यायमं० पृ० १७६। "कलधौतमेव तन्नैवमसत्ख्यातिरेषा भवेत् न पुनर्विपरीतख्यातिः असतः कलधौतस्य प्रतीतेः।" स्या० रत्ना० पृ० १३६। ६ अतोऽयमदोषः भां०। ७ चाक्षुषं ज्ञानं।

अन्याकारायाः प्रतीतेः अन्यदालम्बनं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। शुक्तिकालम्बनत्वे चास्याः कथं भ्रान्तत्वं स्यादिति ?

तत्परिहारः—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[†]—'किमालम्बनम्' इत्यादि, तत्रास्तु तावद् रजतमेवालम्बनम्। नचैवमसत्ख्यातित्वप्रसङ्गः; देशान्तरादौ रजतस्य विद्यमानत्वात्। असत्ख्यातौ हि एकान्तेनाऽसतोऽर्थस्य प्रतिभासनमिष्यते, अत्र तु देशान्तरादौ सतः, इत्यनयोर्महान् विशेषः। ननु तत्रासतो रजतस्य चक्षुषाऽसन्निकृष्टस्य कथमिदन्तया प्रतिभासः स्यात् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; अतद्देशकालस्याप्यस्य दोषवशात् सन्निहिततया प्रतिभासविपर्ययतोपपत्तेः, अतएव तत्प्रतीतेर्विपरीतख्यातित्वम्। न चातद्देशकालस्यास्य ग्रहणे विश्वस्य ग्रहणप्रसङ्ग इत्यभिधातव्यम्; सदृशार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्यास्य प्रतिभासाभ्युपगमात्। नच विश्वस्य तदुपस्थापितत्वमस्ति, अतः कथं तद्ग्रहणाशङ्काऽपि ? तदुपस्थापनञ्च चेतसि परिस्फुरतोऽर्थस्य वहिरवभासनमुच्यते, न पुनः पशोरिव रज्ज्वा नियन्त्रितस्योपढौकनम्। न चैतावतेयम् आत्मख्यातिः असत्ख्यातिर्वा वक्तव्या; विज्ञानाद्विभिन्नस्यार्थस्य अत्रावभासनात्, अत्यन्ताऽसतोऽर्थस्य प्रतिभासाभावाच्च।

ननु 'रजतमिदम्' इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षरूपतया स्मृत्यनपेक्षत्वात् कथं तदुपस्थापितार्थावभासित्वम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षरूपत्वाऽभावात्तस्य, प्रत्यभिज्ञानस्वरूपं हि तत् दृष्ट-दृश्यमानार्थसङ्कलनात्मकत्वात् 'स एवायं देवदत्तः' इत्यादिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञानस्य च दर्शनस्मरणकारणकत्वात् युक्ता तदपेक्षा। न चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वाभ्युपगमे अपसिद्धान्तप्रसङ्गः; 'वृक्षोऽयम्' इत्यादिज्ञानानां प्रत्यभिज्ञानत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। ततः स्थितं स्मृत्युपस्थापितं रजतमस्याः प्रतीतेरालम्बनमिति, निगूहितनिजाकारा परिगृहीतरजताकारा शुक्तिकैव वा; त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावाद्धि सा निगूहितनिजाकारा, चाकचिक्यादिसदृशधर्म-

१ "शुक्तिकाप्रतीतौ तु शुक्तिरेव न रजतम् अत्र भ्रमार्थः कः ?" न्यायमं० पृ० १७७। स्या० रत्ना० पृ० १३७। २ "नन्वत्र चोदितम् असत्ख्यातिरेव सा भवेदिति; नैतत् साधु; देशान्तरादौ रजतस्य विद्यमानत्वात्। असत्ख्यातिपक्षे हि—तत्रैकान्तादसतोऽर्थस्य किं देशान्तरचिन्तया। किं कुर्मस्तादृशस्यैव वस्तुनः ख्यातिदर्शनात् ॥ यस्तु देशान्तरेऽप्यर्थो नास्ति कालान्तरेऽपि वा। न तस्य ग्रहणं दृष्टं गगनेन्दीवरादिवत् ॥" न्यायमं० पृ० १८४। स्या० रत्ना० पृ० १३७। ३—यत्वोपपत्तेः ब०, ज०। ४ रजतस्य ५ "उक्तमत्र—सदृशपदार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्य रजतस्यात्र प्रतिभासनम् इति। नचास्य उपस्थापनं पशोरिव रज्ज्वा संयम्य ढौकनम्, अपि तु हृदये परिस्फुरतोऽर्थस्य वहिरवभासनम्। नचैतावतेयम् आत्मख्याति रसत्ख्यातिर्वा इति वक्तव्यम्; विज्ञानाद्विच्छेदप्रतीतेः, अत्यन्तासदर्थप्रतिभासाभावाच्च इति।" न्यायमं० पृ० १८४। स्या० रत्ना० पृ० १३८। ६—स्य दृ—भां०। ७ "अतएव पिहितस्वाकारा परिगृहीतपराकारा शुक्तिकैव अत्र प्रतिभातीति भवतु पक्षः।" न्यायमं० पृ० १८४। स्या० रत्ना० पृ० १३८। ८ "त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावाच्च निगूहितनिजाकारेत्युच्यते रजतविशेषस्मरणाच्च परिगृहीतरजताकारा इति।" न्यायमं० पृ० १८५। † पृ० ६४ पं० १७।

दर्शनोपजनितरजतस्मरणारोपितरजताकारत्वाच्च परिगृहीतरजताकारेति । कथं रजताकारस्य[1] प्रत्ययस्य शुक्तिकालम्बनत्वमतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यचोद्यम्; अङ्गुल्यादिना हि कर्मतया निर्दिश्यमानं ज्ञानस्यालम्बनमुच्यते[3], तच्च शुक्तावस्त्येव, कथमन्यथा[4] तज्ज्ञानेन असौ अपेक्ष्यते[5] ? सा हि अनेनावश्यमपेक्षणीया, अन्यथा तदसन्निधानेऽपि[6] तज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् । अपेक्षा च कारणत्वेन भवेत्, विषयत्वेन वा इति चिन्त्यम् ? न तावत् कारणत्वेन; आलोकाभाववत् शुक्त्यभावेऽपि रजतज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तथा च सत्यरजतज्ञानाय दत्तो जलाञ्जलिः । अतः कारणत्वेन अत्रापेक्षाऽनुपपत्तेः विषयत्वेनैवासौ युक्ता । ननु यदि शुक्तिकाऽत्र रजताकारेण प्रतिभासते तदा रजतस्याविद्यमानत्वाद् असत्ख्यातिरियं स्यात्; तदसाम्प्रतम्; सादृश्यस्य अत्राऽपेक्ष्यमाणत्वात् । रजतसाधारणं हि शुक्लभास्वराकारमपेक्ष्य इदं विज्ञानमुत्पद्यते, असत्ख्यातिस्तु[8] न सादृश्यमपेक्ष्योत्पद्यते, खे खपुष्पख्यातिवत् । तदेवं विपर्ययज्ञानस्य[9] विपरीतख्यातिस्वरूपस्य अप्रामाण्यप्रसिद्धेः सूक्तम्-'संशयविपर्ययकारण' इत्यादि ।

न केवलं **संशयविपर्ययकारणज्ञानस्य भावाऽविरोधात् न वै ज्ञानमित्येव प्रमाणम्**, किन्तु **अकिञ्चित्करस्य** च क्षणक्षय-स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिज्ञानस्य **भावाऽविरोधात्**, अन्यथा क्षणक्षयादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् तत्रानुमानमनर्थकं स्यात् । ननु तत्र[10] निश्चयाजनकत्वान्न तत्प्रमाणम् एतदेवाह-नहि इत्यादि । हि यस्मात् **न तत्त्वस्य** परमार्थस्य **ज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम्** अपि तु किञ्चिदेव, तदेव च प्रमाणम् । तदुक्तम्-"*यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता*"[11] [ ] इत्यपरः-दिङ्नागादिः । अत्रोत्तरमाह-**तेनापि** इत्यादि । न केवलं तत्त्वज्ञानमात्रप्रामाण्यवादिना अपि तु **तेनापि** दिङ्नागादिनाऽपि उक्तदोषभयात् **तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्यैव ज्ञानस्य** निश्चयात्मनः **प्रामाण्यं सम-**

विवृतिव्याख्यानम्-

१-स्य शु-भां० । २ "किन्तु इदमिति अङ्गुल्या निर्दिश्यमानं कर्मतया यज्ज्ञानस्य जनकं तदालम्बनम् इत्युच्यमाने न कश्चिद्दोषः ।" न्यायमं० पृ० १८५ । स्या० रत्ना० पृ० ११८ । ३-ते एतच्च ब०,ज० । -ते एवं तच्च भां० । ४-था रजतज्ञानेन भां० । ५-ते अने-भां० । ६-पि ज्ञानो-भां० । ७ "पुरोवस्थितं धर्मिमात्रं भास्वररूपादिसादृश्योपजनितरजतविशेषस्मरणमत्र प्रतिभाति इति ब्रूमः ।" न्यायमं० पृ० १८५ । ८ "असत्ख्यातिस्तु न तद्धेतुका खपुष्पज्ञानवत् ।" प्रमेयक० पृ० १५ पू० । ९-विपर्यास-ब०, ज० । १० क्षणक्षयादौ । ११ "अत्र अपरः सौगतः प्राह-'यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता' इति धर्मोत्तरस्य मतमेतत् ।" सिद्धिवि० पृ० ९१ उ० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७७, २००, ३१९ । प्रमेयक० पृ० १० उ० । सन्मति० टी० पृ० ५१२ । स्या० रत्ना० पृ० ८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० १५१ उ० । "यत्रैवांशे विकल्पं जनयति तत्रैवास्य प्रमाणता इति वचनात् ।" न्यायाव० टी० पृ० ३१ ।

र्थ्येत, तस्यैव तं प्रति साधकतमत्वात्, अन्यथा तदपेक्षानुपपत्तेः। न पुनस्तत्त्वज्ञानमात्रस्य सन्निकर्षादेर्वा तत् समर्थ्येत तदभावात्। तत्कारणत्वात्तस्यापि तत्समर्थ्येत इति चेदत्राह– 'वस्तुबल' इत्यादि। वस्तुबलायातो विकल्पसामर्थ्यसिद्धोऽनुभवः, अनुभवहेतुश्च सन्निकर्षादिः, सन्निकर्षादिहेतुश्च विशिष्टाऽऽहार-देशादिः, तस्याप्यभावे[1] विकल्पानुपपत्तेः। वस्तुबलायातं च तत् सन्निकर्षाऽऽहारादिः तस्मादनुभवात् अर्थान्तरं च तस्यापि, न केवलमनुभवस्यैव तत्कारण[2]त्वोपपत्तेः विकल्पजनकत्वोपपत्तेः। कथम्? इत्याह–परम्परया। तथाहि–विशिष्टाहारदेशादेः सन्निकर्षः, ततोऽनुभवः, ततो विकल्प इति, अतस्तस्यापि तदुपपत्तेः प्रमाणता स्यात्। नचैवम्, अतः प्रकृतोपसंहारमाह–'तन्न' इत्यादि। यतएवं तत् तस्मात् नाज्ञानस्य प्रमाणता स्वपरयोः प्रमाणान्तरापेक्षणात्, अज्ञानमिव अज्ञानम् निर्विकल्पकदर्शनम्, साक्षात् सन्निकर्षादिर्वा, तस्य प्रमाणता न। किं सर्वथा सा तस्य न? इत्यत्राह–अन्यत्रोपचारात्। मुख्यतो नास्ति उपचारादस्ति इत्यर्थः। कस्य तर्हि मुख्यतः प्रमाणता? इत्यत्राह– ज्ञानस्यैव इत्यादि। ज्ञानस्यैव ने[3]तरस्य निर्विकल्पकदर्शनादेः। किं विशिष्टस्य? विशदनिर्भासिनः परमुखाऽप्रेक्षितया स्वपर[4]स्वरूपयोः स्पष्टप्रतिभासस्य प्रत्यक्षत्वम् प्रत्यक्षप्रमाणता। इतरस्य अविशदनिर्भासिनः परोक्षता परोक्षप्रमाणता।

'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्' इति चार्वाकमतस्योपपादनम्–

ननु प्रत्यक्षव्यतिरिक्तस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽसंभवात् कस्य परोक्षरूपता प्ररूप्यते? प्रत्यक्ष[5]मेव हि प्रमाणम् अगौणत्वात्, नानुमानं तद्विपर्ययात्; तथाहि–पक्षधर्मत्वं हेतोः स्वरूपम्, पक्षश्च धर्मधर्मिसमुदायात्मा, तदनिश्चये कथं तद्धर्मतायाः निश्चयः? तन्निश्चये वा अनुमानवैयर्थ्यम्। अतो[6]ऽवश्यं पक्षधर्मव्यवहारसिद्धये तत्समुदाये रूढोऽपि पक्षशब्दस्तदेकदेशे धर्मिण्युपचरणीयः, अतः पक्षस्यापि गौणत्वं, हेतोरपि गौणत्वम्। [7]यो हि धर्मिधर्मः स पक्षधर्म इत्युच्यते, अतो गौणरूपत्वात् गौणकारणजन्यत्वाद्वा गौणमनुमानम्।

किञ्च, अर्थनिश्च[8]यात्मकं प्रमाणं भवति, अनुमानाच्च अर्थनिश्चयो दुर्लभः; तथाहि–प्रतीयमानादर्थादर्थान्तरप्रतीतिः अनुमानम्, प्र[9]तीयमानश्चार्थोऽर्थान्तरस्य सम्बद्धस्य, असम्बद्धस्य वा

१–प्यभावो विकल्पोऽनु–ब०, ज०। २ तत्करणतोप–ब०, ज०। तत्कारणतोप–भां०। ३ नैतस्य ब०, ज०। ४–ररूप–भां०। ५ "तथाचाहुः—प्रमाणस्य अगौणत्वाद् अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" न्यायमं० पृ० ११८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७९। सन्मति० टी० पृ० ५५४। प्रमेयक० पृ० ४५ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २६१। ६ "तस्मादवश्यं पक्षधर्मान्वयव्यवहारसिद्धये धर्मविशिष्टे धर्मिणि रूढःपक्षशब्दः तदेकदेशे धर्मिणि गौण्या वृत्त्या वर्णनीयः।" न्यायमं० पृ० ११९। स्या० रत्ना० पृ० २६१। ७ यतो हि आ०। ८–निश्चायकं ब०, ज०, भां०। ९ "प्रतीयमानश्चार्थः अर्थान्तरे सम्बद्धस्तस्य गमको भवेत्, असम्बद्धो वा?" स्या० रत्ना० पृ० २६१।

गमकः स्यात् ? न तावदसम्बद्धस्य; अतिप्रसङ्गात्। अथ सम्बद्धस्य; कुतस्तत्सम्बन्धसिद्धिः-प्रत्यक्षात्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्; अस्य नियतदेशकालाऽऽकारगोचरचारितया सार्वत्रिकसम्बन्धग्रहणे सामर्थ्याऽभावात्। नाप्यनुमानात्; अनवस्थाप्रसङ्गात्, तदपि[1] हि सम्बन्धग्रहणे सति प्रवर्तते। किञ्च, अवस्था-देश-कालभेदेन भिन्नार्थक्रियाकारिणां भिन्नसामर्थ्यानां चार्थानां न साकल्येन स्वभावप्रतिबन्धोऽवधारयितुं शक्यः, सहस्रशोऽप्यामलिक्यादेः कषायरसे समुपलभ्यमानेऽपि क्षीराद्यवसेकेन माधुर्यस्याप्युपलम्भात्। तदुक्तम्–

"अवस्थादेशकालादिभेदा[2]द्भिन्नासु शक्तिषु[3]।
भावानामनुमानेन प्रतीतिरतिदुर्लभा ॥" [वाक्यप० १।३२] इति।

न च साध्ये सत्येव साधनस्योपलम्भात् तदभावेऽनुपलम्भात् तत्सम्बन्धसिद्धिः; तदनुपलम्भस्यातिदूरा[4]सन्नत्वादौ प्रमातुरशक्तत्वे करणस्याऽसामर्थ्ये प्रमेयाऽभावे[5] च संभवात्। यत्र हि अनग्नौ धूमो न दृश्यते तत्र प्रमातुः शक्त्यभावः, करणस्य सामर्थ्यविरहः, विषयस्याभावो वाऽनुपलम्भे कारणमिति। उक्तञ्च–

"यत्नेनानुमितोप्यर्थः[6] कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥" [वाक्यप० १।३४]

किञ्च, अनुमानस्य धर्मी, धर्मः, तत्समुदायो वा साध्यः स्यात् ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; धर्मिणो[7]ऽध्यक्षसिद्धत्वेन साधनानर्थक्यप्रसङ्गात्, हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गाच्च; न खलु 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र पर्वतः' इत्यन्वयोऽस्ति। द्वितीयपक्षेऽपि धर्मः सामान्यरूपः, विशेषरूपो वा साध्यः स्यात् ? तत्र सामान्यरूपे सिद्धसाधनम्, अग्निमात्रे कस्यचिद् विप्रतिपत्त्यभावात् ? नच तत्प्रतीतौ किञ्चित्प्रयोजनम्, नहि अग्नित्वं दाहपाकादौ गोत्वं[8] वा वाहदोहादावुपयुज्यमानं प्रतीतम्। किञ्च, सामान्यात्प्रतीतात् प्रवर्तमानः कथं नियतदिगभिमुखमेव अवश्यं प्रवर्तेत[9] ? नहि सामान्यं नियतदिक्कं व्यापित्वाभावप्रसङ्गात्। अथ सामान्यस्य व्यक्तिं विनाऽनुपपत्तेः, प्रतीते तस्मिन् अन्यथानुपपत्त्या व्यक्तिप्रतीते[10]र्दिङ्नियमेन प्रवृत्तिः। ननु किमभिमतया व्यक्त्या विना नोपपद्येत, व्यक्तिमात्रेण वा ? न तावदभिमतया;

---

१ अनुमानमपि २–कालानां भे–भां०, वाक्यपदीय। ३ व्यक्तिषु ब०, भां०। इयं कारिका तत्त्वसङ्ग्रहे (का० १४६०) न्यायमञ्जर्यां च (पृ० ११९) 'प्रसिद्धिरतिदुर्लभा' इति कृत्वा उद्धृता, सन्मति० टी० पृ० ७०, स्या० रत्ना० पृ० २६२ इत्यादिषु च प्रकृतपाठेनैव। ४ स्यापिदूरा–ब०, ज०। ५–वेऽपि सं–भां०। ६–मितोऽर्थः–आ०, ज०। –मितोऽर्थः स्यात् कु–ब०, भामती पृ० ३६७, न्यायमं० पृ० १२०, तत्त्वसं० पृ० ४२६। ७ "धर्मिणि साध्ये हेतोरनन्वयित्वम्, नहि यत्र धूमः तत्र पर्वतः इत्यन्वयः।" न्यायमं० पृ० ११८। "अपि च अनुमानस्य धर्मी, धर्मः, तत्समुदायो वा साध्यः स्यात् ?" स्या० रत्ना० पृ० २६२। ८–त्वं वाह–भां०। ९ प्रवर्तते ब०, ज०। १०–तीतिर्दि–भां०।

व्यक्त्यन्तरेऽप्यस्य सम्भवात्। व्यक्तिमात्रप्रतीतौ च इष्टव्यक्तिप्रतीत्यर्थं पुनर्यत्नान्तरं कर्त्तव्यम्, तत्रापि च अयमेव पर्यनुयोगः इत्यनवस्था। विशेषरूपस्य च साध्यत्वे अनन्वय एव हेतुः, नह्यत्रेदानीन्तनेन खादिरादिस्वभावेन चाग्निना 'अग्निमान् पर्वतो धूमवत्वात्' इत्यादौ विशेपे साध्ये हेतोरन्वयो घटते, महानसादौ तथाविधसाध्येन धूमादेर्व्याप्त्यप्रतीतेः। अनुमानविरोधस्य इष्टविघातकृतो विरुद्धाव्यभिचारिणो वा सर्वत्रानुमाने सम्भाव्यमानत्वाच्च न विशेपस्यापि साध्यत्वम्। तन्न धर्मोपि साध्यः। नापि तत्समुदायः; तस्याप्यन्यत्रानन्वयात्, नहि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निमान् पर्वतः' इत्यन्वयः प्रतीतः। तदुक्तम्—

"विशेपेऽनुगमाऽभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात्। तद्वतोऽनुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः॥१॥

साहचर्ये च सम्बन्धे विश्रम्भ इति मुग्धता। शतकृत्वोऽपि तद्दृष्टौ व्यभिचारस्य संभवात्॥२॥

देशकालदशाभेदविचित्रात्मसु वस्तुपु। अविनाभावनियमो न शक्यो लब्धुमञ्जसा॥३॥

भवन्नप्यविनाभावः परिच्छेत्तुं न शक्यते। जगत्त्रयगताशेषपदार्थालोचनाद्विना॥४॥

न प्रत्यक्षीकृता यावद्धूमाग्निव्यक्तयोऽखिलाः। तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्नेरिति शङ्क्यते॥५॥

ये तु प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यन्ति हि भवादृशः। किं दिव्यचक्षुपां तेपामनुमाने प्रयोजनम्॥६॥

१–ह्यत्रेदानी–आ०, ब०, ज०। २ "अनुमानविरोधस्य विरुद्धानाञ्च साधने। सर्वत्र सम्भवात् किञ्च विरुद्धाव्यभिचारिणः॥ १४५९॥" तत्त्वसं०। "मूलानुमानविषयापहारेण अनुमानविरोधस्य विशेषविरुद्धापराभिधानस्य इष्टविघातकृतः सन्देहहेतोः विरुद्धाव्यभिचारिणो वा सर्वत्रानुमाने सम्भाव्यमानत्वाच्च दुष्प्रापं प्रामाण्यम्।" स्या० रत्ना० पृ० २६३। "इष्टस्य शब्देनाऽनुपात्तस्य विघातं करोति विपर्ययसाधनात् इति इष्टविघातकृत्" न्यायवि० पृ० १०३। ३ "हेतोर्यदात्मीयं लक्षणं तद्युक्तयोर्हेत्वोः एकत्र धर्मिणि विरोधिनः परस्परविरुद्धसाध्यसाधकत्वेन उपनिपाते सति विरुद्धाऽव्यभिचारी इति विरुद्धाऽव्यभिचारिणो लक्षणम्।" हेतुबिन्दुटी० पृ० २०४। "विरुद्धाव्यभिचारी यथा–अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उभयोः संशयहेतुत्वात् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।" न्यायप्र० पृ० ४। "हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्धं यत् तन्न व्यभिचरति स विरुद्धाव्यभिचारी। यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनात्, अव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचारात् विरुद्धाव्यभिचारी।" न्यायवि० पृ० १११। ४ "धर्मविशिष्टे धर्मिणि साध्ये तदुभयमघटमानमेव नाग्निविशिष्टधराधरधर्मतया धूमः प्रथम (?) उपलब्धुं शक्यते। न चाप्येवमन्वयः–यत्र धूमः तत्र अग्निमान् पर्वत इति।" न्यायमं० पृ० ११८। ५ न्यायमं० पृ० १०९, स्या० रत्ना पृ० २६३। 'सामान्ये सिद्धसाध्यता' प्रकरणपं० पृ० ७१। 'विशेपेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्' तत्त्वोप० पृ० ८८, प्रमेयक० पृ० ४५ उ०, सन्मति० टी० पृ० ५५४। प्रमेयकमलामार्त्तण्डस्य टिप्पण्यां (पृ० ४५ उ० नं० २०) तु 'नानुमानं प्रमाणं स्यात् निश्चयाभावतस्ततः' एतद्रूपेण उत्तरार्द्धस्य पूर्तिः दृश्यते। "यथाहुः–विशेपेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता,। अनुमानभङ्गपङ्केऽस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः॥" शास्त्रदी० पृ० ६३। "विशेपेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता। इत्यादिदोपदुष्टत्वात् न च नोऽनुमितिः प्रमा॥ १४४॥" बृहदा० वा० पृ० १४०१। ६ 'न शक्यो वस्तुमाह च' न्यायमं० पृ० ११९। ७ 'तेपामनुमानप्रयोजनम्' न्यायमं० पृ० ११९।

सामान्यद्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभावनिश्चयः । वास्तवं हि न सामान्यं नाम किञ्चन विद्यते ॥७॥
भूयोदर्शनगम्यापि न व्याप्तिरवकल्पते । सहस्रशोऽपि तद्दृष्टौ[1] व्यभिचारावधारणात् ॥८॥
बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा तथेति परिनिश्चितः । देशकालादिभेदेन दृश्यते पुनरन्यथा ॥९॥
भूयोदृष्ट्या[2] च धूमोऽग्निसहचारीति गम्यताम् । अनग्नौ तु स नास्तीति न भूयोदर्शनाद्गतिः ॥१०॥
न चाप्यदृष्टिमात्रेण[3] गमकः सहचारिणः । तत्रैव[4] नियतत्वं हि तदन्याऽभावपूर्वकम् ॥११॥
नियमश्चानुमाङ्गत्वं[5] गृहीतः प्रतिपद्यते । ग्रहणञ्चास्य नान्यत्र नास्तितानिश्चयं विना ॥१२॥
दर्शनाऽदर्शनाभ्यां तु नियमग्रहणं यदि । तदप्यसदनग्नौ हि धूमस्येष्टमदर्शनम् ॥१३॥
अनग्निश्च[6] कियान् सर्वं जगज्ज्वलनवर्जितम् । तत्र धूमस्य नास्तित्वं नैव पश्यन्त्ययोगिनः ॥१४॥
तदेवं नियमाभावात् सत्यपि[7] [8]ज्ञप्त्यसंभवात् । अनुमानप्रमाणत्वदुराशा परिमुच्यताम् ॥१५॥
अनुमानविरोधो वा यदि [9]चेष्टविघातकृत् । विरुद्धाव्यभिचारी[10] वा सर्वत्र सुलभोदयः ॥१६॥
अत एवानुमानानामपश्यन्तः प्रमाणताम् । तद्विस्रम्भनिषेधार्थमिदमाहुर्मनीषिणः[11] ॥१७॥
प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वादिति ।" [ ]

तत्प्रतिविधानम्-

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्*-'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽविसंवादकत्वं प्रमाणस्य लक्षणम्, तस्य च अनुमानादौ विद्यमानत्वात् कथं 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यवधारणं घटते ? तथाहि-अनुमानं प्रमाणम् अविसंवादकत्वात् प्रत्यक्षवत् । न[12] खलु प्रत्यक्षेऽविसंवादकत्वादन्यतः प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, एतच्चान्यत्रा[13]प्यविशिष्टम् अनुमानादिनाप्यवगतेऽर्थे विसंवादाऽसम्भवात् ।

---

१ 'तद्दृष्टे' न्यायमं० पृ० ११९ । 'न दृष्टौ' स्या० रत्ना० पृ० २६४ । २ 'दृष्ट्वा' न्यायमं० पृ० ११९ । ३ 'नचापि दृष्टिमात्रेण' न्यायमं० पृ० ११६ । ४ तत्रैवं ब०, ज० । ५ 'नियमस्यानुमाङ्गत्वं गृहीत्वा प्रतिपद्यते' । स्या० रत्ना० पृ० २६४ । 'नियमश्चानुमानाङ्गं' न्यायमं० पृ० १२० । नियतश्चा-भां० । ६ 'अनग्नि च क्रिया सर्वम्' स्या० रत्ना० पृ० २६४ । ७ 'सति वा' न्यायमं० पृ० १२० । ८ क्लृप्त्यसंभवात् ज० । ९ यदिचेष्ट-ब०, ज०, न्यायमं० पृ० १२० । १० 'विरुद्धाव्यभिचारस्तु' स्या० रत्ना० पृ० २६४ । 'विरुद्धाव्यभिचारो वा' न्यायमं० पृ० १२० । ११ एताः सप्तदशापि कारिकाः न्यायमञ्जर्यां (पृ० ११९, १२०) 'अपिच' इति कृत्वा, स्याद्वादरत्नाकरे तु (पृ० २६३, २६४) द्वितीयाम् अन्तिमाञ्च कारिकां मुक्त्वा समुद्धृताः । १२ "नहि प्रत्यक्षेपि तत्प्रमाणवादिना अन्यत् प्रामाण्यव्यवस्थानिबन्धनं शक्यमादर्शयितुम् अन्यत्र अविसंवादात् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ४२८ । १३ अनुमानेऽपि । * पृ० ६७ पं० १६ ।

यच्च 'अगौणत्वात्' इत्युक्तम्[†], तत्र[1] अनुमानस्य कुतो गौणत्वम्–अविशदस्वभावत्वात्, स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वात्, विसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, अवस्तुविषयत्वात्, धर्मिणि पक्षशब्दोपचरात्, बाध्यमानत्वात्, साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणाऽभावाद्वा ? तत्र न तावदविशदस्वभावत्वात्; वैशद्यस्य प्रमाणलक्षणत्वाऽभावात्। यदि हि तत् प्रमाणलक्षणं स्यात् तदाऽनुमानादेस्तन्निवर्तमानं प्रामाण्यमादाय निवर्तते इत्यप्रामाण्यमस्योपपन्नं स्यात्, न चैतत्तल्लक्षणम्; द्विचन्द्रादिज्ञाने वैशद्यसद्भावेऽपि प्रामाण्याऽसम्भवात्। स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वमप्यस्याऽसम्भाव्यम्; प्रत्यक्ष[2]वत्तस्य तन्निश्चये परनिरपेक्षत्वात्। अनभ्यासावस्थायामनुमानस्यार्थनिश्चये परापेक्षत्वं प्रत्यक्षेऽपि तुल्यम्। विसंवादकत्वमप्यस्यानुपपन्नम्; सम्यगनुमानेन प्रतिपन्ने वस्तुनि विसंवादाऽसम्भवात्। तदाभासेन प्रतिपन्ने तस्मिन् विसंवादे तस्यैव गौणत्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा प्रत्यक्षाभासे विसंवाददर्शनात् सत्यप्रत्यक्षेऽपि गौणत्वप्रसङ्गः स्यात्। प्रत्यक्षपू[3]र्वकत्वञ्च असिद्धम्; अनुमानस्य ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। किञ्च, लिङ्गादेवानुमानमुत्पद्यते, तत्कथं प्रत्यक्षात्तदुत्पत्तिसम्भवः तस्य लिङ्गप्रतिपत्तावेव व्यापारात् ? अस्तु वा प्रत्यक्षादेव तदुत्पत्तिः; तथापि न गौणत्वं तस्य तत्सामग्रीत्वात्, स्वसामग्रीतश्चोपजायमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः।

किञ्च, प्रत्य[4]क्षपूर्वकत्वेनानुमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वेन गौणत्वप्रसङ्गः, दृश्यते हि साध्यमर्थमनुमानान्निश्चित्य प्रवर्तमानस्य अनुमानपूर्विका प्रत्यक्षप्रवृत्तिः। अर्थादनुत्पद्यमानत्वेनास्य गौणत्वे तु अध्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः; तस्याप्यर्थादनुत्पत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अवस्तुविषयत्वञ्च अस्यासिद्धम्, प्रत्यक्षवत् सामान्यविशेषात्मकार्थगोचरत्वात्तस्य। नह्यवस्तुभूतापोहविषयमनुमानं सौगतवज्जैनैरिष्टम्; तत्र त[5]द्विषयत्वस्य प्रतिक्षे[6]प्स्यमानत्वात्। ध[7]र्मिणि पक्षशब्दोपचारतोऽपि नास्य गौणत्वसिद्धिः; सङ्क्षेपतः शब्दरचनार्थत्वात्तदुप-

---

१ "अथ अस्पष्टस्वरूपत्वात् स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वात् प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् अर्थादनुपजायमानत्वात् अवस्तुविषयत्वात्, बाध्यमानत्वाद्, साध्यसासाधनयोः प्रतिबन्धसाधकप्रमाणाभावाद्वा तस्य अप्रामाण्यमुच्यते।" स्या० रत्ना० पृ० २६६। २ "यथैव हि प्रत्यक्षं साक्षात् स्वार्थपरिच्छित्तौ नानुमानाद्यपेक्षं तथा अनुमानम् अनुमेयनिर्णीतौ न प्रत्यक्षापेक्षम् उत्प्रेक्षते।" प्रमाणप० पृ० ६४। स्या० रत्ना० पृ० २६६। ३ "ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वाच्चास्य अध्यक्षपूर्वकत्वम् असिद्धम्।" प्रमेयक० पृ० ४६ पू०। स्या० रत्ना० पृ० २६७। ४ "किञ्च, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन अनुमानस्याप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वेन अप्रामाण्यानुषङ्गः"। स्या० रत्ना० पृ० २६७। प्रमेयक० पृ० ४६ पू०। "प्रत्यक्षवत् सामान्यविशेषात्मकार्थगोचरत्वात्तस्य।" स्या० रत्ना० पृ० २६७। प्रमेयक० पृ० ४५ उ०। ५ तद्विषयस्य– आ०, भां०। ६ प्रतिसेत्स्यमा–ब० ज०। ७ "पक्षधर्मादिपदानि यदि नाम व्याख्यातृभिः गौणानि प्रयुक्तानि किमेतावता प्रमाणं गौणीभवेत् ? शब्दान्तरेण हि तल्लक्षणाभिधाने न कश्चिद् गौणतादिप्रमादः।" न्यायमं० पृ० १२३। † पृ० ६७ पं० १६।

चारस्य । नहि लक्षणकाराणां लाघवेन शब्दरचनां कुर्वतां धर्मिणि पक्षशब्दोपचारमात्रेण अनुमानस्य गौणत्वं भवति अतिप्रसङ्गात् । बाध्यमानत्वञ्च–सम्यगनुमानस्य, अनुमानाभासस्य वा ? प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः; सत्यधूमादिसाधनादग्न्याद्यनुमाने बाधाऽसम्भवात् । अनुमानाभासस्य तु बाधासम्भवे तस्यैव गौणत्वं युक्तं न सम्यगनुमानस्य; अन्यथा प्रत्यक्षाभासस्य बाधोपलम्भात् सम्यक्प्रत्यक्षस्यापि गौणत्वप्रसङ्गः स्यात् । साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धग्राहकप्रमाणाभावश्चाऽसिद्धः; तर्का[1]ख्यप्रमाणात्तद्ग्रहणप्रसिद्धेः । तथा च 'तत्सम्बन्धग्रहणे प्रत्यक्षं प्रवर्तेत अनुमानं वा' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, सार्वत्रिकसम्बन्धप्रतिपत्तौ च यथा तस्य सामर्थ्यं तथा वक्ष्यते ।

किञ्च, 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणं नानुमानम्' इति विधिनिषेधप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यम्, अगौणत्वादिलिङ्गस्य वा ? न तावत्प्रत्यक्षस्य; नहि तद् इन्द्रियादिसामग्रीतः समुपजातम् 'अहमेव प्रमाणं नानुमानम्' इत्यत्रार्थे समर्थम्, प्रतिनियतरूपादिप्रतिपत्तावेव अस्य सामर्थ्यसम्भवात् । अगौणत्वादिलिङ्गस्यापि[2] तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यम् अनुमानाऽप्रामाण्येऽनुपपन्नम् । अप्रमाणेन च व्यवस्थां कुर्वाणस्य उन्मत्तत्वप्रसङ्गः, नहि प्रमाणादृते प्रमेयव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यभ्युपगच्छता प्रत्यक्षमात्रं प्रमाणमभ्युपगम्यते, तद्विशेषो वा ? प्रथमपक्षे द्विचन्द्रादिप्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु कोऽयं तद्विशेषो नाम ? यथार्थता इति चेत्; तर्हि 'यथार्थं प्रत्यक्षं प्रमाणं नाऽयथार्थम्' इति यदा परः प्रतिपाद्यते तदा काश्चित् प्रत्यक्षव्यक्तीः परिधूत्य[3] यथार्थाश्चाङ्गीकृत्य, 'यदीदृशं प्रत्यक्षं तत्प्रमाणं नान्यादृशम्' इति प्रतिपादनीयः, एतच्च प्रमाणान्तराद्विना न प्रतिपादयितुं शक्यम्, न खलु पुरोवर्ति[4]वर्तमानप्रतिनियतरूपादिविषयोपरूढाभिः प्रत्यक्षव्यक्तिभिः एतत्प्रतिपादयितुं पार्यते । परश्च बुद्धिमत्त्वेन स्तम्भादिभ्यो विलक्षणः प्रतिपाद्यमानार्थग्रहणसमर्थो निश्चितः प्रतिपाद्यः, न च तन्निश्चये अनुमानादन्यस्य सामर्थ्यम्; प्रत्यक्षस्य रूपादिमदर्थप्रतिपत्तावेव सामर्थ्यात् ।

कथञ्च अनु[5]मानानभ्युपगमे स्वव्यवस्थापितप्रमाण-प्रमेयव्यतिरिक्तप्रमाणप्रमेयस्य स्वर्गाऽपूर्वदेवतादेश्च निषेधः प्रत्यक्षस्य अत्राऽसामर्थ्यात्? प्रमाणादृते प्रमेयसिद्धौ चातिप्रसङ्गात् । किञ्च, [6]अनुमानापह्नवः तत्स्वरूपाभावात्, निरवद्यतल्लक्षणाभावाद्वा स्यात् ? न[7] तावत् स्वरूपाभावात्; तत्स्वरूपस्य अखिललोकप्रसिद्धत्वात् । यत् स्वरूपमखिललोकप्रसिद्धं न तस्यापह्नवो युक्तः यथा

१ तर्कस्य । २–पि प्रति–भां० । ३ परिहृत्य भां० । ४ पुरोवर्तमान–भां० । ५ "उक्तञ्च–प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियोगतेः । प्रामाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।" प्रमेयक० पृ० ४६ पू० । सम्मति० टी० पृ० ५५४ । स्या० रत्ना० पृ० २६८ । ६ "किमयम् अनुमानस्वरूपाक्षेप एव क्रियते उत तत्तार्किकोपलक्षिततल्लक्षणाक्षेप इति ? तत्रानुमानस्वरूपञ्च अशक्यनिह्नवमेव सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् । अबलाबालगोपालहालिकप्रमुखा अपि । बुद्ध्यन्ते नियतादर्थादर्थान्तरमसंशयम् ।।" न्यायमं० पृ० १२० । स्या० रत्ना० पृ० २६८ । ७ न तत्स्वरू–भां० ।

प्रत्यक्षस्य, अखिललोकप्रसिद्धश्चानुमानस्य स्वरूपमिति । न चेदमसिद्धम्; अवलाबालगोपालादीनां धूमाद्यर्थात् पावकाद्यर्थान्तरे निरारेकं [1]प्रत्ययप्रतीतेः । कथं वा तत्स्वरूपापलापे 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्' इत्यभिदधतः स्ववचनविरोधो न स्यात् ?

निरवद्यतल्लक्षणाभावोऽप्ययुक्तः; '[2]साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्' इत्यादेः निरवद्यतल्लक्षणस्य अग्रे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । किञ्च, [3]यदि परप्रणीतं तल्लक्षणं सावद्यं तदा तत् स्वयमनवद्यमावेद्यताम्, न पुनस्तद्द्वेषेण लक्ष्यमप्यनुमानमपह्नोतुं युक्तम्, नहि प्रेक्षावान् यूकाभयात् परिधानपरित्यागं विदधाति ।

†यदप्युक्तम्–'अवस्थादेशकालादिभेदात्' इत्यादि; तदयुक्तिमात्रम्; ऊहाख्यप्रमाणप्रसादात् [4]सम्यगवधृतायां व्याप्तौ विप्लवाऽभावात्, प्रमातुरेव हि तत्रापराधो नानुमानस्य ।

‡यदपि 'विशेषेऽनुगमाभावः' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; व्याप्ति-प्रयोगकालापेक्षया साध्यस्य भेदात् । '[5]व्याप्तौ हि साध्यं धर्मः, प्रयोगकाले तु तद्विशिष्टो धर्मी' इति वक्ष्यति, [6]तत्र कथमनुगमाभावः सिद्धसाधनं वा स्यात् ?

§यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वत्रानुमानेऽनुमानविरोधादेः संभाव्यमानत्वात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; [7]समीचीनसाधने प्रयुक्ते अनुमानविरोधादेरसम्भवात् । न खलु धूमादिसाधने पर्वताद्यग्निमत्त्वसिद्धौ प्रयुक्ते 'पर्वतोऽयमग्निमान् न भवति पर्वतत्वात् तदन्यपर्वतवत्' इत्यनुमानविरोधस्य, 'अत्रत्येन वा अग्निना अग्निमान् न भवति धूमवत्त्वात् महानसवत्' इति विरुद्धाऽव्यभिचारिणः, 'धूमादिसाधनं यथैवाग्निमत्त्वं पर्वतादेः साधयति तथा निर्मूल(?)निर्वृक्षप्रदेशाभिनावि अग्निमत्त्वं साधयति, महानसादौ तथादर्शनात्' इतीष्टविघातकृतो वा संभवः; प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वेन अस्यानुमानाभासत्वात् । निर्बाधं हि प्रमाणं कस्यचित् साधकं बाधकं वा युक्तं नान्यत्, अतिप्रसङ्गात् । ततोऽनुमानादेः प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः सूक्तम् 'अविशदनिर्भासिनः परोक्षता' इति । तथा च प्रत्यक्ष-परोक्षयोः विभिन्नस्वरूपत्वात् परस्परतः

---

१ प्रत्यक्षप्रतीतेः भां० । २ "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं……।" न्यायवि० पृ० ४०० पू० । ३ "तदेवमनुभवसिद्धत्वादनुमानस्वरूपमिव तस्य लक्षणमपि तान्त्रिकविरचितमवाचकं लक्षणं तत्स्वयमनवद्यमावेद्यतां नतु तद्द्वेषेण लक्ष्यमप्यनुमानं निह्नोतुं युक्तम् ।" न्यायमं० पृ० १२३ । ४ "सम्यगवधृतायां व्याप्तौ विप्लवाभावात्, प्रमातुरेव तत्रापराधो नानुमानस्य ।" न्यायमं० पृ० १२३ । "तदाहुः– प्रमातुरपराधोऽयं विशेषं यो न पश्यति । नानुमानस्य दोषोऽस्ति प्रमेयाऽव्यभिचारिणः ।" स्या० रत्ना० पृ० २६९ । ५ "साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।" परीक्षामुख ३।२५ । "व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।" परीक्षामुख ३।३२ । ६ तत् क–ब०, ज०, भां० । ७ "प्रयोजकहेतौ प्रयुक्ते एवम्प्रायाणामनवकाशात् । न विशेषविरुद्धश्च न चास्तीष्टविघातकृत् । हेतौ सुप्रतिबद्धे हि नैताः सन्ति विडम्बनाः ॥" न्यायमं० पृ० १२४ । "वस्तुबलप्रवृत्तानुमाने विषये न विरुद्धाव्यभिचारी च संभवति ।" तत्त्वसं० पृ० ४३० । ८ निपलनि–भां । †पृ० ६८ पं० ७ । ‡पृ० ६९ पं० ८ । §पृ० ६९ पं० ४ ।

सिद्धो भेदः। ययोर्विभिन्नस्वरूपत्वं तयोः परस्परतो भेदः यथा जलानलयोः, विभिन्नस्वरूपत्वञ्च विशदेतरस्वभावतया प्रत्यक्षपरोक्षयोरिति।

के पुनर्बुद्धेर्वैशद्याऽवैशद्ये यदुपेतत्वेन प्रत्यक्षेतरयोर्भेदः स्यात्? इति चेदुच्यते—

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं[1] मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥ ४॥

विवृतिः—तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, मुख्यम् अतीन्द्रियज्ञानम्। तदस्ति सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्। यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुषपरिषत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणाऽनुपपत्तेः, तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चित् अनुपलब्धेः खपुष्पवत्। न वै जैमिनिः अन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः रथ्यापुरुषवत्। पुरुषातिशयसम्भवेऽतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात्? अत्र अनुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाऽभावे कुतः प्रमाणयेद् अभेदात्? साधकबाधकप्रमाणाऽभावात् तत्र संशीतिः इत्यनेन प्रत्युक्ता; बाधकस्यैवाऽसम्भवात्। सर्वत्र बाधका[2]ऽभावेतराभ्यां भावाऽभावव्यवहारसिद्धिः, तत्संशयादेव सन्देहः। तत एव अनुभवप्रामाण्यव्यवस्थापनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

कारिकाव्याख्यानम्— **अनुमानादिभ्योऽतिरेकेण** आधिक्येन वर्णसंस्थानादिविशेषरूपतया अर्थग्रहणलक्षणेन प्रचुरतरविशेषान्वितार्थावधारणरूपेण वा यद् **विशेषाणां** नियतदेशकालसंस्थानाद्यर्थाकाराणां **प्रतिभासनं तद्बुद्धेर्वैशद्यम्**अभिप्रेतम्। अस्मात् **परम्** अन्यथाभूतं यद्विशेषाऽप्रतिभासनं तद् **अवैशद्यम्** इति। स्वरूपा[3]पेक्षया च सर्वं[4] ज्ञानं विशदमेव, परिस्फुटरूपतया स्वरूपस्य सर्वज्ञानानां स्वसंवेदने प्रतिभासनात्। बहिरर्थस्तु केषाञ्चिज्ज्ञानानां परिस्फुटरूपतया प्रतिभाति केषाञ्चित्तु तद्विपरीततया, अतस्तदपेक्षया तेषां वैशद्यावैशद्ये प्रतिपत्तव्ये।

---

१ "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।" परीक्षामुख २।४। "अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वमिति।" प्रमाणनयतत्त्वा० २।३। जैनतर्कभा० पृ० ११४। "वैशद्यम् इदन्त्वेन अवभासनम्।" जैनतर्कवा०वृ०पृ०९५। "प्रमाणान्तरानपेक्षेन्दन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।" प्रमाणमी० १।१।१४। २ बाधकभावे–ज० वि०। ३ "सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथञ्चित् प्रमाणत्वोपपत्तेः तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षम् न कश्चित् प्रमाणाभासः।" अष्टसह० पृ० २४६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। "बहिरर्थग्रहणापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षेतरव्यपदेशः, तत्र प्रमाणान्तरव्यवधानाऽव्यवधानसद्भावेन वैशद्येतरसम्भवात् नतु स्वरूपग्रहणापेक्षया तत्र तदभावात्।" प्रमेयक० पृ० ५९ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ३१८। लघी० वृ० पृ० १३। प्रमाणमी० पृ० १७। ४ सर्वज्ञानं आ०, ब०, ज०।

तच्चेदं वैशद्यलक्षणलक्षितं प्रत्यक्षं द्विप्रकारं भवति–गौणम्, मुख्यञ्चेति। तत्र गौणं 'सांव्यवहारिकम्' इत्यादिना व्याचष्टे। संव्यवहारे नियुक्तं

विवृतिव्याख्यानम्—

सांव्यवहारिकम् गौणमित्यर्थः। किं तत् ? इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। अयमर्थः—यद् इन्द्रियाणां चक्षुरादीनाम् अनिन्द्रियस्य च मनसः कार्यम् अंशतो विशदं विज्ञानं तत् सांव्यवहारिकं गौणप्रत्यक्षम् इत्यर्थः।

ननु च 'इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्' इत्यनेन सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य सामग्रीप्ररूपणमयुक्तम्; तत्कारणस्य आत्मार्थालोकादेरत्रासङ्ग्रहात्; इति चेन्न; असाधारणस्यैव तत्कारणस्यात्र प्ररूपयितुमभिप्रेतत्वात्। नचात्मनः समनन्तरप्रत्ययस्य वा प्रत्यक्षं प्रत्यसाधारणकारणत्वं संभवति; प्रत्ययान्तरेऽप्यस्याविशिष्टत्वात्। नाप्यर्थालोकयोः; तयोर्ज्ञानकारणत्वस्याग्रे प्रतिपेत्स्यमानत्वात्। नापि सन्निकर्षादेः; तत्र तत्कारणत्वस्य प्रागेव प्रतिषेधात्, अव्यापकत्वाच्चास्य न तत्कारणत्वम्, नहि चक्षूरूपयोः सन्निकर्षोऽस्ति अप्राप्यकारित्वाच्चक्षुषः।

'सन्निकर्षः प्रमाणम्' इति नैयायिकमतप्रतिपादनम्—

ननु चास्याऽप्राप्यकारित्वप्रतिज्ञा प्रमाणविरुद्धा; तथाहि—प्राप्यकारि चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात्, यद् बाह्येन्द्रियं तत्प्राप्यकारि प्रतिपन्नम् यथा त्वगादि, बाह्येन्द्रियश्च चक्षुः, तस्मात् प्राप्यकारि। नचायमसिद्धो हेतुः; पक्षे प्रवर्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः; सपक्षे सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः; सपक्षवद् विपक्षेऽप्यप्रवृत्तेः। नच मनसा व्यभिचारः; बाह्यविशेषणात्। 'इन्द्रियत्वात्' इत्युच्यमाने हि मनसा व्यभिचारः स्यात्, तत्परिहारार्थं बाह्यविशेषणम्। नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षागमाभ्यामबाधितविषयत्वात्। नापि प्रकरणसमः; प्रकरणचिन्ताप्रवर्तकस्य हेत्वन्तरस्यासम्भवात्। अथ मतम्–अधिष्ठानदेश एव चक्षुः नान्यत्र, अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकत्वात्; यद् यद् अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकं तत्तत् अधिष्ठानदेश एव यथा घ्राणादि, अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकञ्च चक्षुः, तस्मात् तद्देश एव, अतः कथमस्य प्राप्यकारित्वं स्यादिति ? तदपि न सङ्गतम्; यतः 'अधिष्ठानदेश एव' इति कोऽर्थः ? किम् अधिष्ठानदेशे सत्, उत अधिष्ठानादव्यतिरिक्तम्, ततोऽन्यत्र असदिति वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; अधिष्ठानदेशे सत्त्वस्य प्राप्यकारित्वाविरोधात्, नह्यधिष्ठानदेशे सतः स्पर्शनादेः प्राप्यकारित्वविरोधो दृष्टः। द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; अधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वस्य

१ प्रत्यसाधारणत्वम् आ०। २ "अथ प्राप्यकारित्वे चक्षुषः किं प्रमाणम् ? इन्द्रियत्वमेव, प्राप्यकारि चक्षुः इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत्।" न्यायवा० पृ० ३६। न्यायवा० ता०टी० पृ०१२२। "प्राप्तप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्, बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्।" प्रश० कन्दली पृ० २३। "चक्षुःश्रोत्रे प्राप्यार्थं परिच्छिन्दाते बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्।" न्यायवा० ता०टी०पृ०७३। ३ "इह केचिदाहुः–अप्राप्यकारि चक्षुः अधिष्ठानाऽसम्बद्धार्थग्राहकत्वात्... तदसत्; अधिष्ठानासम्बद्धार्थग्राहित्वस्य प्रदीपेनानैकान्तिकत्वात्।" श० किरणाव० पृ० ७४।

क्वचिदपि इन्द्रियेऽप्रसिद्धेः, न खलु स्पर्शनादेरपि अधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वम् उभयोः प्रसिद्धम्। तृतीयपक्षोऽप्यसङ्गतः; अधिष्ठानादन्यत्रापि तत्सत्त्वसम्भवात्। अधिष्ठानं हि गोलकरूपम्, तस्मान्निसृताः रश्मयोऽर्थदेशं यावत् प्रसृताः सन्ति प्रदीपान्निसृतरश्मिवत्। अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकत्वञ्च न प्राप्यकारित्वं विहन्ति घ्राणादेस्तत्सद्भावेऽपि प्राप्यकारित्वाऽविरोधात्। न च रश्मिवत्त्वं चक्षुषोऽसिद्धम्; तत्साधकप्रमाणसद्भावात्। तथाहि–रश्मिवच्चक्षुः तैजसत्वात् प्रदीपवत्। नचेदमप्यसिद्धं तत एव, तथाहि–तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् तद्वदेव, अतो रश्मिवत्त्वस्यात्र प्रसिद्धेः। 'प्राप्यकारित्वे चक्षुषो महतः पर्वतादेरप्रकाशप्रसङ्गः' इत्येतत्प्रत्याख्यातम्; धत्तूरकपुष्पवद् आदौ सूक्ष्माणामप्यन्ते महत्त्वोपपत्तेस्तद्रश्मीनाम्। ते हि आलोकमिलिता यावदर्थं वर्द्धन्ते, महतः पर्वतादेः प्रकाशकत्वान्यथानुपपत्तेः। ननु चक्षुषः प्राप्यकारित्वे कथं शाखाचन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहणम्? इत्यपि वार्तम्; युगपद् ग्रहण-

---

१ "रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्।" न्यायसू० ३।१।३२। "तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद् भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य च इति।" न्यायभा० पृ० २४७। २ "कृष्णसारं रश्मिवत् द्रव्यत्वे सति रूपोपलब्धौ नियतस्य साधनाङ्गस्य निमित्तत्वात् प्रदीपवद् इति। अथवा, रश्मिवच्चक्षुः द्रव्यत्वे सति नियतत्वे च सति स्फटिकादिव्यवहितार्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्।" न्यायवा० पृ० ३८१। न्यायवा० ता० पृ० ५२५। "तैजसत्वं तु तस्य रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्याभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।" प्रशस्त० कन्दली पृ० ४०। प्रश० व्योमवती पृ० २५६। "यद्गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपस्य व्यञ्जकम् इन्द्रियं तत्तैजसम्...तैजसत्वे च स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपाभिव्यञ्जकत्वं प्रदीपवत्" प्रश० किरणावली पृ० ७३। वैशे० उप० पृ० १२८। "चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्" मुक्तावली पृ० १७६। ३ "यच्च महदणुप्रकाशकत्वं तदप्यन्यथासिद्धत्वादसाधनम्; तथाहि–चक्षुर्बहिर्गतं बाह्यालोकसम्बन्धाद्विषयपरिमाणमुत्पद्यते......" प्रश० व्योमवती पृ० १५९। "पृथुतरग्रहणस्यापि पृथुतरतया तद्वदेवोपपत्तेः" प्रश० किरणावली पृ० ७४। ४ "यत्पुनरेतत् शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणात् इति; तदपि न; अनभ्युपगमात्। को हि स्वस्थात्मा शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणं प्रतिपद्यते? कालभेदाग्रहणात् मिथ्याप्रत्यय एषः उत्पलदलशतव्यतिभेदवत् इति।" न्यायवा० पृ० ३५। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२०। प्रश० कन्दली पृ० २३। व्योमवती पृ० १५९। प्रश० किरणावली पृ० ७४। मुक्तावली पृ० १७८। "समसमयसंवेदने तु केचित्परिहारमेवं वर्णयन्ति–सकलानर्थान् व्याप्य युगपदवस्थितेन बाह्येन तेजसा सह एकीभूतास्ते चाक्षुषा रश्मयः युगपद् ग्रहणहेतवः इति। तत्र अपरे दूषयन्ति–इत्थं प्राप्तावभ्युपगम्यमानायाम् अतिदूरव्यवहितानामप्यर्थानां ग्रहणं दुर्निवारम्। अन्ये त्वाहुः क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद्यौगपद्याभिमान इति। तदप्यन्ये नानुमन्यन्ते–अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु कालभेदः पद्मपत्रशतव्यतिभेदवन्मा नामावसायि। अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेष्वर्थेषु ध्रुवे च कालभेदानध्यवसायो न बुद्धिमनुरञ्जयतीति। वयं तु वदामः अदृष्टापेक्षत्वाद्दोषः, नयनरश्मिभिरेकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागः अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्तः तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वः, इति न सर्वोपलम्भः युगपच्च भौमध्रुवादिदर्शनसिद्धिः।" प्रकरणपं० पृ० ४५।

स्यासिद्धत्वात्; प्रथमतो हि चक्षुः सन्निकृष्टां शाखां प्राप्य प्रकाशयति, पश्चाद्विप्रकृष्टं चन्द्रमसम्, युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानस्तु उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् भ्रान्तिनिबन्धनः। दूरनिकटादि[1]व्यवहारोऽपि चक्षुषः प्राप्यकारित्वे न दुर्घटः; शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टतोपपत्तितस्तस्य सुघटत्वात्। यदि[2] चाप्राप्यकारि चक्षुः स्यात्तर्हि कुड्याद्यव्यवहितवत् तद्व्यवहितस्यापि घटादेर्मेर्वादेश्चानेकयोजनशतव्यवहितस्यापि तत् प्रका[3]शकं स्यात् क्वचित्प्रत्यासत्ति-विप्रकर्षाऽभावात्, न चैवम्, अतः प्राप्यकारि तत् प्रतिपत्तव्यम्।

कारकत्वा[4]च्च; यत् कारकं तत् प्राप्यकारि यथा वास्यादि, कारकश्च चक्षुरिति। यच्चास्याप्राप्यकारित्वे साधनमभिधीयते–'अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वात्' इति; तत् साध्याऽविशिष्टत्वाद् असाधनमेव। पर्युदासप्रतिषेधे हि यदेवास्याऽप्राप्यकारित्वं तदेव अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वम्। प्रसज्यप्रतिषेधस्तु जैनैर्नाभ्युपगम्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गादिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'बाह्येन्द्रियत्वात्[5]' इति; तत्र किमिदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम?

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं चक्षुषः अप्राप्यकारित्वप्रसाधनम्–

बहिरर्थग्रहणाभिमुख्य[6]म्, बहिर्देशावस्थायित्वम्, बहिःकारणप्रभवत्वम्, इन्द्रियस्वरूपातीतत्वम्, मनोऽन्यत्वं वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पे मनसाऽनेकान्तः; तस्याप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्। द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य, गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशेऽवस्थायित्वं स्यात्? प्रथमपक्षे किमिदं तत्र तस्यावस्थायित्वम्–आश्रितत्वम्, प्रकाशकत्वेन प्रवृत्तिर्वा? तत्राद्यविकल्पे अपसिद्धान्तः; रश्मिरूप-

---

१ "यत्पुनरेतदुक्तम्–दिग्देशव्यपदेशात् इति; तदपि शरीरावधिनिमित्तत्वात्। यत्र इन्द्रियं शरीरञ्च अर्थेन सम्बद्ध्यते तत्र दिग्देशव्यपदेशो न भवति दूरान्तिकानुविधानं वा। यत्र तु इन्द्रियमेव केवलं सम्बद्ध्यते तत्र शरीरमवधिं कृत्वा संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वं भूयस्त्वं वाऽपेक्ष्यमाणस्य दिग्देशप्रत्ययाः सन्निकृष्टविप्रकृष्टप्रत्ययाश्च भवन्ति।" न्यायवा० पृ० ३५। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२१। "इन्द्रियसम्बन्धस्य अतीन्द्रियत्वात् न तद्भावाऽभावकृतौ सान्तरनिरन्तरप्रत्ययौ, किन्तु शरीरसम्बन्धभावाभावकृतौ; यत्र शरीरसम्बद्धस्यार्थस्य ग्रहणं तत्र निरन्तरोऽयम् इति प्रत्ययः, यत्र तु तदसम्बद्धस्य तत्र सान्तर इति" प्रश० कन्द० पृ० २४। २ यदि प्राप्य–ब०, ज०। "यद्यप्राप्यकारि चक्षुः भवति न कुड्यकटादेः आवरणस्य सामर्थ्यमस्ति इत्यवरणानुपपत्तिः स्यात्। न च व्यवहितार्थोपलब्धिरस्ति तस्माच्च अप्राप्यकारि।" न्यायवा० पृ० ३५। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२१। न्यायमं० पृ० ४७९। "ये पुनरप्यकारि चक्षुराहुः तेषां व्यवहितविप्रकृष्टार्थग्रहणं दुर्निवारम् सन्निधान इव विप्रकृष्टेऽपि स्फुटतरमणीयांसोऽप्यर्था गृह्येरन्।" प्रकरणपं० पृ० ४५। न्यायमं० पृ० ४७९। ३ प्रकाशः कस्मात् ब०, ज०। –शकं क्वचि–भां०। ४ "करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्टं तथा च इन्द्रियाणि, तस्मात् प्राप्यकारीणि।" न्यायवा० पृ० ३६। "कारकञ्च अप्राप्यकारि च इति चित्रम्।" न्यायमं० पृ० ४७९। "इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात्।" न्यायमं० पृ० ७३। ५ पृ० ७५ पं० १२। बाह्येन्द्रियात् भां०। ६ "किं बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वम् बहिःकारणप्रभवत्वं वा स्यात्?" स्या० रत्ना० पृ० ३२८। प्रमेयक० पृ० ५९ पू०। रत्नाकराव० पृ० ५५।

स्य चक्षुषो भवता वहिर्देशाश्रितत्वस्यानभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवद्भिः प्रतिज्ञाताः। द्वितीयविकल्पे त्वसिद्धो हेतुः; रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाऽभावतः प्रकाशकत्वेन वहिर्देशे तत्प्रवृत्तेरसिद्धेः। तद्ग्राहकप्रमाणाभावश्च अत्रैव प्रतिपादयिष्यते। दृष्टान्तश्च साधनविकलः; तथाविधवाह्येन्द्रियत्वस्य त्वगादावसम्भवात्। गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो वहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षवाधा; अर्थदेशासम्बद्धस्यास्य शरीरप्रदेश एव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। वहिःकारणप्रभवत्वमपि मनसैवाऽनैकान्तिकम्; आत्मापेक्षया हि वहिः[1]कारणं पुद्गलतत्त्वम् तत्प्रभवत्वञ्च चक्षुरादीन्द्रियवत् मनसोऽस्त्येव, अस्यापि पौद्गलिकत्वेन षट्पदार्थपरीक्षायां प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। इन्द्रियस्वरूपातीतत्वञ्च अपसिद्धान्तप्रसङ्गादनुपपन्नम्। मनोऽन्यत्वमपि मनसः सिद्धौ सिद्ध्येत, न च तत्सिद्धं भवत्परिकल्पितस्य मनसः षट्पदार्थपरीक्षायां निराकरिष्यमाणत्वात्। सिद्ध्यतु वा; तथापि वाह्येन्द्रियत्वं मनोऽन्यत्वे सतीन्द्रियत्वम् उच्यते, तत्र[2] च मनोऽन्यवच्छेदार्थं[3] वाह्यविशेषणमयुक्तम्; तस्यापि सर्वत्र प्राप्यकारित्वात्, सुखादौ हि संयुक्तसमवायादिसम्बन्धात्, व्याप्तौ तु सम्बन्धसम्बन्धात् तज्ज्ञानमुत्पादयति रूपादौ नेत्रादिवत्, न खलु रूपादौ नेत्रादेरपि सम्बन्धसम्बन्धादन्यः सम्बन्धोऽस्ति।

धर्मित्वे[4]न चात्रोपात्तं चक्षुः गोलकस्वभावम्, रश्मिरूपं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः; अर्थेनासम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेश एव गोलकस्वभावस्य चक्षुषः प्रत्यक्षतः प्रतीतेः, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्योपलम्भः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु धर्मिणोऽ[5]सिद्धिः; रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेः। तत्साधकं हि प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षम्; अर्थवत्तत्र तत्स्वरूपाऽप्रतीतेः न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्, नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते। किञ्च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं भवन्मते[6], न चार्थदेशे विद्यमानैस्तैः अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षोऽस्ति यतस्तत्र प्रत्यक्षमुत्पद्येत अनवस्थाप्रसङ्गात्। अनुमानतोऽपि अतएव, अन्यतो वा तत्सिद्धिः स्यात्? यदि अतएव; अन्योन्याश्रयः–प्र[7]सिद्धे हि अनुमानोत्थानेऽतस्तत्सिद्धिः, अस्याश्चानुमानोत्थानमिति। अनुमानान्तरात् तत्सिद्धावनवस्था; धर्मिणस्तत्राप्यनुमानान्तरात् सिद्धिप्रसङ्गात्।

एतेन यदुक्तं[†] रश्मिप्रसाधकमनुमानम्–'रश्मिवच्चक्षुः तैजसत्वात्' इति; तत्प्रत्याख्यातम्; उक्तप[8]क्षदोषाणामत्राप्यविशेषात्। किञ्च, रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुषः प्रसाध्यते, तद्व्यति-

१–रणत्वं पुद्गलवत्त्वं आ०, ब०, ज०। "आत्मापेक्षया हि वहिःकारणं पुद्गलतत्त्वं तत्प्रभवत्वञ्च चक्षुरादीन्द्रियवत् मनसोऽप्यस्त्येव।" स्या० रत्ना० पृ० ३२९। २–त्र मनो–भां०। ३ मनः। ४ "चक्षुश्चात्र धर्मित्वेनोपात्तं गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा?" प्रमेयक० पृ० ५९ उ०। न्यायवि० वि० पृ० ३९७ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ३१९। रत्नाकराव० पृ० ५२। ५ धर्मवत्तात्र ब०, ज०। ६ यौगमते। ७ सिद्धे हि ब०, ज०। ८ उक्तदोषपक्षाणाम् भां०, आ०। "रश्मिवल्लोचनं सर्वं तैजसत्वात् प्रदीपवत्। इति सिद्धं (?) न नेत्रस्य ज्योतिष्कत्वं प्रसाधयेत्॥३६॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२२। राजवा० पृ० ४८। प्रमेयक० पृ० ६० पू०। स्या० रत्ना० पृ० ३१९। †पृ० ७६ पं० ५।

रिक्तस्य वा ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य; तस्यासिद्धस्वरूपत्वात्, अपसिद्धान्तप्रसङ्गाच्च[1]। गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा; प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। अथ अदृश्या[2]स्तद्रश्मयः अनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वात्, अतो नास्य प्रत्यक्षबाधा; कथमेवं रूपप्रकाशकत्वं तस्य स्यात् ? तथाहि–चक्षू रूपप्रकाशकं न भवति, अनुद्भूतरूपत्वात्, जलसंयुक्तानलवत्। न चानुद्भूतरूपस्पर्शं तेजोद्रव्यं क्वचित् प्रतीयते। जलहेम्नोर्भासुररूपोष्णस्पर्शयोरनुद्भूतिप्रतीतिरस्ति; इत्यप्यसम्यक्; उभया[3]नुद्भूतेस्तत्राप्यप्रतिपत्तेः। दृष्टानुसारेण चादृष्टार्थकल्पना, अन्यथा पृथिव्यादेरपि तद्व[4]त्ताप्रसङ्गः; तथाहि–रश्मिवन्तः पृथिव्यादयः द्रव्यत्वात् प्रदीपवत्। यथैव हि तैजसत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रदीपे प्रतिपन्नं तथा द्रव्यत्वमपि। अथ ततस्तेषां तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः, सोऽन्यत्रापि समानः। अथ मार्जारा[5]दिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः, तत्कथं तद्विरोधः ? यदि नाम तत्र ते प्रतीयन्ते अन्य[6]त्र किमायातम् ? अन्यथा हेम्नि पीतत्वस्य सुवर्णत्वेन व्याप्तिप्रतिपत्तेः पटादौ पीतत्वोपलम्भात् सुवर्णत्वसिद्धिः स्यात्। प्रत्यक्षबाधनम् अन्यत्रापि। रश्मिवत्त्वे चास्य अर्थप्रकाशने आलोकापेक्षा न स्यात्; तथाहि–यद् रश्मिवत् तदर्थप्रकाशने नालोकापेक्षं यथा प्रदीपः, रश्मिवच्च भवद्भिरभिप्रेतं चक्षुरिति। तथा त[7]द्वत्त्वे स्वसम्बद्धस्याञ्जनादेः प्रकाशकत्वप्रसङ्गः, न खलु प्रदीपस्तद्वान् स्वसम्बद्धं शलाकादिकं न प्रकाशयति इति प्रातीतिकम्।

प्रयोगः–यद् रश्मिवत् तत्स्वसम्बद्धमर्थं प्रकाशयत्येव यथा प्रदीपः, रश्मिवच्च चक्षुः, तस्मात्स्वसंम्बद्धं कामलादिकं प्रकाशयेदेव। न[8] चात्र चक्षुषः सम्बन्धोऽपि नास्ति इत्यभिधातव्यम्; यतो गोलक[9]स्वरूपं चक्षुस्तत्रासम्बद्धम्, रश्मिरूपम्, शक्तिस्वभावं वा ? तत्राद्यपक्षे प्रत्यक्षविरोधः; गोलकस्वरूपस्य चक्षुषः काचादौ सम्बन्धप्रतीतेः। द्वितीयपक्षेऽपि तत्रास्य सम्बन्धोऽ-

---

१–ङ्गात् गो–ब०, ज०। २ "अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः तस्मात् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते इति। दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः–उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजः यथा आदित्यरश्मयः। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षं तेजः यथा प्रदीपरश्मयः। उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथा अबादिसंयुक्तं तेजः। अनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिरिति।" न्यायभा० पृ० २५०। न्यायवा० पृ० ३७८। "चाक्षुषे च रश्मौ रूपसंस्कारः रूपोद्भवो नास्ति। मध्यन्दिनोल्काप्रकाशे च रूपसंस्कारो रूपानभिभवो नास्ति इति न तेषां प्रत्यक्षता।" वैशे० उप० पृ० १२०। ३ "नानुद्भूतद्वयं तेजो दृष्टं चक्षुर्यतस्तथा। अदृष्टवशतस्तच्चेत् सर्वमक्षं तथा न किम् ॥ ५० ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ २३३। प्रमेयक० पृ० ६० पू०। सन्मति० टी० पृ० ५४१। ४ रश्मिवत्ता। ५ "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च।" न्यायसूत्र ३।१।४३। "दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयः नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्, तेन शेषस्यानुमानमिति।" न्यायभा० पृ० २५४। न्यायमं० पृ० ४८०। ६ अस्मदादिचक्षुषि। ७ "यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् तदा अत्यभ्यासेपि पश्येदक्षिस्थाम् अञ्जनशलाकाम्, दूरे च व्यक्तदर्शनं स्यात्। न चैतत् संभवति इत्ययुक्तमेतत्।" चतुःशतकवृ० पृ० १८६। ८ "बाह्यं चक्षुर्यदा तावत् कृष्णतारादि दृश्यताम्। प्राप्तं प्रत्यक्षतो बाधात् तस्यार्थाऽप्राप्तिवेदिनः ॥ ६ ॥ "शक्तिरूपमदृश्यं चेदनुमानेन बाधनं। आगमेन स्वनिर्णीतासंभवद्बाधकेन च ॥ १० ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३०। ९ गोलकरूपम् ब०, ज०। "यतो व्यक्तिरूपं चक्षुः तत्र असम्बद्धं शक्तिस्वभावं वा रश्मिरूपं वा ?" प्रमेयक० पृ० ५९ उ०।

स्येव, नहि स्फटिकादिकूपिकामध्यगतप्रदीपादिरश्मयः ततो निर्गच्छन्तः तत्संयोगिना न सम्बद्धाः तत्प्रकाशका वा न भवन्तीति प्रतीतिः[1]। शक्तिरूपम्[2]अपि चक्षुः व्यक्तिरूपचक्षुषो भिन्नदेशम्, अभिन्नदेशं वा स्यात्? न तावद्भिन्नदेशम्; तच्छक्तित्वव्याघातानुषङ्गात्, निराश्रयत्वप्रसङ्गाच्च। न हि अन्यशक्तिरन्याश्रया युक्ता, तद्देशद्वारेणैवार्थोपलब्धिप्रसङ्गश्च[3]। अथ ततोऽभिन्नदेशम्; तत्तत्र सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा? यदि सम्बद्धम्; बहिरर्थवत् स्वाश्रयं तत्सम्बद्धञ्चाञ्जनादिकं प्रकाशयेत्। अथासम्बद्धम्; कथमाधेयं नाम अतिप्रसङ्गात्?

†यदपि-'तैजसत्वात्' इति साधनमुक्तम्; तदप्ययुक्तम्; असिद्धत्वात्। तदसिद्धत्वञ्च कुतश्चित्प्रमाणात्तत्र तस्याऽप्रतीतेः। तद्धि गोलकस्वरूपस्य चक्षुषोऽभ्युपगम्येत, रश्मिरूपस्य वा? यदि गोलकस्वरूपस्य; तदाऽध्यक्षबाधा, भासुररूपोष्णस्पर्शरहितस्यास्य अध्यक्षतः प्रतीतेः। अनुमानबाधश्च; तथाहि-चक्षुस्तैजसं न भवति, भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात्, यद् यत्तथाविधं तत् (तत्तत्) तैजसं न भवति यथा मृत्पिण्डादिः, भासुररूपोष्णस्पर्शरहितञ्च चक्षुः, तस्मात्तैजसं न भवतीति। तथा[4], न तैजसं चक्षुः, तमःप्रकाशकत्वात्, यत्पुनस्तैजसं तन्न तमःप्रकाशकं यथा आलोकः, तमःप्रकाशकञ्च चक्षुः, तस्मान्न तैजसमिति। रश्मिरूपस्य तु चक्षुषो[5]ऽसिद्धस्वरूपत्वान्न तैजसत्वमुपपद्यते, न खलु रश्मयः प्रत्यक्षादितः[6] प्रसिद्ध्यन्तीत्युक्तम्। ननु मार्जारादिनेत्रे नेत्रत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रतिपन्नम्, अतोऽन्यत्रापि मनुष्यादिनेत्रे[7] नेत्रत्वाद्रश्मिवत्त्वं ततस्तैजसत्वञ्च प्रसाध्यते, तर्हि गवादिनेत्रे नेत्रत्वं कृष्णत्वेन नरनारिनेत्रे च धावल्येन व्याप्तं प्रतिपन्नम्, अतोऽविशेषेण कार्ष्ण्यं धावल्यं वा पार्थिवत्वम् आप्यत्वं वा प्रसाध्यताम् अविशेषात्।

‡यदपि-'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति तत्तैजसत्वे साधनमभिहितम्, तदपि जलाऽञ्जन-चन्द्र-माणिक्यादिभिरनैकान्तिकम्[8]। न चैतद्वक्तव्यम्-जलादीन् प्रति गत्वा व्यावृत्तानां चक्षूरश्मीनामेव तत्प्रकाशकत्वम्, न जलादीनाम् इति; सर्वत्र दृष्टहेतुवैफल्यापत्तेः। तथा च दृष्टान्ताऽसिद्धिः; प्रदीपादावपि अन्यस्यैव तत्प्रकाशकत्वप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षबाधनम् उभयत्र। रूपप्रकाशकत्वञ्च रूपस्यानुभवः, तत्र ज्ञानजनकत्वं वा? प्रथमविकल्पे रूपज्ञानेनानैकान्तः; तस्यातैजसत्वेऽपि रूपानुभवसम्भवात्। द्वितीयविकल्पे तु घटादिरूपेणानैकान्तः, तस्याऽतैजस-

---

१ प्रतीतम् ब०, ज०, मां०। २ "चक्षुषा शक्तिरूपेण तारकागतमञ्जनम्। न स्पृष्टमिति तद्देतोरसिद्धत्वमिहोच्यते ॥ १२ ॥ शक्तिर्हि शक्तिमतोऽन्यत्र तिष्ठतार्थेन युज्यते। तत्रस्थेन तु नैवेति कोऽन्यो ब्रूयाज्जडात्मनः ॥ १३ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३०। ३-शं तत्र-मां०। ४ "चक्षुस्तैजसं न भवति तमःप्रकाशकत्वात्।" स्या० रत्ना० पृ० ३२४। ५-षोऽप्रसि-मां०। ६-तः सिद्ध्य-मां०। ७-नेत्रेऽपि मनुष्यादिनेत्रत्वात्र-मां०। ८ "रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् इति हेतुश्च जलाञ्जनचन्द्रमाणिक्यादिभिरनैकान्तिकः।" प्रमेयक० पृ० ६० उ०। सन्मति० टी० पृ० ५४१। स्या० रत्ना० पृ० ३२०। रत्नाकराव० पृ० ५३। †पृ० ७६ पं० ५। ‡पृ० ७६ पं० ६।

स्यापि रूपज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात्। 'करणत्वे सति' इति विशेषणेऽपि आलोकार्थसन्निकर्षेण चक्षूरूपयोः संयुक्तसमवायेन चानेकान्तः,'द्रव्यत्वे सति' इति विशेषणेऽपि चन्द्रादिनाऽनेकान्तः। अतश्चक्षुषा कुतश्चित्तैजसत्वाऽसिद्धेः कथं रश्मिवत्त्वं सिद्ध्येत् यतः प्राप्यकारित्वं स्यात् ?

किञ्च, अस्य प्राप्यकारित्वे विषयश्चक्षुर्देशमागच्छेत्, चक्षुर्वा विषयदेशम् ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा; चक्षुःप्रदेशे विषयस्य गमनाऽप्रतीतेः, न हि चक्षुःप्रदेशे पर्वतादेर्विषयस्यागमनं केनचिद् दृष्टमिष्टं वाऽनुपहतचेतसा। द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधः; विषयं प्रति चक्षुषो गमनाऽप्रतीतेः,'चक्षुर्गत्वा नार्थेनाभिसम्बद्ध्यते, इन्द्रियत्वात्, त्वगादिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च। तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति असम्बन्ध एव किन्नाभ्युपगम्यते अलं प्रतीत्यपलापेन ?

किञ्च, चक्षुर्गत्वा संयुज्य अर्थं चेद् द्योतयति, तर्हि यथा विप्रकृष्टस्याऽऽदित्यादेः संयुक्तसमवायाद् रूपं द्योतयति, एवं कर्माऽपि द्योतयेत् संयुक्तसमवायाऽविशेषात्। कथञ्चैवंवादिनः काचाऽभ्रपटल-स्वच्छोदक-स्फटिकाद्यन्तरितार्थानामुपलम्भः स्यात् चक्षुषस्तत्र गच्छतः काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात् ? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षूरश्मयोऽर्थदेशं गच्छन्ति; तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादेरनुपलम्भः, तदाधेयद्रव्यस्य पातश्च स्यात् तदाधारस्यावयविनो नाशात्, न चैवम्, युगपत्तयोर्निरन्तरमुपलम्भात्। पूर्वपूर्वव्यूहनिवृत्तौ उत्तरोत्तरतद्रूपव्यूहान्तरस्याशूत्पत्तेः प्रदीपाग्निज्वालावत् निरन्तरताभ्रमे सौगतमतसिद्धिः; सर्वार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वेऽपि इत्थं निरन्तरताभ्रमप्रसङ्गात्। एतेन 'शाखाचन्द्रमसोः क्रमेणानुभवेऽपि आशुवृत्त्योत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धनः' इति प्रत्याख्यातम्।

यच्चान्यदुक्तम्–'शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टतोपपत्तेर्दूरनिकटादिव्यवहारः सुघटः' इति; तदपि श्रद्धामात्रम्; इन्द्रियसन्निकर्षेणास्य प्रतिपत्तौ तथा तद्व्यवहारानुपपत्तेः। तथाहि–यद् इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारः यथा रसादौ, इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति।

प्राप्यकारित्वे च चक्षुषः संशय-विपर्ययानुपपत्तिः; सामान्यवद् विशेषाणामपि सन्निकृष्टानामुपलम्भसंभवात्। विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि संशयो विपर्ययश्च। न च चक्षुषा सन्निकृष्ट-

---

१ "पश्येच्चक्षुश्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत्। अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वाद् विषयदेशं गच्छेत्तदा उन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात्।" चतुःशतक पृ० १८६। २ 'चक्षुर्गत्वा अर्थेन सम्बद्ध्यते' इत्येवंवादिनः। "काचेन अभ्रपटलेन स्फटिकेन अम्बुना च अन्तरितं व्यवहितं रूपं कथं दृश्यते सप्रतिघत्वात् ? काचादिव्यवहितं चक्षुर्न पश्येत्, तच्च पश्यति इति सिद्धान्तः।" स्फुटार्थअभि० पृ० ८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३०। प्रमेयक० पृ० ६१ उ०। सन्मति० टी० पृ० ५४४। रत्नाकराव० पृ० ५८। ३ "अथ पूर्वपूर्वकाचादिव्यूह (नि)-वृत्तौ उत्तरोत्तरतद्रूपव्यूहान्तरस्योपपत्तेः प्रदीपज्वालावत् निरन्तरताभ्रान्तिः इत्युच्यते"...स्या० रत्ना० पृ० ३२६। ४ पृ० ७७ पं० ३। ५ "अप्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययाभाव इति चेत् प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात्" तत्त्वार्थराजवा० पृ० ४८। स्या० रत्ना० पृ० ३३२।

त्वाऽविशेषेऽपि सामान्यमेवोपलभ्यते न विशेषः इत्यभिधातव्यम्; विशेषाभावात्। तन्न प्राप्यकारित्वं चक्षुषो घटते। न च[1]अप्राप्यकारित्वे सकलार्थप्रकाशकत्वप्रसङ्गः; योग्यदेशापेक्षणाद् अयस्कान्तवत्, नहि अयस्कान्तोऽयसोऽप्राप्तस्याकर्षणे प्रवर्तमानः सर्वस्यायसः तथाविधस्याकर्षणे समर्थः, अपि तु योग्यदेशस्थस्यैव। अञ्जन-तिलक-मन्त्रादिर्वा अप्राप्तस्यापि स्त्र्यादेराकर्षकः सन् न सर्वस्याकर्षको दृष्टः नियतस्यैव स्त्र्यादेः तेनाकर्षणोपलम्भात्। भवतोऽपि च 'चक्षूरश्मयो लोका[2]न्तं गत्वा किमिति रूपं न प्रकाशयन्ति, चक्षुर्वा संयुक्तसमवायाद् यथा रूपं प्रकाशयति तथा गन्धादिकमपि[3] किमिति न प्रकाशयेत् तत्रापि तस्याविशेषात्?' इति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

यदपि 'कारकत्वात्' इत्युक्तम्[4]; त[5]दपि मनसा अयस्कान्ताऽञ्जनतिलकमन्त्रादिना चानैकान्तिकम्, तस्य कारकत्वेऽपि अप्राप्यकारित्वात्। यदपि 'अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वात्' इत्यस्य साध्याविशिष्टत्वमुक्तम्[6]; तदप्य[7]युक्तम्; प्रसङ्ग[8]साधनत्वादेतस्य, श्रोत्रादौ हि प्राप्यकारित्वाऽत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वयोः व्याप्य-व्यापकभावसिद्धौ सत्यां परस्य व्यापकाभावेष्ट्या अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वलक्षणया अनिष्टस्य प्राप्यकारित्वलक्षणव्याप्याभावस्य आपादनमात्रमेवानेन विधीयते इति[9]।

---

१ "अथ दूषणं सर्वाप्राप्तग्राहकत्वं चक्षुःश्रोत्रलक्षणस्य धर्मिणः प्रसज्यते; तददूषणम्; अनुमानबाधात्। कथमित्याह–कथं तावदयस्कान्तो न सर्वमप्राप्तमयः कर्षति इति। न सर्वाप्राप्तग्राहकं चक्षुःश्रोत्रं सर्वाप्राप्तग्रहणशक्तिहीनत्वात् अयस्कान्तवत्। अयस्कान्तो हि अप्राप्तमयो गृह्णाति'''न सर्वमप्राप्तं गृह्णाति''' अथवा न सर्वस्वग्राह्यग्राहि चक्षुःश्रोत्रं इन्द्रियस्वाभाव्यात्। स्फुटार्थ अभि० पृ० ८८। "अप्राप्यकारित्वे व्यवहितातिविप्रकृष्टग्रहणप्रसङ्गः इति चेन्न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात्। अयस्कान्तोपलम् अप्राप्य लोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टम्।" तत्त्वार्थरा०वा० पृ० ४८। स्या० रत्ना० पृ० ३३३। रत्नाकराव० पृ० ५७। २–कान्तरं गता कि–भां०। ३–मपि प्रका–आ०, ब०, ज०। ४ पृ० ७७ पं० ७। ५ "तथैव कारणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता। मन्त्रेण भुजगाद्युच्चाटकादिकरेण वा ॥८८॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३४। स्या० रत्ना०पृ० ३३०। "अथ प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वात् वास्यादिवत् इति ब्रूये तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः।" प्रमाणमी० पृ० ३७। स्या० रत्ना० पृ० ३३०। ६ पृ० ७७ पं० ८। ७ तदयुक्त–भां०। ८ "प्रसङ्गसाधनत्वादेतस्य"''' प्रमेयक० पृ० ६१ उ०। ९ सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-जैमिनीयाः सर्वबहिरिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं मन्यन्ते। बौद्धाः त्वग्-घ्राण-रसनानां प्राप्यकारित्वं चक्षुःश्रोत्रयोरप्राप्यकारित्वञ्च स्वीकुर्वते। जैनास्तु त्वग्-घ्राण-रसन-श्रोत्राणां प्राप्यकारित्वं चक्षुषश्च अप्राप्यकारित्वं साधयन्ति। तत्तद्ग्रन्थानां सन्निकर्षचर्चाविषयकस्थलानि निम्नप्रकाराणि बोध्यानि–सांख्यद० सू० १।८७ पृ० ६२। मुक्ताव० पृ० १७६। न्यायद० सू० ३।१।३०, पृ० २४६। न्यायवा० पृ० ३३, ३७३। न्यायवा० ता० टी० ११६, ५२०। न्यायसारटी० पृ० ७३। न्यायमं० पृ० ७३, ४७७। प्रशस्त० कन्द० पृ० २३। व्योमवती पृ० १५९, २५६। प्रश० किरणा० पृ० ७४। शाबरभा० सू० १।१।४, पृ० २१। मी० श्लो० पृ० १४६। प्रकरणपं० पृ० ४४। प्रमाणसमु० श्लो० २० पृ० ४०। स्फुटार्थअभि० पृ० ८४। चतुःशतक पृ० १८६। तत्त्वसं० पं० पृ० ६८२। प्रज्ञा० १५, पृ० २९८। आवश्यकनि० गा० ५। विशेषाव० भा० गा० २०४-२१२ पृ० १२२,

'श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वम्' इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः–

ननु 'श्रोत्रादौ हि' इत्याद्ययुक्तमुक्तम्; चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वे साध्ये श्रोत्रस्य विपक्षतानुपपत्तेः तद्वत्तस्याप्यप्राप्यकारित्वात्। "*चक्षुःश्रोत्रमनसामप्राप्तार्थप्रकाशकत्वम्*" [ ] इत्यभिधानात्। प्राप्यकारित्वे-चास्य तद्विषये दूरादिव्यवहारो न स्यात्, अस्ति चात्रायम् 'दूरे शब्दः' 'निकटे शब्दः' इति व्यवहारोपलम्भात्, अतोऽप्राप्यकारित्वमेवास्योपपन्नम्। तथा च प्रयोगः–शब्दः स्वग्राहकेण असन्निकृष्ट एव गृह्यते, दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वात्, पादपादिवत्। न चासन्निकृष्टस्य शब्दस्य ग्रहणे कथं ततः श्रोत्राभिघातः इत्यभिधातव्यम्; भासुररूपस्यासन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि अतश्चक्षुषोऽभिघातोपलम्भात्। इयांस्तु विशेषः अत्र तेजस्विताऽभिघातहेतुः, शब्दे तु तीव्रतेति।

तत्प्रतिविधानम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'शब्दः स्वग्राहकेणासन्निकृष्ट एव गृह्यते' इत्यादि; तत्र पक्षस्याध्यक्षबाधा; कर्णशष्कुल्यन्तःप्रविष्टस्य मशकादिशब्दस्य प्रकाशकत्वेन श्रोत्रस्याध्यक्षतः प्रतीतेः, अतोऽग्नावनुष्णत्ववत् स्वग्राहकेणासन्निकृष्टत्वं शब्दस्याध्यक्षबाधितम्। हेतुश्च गन्धेनानैकान्तिकः; तस्य स्वग्राहकेण सन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वप्रतीतेः। न च तथा प्रतीयमाने गन्धे दूर-निकटादिव्यवहारोऽसिद्धः; 'दूरे पद्मगन्धः, निकटे मालतीगन्धः' इत्यादिव्यवहारस्य लोके सुप्रसिद्धत्वात्।

किञ्च, दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वं साकारज्ञानपक्षमभ्युपगम्य उच्यते, निराकारज्ञानपक्षं वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; स्वज्ञानगतस्य शब्दाकारस्य ग्रहणे दूर-निकटव्यवहारानुपपत्तेः। यस्य

तथा गा० ३३६-३४० पृ० १९९। तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ८७। सर्वार्थसिद्धि पृ० ५७। राजवा० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२९। प्रमेयक० पृ० ५९। न्यायवि० वि० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ५४०। स्या० रत्ना० पृ० ३१८। रत्नाकराव० पृ० ५१।

१ "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा। घ्राणादिभिः त्रिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्।" अभि० कोश १।४३। "चक्षुः-श्रोत्र-मनोऽप्राप्तविषयम् उपात्तानुपात्तमहाहेतुः शब्दः इति सिद्धान्तात्" तत्त्वसं० पं० पृ० ६०३। स्या० रत्ना० पृ० ३३३। "चक्षुःश्रोत्रमनसाम् अप्राप्तार्थकारित्वम्" सन्मति० टी० पृ० ५४५। २ भास्वर–भां०। ३ "इयांस्तु विशेषः अत्र तेजस्विता अभिघातहेतुः शब्दे तु तीव्रता।" स्या० रत्ना० पृ० ३३३। ४–बाधः आ०। "विप्रकृष्टशब्दग्रहणे च स्वकर्णतान्तर्विलगन्मशकशब्दो नोपलभ्येत।" तत्त्वार्थ-राजवा० पृ० ४८। "अप्राप्यकारित्वे श्रोत्रस्य चक्षुष इव अत्यासन्नविषयप्रकाशकत्वं न स्यात् इति मशकादिशब्दस्य प्राप्तस्य प्रत्यक्षतः प्रकाशकत्वेन प्रतीयमानस्य अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्य अध्यक्षबाधितम् अग्नौ अनुष्णत्ववत्।" सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४। ५ "दूरे जिघ्राम्यहं गन्धमिति व्यवहृतीक्षणात्। घ्राणस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिरिष्टहानितः॥ ९२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४। रत्नाकराव० पृ० ५९। ६ "यतः साकारज्ञानपक्षे अनाकारज्ञानपक्षे वायमभ्युपगम इति वाच्यम्।" सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४। ७–स्य ग्रह–भां०।

हि निराकारं ज्ञानं भिन्नदेशमर्थं वेत्ति तस्य 'इदं दूरम्, इदं निकटम्' इति वक्तुं युक्तम्। साकारज्ञानवादिनः पुनः यद् दूरादि न तज्ज्ञानवेद्यम्, अवेद्ये च न दूरादिव्यवहारो युक्तः, न ह्यन्धस्य 'किञ्चिद्दूरं निकटंवा' इति व्यवहारस्तात्त्विकोऽस्ति;यच्च वेद्यं ज्ञानस्य स्वाकारमात्रम् न तद्दूरादि, ज्ञानस्वरूपादभिन्नत्वात् । नहि ज्ञानस्य स्वरूपं सुखादयो वा ज्ञानादभिन्नाः प्रतीयमानाः दूरादिव्यवहारभाजः प्रतीयन्ते, सर्वत्र आसन्नव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। अथात्रापि आकाराधायकस्य दूरादित्वाद् दूरादिव्यवहारः; व्यर्थस्तर्हि तदप्राप्यकारित्वप्रसाधनप्रयासः, कर्णशष्कुलिप्रविष्टशब्दग्रहणेऽपि दूरादिव्यवहारस्य तन्मूलकारणदूरादित्वेनोपपद्यमानत्वात्। दृश्यते हि गन्धस्य घ्राणेन्द्रियसन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि तन्मूलकारणदूरादित्वेन 'दूरे पद्मगन्धः' इत्यादिव्यवहारः ।

किञ्च, स्वरूपत एव शब्दो दूरादिस्वभावः, दूरादिकारणप्रभवत्वात्, दूरादिदेशादागतत्वात्, दूरादिदेशे स्थितत्वाद्वा ? न तावत्स्वरूपतः; निकटस्यापि तथाव्यवहारप्रसङ्गात्। दूरादिकारणप्रभवत्वेन चास्य दूरादिव्यवहारार्हत्वे नातः स्वग्राहकेणासन्निकृष्टस्य ग्रहणसिद्धिः, गन्धेनानैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्। अथ दूरादिदेशादागतत्वात् शब्दस्य दूरादित्वम्; युक्तमिदं तथैवास्य तद्रूपतोपपत्तेर्गन्धादिवत्, दूरादिप्रदेशादागतो हि गन्धः शब्दो वा स्वेन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयमानोऽपि योग्यताविशेषवशात् सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टतया प्रतीयते ।

दूरादिदेशे स्थितत्वात्तु तस्य दूरादित्वे 'स्वोत्पत्तिदेशस्था एव शब्दाः श्रोत्रैर्गृह्यन्ते नत्वागताः' इत्यभ्युपगतं स्यात्। तथा च यो निर्वाते दूरस्थेन मनागपि न श्रूयते शब्दः सोऽनुकूलवाते कथं श्रूयेत ? यश्च आसन्नेन श्रूयते स एव प्रतिवाते कस्मात्तेन न श्रूयते; तद्वातेन श्रोत्राभिघातात्, शब्दस्य नाशितत्वाद्वा ? यदि श्रोत्राभिघातात् तर्हि निर्वातप्रदेशस्थेन श्रूयताम्। न च तत्प्रदेशे असता शब्दप्रदेश एव सताऽनेन तदभिघातो युक्तः; पर्वते प्रज्वलिताग्निना महानसे अन्नपाकप्रसङ्गात्। शब्दस्य नाशितत्वे तु यस्याप्यसौ वातोऽनुकूलः तेनापि न श्रूयेत अविशेषात्। तं प्रति तेनास्य प्रेरणे तच्छ्रोत्रेण प्राप्तोऽसौ गृह्यते इति सिद्धमस्य प्राप्यकारित्वम्। यदि च स्वोत्पत्तिदेश एव सर्वे शब्दा विलयिनः कथं तर्हि नलिकादिशब्दस्य भेर्यादिशब्दस्य च कर्णशष्कुलिगृहप्रपूरणेन प्रतिपत्तिः स्यात् ? कथं वा धवलगृहादौ प्रतिशब्दनम् ? न हि लोष्टादयः कांसपात्राऽसंसृष्टाः शब्दमुपजनयन्तः प्रतीयन्ते। यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव शब्दो

१ निकटाकारं ब०, ज० । २ ज्ञानाभिन्नाः ब०, ज० । ३ स्वस्वरूपतः आ०, ब०, ज० । ४-स्वरूपता आ०, ब०, ज० । "किं स्वभावत एवास्य दूरत्वादित्वात्, दूरादिकारणप्रभवत्वात्, दूरादिदेशे स्थितत्वाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ३३५ । ५ "यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नागतः तर्हि कथम् अनुवाते शब्दस्य तद्देशोत्पत्तिकस्यैव श्रवणम्, प्रतिवातेऽश्रवणम्, मन्दवाते मनाक् श्रवणं भवेत् ?" सन्मति० टी० पृ० ५४६ । ६ -गन्तव्यं भां० । ७-न्नेन स एव भां० । ८ ते एव आ० । ९ तेन श्रूयते ब०, ज० । १०-त्ता तेन ब, ज० । ११ वातेऽनुकूलः ब०, ज० । १२-पात्र्या-ब०, ज०, भां० ।

गृह्येत तदा तत्रस्थैर्भेर्यादिशब्दैर्महद्भिः अल्पीयसोऽपि मशकादिशब्दस्यानभिभवाद् अनाकुलमेव ग्रहणं स्यात्। ये स्वोत्पत्तिदेशस्था एवेन्द्रियेणासन्निकृष्टा गृह्यन्ते न तेषामन्योन्यं महद्भिरल्पीयसामप्यभिभवः यथा पर्वतपादपादीनाम्, स्वोत्पत्तिदेशस्था एवेन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टा गृह्यन्ते च शब्दा इति। ननु दूरदेशवर्तिनां[1] पर्वतः पादपादीनभिभूय आत्मानमेवोपदर्शयति, अतः साध्यविकलो दृष्टान्तः; इत्यप्यसमीचीनम्; यतस्तेषां देशविप्रकृष्टतया तद्ग्रहणाऽयोग्यत्वाद् अप्रतिभासः नाभिभवात्, मशकादिशब्दानां तु अविप्रकृष्टानामपि भेर्यादिशब्दैरभिभवोऽस्ति अतो न तेषां स्वोत्पत्तिदेशस्थानामेव ग्रहणम्।

यदप्युक्तम्[2]–तच्छब्दैः[3] श्रोत्राभिघातात् तेषा[4]मग्रहणम् यथा भासुररूपेण चक्षुषोऽभिघातात् सूक्ष्माग्रहणम् इति; तदप्ययुक्तम्; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्, दिवाकरकरा हि भासुररूपात् प्रतिनिवर्त्य चक्षुषाभिसम्बद्ध्यमानास्तस्य अभिघातहेतवो दृष्टाः अतीव्रालोके तदभिघाता[5]दृष्टेः, नचात्र तथाविधं किञ्चिदस्ति यत् शब्दात् प्रतिनिवर्त्य तदभिघातकारणं स्यात्। वायुःस्यात् इति चेत्; निर्वाते तर्हि[6] न स्यात्तदश्रवणम् श्रोत्राभिघातकारणाऽभावात्, दृश्यते चात्रा[7]पि भेर्यादिकोलाहले अल्पीयसोऽग्रहणम्, अतोऽन्योन्यदेशोपसर्पणेन अनल्पैरल्पशब्दानामभिभवोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा च दूरदेशागमनविशिष्टत्वादेव अस्य गन्धादिवद् दूरत्वं सिद्धम्, न पुनः स्वोत्पत्तिदेशस्थानामपि देशगतदूरत्वोपचारात्, अन्यथा स्खलिता तत्प्रतिपत्तिः स्यात् माणवकेऽग्निप्रतिपत्तिवत्। कथं वा तत् श्रोत्रस्या[8]प्राप्यकारित्वं प्रसाधयेत् उपचरितस्याऽप्रसाधकत्वात्? न हि माणवकेऽग्नित्वमुपचरितं दाहादिकार्यं प्रसाधयति।

किञ्च, देशापेक्षया यद् दूरत्वं शब्दस्य तत् किं देशग्रहणे सति स्यात्, असति वा? न तावदसति; विशेषणत्वात्, यद् विशेषणं तद् गृहीतमेव विशेष्ये विशिष्टप्रतिपत्तिनिमित्तम् यथा दण्डादि, विशेषणञ्च शब्दस्य दूरादिप्रतिपत्तौ देश इति। तथा, शब्दे दूरादिप्रत्ययो दूरदेशादिग्रहणे सत्येव भवति तत्सापेक्षदूरादिप्रत्ययत्वात्, यस्तत्सापेक्षदूरादिप्रत्ययः स तद्ग्रहणे सत्येव भवति यथा पादपादौ दूरादिप्रत्ययः, तत्सापेक्षदूरादिप्रत्ययश्चायम्, तस्मात्तद्ग्रहणे सत्येव भवतीति। सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नपादपादौ चक्षुषा दूरासन्नदेशग्रहणे सत्येव दूरासन्नव्यवहारः, अतः शब्देऽप्यसौ तद्ग्रहणे सत्येव इष्यताम्। तथेष्टौ[9] च कुतस्तद्ग्रहणम्–किं श्रोत्रात्, अन्यतो वा? यदि [10]श्रोत्रात्; देशस्यापि शब्दत्वप्रसङ्गः तल्लक्षणत्वात्तस्य। इन्द्रियान्तरेण तत्प्रतिपत्तौ साङ्गत्याभावात् न देशापेक्षया 'दूरः शब्दः' इति प्रतीतिः स्यात्। न हि देवदत्तगृहीतदूरदेशापेक्षया यज्ञदत्तस्य 'दूरः शब्दः' इति प्रतीतिर्दृष्टा। अथ इन्द्रियद्वयानुभवानन्तर-

१–नां विप्र–भां०। २ पृ० ८३ पं० ७। ३ भेर्यादिशब्दैः। ४ मशकादिशब्दानाम्। ५ "अतीव्रालोके तदभिघाताऽदृष्टेः" स्या० रत्ना० पृ० ३३७। ६ निर्वातेऽपि। ७–प्रतीतिवत् भां०। ८–स्य प्रा–भां०। ९ तदिष्टौ भां०। १० "दिग्देशानां श्रुतिविषयता किञ्च नो युक्तियुक्ता। युक्तत्वे वा भवति न कथं ध्वानरूपत्वमेषाम् ॥ ८७ ॥" रत्नाकराव० पृ० ६० ।

भाविनि[1] विकल्पज्ञाने तथाप्रतीतेरयमदोषः; तर्हि 'पूर्वं दूरादिरहितस्य प्रतीतिः पुनस्तत्सहितस्य' इति क्रमेण तत्प्रतीतिः स्यात्, न चैवम्, प्रथममेव दूरत्वादिविशिष्टस्यास्य प्रतीतेः। ततो गतिपरिणतस्य स्वयं दूरादिप्रत्यययोग्यताविशिष्टस्य गन्धस्येव शब्दस्यापि दूरादिप्रत्ययगोचरत्वं प्रतिपत्तव्यम्, इति सिद्धं प्राप्यकारित्वं श्रोत्रस्य, कथमन्यथा तद्विषये देशादिसन्देहः स्याद् रूपवत्? यथैव हि रूपे प्रतीयमाने 'किमस्मिन् देशे रूपमेतत् प्रतिभाति अन्यस्मिन् वा, अस्यां दिशि अन्यस्यां वा' इति न सन्देहः, नियतदिग्देशतयैव अस्य अप्राप्यकारिणेन्द्रियेण प्रतिपत्तिसंभवात्, तथा अत्राप्यसौ न स्यात्, अस्ति चात्रसन्देहः-'किमन्तः शब्दोऽयं जातः बहिर्वा' 'प्राच्यां दिशि अन्यस्यां वा' इति। अथ देशादिसन्देहात् तत्रैवं[2] सन्देहः तर्हि गन्धोऽप्यप्राप्त एव गृह्यतां देशादिसन्देहादेवात्रापि सन्देहसंभवात्। अथ अतो घ्राणविकारदर्शनात् प्राप्तोऽसौ प्रतीयते; तदेतच्छब्देऽपि समम्, श्रोत्रविकारस्य बाधिर्यादेः शब्दात् प्रतीतेः। तस्माद् इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामन्यस्य गौणप्रत्यक्षं प्रत्यसाधार[3]णकारणत्वानुपपत्तेः सूक्तम्-'**सांव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्**' इति।

मुख्यमिदानीं प्ररूपयति-मुख्यम् प्रधानम् 'प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्तते। किं तत्? इत्याह-**अतीन्द्रियज्ञानम्** अवधि-मनःपर्यय-केवलाख्यम्।

सर्वज्ञाभाववादिनो मीमांसकस्य पूर्वपक्षः-

ननु च अतीन्द्रियज्ञानस्य तद्वतो वा सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणकवलीकृतविग्रहत्वे[4]तोऽस्याऽसत्त्वात् कस्य[5] मुख्यप्रत्यक्षता प्रसाध्येत? न च तदतिक्रान्तताऽस्याऽसिद्धा; अतीन्द्रियार्थवेदिविषयस्य अध्यक्षादीनां मध्ये कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवात्। तथाहि-न तावत्प्रत्य[6]क्षं तद्विषयम्; प्रतिनियतरूपादिगोचरचारित्वात्तस्य। किञ्च, सम्बद्धे वर्तमाने चार्थे प्रत्यक्षं प्रवर्तते, न चाशेषार्थवेदी चक्षुरादीन्द्रियेण सम्बद्धो वर्तमानश्च, तत्कथं तत्प्रभवप्रत्यक्षे प्रतिभासेत? नाप्यनुमानं तद्विषयम्; तद्धि लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावग्रहणे सति प्रवर्तते, न च सर्वज्ञेनाविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमुपलभ्यते। तद्धि कार्यं वा स्यात्, स्वभावो वा? न ता[7]वत्कार्यम्; विप्रकर्षि[8]णा सर्वज्ञेन सह कस्यचित् कार्यकारणभावाऽसिद्धेः, प्रत्यक्षानु-

१-निर्विकल्प-आ०, ब०, ज०। २ तत्रैव ब०, ज०। ३ प्रत्यसाधारणत्वानु-आ०। श्रोत्रस्य अप्राप्यकारित्वसमर्थनम्-स्फुटार्थ अभि० पृ० ८७। चतुःशतक पृ० १९१। तत्त्वसं० श्लो० २५१९-२५२८ तथा २१७४-२१७५। इत्यादौ, खण्डनञ्च-मीमांसाश्लो० अधि० ६ पृ० १४६ तथा ७६०। शाबर्दी० ११११६ पृ० १४०। न्यायमं० पृ० २१६। तत्त्वार्थरा० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३५। सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३३। रत्नाकराव० पृ० ५९ इत्यादिषु प्रेक्ष्यम्। ४-तोऽसत्वा-भां०। ५ कस्य प्रत्य-भां०। ६ "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। निराकरणवच्छक्या न चासीदितिकल्पना ॥ ११७ ॥" मीमां० श्लो० सू० २, पृ० ८१। "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ ३१८६ ॥" तत्त्वसं०। ७ "नापि कार्यम्; प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वात् कार्यकारणभावस्य, विप्रकर्षिणा सर्वज्ञेन सह कस्यचित् कार्यकारणभावाऽसिद्धेः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८३१। ८ विप्रकर्षेण भां०।

पलम्भसाधनत्वात्तस्य । नापि[1] स्वभावः; अशेषवेदिनोऽप्रत्यक्षत्वे तदव्यतिरेकिणः स्वभावस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः । आगमो[2]ऽपि नित्यः, अनित्यो वा सर्वज्ञसद्भावावेदकः स्यात् ? न तावन्नित्यः; तत्प्रतिपादकस्य नित्यस्यागमस्यैवाऽसंभवात् । *"हिरण्य[3]गर्भं प्रकृत्य स सर्ववित् स लोकवित्"* [ ] इत्यादेरप्यागमस्य कर्मार्थवादं[4] विधायकत्वेन अशेषज्ञविधायकत्वानुपपत्तेः, अनादेश्चागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधात् । अनित्योऽप्यागमः–सर्वज्ञप्रणीतः, असर्वज्ञप्रणीतो वा तत्प्रतिपादकः स्यात् ? प्रथमपक्षे अन्योन्या[5]श्रयः–सर्वज्ञसिद्धौ हि तत्प्रणीतत्वेनागमस्य प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ चातः सर्वज्ञसिद्धिरिति । असर्वज्ञप्रणीतस्य चागमस्य अप्रमाणभूतत्वात् कथं ततस्तत्प्रतिपत्तिः ? तथाभूतादप्यतस्तत्प्रतिपत्तौ स्व[6]वचनादेव तत्प्रतिपत्तिः किन्न स्यादविशेषात् ? नह्यनासादितप्रमाणभावस्याऽन्यवाक्यस्य स्ववचनात् कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तन्नागमतोऽपि तत्प्रतिपत्तिः । नाप्युप[7]मानात्; तस्य सदृशपदार्थग्रहणनान्तरीयकत्वात्, गोसदृशगवयग्रहणनान्तरीयकगवाद्युपमानवत् । न चाशेषज्ञसदृशः कश्चिज्जगति प्रतीतः, तदप्रतीतौ तत्सादृश्यप्रतीतेरनुपपत्तेः । प्रयोगः–यस्य सदृशग्रहणं नास्ति स नोपमानविषयः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, नास्ति च सदृशग्रहणं सर्वज्ञस्येति । नाप्यर्था[8]पत्तितस्तत्सिद्धिः; सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य षट्प्रमाण-

---

१ "स्वभावोऽपि हेतुर्न सर्वदर्शिनः सत्तां साधयति तदप्रत्यक्षत्वे स्वभावस्य तदव्यतिरेकिणो गृहीतुमशक्यत्वात् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८३१ । २ "न चागमेन सर्वज्ञः तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥ ११८ ॥ न चाप्येवं परो नित्यः शक्यो लब्धुमिहागमः । नित्यश्चेदर्थवादत्वं तत्परे स्यादनित्यता ॥११९॥" "नन्वस्त्येव 'सर्वज्ञः सर्वविद्' इत्यादिरत आह–'नित्यश्चेद्' इति । किमित्यर्थवादत्वम् अत आह–'तत्परे इति । अनित्यस्य विग्रहवतः पुरुषस्य सर्वज्ञत्वं प्रतिपादयन्नागमोपि अनित्यः स्यादिति ।" मीमां० श्लो० टी० पृ० ८२ । "न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥३१८७॥" तत्त्वसं० पृ० ८३१ । ३ "स सर्ववित् स लोकवित् इत्यादेः हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेश्च आगमस्य ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५ । "हिरण्यगर्भं प्रकृत्य सर्वज्ञः" सन्मति० टी० पृ० ४६ । स्या० रत्ना० पृ० ३६४ । शास्त्रवा० टी० पृ० ४९ पू० । बृ० सर्वज्ञसि० पृ० १३३ । ४ "स्तुतिनिन्दापरकृतिपुराकल्प अर्थवादः ।" न्यायसू० २।१।६४ । "विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्था···अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्था······अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः······ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति ।" न्यायभा० पृ० १५६ । "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः ।" अर्थसं० पृ० १२३ । ५ "अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिः अन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥ ३१८८ ॥ सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्धयेत् सिद्धमूलान्तरादृते ॥ ३१८९ ॥" तत्त्वसं० । ६ "असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किन्न जानते ॥ ३१९० ॥" तत्त्वसं० । ७ "सर्वज्ञसदृशः कश्चिद् यदि दृश्येत सम्प्रति । तदा गम्येत सर्वज्ञसद्भाव उपमाबलात् ॥ ३२१५ ॥" तत्त्वसं० पृ० ८३८ । ८ "उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नो भवेत् ॥३२१७॥ प्रत्यक्षादौ निषिद्धेपि सर्वज्ञप्रतिपादके । अर्थापत्त्यैव सर्वज्ञमित्थं यः प्रतिपद्यते ॥३२१८॥" तत्त्वसं० पृ० ८३८ ।

प्रमितस्य कस्यचिदप्यर्थस्याऽसंभवात्। न च धर्माद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेर्बुद्धादीनां सर्वज्ञतासिद्धिर्भविष्यतीत्यभिधातव्यम्; तेषां तदुपदेशकरणस्य व्यामोहादेव उपपत्तेः। द्विविधो ह्युपदेशः–व्यामोहपूर्वकः, सम्यग्ज्ञानपूर्वकश्च। तत्र व्यामोहपूर्वको यथा स्वप्नोपलब्धार्थोपदेशः, सम्यग्ज्ञानपूर्वको यथा मन्वादीनां सकलार्थज्ञानोदयवेदमूलो धर्माद्यशेषार्थोपदेशः। ते हि निखिलपदार्थज्ञानोत्पत्तिहेतोर्वेदाद् आविर्भूतविशुद्धबोधाः धर्माद्यशेषपदार्थसार्थमुपदिशन्ति न पुनर्बुद्धादयः, अन्यथा मन्वाद्युपदेशवत् तदुपदेशोऽपि त्रयोविद्भिराश्रीयेत, न चासौ तैराश्रितः, अतो व्यामोहादेवासौ तद्विषयस्तैः कृतः इत्यवसीयते। ततः सिद्धं सर्वज्ञस्य सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्तत्वम्। तच्च सिद्धयदभावप्रमाणकवलीकृतविग्रहत्वं साधयति, तदपि असत्त्वम्। अतः सर्वज्ञस्य आकाशकुशेशयप्रख्यतां प्राप्तत्वात् कस्याशेषज्ञता प्रार्थ्येत ?

अस्तु वा सर्वज्ञः; तथाप्यसौ समस्तमतीतकालादिपरिगतं वस्तु स्वेन स्वेन रूपेण प्रतिपद्यते, किं वा वर्तमानतयैव ? प्रथमपक्षे तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षतानुपपत्तिः अवर्तमानवस्तुविषयत्वात्, यदवर्तमानवस्तुविषयं न तत् प्रत्यक्षम् यथा स्मरणादि, अवर्तमानवस्तुविषयञ्च अतीताऽनागतार्थविषयतया सर्वज्ञज्ञानमिति। द्वितीयपक्षे तु तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः; अन्यथास्थितस्यार्थस्य अन्यथात्वेन ग्राहकत्वात्। यदन्यथास्थितस्यार्थस्यान्यथात्वेन ग्राहकं तद् भ्रान्तम् यथा द्विचन्द्रादिज्ञानम्, अन्यथास्थितस्य अतीतानागतकालस्यार्थस्य वर्तमानतया ग्राहकञ्च सर्वज्ञज्ञानमिति।

किञ्च, 'इदमिदानीमिह सत्' इत्यस्यां संविदि वस्तुसत्तावत् तत्प्राक्-प्रध्वंसाभावौ प्रतिभासेते, न वा ? यदि प्रतिभासेते; तदा युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चेत्; तर्हि तदैवास्यानुत्पन्नप्रध्वस्तव्यपदेशप्रसङ्गाद् युगपज्जन्म-मरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः, यद् येन स्वरूपेण प्रतिभासते तत्तेनैव व्यपदिश्यते यथा नीलं नीलतया, सत्त्व-प्राक्-प्रध्वंसाभावरूपतया प्रतिभासेते च अशेपज्ञस्याऽशेषं वस्त्विति। तथा च प्रतिनियतार्थस्वरूपप्रतीतेरभावात् सुव्यवस्थिताऽस्य सर्वज्ञता!

---

१ "उपदेशो हि बुद्धादेरन्यथाप्युपपद्यते। स्वप्नादिदृष्टव्यामोहात् वेदाद्वावितथं श्रुतात्॥ ३२२३॥ ये हि तावदवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः। उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात्॥३२२४॥ ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्। त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः॥३२२८॥" तत्त्वसं०। "ऋग्यजुसामाख्याः त्रयो वेदाः त्रयी भण्यन्ते, तां विदन्तीति त्रयीविदो ब्राह्मणाः उच्यन्ते।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४०। "स्त्र्यां ऋक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी" इत्यमरः। २ सर्वज्ञान–भां०। ३–तः व्यामो–भां०। ४–ज्ञस्य प्रमा–आ०,ब०,ज०। ५–तयैव वा आ०। ६ "युगपत्परिपाट्या वा सर्वञ्चैकस्वभावतः। जानन् यथा प्रधानं वा शक्त्या वेष्येत सर्ववित्॥ ३२४८॥ युगपच्छुच्यशुच्यादिस्वभावानां विरोधिनाम्। ज्ञानं नैकधिया दृष्टं भिन्ना वा गतयः क्वचित्॥ ३२४९॥ भूतं भवद् भविष्यंश्च वस्त्वनन्तं क्रमेण कः। प्रत्येकं शक्नुयाद् बोद्धुं वत्सराणां शतैरपि॥३२५०॥" इत्यादिकारिकाभिः तत्त्वसङ्ग्रहकारः (पृ० ८४४) सामट-यज्ञटयोः सर्वज्ञदूषकं मतम् उपस्थापयति। ७ तत्तथैव भां०। ८ –भास्यते भां०।

तत्र युगपत्प्रतीतिः । नापि क्रमेण; अतीतानागतार्थानां परिसमाप्त्यभावतः तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तेः सर्वज्ञत्वाऽयोगात् । अथ वस्तुसत्तावत् तौ न प्रतिभासेते; तदा कथमसौ सर्वज्ञः स्यादिति ?

तन्निरसनपुरस्सरा सर्वज्ञसिद्धिः–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[3]–सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्ततयाऽसत्त्वमतीन्द्रियज्ञानस्य तद्वतो वा; तत्र तदतिक्रान्तता तावत्तस्य असिद्धा; तत्सद्भावावेदकस्यानुमानप्रमाणस्य सद्भावात् इति । एतत् 'तत्' इत्यादिना दर्शयति–तद् अतीन्द्रियज्ञानम्, अस्ति, सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवद् इति । न तावदाश्रयासिद्धोऽयं हेतुः, धर्मिणो हेतुप्रयोगात् पूर्वं कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेरित्यभिधातव्यम्; विकल्पप्रसादात्तस्य प्रसिद्धेः । न हि कश्चित्तस्याऽगोचरोऽस्ति यत्र क्रमेत सर्वत्राप्रतिहतप्रवृत्तित्वात्तस्य । न खलु वन्ध्याद्यनुमानेऽपि पर्वतादेर्धर्मिणो विकल्पादन्यतः सिद्धिः इत्यग्रे वक्ष्यते । नापि स्वरूपासिद्धः ; तद्बाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवात् । अतीन्द्रियार्थदर्शिनो हि बाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानादि, अभावो वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षम् ; तत् किं क्वचित् कदाचित्तदभावं प्रसाधयेत्, सर्वत्र सर्वदा वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्, नहि सर्वत्र सर्वदा तत्सद्भावोऽस्माभिः प्रतिज्ञातः । द्वितीयपक्षे तु अतीन्द्रियप्रत्यक्षमन्तरेण सर्वत्र सर्वदाऽतीन्द्रियज्ञानाऽभावाऽसिद्धिः इत्यावेदयति– 'यावत्' इत्यादिना । यावज्ज्ञेयं सकलं ज्ञेयं व्याप्नोति विषयीकरोत्येवं शीलं[7] यज् ज्ञानं तेन रहिता शून्या या सकला पुरुषपरिषत् तस्याः परिज्ञानस्य तदन्तरेण अतीन्द्रियज्ञानमन्तरेण अनुपपत्तेः, 'तदस्ति' इत्यभिसम्बन्धः । न खलु प्रादेशिकेन्द्रियजज्ञानेन सर्वत्र सर्वदा सर्वदर्शिनोऽभावः कर्त्तुं शक्यः तस्यातद्विषयत्वात्, यद् यद्विषयं न भवति न तत्तत्र विपरीतधर्मस्य बाधकम् यथा शब्दाऽविषयं चाक्षुषं ज्ञानं तदश्रावणत्वस्य, सकलदेशकालवर्तिपुरुषपरिषदविषयञ्च प्रादेशिकमिन्द्रियप्रभवं ज्ञानमिति ।

ननु न[12] प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं सर्वदर्शिनो बाधकम् शब्दे श्रावणत्वप्रत्यक्षमिवाऽश्रावणत्वस्य, किन्तु

१–पत्तात्र–भां० । २ अनयैव भङ्ग्या निम्नग्रन्थेषु कृतः सर्वज्ञविषयः पूर्वपक्षः–तत्त्वसं० पृ० ८३० । आप्तप० पृ० ५३ । अष्टसह० पृ० ४५ । शास्त्रवार्त्ता० पृ० ७९ उ० । प्रमेयक० पृ० ६८ पू० । सन्मति० टी० पृ० ४३ । न्यायवि० वि० पृ० ५५३ । स्या० रत्ना० पृ० ३६३ । प्रमेयरत्न० पृ० ५२ । बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १३० । ३ पृ० ८६ पं० १५ । ४ प्रमाणाप्रमाणसाधारणी शाब्दी प्रतीतिः विकल्पः तस्य । ५ "न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत ।" अष्टश० अष्टसह० पृ० ४९ । ६–लज्ञे–भां० । ७–लं ज्ञा–आ० । ८ सकलपु–आ०, ब०, ज० । ९ तस्य तदविषयत्वात् भां० । १० तद्विपरीत–भां० । ११–चाक्षुपं विज्ञा–ब०, ज० । चाक्षुपविज्ञा–भां० । १२ "न वयं प्रत्यक्षं प्रवर्त्तमानमभावं साधयति इति ब्रूमः । किं तर्हि ? निवर्त्तमानम् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४८ । प्रमेयक० पृ० ७२ उ० । सन्मति० टी० पृ० ४५ । स्या० रत्ना० पृ० ३८१ ।

निवर्तमानम्, यत्र हि प्रत्यक्षस्य निवृत्तिः तस्य अभावोऽवसीयते यथा शशशृङ्गस्य, यत्र तु प्रवृत्तिः तस्य सद्भावः यथा रूपादेः, न चातीन्द्रियार्थदर्शिविषयं स्वप्नेऽपि प्रत्यक्षं प्रवृत्तम्, अतस्तन्निवृत्तेस्तस्याप्यभावोऽवसीयते; तदप्यनुपपन्नम्; यतो यदि वस्तुनः प्रत्यक्षं कारणं व्यापकं वा स्यात् तदा तन्निवृत्तौ वस्तुनोऽपि निवृत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। कार[2]णस्य हि वह्न्यादेर्निवृत्तौ कार्यस्य धूमादेर्निवृत्तिर्दृष्टा, व्यापकस्य च वृक्षत्वादेर्निवृत्तौ व्याप्यस्य शिंशपात्वादेर्निवृत्तिः। न चार्थस्य प्रत्यक्षं कारणम् तदभावेऽपि तद्भावात्। यद् यदभावेऽपि भवति न तत्तस्य कारणम् यथा गोरभावेऽपि भवन्नश्वो न गोकारणकः, देशादिव्यवधाने असत्यपि अर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षे भवति चार्थ इति। नापि व्यापकम्; तन्निवृत्तावप्यनिवर्तमानत्वात्। यन्निवृ[3]त्तावपि यन्न निवर्तते न तत्तस्य व्यापकम् यथा निवर्तमानेऽपि कुम्भेऽनिवर्तमानस्य स्तम्भस्य न कुम्भो व्यापकः, निवर्तमानेऽपि प्रत्यक्षे न निवर्तते च देशादिविप्रकृष्टोऽर्थ इति। न [4]चाऽकारणाऽव्यापकभूतस्यास्य निवृत्तौ अकार्याऽव्यापकभूतस्यार्थस्य निवृत्तिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्। [5]योऽपि कार्याभावात् क्वचित् कारणस्याऽभावनिश्चयः सोऽप्यप्रतिबद्धसामर्थ्यस्यैव, न पुनः कारणमात्रस्य। न च अर्वाक्प्रत्यक्षं प्रति अशेषार्थानां सामर्थ्यमस्ति येन तन्निवर्त्तमानं तेषामभावं साधयेत्।

किञ्च, अध्यक्ष[6]निवृत्ति-अर्थाभावयोः यदि व्याप्य-व्यापकभावः सिद्ध्येत् तदा तन्निवृत्तेरर्थाभावो निश्चीयेत, नचासौ सिद्धः [7]त्रिविप्रकृष्टेऽर्थे सत्यपि प्रत्यक्षनिवृत्तेः प्रतीयमानत्वात्। किञ्च, भवत्प्रत्यक्षनिवृत्तिः सर्वविदोऽसत्त्वं प्रसाधयेत्, सर्वप्रत्यक्षनिवृत्तिर्वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; भवत्प्रत्यक्षनिवृत्तेः देशादिव्यवधाने सत्यप्यर्थे प्रतीयमानत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; सर्वज्ञविषये सर्वप्रत्यक्षनिवृत्तेः सर्वज्ञमन्तरेणानुपपत्तेः, नहि अर्वाग्दृशा सर्वप्रमातॄणामसाक्षात्करणे 'तत्र तत्प्रत्यक्षं न प्रवर्तते" इति प्रतिपत्तुं शक्यम्। न[8]न्वेवं सर्वत्राऽभावव्यवहारोच्छेदः स्यात् क्वचित् घटाद्यभावसाधनेऽपि उक्तदोषानुषङ्गात्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; तत्र एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भतोऽभावव्यवहारोपपत्तेः, एकस्य हि कैवल्यम् इतरस्य वैकल्यम्। नचा[9]शेषज्ञस्य

---

१ तदभावो-भां०। २ "कारणव्यापकाभावे निवृत्तिश्चेह युज्यते। हेतुमद्व्याप्तयोः तस्मात्तदुत्पत्तेरेकभावतः ॥ ३२७१ ॥ कृशानुपादपाभावे धूमाम्रादिनिवृत्तिवत्। अन्यथाऽहेतुतैव स्यात् नानात्वञ्च प्रसज्यते ॥ ३२७२ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ७२ उ०। ३ "नापि यन्निवृत्तौ यन्न निवर्त्तते स तस्य स्वभावो युक्तः गोरिव गवयस्य।" तत्त्वसं०पं० पृ० ८५१। ४ "न चाकारणाऽव्यापकभूतस्यान्यस्य निवृत्तावन्यस्य निवृत्तिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्।" तत्त्वसं०पं०पृ०८५१। ५ "या च कार्यानुपलब्धिरुक्ता न सा कारणमात्रस्य अभावं गमयति, किं तर्हि? अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्यैव।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८५१। ६ "न च प्रत्यक्षनिवृत्तिर्वस्त्वभावेन व्याप्ता येनासौ वस्त्वभावः ततो निश्चीयते। सत्यपि वस्तुनि व्यवहितादौ प्रत्यक्षस्य निवृत्तिदर्शनात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४८। ७ त्रिधावि-आ०। ८ "यद्येवं कथमनुपलम्भाख्यात् प्रत्यक्षात् घटाद्यभावसिद्धिः प्रदेशान्तरे भवद्भिर्वर्ण्यते? नैतदस्ति; एकज्ञानसंसर्गयोग्ययोरर्थयोः अन्यतरस्यैव या सिद्धिः सा अपरस्य अभावसिद्धिः इति कृत्वा।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४९। ९ "न चैवं सर्वज्ञत्वस्य

केनचित् सार्धम् एकज्ञानसंसर्गित्वमस्ति यस्योपलम्भात्तदभावः सिद्ध्येत्, तस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्। तन्न प्रत्यक्षं सर्वविदो बाधकम्।

नाप्यनुमानम्; धर्मि-साध्य-साधनानां स्वरूपाऽप्रसिद्धेः, तद्बाधके ह्यनुमाने धर्मित्वेन सर्वज्ञोऽभिप्रेतः, सुगतः, सर्वपुरुषा वा ? यदि सर्वज्ञः; तदा किं तत्र साध्यम्–असत्त्वम्, असर्वज्ञत्वं वा ? यद्यसत्त्वम्; किं तत्र साधनम्–अनुपलम्भः, विरुद्धविधिः, वक्तृत्वादिकं वा ? यद्यनुपलम्भः; स किं सर्वज्ञस्य, तत्कारणस्य, तत्कार्यस्य[2], तद्व्यापकस्य वा ? यदि सर्वज्ञस्य; सोऽपि किं स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ? स्वसम्बन्धी चेत्; [3]सोऽपि किं निर्विशेषणः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो वा ? न तावन्निर्विशेषणोऽसौ तदभावसाधनाय प्रभवति; परचित्तविशेषादिभिरनैकान्तिकत्वात्। नाप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणः; सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाऽभावसाधनाऽभावानुषङ्गात्, न हि सर्वथाप्यसतः उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटते, क्वचित्कदाचित्सत्त्वोपलम्भाविनाभावित्वात्तस्य। तथाहि–यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं न तत् सर्वथाप्यसत् यथा घटादि, उपलब्धिलक्षणप्राप्तश्च सर्वज्ञ इति। एतेन सर्वसम्बन्धिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः। असिद्धश्च सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भः असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्, न खलु सर्वात्मनां तज्ज्ञानानाञ्चाप्रतिपत्तौ तत्सम्बन्धी सर्वज्ञानुपलम्भः प्रतिपत्तुं शक्यः। नापि क्वचित् प्रदेशविशेषे छत्राद्यनुपलम्भात् छायाद्यभाववत् सर्वज्ञस्य कारणानुपलम्भादभावो युक्तः; तत्कारणस्य ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयस्य अनुमानादिनोपलम्भसंभवात्। समर्थयिष्यते च मोक्षप्ररूपणावसरे अशेषविदो रत्नत्रयप्रभवज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयादाविर्भाव इति।

कार्यानुपलम्भोऽपि असिद्ध एव; धर्माद्यशेषार्थप्रतिपादकस्यागमस्यैव तत्कार्यस्योपलभ्यमानत्वात्। तत्प्रतिपादकागमस्याऽपौरुषेयत्वात् कथं तत्कार्यता ? इत्यप्यसाम्प्रतम्[4]; अपौरुषेयत्वस्य आगमे प्रतिषेत्स्यमानत्वात्, गुणवद्वक्तृकत्वेनैव अशेषवचसां प्रामाण्यस्य समर्थयिष्यमाणत्वात्।

व्यापकानुपलम्भोपि असिद्धः; तद्व्यापकस्यानुमानेन उपलम्भप्रतीतेः। सर्वज्ञत्वस्य हि व्यापकं सर्वार्थसाक्षात्कारित्वम् न पुनः सर्वार्थपरिज्ञानमात्रम्, तस्य असर्वज्ञेऽप्यागमद्वारेण उपलभ्यमानत्वात्। तच्चानुमानतः प्रसिद्धम्; तथाहि[5]–कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययम् तत् तत्साक्षात्कारि यथा अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि,

---

केनचित् सार्द्धमेकज्ञानसंसर्गिता निश्चिता यस्य केवलस्योपलम्भात् तदभावं व्यवस्यामः, तस्य सर्वदैव अत्यन्तपरोक्षत्वात्।" तत्त्वसं०पं० पृ० ८४९।

१ "आद्यविधायां साधनम् अनुपलम्भो, विरुद्धविधिर्वा भवेत् ?" स्या० रत्ना० पृ० ३८२। २–स्य व्याप–ब०। ३ "अनुपलम्भोऽपि किं निर्विशेषणोऽभीष्टः 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इत्येतस्य विशेषणस्याऽनाश्रयणात्, अहोस्वित् सविशेषण इति।" तत्त्वसं०पं० पृ०८५०। ४ इत्यसाम्प्र–ब०,ज०,आ०। ५ अनुमानमिदं प्रमेयक० पृ० ७० पू०, स्या० रत्ना० पृ० ३७०, प्रमेयरत्न० पृ० ५४, इत्यादिषु वर्तते।

सकलार्थग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति। न तावदयं विशेषणासिद्धो हेतुः; आगमद्वारेणाऽशेषार्थग्रहणस्वभावत्वस्य आत्मनि प्रसिद्धत्वात्। नापि विशेष्याऽसिद्धः; प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वस्य अग्रे प्रसाधयिष्यमाणत्वात्, तन्नानुपलम्भः तदभावे हेतुः।

नापि विरुद्धविधिः; यतः साक्षात्, परम्परया वा विरुद्धस्य विधिः सर्वज्ञाभावं प्रसाधयेत्? प्रथमपक्षे सर्वज्ञत्वेन साक्षाद्विरुद्धस्य असर्वज्ञत्वस्य क्वचित् कदाचिद् विधानात्तस्याभावः साध्येत, सर्वत्र सर्वदा वा? आद्यविकल्पे न साकल्येनाशेषज्ञाभावः सिद्ध्येत्। यत्रैव हि तद्विधानं तत्रैव तदभावः सिद्ध्येत्, नान्यत्र, नहि क्वचित् कदाचिद्वह्नेर्विधाने सर्वत्र सर्वदा शीताभावो दृष्टः। द्वितीयविकल्पोऽप्यसंभाव्यः; अर्वाग्दृशः सर्वत्र सर्वदाऽसर्वज्ञत्वविधेरसंभवात्, तत्संभवे वा अस्यैवाशेषज्ञत्वप्रसङ्गः स्यात्।

परम्परयापि तद्व्यापकविरुद्धस्य, तत्कारणविरुद्धस्य, तद्विरुद्धकार्यस्य वा विधिस्तदभावं साधयेत्? न तावत्तस्य सर्वज्ञत्वस्य व्यापकेनाऽखिलार्थसाक्षात्कारित्वेन विरुद्धस्य तदसाक्षात्कारित्वस्य, नियतार्थसाक्षात्कारित्वस्य वा विधिः तदभावसाधनाय प्रभवति; स हि क्वचित् कदाचित्तदभावं प्रसाधयेत् तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धवह्निविधानात् क्वचित् कदाचित् तुषारस्पर्शनिषेधवत्, न पुनः सर्वत्र सर्वदा, तत्र तदा तद्व्यापकविरुद्धविधेरसंभवात्, क्वचिदात्मविशेषे तद्व्यापकविधेः प्रसाधितत्वात्। तत्कारणविरुद्धविधिरपि क्वचित् कदाचिदेवाशेषज्ञाभावं प्रसाधयेत्, यथा रोमहर्षादिकारणशीतविरुद्धवह्निविशेषविधानात् क्वचित्कदाचित् शीतकार्यरोमहर्षादिनिषेधः न पुनः साकल्येन; तत्कारणविरुद्धविधेः साकल्येन संभवाभावात्। सर्वज्ञत्वस्य हि कारणं ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयः तद्विरुद्धश्च तदप्रक्षयः तस्य विधिः क्वचिदेवात्मनि न सर्वत्र, तदत्यन्तप्रक्षयस्य क्वचिदात्मविशेषे प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। एतेन तद्विरुद्धकार्यविधिरपि प्रतिव्यूढः; तेन हि सर्वज्ञत्वेन विरुद्धं किञ्चिज्ज्ञत्वं तत्कार्यं नियतार्थविषयं वचः तस्य विधिः, सोऽपि न सामस्त्येन अशेषज्ञाऽभावं साधयितुं समर्थः; यत्रैव तद्विधिस्तत्रैवास्य तदभावप्रसाधनसामर्थ्योपपत्तेः, यथा यत्रैव प्रदेशविशेषे शीतादिविरुद्धदहनादिकार्यस्य धूमादेर्विधिः तत्रैव शीतस्पर्शनिषेधः न सर्वत्र। तन्न विरुद्धविधिरपि अशेषविदोऽभावप्रसाधिका।

---

१ "यद्वा अर्थान्तरस्य साक्षात् पारम्पर्येण वा विरुद्धस्यैव विधानात् तन्निषेधः नाविरुद्धस्य तस्य तत्सहभावसंभवात्। यथा–नास्त्यत्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति साक्षाद्विरुद्धस्य वह्नेः विधानात् शीतस्पर्शनिषेधः तद्वत् सर्वज्ञनिषेधेऽपि स्यात्। पारम्पर्येण तु विरुद्धस्य क्वचित् तद्व्यापकविरुद्धस्यैव वा विधानात् सर्वविदो निषेधः यथा तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धवह्निविधानात् तुषारस्पर्शनिषेधः। तत्कारणविरुद्धविधानाद्वा यथा रोमहर्षादिकारणशीतविरुद्धदहनविशेषविधानात् शीतकार्यरोमहर्षादिनिषेधः। तत्त्वसं० पं० पृ० ८५२। "नापि विरुद्धविधिः, यतः सोपि प्रतिनियतदेशादौ तस्य अभावं साधयेद्, अशेषदेशादौ वा?" स्या० रत्ना० पृ० ३८२। २–ज्ञताभावः आ०। ३–त्वसिद्धेर–मां०। ४ तत्कार्यविरुद्धस्य आ०। ५ सर्वज्ञस्य मां०। ६–स्पर्शानि–ज०। ७ अशेषज्ञत्वाभावं ब०,ज०,आ०। ८–प्रसाधकः ज०।

नापि वक्तृत्वादिकम्; तदसत्त्वाभ्युपगमे वक्तृत्वादिधर्मोपेतत्वानुपपत्तेः; अन्यथा स्ववचनविरोधानुषङ्गात्। न खलु 'नास्ति सर्वज्ञः, वक्तृत्वादिधर्मोपेतश्च' इत्यभिदधता स्ववचनविरोधः परिहर्तुं शक्यः। तन्नाशेषज्ञस्याऽसत्ता कुतश्चिदपि साधनात् साधयितुं शक्या। नापि असर्वज्ञता; स्ववचनविरोधस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात्, नहि 'सर्वज्ञोऽसर्वज्ञः' इति ब्रुवतः स्ववचनविरोधासंभवः।

किञ्च, सर्ववि[1]दः प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विपरीतम्, वक्तृत्वमात्रं वा? प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः; भगवतस्तथाभूतार्थवक्तृत्वाऽसंभवात्। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धो हेतुः; दृष्टेष्टाविरुद्धार्थवक्तृत्वस्य तत्परिज्ञाने सत्येव संभवात्। तृतीयपक्षेऽपि अनैकान्तिकत्वम्; वक्तृत्वमात्रस्य सर्वज्ञत्वेन विरोधाऽसंभवात्। एतेन सुगतधर्मिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः; असत्त्वादिसाध्यापेक्षया अनुपलम्भादिसाधनापेक्षया च उक्तदोषानुषङ्गाविशेषात्। किञ्च, सुगतस्य सर्वज्ञताप्रतिषेधे अन्येषां तद्विधिरवश्यंभावी विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात् 'अयं ब्राह्मणः' इत्यादिवत्। अथ सर्वपुरुषान्[2] पक्षीकृत्य तेषां वक्तृत्वादेरसर्वज्ञता प्रसाध्यते; तन्न; विपक्षात् तस्य व्यतिरेकाऽसिद्धौ सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तितया असर्वज्ञताप्रसाधकत्वानुपपत्तेः। रथ्यापुरुषादौ असर्वज्ञत्वे सत्येव वक्तृत्वादेरुपलम्भात्, सर्वज्ञे च कदाचिदप्यनुपलम्भात् ततो व्यतिरेकसिद्धिः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; सर्वाऽऽत्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्।

ननु सर्वज्ञस्य कस्यचिदप्यभावात् सिद्धा ततो वक्तृत्वादेर्व्यतिरेकसिद्धिरिति चेत्; कुतः पुनस्तदभावसिद्धिः—अत एव, अन्यतो वा? अत एव चेत्; चक्रकप्रसङ्गः, तथाहि—वक्तृत्वादेः सर्वज्ञाभावसिद्धौ ततोऽस्य व्यतिरेकसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य असर्वज्ञत्वेनैव व्याप्तिः, तत्सिद्धौ चातः सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति। अथ अन्यतः; तदास्य वैयर्थ्यम्, न चान्यत् तदभावग्राहकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति। अनुपलम्भोऽस्तीति चेत्; न; अस्य सर्वाऽऽत्मसम्बन्धिनोऽसिद्धाऽनैकान्तिकत्वेन तदभावसाधकत्वानुपपत्तेः। यदि च अनुपलम्भमात्रेण अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽभावः साध्यते तदा तदभावज्ञस्याप्यतोऽभावः किन्न साध्येत विशेषाभावात्? इति प्रदर्शयन्नाह—'तदभाव' इत्यादि।

तस्य अतीन्द्रियज्ञानस्य अभावः स एव तत्त्वं तज्ज्ञो न कश्चिद् अनुपलब्धेः खपुष्पवत् इति। अथ यद्यपि असमदादिस्तथाभूतो नोपलभ्यते तथाप्यन्यस्तथाभूतो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—'**न वै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्व-पुरुषत्व[6]-वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्**' इति। उपलक्षणञ्चै-

विवृतिव्याख्यानम्-

१ सर्वप्रमाण-भा०। इमे विकल्पाः प्रमेयक० पृ० ७३ पू०, सन्मति० टी० पृ० ४५, स्या० रत्ना० पृ० ३८४, प्रमेयरत्न० पृ० ५७, इत्यादिष्वपि वर्त्तन्ते। २ "सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः।" न्यायवि० पृ० ५१९ पू०। ३-न् उररीकृत्य आ०। ४-कः सिद्ध्यति इति आ०। ५ "सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्वसर्वानुपलम्भयोः। आरेकासिद्धता तस्याऽप्यर्वाग्दर्शनतोऽगतेः॥" न्यायवि० पृ० ५५३ पू०। ६-पुरुषत्वादेः ब०, ज०, भां।

वत्, तेन 'वेदार्थज्ञोऽपि न भवति तत एव तद्वत्' इत्यपि द्रष्टव्यम्, तथा च लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात्। सत्त्व-पुरुषत्वाद्यविशेषेऽपि जैमिन्यादेः रथ्यापुरुषाद्विलक्षणत्वात् तत्परिज्ञानातिशयो न विरुद्धश्चेत इत्यत्राह-'पुरुष' इत्यादि। पुरुषस्य जैमिन्यादेः अतिशयः वेदार्थ-सर्वज्ञाभावतत्त्वज्ञतालक्षणः तस्य संभवे अतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात्? ननु 'तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिद् अनुपलब्धेः' इत्ययुक्तमुक्तम्; दृश्यानुपलम्भस्यैव प्रमाणत्वोपपत्तेः, न चायं दृश्यानुपलम्भः; अर्वाग्दृशः परचेतसोऽदृश्यत्वात्, इत्याह-'अत्र' इत्यादि। अत्र तदभावतत्त्वज्ञाऽभावसाधने अनुपलम्भमप्रमाणयन् मीमांसकः सर्वज्ञ आदिः यस्य वेदकर्त्रादेः स एव विशेषः तस्य अभावे साध्ये कुतः प्रमाणयेत्? न कुतश्चिदित्यर्थः। कुत एतत्? इत्यत्राह-अभेदात् अविशेषात्। तन्नानुमानमपि अशेषविदो बाधकम्।

नाप्यर्थापत्तिः; तदभावमन्तरेणाऽनुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्याऽसंभवात्। वेदप्रामाण्यस्य च सर्वज्ञे सत्येव उपपत्तेः। नहि 'गुणवतो वक्तुरभावे वचसः प्रामाण्यम्' इति तदपौरुषेयत्वप्रतिषेधावसरे प्रतिपादयिष्यते।

नाप्युपमानं तद्बाधकम्। तत्खलु उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति गोगवयवत् सादृश्यालम्बनमुदयमासादयति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। नचाशेषपुरुषाः सर्वज्ञश्च केनचिद् दृष्टा येन 'अशेषपुरुषवत् सर्वज्ञः' 'सर्वज्ञवद्वाऽशेषपुरुषः' इत्युपमानं स्यात्। तद्द्रष्टौ वा तस्यैवाशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् कथमुपमानात् सर्वज्ञाभावः स्यात्? यत इदं शोभेत-

"नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञान् सर्वानेवाधुनातनान्।
तत्सादृश्योपमानेन शेषाऽसर्वज्ञसाधनम्॥ १॥" [ ] इति।

किञ्च, अशेषज्ञस्य अशेषप्रमातृशरीरसंस्थानवत् अविलक्षणशरीरसंस्थानतयोपमेयता स्यात्, इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षेणार्थपरिच्छेदकतया, खरविषाणवन्नीरूपतया वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; सर्वज्ञबाधाकरत्वाभावतः सर्वज्ञवादिनामनिष्टाऽसम्पादकत्वात्। नहि शरीरसंस्थानस्य अशेषज्ञता तद्वादिभिरिष्यते, येन अशेषज्ञशरीरसंस्थानस्य इतरजनशरीरसंस्थानाऽवैलक्षण्ये तद्वत्तस्य असर्वज्ञतापि स्यात् किन्त्वात्मनः, स चातोऽत्यन्तविलक्षणः तत्कथं तदवैलक्षण्ये तस्य असर्वज्ञतोपमानं स्यात्? नह्यन्यस्य अन्येन सादृश्ये तद्विलक्षणेऽन्यत्र अदृष्टपूर्वं तद् युक्तम् अतिप्रसङ्गात्।

---

१ इत्याह आ०,ब०,ज०। २-ज्ञतादिल-ब०,ज०। ३ "नाप्यर्थाऽऽपत्तिरसर्वज्ञं साधयति।…" तत्त्वसं०पं०पृ०८४९। आप्तप० पृ० ५६, कारि० १०२। प्रमेयक० पृ० ७३ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ३८८। ४ 'सादृश्यस्योपमानेन शेषासर्वज्ञनिश्चयः' इतिपाठभेदेन तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८३८)। बृ० सर्वज्ञसि० पृ० १३६। ५ अविशेषेण श्र-मां०। ६ प्रत्यक्षे अर्थ-आ०। ७-ज्ञत्वमपि ब०, ज०। ८ शरीरसंस्थानात्।

अथ इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षेणार्थपरिच्छेदकतया सर्वज्ञस्य सर्वपुरुषैः साम्यादुपमेयता। ननु स्मर्यमाणमेव[1] वस्तु पुरोवर्तिपदार्थसादृश्योपाधि, सादृश्यं वा तेन विशेषितमुपमानस्य प्रमेयम्। स्मरणञ्च अनुभूत एव विषये प्रवर्तते नान्यत्र अतिप्रसङ्गात्। नचाशेषपुरुषाः तद्वर्तीनि चेतांसि च केनचिदसर्वविदाऽनुभूतानि यतः स्मर्येरन्। नाप्यननुभूतानां तेषामसर्वज्ञत्वसाधारणः कश्चिद्धर्मो निश्चेतुं शक्यः यद्वशात् 'अहमिव सर्वदा सर्वे पुरुषाः प्रतिनियतमर्थमिन्द्रियैः पश्यन्ति', 'सर्वपुरुषवद्वा अहम्' इति असर्वज्ञतयोपमीयेरन्। यदपि सत्त्वादिकं क्वचिदसर्वज्ञे दृष्टं तदपि नासर्वज्ञत्व एव साधारणम्, सर्वज्ञेऽपि[2] सत्त्वाद्यविरोधात्; अन्यथा सर्वपुरुषाणामवेदार्थज्ञत्वं मूर्खत्वादि वा तद्वद् उपमीयेत अविशेषात्। यथा च न कश्चिद्बालिशो गवये सत्त्वादिधर्मदर्शनात् घटादीनामपि गवयसादृश्यमुपमिमीते तथा सर्वपुरुषाणां सत्त्वादिधर्मदर्शनात् नाऽसर्वज्ञत्वमिति। एतेन 'खरविषाणवत् सर्वज्ञः' 'सर्वज्ञवद्वा खरविषाणम्' इति नीरूपतया सर्वज्ञस्य उपमेयता प्रत्युक्ता। तन्नोपमानमपि तद्बाधकम्।

नाप्यागमः; स हि पौरुषेयः, अपौरुषेयो वा तद्बाधकः स्यात्? न तावदपौरुषेयः; तस्यागमविचारावसरे प्रपञ्चतः प्रतिपेत्स्यमानत्वात्, कार्य एवार्थे भवद्भिः प्रामाण्याभ्युपगमाच्च, स्वरूपेऽपि प्रामाण्येऽतिप्रसङ्गात्। नचाशेषज्ञाभावप्रतिपादकं किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, *"हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः" [ ]* इत्यादिवेदवाक्यानां तत्सद्भावावेदकानामेवानेकशः श्रवणात्। अथ कर्मार्थवादपरत्वात्तेषां न तत्सद्भावाऽऽवेदकत्वम्; कुतः पुनः तत्परत्वं तेषाम्, न पुनः तत्सद्भावावेदकत्वम्? तस्य असत्त्वाच्चेत्; तदपि कुतः? प्रमाणान्तरात्, तस्य[3] कर्मार्थवादपरतया तत्सद्भावानावेदकत्वाद्वा[4]? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; सर्वज्ञाऽसत्त्वग्राहिणः प्रमाणान्तरस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्। द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः; तथाहि–सर्वज्ञाऽसत्त्वसिद्धौ आगमस्य कर्मार्थवादपरतया तत्सद्भावानावेदकत्वसिद्धिः[5], तत्सिद्धौ च सर्वज्ञाऽसत्त्वसिद्धिरिति। पौरुषेयोऽप्यागमः किं सर्वज्ञप्रणीतः, तदभावविधातृपुरुषप्रणीतः, अन्यप्रणीतो वा तद्बाधकः स्यात्? यदि सर्वज्ञप्रणीतः; कथं तद्बाधकः विरोधात्? द्वितीयपक्षेऽपि अशेषज्ञाभावप्रतिपादकागमप्रणेता सकलं सकलज्ञविकलं जगत् प्रतिपद्यते, न वा? यदि प्रतिपद्यते; तदा युक्तः तत्प्रणीतागमः प्रमाणम्, न पुनरशेषज्ञस्य बाधकः, तथाप्रतिपद्यमानस्य तत्प्रणेतुरेव अशेषज्ञत्वप्रसिद्धेः। अथ न प्रतिपद्यते; कथं तर्हि प्रमाणम् अज्ञानमहामहीधरभराक्रान्तपुरुषप्रणीतत्वात् तथाविधरथ्यापुरुषप्रणीतागमवत्? अन्यप्रणीतपक्षेऽपि एतदेव दूषणद्वयं द्रष्टव्यम्। तन्नागमोऽपि सर्वज्ञबाधकः।

नाप्यभावप्रमाणम्; तस्याग्रे विस्तरतो निराकरिष्यमाणत्वात्। अस्तु वा तत्; तथापि

---

१ "तस्माद् यत्स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥ ३७॥" मी० श्लो० उपमानपरि०। २ सर्वज्ञत्वेऽपि भां०। ३ वेदवाक्यस्य। ४, ५ तत्सद्भावावेदक-भां०।

प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकविनिवृत्तिरूपं तद्बाधकमिष्टम्; तन्निवृत्तिश्च प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा? प्रसज्य[1]प्रतिषेधपक्षे तस्य अर्थपरिच्छित्तिहेतुत्वानुपपत्तिः नीरूपत्वात्। यन्नीरूपम् तन्नार्थपरिच्छित्तिहेतुः यथा गगनेन्दीवरम्, नीरूपञ्च प्रसज्यप्रतिषेधरूपमभावप्रमाणमिति। परिच्छित्तिहेतुत्वं हि भावधर्मः[2] स कथं सर्वथा तुच्छस्वभावाऽभावस्य स्याद् विरोधात्? तदभावाच्च कथं प्रमाणता परिच्छित्तौ साधकतमस्य प्रमाणव्यपदेशात्? प्रमाणाऽभावरूपत्वाच्चाऽभावस्य तद्व्यपदेशानुपपत्तिः। यो यदभावः स तद्व्यपदेशं नार्हति यथा ब्राह्मणाऽभावो न ब्राह्मणव्यपदेशम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावश्चाभावप्रमाणमिति।

पर्युदासपक्षेऽपि प्रमाणपञ्चकाऽभावशब्दाभिधेयं भावान्तरं वाच्यम्, तच्च[3] प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मा, तदन्यज्ञानं वा स्यात्? प्रथमपक्षे किं सर्वथा प्रमाणपञ्चकेन विनिर्मुक्त आत्मा, निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकेन वा? यदि सर्वथा; कथं सर्वज्ञाभावपरिच्छेदकत्वम् प्रमाणमन्तरेण प्रमेयपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः? अन्यथा प्रमाणपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेऽपि किं भवदीय आत्मा सर्वज्ञविषये प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तत्वात् तदभावं प्रसाधयेत्, सर्वस्य वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; परचेतोवृत्तिविशेषैरनेकान्तात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; सर्वस्य[4] प्रतिपत्तुः तद्विषये तद्विनिर्मुक्तत्वस्य असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। तन्न प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मपक्षः क्षेमङ्करः। नापि तदन्यज्ञानपक्षः; यतो निषेध्यात् सर्वज्ञत्वात् अन्यत् किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानम्; तच्च किं क्वचित् कदाचित्[5]कस्यचित् सर्वज्ञत्वाभावं प्रसाधयेत्, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; यत्र यदा यस्य किञ्चिज्ज्ञत्वसिद्धिः तत्र तदा तस्यासर्वज्ञत्वसिद्धेरभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षस्तु श्रद्धामात्रगम्यः; कालत्रयत्रिलोकस्थप्राणिनामसाक्षात्करणे तत्र किञ्चिज्ज्ञत्वप्रतिपत्तेरनुपपत्तितः सर्वत्र सर्वदा सर्वस्याऽसर्वज्ञत्वसिद्धेरप्यनुपपत्तेः। तन्नाभावप्रमाणमपि अशेषविदो बाधकम्, इति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं निखिलातीतानागतवर्तमानार्थसाक्षात्कारिणोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य।

यदप्युक्तम्[6]–'अतीतकालादिपरिगतं वस्तु स्वेन[7] स्वेन रूपेण प्रतिभासते' इत्यादि; तदप्यसारम्; यतः स्वेनैव तत्प्रतिभासते। कथं तर्हि अवर्तमानतया प्रतिभासमानस्यास्य[8] प्रत्यक्षता युक्ता इति चेत्? परिस्फुटतयाऽर्थस्य ग्राहकत्वात्, नहि सन्निहितदेश-कालतयार्थप्रतिभासः प्रत्यक्षलक्षणम्; स्वोत्सङ्गस्थबालकशरीरे व्याहारादिलिङ्गतो जीवसद्भावावभासस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्गात्। किं तर्हि? परिस्फुटतयार्थप्रतिभासः,स चेत् अतीतादेरप्यर्थस्यास्ति कथन्न तस्य प्रत्यक्षता? यथा

१ "यदि प्रमाणनिवृत्तिमात्रं प्रसज्यलक्षणमभावप्रमाणं वर्ण्यते तदा नासौ कस्यचित् प्रतिपत्तिः,नापि प्रतिपत्तिहेतुः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८५०। २–र्मःक–भां०। ३ "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। आत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥ ११ ॥" मीमां० श्लो० अभावपरि०। ४ सर्वज्ञस्य भां०। ५ कदाचित् सर्वज्ञ–ब०, ज०। ६ पृ० ८८ पं० १०। ७ स्वेन रूपेण आ०। ८–मानस्य प्रत्य–भां०।

च इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षस्य देशविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि परिस्फुटप्रतिभासत्वन्न विरुद्ध्यते तथा अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि । न चैवम् अतीतादेर्वर्तमानतापत्तिः वर्तमानार्थग्रहणग्राह्यत्वात् वर्तमानार्थवत् इत्यभिधातव्यम्; दूरदेशार्थस्य अदूरदेशार्थग्रहणग्राह्यत्वात् अदूरदेशार्थवत् अदूरदेशताप्राप्तेः ।

एतेन 'इदमिदानीमिह सत्' इत्यस्यां संविदि वस्तुसत्तावत् तत्प्राक्-प्रध्वंसाभावौ प्रतिभासेते न वा' इत्याद्यपि प्रत्याख्यातम्; यथैव हि इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षे यद्देशविशिष्टं वस्तु नीलरूपमनीलरूपं वा भावरूपमभावरूपं वा तद्देशविशिष्टतयैव प्रतिभासते, तद्वत् सर्वज्ञज्ञानेऽपि यद्देशकालाकारविशिष्टं वस्तु भावरूपमभावरूपं वा तद्देशकालाकारतयैव प्रतिभासते, अतः कथं युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः प्रतिनियतार्थस्वरूपाऽप्रतीतिर्वा यतः सर्वज्ञताऽस्य सुव्यवस्थिता न स्यात्? भविष्यत्कालस्य हि वस्तुस्वभावस्य वर्तमानवस्तुस्वभावतया प्रतीतौ युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः प्रतिनियतार्थस्वरूपाप्रतीतिश्च स्यात् न पुनर्यथाकालं तत्प्रतीतौ । तन्नेदमपि अशेषविदो बाधकम् । अतः सिद्धं[4] सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वमशेषज्ञसद्भावप्रसाधकम् ।

ईश्वरवादे नैयायिकस्य पूर्वपक्षः–

ननु न सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सर्वज्ञसद्भावः सिद्ध्यति, किन्तु क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात् । न चास्य तत्कर्तृत्वमसिद्धम्; तत्प्रसाधकस्यानुमानस्य सद्भावात् । तथाहि–क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत् । न चायमसिद्धो हेतुः; सावयवत्वेन क्षित्यादेः कार्यत्वप्रसिद्धेः । तथाहि–कार्यम् उर्वीपर्वततर्वादि, सावयवत्वात्, तद्वत् । नापि

१–मानग्रहण–भां० । २–देशार्थता–भां० । ३–नियतात्मार्थ–भां० । ४ प्रायः अनयैव दिशा सर्वज्ञसमर्थनम् अधोनिर्दिष्टग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–तत्त्वसं० पृ० ८४६ । सिद्धिवि० टी० सर्वज्ञसि० । आप्तप० पृ० ५४ । अष्टसह० पृ० ४७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३ । शास्त्रवार्त्तास० पृ० ८० । प्रमेयक० पृ० ७० पू० । सन्मति० टी० पृ० ५३ । न्यायवि० वि० पृ० ५५३ । स्या० रत्ना० पृ० ३७० । प्रमेयरत्नमा० पृ० ५४ । सर्वज्ञसि० पृ० १४२ । ५–पूर्वं आ०, ब०, ज० । "संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ।" वैशे० सूत्र २।१।१८,१९ । "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्......सावयवत्वात्" प्रशस्त० कन्द० पृ० ५४ । प्रश० व्यो० पृ० ३०१ । वैशे० उप० पृ० ६२ । "शरीरानपेक्षोत्पत्तिकं बुद्धिमत्पूर्वकम् कारणवत्त्वात्......द्रव्येषु सावयवत्वेन तद्गुणेषु कार्यगुणत्वेन कर्मसु कर्मत्वेनैव तदनुमानात् ।" प्रशस्त० किरणा० पृ० ९७ । न्यायली० पृ० २० । न्यायमुक्ता० दिन० पृ० २३ । "ईश्वरः कारणम् पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।" न्यायसू० ४।१।२० । "गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः...तस्य च धर्मसमाधिफलम् अणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यं सङ्कल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्त्तयति ।" न्यायभा० ४।१।२१ । "प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक् प्रवृत्तेः बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्त्तन्ते अचेतनत्वात् वास्यादिवत् ।......

विरुद्धः; निश्चितकर्तृके घटादौ प्रसिद्धत्वात्। नाप्यनैकान्तिकः; निश्चिताकर्तृकेभ्यो व्योमादिभ्यो व्यावर्तमानत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षागमाभ्यामबाधितविषयत्वात्। नापि प्रकरणसमः; प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य हेत्वन्तरस्याऽसंभवात्। तदयं निरवद्यो हेतुर्बुद्धिमन्तं कर्त्तारं साधयन् पक्षधर्मताबलात् जगन्निर्माणसमर्थं सर्वज्ञत्वादिविशेषणविशिष्टं साधयति।

स्यान्मतम्–इष्टविघातकृदयं हेतुः; तथाहि–सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् अशरीरो बुद्धिमानभ्युपगम्यते, दृष्टान्ते च घटादौ तद्विलक्षणः कर्त्तोपलभ्यते, दृष्टान्तदृष्टधर्मानुसारेण च अदृष्टेऽर्थे प्रतिपत्तिर्भवतीति सिसाधयिषितधर्मविपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुः। दृष्टा-

---

अयमपरो हेतुः–बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिव्यक्तं सुखदुःखादिनिमित्तं भवति रूपादिमत्त्वात् तुर्यादिवत्। धर्माधर्मौ बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कुरुतः करणत्वात् वास्यादिवत्।......बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु स्वासु धारणादिक्रियासु महाभूतानि वाय्वन्तानि प्रवर्त्तन्ते अचेतनत्वात्।" न्यायवा० पृ० ४५७-६७। "विवादाध्यासिताः तनु-तरु-महीधरादयः उपादानाभिज्ञकर्तृकाः उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा......यथा प्रासादादि। न चैषामुत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्; सावयवत्वेन वा महत्त्वे सति क्रियावत्त्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धेः।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५९८। न्यायमं० पृ० १९४। "कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ १॥" न्यायकुसु० पञ्चमस्त०। "तत्राविद्धकर्णोपन्यस्तम् ईश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह–यत्स्वारम्भकेत्यादि। यत्स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत्। बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम्॥ ४७॥ द्वीन्द्रियग्राह्यमग्राह्यं विवादास्पदमीदृशम्। बुद्धिमत्पूर्वकं तेन वैधर्म्येणाणवो मताः॥ ४८॥ तन्वादीनामुपादानं चेतनावदधिष्ठितम्। रूपादिमत्त्वात्तन्त्वादि यथा दृष्टं स्वकार्यकृत्॥ ४९॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ७५ पू०। सन्मति० टी० पृ० १००। "प्रशस्तमतिस्त्वाह–सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात् अप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा-मात्राद्युपदेशपूर्वक इति।" तत्त्वसं० पं० पृ० ४३। प्रमेयक० पृ० ७५ पू०। सन्मति० टी० पृ० १०१।

१ विरुद्धो हेतुः नि–भां०। २ साधयति भां०। ३–विशेषवि–भां०, ब०, ज०। ४ "नन्वेवमशेषपदार्थज्ञानाधारविभ्वात्पूर्वकत्वे साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः...विरुद्धश्च हेतुः...नैतदेवम्; बोधाधारे अधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकलत्वं नापि विरुद्धत्वम्। न चात्र...बोधाधारकारणत्वकार्यत्वयोः सामान्यव्याप्तेर्व्याघातः शक्यसाधनः, विशेषेण तु व्याप्तिविरहादसाधनत्वे धूमस्याप्यसाधनत्वप्रसङ्गः।" प्रश० व्योम० पृ० ३०२। "किञ्च व्याप्त्यनुसारेण कल्प्यमानः प्रसिद्ध्यति। कुलालतुल्यः कर्त्तेति स्याद्विशेषविरुद्धता॥ व्यापारवानसर्वज्ञः शरीरी क्लेशसङ्कुलः। घटस्य यादृशः कर्ता तादृगेव भवेद् भुवः॥ विशेषसाध्यतायां च साध्यशून्यं निदर्शनम्। कर्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः॥" (पृ० १९१) "यदपि विशेषविरुद्धत्वमस्य प्रतिपादितं तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; विशेषविरुद्धस्य हेत्वाभासस्याऽभावात्, अभ्युपगमे वा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्।" न्यायमं० पृ० १९८। प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५। "तथाहि सौधसोपानगोपुराट्टालिकादयः। अनेकानित्यविज्ञानपूर्वकत्वेन निश्चिताः॥ ७३॥ अत एवायमिष्टस्य विघातकृदपीष्यते। अनेकानित्यविज्ञानपूर्वकत्वप्रसाधनात्॥ ७४॥" तत्त्वसं० पृ० ५०। ५ सिसाधयिषित–आ०। सिसाधयिषित–भां०।

न्तश्च साध्यविकलः; घटादौ तथाभूतस्य बुद्धिमतोऽभावादिति । तदसमीचीनम्; यतो न साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तिः सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्, किन्तु सामान्येन । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि व्याप्तिरवधार्यते, तौ च आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च विशेषेषु ग्रहीतुं न शक्यौ, अतो बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वमात्रेणैव कार्यत्वस्य व्याप्तिः प्रत्येतव्या, न शरीरित्वादिना । [1]न खलु कर्तृत्वसामग्र्यां शरीरं प्रविशति, तद्व्यतिरेकेणाऽपि ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाश्रयत्वेन स्वशरीरप्रेरणे कर्तृत्वोपलम्भात् । अकिञ्चित्करस्यापि शरीरस्य सहचरमात्रेण कारणत्वे वह्निपैङ्गिल्यस्यापि धूमं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः स्यात् । विद्यमानेऽपि हि शरीरे ज्ञानादीनां समस्तानां व्यस्तानां वा[3]ऽभावे कुम्भकारादावपि कर्तृत्वं नोपलभ्यते । 'प्रथमं हि कार्योत्पादककारककलापज्ञानं प्रादुर्भवति, ततः तत्करणेच्छा, ततः प्रयत्नः, ततः फलनिष्पत्तिः' इत्यमीषां त्रयाणामेव कार्यकर्तृत्वे सर्वत्राऽव्यभिचारः ।

सर्वज्ञता चास्याऽखिलकार्यव्रातस्य कर्तृत्वात् सिद्धा, यो यस्य कर्ता स तदुपादानाद्यभिज्ञः यथा घटोत्पादकः कुम्भकारो मृद्[4]दण्डाद्यभिज्ञः, जगतः कर्त्ता चायं भगवान् ईश्वर इति । उपादानं हि जगतश्चतुर्विधाः परमाणवः, निमित्तकारणम् अदृष्टादि, भोक्ता आत्मा, भोग्यं तनुकरणादि । न चैतदनभिज्ञस्य क्षित्यादौ कर्तृत्वं संभवतीति । [5]ते च त[6]दीयज्ञानादयो

---

१ "अथ बुद्धिमत्तया ईश्वरस्य शरीरयोगमपि प्रतिपद्यते तेनापि प्रतिपद्यमानेन शरीरादयो नित्या अनित्या वा अवश्यमेषितव्याः।...अथ नित्यान् शरीरादीन् कल्पयसि एवमपि दृष्टविपरीतं कल्पितं भवति दृष्टविपर्ययं प्रतिपद्यमानेन बुद्धेर्नित्यत्वं प्रतिपत्तव्यम्...इच्छा तु विद्यते अक्लिष्टाऽव्याहता सर्वार्थेषु यथा बुद्धिरिति ।" न्यायवा० पृ० ४६५ । "अशरीरपूर्वकत्वञ्च शक्यसाधनम्; सर्वोऽपि कर्त्ता कारकस्वरूपमवधारयति, तत इच्छति-इदमहमनेन निर्वर्त्तयामि इति, ततः प्रयतते, तदनु कायं व्यापारयति, ततः करणान्यधितिष्ठति, ततः करोति, अनवधारयन् अनिच्छन् अप्रयतमानः कायमव्यापारयन् न करोति इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बुद्धिवत् शरीरमपि कार्योत्पत्तावुपायभूतम्...तदिदमशरीरपूर्वकत्वानुमानं व्याप्तिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टं व्याप्तिबलेन चाभिप्रेतमशरीरित्वविशेषं विरुन्धद् विशेषविरुद्धं ततश्च विरुद्धावान्तरप्रभेद एवेति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः । अत्र प्रतिसमाधिः-न तावच्छरीरित्वमेव कर्तृत्वम्; सुषुप्तस्योदासीनस्य च कर्तृत्वप्रसङ्गात्, किन्तु परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोजकत्वं तस्मिन् सति कार्योत्पत्तेः । तच्चाशरीरस्यापि निर्वहति यथा स्वशरीरप्रेरणायाम् आत्मनः । अस्ति तत्राप्यस्य स्वकर्मोपार्जितं तदेव शरीरमिति चेत्; सत्यमस्ति; परं प्रेरणोपायो न भवति स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । इच्छाप्रयत्नोत्पत्तावपि शरीरमपेक्षणीयमिति चेत्; अपेक्षतां यत्र तयोरागन्तुकत्वम्, यत्र पुनरेतौ स्वाभाविकावासाते तत्रास्यापेक्षणं व्यर्थम् । न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः । दृष्टा हि रूपादीनां गुणानाम् आश्रयभेदेन द्वयी गतिः तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यति ।" प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५ । व्योम० पृ० ३०५ । २-न शरीर-भां० । ३ चा-भां० । ४ मृत्पिण्डाद्य-आ० । ५ ये च आ० । ६ तदीया ज्ञाना-ज० । "यत् तदीश्वरस्य ऐश्वर्यं किं तन्नित्यमनित्यमिति ?...नित्यम् इति ब्रूमः...अथास्य बुद्धिनित्यत्वे किं प्रमाणमिति ? नन्विदमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रवर्त्तन्त इति ।" न्यायवा० पृ० ४६४। "तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नित्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम् ।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५९७।

नित्याः, कुम्भकारादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणत्वात्। न च साध्य-दृष्टान्तधर्मिणोः सर्वथा साम्यं संभवति; सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्, नहि यादृशोऽग्निर्महानसे दृष्टः तादृश एव पर्वतेऽस्ति।

एकत्वञ्च क्षित्यादिकर्त्तुः अनेककर्तृणामप्येकाधिष्ठातृनियमितानां प्रवृत्त्युपपत्तेः सिद्धम्। प्रसिद्धा हि स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारनियमितानां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः। न चेश्वरस्य इच्छादीनाञ्च एकरूपत्वे नित्यत्वे च सति कार्याणां कादाचित्कत्वं वैचित्र्यञ्च विरोधमध्यास्ते; कादाचित्कविचित्रसहकारिलाभेन सामग्रीवैचित्र्यसिद्धौ तेषां तद्विरोधाऽसंभवात्।

ननु क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वे अक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णकूपप्रासादादिवत् कृतबुद्धिरुत्पद्येत, न चोत्पद्यते, अतो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वम्; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रामाणिकम्, इतरं वाऽपेक्ष्येदमुच्यते? यदीतरम्; कथन्न सकलानुमानोच्छेदः धूमादावप्यसिद्धत्वानुषङ्गात्? प्रामाणिकस्य तु नासिद्धत्वम्; कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाऽविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः, पर्वतादौ धूमादिवत्। न च यावन्तः पदार्थाः कृतकाः तावन्तः कृतबुद्धिमात्मन्याविर्भावयन्ति इति नियमोऽस्ति, खात[1]-प्रतिपूरितायां भुवि अक्रियादर्शिनः कृतबुद्धेरुत्पादाभावात्। न च अकृष्टप्रभवैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारो बुद्धिमत्कारणाभावेऽपि स्वसामग्रीतस्तेषामुत्पत्तिप्रतीतेरित्यभिधातव्यम्; तेषां पक्षीकृतत्वात्, पक्षे एव साधनव्यभिचारे च न कश्चिद्धेतुर्गमकः स्यात् इत्यनुमानवार्तोच्छेदः। बुद्धिमत्कारणाभावश्चात्र अनुपलब्धितो भवता प्रसाध्यते; एतच्चायुक्तम्; दृश्यानुपलब्धेरेव अभावसाधकत्वोपपत्तेः, न चेयमत्र संभवति क्षित्यादिकर्त्तुरदृश्यत्वात्। अनुपलब्धिमात्रस्य[2] तु अभावसाधकत्वे अतिप्रसङ्गः।

ननु भगवतः परमकारुणिकस्य परार्थप्रवृत्तेर्जगन्निमित्तत्वे दुःखोत्पादकशरीराद्यारम्भकत्वविरोधः, तदविरोधे[3] वा परमकारुणिकत्वा[4]नुपपत्तिः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; धर्माऽधर्मसहकारिणः कर्तृत्वात्, यच्छरीराद्यारम्भे धर्मोऽधर्मो वा सहकारी तस्य सुखाऽसुखरूपफलोपभोगाय तथाविधशरीरादिकमारभते। भगवतो हि 'संसारात् प्राणिनो मोचयिष्यामि' इति परोपकारार्थैव प्रवृत्तिः। मुक्तिश्च एषां धर्माधर्मप्रक्षयात्, तत्प्रक्षयश्च फलोपभोगं विना न[5] घटते इति करुणावतोऽपि तद्विधाने प्रवृत्तिरविरुद्धा। यदि धर्माधर्मवशात्तस्य प्रवृत्तिः, तर्हि ताभ्यामेवाऽखिलकार्योत्पत्तिरस्तु किमीश्वरकल्पनया? इत्यप्यसाधीयः; तयोर्[6]चेतनयोः चेतनाधिष्ठितयोरेव स्व-

---

१–त परिपूरितायां भूमावक्रिया–भां०। २–स्य च अ–ज०। ३–धे च प–आ०। ४–त्वाद्यनुप–भां०, ज०। ५ न इति आ०, ब०, ज०। ६ बुद्धिमत्यधिष्ठातरि साध्ये कथमचेतनेन कर्मणा सिद्धसाधनम्, तस्याप्यचेतनतया अधिष्ठात्रपेक्षत्वात्? तथाहि–सर्वमचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्त्तमानं दृष्टम् यथा तन्त्वादि, तथा च कर्मादि। न चास्मदाद्यात्मैव अधिष्ठायकः; तस्य तद्विषयज्ञानाभावात्। तथा च अस्मदाद्यात्मनो न कर्मविषयं ज्ञानमिन्द्रियजम्, नापि परमाण्वादिविषयम्। न च तदभावे तस्य प्रेरकं दृष्टम्। न चाचेतनस्य अकस्मात्प्रवृत्तिरुपलब्धा। प्रवृत्तौ वा परिनिष्पन्नेपि कार्ये प्रवर्त्तेत विवेकशून्यत्वात्।" प्रश० व्योम० पृ० ३०४।

कार्ये प्रवृत्त्युपपत्तेः। तथाहि–धर्माधर्मौ चेतनाधिष्ठितौ स्वकार्ये प्रवर्तेते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत्। न चास्मदाद्यात्मैव अधिष्ठापको युक्तः; तस्य अदृष्टपरमाण्वादिविषयविज्ञानाऽभावात्। नाप्यचेतनस्य अकस्मात्प्रवृत्तिः, अन्यथा निष्पन्नेऽपि कार्ये तत्प्रवर्तेत विवेकशून्यत्वादिति।

ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वनिराकरणम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावत्–क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वं साधनमुक्तम्; [1]तत्किं सावयवत्वम्, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः, 'कृतम्' इति प्रत्ययविषयत्वम्, विकारित्वं वा स्यात्? यदि सावयवत्वम्; तदिदमपि किमवयवेषु वर्तमानत्वम्, अवयवैरारभ्यमाणत्वम्, प्रदेशवत्त्वम्, 'सावयवम्' इति बुद्धिविषयत्वं वा? तत्राद्यपक्षे अवयवसामान्येनाऽनेकान्तः, तद्धि अकार्यमपि अवयवेषु वर्तत इति। द्वितीयपक्षे तु साध्याऽविशिष्टत्वम्; यथैव हि क्षित्यादेः कार्यत्वं साध्यम् एवं परमाण्वाद्यवयवारभ्यत्वमपि। तृतीयपक्षेऽपि आकाशादिनाऽनेकान्तः, तस्य प्रदेशवत्त्वेऽपि अकार्यत्वात्, प्रसाधयिष्यते चास्य प्रदेशवत्त्वं षट्पदार्थपरीक्षाप्रघट्टके। 'सावयवम्' इति बुद्धिविषयत्वमपि अनेनैवानैकान्तिकम्। न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवघटाद्यर्थसंयोगाद् 'घटाकाशं पटाकाशम्' इति सावयवप्रतीतिगोचरत्वसंभवात् औपचारिकं तत्तत्र इत्यभिधातव्यम्; निरवयवत्वेऽस्य व्यापित्वविरोधात् परमाणुवत्। तथा च व्यापित्वमप्यस्य औपचारिकमेव स्यात्। नापि प्रागसतः स्वकारणसत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्; तत्सम्बन्धस्य समवायाख्यस्य नित्यत्वेन कार्यलक्षणत्वाऽयोगात्, तल्लक्षणत्वे वा कार्यस्यापि क्षित्यादेस्तद्वन्नित्यत्वानुषङ्गात् कस्य बुद्धिमद्धेतुकत्वं साध्येत? निराकरिष्यते चैतल्लक्षणं कार्यत्वं विस्तरतः षट्पदार्थपरीक्षायामिति। 'कृतम्' इति प्रत्ययविषयत्वमपि न तल्लक्षणम्; खननोत्सेचनादिना 'कृतमाकाशम्' इत्यकार्येऽप्याकाशे तस्य गतत्वात्। विकारित्वस्य च कार्यत्वे महेश्वरस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गः। सतो वस्तुनोऽन्यथाभावित्वं हि विकारित्वम्, तच्च ईश्वरेऽप्यस्तीति अस्याप्यपरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गाद् अनवस्था स्यात्। अविकारित्वे चास्य कार्यकारित्वमतिदुर्घटम्। अतः कार्यस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः असिद्धो हेतुः।

किञ्च, कादाचित्कं वस्तु लोके कार्यत्वेन प्रसिद्धम्, जगतस्तु महेश्वरवत् सदा सत्त्वात् कथं कार्यत्वम्? तदन्तर्गतानां तरु-तृणादीनां कार्यत्वात् तस्यापि कार्यत्वे महेश्वरान्तर्गतानां बुद्ध्यादीनां परमाण्वाद्यन्तर्गतानां पाकजरूपादीनाञ्च कार्यत्वात् महेश्वरादेरपि कार्यत्वानुषङ्गः, तथा च अस्याप्यपरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गात् अनवस्था अपसिद्धान्तश्चानुषज्यते।

अस्तु वा यथाकथञ्चिज्जगतः कार्यत्वम्; तथापि किं कार्यमात्रमत्र हेतुत्वेन विवक्षितम्,

---

१ पृ० ९७ पं० १६। "कार्यत्वं स्वकारणसत्तासमवायः स्यात्, अभूत्वाभावित्वम्, अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वं कारणव्यापारानुविधायित्वं वा।" प्रमेयरत्नमा० पृ० ६४। २ "सहावयवैर्वर्तमानत्वम्, तैर्जन्यमानत्वं वा, सावयवमिति बुद्धिविषयत्वं वा?" प्रमेयक० पृ० ७५ पू०। ३–वत्वेनास्य भां०। –वत्वेव्या–ब०, ज०। ४ प्रागसतः स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणम्। ५ कृत्यम् ब०, ज०। ६–भावे हि ज०।

तद्विशेषो वा ? यदि कार्यमात्रम्; कथं बुद्धिमतः कारणविशेषस्य अतोऽनुमानम् ? कारणमात्रेणैवास्याऽविनाभावप्रसिद्धेः तन्मात्रस्यैवातोऽनुमानं स्यात्, तत्र चाऽविप्रतिपत्तिः। हेतोरकिञ्चित्कर॒त्वं विरुद्धत्वं वा; बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कारणमात्रस्यैव प्रसाधनात्।

ननु यथा तार्ण-पार्णादिविशेषान् परिहृत्य अग्निमात्रस्य धूममात्रादनुमानम्, एवं कार्यमात्राद् बुद्धिमत्कारणमात्रस्यानुमानात् कथं विरुद्धत्वमत्र ? इत्यप्यसमीचीनम्; अनुमानस्य प्रतिबन्धावष्टम्भादेव प्रवृत्तेः, प्रतिबन्धश्च कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणैव प्रतिपन्नः धूममात्रस्याग्निमात्रेणेव, न तु बुद्धिमता। न च धूममात्रमपि अग्निमात्रस्य गमकम्; अपनीतपावकापवरकधूमेनाऽनेकान्तात्, अपि तु उच्छलद्बहलपताकाकारविशिष्टम्, तद्वत् कार्यत्वमपि कृतबुद्ध्युत्पादकं बुद्धिमतो गमकम्, न सर्वम्। सारूप्यमात्रेण गमकत्वे च वाष्पादेरपि अग्निं प्रति गमकत्वप्रसङ्गः, महेश्वरं प्रति आत्मत्वादेः संसारित्वकिञ्चिज्ज्ञत्वाऽखिलजगदकर्तृत्वानुमापकत्वानुषङ्गः, वस्तुत्वादेः परमाणुवत् जगद्बुद्धिमत्पूर्वकत्वप्रयोजकत्वप्रसङ्गश्च स्यात् तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्। ततो वाष्प-धूमसंस्थानयोः केनचिदंशेन साम्येऽपि यथा कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगम्यते, यत्सद्भावात धूमोऽग्निं गमयति न वाष्पादिः, तथा क्षित्यादीतरकार्यत्वसंस्थानयोरपि।

अथ कार्यत्वविशेषो हेतुः, यो बुद्धिमत्कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन निश्चितः; सोऽसिद्धः; तादृग्भूतस्यास्य क्षित्यादावभावात्। भावे[2] वा जीर्णकूपप्रासादादिवद् अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादप्रसङ्गः। समारोपान्नेति चेत्; सोप्युभयत्र अविशेषतः किन्न स्यात् कर्तुरुभयत्रातीन्द्रियत्वाऽविशेषात् ? अथ प्रामाणिकस्य अस्त्येवात्र कृतबुद्धिः, ननु केन प्रमाणेन प्रमातुः प्रामाणिकत्वम्-अनेनानुमानेन[3], अनुमानान्तरेण, आगमेन, लोकप्रतीत्या वा ? तत्राद्यपक्षे अन्योन्याश्रयः; तथाहि-सिद्धविशेषणाद्धेतोरस्योत्थानम्, तदुत्थाने च हेतोर्विशेषणसिद्धिरिति। अनुमानान्तरञ्च नास्त्येव, सत्त्वे वा तस्यापि सविशेषणादेव हेतोरुत्थानम्, तत्राप्यनुमानान्तराद्विशेषणसिद्धौ[4] अनवस्था। प्रथमानुमानात्तत्सिद्धौ इतरेतराश्रयः। आगमोऽपि युक्त्यनुगृहीतः, अननुगृहीतो वा प्रमातुः प्रामाणिकत्वं प्रसाधयेत् ? न तावदननुगृहीतः; अतिप्रसङ्गात्। नाप्यनुगृहीतः; तदनुग्राहिकाया युक्तेरेवाऽसंभवात्। उक्तयुक्तेश्च आवर्तनं चक्रकप्रसङ्गः-अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणकार्यत्वानुमानस्य हि सिद्धौ तेनागमस्य अनुग्रहसिद्धिः, तदनुगृहीताच्चागमात् प्रमातुः प्रामाणिकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणकार्यत्वानुमानसिद्धिरिति। नापि 'केनचित् स्रष्ट्रा जगत् सृष्टम्' इति लोकप्रतीत्या प्रामाणिकत्वसिद्धिः; अस्या निर्मूलत्वात् 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति प्रतीतिवत्, वेदे मीमांसकस्य अकृत्रिमत्वप्रतीतिवच्च। न ह्यस्या मूलमिदमनुमानम्; लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रागभावतः तदुत्थानस्यैवाऽसंभवात्[5]। अन्योन्याश्रयश्च; अने-

१-त्करत्वं बुद्धि-ब०, ज०। २ "उपलम्भे वा तत्र ततो जीर्णदेवकुलादिष्विव अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिः स्यात्।" सन्मति० टी०पृ० ११५। ३ अनेन अनुमानान्तरेण ब०, ज०। ४-शेष सि-भां०। ५-भावात् तदु-भां०।

नानुमानेनास्याः समूलत्वसिद्धौ सिद्धविशेषणाद्धेतोरस्यानुमानस्योत्थानसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्याः समूलत्वसिद्धिरिति । नाप्यागमः; तत्रापि इतरेतराश्रयत्वानुषङ्गात्–प्रमाणभूतागममूलत्वसिद्धौ हि अस्याः सातिशयपुरुषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्कृतत्वेन प्रमाणभूतागममूलत्वसिद्धिरिति । ततः क्षित्यादेः कृत्रिमत्वप्रतीतिः लोकप्रवादपरम्परायाता न प्रमाणबलप्रभवा ।

ननु कृतकेन 'कृतबुद्ध्युत्पादकेनैव भाव्यम्' इति नास्त्ययं नियमः, खात-प्रतिपूरितायां[1] भूमौ कृत्रिममणिमुक्ताफलादौ च अक्रियादर्शिनः कृतबुद्धेरुत्पादाऽभावात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तत्र अकृत्रिमभूभागादिसंस्थानसारूप्यस्य[2] कृतबुद्धेरनुत्पादकस्य सद्भावतः तदनुत्पादस्योपपत्तेः । न च क्षित्यादावपि अकृत्रिमसंस्थानसारूप्यं संभवति, अकृत्रिमसंस्थानस्यैव भवताऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा अपसिद्धान्तप्रसङ्गः स्यात् । ततोऽ[3]क्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकः क्षित्याद्यसंभवी जीर्णकूपादौ दृष्टकर्तृककूपादिसजातीयत्वलक्षणो विशेषो भवताऽभ्युपगन्तव्यः, इति कथन्न असिद्धो हेतुः ?

सिद्ध्यतु वा; तथाप्यसौ विरुद्धः, घटादिवत् शरीरादिविशिष्टस्यैव बुद्धिमतोऽत्र प्रसाधनात् । न चैवं सकलानुमानोच्छेदः सर्वत्रैवं विरुद्धत्वोपपत्तेरित्यभिधातव्यम्; धूमाद्यनुमाने महानसेतरसाधारणस्य अग्न्यादेः प्रतिपत्तिसंभवात् । अत्राप्येवं बुद्धिमत्सामान्यप्रसिद्धेर्न[4] विरुद्धत्वमित्यप्ययुक्तम्; दृश्यविशेषाधारस्यैव तत्सामान्यस्य अतः प्रसिद्धेः नादृश्यविशेषाधारस्य, तस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः खरविषाणाधारतत्सामान्यवत् । हेतुव्यापकत्वेनाप्रतिपन्नस्य गम्यत्वे च अभासुररूपोष्णस्पर्शवतोऽप्यग्नेः धूमात् प्रतीतिः स्यात् । ततः कार्यकारणभावविवेकं कुर्वता यादृशात्कारणात् यादृशं कार्यमुपलब्धं तादृशादेव तादृशमनुमातव्यम्, यथा यावद्धर्मात्मकाद्वह्नेः यावद्धर्मात्मकस्य धूमस्योत्पत्तिः सुदृढप्रमाणात्प्रतिपन्ना तादृशादेव धूमात् तादृशस्यैवाग्नेरनुमानम् । न च प्रासादादिकार्यवत् क्षित्यादिकार्येऽपि अतिशयतारतम्यप्रतीतेः तत्कर्तुरतिशयवत्त्वसिद्धिः; तद्वदस्मादृशस्यैव कर्तुरतिशयवतः सिद्धिप्रसङ्गात् । क्षित्यादिनिर्माणे तस्यासामर्थ्यादन्यादृशोऽसौ सिद्ध्यति; इत्यप्ययुक्तम्; तत्र कर्त्रभावस्यैव एवं प्रसङ्गात्, अन्यादृशस्य कर्तुः हेतुव्यापकत्वेन कदाचिदप्यप्रतीतेः । अव्यापकस्य च गम्यत्वे 'व्यापकमगम्यम्, अव्यापकं तु गम्यम्' इति महन्न्यायकौशलम्[5] !

अथ परिशेषात् हेतुव्यापकत्वेन अखिलकारकपरिज्ञानाद्यतिशयवान् कर्तृविशेषः प्रसाध्यते, न ह्यनवगतकारकसामर्थ्यः कार्यस्य कर्ता सर्वस्य सर्वकर्तृत्वप्रसङ्गात् । न चास्मदादेः क्षित्याद्यशेषकारकसामर्थ्यावगमोऽस्ति परमाण्वादेरतीन्द्रियत्वात्, ततोऽशेषकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं कर्तृ[6]त्वं तस्य सिद्ध्यत् तच्छक्तिपरिज्ञानाद्यतिशयपूर्वकमेव सिद्ध्यति; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; प्रयोक्तृत्वस्य शक्तिपरिज्ञानाऽविनाभावाऽसिद्धेः [7]सुप्तमत्तप्रमत्ताद्यवस्थायां वागादिहेतूनां ताल्वा-

१–परिपू–भां०। २ कृत्रिमत्वाभूभागादिसंस्थानरूपस्य भां०। ३ तत्र आ०। ४ प्रतिपत्तिः भां०।
५ महन्माया– आ०। ६–त्वमस्य सिद्धम् ब०,ज०। कर्तृमप्यसि–भां० । ७ सुप्तप्रमत्तावस्थायां आ०।

दीनां शक्तिपरिज्ञानाऽभावेऽपि प्रयोक्तृत्वोपलम्भात्। अस्तु वा तदविनाभावः; तथापि न समस्तकारकशक्तिपरिज्ञानं सिद्ध्यति, सूत्रधारादीनां धर्माद्यपरिज्ञानेऽपि प्रासादादौ कारकप्रयोक्तृत्वोपलम्भात्। यथा च प्रारब्धकार्याऽनिष्पत्तेः सूत्रधारादीनां धर्माद्यशेषकारकाऽपरिज्ञानं तथा ईश्वरस्यापि तदस्तु प्रारब्धाङ्कुरादिकार्याऽनिष्पत्तेस्तत्राप्यविशेषात्। तत्परिज्ञानेऽपि उपभोक्तुरदृष्टवशात्तथा तद्विधानं सूत्रधारादावप्यस्तु, प्रतीतिविरोधोऽप्युभयत्राऽविशिष्टः। भवतु चास्यैव तत्परिज्ञानम्; तथापि एकस्याखिलकारकाधिष्ठातृत्वानुपपत्तिः, अनेकस्याऽपि अनेककारकाधिष्ठातृत्वोपपत्तेः। न हि 'निखिलं कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यम्' 'एकनियमितैरनेकैर्वा' इति नियमोऽस्ति, अनेकधा कार्यकर्तृत्वोपलम्भात्–एकेन हि क्वचिदेकं कार्यं क्रियते यथा पटः कुविन्देन, क्वचित्त्वनेकं यथा घटघटीशरावादि कुम्भकारेण, अनेकश्चानेकेन यथा घट-पट-मकुट-शकटादि कुलालादिना, क्वचिदनेकेनाप्येकं यथा उद्देहिकाभिर्वल्मीकम्, न खलु तासां कश्चिदेकोऽधिष्ठाताऽस्ति। न च प्रासादादिकार्ये अनेकस्थपत्यादीनामेकसूत्रधाराधिष्ठितानामेव प्रवृत्तिः; प्रतिनियताभिप्रायाणामेकसूत्रधाराऽनधिष्ठितानामपि प्रवृत्त्यविरोधात्। एकसूत्रधाराधिष्ठितानेकस्थपत्यादीनां प्रवृत्त्युपलम्भाच्च जगतो महेश्वरैकाऽधिष्ठातृकल्पने अनेकोद्देहिकानामेकेनाऽनधिष्ठितानां प्रवृत्त्युपलम्भात् तस्य तेनाऽनधिष्ठितस्यापि प्रवृत्तिः किन्न स्यात् उभयप्रतीत्योः प्रामाण्याऽविशेषात्?

अकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचारी चायं हेतुः; द्विविधानि हि कार्याण्युपलभ्यन्ते, कानिचिद् बुद्धिमत्पूर्वकाणि यथा घटादीनि, कानिचित्तु तद्विपरीतानि यथा अकृष्टप्रभववृक्षादीनि, इत्युभयप्रतीत्योः प्रामाण्येन उभयोः सिद्धिसंभवात्। तेषां पक्षीकरणादव्यभिचारे 'सँ श्यामः तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्' इत्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गान्न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्, व्यभिचारविषयस्य सर्वत्रापि पक्षीकर्तुं शक्यत्वात्। ईश्वरबुद्ध्यादिभिश्च व्यभिचारः; तेषां कार्यत्वे सत्यपि समवायिकारणादीश्वराद् विभिन्नबुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वाऽभावात्। दृष्टान्ते हि घटादौ बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्ववत् समवायिकारणाद्व्यतिरिक्तबुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वेनापि व्याप्तिः कार्यत्वस्य प्रतिपन्ना। व्यतिरिक्तबुद्धिमत्कर्तृसद्भावाभ्युपगमे चौऽनवस्था। न चैकस्यैव समवायिनिमित्तकारणत्वं युक्तं घटादौ तथानुपलम्भात्, तत्रानुपलब्धस्यापि कल्पने क्षित्यादेरबुद्धिमद्धेतुकत्वं किन्न कल्प्येत अविशेषादिति?

---

१ "तथापि कर्तुर्नैकत्वं व्यभिचारोपदर्शनात्॥ ९२॥ एककर्तुरसिद्धौ च सर्वज्ञत्वं किमाश्रयम्?" तत्त्वसं० पं० पृ० ५७। "नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः। नानाप्रयोक्तृकत्वस्य क्वचिद्दृष्टेरसंशयम्॥६३॥" तत्त्वार्थश्लो०पृ० ३६७। "न ह्ययं नियमः निखिलं कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यं नापि एकनियतैर्बहुभिः इति, अनेकधा कार्यकर्तृत्वोपलम्भात्॥" प्रमेयक० पृ० ७९ पू०। सन्मति० टी० पृ० १३१। २ "स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोऽनुवर्ण्यते। कैश्चित् पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्धेतुतास्थितेः॥ ३८॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६२। ३ पश्यामः ब०, ज०। ४ वा–भां०।

कालात्ययापदिष्टश्चायम्; अकृष्टप्रभवाङ्कुरादौ कर्त्रभावस्य अध्यक्षेणैवाध्यवसायात् अग्नेरनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववत्। ननु यद् दृश्यं सत् प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते तस्य अतोऽभावः नान्यस्य; अन्यथा आकाशादेरप्यभावः स्यात्, न चायं दृश्यः तत्कथमतोऽस्य अभावः स्यात्; इत्यप्यसुन्दरम्; यतोऽस्य सिद्धे कुतश्चित्प्रमाणात्सद्भावे अदृश्यत्वेनाऽनुपलम्भः स्यात्, तत्सद्भावश्च अस्मादेव, अन्यतो वा प्रमाणात् सिद्ध्येत् ? प्रथमपक्षे चक्रकम्–अतो हि तत्सद्भावे सिद्धे अस्याऽदृश्यत्वेनानुपलम्भः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च कालात्ययापदिष्टत्वाभावः, ततश्चास्मात् तत्सद्भावसिद्धिरिति। द्वितीयोऽपि पक्षोऽनुपपन्नः; तत्सद्भावावेदकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽभावात्।

अस्तु वा तत्सद्भावः, तथापि अस्याऽदृश्यत्वे[1] शरीरा[2]भावः कारणम्, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा ? न तावत् शरीराभावः; अशरीरस्य कार्यकर्तृत्वा[3]नुपपत्तेः। तथाहि–नेश्वर[4]ः क्षित्यादेः कर्त्ता अशरीरत्वात्, मुक्तात्मवत्। ननु शरीरं कर्तृत्वसामग्र्यां न प्रविशति तदभावेऽपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वमात्रेण स्वशरीरप्रेरणे कर्तृत्वोपलम्भात्; तदसत्; शरीरसम्बन्धेनैव तत्प्रेरणोपलम्भात्, तत्सम्बन्धो हि आत्मनः सशरीरत्वम्, तस्मिन्सत्येव स्वशरीरेऽन्यत्र वा कार्यकर्तृत्वमुपपद्यते। शरीराभावे मुक्तात्मवज्ज्ञानाद्याश्रयत्वमप्यसंभाव्यम्; तदुत्पत्तावस्य निमित्तकारणत्वात्, तत्कारणाभावेऽपि तदुत्पत्तौ मुक्तात्मनोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, बुद्धिमन्निमित्ताऽभावेऽपि वा क्षित्याद्युत्पत्तिप्रसङ्गः स्यात्। नित्यत्वात्तेषामदोषोऽयम्; इत्यप्यसुन्दरम्; ज्ञानादीनां नित्यत्वेन क्वचिदप्यप्रतीतेः, 'ईश्वर[5]ज्ञानादयो न नित्याः ज्ञानादित्वात् अस्मदादिज्ञानादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च। तेषां दृष्टस्वभावातिक्रमे वा भूरुहादीनामपि स स्यादविशेषात्। ततो ज्ञानादीनां शरीरसम्पाद्यत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, तत्कथमकिञ्चित्करं शरीरम्, यतः सहचरमात्रेण कारणत्वे वह्निपैङ्गिल्यस्यापि धूमं प्रति कारणता प्रसज्येत ? न हि पैङ्गिल्यमात्रं धूमकारणम् हरितालादौ तत्सद्भावेपि धूमानुत्पत्तेः। वह्निविशेषितस्य तद्धेतुत्वे तु न किञ्चिद्विरुद्धम्, यथैव हि इन्धनसम्बद्धो वह्निर्धूमोत्पादकः नान्यः, तथा वह्निविशेषितं पैङ्गिल्यं तन्निबन्धनं नान्यत्। विद्यादिप्रभावस्य च अदृश्यत्वहेतुत्वे कदाचिदसौ दृश्येत। न खलु विद्याभृतां तन्त्रादिमताञ्च शाश्वतिकमदृश्यत्वं दृष्टम्। इतरविद्याभृद्भ्योऽस्य वैलक्षण्याद् दृष्टस्वभावातिक्रमेष्टौ जगतोऽपि इतरकार्यवैलक्षण्यात् तदतिक्रमेष्टिः किन्न स्यात् ? पिशाचादिवत् जातिविशेषोऽस्याऽदृश्यत्वे हेतुः; इत्यप्यसुन्दरम्; एकस्य जातिविशेषाऽसंभवात् अनेकव्यक्तिनिष्ठत्वात्तस्य।

१–दृष्टत्वे आ०। "ननु कुतोऽयं शरीरवानपि अदृश्यः विद्यादिप्रभावात्, जातिविशेषाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ४३३। २ शरीरावयवः–ब०, ज०। ३–त्वानुपलब्धेः आ०। ४ "तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७१। "तत्सम्बन्धरहितस्य मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः।" सन्मति० टी० पृ० ११९। "अशरीरो ह्यधिष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवद्भवेत्॥ ७८॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६६०। ५ "बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत्। इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः॥ १२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६०।

अस्तु वाऽदृश्योऽसौ, तथापि सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण, ऐश्वर्येण वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् ? प्रथमपक्षे कुम्भकारादेरपि तत्कारणत्वप्रसङ्गः सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात्। द्वितीयपक्षे तु योगिनामपि तत्कर्तृत्वानुषङ्गः। अथ योगिनां तथाभूतमशेषार्थविषयं विज्ञानं नास्ति तेनाऽयमदोषः; अस्य कुतः तत् सिद्धम् ? सर्वकर्तृत्वाच्चेत्, अन्योन्याश्रयः-सर्वज्ञत्वसिद्धौ हि सर्वकर्तृत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति। तृतीयपक्षोप्यसाम्प्रतः; अशरीरस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वप्रतिषेधात्। व्यापारवत्त्वमपि अशरीरस्यासम्भाव्यम्; व्यापारो हि कायकृतः, वाक्कृतो वा स्यात् ? उभयमपि अशरीरे न सम्भवत्येव। न च कस्यचिदपि एवंविधा प्रतीतिरस्ति यद् 'वचनतः कायेन वाऽहमीशेनात्र प्रेरितः' इति। व्यापारश्च क्रिया, सा चाऽस्य दुर्घटा। तथाहि-निर्व्यापारः ईश्वरः सर्वगतत्वात् आकाशवत्, सक्रियत्वे चास्य अतादवस्थ्यानुषङ्गादनित्यत्वं स्यात्, स्वावस्थातोऽविचलद्रूपस्यैवार्थस्य नित्यैकरूपतोपपत्तेः। न च परमाणुभिर्व्यभिचारः; तेषामपि परिणामाऽनित्यत्वस्येष्टेः, ईश्वरस्यापि तद्वत्तद्दिष्टौ अपरबुद्धिमद्धेतुकत्वानुषङ्गाद् अनवस्था, अन्यथा तेनैव कार्यत्वादेर्व्यभिचारः।

प्रतिकार्यश्चास्य एकदेशेन, सर्वात्मना वा व्यापारः स्यात् ? एकदेशेन चेत्; तर्हि यावन्ति कार्याणि तावद्भिरेव ईश्वराऽवयवैर्भाव्यम् इति निरंशेश्वरप्रतिज्ञा हीयते। सर्वात्मना व्यापारे यावन्ति कार्याणि तावद्धा ईश्वरस्य भेदप्रसङ्गात् एकेश्वरप्रतिज्ञाक्षतिः। किञ्च, असौ येनैकेन स्वभावेन एकं कार्यं करोति तेनैव तत्स्थित्यादिकं कार्यान्तरञ्च, स्वभावान्तरेण वा ? यदि तेनैव; स्थित्युत्पत्तिविपत्तीनां कार्यान्तराणाञ्च क्रमः वैचित्र्यञ्च न स्यात्। स्वभावभेदे वाऽनित्यत्वम्।

ऐश्वर्यमपि ज्ञातृत्वम्, कर्तृत्वम्, अन्यद्वा स्यात् ? ज्ञातृत्वञ्चेत्; तत्किं ज्ञातृत्वमात्रम्, सर्वज्ञातृत्वं वा ? तत्राद्यपक्षे ज्ञातैव असौ स्यान्नेश्वरः, न हि यो यज्जानाति स तत्र 'ईश्वरः' इत्युच्यते अन्यज्ञातृवत्। द्वितीयपक्षेऽपि अस्य सर्वज्ञत्वमेव स्यात् नैश्वर्यम् सुगतादिवत्। अथ कर्तृत्वम्; तर्हि कुम्भकारादीनां बहुप्रकारकार्यकर्तॄणामैश्वर्यप्रसङ्गः। नाप्यन्यत्; इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण अन्यस्य ऐश्वर्यनिबन्धनस्य ईश्वरेऽभावात्। अथ तयोरेव तत्र तन्निबन्धनत्वमिष्यते, नन्वत्रापि ताभ्यां क्रोडीकृतं सर्वम्, किञ्चिद्वा ? सर्वस्य क्रोडीकारे युगपत्सर्वमुत्पद्येत्। किञ्चिच्चेत्; तर्हि इच्छाप्रयत्नविषयस्य क्रमिकत्वे कथमेकरूपत्वं तयोः स्यात् ? किञ्च, इष्यमाणार्थावच्छेदेन इच्छोत्पद्यते, न चोत्तरकालभाव्यात्ममनःसंयोगजज्ञानविपर्याकारं विना तत्र नियतविषयमात्मानमप्यसौ स्वीकर्त्तुं समर्थः।

१-तः सिद्धम् आ०। २ "यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं साध्यते, सर्वज्ञत्वाच्च प्रयोक्त्रन्तरनिरपेक्षं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन, तदा परस्पराश्रयो दोषः कुतो निवार्येत ?' तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६८। प्रमेयक० पृ० ७८ पू०। सन्मति० टी० पृ० १२८। ३ हीयेत ब०, ज०, भां०। ४ "सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसन्धेरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गात् विचित्रत्वानुपपत्तेरिति।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७९। ५ चाऽ-ब०, ज०। ६-विपर्याकारम् आ०।

किञ्च, अस्य सिसृक्षासञ्जिहीर्षे किं युगपद् भवतः, क्रमेण वा ? युगपद्भावे सृष्टि-संहारयोः यौगपद्यप्रसङ्गः। क्रमेण उत्पत्तौ कारणं वाच्यम्; कारणापेक्षायाञ्च नित्यत्वक्षतिः। अथ नित्यमपि इच्छाप्रयत्नादिकं विचित्र[1]सहकारिसन्निधानात् कार्यवैचित्र्यं विदधाति, ननु ते[2] सहकारिणोऽतदायत्ताः, तदायत्ता वा ? अतदायत्तत्वे तैरेव कार्यत्वादेर्व्यभिचारः। तदायत्तत्वे तदैव ते कुतो न भवन्ति ? तद्धेतूनामभावादिति चेत्; तेऽपि 'तदायत्ता न वा' इत्यादिदूषणं तदवस्थम् इत्यनवस्था। किञ्च, एते सहकारिणः तस्योपकारकाः, न वा ? यद्यनुपकारकाः; कथं सहकारिणः अतिप्रसङ्गात् ? उपकारकत्वे अस्य परिणामित्वम् तत्कृतोपकारस्य अतोऽनर्थान्तरत्वात्, अर्थान्तरत्वे 'तस्य' इति व्यपदेशो न स्यात्, तेनाप्युपकारान्तरकरणे अनवस्था।

किञ्च, ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचि प्रवृत्तिः, कर्मपारतन्त्र्येण, करुणया, धर्मादिप्रयोजनोद्देशेन, क्रीडया, निग्रहानुग्रहविधानार्थम्, स्वभावतो वा ? यथारुचि प्रवृत्तौ कदाचिदन्यादृश्यपि सृष्टिः स्यात्। कर्मपारतन्त्र्ये[4] च अस्य स्वातन्त्र्यहानिः, एतदेव हि स्वातन्त्र्यम् ईश्वरत्वं वा यदनन्यमुखप्रेक्षित्वम्। अथ करुणया[5]; तर्हि कारुणिकत्वाद् युगपत् सर्वानपि अभ्युदयेन युञ्ज्यात्, ततो न कश्चिद् दुःखितः स्यात्। अथ 'एषामभ्युदयः स्यात्' इत्यनयैवेच्छया तानि तानि कर्माणि अनुभावयति, सोऽयं प्रक्षालिताऽशुचिमोदकत्यागन्यायः। कारुणिकस्य हि एतदेव कारुणिकत्वम्–यत् 'अन्येषां[6] दुःखलेशोऽपि माभूत्' इत्यनुसन्धानम्। अथ ईश्वरः किं करोति, पूर्वार्जितैः कर्मभिरेव ते तथा वशीकृता येन दुःखमनुभवन्ति; तर्हि तस्य कः पुरु-

---

१ "स्यादेतत् नेश्वर एव केवलं कारणमपि तु धर्माधर्मादिसहकारिकारणान्तरमपेक्ष्य करोति···तदेतदसम्यक्; यदि हि सहकारिभिः कश्चिदुपकारिभिः (?) कश्चिदुपकारः कर्त्तव्यो भवेत्, तदा तस्य सहकारिणि व्यपेक्षा। यावता नित्यत्वात् परैरनाधेयातिशयस्य न किञ्चित्तस्य सहकारिभिः प्राप्तव्यमस्तीति किमिति तांस्तथाभूताननुपकारिणः सहकारिणोऽपेक्षेत ? किञ्च, येऽपि ते सहकारिणः तेऽपि सर्व एवेश्वरस्यायत्तजन्मतया नित्यं समवहता एव"······तत्त्वसं० पं० पृ० ५४। २ "ननु तेऽपि तज्ज्ञानाद्यायत्तजन्मानः किन्न सर्वदा सन्निधीयन्ते ? अथ नैव ते तदायत्तोत्पत्तयः तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतुरनैकान्तिकः।" सन्मति० टी० पृ० १२२। प्रमेयक० पृ० ७९ उ०। ३ "अथायमीश्वरः कुर्वाणः किमर्थं करोति ? लोके हि ये कर्त्तारो भवन्ति ते किञ्चिदुद्दिश्य प्रवर्त्तन्ते इदमाप्स्यामि इदं हास्यामि चेति, न पुनरीश्वरस्य हेयमस्ति दुःखाभावात्, नोपादेयं वशित्वात्। क्रीडार्थमित्येके। एके तावद् ब्रुवते क्रीडार्थमीश्वरः सृजति इति नन्वेतदयुक्तम्; क्रीडा हि नाम रत्यर्थं भवति···न च रत्यर्थी भगवान्···विभूतिख्यापनार्थम् इत्यपरे···एतदपि तादृगेव···किमर्थं तर्हि करोति ? तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्त्तते इत्यदुष्टम्।" न्यायवा० पृ० ४६३। न्यायवा० ता० टी० ४।१।२१। न्यायमं० पृ० २०२। ४ "तथा चापेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ॥५४॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६५३। तत्त्वसं० पृ० ७६। ५ "अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पाऽस्य जायते। सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥ ५२ ॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६५२। तत्त्वसं० पृ० ७६। प्रमेयक० पृ० १९ उ०। सन्मति० टी० पृ० १३०। स्या० रत्ना० पृ० ४४७। ६ एतेषाम् भां०।

पकारः ? कर्मणामुपभोगेनैव प्रक्षयोपपत्तेः । अदृष्टापेक्षस्य च कर्तृत्वे किं तत्कल्पनया ? कल्पितोऽपि असावदृष्टाधीनश्चेत्, जगदेव तदधीनमस्तु किमनेनान्तर्गडुना ? अथ धर्मादिप्रयोजनमुद्दिश्यायं प्रवर्तते; तर्हि कथमसौ कृतकृत्यः स्यात् तस्य तत्प्रयोजनविरोधात् ? क्रीडा[1]सद्भावे च कथं वीतरागता रथ्यापुरुषवत् ? परमपुरुषश्चेश्वरः 'बाल-ग्रहिलवत् क्रीडति' इति महच्चित्रम् ! निग्रहानुग्रहप्रदत्वेऽपि कथं वीतरागद्वेषता ? तथाहि-रागवान् ईश्वरः, अनुग्रहप्रदत्वात्, राजवत् । तथा, द्वेषवानसौ निग्रहप्रदत्वात् तद्वत् । अथ स्वभावतोऽसौ प्रवर्तते यथा आदित्यः प्रकाशस्वभावत्वात् प्रकाशयति, तर्हि चैतन्यस्य सतोऽपि अकिञ्चित्करत्वात् जगतोऽचेतनस्यापि स्वभावतः प्रवृत्तिरस्तु, किमधिष्ठातृपरिकल्पनया ? तस्य अनादौ काले स्वभावेनैव स्थितत्वात् । कथमचेतनस्य देशादिनियमः निष्पन्नेऽपि वा कार्ये प्रवृत्तिर्न स्यात् ? इत्यन्यत्रापि समानम्, नित्यादिस्वभावस्येश्वरस्यापि तद्दोषप्रतिपादनात् ।

बुद्धिमत्त्वञ्चास्य अनित्यया बुद्ध्या, नित्यया वा स्यात् ? न तावन्नित्यया, तन्नित्यत्वस्य प्रतीत्या अनुमानेन च बाधितत्वप्रतिपादनात् । अथ अनित्यया; कुतोऽसौ जायेत-इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्, समाधिविशेषात्, तदुत्थधर्ममाहात्म्यात्, अनुध्यानमात्राद्वा ? तत्राद्यपक्षो[2]ऽयुक्तः; अशरीरस्यास्य अन्तःकरणस्य अन्यस्य चेन्द्रियस्यानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्, उपपत्तौ वा न सर्वज्ञता तज्जनितज्ञानस्य नियतविषयत्वात् । किञ्च, अचेतनाश्चक्षुरादयः केनचिदधिष्ठितास्तज्ज्ञानं जनयन्ति, अनधिष्ठिता वा ? यद्यनधिष्ठिताः; तदा जगदपि अचेतनाः केनचिदनधिष्ठिताः जनयन्तु अलमधिष्ठातृकल्पनया । अथाधिष्ठिताः; किमधिष्ठात्रन्तरेण, तेनैव वा ? अधिष्ठात्रन्तरेण चेत्; अनवस्था । तेनैव चेत्, चक्रकम्; तथाहि-ज्ञाताः सन्तस्ते प्रेर्यन्ते, प्रेरिताः ज्ञानं जनयन्ति, जनितज्ञानाः ज्ञाता भवन्तीति । समाधिविशेषः अनुध्यानञ्च ज्ञानविशेष एव, तस्य च अद्याप्यसिद्धेः कथं स्वस्मादेव स्वस्योत्पत्तिः ? समाधिविशेषाऽसंभवे च कथं तदुत्थो धर्मस्तत्र संभाव्येत, यतस्तन्माहात्म्याज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् ? अशरीरस्य च समाधिविशेषादिकं मुक्तात्मवद् दुर्घटमेव । अतः कारणाऽसंभवाद् ईश्वरे ज्ञानसद्भावाऽनुपपत्तेः कथं तत्र बुद्धिमत्ता सिद्ध्येत् ? अथ नित्याऽनित्यबुद्धिविशेषानपेक्षया बुद्धिसामान्येन तत्र तद्वत्ता प्रसाध्यते; तदप्यसारम्; द्वितीयविशेषस्याऽसंभवात्, न खलु नित्यो बुद्धिविशेषः कदाचिदप्यनुभूयते, अनित्यस्यैवाऽस्य सर्वदाऽनुभवात् । अतः सिद्ध्यत् तत्सामान्यमनित्यबुद्धिविशेषाधारमेव सिद्ध्येत्, तद्विशेषस्य चेश्वरे कारणाऽसंभवतोऽसंभवात् कथं तदाधारमपि तत्सामान्यं सिद्ध्येत् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चिद् बुद्धिमत्त्वमस्य, तथापि शास्त्राणां प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः, सर्वं शास्त्रं प्रमाणमेव स्यात् ईश्वरप्रणीतत्वात् तत्प्रणीतप्रसिद्धशास्त्रवत् । प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च; सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वात्, आदेशविधायिनाञ्च प्रतिलोमाचरणविरोधात् । संसार-

१ "क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ॥ ५६ ॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६५३ । तत्त्वसं० पृ० ७७ । २ तत्राद्यः प-श्र०, ज०, आं० ।

विलोपश्च ; ईश्वरव्यापारात् पूर्वं तनुकरणाद्यभावतः सकलात्मगुणानां बुद्ध्यादीनामप्यभावात्, नहि तनुकरणाद्यभावे बुद्ध्यादिविशेषगुणाऽभावे च आत्यन्तिकीं शुद्धिमास्कन्दतामात्मनाम् अमुक्तत्वं युक्तमिति। संसारविधाने प्रवृत्तोऽसौ तदभावं विदधाति इति महती प्रेक्षापूर्वकारिता ? ततो[1] यौगोपकल्पितस्येश्वरस्य अखिलजगज्जनकत्वाऽसंभवात् नातः सर्वज्ञतासिद्धिः।

एतेन साङ्ख्यपरिकल्पितस्यापीश्वरस्याऽशेषज्ञता प्रत्युक्ता, जगन्निमित्तकारणत्वेन अस्यां प्रतिज्ञायमानायां प्रोक्ताशेषदोषानुषङ्गाऽविशेषात्।

ननु साङ्ख्यैरीश्वरस्वरूपस्यान्यथा व्यावर्णनात् कथं यौगोपकल्पितेश्वरपक्षोक्तदोषानुषङ्गः ?

ईश्वरस्वरूपवादे सांख्यस्य पूर्वपक्षः–

तथाहि–"क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" [योगसू० १।२४] तत्र "[2]अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः।" [योगसू० २।३] कर्माणि[3] शुभाशुभानि, तद्विपाकाः[4] कर्मफलोपभोगरूपाः, आशयाः[5] नानाविधतदनुगुणसंस्काराः, तैरपरामृष्टो यः पुरुषविशेषः स ईश्वर इति। न चैवं सर्वमुक्तात्मनामीश्वरत्वप्रसङ्गः तदपरामृष्टत्वाऽविशेषात् इत्यभिधातव्यम्; तेषां सर्वदा बन्धेनाऽपरामृष्टत्वाऽसंभवात्। यो हि सर्वदा बन्धविनिर्मुक्तः क्लेशादिभिरपरामृष्टः स ईश्वरः। न च तदन्ये मुक्तात्मानस्तथाविधाः ; तेषां प्राकृत-वैकारिक-

1 ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वसमर्थनपराः ग्रन्थाः–वैशेषिक सू० २।१।१८-१९। प्रशस्तपादभा० पृ० ४८-४९। कन्दली पृ० ५४। व्योमवती पृ० ३०१। प्रशस्त० किरणा० पृ० ९७। वैशे० उप० पृ० ६२। न्यायली० पृ० २०। मुक्ताव० दिन० पृ० २३। न्यायसू०, भाष्य, वा०, वा० ता० टी० ४।१।२०। न्यायमं० पृ० १९४। न्यायकुसु० पञ्चमस्तवक। तत्खण्डनपराश्चेत्थं द्रष्टव्याः–प्रमाणवा० २।१०–२८। तत्त्वसं० ईश्वरप० पृ० ४०। मीमांसाश्लो० सम्बन्धाक्षेप० श्लो० ४३। प्रकरणपं० पृ० १३४। विधिवि० पृ० २१०। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २६८। श्लोकवा० पृ० ३६०। शास्त्रवा० श्लो० १९४। शास्त्रवा० टी० पृ० १९४। आप्तप० कारि० ८। प्रमेयक० पृ० ७३ उ०। सन्मति० टी० पृ० ९३। स्या० रत्ना० पृ० ४०६। प्रमेयरत्नमा० पृ० ६१। 2 "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।" योगसू० २।५। "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवाऽस्मिता।" पुरुषो दृक्शक्तिः बुद्धिः दर्शनशक्तिः इत्येतयोः एकस्वरूपापत्तिरेवाऽस्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोः अत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्प्यते।" योगसू० व्यासभा० २।६। "सुखानुशयी रागः"। "दुःखानुशयी द्वेषः।" "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।" योगसू० २।७, ८,९। "पञ्चपर्वा भवत्यविद्या–अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति, एत एव स्वसंज्ञाभिः तमो मोहः महामोहः तामिस्रः अन्धतामिस्र इति चित्तमलप्रसङ्गेन अभिधास्यन्ते।" योगद० व्यासभा० १।८। 3 "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।" योगसू० २।१२। 4 "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।" योगसू० २।१३। 5 "तदनुगुणा वासना आशयः।" योगसू० व्यासभा० १।२४।

दक्षिणालक्षणबन्धत्रयसद्भावात्। प्राकृतो हि बन्धः आत्माऽनात्मविवेकाऽभावस्वभावः, विषयाऽऽसङ्गस्वरूपस्तु वैकारिकः, भोगाधिरूढधर्माधर्मलक्षणश्च दक्षिणाबन्धः। अनेन च बन्धत्रयेण आमूलादीश्वर एवाऽस्पृष्टः, मुक्तात्मानस्तु एतानि त्रीण्यपि बन्धनानि विवेकज्ञानेन माध्यस्थ्येन कर्मफलोपभोगेन च निर्मूल्यैव कैवल्यं प्राप्ताः। अयं तु भगवान् ईश्वरः सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः न तस्य पूर्वा कोटिरस्ति यथा संसारिमुक्तात्मनाम्, नाप्यपरा यथा प्रकृतिलीनतत्त्वज्ञानानां योगिनाम्, ते हि मुक्तिं प्राप्यापि पुनर्बन्धभाजो भवन्ति। ऐश्वर्यञ्चास्य निरतिशयोत्कृष्टसत्त्वाया बुद्धेर्योगात् सिद्धम्, निरतिशयसत्त्वोत्कर्षश्चास्याः शासनत्राणलक्षणशास्त्रोपादानात्। नन्वेवमितरेतराश्रयः-सिद्धे हि निरतिशयसत्त्वोत्कर्षे तल्लक्षणशास्त्रोपादानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च निरतिशयसत्त्वोत्कर्षसिद्धिरिति; तदसमीक्षिताभिधानम्; ईश्वरे शास्त्र-निरतिशयसत्त्वोत्कर्षयोः अनादिसम्बन्धसंभवात्।

तच्चैश्वर्यम् अष्टविधम्-अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वम्, यत्रकामावसायिता चेति। तत्र अणिमा-यदणुशरीरो भूत्वा सर्वभूतैरदृश्यः सर्वलोके सञ्चरति। लघिमा-यल्लघुत्वाद्वायुवद् विचरति। महिमा-यत्सर्वलोकपूजितो महद्भ्योऽपि

१ "स च बन्धस्त्रिविधः प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दक्षिणाबन्धश्च। तत्र प्रकृतिबन्धो नाम अष्टासु (प्रकृतिबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेषु) प्रकृतिषु परत्वेनाभिमानः। वैकारिकबन्धो नाम ब्रह्मादिस्थानेषु श्रेयोबुद्धिः। दक्षिणाबन्धो नाम गवादिदानेष्यानिमित्तः।" सां० माठर वृ० पृ० ६२। तत्त्वयाथा० पृ० ८१। "प्रकृतिलयः प्रकृतिबन्धः इत्युच्यते, यज्ञादिभिः दक्षिणाबन्ध इत्युच्यते, ऐश्वर्यादिनिमित्तो भोगो वैकारिक इत्युच्यते।" सां० माठर वृ० पृ० ६३। योगसू० तत्त्ववैशा० १।२४। सांख्यसं० पृ० २४। २ "अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयः। ते च मनसि वर्त्तमाना पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैव ईश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानात् ईश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः ईश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोः अनादिः सम्बन्धः।" योगसू० व्यासभा० १।२४। ३ "ऐश्वर्यम् ईश्वरभावेन इत्यष्टविधम्-अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वम्, यत्रकामावसायित्वमिति।" सां० माठरवृ० पृ० ४१। "तत्राणिमा भवत्यणुः, लघिमा लघुर्भवति, महिमा महान् भवति, प्राप्तिः अङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रम्, प्राकाम्यम् इच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके, वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवति अवश्यश्चान्येषाम्, ईशितृत्वम्-तेषाम्प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे, यत्रकामावसायित्वम् सत्यसङ्कल्पता, यथा सङ्कल्पः तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्।" योगसू० व्यासभा० ३।४५। "विक्रियागोचरा ऋद्धिः अनेकविधा-अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वम्, अप्रतिघातः, अन्तर्धानम्, कामरूपित्वम्, इत्येवमादि। त० राजवा० पृ० १४४। ४-पूजितो म-ब०, ज०।

महत्तमो भवति। प्राप्तिः—यद् यद् मनसा चिन्तयति तत्तत्प्राप्नोति। प्राकाम्यम्—यत्प्रचुरकामो भवति, 'विषयान् भोक्तुं शक्नोति' इत्यर्थः। ईशित्वम्—यत् त्रैलोक्यस्य प्रभुर्भवति। वशित्वम्—यद् भूतानि स्थावरजङ्गमानि वशं नयति, वश्येन्द्रियश्च भवति। यत्रकामावसायिता[1]—यद् ब्राह्म[2]-प्राजापत्य-दैव-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस[3]-पित्र्य-पैशाचेषु[4] मानुष्येषु तैर्यग्योनिषु च स्थानान्तरेषु च यत्र यत्र कामयते तत्र तत्र आवसतीति।

एतेषाञ्च[5] ज्ञानैश्वर्यादीनां प्रकृष्ट-प्रकृष्टतमद्वारेण तारतम्यदर्शनात् यत्र विश्रान्तः प्रकर्षः स ईश्वर इति संभावनाऽनुमानेन असौ व्यवस्थाप्यते। तथाहि—यस्तारतम्यप्रकर्षः स क्वचिद् विश्राम्यति यथा परिमाणप्रकर्षो व्योम्नि, तारतम्यप्रकर्षश्च ज्ञानैश्वर्यादिधर्माणामिति। तस्य[6] चेत्थं प्रसिद्धस्वरूपस्येश्वरस्य निःशेषसंसार्यनुग्रहार्थमेव प्रवृत्तिः, स हि कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु 'समग्रं[7] जगदुद्धरिष्यामि' इति प्रतिज्ञावान् अवतिष्ठते। स च ध्यायिभिश्चिन्त्यमानो वाचकेन[8] प्रणवादिना जप्यमानः तेभ्योऽभिमतं फलं प्रयच्छति। कालेना[9]ऽनवच्छेदाच्चासौ पूर्वेषामपि कपिलमहर्षिप्रभृतीनां गुरुः, ते हि कल्पमहाकल्पादिना कालेन अवच्छिद्यन्ते, न तु ईश्वर इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[10]—क्लेशेत्यादि; तदविचारितरमणीयम्; यतः[11] क्लेशादिभिरपरामृष्टत्वमात्रं तस्य स्वरूपम्, तस्मिन् सति अशेषज्ञत्वं वा? प्रथमपक्षे मुक्त एवासौ स्यात् तैरपरामृष्टत्वात् तदन्यमुक्तवत् न पुनरीश्वरः, तदन्यमुक्तात्मनामपि तैस्त्व[12]प्रसङ्गात्। सर्वदा बन्धेनाऽस्पृष्टत्वाऽभावान्न तेषां तत्प्रसङ्गः; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; ईश्वरस्यापि सर्वदा बन्धेनाऽस्पृष्टत्वाऽसंभवात्, तदसंभ-

तत्प्रतिविधानम्—

१ "यत्रकामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता इति। विजितगुणार्थवत्त्वो हि योगी यद् यदर्थतया सङ्कल्पयति तत् तस्मै प्रयोजनाय कल्प्यते। विषमपि अमृतकार्ये सङ्कल्प्य भोजयन् जीवयति।" योगसू० तत्त्ववै० ३।४५। २ "अष्टविकल्पो दैवः तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥" तद्यथा—ब्राह्मं प्राजापत्यम् ऐन्द्रं पैत्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमित्यष्टविधो दैवसर्गः। तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति अत्र तुल्यलिङ्गत्वाद्भवति—पशु-पक्षि-मृग-सरीसृपस्थावरान्तश्च इति। मानुष्य एकविधस्तुल्यलिङ्गत्वात् ब्राह्मणादिचाण्डालान्तः।" सां० मा० वृ० पृ० ७०। ३–स पै–ब०, ज०, भां०। ४–चेषु तै–ब०, ज०, भां०। ५ "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।" योगसू० १।२५। "अस्तिकाष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिः ज्ञानस्य स सर्वज्ञः।" व्यासभा०। ६ "तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन, कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि इति। तथा चोक्तम्—आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिः आसुरये जिज्ञासमानाय धर्मं प्रोवाच इति।" योगसू० व्यासभा० १।२५। ७ समस्तम् ब०, ज०। ८ "तस्य वाचकः प्रणवः।" "तज्जपस्तदर्थभावनम्।" योगसू० १।२७,२८। ९ "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" योगसू० १।२६। "पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते, यत्र अवच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः।" व्यासभा०। १० पृ० १०९ पं० ८। ११ "यतः क्लेशादिभिरपरामृष्टत्वमात्रं तस्य स्वरूपं तस्मिन् सति अशेषज्ञत्वं वा?" स्या० रत्ना० पृ० ४५४। १२ ईश्वरत्व।

वक्ष्य मोक्षप्ररूपणावसरे प्रतिपादयिष्यते। अथ तदस्पृष्टत्वे सति अशेषज्ञत्वं तस्य स्वरूपम्, तत्कुतः सिद्धम् अशेषकर्तृत्वात्, ऐश्वर्याश्रयत्वाद्वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; यौगाभिमतेश्वरपक्षनिक्षिप्तदूषणगणप्रसङ्गात्। कर्तृत्वाभ्युपगमे चास्य "अकर्ता निर्गुणः शुद्धः" [ ] इत्यादेरात्मलक्षणस्याऽनुपपत्तिः। अथ अन्यात्मनामेवैतल्लक्षणं नेश्वरस्य, अस्याऽतो विशिष्टत्वात् तेनाऽयमदोषः; नन्वेवं शुद्धत्वादेरपि ईश्वरस्वरूपत्वाऽभावप्रसङ्गात् अतीव तस्य तेभ्यो विशिष्टत्वं स्यात्!

अस्तु वाऽस्य कर्तृत्वम्, तथाप्यसौ स्वतन्त्रः कार्यं कुर्यात्, प्रकृतितन्त्रो वा? यदि स्वतन्त्रः; तदा यौगोपकल्पितेश्वरान्न विशिष्यते इति तद्दोषेणैव दुष्टताऽस्य प्रतिपत्तव्या। अथ प्रकृतितन्त्रः; तन्न; प्रकृतेः स्वरूपत एवाऽसिद्धेः, तदसिद्धिश्च अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् सिद्धा। तत्तन्त्रता चास्य अनयोऽतिशयाधानात्, मिलित्वैककार्यकारित्वाद्वा स्यात्? तत्राद्यकल्पनाऽयुक्ता; सर्वथा नित्यत्वेन अविकारिणोऽस्य अतिशयाधानाऽसंभवात्। द्वितीयकल्पनाप्यनुपपन्ना; कार्याणां यौगपद्यप्रसङ्गात् अप्रतिहतसामर्थ्यस्य ईश्वरप्रधानाख्यकारणद्वयस्य सर्वत्र सर्वदा सन्निहितत्वेनाऽविकलकारणत्वात्तेषाम्। यद् यदाऽविकलकारणं तत्तदा भवत्येव यथा अन्त्यक्षणप्राप्तसामग्रीतोऽङ्कुरः, अविकलकारणञ्च नित्यव्यापीश्वर-प्रधानाख्यकारणद्वयाधीनमशेषं कार्यमिति।

ननु कारणद्वयस्याऽस्य सर्वत्र सर्वदा सन्निहितत्वेऽपि न सर्वत्र सर्वदा कार्योत्पत्तिः, तत्स्थित्युत्पत्तिविनाशविधाने सत्त्वरजस्तमसामुद्भूतवृत्तीनां यथाक्रमं सहकारित्वात्, तेषाञ्च तथाविधानां क्रमभावित्वादिति; तदप्यपेशलम्; यतः प्रकृतीश्वरयोः स्थित्युत्पत्तिप्रलयानां मध्ये अन्यतमोत्पादनसमये तदपरोत्पादने सामर्थ्यमस्ति, न वा? यद्यस्ति; तर्हि सृष्टिसमयेऽपि स्थितिप्रलयप्रसङ्गः अविकलकारणत्वादुत्पादवत्, एवं स्थितिकालेऽपि उत्पाद-विनाशयोः विनाशकाले च स्थित्युत्पादयोः प्रसङ्गः। न चैतद् युक्तम्। नहि परस्परपरिहारेणावस्थितानामुत्पादादिधर्माणाम् एकत्र धर्मिण्येकदा सद्भावो युक्तः प्रतीतिविरोधात्। अथ नास्ति सामर्थ्यम्; तदा

---

१ "अशेषकर्तृत्वात् ऐश्वर्याश्रयत्वाद्वा?" स्या० रत्ना० पृ० ४५४। २ "स किं स्वतन्त्रः सर्वं कार्यं कुर्यात् प्रकृतिपरतन्त्रो वा?" स्या० रत्ना० पृ० ४५४। ३ "साहित्यं सहकारित्वात् एतयोः कल्प्यते च यत्। तत् स्यादतिशयाधानादेकार्थक्रिययापि वा ॥ ९५ ॥ न युक्ता कल्पनाद्यस्य निर्विकारतया तयोः। न द्वितीयस्य कार्याणां यौगपद्यप्रसङ्गतः ॥ ९६ ॥" तत्त्वसं० पृ० ५९। प्रमेयक० पृ० ८४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ५५४। ४ "इहोच्यते तयोरेकक्रियाकाले समस्ति किम्। तदन्यकार्यनिष्पत्तिसामर्थ्यं यदि वा न तत् ॥१०१॥ यद्यस्ति सर्गकालेऽपि द्वयमप्यपरं भवेत्। एवमन्यस्य सद्भावे द्वयमन्यत् प्रसज्यते ॥ १०२ ॥" तत्त्वसं०पृ० ६०। प्रमेयक० पृ० ८४ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ४५५। ५–योः पुनः प्रसङ्गः भां०।

एकमेव स्थित्यादीनां मध्ये कार्यं सदा स्यात् यज्जनने तयोः सामर्थ्यमस्ति, नापरं तज्जनने तयोः सामर्थ्याऽसंभवात्। अविकारिणोश्चाऽनयोः पुनः सामर्थ्योत्पत्तिविरोधात्, अन्यथा नित्यैकस्वभावताव्याघातः।

नन्वा चानयोः तत्सामर्थ्यसंभवेऽपि यदोद्भूतवृत्तिरजः सहकारि भवति तदोत्पत्तिविधायकत्वम्, यदा सत्त्वम् तदा स्थितिकारित्वम्, यदा तु तमः तदा प्रलयोत्पादकत्वम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतस्तेषामुद्भूतवृत्तित्वं नित्यम्, अनित्यं वा स्यात्? न तावन्नित्यम्; कादाचित्कत्वात्, स्थित्यादीनां यौगपद्यप्रसङ्गाच्च। अथ अनित्यम्; कुतो जायते प्रकृतीश्वरादेव, अन्यतो वा कुतश्चित्, स्वातंन्त्र्येण वा? प्रथमपक्षे सदाऽस्य सद्भावप्रसङ्गः, प्रकृतीश्वराख्यस्य हेतोर्नित्यरूपतया सदा सन्निहितत्वात्। अथ अन्यतः; तन्न; प्रकृतीश्वरव्यतिरेकेण अपरकारणस्य भवताऽनभ्युपगमात्। तृतीयपक्षे तु देश-कालनियमेनाऽस्य आविर्भावविरोधः स्वातन्त्र्येण भवतः तन्नियमानुपपत्तेः। स्वभावान्तरायत्तवृत्तयो हि भावाः कादाचित्काः स्युः तद्भावाभावप्रतिबद्धत्वात् तत्सत्त्वाऽसत्त्वयोः, नान्ये तेषामपेक्षणीयस्य कस्यचिदप्यभावात्, अपेक्षणीयसद्भावे वा स्वातन्त्र्येणोत्पादविरोधात्। अतः कर्तृत्वस्य ईश्वरे विचार्यमाणस्य कथञ्चिदप्यनुपपत्तेर्नातः तस्याशेषज्ञत्वसिद्धिः।

नाप्यैश्वर्याश्रयत्वात्, तत्रैश्वर्यस्यापि विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः, तद्धि तत्र स्वाभाविकम्, प्रकृतिकृतं वा स्यात्? न तावत् स्वाभाविकम्; बुद्धिधर्मतया साङ्ख्यैस्तस्याभ्युपगमात्, चैतन्यमेव हि तैः आत्मनि स्वाभाविकं स्वरूपमभ्युगतम्। अथ प्रकृतिकृतम्; तथाहि–यदा प्रकृतिर्बुद्धिलक्षणेन विकारेण परिणमते तदा तदवस्थाविशेषाः धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्यादयः प्रादुर्भवन्तीति;

---

१ तथाहि–यदोद्भूतवृत्तिना रजसा युक्तो भवति महेश्वरः तदा सर्गहेतुः प्रजानां भवति प्रसवकार्यत्वाद्रजसः। यदा तु सत्त्वं समुद्भूतवृत्ति संश्रयते तदा लोकानां स्थितिकारणं भवति सत्त्वस्य स्थितिहेतुत्वात्। यदा तु तमसोद्भूतशक्तिना समायुक्तो भवति तदा प्रलयं नाशं सर्वजगतः करोति तमसः प्रलयहेतुत्वात्। यथोक्तम्–रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमस्पृशे। अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः। (कादम्बरी पृ० १) तत्त्वसं० पं० पृ० ५९। प्रमेयक० पृ० ८४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ४५४। २ "उत्कटं शक्तिरूपञ्च यदि तन्मात्रकारणम्। सर्वदा तद्भवेद्धेतोर्नित्यरूपस्य सन्निधेः॥ १०५॥ न चापरं परैरिष्टमतो नैवान्यतोपि तत्। नापि स्वतन्त्रमेवेदं कादाचित्कत्वसंभवात्॥ १०६॥ स्वतो भावे ह्यहेतुत्वं स्वक्रियायाः विरोधतः। अपेक्षया हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः॥ १०७॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ८४ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ४५५। ३ "ततश्चास्य भावः कदाचित् प्रकृतीश्वरादेव कारणात्, अन्यतो वा हेतोः स्वतन्त्रो वा स्यात्?" तत्त्वसं० पं० पृ० ६१। ४ "ऐश्वर्यं हि तत्र स्वाभाविकम्, प्रकृतिकृतं वा स्यात्?" स्या० रत्ना० पृ० ४५५। ५ "अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्॥ २३॥ तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति धर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यमिति।" सां० माठरवृ०।

तदसमीक्षिताभिधानम्; एवम् ईश्वरस्य भवतैव ऐश्वर्याऽभावप्रतिपादनात्, न हि बुद्धिपरिणामस्यैश्वर्यस्य संभवे ततोऽर्थान्तरस्यास्य तद् युक्तम्, अन्यात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गात्। अथ बुद्ध्या सह सम्बन्धसद्भावात् 'तस्यैव तत् नान्यस्य' इत्युच्यते; ननु कोऽयं तेनास्याः सम्बन्धः–समवायः, संयोगादिः, तदुद्देशेन प्रवृत्तिमात्रं वा ? न तावत् समवायः; अन्यधर्मस्यान्यत्र समवायानुपपत्तेः, यो यद्धर्मः स ततोऽन्यत्र न समवैति यथा चिद्रूपता, प्रकृतिधर्मश्च बुद्धिः, तस्मात्ततोऽर्थान्तरेऽस्मिन् न समवैतीति। न च स्फटिकादिसमवेतेन रक्तादिधर्मेणाऽनेकान्तः; जपापुष्पसन्निधाने स्फटिकादेरेव तथा परिणमनात्। एतच्च प्रतिबिम्बोदयसिद्धौ सप्रपञ्चं प्रपञ्चयिष्यते। आत्मनोऽपि बुद्धिरूपतया परिणतप्रकृतिसन्निधाने तथा परिणामाभ्युपगमे *"चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा"* [व्यासभा० पृ० १५] इत्यादिग्रन्थविरोधः। तन्नेश्वरेण सह बुद्धेः समवायः सम्बन्धो घटते। नापि संयोगः; बुद्धेरद्रव्यत्वात् अतिप्रसङ्गाच्च; सर्वैरपि हि आत्मभिर्नित्यव्यापिभिः तस्याः संयोगो विद्यत एव। एतेन संयुक्तसमवायादिरपि प्रत्याख्यातः; असंभवस्य अतिप्रसङ्गस्य चात्राप्यविशेषात्। अथ तदुद्देशेन प्रवृत्तिमात्रमेवास्यास्तेन सम्बन्धः; तदप्यसाम्प्रतम्; ईश्वरोद्देशेन अस्याः प्रवृत्तेरेवासंभवात्, पुरुषार्थकर्त्तव्यतावशेन हि प्रकृतेः प्रवर्तमानायाः बुद्ध्यादयो विकाराः व्यक्तिमासादयन्ति, न चेश्वरस्य कश्चित्पुरुषार्थः कर्त्तव्योऽस्ति, नित्यनिर्मुक्तत्वेन कृतकृत्यत्वात् तत्कथं तमुद्दिश्य प्रकृतिः प्रवर्तेत ? अप्रवृत्तायां वास्यां कथमैश्वर्यसंभवः ?

किञ्च, ऐश्वर्यं स्वाभिमतकार्यसम्पादने द्रव्यसहायादिसम्पन्नत्वमुच्यते, कार्यञ्चेत् स्वाभिमतं न किञ्चिदसौ सम्पादयति केवलं वस्तु यथावज्जानाति, कथं तर्हि तावतास्य ऐश्वर्यम् ? नहि यो यत् जानाति स तत्र 'ईश्वरः' इत्युच्यते, अतिप्रसङ्गात्। अथ कालेनानवच्छिन्नं तज्ज्ञानम् तेनासौ ईश्वरः नान्यः; ननु कालेनाऽनवच्छिन्नत्वं नित्यत्वे गमकम् नैश्वर्ये। एतेन संभावनानुमानं प्रत्युक्तम्; ततो हि बुद्ध्यादिगुणानां परमप्रकर्षः सिद्ध्येत् नैश्वर्यम्।

किञ्च, पुरुषार्थकर्त्तव्यतानुरोधेन प्रकृतितः प्रवर्तमानायाँ निरवशेषभोगपूर्वकं विवेकख्यातिपर्यन्तं पुरुषार्थं सम्पाद्य विनिवृत्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानायाः बुद्धेः स्वकारणे लयः सम्पद्यते, ततश्च ईश्वरंप्रत्यस्याः कृतार्थता स्यात्, न वा ? कृतार्थत्वे बुद्धेः स्वकारणे लीनत्वात् गतमस्यैश्वर्यम्। अकृतार्थत्वे अद्यापि बन्धलेशस्य सद्भावाद् योगितुल्यत्वमस्य स्यात्, नेश्वरत्वमिति। ततो जगत्कर्तृत्वादिप्रकारेण अशेषज्ञसद्भावाऽसिद्धेः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादेव तत्सद्भावसिद्धिरभ्युपगन्तव्या।

---

१ "ननु कोऽयमीश्वरेण साकं बुद्धेः सम्बन्धः–समवायः, संयोगादिः, ईश्वरोद्देशेन प्रवृत्तिमात्रं वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ४५६। २ "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमाऽदर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयम्।" योगसू० व्यासभा० १।२। "तथा चोक्तं पञ्चशिखेन–अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः अप्रतिसङ्क्रमा च।" योगसू० तत्त्ववैशा० २।२०। ३–मानाय नि–ब०

ननु बाधकाभाववत् साधकस्यापि प्रमाणस्य तत्राऽभावात् सन्देहोऽस्तु, इत्यारेकां निघ्नन्नाह–

विवृतिव्याख्यानम्– 'साधक' इत्यादि। साधकबाधकप्रमाणाभावात् कारणात् तत्र अतीन्द्रियप्रत्यक्षे संशीतिः अनेन 'यावज्ज्ञेय' इत्यादिना ग्रन्थेन प्रत्युक्ता निरस्ता। कुत एतत्? इत्याह–बाधकस्यैवाऽसंभवात् न साधकस्य। यदि नाम बाधकस्यैवाऽसंभवः किमेतावता अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भावो भविष्यति? इत्यत्राह– 'सर्वत्र' इत्यादि। सर्वत्र दृश्येऽन्यत्र वा विषये बाधकाभावेतराभ्यां भावाऽभावव्यवहारसिद्धिः बाधकस्याभावेन हि वस्तुनि भावव्यवहारसिद्धिः, भावेन च अभावव्यवहारसिद्धिरिति। कुतस्तर्हि सन्देहः? इत्याह–'तद्' इत्यादि। तयोः बाधकेतरयोः सन्देहादेव सन्देहः सर्वत्रेति। ननु न बाधकाभावाद् भावव्यवहारसिद्धिः अपि तु प्रतीतेः इत्याशङ्क्याह–'तत एव' इत्यादि। तत एव बाधकाभावादेव अनुभवस्य सुखादिसंवेदनस्य प्रामाण्यव्यवस्थापनात् इति एवम् अलमतिप्रसङ्गेन।

ननु च इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रपर्यवसितत्वेन हेयोपादेयाऽविषयत्वात् कथं संव्यवहारनियुक्तत्वम्? इत्यारेकायामाह—

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः।
अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहावायो विनिश्चयः॥ ५॥

विवृतिः–विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः। विषयस्तावत् द्रव्य-पर्यायात्मार्थः, विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रियस्य। ❀ द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम्। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः, उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः।❀

---

१ "साधकबाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञे संशयोऽस्तु इत्ययुक्तम्; यस्मात् साधकबाधकप्रमाणयोः निर्णयाद् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिः बाधकनिर्णयात्त्वसत्तायाम्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४९। २–भावात्त्र भां०। ३–त्राह–सर्वत्र दृश्ये–आ०। ४–त्र बाध–भां०। ५ बाधकाभावेतरयोः सन्देहाभावादेव भां०। ६ इन्द्रियप्रत्यक्षस्य भां०। ७ "विषय-विषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः।" सर्वार्थसि० पृ० ६२। त० राजवा० पृ० ४२। "अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात् जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः॥ २॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९। "अत्थाणमुग्गहणमवग्गहं तह वियालणमीहम्। ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं बेति॥ ९॥" आ० नि०। "सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो भेयमग्गणमहेहा। तस्सावगोवाओ अविच्चुई धारणा तस्स॥ १८०॥" विशेषा० भा०। "तत्र अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। अवग्रहो ग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम्।" तत्त्वार्थाधिग० भा० पृ० १८। प्रमाणनयतत्त्वा० २।७। "अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।" प्रमाणमी० १।१।२७। ८–यम् आ० वि०। ❀ एतत्तारकान्तर्गतः पाठः आ० विवृतौ नास्ति।

अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम्, तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पम् उत्तरपरिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः। पुनः अवग्रहीकृतविशेषाऽऽकाङ्क्षणम् ईहा। तथेहितविशेषनिर्णयोऽवायः[2] कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषाद् व्यपदेशभेदः।

अक्षाणां चक्षुरादीन्द्रियाणां **अर्थानां** घटादीनां **योगे** सम्बन्धे योग्यतालक्षणे सति, न तु संयोगादिलक्षणे तस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्, **सत्तालोकः** सकलहेयोपादेयसाधारणसत्त्वमात्रस्य **आलोको** दर्शनम् आत्मनः प्रथमतः प्रादुर्भवति, तदनु स एवाऽऽलोकः **अर्थाकारविकल्पधीः** भवति।

कारिकाविवरणम्–

अर्थः व्यवहारिणा हेयत्वेन उपादेयत्वेन वा प्रार्थ्यमानो भावः तस्य **आकारः** सत्त्वसामान्यादवान्तरो जातिविशेषो मनुष्यत्वादिः तस्य **विकल्पधीः** निर्णयरूपा बुद्धिः आविर्भवति तद्रूपतया दर्शनं परिणमत इत्यर्थः। तस्याः किन्नाम? इत्यत्राह–'अवग्रह' इति। अयमपि **विशेषाकाङ्क्षा** भवति। अन्यस्याऽप्रकृतत्वादश्रूयमाणत्वाच्च अर्थाकारस्यैव **विशेषो** वलाकादिभेदो गृह्यते तस्य **आकाङ्क्षा** भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यम्। तस्याः नाम कथयति **ईहा** इति। सापि **अवायो** भवति आकाङ्क्षितविशेष**विनिश्चयो** भवति। ततश्च ज्ञानज्ञेययोः कथञ्चित्कालान्तरानुवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेः सिद्धम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षस्य संव्यवहारनियुक्तत्वं हेयोपादेयार्थविषयत्वसंभवात्, सर्वथाऽननुवृत्तिमत एव तदसंभवतः तन्नियुक्तत्वाऽनुपपत्तेः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'विषय' इत्यादि। ननु कारिकायां दर्शनं पूर्वमुक्तम् पश्चाद् अवग्रहः, वृत्तौ तु विपर्ययः किमर्थम्? इति चेत् अवग्रहाद् दर्शनस्य कारिकायां पूर्वं प्रतिज्ञातस्य अनुमेयत्वख्यापनार्थम्। यथैव हि

विवृतिव्याख्यानम्–

अवान्तरजातिग्रहणपूर्वकम् उत्तरं विशेषज्ञानं तत्त्वात्, तथा तत एव अवान्तरजातिग्रहणं सत्ता-

---

१ अवग्रहगृहीतवि–आ० वि०। अवग्रहीत–ज० वि०। "अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।" सर्वार्थसि० पृ० ६३। अवगृहीतेऽर्थे...राजवा० पृ० ४१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२०। "अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा। ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।" तत्त्वार्थाधि० भा० पृ० १८। "अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणम् ईहा" प्रमाणनयतत्त्वा० २।८। प्रमाणमी० १।१।२८। जैनतर्कप० पृ० ११६। २ "विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः" सर्वार्थसि० पृ० ६३। राजवा० पृ० ४२। तत्वार्थश्लो० वा० पृ० २२०। "अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपायः। अपायोऽपगमः अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम्।" तत्त्वार्था० भा० पृ० १८। "ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।" प्रमाणनयतत्त्वा० २।९। प्रमाणमी० १।१।२९। जैनतर्क० पृ० ११६।

दर्शनपूर्वकम्; न च सत्तायाः परं सामान्यमस्ति यतोऽनवस्था स्यात्। **विषयः** घटादिः **विषयी** चक्षुरादिः तयोः **समीचीनः** यथार्थज्ञानजनको **निपातः** योग्यदेशाद्यवस्थानम् तस्य **अनन्तरम्** **आद्यं ग्रहणं** ज्ञानम् **अवग्रहः** अवान्तरमनुष्यत्वादिजातिपरिच्छेदः। तत्र '**विषयः**' इत्यादिना विषयस्वरूपं निरूपयति। **तावत्** शब्दः क्रमवाची **विषयो** गोचरः **अर्थः** किंविशिष्टः ? **द्रव्यपर्यायात्मा**। तत्र द्रव्यम् पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यम् ऊर्ध्वतासामान्यम्, तत्र क्रमभुवो विवर्त्ताः **पर्यायाः**[1] ते **आत्मा**[2] स्वभावो यस्य स तथोक्तः।

संवेदनाद्वैतवादिनो योगाचारस्य पूर्वपक्षः–

ननु ज्ञानस्वरूपातिरिक्तस्याऽर्थस्य सद्भावे प्रमाणाभावात् कस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वविशिष्टस्य विषयत्वं प्ररूप्यते[3] ? प्रतिभासमानस्याऽशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तःप्रविष्टत्वप्रसिद्धेः संवेदनमेव पारमार्थिकं तत्त्वम्[4]। तथाहि–यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति। न चैषां परतोऽवभासो घटते। स हि परतः सम्बद्धात्, असम्बद्धाद्वा भवेत् ? न तावदसम्बद्धात्; अतिप्रसङ्गात्। अथ सम्बद्धात्; किं तादात्म्येन, तदुत्पत्त्या वा ? यदि तादात्म्येन तदा ज्ञानरूपताऽर्थानाम् जडस्वभावता वा ज्ञानस्य स्यात्, तादात्म्यस्य अन्योन्य[5]-स्वरूपस्वीकारस्वभावत्वात्। ज्ञानस्वरूपत्वे[6] चार्थानां सिद्धं ज्ञानाद्वैतम्। जडस्वभावत्वे तु ज्ञानस्य अर्थव्यवस्थावार्तोच्छेदः जगतो विवेकविकलतया आन्ध्यप्रसक्तेः।

अथ तदुत्पत्त्या; कुतः किमुत्पद्येत ज्ञानादर्थः, अर्थाद्वा ज्ञानम् ? प्रथमपक्षे अर्थस्य ज्ञानरूपताप्रसङ्गः ज्ञानादुत्पद्यमानत्वात् उत्तरज्ञानक्षणवत्। अथ अर्थाज्ज्ञानमुत्पद्यते; किं समकालात्, भिन्नकालाद्वा ? न तावत् समकालात्; समसमयभाविनोः सव्येतरगोविषाणवत् कार्यकारणभावाऽभावात्, अन्यथा अर्थं प्रति ज्ञानस्यापि कारणत्वप्रसङ्गः अविशेषात्। भिन्नकालात्तस्तदुत्पत्तौ ज्ञानस्याऽहेतुकत्वप्रसक्तिः, तत्कालेऽर्थस्याऽसत्त्वात्, यदसन् न ततः किञ्चिदुत्पत्तुमर्हति यथा मृताच्छिखिनः केकायितम्, असंश्च ज्ञानकाले अर्थ इति। किञ्च, अर्थो ज्ञानस्य जनको नित्यः संभवेत्, अनित्यो वा ? नित्यत्वे सर्वं ज्ञानमेकदैवोत्पादयेत् नित्यैकरूपतया तस्यैकदेव तज्जननसामर्थ्यसंभवात्, अन्यथा नित्यैकरूपताव्याघातः स्यात्। अनित्यस्य च समकालस्य भिन्नकालस्य वा तज्जनकत्वं प्रतिषिद्धम्। तथा एकरूपः, अनेकरूपो वाऽसौ स्यात् ? एकरूपत्वे दूरासन्नानां स्पष्टाऽस्पष्टप्रतिभासभेदो न स्यात्। अनेकरूपत्वे परमाणुशो भेदात् न कस्यचित् स्फुटतया अस्फुटतया वा स्थूलैकप्रतिभासः स्यात्।

किञ्च, असौ निराकारज्ञानग्राह्यः, साकारज्ञानग्राह्यो वा ? निराकारज्ञानग्राह्यत्वे प्रतिकर्म-

---

१–र्याया: आ–भां०। २–त्मा भा–ब०, ज०। ३ प्ररूप्येत ज०, भां०। ४ "अनिर्भासं सनिर्भासमन्यनिर्भासमेव च। विजानाति न च ज्ञानं बाह्यमर्थं कथञ्चन ॥ १९९९ ॥" तत्त्वसं० पृ० ५५९। ५–न्यरूप–आ०। ६ ज्ञानरूपत्वे ब०, ज०, भां०।

व्यवस्थाविलोपः, तथा च 'इदं नीलस्य ग्राहकम् इदं पीतस्य' इति प्रतिनियतकर्मव्यवस्थापकाऽभावात् प्रतिनियतविषये प्रतिनियता प्रवृत्तिरपि दुर्लभा। साकारत्वे च ज्ञानस्य अर्थकल्पनावैयर्थ्यम् तत्रैव ग्राह्य-ग्राहकभावस्य परिसमाप्तत्वात्।

ननु ज्ञानगताकारस्य कादाचित्कस्य परिदृश्यमानकारणेभ्यः उपपद्यमानत्वात् कारणाभावे च कार्यसद्भावाऽनुपपत्तेः तदुपपत्तये तदाकारोऽर्थः कल्प्यते, यस्तथा ज्ञानं जनयतीति; तदप्यसाम्प्रतम्; वासनासामर्थ्यात्[1] तथाभूतज्ञानोत्पत्तेर्नो[2]ऽतोऽर्थसद्भावसिद्धिः, अर्थाच्च तथाभूतज्ञानसंभवे स्वप्नेन्द्रजालगन्धर्वनगरादौ तदभावः स्यात्। न हि स्वप्नादौ प्रतिभासमानोऽर्थः अस्ति, यः स्वगतमाकारं विज्ञाने विदध्यात्, अतो ज्ञानाभावे गन्धर्वनगराद्याकारानुपलम्भात् तत्सद्भावे चोपलम्भात् अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ज्ञानस्यैवायमाकारोऽवसीयते।

किञ्च, अर्थो ज्ञानाधिरूढ एव अर्थतामासादयति, ज्ञानं पुनरर्थनिरपेक्षं स्वप्नादौ स्वसामर्थ्येनैव असतोऽप्यर्थान् अवभासयदर्थक्रियां निर्वर्तयति, अतो ज्ञानादभिन्नोऽर्थः।

किञ्च, द्वयोर्दर्शने 'अनेनाऽयं सदृशः' इति प्रतिपत्तिर्युक्ता, न च ज्ञानव्यतिरिक्तोऽर्थः कदाचिद् दृष्टः येन 'अर्थस्यायमाकारो न ज्ञानस्य' इत्यध्यवसायः स्यात्। ततो[3] नीलादेः परतः प्रकाशानुपपत्तेः सिद्धं स्वयं प्रकाशनियतत्वम्, तस्माच्च ज्ञानादभिन्नत्वम्। तथाहि-यत् स्वयं प्रकाशते तज्ज्ञानादनन्यत् यथा सुखादि, स्वयं प्रकाशन्ते च नीलादय इति।

सहोपलम्भनियमाच्च[4], यद्धि येन नियमेन सहोपलभ्यते तत् ततो न भिद्यते यथा तैमिरि-

---

१ "तस्माद् विभक्त आकारः सकलो वासनाबलात्। बहिरर्थत्वरहितस्ततोऽनालम्बना मतिः॥ अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणपरिशुद्धिः । तथाहि इदमेव अनालम्बनत्वं यदात्माकारवेदनत्वम् ।" प्रमाणवा० अलं० पृ० २२ । २-नोपपत्तो-मां०, ज० । ३ "ननु नीलं कथमात्मस्वरूपं प्रकाशयति? नहि प्रकाश्या घटादयः प्रदीपादिना स्वप्रकाशकाः आत्मनि क्रिया विरुध्यते नहि सैवासिधारा तयैव छिद्यते। अत्र परिहारः-प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः। यथा प्रकाशोऽभिमतः तथा धीरात्मवेदिनी।" प्रमाणवा० पृ० १४। ४ "सकृत् संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह। विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिद्ध्यति ॥३८६॥" "विषयस्य हि नीलादेः धिया सह सकृदेव सम्वेदनं धिया सह (?), न पृथक् ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम्? तथाभूतमेव संवेदनमिति स्यात् विवेचयितुमशक्यम् इति प्रतिपादितम्। भेदावभासनं भवतीति चेत्-भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।" प्रमाणवा० अलं० पृ० ९१। "यत्संवेदनमित्यादिना नीलतद्धियोरभेदसाधनाय निराकारज्ञानवादिनं प्रति प्रमाणयति-यत्संवेदनमेव स्याद्यस्य संवेदनं ध्रुवम्। तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततो वा न विभिद्यते ॥२०३०॥ यथा नीलधियः स्वात्मा द्वितीयो वा यथोडुपः। नीलधीवेदनञ्चेदं नीलाकारस्य वेदनात् ॥ २०३१ ॥... एतदुक्तं भवति-यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात्, यथा वा तैमिरिकज्ञानप्रतिभासी द्वितीय उडुपः-चन्द्रमा, नीलधीवेदनञ्चेदम् इति पक्षधर्मोपसंहारः। धर्म्यत्र नीलाकारतद्धियौ तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः यथोक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः। ईदृश एव आचार्यीये सहोपलम्भनियमादित्यादौ प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः।" तत्त्वसं० पृ० ५६७।

कोपलभ्यमानादेकस्माच्चन्द्राद् द्वितीयश्चन्द्रः, नियतसहोपलम्भश्च ज्ञानेनार्थ इति। भेदे हि नियमेन सहोपलम्भो न दृष्टः यथा घटपटयोः, तथा च भेदः सहोपलम्भाऽनियमेन व्याप्तः, तद्विरुद्धश्च सहोपलम्भनियमो दृश्यमानः स्वविरुद्धमनियमं निवर्त्तयति, स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं भेदं निवर्त्तयति, ततोऽयं हेतुः विपक्षाद्भेदात् स्वविरुद्धव्याप्तात् निवर्त्तमानो रा[1]श्यन्तराभावाद् अभेद एवावतिष्ठते इत्यविनाभावसिद्धिः। तथा[2] यद्वेद्यते तद्धि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति।

संवेदनाद्वैतवादिमत-खण्डनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[3]–'यदवभासते तज्ज्ञानम्' इत्यादि; तत्र अर्थानामवभासमानत्वं स्वतः, परतो वा स्यात्? स्वत[4]श्चेत्; असिद्धम्, नहि परनिरपेक्षप्रतिभासा घटादयः कस्यचित् स्वप्नेऽपि प्रसिद्धाः, अन्यत्र महामोहाक्रान्तचेतसो योगाचारात्। परतश्चेत् विरुद्धम्, तथावभासमानत्वस्य जडत्वे सत्येव संभवात्, स्वसिद्धौ परमुखप्रेक्षित्वलक्षणत्वाज्जडत्वस्य। 'यद् येनोपलब्धिलक्षणप्राप्तेनाकारेण न प्रतिभासते न तत् तदात्मकम् यथा घटाकारेण पटः, न प्रतिभासते च ज्ञानाकारेण घटाद्यर्थः' इत्यनुमानाच्च घटादेर्जडत्वप्रसिद्धेः अनुमानबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम्। ननु ज्ञानाद् भिन्नस्यार्थस्य उक्तप्रकारेणाऽप्रसिद्धेः कथं परतः प्रतिभासः यतो विरुद्धत्वं हेतोः स्यात्? तदयुक्तम्; ज्ञानार्थयोर्भेदस्याध्यक्षत एव प्रसिद्धेः, प्रत्यक्षेण हि पुरोवर्तिस्फुटविकटाकारो नीलधवलादिरूपो दिक्प्रदेशविशेषनियतोऽनात्मनिष्ठोऽर्थः प्रतीयते, प्रतीयमानस्य चापह्नवे अन्तःसंवेदने कः समाश्वासः? इति सर्वापह्नव एव स्यात्, नहि विज्ञानस्य सुखादेर्वा प्रतीतेरन्यतः सत्त्वम्। न च विज्ञानरूपतया अ[5]र्थसत्त्वमिष्टमेव इत्यभिधातव्यम्; विज्ञानव्यतिरिक्तस्यैवास्य प्रतिभासमानत्वात्। तथा च, यद् यत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित्प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलभ्यमाने घटादौ तथाभूतं ज्ञानस्वरूपमिति। न चेदमसिद्धम्; तत्स्वरूपस्यानहङ्कारास्पदाद् बाह्यार्थस्वरूपाद्विलक्षणस्य अन्तरहङ्कारास्पदस्यानुभवात्। ततश्च यो विरुद्ध[6]रूपानुभवो नासौ एकस्वरूपार्थविषयः यथा सुख-दुःखानुभवः, अस्ति च अर्थ-ज्ञानयोः परस्परपरिहारस्थितस्वरूपत्वेन विरुद्धयोः स्वरूपानुभव इति। ग्राहकस्वरूपं हि विज्ञानमन्तः ग्राह्यस्वरूपं तु नीलादिकं बहिः परिस्फुटं प्रति-

---

१ वाभ्यन्तराभावात् ब०, ज०। गत्यन्तराभावात् भां०। २ "तदनेन प्रबन्धेन वेद्यत्वलक्षणो हेतुः समर्थितो विज्ञानवादिनां स चैवं प्रयोगमर्हति–यद् वेद्यते येन वेदनेन तत् तस्मान्न भिद्यते यथा ज्ञानस्य आत्मा।" विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६०। ज्ञानाद्वैतविषयकः विस्तृतः पूर्वपक्षः शाबरभाष्यस्य बृहतीपञ्जिकायां (५।१।१) द्रष्टव्यः। ३ पृ० ११७ पं० १०। ४ "क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासन्तानत्वमिति स्वतः तावन्न सिद्ध्यति भ्रान्तेः।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २४१। "यत्तु संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतवन्न तत्। सिद्ध्येत् स्वतोऽन्यतो वापि प्रमाणात् स्वेष्टहानितः॥ ८५॥" आप्तपरी०। ५ अर्थस्य सत्त्व– ज०, भां०। ६–द्धस्वरूपानु–भां०।

भासते, तथापि अनयोरभेदे न किञ्चित् कुतश्चिद्भिद्येत, प्रतिभासभेदं विरुद्धधर्माध्यासञ्च विहाय अन्यस्य भेदकस्याऽसंभवात्। तथा, 'यद् द्वयाकारतया प्रतिभासते तत् तत्त्वतो भिन्नम् यथा सुखदुःखे, द्वयाकारतया प्रतिभासेते च विषय-ज्ञानाकारौ' इत्यनुमानाच्चानयोर्भेदः। अभेदे वा ज्ञानरूपाग्रहणे नीलादेरप्यग्रहणप्रसङ्गः; यादृशं हि पारमार्थिकं यस्य रूपं तस्याग्रहणे तदपि न गृह्यते यथा पीतस्य पीतरूपाग्रहणे पीतम्, न गृह्यते च ज्ञानस्वरूपं नीलादेरिति। ननु प्रकाशव्यतिरिक्तस्य नीलादेरुपलम्भे स्यादेतत्, न चासौ तद्व्यतिरिक्तः कदाचिदप्युपलभ्यते; तदयुक्तम्; यतः कोऽयं प्रकाशो नाम 'अहम्' इति बुद्धिः, नीलादेर्दृश्यता वा? प्रथमपक्षे सिद्धो नीलादेस्ततो भेदः, न हि भिन्नमुपलभ्यमानमेव अभिन्नं युक्तम् सुखदुःखादेरप्यभेदापत्तेः। एतेन द्वितीयपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः; दृश्यताया दर्शननिबन्धनत्वात्, अत एव दर्शनात् पूर्वमप्यस्य सत्त्वसिद्धिः।

किञ्च, अर्थाभावोऽनुपलब्धेः नान्यतः, "एकः प्रतिषेधहेतुः" [न्यायबि० पृ० ३६।] इत्यभिधानात्। नचोपलभ्यमानस्यैव अनुपलब्धिर्वक्तुं युक्ता, प्रतीतिविरोधात्। न च वक्तव्यम् पुरोवर्तिज्ञानाकार एवोपलभ्यते, तत्कथमर्थोपलब्धिः? यतो न ज्ञानाकारतया पुरोवर्तिन्यर्थे कस्यचित्प्रतीतिरस्ति, 'नीलमर्थमुपलभामहे' इति सामानाधिकरण्येन अर्थे प्रतीत्युत्पत्तेः। साकारता च विज्ञानस्य अग्रे निराकरिष्यते। अस्तु वाऽसौ; तथापि तत्प्रतिबिम्बित आकारः कादाचित्कत्वात् कार्यः। यत् खलु कादाचित्कम् तत्कार्यं दृष्टम् यथा घटादि, कादाचित्कश्च ज्ञानस्य नीलाद्याकार इति। कार्यत्वञ्च अन्यापेक्षया व्याप्तम्, यच्चान्यत् तद्विज्ञानसामग्रीतोऽधिकम् तस्यां सत्यामपि तदनुत्पत्तेः। यस्यां सत्यामपि यन्नोत्पद्यते तत् ततोऽधिककारणजन्यम् यथा भूम्यादिकारणसामग्रीतोऽभवन्नङ्कुरः तदधिकबीजाख्यकारणजन्यः, सत्स्वपि चक्षुरादिषु नोत्पद्यते च नीलाकार इति। यत् तदधिकं तज्जनकं कारणम् सोऽर्थः।

वासनारूपं चक्षुरादिभ्योऽधिकं कारणमत्र भविष्यतीति चेत्; किम् आलम्बनत्वेन, अधिपतित्वेन, समनन्तरत्वेन वा? प्रथमपक्षे अर्थ एव नामान्तरेणोक्तः स्यात्। उत्तरपक्षद्वये तु चक्षुरादिवत् तस्याः ग्राह्याकारकारणानुपपत्तिः। यदि च बाह्यमर्थमन्तरेण रूपादिज्ञानं स्यात; तदा कथं प्रतिनियतदेश-काल-प्रमातृनिष्ठतया तत्स्यात् नियामकाऽभावतः सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामनियमेनैव तत्प्रसङ्गात्? कथं वा तत्रैव देशे तस्यैव प्रमातुः कदाचित्तदुत्पद्येत कदाचिन्नेति? कथं वा तैमिरिकस्यैव सन्ताने खे केशपाशदर्शनं नान्येषाम्, तदुपलब्धैश्च केशादिभिः कार्यं न क्रियते नान्यैः तुल्येऽप्यर्थाभावे? स्वप्नदृष्टान्तमात्रेण अर्थाभावे देशादिनियमस्य कल्पने निरंशै-

१-नस्वरूपा-भां०। २-स्य स्वरूपं भां०। ३ चत्वारः प्रत्यया उक्ताः। हेतुप्रत्ययः, समनन्तरप्रत्ययः, आलम्बनप्रत्ययः, अधिपतिप्रत्ययश्च। अभिधर्म को० २।६१। ४ कदाचिदुत्प-भां०। ५ "देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः। सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥ ३ ॥ स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः। सर्वं नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने ॥ ४ ॥" त्रिंश० विज्ञप्तिमा०।

कपरमब्रह्मसिद्धिप्रसङ्गः, जलचन्द्रवत् तस्यैव भेदेन प्रतिभाससंभवात्। यथा च अनादिवासनासामर्थ्यप्रतिनियमात् एवंविधो विज्ञानाद्वैते भेदप्रतिभासप्रपञ्चः, तथा नित्यनिरंशैकरूपे ब्रह्मण्यपि अनाद्यविद्यासामर्थ्यप्रतिनियमात्।

किञ्च, भ्रान्तिः सर्वत्र साधर्म्यदर्शनाज्जायते, यथा अनुदकरूपासु मरीचिकासु उदकभ्रान्तिः, न च विज्ञप्तिमात्रवादिनः नचित् (केनचित्)[1] साधर्म्यदर्शनमस्ति यद् भेदभ्रान्तेर्निमित्तं स्यात्। ननु स्वापादौ अर्थाभावे साधर्म्यदर्शनाभावे च भेदभ्रान्तिरुपलभ्यते ततोऽयमदोषः; तदसत्; तत्रापि पारम्पर्येण वाह्यार्थोपयोगात्, न ह्यननुभूतेऽर्थे स्वप्नः कदाचित्[2] क्वचिदप्युदेति, अतोऽनुभूतार्थसापेक्षजन्मत्वात् स्वप्नस्य कथमर्थाभावे संभवः? नन्वननुभूतेऽपि स्वशिरश्छेदादौ ज्ञानमुपजायते; तन्न; तत्रापि परशिरश्छेदो दृष्टः, स्वशरीरञ्चानुभूतम्, तत्र मनोदोषवशाद् विवेकमपश्यन् आत्मशरीरे शिरश्छेदमभिमन्यते, अतस्तत्रापि अनुभूतोऽर्थ एव कारणम्। नहि अननुभूतपरशिरश्छेदस्य तदपि ज्ञानमुपजायते। गन्धर्वनगरप्रत्ययेऽपि परमार्थसन्तो वाह्यार्था जलधराः कुतश्चिदन्याकारतयाऽवभासन्ते। कथञ्च वाह्यार्थापह्नवे जातिनैयत्यसिद्धिः? ज्ञानमात्रे हि जगति नियामकाभावात् मनुष्योऽश्वः, अश्वोऽपि मनुष्यः, हस्त्यपि पिपीलिका, पिपीलिकापि हस्ती स्यात्। वाह्यार्थाभ्युपगमे तु तन्नैयत्यं सुघटमेव; येन हि मनुष्यत्वजात्युपभोग्यसुखदुःखादिनिमित्तं कर्म समाचरितं स तत्परिपाकवशात्तामेव जातिं प्रतिपद्यते, एवमन्येऽपि प्राणिनः स्वोपार्जितसाधारणकर्मबलात् तास्ताः जातीः प्रतिपद्यन्ते।

किञ्च, अर्थस्याऽसत्त्वम् इच्छामात्रेण, साधकप्रमाणाभावात्, संवादासत्त्वात्, अर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्, बाधकप्रमाणसद्भावाद्वा? यदीच्छामात्रेण तदाऽतिप्रसङ्गः, तदद्वैतादेरपि अतोऽसत्त्वानुषङ्गात्। नापि साधकप्रमाणाभावात्; प्रत्यक्षस्यैव[3] अनात्मभूताऽबाधितार्थक्रियाप्रसाधकोदकाद्यर्थसंसाधकस्य सद्भावात्। संवादासत्त्वमपि असिद्धम्; प्रत्यक्षप्रतिपन्ने जलादौ अनुमानादेः संवादकस्य संभवात्। अर्थक्रियाकारित्वाभावोऽपि अनुपपन्नः; वाह्याऽऽध्यात्मि[4]कार्थक्रियायाः तन्निबन्धनत्वात्। बाधकश्चार्थस्य न किञ्चित्प्रमाणमुपलभ्यते।

यच्चात्र बाधकमुक्तम्[5]–'परतः सम्बद्धात्, असम्बद्धाद्वा' इत्यादि; तत्र सम्बद्धादेव ज्ञानादर्थस्य प्रतिभासः, सम्बन्धश्च[6] योग्यतालक्षणः, न तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणः तस्य क्षणक्षयादिना[7] चक्षुरादिना चाऽनेकान्तात्। योग्यस्य चार्थस्य समकालस्य भिन्नकालस्य वा ग्रहणमविरुद्धम्।

१ आदर्शे ब०, ज०, प्रतौ च त्रुटितमेतत्स्थलम्, भां० प्रतौ तु 'नचित्' इति पाठः। २ कदाचिदप्युदे–भां०। ३ "न चार्थाभावः प्रत्यक्षाधिगम्यः वाह्यार्थप्रकाशकत्वेनैवास्योत्पत्तेः। प्रमेयक० पृ० २१ पू०। सन्मति० टी० पृ० ३४९। ४ "अयं वक्ति, चलतीत्यादिरूपा वाह्या, अहं सुखी दुःखीत्यादिस्वरूपा आध्यात्मिका अर्थक्रिया।" ५ पृ० ११७ पं० ११। ६ "सम्बन्धो हि योग्यतास्वभाव एव ज्ञानार्थयोः ग्राह्यग्राहकभावाङ्गं न तु तादात्म्यादिः।" स्या० रत्ना० पृ० १६३। ७ क्षणक्षयस्य ज्ञानेन तादात्म्येऽपि ज्ञानस्य प्रतिभासो न क्षणक्षयस्य, चक्षुरादेर्ज्ञानमुत्पद्यते न च ज्ञानात् तत्प्रतिभासः। स्या० रत्ना० पृ०…

ननु तथाभूतस्यार्थस्य यावज्ज्ञानं ग्राहकं तावदर्थोऽपि ज्ञानस्य ग्राहकः कुतो न स्यादिति चेत्? स्वभावभेदात्। न खलु य एवैकस्य स्वभावः स एवान्यस्यापि, अन्यथा प्रदीपवत् घटस्यापि प्रकाशकत्वप्रसङ्गः, तथा प्रतीतिः अन्यत्रापि समाना। नहि अर्थस्य ज्ञानवत् ग्राहकत्वेन प्रतीतिरस्ति। 'नीलाद्याकाराणां वा यावद् बुद्धिर्व्यापिका तावन्नीलादयः किन्नास्या व्यापकाः, नियतानाञ्चैषां यावदसौ व्यापिका तावत् सर्वेषां किन्न व्यापिका?' इति चोद्ये भवतोऽपि नातः स्वभावभेदप्रतीतेः अन्यदुत्तरम्।

यदप्यभिहितम्–'अर्थो नित्योऽनित्यो वा एकरूपोऽनेकरूपो वा' इत्यादि; तदपि अखिलार्थानामनेकान्ताभ्युपगमान्निरस्तम्, नहि सर्वथा नित्योऽनित्यो वा एकरूपोऽनेकरूपो वा बहिरन्तर्वाऽर्थोऽस्ति इत्यनेकान्तसिद्धौ प्ररूपयिष्यते।

यदप्युक्तम्–'अर्थो ज्ञानाधिरूढ एवार्थतामासादयति' इत्यादि; तत्र कोऽधिरूढार्थः–व्यवस्थितिः, अपेक्षा वा? न तावद्व्यवस्थितिः; तस्य ज्ञानाऽनात्मभूतस्य स्वपराप्रकाशकस्य आत्मप्रकाशे परमुखप्रेक्षकस्य जडव्यवहारविषयस्य अध्यक्षादितो बहिर्व्यवस्थितत्वप्रतीतेः, अन्यथा जाड्यव्यवहारेण वह्निश्छिदादिक्रिया न स्यात्। द्वितीयपक्षे तु ज्ञानार्थयोर्भेद एव स्यात्, अपेक्षायाः स्वामि-भृत्यवत् भेदे सत्येव संभवात्। 'ज्ञानापेक्षाऽर्थस्य सिद्धिः' इत्येतावता अर्थस्य ज्ञानात्मकत्वे कार्यस्यापि कारणात्मकत्वप्रसङ्गात् कारणाद्वैतमप्यनुषज्येत, न हि कारणनिरपेक्षा कार्यस्य सिद्धिरिति। यच्चान्यदुक्तम्–'यत् स्वयं प्रकाशते तज्ज्ञानादनन्यत्' इत्यादि; तदपि श्रद्धामात्रम्; स्वयं प्रकाशमानत्वस्य अर्थे प्रागेव प्रतिषेधात्।

यच्चोक्तम्–'सहोपलम्भनियमात्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अनैकान्तिकत्वात्, भिन्ना-

१ पृ० ११७ पं० २१। २ "तथाहि–न तावत् पृथिव्यादिबाह्योऽर्थः अस्य ग्राह्यो विद्यते तस्य एकानेकस्वभावशून्यत्वात्''' । भासमानः किमात्माऽयं बाह्योऽर्थः प्रतिभासते। परमाणुस्वभावः किं किं वावयविलक्षणः ॥१९६७॥" तत्त्वसं० पृ० ५५०। ३ पृ० ११८ पं० १०। ४ अपेक्षायाः प्रागेव प्रतिषेधात् भां०। ५–स्यापि सि–भां०। ६ पृ० ११८ पं० १४। ७ पृ० ११८ पं० १६। ८ "स्यादेतत्–यद्यपि विपक्षे सत्त्वं न निश्चितं सन्दिग्धं तु ततश्चानैकान्तो हेतुः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५६९। "यश्च सहोपलम्भनियम उक्तः सोऽपि विकल्पं न सहते। यदि ज्ञानार्थयोः साहित्येन उपलम्भः ततो विरुद्धो हेतुः नाभेदं साधयितुमर्हति साहित्यस्य तद्विरुद्धभेदव्याप्तत्वात् अभेदे तदनुपपत्तेः। अथ एकोपलम्भनियमः; न; एकत्वस्य अवाचकः सहशब्दः। अपि च किमेकत्वेन उपलम्भः आहो एक उपलम्भः ज्ञानार्थयोः। न तावदेकत्वेन उपलम्भ इत्याह–बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य। अथ एकोपलम्भनियमः तत्राह–अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोः उपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यवगन्तव्यम्।" शां० भा०, भामती २।२।२८। "इदमत्राऽऽकूतम्–सहोपलम्भनियमश्च वेद्यत्वञ्च हेतू सन्दिग्धव्यतिरेकतया अनैकान्तिकौ''''''विस्तरतस्तु न्यायकणिकायाम् (पृ० २६४) अनुसरणीय इति।" योगसू० तत्त्ववैशा० ४।१४। "सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः। विरुद्धाऽ-

स्वपि हि कृत्तिकासु सहोपलम्भनियमो वर्तते। विरुद्धत्वञ्च भेदेनैव सहोपलम्भस्य व्याप्तत्वात्, सहशब्दो हि भेदाधिष्ठानः; अभेदे सहशब्दार्थानुपपत्तेः, न हि स एव तेनैव 'सह' इति व्यपदेशमर्हति। व्याप्तिशून्यत्वञ्चास्य; तथाहि–हेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावाद् व्याप्तिरवसेया, अभेदस्य च भेदो विपक्षः, ततो नियतसहोपलम्भस्य व्यावृत्तौ दर्शितायां गत्यन्तराभावाद्[2] अभेदेनैव व्याप्तिः सिद्ध्येत्, न चायं भेदाद् व्यावृत्तः, भिन्नास्वपि हि कृत्तिकासु नियतसहोपलम्भस्य दृष्टत्वात्। कालात्ययापदिष्टश्चायम्; संवित्-संवेद्य-संवेदकानां परस्परविविक्तस्वरूपाणामबाधितप्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात्। न च एतेनैव बाध्यमानत्वाद् अबाधितत्वमसिद्धम्; प्रत्यक्षविरोधे एतस्यानुमानस्य आत्मलाभस्यैवाऽसंभवात्, लब्धात्मलाभञ्च साधकं बाधकं वा तत्स्यात्।

सहोपलम्भशब्देन च किमत्राभिप्रेतम्–किमर्थद्वये उपलम्भद्वयस्य सहभावः, एकस्मिन्नेवोपलम्भे अर्थद्वयस्य युगपत्प्रतिभासित्वं वा? प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः प्रतिविषयं ज्ञानभेदाऽसंभवात्। साधनविकलश्च दृष्टान्तः; न[5] हि द्विचन्द्रप्रतिभासे प्रतिभासद्वयसाहित्यमस्ति, एकस्यैव ज्ञानस्य उभयाकारोल्लेखितयाऽध्यक्षतोऽध्यवसायात्। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम्, एकत्रोपलम्भे सहार्थद्वयप्रतिभासत्वस्य भेदे सत्येव संभवात्। अथ 'यदेकस्मिन्नेत्र संवेदने स्फुरति[6] तत् संवेदनादभिन्नम् यथा संवेदनस्वरूपम्, स्फुरन्ति च तत्रैव संवेदने नीलादयो भावाः' इत्यतोऽनुमानाद् भेदे प्रतिभास्यत्वाऽसंभवान्नास्य विरुद्धत्वम्; तन्न; संवित्-संवेद्ययोर्भेदस्य प्रत्यक्षादिप्रसिद्धत्वेन प्रतिपादितत्वात्। किञ्च, संवेदनस्य स्वपरावभासस्वभावत्वात् परस्य चाऽभावे तत्स्वभावसंवेदनस्वरूपस्यासंभवेन संवेदनस्याप्यसंभवात् कस्य केनाऽभेदः?

यच्चोक्तम्[8]–'यद्वेद्यते तद्विज्ञानादभिन्नम्' इत्यादि; तत्र किमिदं वेद्यत्वम्–वेदनकर्मत्वम्, तत्सम्बन्धित्वमात्रम्, तत्स्वभावत्वं वा? यदि वेदनकर्मत्वम्; तदा विरुद्धो हेतुः कर्मत्वस्य भेदेनैव व्याप्तत्वात्, न हि छिदिक्रियायाः कर्मभूतानि काष्ठानि अभिन्नान्युपलभ्यन्ते, अतः क्रिया-कारकयोर्भेदे सत्येवोपलब्धेः भेदेनैव कर्म-क्रियाभावस्य व्याप्तत्वात् अभेदविपरीतार्थसाधनत्वाद् अभेदे

सिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वयत्वतः ॥८४॥" न्यायवि० पृ० १९२ पू०। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २४२। प्रमेयक० पृ० २१। सन्मति० टी० पृ० ३५२। "कृत्तिकाभिश्च व्यभिचारः प्रकृतहेतौ, तथाहि–तासु युगपदुपलम्भनियमोऽस्ति न चाभेदः, तद्भेदस्य सर्वाविसंवादेन प्रसिद्धत्वात्।" स्या० रत्ना० पृ० १५७।

१ "तत्र भदन्तशुभगुप्तस्त्वाह–विरुद्धोऽयं हेतुर्यस्मात् "सहशब्दश्च लोकेऽन्यो (स्या) न्नैवाने (न्ये) न विना क्वचित्। विरुद्धोऽयं ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम्।" इति। पुनः स एवाह–यदि सहशब्द एकार्थः तदा हेतुरसिद्धः। तथाहि–नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु न ह्येकेनैवोपलम्भो नीलादेः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५६७। २ राश्यन्तराभावाद् ब०, ज०, आ०। ३ सद्भावः आ०। ४–यं विज्ञान– भां०, ज०। ५ नहि चन्द्र–आ०। ६ स्युरिति ब०, ज०। ७ पृ० ११९ पं० ५। ८ "तथा किं यद् वेद्यते इति कर्मणि प्रयोगात् वेदनकर्तृकविदिक्रियारूपं वेदनकर्मत्वं वेद्यत्वं हेतुरिष्यते, किं वा यद्वेद्यते इति यच्छब्दस्य वेदनक्रियया सामानाधिकरण्ये भावनिर्देशात् विदिक्रियारूपवेदनस्वभावत्वम्?" स्या० रत्ना० पृ० १६७। ९–तुस्तस्य भां०।

साध्ये विरुद्धो हेतुः। अभेदे चानयोः किं संवेदनादर्थस्याऽभेदः, अर्थाद्वा संवेदनस्य? प्रथमविकल्पे संवेदनमेव स्यात् नार्थः तस्य तत्रैवानुप्रविष्टत्वात्, तथा च 'संवेद्यत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। द्वितीयविकल्पे तु अर्थ एव न संवेदनम्, इति कुतोऽस्य अभेदः साध्येत? भेदस्यानयोः प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वञ्च। संवित्स्वरूपस्य चाऽभिन्नत्वेन अकर्मकत्वे साधनविकलो दृष्टान्तः। अथ संवित्सम्बन्धित्वमात्रं वेद्यत्वम्; तथापि विरुद्धत्वम् सम्बन्धित्वस्य भेदे सत्येव संभवात्, भेदाश्रयो हि सम्बन्धः तदभावे तस्याप्यभावात् संवित्सम्बन्धित्वस्यासिद्धिः इत्यसिद्धत्वञ्च। अथ वेद्यत्वं संवित्स्वभावत्वं विवक्षितम्, तदसिद्धमेव अर्थस्याऽसंवित्स्वभावत्वसमर्थनात्। ततो निर्बाधबोधाद् वस्तुव्यवस्थामभ्युपगच्छता तत्संवेदनमिव असंवेदनस्वभावो बाह्यार्थो नीलसिताद्यनेकाकारः प्रतिपत्तव्यः।

चित्राद्वैतवादिनो बौद्धैकदेशिनः पूर्वपक्षः—

ननु ज्ञानमेवेदं चित्रं नीलसुखाद्यनेकाकारखचितमाभासते न पुनर्बाह्योऽर्थः तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात्, यस्य सद्भावे प्रमाणं नास्ति तन्नास्ति यथा खरविषाणम्, नास्ति च बाह्यार्थसद्भावे किञ्चित्प्रमाणमिति। न चेदमसिद्धम्; तथाहि–तत्सद्भावावेदकं निराकारम्, साकारं वा प्रमाणं स्यात्? न तावन्निराकारम्; तस्य सर्वत्राऽविशेषतः प्रतिकर्मव्यवस्थानिबन्धनत्वानुपपत्तेः। साकारत्वे तु सिद्धं ज्ञानमेव नीलाद्यनेकाकाराक्रान्तं चित्रमेकम्, न पुनः तद्व्यतिरिक्तो जडोऽर्थः तद्व्यवस्थाहेतोः कस्यचिदप्यभावात्। नचाकारविशिष्टं ज्ञानमेव तद्व्यवस्थाहेतुः; तस्य स्वाकारानुभवमात्रेणैव चरितार्थत्वात्। तदुक्तम्—

"धियोऽनीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः।
धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः॥" [प्रमाणवा० ३।४३३] इति।

१–त्वसंभवात् आ०। २ नीलपीताद्यनेका–भां०। अस्य च विज्ञानाद्वैतवादस्य विविधरीत्या पर्यालोचनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–अभिसमयालंकारालोक पृ० ३७४। शाबरभा०, बृहती, पञ्जिका, शास्त्रदी० सू० ११५। मीमांसाश्लो० निरालम्बनवाद। ब्र० सू० शांकरभा०, भामती २।२।२८। बृहदारण्यकभा० वा० ४।३, पृ० १४५८। योगसू० व्यासभा०, तत्त्ववै० ४।१४। वि० प्रमेयसं० पृ० ७५। विधिवि० न्यायकणिका पृ० २५४। न्यायमं० पृ० ५३६। आप्तमी०, अष्टश० अष्टसह० पृ० २४२। युक्त्यनु० पृ० ४५। न्यायवि० टी० पृ० १२६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६। आप्तपरी० पृ० ४५। प्रमेयक० पृ० २० उ०। शास्त्रवा० श्लो० ३७५–४१३। सन्मति० टी० पृ० ३४९। स्या० रत्ना० पृ० १४९। स्या० मं० का० १६। ३ "तरङ्गा ह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययोदिताः। नृत्यमानाः प्रवर्त्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥५६॥ आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः। चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्त्तते ॥५७॥" लंकावतार पृ० २७१। ४ धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किं प्रमाणकः। धियोऽनीलादिरूपत्वे स तस्यानुभवः कथम्॥" प्रमाणवा०। "यदि संवेदनमेव नीलाकारमात्मप्रकाशकं बाह्योऽर्थः किं प्रमाणमादाय विदितो भवेत्। नहि तत्र प्रत्यक्षं तस्य स्वसंवेदनमात्र एव पर्यवसानात्। न च ततः परं नीलमाभासते

किञ्च, प्रमेयात् पूर्वकालभाविज्ञानं तद्व्यवस्थापकं स्यात्, उत्तरकालभावि वा ? प्रथमपक्षे कथमस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवता प्रमेयमन्तरेणैवोत्पद्यमानत्वात् ? यत्प्रमेयमन्तरेणैवोत्पद्यते न तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजम् यथा खपुष्पविज्ञानम्, प्रमेयमन्तरेणैवोत्पद्यते च प्रमेयात् पूर्वकालभावि तद्व्यवस्थापकत्वेनाभिमतं ज्ञानमिति । द्वितीयपक्षे तु प्रमाणात् पूर्वकालवृत्तित्वं प्रमेयस्य कुतश्चित् प्रतिपन्नम्, न वा ? यदि न प्रतिपन्नम्; कथं सद्व्यवहारविषयः ? यत् कुतश्चिन्न प्रतिपन्नम् न तत् सद्व्यवहारविषयः यथा गगनेन्दीवरम्, कुतश्चिदप्रतिपन्नञ्च प्रमाणात्पूर्वकालवृत्तित्वं प्रमेयस्येति । अथ प्रतिपन्नम्; किं स्वतः, परतो वा ? यदि स्वतः; कथमस्य ज्ञानाद्भेदः तस्यैव स्वतोऽवभासलक्षणत्वात् ? यत् स्वतः प्रसिद्धम् न तज्ज्ञानाद्भिद्यते यथा ज्ञानस्वरूपम्, स्वतः प्रसिद्धञ्च ज्ञानात्पूर्वं प्रवर्तमानं प्रमेयत्वेनाभिमतं वस्त्विति । अथ परतः; तन्न; प्रमाणाद् व्यतिरिक्तस्य प्रमेयव्यवस्थाहेतोः परस्याऽसंभवात् । अथ प्रमाणमेव तस्य तद्वृत्तित्वं प्रकाशयति ; तन्न ; तस्य स्वयं तत्कालेऽसतः तत्प्रकाशकत्वाऽयोगात्, यद् यत्काले नास्ति न तत्तस्य प्रकाशकम् यथा स्वोत्पादात्पूर्वकालवृत्तिपदार्थकालेऽसन् प्रदीपो न तत्प्रकाशकः, नास्ति च पूर्वकालविशिष्टस्य प्रमेयस्य काले ज्ञानमिति ।

समकालत्वे तु ज्ञानज्ञेययोः सव्येतरगोविषाणवत् ग्राह्यग्राहकभावाभावः, न च ज्ञाने नीलाद्याकारानुरागप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या तदनुरञ्जको बहिरर्थोप्यस्तीत्यभिधातव्यम् ; स्वप्नावस्थायां तदभावेऽपि तदनुरागप्रतीतेः, न हि तद्दशाभाविनि करितुरगादिप्रत्ययेऽनुरञ्जको बहिरर्थोऽस्ति, स्वप्नेतरप्रत्ययानामविशेषप्रसङ्गात् । अतो बुद्धिरेवार्थनिरपेक्षा स्वसामग्रीतो विचित्राकारच्छायाच्छुरिता यथाऽत्रोत्पद्यते तथाऽन्यत्रापि । ननु एवमपि एकस्या बुद्धेः विचित्राकाररूपतया प्रतिभासमानायाः कथमेकत्वं युक्तम् ? इत्यप्यचोद्यम् ; अशक्यविवेचनत्वतः तस्यास्तदविरोधात् । उक्तञ्च —

"नीलादिश्चित्रविज्ञान-ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनैस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥" [प्रमाणवा० ३।२२०]

नीलाकारद्वयाप्रवेदनात् । अथ तदर्थस्य रूपं तदा संवेदनमन्येन रूपेण विदितमविदितं वा भवेत् । यद्यविदितं स तस्यानुभवः कथं स्वरूपेणाज्ञातम् अस्य संवेदनमिति कथं संगच्छते विदितश्चेत् तथापि...।" प्रमाणवार्तिकालं० । "धियोऽसितादिरूपत्वे सा तस्यानुभवः कथम् । धियः सितादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किं प्रमाणकः ॥ २०५१ ॥" तत्त्वसं० । उद्धृतश्चैतत्-प्रमेयक० पृ० २२ उ० । स्या० रत्ना० पृ० १६३ । 'तथाचाहुः कीर्तिपादाः' इति कृत्वा अद्वयवज्रसंग्रह तत्त्वरत्नावली पृ० १८ ।

१-हकभावः आ० । २-र्थोस्ति आ० । ३-विज्ञानो ब०, ज० । 'विज्ञाने' स्या० रत्ना० पृ० १७३ । प्रमाणवा० । ४-नस्थं हि प्रमाणवा० । ५ विवेचयेत् ब०, ज० । "अत्र देवेन्द्रव्याख्या-चित्रज्ञाने हि यो नीलादिः प्रत्यवभासते ज्ञानोपाधिः ज्ञानविशेषणः अनुभवस्वात्मभूत इति यावत्, स एव एकोऽनन्यभाक् तज्ज्ञानस्वभावत्वात् अन्यमर्थं ज्ञानवदेव न भजते, तादृशश्च सन्नसौ तच्चित्रदर्शनप्रतिभासी

चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्, शक्यविवेचनं हि बाह्यं चित्रम् अशक्यविवेचनास्तु बुद्धेर्नीलादय आकारा इति। ननु चित्रपट्यादौ चित्ररूपता प्रतीयते तस्याः कुतो ज्ञानधर्मतेति चेत्? अर्थधर्मत्वानुपपत्तेः। तथाहि–चित्रपट्यादिकमेकमवयविरूपं निरंशं वस्तु स्यात्, तद्विपरीतं वा? प्रथमपक्षे नीलभागे गृह्यमाणे पीतादिभागानामग्रहणं न स्यात्, तेषां ततो भेदप्रसङ्गात्, यस्मिन् गृह्यमाणे यन्न गृह्यते तत् ततो भिन्नं यथा सह्ये गृह्यमाणे विन्ध्यः, गृह्यमाणे नीलभागे न गृह्यते च पीतभागादिकमिति। तथा च अवयविनोऽप्येकरूपतानुपपत्तिः विरुद्धधर्माध्यासात्, यस्य विरुद्धधर्माध्यासो न तस्यैकरूपता यथा जलाऽनलादेः, ग्रहणाऽग्रहणलक्षणविरुद्धधर्माध्यासश्च अवयविनः इति। नीलभागस्य पीतादिभागात्मकत्वाद्वा पीताद्यग्रहे तस्याप्यग्रहणमेव स्यात्। यद् यदात्मकम् तस्याऽग्रहे तदपि न गृह्यते यथा पीतादेरग्रहे न तत्स्वरूपम्, पीताद्यात्मकञ्च नीलमिति। तद्विपरीतत्वे तु चित्रपट्यादेः सिद्धः स्वयमेव चित्रतापायः विभिन्नाश्रयवृत्तिनील-पीतादिवत्। तन्नार्थधर्मश्चित्रता किन्तु ज्ञानधर्मः, स्वकारणकलापाद् विज्ञानमुपजायमानम् अनेकाकारखचितमेवोपजायते अनुभूयते च। अतः तथाभूतं ज्ञानमेव एकं तत्त्वम्, इति चित्राद्वैतसिद्धिः।

अथ अचेतनस्य सुखादेर्ज्ञानस्वरूपताविरहात् कथं चित्रप्रतिभासं ज्ञानमेवैकं तत्त्वं स्यात् यतश्चित्राद्वैतं सिद्ध्येत इत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः सुखादेरपि ज्ञानाऽभिन्नहेतुजत्वेन ज्ञानात्मकत्वोपपत्तेः। तथाहि–ज्ञानात्मकाः सुखादयः ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वात् ज्ञानान्तरवत्। तदुक्तम्—

> "तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।
> तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाऽभिन्नहेतुजम्॥" [प्रमाणवा० ३।२५१] इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[२]–'साकारं निराकारं वा ज्ञानं बहिरर्थसद्भावे प्रमाणं स्यात्' इत्यादि, तत्र[३] निराकारमेव ज्ञानं तत्सद्भावे प्रमाणम् साकारपक्षस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। न च निराकारसंवेदनस्य सर्वत्राऽविशेषात् प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुत्वाभावः; योग्यतातो निराकारत्वेऽपि तद्धेतुत्वस्य समर्थयिष्यमाणत्वात्।

चित्राद्वैतवादिमतखण्डनम्—

तदन्यपीतादिप्रतिभासविवेकेन न केवलः शक्यते द्रष्टुं तस्मिन् प्रतिभासमाने सर्वेषामेव तज्ज्ञानतया तदन्येषामपि नियोगतः प्रतिभासनात्। तस्माद् यदैवैकं नीलादिकमाकारं तदन्येभ्यः पीतादिभ्यो 'अयं नीलः' इति ज्ञानान्तरेण विवेचयति प्रमाता, तदैव तथा विवेचयन्नसौ न तज्ज्ञानमामृशति अतद्रूपत्वात्तस्य, किं तर्हि? अर्थे पतति, अर्थ एव तज्ज्ञानं प्रवृत्तं भवतीत्यर्थः। तस्मादेकस्मिन्नप्याकारे प्रतिभासमाने 'सर्वमाभाति, न वा किंचिदपि' इति अशक्यो विवेकतो दर्शने नीलादिप्रतिभास इति।" स्या० रत्ना० पृ० १७३। उद्धृतश्चैतत्–सि० वि० टी० ५४ उ०। शास्त्रवा० टी० पृ० १८२ पू०।

१ उद्धृतश्चैतत्–अभिसमयालंकारालोक पृ० ४४२। हेतुबिन्दुटी० पृ० ९७। तत्त्वोपप्लव० पृ० ५८। अष्टसह० पृ० ७८। जैनतर्कवा० पृ० १५। मीमांसाश्लो० काशिका पृ० २३९। स्या० रत्ना० पृ० १७४। न्यायमं० पृ० ७४। व्योमवती पृ० ६२७। २ पृ० १२४ पं० १३। ३ "साकारवादप्रतिक्षेपेण निरा-

यदप्युक्तम्[1]–'प्रमेयात् पूर्वकालभावि प्रमाणम्' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; प्रकाशकस्य[2] पूर्वापरसहभावनियमाऽभावात्। तथाहि–क्वचित् पूर्वं विद्यमानः पश्चाद्भाविनां प्रकाशको भवति, यथा आदित्यः समुत्पद्यमानानाम्। क्वचिच्च पूर्वं सतां प्रकाश्यानां पश्चाद्भवन् प्रकाशकः यथा प्रदीपः अपवरकान्तर्वर्त्तिघटादीनाम्। क्वचित्तु सहभाविनां प्रकाशकः, यथा कृतकत्वादिः अनित्यत्वादीनाम्। अतः प्रमाणं पूर्वापरसहभावनियमनिरपेक्षं वस्तु प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात्, आदित्यादिवत्।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'स्वप्नावस्थायां बहिरर्थाभावेऽपि नीलाद्यनुरागः प्रतीयते' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; स्वप्नज्ञाने अनन्तरमेव माध्यमिकमतविचारावसरे बाह्यार्थविषयत्वस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात्।

यदप्युक्तम्[4]–'चित्राकारतया प्रतिभासमानस्यापि ज्ञानस्य अशक्यविवेचनत्वादेकत्वम्' इति; तत्र किमिदम् अशक्यविवेचनत्वं नाम–ज्ञानाऽभिन्नत्वम्[5], सहोत्पन्नानां नीलादीनां ज्ञानान्तरपरिहारेण तज्ज्ञानेनैवाऽनुभवः, भेदेन विवेचनाऽभावमात्रं वा ? प्रथमपक्षे साध्यसमो हेतुः, यदुक्तं भवति ज्ञानादभिन्ना नीलादयः ततोऽभिन्नत्वात्, तदेवोक्तं भवति 'अशक्यविवेचनत्वात्' इति। द्वितीयपक्षे तु अनैकान्तिकत्वम्, सचराचरस्य जगतः सुगतज्ञानेन सहोत्पन्नस्य ज्ञानान्तरपरिहारेण तज्ज्ञानेनैव ग्राह्यस्य तेन सहैकत्वाऽभावात्। एकत्वे वा सुगतस्य संसारित्वम्, संसारिणां वा सुगतत्वं स्यात्, संसारेतररूपता चैकस्य ब्रह्मवादं समर्थयते। ज्ञानान्तरपरिहारेण तज्ज्ञानेनैवानुभवश्च असिद्धः, नीलादीनां ज्ञानान्तरेणाप्यनुभवात्। ज्ञानरूपत्वात्तेषां तत्सिद्धौ च अन्योन्याश्रयः–ज्ञानरूपत्वसिद्धौ हि तेषां ज्ञानान्तरपरिहारेण तज्ज्ञानेनैवाऽनुभवसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ज्ञानरूपत्वसिद्धिरिति। भेदेन विवेचनाऽभावमात्रमप्यसिद्धम्[6]; बहिरन्तर्देशसम्बन्धित्वेन नील-तज्ज्ञानयोर्विवेचनप्रसिद्धेः। न चेत्थं विवेच्यमानयोरप्यनयोः विवेचनापह्नवो युक्तः; सर्वापह्नवप्रसङ्गतः सकलशून्यतानुषङ्गात्।

कारादेव प्रत्ययात् प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।" प्रमेयक० पृ० २३ पू०। "निराकारत्वे कुतो विषयनियम इति चेत्; स्वहेतुप्रयुक्तादेव शक्तिनियमादिति ब्रूमः। न्यायवि० टी० पृ० १२७ पू०।

१ पृ० १२५ पं० १। २ "उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावाऽनियमाद् यथादर्शनं विभागवचनम्। क्वचिदुपलब्धिहेतुः पूर्वं पश्चाद् उपलब्धिविषयो यथा आदित्यस्य प्रकाशः उत्पद्यमानानाम्। क्वचित् पूर्वमुपलब्धिविषयः पश्चादुपलब्धिहेतुः यथा अवस्थितानां प्रदीपः। क्वचिदुपलब्धिहेतुरुपलब्धिविषयश्च सह भवतो यथा धूमेन अग्नेर्ग्रहणमिति। न्यायभा० २।१।११। स्या० रत्ना० पृ० १७४। ३ पृ० १२५ पं० १५। ४ पृ० १२५ पं० १८। ५ ज्ञानादभिन्नत्वम् ब०, ज०। एभिरेव विकल्पैश्चित्रज्ञानस्य खण्डनम् प्रमेयकमलमार्तण्डे (पृ० २५ पू०) प्रकारान्तरेण च तत्त्वार्थश्लोक वा० पृ० ३५। न्यायविनि० टी० पृ० २४० पू० इत्यादिषु च द्रष्टव्यम्। ६ "अशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धमुक्तं नीलतद्वेदनयोः अशक्यविवेचनत्वासिद्धेः अन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः।" अष्टसह० पृ० २५४।

किञ्च, अन्तस्तत्त्वस्य अनेकाकाराक्रान्तस्यापि अशक्यविवेचनत्वाद् एकत्वाऽविरोधे बहिस्तत्त्वस्यापि अवयव्यादेः अत एव एकत्वाऽविरोधोऽस्तु विशेषाऽभावात्। बुद्ध्या तत्स्वरूपविवेचनम् अन्यत्राप्यविशिष्टम्, चित्रज्ञानेऽपि नीलाद्याकाराणाम् अन्योन्यदेशपरिहारेण स्थितत्वाऽविशेषात्। एकदेशत्वे च एकाकारे एवाशेषाकाराणामनुप्रवेशप्रसङ्गतः तद्वैलक्षण्याऽभावात् तच्चित्रता विरुद्ध्येत्। यदेकदेशं न तस्य आकारवैलक्षण्यम् यथा एकनीलाकारस्य, एकदेशाश्च चित्रज्ञाने नीलाद्याकारा इति। तथा, यत्र आकाराऽवैलक्षण्यम् न तत्र चित्ररूपता यथा एकनीलज्ञाने, आकाराऽवैलक्षण्यञ्च एकदेशतयाऽभिमतानां नीलाद्याकाराणामिति।

किञ्चै,[1] एते आकाराः चित्रज्ञाने सम्बद्धाः सन्तस्तद्व्यपदेशहेतवः, असम्बद्धा वा ? न तावदसम्बद्धाः; अतिप्रसङ्गात्। अथ सम्बद्धाः; किं तादात्म्येन, तदुत्पत्त्या वा ? न तावत्तदुत्पत्त्या; समसमयवर्त्तिनां नारीनयनयुग्मवत् तदसंभवात्। नापि तादात्म्येन; ज्ञानस्य अनेकाकाराऽव्यतिरिच्यमानत्वेन एकरूपत्वाऽभावप्रसङ्गात्। यदनेकाकाराऽव्यतिरिच्यमानस्वरूपं तदनेकम् यथा अनेकाकारस्वरूपम्, अनेकाकाराऽव्यतिरिच्यमानस्वरूपञ्च चित्रज्ञानस्वरूपमिति। अनेकाकाराणाञ्च एकस्माज्ज्ञानस्वरूपादव्यतिरेकेऽनेकत्वानुपपत्तिः। यदेकस्मादव्यतिरिक्तं न तदनेकम् यथा तस्यैव ज्ञानस्य स्वरूपम्,[2] एकस्माज्ज्ञानस्वरूपादव्यतिरिक्ताश्च अनेकत्वेनाभि-[3]मता नीलादय आकारा इति।

यदप्युक्तम्[4]–'ग्रहणाऽग्रहणलक्षणविरुद्धधर्माध्यासान्नार्थधर्मश्चित्रता' इति; तदप्यसुन्दरम्; प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानाऽप्रवृत्तेः, बाह्यार्थधर्मतया हि अबाधिताध्यक्षप्रत्यये चित्राकारः प्रतिभासते, न तस्य ज्ञानधर्मता युक्ता अतिप्रसङ्गात्। यो यद्धर्मतया प्रतीयते न स ततोऽन्यधर्मा यथा अग्निधर्मतया प्रतीयमाना भास्वरोष्णता[5] न जलधर्मः, बाह्यार्थधर्मतया प्रतीयते च चित्रतेति। कथं तद्धर्मत्वे ग्रहणाऽग्रहणयोरुपपत्तिः इति चेत् ? चित्रप्रतिपत्तेः अनेकवर्णप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वात्, प्रतिपन्नेऽपि नीलभागे पीतादिभागाऽप्रतिपत्तौ चित्रताऽप्रतिपत्तिरुपपन्नैव। विरोधश्च ज्ञानधर्मत्वेऽपि चित्रतायाः तुल्य एव; तथाहि[6]–ज्ञानमेकमनेकाकारम्, तद्विपरीतं वा ? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; परस्परव्यावृत्तत्वेनाऽऽकाराणाम् एकत्रानंशे ज्ञाने वृत्त्यनुपपत्तेः, येषां परस्परव्यावृत्तिः न तेषामेकत्राऽनंशे वृत्तिः यथा गवाश्वादीनाम्, परस्परव्यावृत्तिश्च नीलाद्याकाराणामिति। न चैकस्याऽनंशस्याऽस्य परस्परविरुद्धाकारै[7]स्तादात्म्यं युक्तम्, तावद्धा तस्यापि भेदप्रसङ्गात्। प्रयोगः–यद् एकमनंशं न तस्य परस्परविरुद्धाकारैः सह तादात्म्यम् यथा उत्पन्नस्य क्षणस्य उत्पत्त्यनुत्पत्तिभ्यां[8] सत्त्व-विनाशाभ्यां वा, एकमनंशञ्चै[9] चित्रज्ञानं भवद्भिर-

१ "किञ्चैते नीलाद्याकाराः चित्रज्ञाने सम्बद्धाः सन्तः तद्व्यपदेशहेतवः असम्बद्धा वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १७७। २ ज्ञानस्वरूपम् ब०, ज०, आ०। ३ अनेकत्वाभि–ब०, ज०, आ०। ४ पृ० १२६ पं० ८। ५ भासुरोष्ण–आ०। ६ "तथाहि–तदेकं वा सदनेकाकारं तद्विपरीतं वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १७७। ७–द्धाकारता–ब०, ज०। ८–त्तिभ्यां वा आ०। ९–ञ्च ज्ञानं भां०।

भिप्रेतमिति। तत्तादात्म्ये च आकाराणां भेदवार्ताऽपि दुर्लभा इति कथं तच्चित्रता ? अथ नीलाद्याकारवत् तज्ज्ञानमप्यनेकमिष्यते, तदाऽपि किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ? यदि सर्वथा; तदा तज्ज्ञानानां परस्परमत्यन्तभेदात् चित्रप्रतिपत्तिः स्वप्नेऽपि न प्राप्नोति। येषां परस्परमत्यन्तभेदो न तेषां चित्रप्रतिपत्तिः यथा सन्तानान्तरज्ञानानाम्, परस्परमत्यन्तभेदश्च आकारवत् तज्ज्ञानानामिति। कथञ्चिद्भेदे तु ज्ञानवद् बहिरर्थस्यापि स्वाकारैर्विचित्रैः कथञ्चित्तादात्म्यमनुभवतः प्रत्यक्षादिप्रमाणेन प्रतीयमानस्य चित्रस्वभावता इष्यताम्, किं दुराग्रहग्रहाभिनिवेशेन आक्षेप-समाधानयोः बहिरन्तर्वा चित्रतायां समानत्वात् ?

यदप्यभिहितम्[२]–'ज्ञानात्मकाः सुखादयः, ज्ञानाऽभिन्नहेतुजत्वात्' इत्यादि; तत्र किं सर्वथा ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं तेषामभिप्रेतम्, कथञ्चिद्वा ? प्रथमपक्षे [३]असिद्धो हेतुः; सुखादीनां सदसद्वेद्योदय-स्रग्वनितादिनिमित्तनिबन्धनत्वात्, ज्ञानस्य च ज्ञानावरणक्षयोपशम-इन्द्रियादिकारणकलापप्रभवत्वात्। विभिन्नस्वरूपत्वाच्च अमीषां सर्वथाऽभिन्नहेतुजत्वमनुपपन्नम्; येषां विभिन्नस्वरूपत्वं न तेषां सर्वथाऽभिन्नहेतुजत्वम् यथा जलानलादीनाम्, विभिन्नस्वरूपत्वञ्च ज्ञानसुखादीनामिति। न चेदमसिद्धम्; सुखादेः आह्लादनाद्याकारत्वात्, ज्ञानस्य च प्रमेयानुभवस्वभावत्वात्। उक्तञ्च[४]—

"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद् यूनः कान्तासमागमे ॥ १ ॥" [ ] इति।

विभिन्नस्वरूपाणामपि अभिन्नोपादानत्वे सर्वं सर्वस्योपादानं स्यात्। अथ कथ[५]ञ्चिद् विज्ञानाऽभिन्नहेतुजत्वं विवक्षितम्; तद् रूपाऽऽलोकादिनाऽनैकान्तिकम्, यथैव हि ततो विज्ञानस्योत्पत्तिः तथा रूपाऽऽलोकादिक्षणान्तरस्यापि।

---

१ "अथ नीलाद्याकारवत् तज्ज्ञानमप्यनेकमिष्यते तदापि किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १७८। २ पृ० १२६ पं० १६। ३ "सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वाऽसिद्धत्वात् सुखादीनां सद्वेद्योदयादिनिमित्तत्वात् विज्ञानस्य ज्ञानावरणान्तरायक्षयोपशमादिनिबन्धनत्वात्।" अष्टसह० पृ० ७८। स्या० रत्ना० पृ० १७८। "सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वेन विज्ञानत्वादशक्यं व्यावर्त्तनमिति चेत्; न; अभिन्नहेतुजत्वाऽसिद्धेः। न खलु यैव चन्दनस्पर्शज्ञानस्योत्पत्तौ सामग्री सैव सुखस्यापीति।"…न्यायवा० ता० टी० पृ० १२३। "अत्र शाक्याश्चोदयन्ति…ज्ञानरूपाः सुखादयः तदभिन्नहेतुजत्वादिति; तदिदमनुपपन्नम्; प्रत्यक्षविरुद्धत्वाद्धेतोः।" न्यायमं० पृ० ७४। "नचानयोर्विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वम्; ज्ञानस्य अर्थाकारादुत्पत्तेः, तस्माच्च वासनासहायात् सुखदुःखयोरुत्पादात् अन्यथा उपेक्षाज्ञानाभावप्रसङ्गात्।" प्रशस्त० कंन्दली पृ० ९०। ४ "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणाः' इत्यस्य–'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधकम्। शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनःकान्तासमागमे।' इति निदर्शनं स्यात्।" सिद्धिवि० टी० पृ० ९६ उ०। अष्टसह० पृ० ७८। सन्मति० टी० पृ० ४७८। 'उक्तञ्च स्याद्वादमहार्णवे' इति कृत्वा न्यायवि० टी० पृ० २३० उ०। स्या० रत्ना० पृ० १७८। प्रमेयरत्नमा० पृ० १८२। ५ "कथञ्चिद् विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं तु रूपालोकादिनाऽनैकान्तिकम्।" अष्टसह० पृ० ७८। स्या० रत्ना० पृ० १७८।

किञ्च, उपादानकारणापेक्षया सुखादीनां विज्ञानाऽभिन्नहेतुजत्वमुच्यते, सहकारिकारणापेक्षया वा ? तत्राद्यविकल्पे किमेषामभिन्नमुपादानम्-आत्मद्रव्यम्, ज्ञानक्षणो वा ? न तावदात्मद्रव्यम्; अनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा किमेतेषामुपादानापेक्षया अभेदः साध्यते, स्वरूपापेक्षया वा ? यद्युपादानापेक्षया; तदा सिद्धसाधनम् चेतनद्रव्यार्थादेशात् सुखादीनामभेदाभ्युपगमात्, सुखज्ञानादिप्रतिनियतपर्यायार्थादेशादेव अमीषामन्योन्यं भेदाऽभ्युपगमात्। स्वरूपापेक्षया तु अभेदाऽभ्युपगमे घटादिभिर्व्यभिचारः, न ह्यभिन्नोपादानानां घट-घटी-शरावोदञ्चनादीनां स्वरूपतोऽभेदोऽस्ति। अथ ज्ञानक्षणोपादानत्वं विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमभिप्रेतम्; तदसिद्धम्; आत्मद्रव्योपादानत्वात्तेषाम्, न खलु पर्यायाणां पर्यायान्तरोत्पत्तौ उपादानत्वं क्वचिद् दृष्टम् द्रव्यस्यैव अन्तर्बहिर्वोपादानत्वोपपत्तेः। तदुक्तम्–

"[1]त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत् पौर्वापर्येण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥" [ ]

आत्मद्रव्यसिद्धिश्च सन्तानविचारावसरे प्रसाधिता, जीवसिद्ध्यवसरे प्रसाधयिष्यते च। अथ सहकारिकारणापेक्षया विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं सुखादीनां विवक्षितम्; तदपि विवक्षामात्रम्; तस्य चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्। यदि च सुखादयो ज्ञाना[2]त् सर्वथाऽभिन्नाः तर्हि तद्वदेव एषामप्यर्थप्रकाशकत्वं स्यात्, न चात्र तदस्ति स्वरूपप्रकाशनियतत्वात्तेषाम्। 'ज्ञानं हि स्वपरप्रकाशनियतम्, सुखादिकं तु स्व[3]प्रकाशनियतम्' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धम्, अतो विरुद्धधर्माध्यासात् कथमत्राऽभेदः ? यत्र विरुद्धधर्माध्यासो न तत्राऽभेदः यथा जलाऽनलादौ, विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानसुखादाविति। तदेवं सुखादीनां ज्ञानरूपत्वाऽप्रसिद्धेः "*नीलसुखादिविचित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः, अशक्यविवेचनत्वात्*" [ ] इत्येतद्वचः सत्यम् अभिप्रायमात्रमेव सूचयतीति[4]।

'संवेदनमात्रमेव आलम्बनप्रत्ययरहितं वास्तवं तत्त्वम्' इति बौद्धैकदेशिमाध्यमिकस्य पूर्वपक्षः–

ननु चित्रज्ञाने नीलाद्याकारप्रतिभासस्य अविद्याशिल्पिकल्पितत्वादवास्तवत्वमेव, ज्ञानस्यैवानुभवपथप्राप्तस्य एकस्य मध्यक्षणस्वभावस्य वास्तवत्वम्, ततो नीलाद्याकाराणामभेदेऽनेकत्वविरोधात्, भेदे प्रतिभासाऽसंभवात्, संभवे वा संवेदनान्तरत्वापत्तेः कथं तच्चित्रता स्यात् ? तदुक्तम्–

"*किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न[5] स्यात्तस्यां मतावपि।
यदीदं स्वयमर्थे[6]भ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥*" [प्रमाणवा० ३।२१०] इति।

१ उद्धृतश्चैतत्–अष्टसह० पृ० २१०। युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७९। स्या० रत्ना० पृ० १७९। २ ज्ञानाभिन्नाः आ०। ३ स्वप्रकाशम् आ०। ४ अस्य चित्राद्वैतवादस्य समर्थनपरं प्रमाणवार्तिकस्य तृतीयपरिच्छेदे चित्रैकत्वसिद्धान्ताख्यं प्रकरणं द्रष्टव्यम्। खण्डनपराश्च–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३५। प्रमेयक० पृ० २५ पू०। न्यायवि० टी० पृ० २०४। स्या० रत्ना० पृ० १७४। इत्यादयो ग्रन्थाः समवलोकनीयाः। ५ न सान्यस्यां आ०। ६–मर्थानां रो–स्या० रत्ना० पृ० १८०। प्रमाणवा०। "अत्र

न च ज्ञाने चित्ररूपतापाये तत्स्वरूपप्रतिपत्तिः विरुद्ध्यते; तदपायेऽपि स्वरूपस्य स्वतो गतेरुपपत्तेः, संवेदनमात्रतापाये एव तद्विरोधात्। न च अनेकत्वप्रतिभासो वास्तवाऽनेकत्वे सत्येवोपपद्यत इत्यभिधातव्यम्; स्वप्नावस्थायां तदभावेऽपि तद्दर्शनात्। अतः संवेदनमात्रमेव आलम्बनप्रत्ययरहितं वास्तवं तत्त्वम् सकलप्रत्ययानां निरालम्बनस्वभावत्वात्, तत्स्वभावत्वञ्चैतेषां प्रत्ययत्वेन हेतुना प्रसाध्यते, स्वप्नादौ प्रत्ययत्वस्य निरालम्बनत्वेनाऽविनाभावप्रतिपत्तेः। तथा च प्रयोगः–सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नेन्द्रजालादिप्रत्ययवत् इति। नचाऽनुभूयमानमध्यक्षणरूपसंविद्व्यतिरिक्तेऽर्थे किञ्चित्प्रमाणं क्रमते; समकालस्य भिन्नकालस्य वा तत्र तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। सैव परमार्थसती मध्यमा प्रतिपत्तिः सर्वधर्मनिरात्मता सकलशून्यता चोच्यते। तदुक्तम्–

"मध्यमा प्रतिपत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता।
भूतकोटिश्च सैवेयं तथ्यता सैव शून्यता॥" [ ] इति।

सर्वधर्मरहितता चार्थानाम् एकानेकस्वरूपविचाराऽसहत्वात् सिद्धा। तथाहि–ये एकानेकस्वरूपविचाराऽसहाः न ते परमार्थसन्तः यथा खरविषाणादयः, एकाऽनेकस्वरूपविचाराऽसहाश्च परपरिकल्पिता आत्मादयो भावा इति। आत्मादिभावानां हि एकरूपतयोपगतानां क्रमवद्विज्ञानादिकार्योपयोगित्वाऽभ्युपगमे तावद्धा भेदप्रसङ्गात् नैकरूपताऽवतिष्ठते, अनेकरूपतां तु

देवेन्द्रव्याख्या–यदि नाम एकस्यां मतौ न सा चित्रता भावतः स्यात्, किं स्यात्–को दोषः स्यात् ? तथा च भावतः चित्रया मत्या भावा अपि चित्राः सिद्ध्यन्ति, तद्वदेव च सत्या भविष्यन्तीति प्रष्टुरभिप्रायः। शास्त्रकार आह–'न स्यात्तस्यां मतावपि' इति, व्याहतमेतत्–'एका, चित्रा च' इति, एकत्वे हि सत्यनानारूपापि वस्तुतो नानाकारतया प्रतिभासते, न पुनर्भावतस्ते तस्या आकाराः सन्ति इति बलादेष्टव्यम् एकत्वहानिप्रसङ्गाद्। न हि नानात्वैकत्वयोः स्थितेरन्यः कश्चिदाश्रयः, अन्यत्र भावेकाभ्यामाकारभेदाऽभेदाभ्याम्, तत्र यदि बुद्धिः भावतो नानाकारा एका चेष्यते तदा सकलं विश्वमप्येकं द्रव्यं स्यात्, तथा च सहोत्पत्त्यादिदोषः, तस्मान्नैका अनेकाकारा, किन्तु यदीदं स्वयमर्थानां रोचते अतद्रूपाणामपि सतां यदेतत् ताद्रूप्येण प्रख्यानम् तदेतद् वस्तुत एव स्थितं तत्त्वम्, तत्र के वयं निषेद्धारः 'एवमस्तु' इत्यनुमन्यते इति।" स्या० रत्ना० पृ० १८०। उद्धृतश्चायं निम्नग्रन्थेषु–सिद्धिवि० टी० पृ० ५१ पू०। अष्टसह० पृ० ७७। प्रमेयक० पृ० २५ उ०। सन्मति० टी० पृ० २४१। न्यायवि० टी० पृ०२०९ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १८०।

१ ननु आ०। २ "...स्वरूपस्य स्वतोगतेः" प्रमाणवा० २।४। ३ "अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः।" प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २२। ४ "तथता भूतकोटिश्चानिमित्तः परमार्थिकः। धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः॥" मध्यान्तवि०सू० टी०पृ० ४१। ५ प्रतिपित्सैव ज०। ६ 'मध्यता सैव शून्यता' स्या० रत्ना० पृ० १८१। ७ सैव कथ्यते भां०। ८ "प्रयोगः–यदेकानेकस्वभावं न भवति न तत् सत्त्वेन ग्राह्यम् प्रेक्षावता यथा व्योमोत्पलम् एकानेकस्वभावरहिताश्च पराभिमताः पृथिव्यादयः इति व्यापकानुपलब्धिः।" तत्त्वसं० पं०पृ०५५०। ९ –तानुमित्यै–ब०,ज०।

नित्यैकरूपतयोपगतत्वात् नितरां नावतिष्ठते। अतो भावा यथा यथा विचार्यन्ते तथा तथा प्लवन्त एव केवलम् इति सिद्धं तेषां तद्विचाराऽसहत्वम्। उक्तञ्च–

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः।
यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते[1] ॥" [प्रमाणवा० ३।३६०]

"तदेतन्[2]नूनमायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥" [प्रमाणवा० ३।२०६] इति।

तथा, उत्पादादिधर्मरहिताश्चैते तद्रूपतयाऽपि विचाराऽसहत्वाविशेषात्। तथाहि–न स्वतो भावाः समुत्पद्यन्ते कारणनैरपेक्ष्येणोत्पद्यमानानां देशादिनियमाऽभावप्रसङ्गात्। परतोऽपि सतः, असतः, सदसद्रूपस्य वोत्पत्तिः स्यात्? न तावत् सतः; कारणवत् तथाविधस्योत्पत्तिविरोधात्। नाप्यसतः; खरविषाणवत्। नापि सदसद्रूपस्य; विरोधादेव। नाप्युभाभ्यामेषामुत्पत्तिः; उभयदोषानुषङ्गात्। अहेतुका तूत्पत्तिर्न केनचिदिष्टा। तदुक्तम्–

"न[3] स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥" [माध्यमिकवृ० प्रत्ययप० कारि० १] इति।

एतेन स्थितिभङ्गावपि चिन्तितौ, तयोरपि 'स्वतः परतो वा' इत्यादिप्रकारेण सद्भावाभ्युपगमे उक्तदोषानुषङ्गात्। अतो मरीचिकादौ तोयादिप्रतीतिवत् भावेषु उत्पादादिप्रतीतिर्भ्रान्तिरेव। उक्तञ्च–

"यथा[4] माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥" [माध्यमिकवृ० संस्कृतपरी० कारि० ३४] इति।

यद्येवम् असतां कथं तेषां प्रतिभासः इति चेत्? अनाद्यविद्यावासनाप्रभावात्, करितुरगादीनामसतां मन्त्राद्युपप्लवसामर्थ्यात् मृच्छकलादौ केषाञ्चित् प्रतिभासवत्। तदुक्तम्–

---

१ उद्धृतश्चैतत् अष्टसह० पृ० ११५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४५। सन्मति० टी० पृ० ३७६। शास्त्रवा० टी० पृ० २१५ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १८१। २ "इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः। यथा यथार्था चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥" प्रमाणवा०। सिद्धिवि० टी० पृ० ७७ उ०। न्यायवि० टी० पृ० ४०८ उ०। स्या० रत्ना० पृ० १८१। ३ स्या० रत्ना० पृ० १८१। ४ स्या० रत्ना० पृ० १८२। "यथा मायादयः स्वभावेन अनुत्पन्ना अविद्यमाना मायादिशब्दवाच्या मायादिविज्ञानगम्याश्च लोकस्य। एवमेतेऽपि लोकप्रसिद्धिमात्रेण उत्पादादयः स्वभावेन अविद्यमाना अपि भगवता तथाविधविनेयजनानुग्रहचिकीर्षुणा निर्दिष्टा इति। अत एवोक्तम् (समाधिराजसूत्रे) 'यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव। स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान् ॥" माध्यमिकवृ० संस्कृतपरी० पृ० १७७। "यत्तूक्तं भगवता मायोपमा धर्मा यावत् निर्वाणोपमा इति।" महायानसूत्रालं० पृ० ६२। "एतदुक्तं भगवता–अनुत्पन्नाः सर्वभावा मायोपमाश्च इति।" लंकावतार सू० द्वि० भा० पृ० १११।

"[1]मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।
अन्यथैवाऽवभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥" [प्रमाणवा० ३।३५५]

तथा ग्राह्य-ग्राहकभावादिरपि अविद्याविनिर्मित एव, [2]तदविपर्यासितदर्शनानां तथाप्रतिभासाऽभावात् । उक्तञ्च—

"[3]अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्य-ग्राहक-संवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥" [प्रमाणवा० ३।३५४] इति ।

रविकिरणसंस्पृष्टनीहारनिकरवत् तत्त्वज्ञानात् निखिलाविद्याविलासविलये तु ग्राह्य-ग्राहकभावाद्यखिलधर्मविकलं संवित्स्वरूपमात्रमाभासते । तदुक्तम्—

"[4]नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥" [प्रमाणवा० ३।३२७] इति ।

प्रोक्तस्य माध्यमिकमतस्य प्रतिविधानम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–[5]'नीलाद्याकारप्रतिभासस्य अविद्याशिल्पिकल्पितत्वादवास्तवत्वम्' इत्यादि; तत्र [6]कुतोऽयं नीलादिप्रतिभासोऽविद्याप्रभवः बाध्यमानत्वात्, तद्गोचरस्यार्थक्रियाकारित्वाऽभावाद्वा ? प्रथमपक्षे न सर्वत्र जल-नीलादिप्रतिभासस्याऽविद्याप्रभवत्वसिद्धिः, यत्र हि असौ बाध्यमानः तत्रैवाऽविद्याप्रभवः यथा मरीचिकायां जलप्रतिभासः शुक्तिकाशकले च रजतप्रतिभासः, न पुनः सत्ये जले जलप्रतिभासः रजते वा रजतप्रतिभास इति । किञ्च, अत्र

१ उद्धृतश्चैतत्–सिद्धिवि० टी० पृ० ५७ पू०, १६५ उ०, २१६ उ० । न्यायवि० टी० पृ० १६८ पू० । स्या० रत्ना० पृ० १८२ । २ तद्विपर्या–आ० । ३ उद्धृतश्चैतत्–न्यायमं० पृ० ५४० । सिद्धिवि० टी० पृ० १६५ उ०, ३१३ उ० । अष्टसह० पृ० ९३ । न्यायवि० टी० पृ० १६८ पू० । स्या० रत्ना० पृ० १८२ । शास्त्रवा० टी० पृ० २१५ उ० । मी० श्लोकवा० टी० पृ० २७२ । सर्वदर्शनसं० पृ० ३२ । 'अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा' इति पाठान्तरेण बृहदारण्यकभा० वा० ४।३ पृ० १४५८ । ४ नान्योनुभाव्यस्तेनास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥ बुद्ध्या योऽनुभूयते स नास्ति परः, यथा अन्योऽनुभाव्यो नास्ति तथा निवेदितम् । तस्याः तर्हि परोऽनुभवो बुद्धेरस्तु; न; तत्रापि ग्राह्यग्राहकलक्षणाभावः । परं हि संवेदनस्वरूपे अवस्थितं कथं परस्यानुभवः साक्षात्करणादिकं प्रत्याख्यातम् । तत्संवेदनानुप्रवेशे च तयोरेकत्वमेव स्यात् तथा च स्वयं सैव प्रकाशते न ततः पर इति स्थितम् ।" प्रमाणवार्त्तिकालंका० ३।३२७ । तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० १२१ । आप्तपरी० पृ० ४७ । प्रमेयक० पृ० २४ पू० । न्यायवि० टी० पृ० १३२ उ० । सन्मति० टी० पृ० ४८३ । 'नान्योनुभावो' 'स्वयमेव प्रकाशते' इति पाठान्तरेण न्यायमं० पृ० ५४० । मी० श्लोकवा० टी० पृ० २७५ । सर्वदर्शनसं० पृ० ३१ । षड्दर्शनसमु० बृह० पृ० ४० । स्याद्वादमं० पृ० १३९ । ५ पृ० १३० पं० २१ । ६ "कुतोऽयं नीलाद्याकारप्रतिभासोऽविद्यानिबन्धनः–किं बाध्यमानत्वात्, गोचरस्य अर्थक्रियाकारित्वाभावाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १८३ ।

बाधकं मध्यक्षणरूपं संविन्मात्रञ्चेत्; कुतस्तत्सिद्धिः ? नीलादिप्रतिभासानामवास्तवत्वाच्चेत्; इतरेतराश्रयत्वम्-सिद्धे हि मध्यक्षणरूपे संविन्मात्रे तत्त्वे तत्प्रतिभासानामवास्तवत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाविधसंविन्मात्रतत्त्वसिद्धिरिति । अन्यच्च यत् संविन्मात्रप्रसाधकं प्रमाणं तत् प्रागेवाऽपास्तम् । तद्गोचरस्य अर्थक्रियाकारित्वाभावस्तु असिद्धः; जलानलादेस्तद्गोचरस्य स्नानपानाद्यर्थक्रियाकारित्वेन[1] सदा सुप्रसिद्धत्वात्, तस्याश्च अनर्थक्रियात्वे[2] काऽपरा अर्थक्रिया स्यात् ? स्वरूपानुभवनं[3] सा इति चेत्; तदपि ज्ञानगतानां नीलाद्याकाराणामस्त्येव, नहि निराकारस्य मध्यक्षणरूपस्य[4] संविन्मात्रस्यानुभवनं कदाचिदप्यस्ति, बहिरन्तर्वाऽनेकाकारस्यैवार्थस्य अनुभवनात् ।

अथ नीलाद्यनेकाकारानुभवो मिथ्या; ननु संवित्-नीलाद्याकारयोः एकानेकस्वभावयोः प्रतिभासाऽविशेषे[5]ऽपि कुतो वास्तवेतरत्वप्रविवेकः ? एकाकारस्य अनेकाकारेण विरोधात्तस्य अवास्तवत्वे कथमेकाकारस्यैवाऽवास्तवत्वं न स्यात् ? स्वप्नज्ञाने अनेकाकारस्याऽवास्तवस्य प्रसिद्धेः चित्रज्ञानेऽपि तस्य अवास्तवत्वे केशादौ एकाकारस्याप्यवास्तवस्य प्रसिद्धेः अन्यत्राप्येकाकारस्यैव अवास्तवत्वं किन्न स्यात् ? यथा च अनेकाकारस्य एकाकारादभेदेऽनेकत्वं विरुद्ध्यते, भेदे तु संवेदनान्तरत्वमनुषज्यते; तथा एकाकारस्यापि अनेकाकारादभेदेऽनेकत्वम्, भेदे तु संवेदनान्तरत्वमनुषज्यत इति । यदि च एकस्याऽनेकाकारता नेष्यते तदा प्रत्याकारं ज्ञानस्य सन्तानान्तरवद्भेदः स्यात्, तेषाञ्चाकाराणां नीलाकारेणाऽनुपलम्भतः तद्वदेवाऽसत्त्वं स्यात् । नीलांशस्यापि[6] प्रतिपरमाणु भेदात् नीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैर्भवितव्यम्, तेषाञ्च एकनीलाणुसंवेदनेनाऽनुपलम्भादसत्त्वम्, एकनीलाणुसंवेदनस्याप्येवं वेद्य-वेदक-संविदाकारभेदात् त्रितयेन भवितव्यम्, वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि प्रत्येकमपरस्ववेद्याकारादिसंवेदनत्रयेण इत्यनवस्था, अतो नेष्टतत्त्वसिद्धिः स्यात् । तथाभूतस्य चास्य अनुपलम्भतोऽभावप्रसङ्गात् सकलशून्यतैव स्यात् । ततः प्रतीतितो वस्तुव्यवस्थामभ्युपगच्छद्भिः बहिरन्तर्वा एकानेकप्रतिभासात् तथाविधं वस्तु प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

---

१ स्नानादिक्रियायाः । २-र्थक्रियाकारित्वे भां० । ३ "अथ स्वरूपानुभवनमर्थक्रिया" स्या० रत्ना० पृ० १८३ । ४-रूप संवि-आ० । ५-षे कुतो भां० । "कथमेकानेकाकारयोः प्रतिभासाऽविशेषेऽपि वास्तवेतरत्वप्रविवेकः एकाकारस्य अनेकाकारेण विरोधात् तस्य अवास्तवत्वे कथमेकाकारस्यैव अवास्तवत्वं न स्यात् ? स्वप्नज्ञाने अनेकाकारस्य अवास्तवस्य प्रसिद्धेः चित्रज्ञानेऽपि तस्य अवास्तवत्वं युक्तं कल्पयितुमिति चेत्; केशादावेकाकारस्यापि अवास्तवत्वसिद्धेः तत्रावास्तवत्वं कथमयुक्तम् ?" अष्टसह० पृ० ७६ । स्या० रत्ना० पृ० १८४ । ६ "नन्वेवं नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणुभेदात् नीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैः भवितव्यं तत्र एकनीलपरमाणुसंवेदनस्याप्येवं वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात् त्रितयेन भवितव्यं वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि प्रत्येकमपरस्ववेद्यादिसंवेदनत्रयेण इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानात् न क्वचिदेकवेदनसिद्धिः संविदद्वैतविद्विषाम् ।" अष्टसह० पृ० ७७ ।

यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; जाग्रत्प्रत्ययानां स्वरूपव्यतिरिक्तस्थिरस्थूलसाधारणस्तम्भकुम्भाद्यर्थोद्योतकत्वेन प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। तथा च 'अश्रावणः शब्दः सत्त्वात्' इत्यादिवत् प्रत्यक्षबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टं प्रत्ययत्वम्। असिद्धश्च; प्रत्ययेभ्यो व्यतिरिक्तस्य प्रत्ययत्वस्य भवताऽनभ्युपगमात्, तेषामेव च हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धता। आश्रयासिद्धता च; तद्ग्राहकप्रमाणस्य प्रत्ययत्वतो निरालम्बनत्वेनाश्रयस्याऽतोऽप्रसिद्धेः। स्वरूपासिद्धता च; हेतुस्वरूपग्राहकप्रत्ययस्यापि अत एव निरालम्बनत्वात्। अथ एतद्दोषपरिजिहीर्षया पक्षादिप्रसिद्धये तद्ग्राहकप्रत्ययस्य सालम्बनत्वमङ्गीक्रियते, तर्हि तेनैव प्रत्ययत्वमनैकान्तिकम्। विरुद्धश्च; सालम्बनत्वे सत्येव हि प्रत्ययानां प्रत्ययत्वमुपपद्यते, यतः प्रतीयते स्वरूपं पररूपं वा यैः ते प्रत्ययाः तद्भावः प्रत्ययत्वम्, तत् कथं निरालम्बनत्वविरुद्धेन सालम्बनत्वेन न व्याप्येत यतो विरुद्धं न स्यात्?

दृष्टान्तश्च साध्यविकलः; स्वप्नादिप्रत्ययानामपि बाह्यार्थालम्बनत्वेन निरालम्बनत्वाभावात्। "द्विविधो हि स्वप्नः–सत्यः, असत्यश्च। तत्राद्यो देवताविशेषकृतो धर्माऽधर्मकृतो वा कश्चित् साक्षादर्थाऽव्यभिचारी, यद्देशकालाऽऽकारतया स्वप्ने प्रतिपन्नोऽर्थः तद्देशकालाकारतया जाग्रद्दशायां तस्य प्राप्तिप्रसिद्धेः। कश्चित्तु परम्परया; राजादिदर्शनेन स्वप्नाध्यायनिगदितार्थस्य कुटुम्बवर्द्धनादेः प्राप्तिहेतुत्वात् अनुमानवत्, कचिद्व्यभिचारस्य अनुमानेऽपि समत्वात्। योऽपि वातपित्ताद्युद्रेकजनितोऽसत्यत्वेन प्रसिद्धः स्वप्नः सोऽपि नार्थमात्रव्यभिचारी, न हि किञ्चिज्ज्ञानं सत्तामात्रं व्यभिचरति तस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, विशेषं तु यत एव व्यभिचरति अत एव 'असत्यः' इति। न च स्वप्नादौ बौद्धेन बोधोऽभ्युपगम्यते इति कस्य दृष्टान्तता? अभ्युपगमे वा साध्यसाधनधर्मग्राहकप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वे साध्यसाधनोभयविकलता दृष्टान्तस्याऽनुषज्यते। दृष्टान्तग्राहकस्य च प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वे दृष्टान्तस्यैवाऽसत्त्वाद् अनन्वयत्वम्। धर्मिधर्मोभयप्रत्ययानां निरालम्बनत्वे वा अप्रसिद्धविशेष्यः अप्रसिद्धविशेषणः अप्रसिद्धोभयश्च पक्षः स्यात्। प्रतिज्ञा-हेत्वोर्विरोधश्च; सर्वप्रत्ययानां निरालम्बनत्वे साध्ये हेतूपादाने तत्प्रत्ययत्वस्य सालम्बनत्वाऽभ्युपगमात्, अन्यथा किंसाधनः साध्यमयं साधयेत्?

किञ्च, स्वप्नदृष्टान्तेन अखिलप्रत्ययानां बहिर्मिथ्यात्वाभ्युपगमे स्वरूपेऽपि तत्प्रसङ्गः। तथाहि–यत् प्रतिभासते तन्मिथ्या यथा अर्थः, प्रतिभासते च विज्ञानस्वरूपमिति। प्रतिभासाऽवि-

१ पृ० १३१ पं० ६। २–गमत्वात् भां०। ३ सत्येव बहि आ०। ४ च ब०, ज०, भां०। ५ "द्विविधो हि स्वप्नः सत्योऽसत्यश्च। तत्र सत्यो देवताकृतः स्यात् धर्माधर्मकृतो वा कस्यचित् साक्षाद् व्यवसायात्मकः प्रसिद्धः स्वप्नदशायां यद्देशकालाकारतया अर्थः प्रतिपन्नः पुनर्जाग्रद्दशायामपि तद्देशकालाकारतयैव तस्य व्यवसीयमानत्वात्। कश्चित् सत्यः स्वप्नः परम्परया अर्थव्यवसायी स्वप्नाध्यायनिगदितार्थप्रापकत्वात्, तदुक्तम्–यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम्। सुवर्णं वृषभं गाञ्च कुटुम्बं तस्य वर्द्धते॥ प्रमाणपरी० पृ० ५८। स्या० रत्ना० पृ० १८६। ६ प्रति हे–आ०। ७ व्यभिचारीति भां०। ८ स्वापादौ ब०, ज०, आ०।

शेषेऽपि प्रतीतितः स्वरूपप्रतिभासस्य सत्यत्वाभ्युपगमे प्रत्ययत्वाऽविशेषेऽपि जाग्रद्दशाबहिरर्थप्रत्ययानां प्रतीतितः सत्यत्वं किन्नाभ्युपगम्येत विशेषाभावात् ?

यानि च 'एकाऽनेकस्वरूपविचाराऽसहत्वात्' इत्याद्यनुमानानि उपन्यस्तानि[1]; तान्यपि पक्ष-हेतु-दृष्टान्तदोषैरेतैरेव प्रतिव्यूढानि प्रतिपत्तव्यानि । तद्विचाराऽसहत्वञ्च सर्वथाऽप्यसिद्धम्[2]; आत्माद्यर्थानामेकानेकस्वरूपविचारसहत्वात् । न हि क्रमवद्विज्ञानादिकार्योपयोगित्वम् आत्मादेः भेदप्रसाधकम्; तत्सामर्थ्यभेदस्यैव अतः प्रसिद्धेः । ननु सामर्थ्यस्य स्वभावभूतस्य भेदे कथन्न तद्वतो भेदः ? इत्यप्यसमीचीनम्; स्वभावभेदस्य भावभेदं प्रत्यनङ्गत्वात्, कथमन्यथा चित्रमेकं ज्ञानं स्यात् ? तदनभ्युपगमे च सकलशून्यता प्रागेव प्रतिपादिता । कथं[3] वा ग्राह्याकारविवेकरूपतया परोक्षतां संविद्रूपतया च प्रत्यक्षतां बिभ्रतो ज्ञानस्य स्वभावभेदसंभवाद् एकत्वं स्यात् ?

यदप्युक्तम्[4]–'उत्पादादिधर्मरहिताश्चार्थाः' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; द्रव्यरूपतया सतां पर्यायरूपतया चाऽसतां तेषामुत्पादादिधर्मसद्भावोपपत्तेः, न हि सर्वथा सतोऽसतो वा तद्धर्माणामुपपत्तिः इति यथास्थानं निवेदयिष्यामः । यदि च उत्पादादिधर्माः सर्वथा न सन्ति, तदा चिन्मात्रस्य असत्त्वमनुषज्यते कार्यकारित्वाऽभावात् खपुष्पवत्, नित्यत्वं वा स्यात् सद[5]कारणवत्त्वादाकाशादिवत् । तेषामसत्त्वे च कथं विशदप्रतिभासगोचरता ? यत्सर्वथाप्यसन्न तद्विशदप्रतिभासगोचरः यथा खपुष्पम्, सर्वथाऽप्यसन्तश्च भवद्भिः परिकल्पिता उत्पादादयो धर्मा इति । तद्गोचरत्वे वा सर्वथाप्यसत्त्वानुपपत्तिः, यद्विशदप्रतिभासगोचरः न तत् सर्वथाप्यसत् यथा संवित्स्वरूपम्, विशदप्रतिभासगोचराश्च उत्पादादयो धर्मा इति । न चेदमसिद्धम्; सुवर्णादौ कटकाद्युत्पादादेः आबालं विशदप्रतिभासगोचरचारितया सुप्रसिद्धत्वात् । तत्र तेषां सर्वथाऽसत्त्वे[6] च संवेदनमात्रमपि न प्राप्नोति, यद् यत्र सर्वथाप्यसत् न तत्तत्र संवेद्यते यथा दुःखे सुखम् नीलाकारे वा पीताकारः, सर्वथाऽप्यसन्तश्चोत्पादादयो धर्मा अर्थेष्विति ।

ननु मरीचिकाचक्रे जलस्याऽसत्त्वेऽपि संवेदनसंभवात् अनेकान्तः; इत्यप्यसत्; तत्र तस्य सर्वथाऽसत्त्वस्याऽसंभवात् । द्रव्यक्षेत्रकालाकारतया हि असत्त्वं सर्वथाऽसत्त्वमुच्यते, तच्चास्य अत्र नास्ति वीचीतरङ्गाद्याकारेण सदृशात्मना तत्र तस्य सत्त्वात्, अन्यथा काष्ठपाषाणादिवत् तच्चक्रेऽपि तत्संवेदनोत्पत्तिर्न स्यात् । अस्तु वा[7] असतामप्येषां संवेदनम्; तथापि मुख्यम्, गौणं वा तत् स्यात् ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; ज्ञानस्यैव हि स्वात्मभूतोऽसाधारणो धर्मो मुख्यं संवेदनम्, तत्कथम् अज्ञानरूपाणामुत्पादादीनां स्यात् ? प्रयोगः–यदज्ञानरूपं न तस्य

१ पृ० १३१ पं० १२ । २–था असिद्धम् भां० । ३ "क्षणस्थायिनः कस्यचिदेव ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यानभ्युपगमेऽपि संविदितज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं परोक्षं बिभ्राणस्य सामर्थ्यप्राप्तेः (अष्टश०) संवेदनस्यैकस्य प्रत्यक्षपरोक्षाकारतया वैश्वरूप्यसिद्धेः ।" अष्टसह० पृ० ९१ । ४ पृ० १३२ पं० ७ । ५ "सदकारणवन्नित्यम् ।" वैशेषिकसू० ४।१।१। ६–थाप्यसत्त्वे ब०, ज०, भां० । ७ वाऽसताममीषाम् भां० ।

मुख्यं संवेदनम् यथा शशशृङ्गस्य, अज्ञानरूपाश्च असत्त्वेनोपगता उत्पादादयो धर्मास्तदुपलक्षिताश्चार्था इति। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; यतः स्वाकारनिर्भासिज्ञानोत्पादनमेव गौणं संवेदनमुच्यते, तच्च अश्वविषाणवदसतामुत्पादादीनामयुक्तम् सर्वसामर्थ्यविरहलक्षणत्वादसत्त्वस्य। यत् सर्वसामर्थ्यविरहितं न तस्य गौणं संवेदनम् यथा अश्वविषाणस्य, सर्वसामर्थ्यविरहिताश्च असत्त्वेनाभिमता उत्पादादयो धर्माः तद्वन्तश्चार्था इति।

किञ्च, उत्पादादीनां ज्ञानेन सार्द्धं कः सम्बन्धः येन तस्मिन् संवेद्यमाने नियमेन ते संवेद्येरन्–किं तादात्म्यम्, तदुत्पत्तिर्वा? न तावत्तादात्म्यम्; ज्ञानवत् तेषामपि सत्त्वप्रसङ्गात्। नापि तदुत्पत्तिः; उत्पादाद्याकाराणां नीरूपत्वे जन्यत्वस्य जनकत्वस्य चाऽसंभवात्। अतः सम्बन्धाऽभावात् कथं तेन तेषां संवेदनम्? यस्य येन सम्बन्धो नास्ति तस्मिन् संवेद्यमाने नियमेन स न संवेद्यते यथा ज्ञानात्मनि संवेद्यमाने वन्ध्यासुतः, नास्ति च तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणः सम्बन्धो ज्ञानेन सह असत्त्वभूतानामुत्पादाद्याकाराणामिति। अस्ति चैतेषां ज्ञाने संवेद्यमाने नियमेन संवेदनम्, अतोऽस्ति कश्चित् तेषां तेन सम्बन्धः, स च परमार्थसत्त्वमन्तरेण न संभवतीति सिद्धं तेषां परमार्थसत्त्वम्। यस्मिन् संवेद्यमाने यन्नियमेन संवेद्यते तत् तेन सम्बद्धम् परमार्थसच्च यथा ज्ञाने संवेद्यमाने तत्स्वरूपम्, संवेद्यन्ते च ज्ञाने संवेद्यमाने नियमेनोत्पादादयः तद्वन्तश्चार्था इति। संवेद्यमानानामप्येषामसत्त्वे ज्ञानस्वरूपेऽप्यसत्त्वानुषङ्गात् सकलशून्यताप्रसङ्गः स्यात्।

इष्टत्वान्न तत्प्रसङ्गो दोषाय इति चेत्; ननु केयं सकलशून्यता नाम यदिष्टिर्दोषाय न स्यात्–सकलपदार्थाऽभावमात्रम्, ग्राह्यग्राहकभावादिरहितं संविन्मात्रं वा स्यात्? प्रथमविकल्पे किं तस्याः सद्भावावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति, न वा? यदि नास्ति; कथं तत्सिद्धिः प्रमाणनिबन्धनत्वाद् वस्तुसिद्धेः। अथ अस्ति; कथं सकलशून्यता प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य तज्जनकस्येन्द्रियादेश्च सद्भावे सकलशून्यताविरोधात्?

किञ्च[2], सकलशून्यता प्रमाणप्रमेययोः ग्राहकप्रमाणाऽभावात्, अनुपलब्धेः, विचारात्, प्रसङ्गाद्वा स्यात्? प्रथमपक्षे कोऽयं तद्ग्राहकप्रमाणाऽभावः–दुष्टेन्द्रियप्रभवप्रत्ययाः संशयादयः, ज्ञानानुत्पादो वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; संशयादिसद्भावाभ्युपगमे सकलशून्यताहानिप्रसङ्गात्। ज्ञानानुत्पादोऽपि ज्ञातः सर्वाभावं गमयति, अज्ञातो वा? न तावदज्ञातः; अतिप्रसङ्गात्। योऽभावः स ज्ञातोऽन्याभावं गमयति यथा क्वचिद् धूमाऽभावोऽग्न्यभावम्, अभा-

१ "अभूतपरिकल्पोऽस्यं द्वयं तत्र न विद्यते। शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते॥ यस्माद् द्वयं तत्र न विद्यते। अभूतपरिकल्पो हि ग्राह्यग्राहकरहितः शून्य इति न सर्वथा स्वभावतो नास्ति'''।" मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ९। २ "किञ्च, सकलशून्यता प्रमाणप्रमेययोरनुपलब्धितः, विचारात्, प्रसङ्गसाधनाद्वा स्यात्।" स्या० रत्ना० पृ० १८९। ३ "यस्यापीष्टं न निर्णीतं क्वचित्तस्य न संशयः। तदभावे न युज्यन्ते परपर्य्यनुयुक्तयः॥ १४४॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ८०।

यश्चायं ज्ञानोत्पाद[1] इति । अथ ज्ञातः; कुतस्तज्ज्ञप्तिः–अन्यतः प्रमाणाभावात्, स्वतो वा ? प्रथमपक्षे अनवस्थातः प्रकृताऽभावाऽप्रतिपत्तिः । स्वतस्तज्ज्ञप्तौ सर्वाऽभावस्यापि स्वतो ज्ञप्तिप्रसङ्गात् प्रमाणाभावो व्यर्थः स्यात् । अस्तु, का नो हानिरिति चेत् ? सकलशून्यताव्याघातः तथाभूतस्यास्यैव प्रमाण-प्रमेयरूपत्वप्रसङ्गात् । 'प्रमाण-प्रमेयपदाऽव्यपदेश्यः सर्वाऽभाव;' इति चाऽयुक्तम्; स्वतः स्वरूपं प्रति(ती)यतः[2] तद्रूपप्रतिषेधविरोधात् । तत्पदाऽव्यपदेश्यत्वे वाऽ[3]स्याऽसत्त्वप्रसङ्गः । तथाहि–यत्प्रमाणप्रमेयपदाव्यपदेश्यम् तन्नास्ति यथा खरविषाणम्, तत्पदाव्यपदेश्यश्च सर्वाऽभाव इति ।

नाप्यनुपलब्धेः प्रमाणप्रमेययोरभावात् सकलशून्यतासिद्धिः; प्रतिज्ञा-हेत्वोर्विरोधात् सिद्धसाध्यताप्रसङ्गाच्च, प्रध्वस्ताऽनुत्पन्नानामसत्त्वाभ्युपगमात् । कालात्ययापदिष्टता च; धर्मिहेतुदृष्टान्तानां सत्त्वे अनुपलब्धेः तज्ज्ञप्तिसाधनै[4]र्निरस्तविषयत्वात्, तत्सत्त्वाऽनभ्युपगमे आश्रयासिद्धतादिदोषानुषङ्गात् कथं सकलशून्यतासिद्धिः ? अभावधर्मत्वादनुपलब्धेः आश्रयासिद्धताद्यनुपपत्तिः; इत्यप्यसुन्दरम्; अनुपलब्धेरभावधर्मत्वे प्रमाणाऽभावात् । किञ्च, अनुपलब्धिः स्वरूपेणाधिगता अन्यप्रतीतये प्रयुज्यते[5], अनधिगता वा ? न तावदनधिगता; ज्ञापकत्वात्, यज् ज्ञापकं तत् स्वरूपेणाधिगतमन्यप्रतीतये प्रयुज्यते यथा धूमादि, ज्ञापिका च अनुपलब्धिः सर्वाभावस्येति । नाप्यधिगता; तत्स्वरूपाधिगमे प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य वा प्रमाणस्य प्रवृत्तौ सकलशून्यताविरोधानुषङ्गात् । न च लिङ्गत्वेन स्वयमनिश्चितायाः दृष्टान्ते क्वचिदप्रतिपन्नप्रतिबन्धायास्तस्याः स्वसाध्यसिद्धौ गमकत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् ।

अथ विचारात् सर्वाभावः प्रसाध्यते; ननु विचारो वस्तुभूतोऽस्ति, न वा ? यद्यस्ति; कथं सकलशून्यता ? नास्ति[6] चेत्; कुतः सर्वाऽभावः सिद्ध्येत् ? अथ प्रसङ्गसाधनात् तदभावः साध्यते[7]; न; सर्वाऽसत्त्ववादिनः स्वपरविभागाऽसंभवे प्रसङ्गसाधनस्यैवाऽसंभवात्, परस्येष्टयाऽनिष्टापादनलक्षणत्वात्तस्य । कथञ्च प्रमाणप्रमेयप्रपञ्चं प्रतीतिभूधरशिखरारूढमनभ्युपगम्य स्वप्नेप्यप्रतीयमानं सर्वाऽभावमभ्युपगच्छन् प्रामाणिकः स्यात् ? स्वप्ने करितुरगादिवत् मिथ्यैव तत्प्रपञ्चः प्रतिभातीति चेत्; क इदानीं सत्यता स्यात् ? घटादिपदार्थाऽसत्त्वे चेत्; कुतस्तस्य सत्यता ? बाधारहितप्रतिभासाच्चेत्; तदितरत्र समानम् । यथैव हि क्वचिद्देशे काले वा पदार्थानामसत्त्वे बाधारहितप्रतिभासोऽस्ति, तथा सत्त्वेऽपि । यदि च प्राक्-प्रध्वंसाभाववत् मध्येऽप्यर्था[8]-

---

१ ज्ञानानामुत्पाद ज० । २ स्वरूपप्रतिपत्तिः ज० । स्वरूपं प्रतिनियतः भां० । ३ चा भां० । ४ धर्मिहेतुदृष्टान्तादिज्ञप्तिसाधनैः । ५ प्रयुज्येत ब०, भां० । ६ "नहि विचारस्याभावे कस्यचिद् विचारेणानुपपत्तिः शक्या वक्तुं नापि शून्यवादिनः किञ्चिन्निर्णीतमस्ति यदाश्रित्य क्वचिदन्यत्र अनिर्णीतेऽर्थे विचारः प्रवर्तते तस्य सर्वत्र विप्रतिपत्तेः । तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० ८० श्लो० १४०,) किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥" अष्टसह० पृ० ११६ । ७ साध्येत आ० । ८ मध्ये पदार्था–ब०, ज० ।

नामसत्त्वं स्यात्; तदा स्थितिकालेऽपि 'गौरयम्' 'शुक्लः' 'चलति' इति जाति-गुण-क्रियाव्यपदेशो न स्यात् असतः तद्व्यपदेशाऽसंभवात्। अस्ति चायं व्यपदेशः, अतो मध्यावस्थायां पदार्थानामसद्रूपादर्थान्तरं सद्रूपं प्रतिपत्तव्यम्। तन्न सकलार्थाऽभावः सकलशून्यता।

अथ 'ग्राह्य-ग्राहकभावादिशून्यं संविन्मात्रं सा' इत्युच्यते; ननु सा तथाविधा कुतः सिद्धा—अभ्युपगममात्रात्, प्रतीतेर्वा? प्रथमपक्षे कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिः सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धेः तथा संभवात्? द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; यतो ग्राह्य-ग्राहकभावादिशून्यस्य संविन्मात्रस्य कदाचिदप्यप्रतीतितः कथं तल्लक्षणा तच्छून्यता प्रतीतितः सिद्ध्येत्? प्रतीत्या च वस्तुव्यवस्थां कुर्वता बहिरन्तर्वाऽनेकान्तात्मकं वस्तु उररीकर्तव्यम्, बाह्याध्यात्मिकार्थानां ग्राह्यग्राहकाद्यनेकाकाराक्रान्ततयैव प्रतीतौ प्रतिभासनात्। न चेयं मिथ्या बाधकाऽभावात्, विपरीतार्थोपलम्भो हि बाधकः, न चात्र सोऽस्ति, तद्विपरीतस्य मध्यक्षणस्थायिनः संविन्मात्रस्य स्वप्नेऽप्युपलम्भाऽभावात्। असताऽपि बाधाकल्पने नित्य-निरंश-व्यापिपरब्रह्मोपलम्भेनाऽसतापि मध्यक्षणस्थायिसंविन्मात्रस्य बाधा किन्न स्याद् विशेषाभावात्? ततः प्रतीतिनिबन्धनां वस्तुव्यवस्थामभ्युपगच्छता बहिरन्तर्वा अनेकान्तात्माऽर्थः प्रमाणगोचरः प्रतिपत्तव्यः, इति सिद्धो बाह्योऽप्यर्थः प्रमाणस्य गोचर इति।

एतेन ब्रह्माद्वैतवाद्यपि बाह्यमर्थमपलपन् प्रत्याख्यातः, ब्रह्मणः सद्भावे प्रमाणाभावात्।

शब्दब्रह्मवादे भर्तृहरेः पूर्वपक्षः—

ननु किंरूपस्य ब्रह्मणः सद्भावे प्रमाणाऽभावः—शब्दस्वभावस्य, परमात्मरूपस्य वा? द्विविधं हि ब्रह्म, शब्द-परमब्रह्मविकल्पात्। उक्तञ्च—"*शब्दब्रह्मणि निष्णातः परमब्रह्माधिगच्छति*" [ब्रह्मबिन्दूपनि० २२] इति। तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; शब्दस्वभावब्रह्मसद्भावे प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य च प्रमाणस्य सद्भावात्। तथाहि—सकलं योगजमयोगजं वा प्रत्यक्षं शब्दब्रह्मोल्लेख्येवाऽवभासते

---

१ "असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्।" सदिति सूत्रशेषः। वैशेषिक सू० ९।१।३। २ "ग्राह्यग्राहकशून्यत्वं ग्राह्यं तद्ग्राहकस्य चेत्। ग्राह्यग्राहकभावः स्यात् अन्यथा तदशून्यता ॥१४९॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ८१। ३ "तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नासत्संवृतिरेव वा। अतश्चार्थबलायातमनेकात्मप्रशंसनम् ॥ ९१ ॥" न्यायवि० पृ० २०६ उ०। अस्य च शून्यवादस्य 'निरालम्बनवादः' 'बाह्यार्थनिषेधवादः' इत्यादिरूपेण प्रतिविधानं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्—मीमांसासूत्र १।१।५। शाबरभा०, बृहती, पञ्जिका, शास्त्रदी०, मीमांसाश्लो० शून्यवाद। विधिवि० न्यायकणिका पृ० १८६। न्यायसूत्र, भाष्य, ४।२।२६। न्यायवा० पृ० ५१९। न्यायवा० ता० टी० पृ० ६५३। न्यायमं० पृ० ५४७। आप्तमी० कारि० १२, अष्टश०, अष्टसह०, पृ० ११५। युक्त्यनु० पृ० ५२। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४३। प्रमेयक० पृ० २५ उ०। सन्मति० टी० पृ० ३६६। स्या० रत्ना० पृ० १७९। स्या० मं० कारि० १७। ४—त्स्वरूपस्य भां०। ५ द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। ब्रह्मबिन्दूपनि० २२। 'द्वे ब्रह्मणी'—न्यायमं० पृ० ५२६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०५।

बाह्याध्यात्मिकार्थेषूत्पद्यमानस्याऽस्य शब्दानुविद्धत्वेनैवोत्पत्तेः, तत्संस्पर्शवैकल्ये प्रत्ययानां¹ प्रकाशमानताया दुर्घटत्वात्। वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च, तदभावे तेषां नापरं रूपमवशिष्यते। तदुक्तम्–

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवाऽऽभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्² ॥
वाग्रूपता³ चेदुत्क्रामेद् अवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥" [वाक्यप० १।१२४-२५।] इति।

सकलव्यवहारोऽपि शब्दानुविद्ध एवाऽनुभूयते, न हि 'भोक्ष्ये, दास्यामि' इत्याद्यनुल्लिखितशब्दः कश्चिदपि स्वयं कार्यनिर्वर्त्तनाय यतते, परं वा 'देहि' इत्यादिशब्दं विना प्रवर्तयति। जीवेतररूपाविर्भावोऽपि शब्दायत्त एव; तथाहि–सुप्तावस्थायामनुल्लिखितशब्दरूपत्वात्⁴ मृतान्न कश्चिद्विशिष्यते, तदुत्तरकालं तु कुतश्चिच्छब्दात् प्रबुद्धः⁵ पुरुषः शब्देनैवाऽन्तर्जल्पात्मना आत्मानमनुदधानो जीवितमुपयाति, तदुपहितजीवितात् सकलाः शब्दभावनाः 'अहमिदमनुतिष्ठामि' इत्यादिरूपा विवर्तन्ते, ताश्च नानाविषया विवर्तमानाः स्वस्वविषयानर्थान् आविर्भावयन्ति। यदा तु पुरुषेणोच्चारितः शब्दः समाविर्भूय तिरोभवति तदा स्वग्रन्थिभूतमर्थमपि तिरोभावयति ज्योत्स्नामिव शशाङ्कः। ननु च अद्वयरूपे तत्त्वे कथमाविर्भाव-तिरो-

१ प्रत्ययानाम्। २ 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।' वाक्यप० १।१२४। सन्मति० टी० पृ० ३८०। स्या० रत्ना० पृ० ७९। शास्त्रवा० टी० पृ० २३६ पू०। स्याद्वादमं० पृ० १०६। न्यायवि० टी० टि० पृ० २०। 'सर्वं शब्देन वर्तते' तत्त्वसं० पं० पृ० ६८। 'सर्वं शब्देन जायते' अनेकान्तजय० पृ० ४१ उ०। प्रकृतपाठश्च–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४०। प्रमेयक० पृ० ११ उ०। 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते' न्यायमं० पृ० ५३२। स्पन्दका० व्या० पृ० ५१। 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गृह्यते' मीमां० श्लो० टी० प्रत्यक्षसू० श्लो० १७६। ३ 'वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत्' सन्मति० टी० पृ० ३८०। अनेकान्तजय० पृ० ४१ उ०। नयोप० व्र० पृ० ७५ उ०। शास्त्रवा० टी० पृ० २३६ पू०। 'न हि बोधः प्रकाशेत' स्या० रत्ना० पृ० ८९। प्रकृतपाठस्तु–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४०। न्यायमं० पृ० ५३२। स्पन्दका० व्या० पृ० ५१। प्रमेयक० पृ० ११ उ०। न्यायवि० टी० टि० पृ० २०। "......वाग्रूपतायां च सत्यां उत्पन्नोऽपि प्रकाशो विशेषवाग्रूपतामस्वीकुर्वन् प्रकाशक्रियासाधनतायां न व्यवतिष्ठते। सा हि वाग्रूपता हि प्रत्यवमर्शः सविकल्पकज्ञानं तत्सम्पादिका इत्यर्थः। तदेव च प्रकाशनक्रियासाधनमित्यर्थः।" वाक्यप० टी० १।१२५। ४–ब्दस्वरूप–ब०, ज०। ५ कुतश्चिद् बुद्धः भां०। "सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानाञ्चोपबन्धिनी। तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभज्यते ॥ १२६ ॥ सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते। तन्मात्रामप्यतिक्रान्ते चैतन्यं सर्वजन्तुषु ॥ १२७ ॥ अर्थक्रियासु वाक् सर्वा समीहयति देहिनः। तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥ १२८ ॥" वाक्यप० प्र० कां०।

भावादिरूपो भेदप्रपञ्चप्रतिभासः स्यात् ? इति[1] न चेतसि विधेयम्; अविद्यातः तत्र तत्प्रतिभासाऽविरोधाद् आकाशवत्। यथैव हि तिमिरोपहतलोचनो[2] जनो विशुद्धमप्याकाशं विचित्ररेखानिकरकरम्बितमिव मन्यते तथा अनादिनिधनमभिन्नस्वभावमपगतनिखिलभेदप्रपञ्चमपि शब्दब्रह्म अविद्यातिमिरोपहतो जनः आविर्भावादिभेदप्रपञ्चान्वितमिव प्रतिपद्यते। उक्तञ्च—

"यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते[3] ॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति[4] ॥" [बृहदा० भा० वा० ३।५।४३,४४।] इति।

सकलाऽविद्याविलासविलये तु योगिनः तत्प्रपञ्चानन्वितं यथावत्तत्स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते। यथा च वीचीतरङ्गबुद्बुदफेनरूपो नीरविकारः सारभूतममलं जलम् आविर्भाव-तिरोभावार्थमपेक्षते, तथा व्यावहारिकः स्थूलोऽयमकारादि[5]शब्दभेदप्रपञ्चः परमसूक्ष्मप्रतिभासमात्रैकरूपं सर्वशब्दविषयविज्ञानप्रसवनिमित्तं क्वापि अनियमितैकनिजस्वभावं शब्दमयं ब्रह्मापेक्षते। उक्तञ्च–

"अनिबद्धैकरूपत्वाद् वीचीबुद्बुदफेनवत्।
वाचः सारमपेक्षन्ते शब्दब्रह्मोदकाऽद्वयम्[6] ॥" [ ]

एवमध्यक्षतः प्रतीयमानमपि शब्दब्रह्म ये अविद्यातिमिरोपहतचेतसः 'तथा' इति नाभ्युपगच्छन्ति विपर्यस्यन्ति च, तान् प्रति इदमुच्यते–ये यदाकारानुस्यूताः ते तन्मयाः यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृन्मयाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः; प्रत्यक्षत एवाऽशेषार्थानां शब्दाकारान्वयप्रसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्। तत्सिद्धौ च तेषां तन्मयत्वं सिद्धमेव तन्मात्रभावित्वात्तस्य। तद्व्यतिरेकस्य च प्रमाणबाधितत्वात्; तथाहि–न शब्दाद् व्यतिरिच्यतेऽर्थः, तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वात्, यत्प्रतीतावेव यत्प्रतीयते न तत्ततो व्यतिरिच्यते

१ इति च न चेतसि निधेयम् ब०, ज०। २–चनो वि–आ०, भां०। ३ 'चित्राभिरुपलक्षयेत्।' बृहदा० भा० वा० पृ० १२४६। 'भिन्नाभिरभिमन्यते' शास्त्रवा० श्लो० ५४४। अष्टसह० पृ० ९३। प्रकृतपाठस्तु तत्त्वसं० पं० पृ० ७२। प्रमेयक० पृ० १२ उ०। न्यायवि० टी० पृ० १६८ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९.। नयोप० वृ० पृ० ७६ पू०। ४ 'भेदरूपं प्रकाशते' बृहदा० भा० वा० पृ० १२४६। शास्त्रवा० श्लो० ५४५। 'तथेदममृतं ब्रह्म' 'भेदरूपं विवर्ततः' तत्त्वसं० पं० पृ० ७२। 'भेदरूपं विवर्तते' सन्मति० पृ० ३८३। 'निर्विकल्पमविद्यया' शास्त्रवा० श्लो० ५४५। अष्टसह० पृ० ९३। 'भेदरूपं तु पश्यति' स्या० रत्ना० पृ० ९१। प्रकृतपाठस्तु–प्रमेयक० पृ० १२ उ०। नयोप० वृ० पृ० ९६। ५–दिभेदशब्दप्र–ब०, ज०। ६ उद्धृतश्चैतत्–स्या० रत्ना० पृ० ९१। शास्त्रवा० टी० पृ० २३७ उ०।

यथा शब्दस्यैव स्वरूपम्, शब्दप्रतीतावेव प्रतीयते चार्थः, अतः ततो न व्यतिरिच्यत इति । ततः सिद्धः शब्दस्वभावब्रह्मसद्भावे प्रत्यक्षादिप्रमाणसद्भावः ।

शब्दाद्वैतस्य प्रतिविधानम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]–'शब्दस्वभावब्रह्मसद्भावे' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतस्तत्सद्भावः किमिन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षतः प्रतीयेत, अतीन्द्रियात्, स्वसंवेदनाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; यतः सकलदेशकालार्थाकारनिकरकरम्बितस्वभावं शब्दब्रह्म भवद्भिरभिप्रेतम् । तथाविधस्य[3] चास्य सद्भावः श्रोत्रप्रभवप्रत्यक्षात्, इतरेन्द्रियजनिताध्यक्षाद्वा प्रतीयेत् ? न तावत् श्रोत्रप्रभवप्रत्यक्षात्; तस्य शब्दस्वरूपमात्रगोचरचारितया अगोचरेण तदाकारनिकरेणान्वितत्वस्य तद्ब्रह्मणि प्रतिपत्तुमसमर्थत्वात् । यद् यद्गोचरो न तत्तेनान्वितत्वं कस्यचित् प्रतिपत्तुं समर्थम् यथा चक्षुर्ज्ञानं रसेन, अगोचरश्च तदाकारनिकरः श्रोत्रज्ञानस्येति । तदगोचरेणापि तेन तदन्वितत्वप्रतिपत्तौ अतिप्रसङ्गः, सर्वस्य सर्वेणान्वितत्वप्रतिपत्तिप्रसक्तेः । एतेन इन्द्रियान्तरजनिताऽध्यक्षादपि तत्प्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता; शब्दाऽगोचरतया तस्यापि तत्प्रतिपत्तावसमर्थत्वात् । तत्र इन्द्रियप्रत्यक्षात् प्रतिनियतरूपादिविषयव्यतिरेकेण अपरं शब्दब्रह्म प्रतीयते ।

नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षात्; तस्यैवात्राऽसंभवात् । योगिनां योगजं तत्संभवतीति चेत्; न; योगि-योग-तत्प्रभवप्रत्यक्षाणां संभवे अद्वैताऽभावप्रसङ्गात् । न तत्प्रसङ्गः योग्यवस्थायाम् आत्मज्योतीरूपस्यास्य स्वयं प्रकाशनात्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; तदवस्था-रूप-प्रकाशनत्रयसद्भावे अद्वैताऽभावस्य तदवस्थत्वात् । किञ्च, योग्यवस्थायां तस्य तद्रूपप्रकाशनेन ततः प्राक् तद्रूपं प्रकाशते, न वा ? यदि प्रकाशते; तदा[4]ऽयत्नसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्, ज्योतिःस्वभावब्रह्मप्रकाशो हि मोक्षः, स च अयोग्यवस्थायामपि एवं प्रसज्येत । अथ न प्रकाशते; तदा तत्किमस्ति, न वा ? यदि नास्ति; कथं तन्नित्यम् कादाचित्कत्वात् ? यत् कादाचित्कम् न तन्नित्यम् यथा अविद्या, कादाचित्कञ्च ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मण इति । तदनित्यत्वे च शब्दब्रह्मणोऽप्यनित्यत्वप्रसङ्गः तन्मयत्वात्तस्य, अतो द्वैतसिद्धिरप्रतिहतप्रसरा प्रसज्यते, अद्वैतविनाशे द्वैतसिद्धेरवश्यम्भावित्वात् । अथास्ति; कस्मान्न प्रकाशते–ग्राहकाभावात्, अविद्याभिभूतत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; ब्रह्मण एव तद्ग्राहकत्वात्, तस्य च नित्यतया सदा सत्त्वात् ।

---

१ पृ० १३९ पं० १९ । २ "न तत् प्रत्यक्षतः सिद्धमविभागमभासनात् । नित्यादुत्पत्त्ययोगेन कार्यलिङ्गञ्च तत्र न ॥ १४७ ॥" तत्त्वसं० । "ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन । स्वप्नादाविव मिथ्यात्वात् तस्य साकल्यतः स्वयम् ॥ ९६ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४० । प्रमेयक० पृ० ११ उ० । सन्मति० टी० पृ० ३८४ । स्या० रत्ना० पृ० ९८ । ३–विधस्यास्य आ० । ४ "यद्येवं प्रागयोगित्वावस्थायां किं तस्य रूपमिति वाच्यम् ? यदि सदैव ज्योतीरूपं तदा तर्हि न कदाचिदयोगित्वावस्थाऽस्ति सदैव आत्मज्योतीरूपत्वाद् ब्रह्मणः । ततश्च अयत्नतः सर्वेषां मोक्षप्रसङ्गः ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७४ । सन्मति० टी० पृ० ३८५ । स्या० रत्ना० पृ० ९९ ।

द्वितीयपक्षोऽप्यसुन्दरः; अविद्याया विचार्यमाणाया अनुपपद्यमानत्वात्। सा[1] हि ब्रह्मणो व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा ? यदि व्यतिरिक्ता; किमसौ वस्तु, अवस्तु वा स्यात् ? न तावदवस्तु; अर्थक्रियाकारित्वाद् ब्रह्मवत्, तत्कारित्वेऽप्यस्याः 'अवस्तु' इति नामान्तरकरणे नाममात्रमेव भिद्येत। अथ अर्थक्रियाकारित्वमप्यस्या नेष्यते तत्कथं वस्तुत्वापत्तिः ? कथमेवम् '*अविद्यया कलुषत्वमिवापन्नम्*' इत्यादिवचो घटेत ? आकाशे[2] च वितथप्रतिभासहेतुभूतं वास्तवमेव तिमिरं प्रसिद्धम्, अविद्यायाश्च अवास्तवत्वेन विचित्रप्रतिभासहेतुत्वाऽनुपपत्तितो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्याऽसंभवात् '*यथा विशुद्धमाकाशम्*' इत्याद्यपि दुर्घटमेव। न[3] चाऽनाधेयाऽप्रहेयातिशयस्य ब्रह्मणः तद्वशात् तथाप्रतिभासो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्। नाप्यवस्तुवशाद् वस्तुनोऽन्यथाभावो भवति, अतिप्रसङ्गादेव। अथ वस्तु; तन्न; अभ्युपगमक्षतिप्रसक्तेः, ब्रह्म-ऽविद्यालक्षणवस्तुद्वयप्रसिद्धितोऽद्वैताऽभावप्रसङ्गाच्च। अथाऽव्यतिरिक्ता; तर्हि ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वप्रसक्तिः, मिथ्यारूपायाः अविद्यातोऽव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवत्, इति लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात्। अविद्याया वा सत्यत्वप्रसङ्गः; सत्यस्वभावाद् ब्रह्मणोऽव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवत्, अतः कथमस्याः मिथ्याप्रतीतिहेतुत्वम् ? यत् सत्यम् न तन्मिथ्याप्रतीतिहेतुः यथा ब्रह्म, सत्या च ब्रह्मणोऽव्यतिरिक्तत्वेनाऽविद्येति। अस्तु वा यथाकथञ्चिदविचारितरमणीयस्वभावा अविद्या, तथापि न तया तत्स्वभावस्यास्य अभिभवः; दुर्बलस्य हि बलवताऽभिभवो दृष्टः यथा सवित्रा तारानिकरस्य, न चाऽविद्याया बलवत्त्वमस्ति अवस्तुत्वात् वाजिविषाणवत्। अतोऽसत्त्वादेव अयोग्यवस्थायाम् आत्मज्योतिःस्वरूपस्य शब्दब्रह्मणोऽप्रतिभासः। तत्र[4] तद्रूपस्यास्याऽसत्त्वे च योग्यवस्थायां कुतः सत्त्वं स्यात् यतोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षात् तत्प्रतीयेत ?

एतेन स्वसंवेदनादपि[5] तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता; आत्मज्योतिःस्वभावस्यास्य स्वप्नेऽपि संवेदनाऽगोचरत्वात्, तद्गोचरत्वे वा अनुपायसिद्ध एव अखिलप्राणिनां मोक्षः स्यात्, तथाविधस्य हि शब्दब्रह्मणः स्वसंवेदनं[6] यत् तदेव मोक्षो भवतामभिमतः। न च घटादिशब्दोऽर्थो

१ "सा हि शब्दब्रह्मणः सकाशाद् भिन्ना भवेदभिन्ना वा ? भिन्ना चेत् किमसौ वस्तु, अवस्तु वा स्यात् ?" स्या० रत्ना० पृ० ९९। शास्त्रवा० टी० २३७ उ०। २ "आकाशे च वितथप्रतिभासहेतुभूतं वास्तवमेवास्ति तिमिरमिति न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यम्।" प्रमेयक० पृ० १३ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९९। ३ "अथ व्यतिरिक्ताऽविद्या अङ्गीक्रियते एवमपि नित्यत्वाद् अनाधेयातिशयस्य ब्रह्मणः सा न तत् किञ्चित् करोति इति न युक्तम् अविद्यावशात् तथा प्रतिभासनम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७४। सन्मति० टी० पृ० ३८५। स्या० रत्ना० पृ० ९९। ४ तत्र चैतद्रूप-भां०। ५ स्यादेतत्-स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव तत्सिद्धं ज्ञानात्मरूपत्वात्; तथाहि-ज्योतिः तदेव शब्दात्मकत्वात् चैतन्यरूपत्वाच्च इति, तदेतत् स्वसंवेदनविरुद्धम्......" तत्त्वसं० पं० पृ० ७३। प्रमेयक० पृ० ११ उ०। सन्मति० टी० पृ० ३८४। ६ स्वयं संवेदनं ब०, ज०।

वा स्वसंविदितस्वभावः, यतस्तदन्वितत्वं स्वसंवेदनतः सिद्ध्येत्, अस्वसंविदितस्वभावतयैवास्य प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात्।

किञ्च, शब्दार्थयोः सम्बन्धे सति शब्देनान्वितत्वमर्थस्य कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयेत, असति वा ? न तावदसति; अतिप्रसङ्गात्, 'यद् येनासम्बद्धं न तत्तेनाऽन्वितम् यथा सह्येन विन्ध्यः, असम्बद्धश्च अर्थेन शब्दः' इत्यनुमानविरोधानुषङ्गाच्च। अथ सति सम्बन्धे; ननु कोऽयं तस्य तेन सम्बन्धः-संयोगः, तादात्म्यम्, विशेषणीभावः, वाच्यवाचकभावो वा ? न तावत् संयोगः; विभिन्नदेशत्वात्, ययोर्विभिन्नदेशत्वं न तयोः संयोगः यथा मलय-हिमाचलयोः, विभिन्नदेशत्वञ्च शब्दाऽर्थयोरिति। न चेदमसिद्धम्; शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशे अर्थस्य च पुरोदेशे प्रतिभासमानत्वात्, त[1]त्सम्बन्धाभ्युपगमे च अनयोर्द्रव्यान्तरत्वसिद्धिप्रसङ्गात् कथं तदद्वैतसिद्धिः स्यात् ?

तादात्म्या[2]भ्युपगमोऽप्ययुक्तः; विभिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात्, ययोर्विभिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वं न तयोस्तादात्म्यम् यथा रूप-रसयोः, विभिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वञ्च शब्दार्थयोरिति। न चेदमसिद्धम्; शब्दाकाररहितस्य घटादेः लोचनविज्ञाने प्रतिभासनात् तद्रहितस्य तु शब्दस्य श्रोत्रज्ञाने। तथाभूतयोरप्यनयोस्तादात्म्याभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात्। शब्दात्मकत्वे चार्थानां शब्दप्रतीतौ सङ्केताऽग्राहिणोऽपि अर्थे सन्देहो न स्यात् तद्वत् तस्यापि प्रतिपन्नत्वात्, अन्यथा तत्तादात्म्यानुपपत्तिः। क्षुरा[3]ऽग्नि-पाषाणादिशब्दश्रवणाच्च कर्णस्य कर्त्तन-दाहा-ऽभिघातादिप्रसङ्गः, अन्यथा तत्तादात्म्यविरोधः। यो यत्साध्यप्रयोजनं न निर्वर्तयति नासौ तेन तादाम्यमनुभवति यथा रूपेण रसः, न निर्वर्तयति च अर्थसाध्यप्रयोजनं दाहादिकं शब्द इति। तथा, नास्ति शब्दार्थयोस्तादात्म्यं विभिन्नदेश-काल-आकारत्वात्, यत् तथाविधं न तत्र तादात्म्यम् यथा घट-पटादौ, तथाविधौ च शब्दार्थाविति। न च विभिन्नदेशत्वं तत्रासिद्धम्; प्राक् प्रसाधितत्वात्। नापि विभिन्नकालत्वम्; घटाद्यर्थानां तच्छब्देभ्यः प्रागपि सत्त्वप्रतीतेः। नापि विभिन्नाकारत्वम्; तत्र तस्य सकलजनप्रसिद्धत्वात्। ननु तत्तादात्म्यासम्भवे कथमतोऽर्थप्रतीतिः ? इत्यप्यसाम्प्रतम्; तदभावेऽप्यस्याः सङ्केतसामर्थ्यादुपपद्यमानत्वात्। वृद्ध[4]परम्परातो हि शब्दानां सहजयोग्यतायुक्तानामर्थप्रतीतिप्रसाधकत्वम् काष्ठादीनां पाकप्रसाधकत्ववत्। तन्न तत्र तादात्म्यं घटते।

नापि विशेषणीभावः; सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धानां सह्यविन्ध्यादिवत् तद्भावस्यानुपपत्तेः। वाच्यवाचकभावस्तु शब्दार्थयोः भेदमेव प्रसाधयति, तमन्तरेण अनयोः तद्भावाऽनुपपत्तेः। तदेवं

१ तत्सम्बन्धार्थाभ्युपगमे वा तयोः भां०। २ "न च शब्दस्य अर्थविशेषणत्वेन प्रतीतेस्तदात्मकता; देशभेदेन शब्दार्थयोः उपलब्धेः।" सन्मति० टी० पृ० ३८६। ३ शब्दार्थयोश्च तादात्म्ये क्षुराग्निमोदकादिशब्दोच्चारणे आस्यपाटनदहनपूरणादिप्रसक्तिः।" सन्मति० टी० पृ० ३८६। शास्त्रवा० टी० पृ० २३७ पू०। "यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः-अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च। खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं॥ नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं तेण भिन्नं तु।" स्या० मं० कारि० १४। ४ शब्दपरंपरा-आ०।

शब्दार्थयोः अद्वैताविरोधिनः सम्बन्धस्य कस्यचिदपि विचार्यमाणस्याऽनुपपत्तेः न शब्देनान्वितत्वमर्थस्य घटते। प्रतीत्या च शब्दान्वितत्वं ज्ञाने परिकल्प्यते[1], सा चेदन्यत्राप्यस्ति तदपि परिकल्प्यतामविशेषात्, तथा च *'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके'* इत्याद्ययुक्तम्। प्रसाधितश्च लोचनाद्यध्यक्षे शब्दसंस्पर्शाभावेऽपि स्वार्थप्रकाशकत्वं सविकल्पकसिद्धिप्रघट्टके' इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

यदप्युक्तम्[2]–'सकलव्यवहारोऽपि' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; शाब्दव्यवहारस्यैव तदनुविद्धत्वेन अनुभवात्, न चक्षुरादिप्रभवस्य।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'सुप्तावस्थायाम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अद्वैते सुप्तेतरावस्थाया एवाऽसंभवात्, तत्संभवे अद्वैतविरोधात्। अविद्यातस्तत्र तदविरोधः; इति श्रद्धामात्रम्; अविद्याया भेदप्रतिभासहेतुत्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात्।

यदप्युक्तम्[4]–'ये यदाकारानुस्यूताः' इत्यादि; तदप्यसारम्; शब्दाकारानुस्यूतत्वस्य असिद्धेः। प्रत्यक्षेण हि नीलादिकं प्रतिपद्यमानः प्रतिपत्ता शब्दाकारानन्वितमेव प्रतिपद्यते, कल्पितत्वाच्च अस्याऽसिद्धिः। शब्दाकारान्वितरूपाधाराऽर्थाभावेऽपि हि ते तदन्वितत्वेन त्वया कल्प्यन्ते, तथाभूताच्च हेतोः कथं पारमार्थिकं ब्रह्म सिद्ध्येत्। साध्य-साधनविकलश्च दृष्टान्तः; घटादीनामपि सर्वथैकमयत्वस्य एकान्वितत्वस्य चाऽसिद्धेः। न खलु भावानां सर्वथैकरूपानुगमोऽस्ति, सर्वार्थानां समानाऽसमानपरिणामात्मकत्वात्।

यदप्यभिहितम्[5]–'न शब्दाद् व्यतिरिच्यतेऽर्थः' इत्यादि; तत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, शब्दाद् देशादिभेदेनार्थस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। 'तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वात्' इति हेतुश्चाऽसिद्धः; लोचनादिज्ञानेन शब्दाऽप्रतीतावपि अर्थस्य प्रतीयमानत्वात्। कथमन्यथा बधिरस्य चक्षुरादिप्रभवप्रत्यक्षाद् रूपाद्यर्थप्रतीतिः स्यात्? तन्न शब्दस्वभावस्य ब्रह्मणः सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणाद् घटते।

अस्तु वा; तथापि शब्द[6]परिणामत्वात् जगतः शब्दमयत्वं स्यात् मृत्परिणामत्वाद् घटस्य मृण्मयत्ववत्, शब्दादुत्पत्तेर्वा यथा अन्नमयाः प्राणा इति हेतौ मयड् विधानात्? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; परिणामस्यै[7]वात्राऽनुपपत्तेः। शब्दात्मकं हि ब्रह्म नीलादिरूपतां प्रतिपद्यमानं

---

१ परिकल्प्येत ज०। २ पृ० १४० पं० ८। ३ पृ० १४० पं० १०। ४ पृ० १४१ पं० १७। ५ पृ० १४१ पं० २०। ६ "अत्र कदाचित् शब्दपरिणामरूपत्वाद्वा जगतः शब्दमयत्वं साध्यत्वेन इष्टम्, कदाचिच्छब्दादुत्पत्तेर्वा यथा अन्नमयाः प्राणाः इति हेतौ मयड् विधानात्। अत्र न तावदाद्यः पक्षः; परिणामस्यैवानुपपत्तेः। *तथाहि–शब्दात्मकं ब्रह्म नीलादिरूपतां प्रतिपद्यमानं कदाचिन्निजं स्वाभाविकं* शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा?..." तत्त्वसं० पं० पृ० ६८। प्रमेयक० पृ० १२ उ०। सन्मति० टी० पृ० ३८०। स्या० रत्ना० पृ० १००। ७–स्यैवानुप–ब०, ज०। † पृ० ४७।

स्वाभाविकं शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा ? प्रथमपक्षे अस्याऽनादिनिधनत्वविरोधः, पौरस्त्यस्वभावविनाशात्। द्वितीयपक्षे तु नीलादिसंवेदनसमये बधिरस्यापि शब्दसंवेदनप्रसङ्गः नीलादेस्तदव्यतिरेकात्। यद् यदव्यतिरिक्तं तत् तस्मिन् संवेद्यमाने संवेद्यते यथा नीलादिसंवेदनावस्थायां तस्यैव नीलादेरात्मा, नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति। तस्याऽसंवेदने वा नीलादेरप्यसंवेदनप्रसङ्गः तादात्म्याऽविशेषात्। अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासात् तस्य ततो भेदाऽनुपङ्गः, न हि एकस्यानंशस्यैकदा एकप्रतिपत्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणञ्च युक्तम् विरोधात्। विरुद्धधर्माध्यासेऽपि अत्राऽभेदे हिमवद्विन्ध्यादीनामप्यभेदानुपङ्गः। किञ्च, शब्दात्मा परिणामं गच्छन् प्रतिपदार्थं भेदं प्रतिपद्येत, न वा ? तत्राद्यविकल्पे शब्दब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसङ्गः, विभिन्नानेकस्वभावाऽर्थात्मकत्वात् तत्स्वरूपवत्। द्वितीयविकल्पे तु सर्वेषां नीलादीनां देश-काल-स्वभाव-व्यापारा-ऽवस्थाभेदाऽभावः प्रतिभासभेदाऽभावश्चानुपज्यते, एकस्वभावात् शब्दब्रह्मणोऽभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत्। तन्न शब्दपरिणामत्वाज्जगतः शब्दमयत्वं घटते।

नापि शब्दादुत्पत्तेः; तस्य नित्यत्वेन अविकारित्वात्, अविकारिणश्च क्रमेण कार्योत्पादकत्वानुपपत्तेर्युगपदेवाऽखिलकार्याणामुत्पत्तिप्रसङ्गः। कारणवैकल्याद्धि कार्याणि विलम्बन्ते

१ "इति सम्प्रक्षते येऽपि ते वाच्याः किमिदं निजम्। शब्दरूपं परित्यज्य नीलादित्वं प्रपद्यते ॥ १२९ ॥ न वा तथेति यद्याद्यः पक्षः संश्रीयते तदा। अक्षरत्वावियोगः स्यात् पौरस्त्यात्मविनाशतः ॥ १३० ॥ अथाप्यनन्तरः पक्षः तत्र नीलादिवेदने। अश्रुतेरपि विस्पष्टं भवेत् शब्दात्मवेदनम् ॥ १३१ ॥ येन शब्दमयं सर्वं मुख्यवृत्त्या व्यवस्थितम्। शब्दरूपापरित्यागे परिणामाऽभिधानतः ॥ १३२ ॥ अगौणे चैवमेकत्वे नीलादीनां व्यवस्थितेः। तत्संवेदनवेलायां कथं नास्त्यस्य वेदनम् ॥ १३३ ॥ अस्याऽवित्तौ हि नीलादेरपि न स्यात् प्रवेदनम्। ऐकात्म्याद् भिन्नधर्मत्वे भेदोऽत्यन्तं प्रसज्यते ॥१३४॥ विरुद्धधर्मसंगो हि वस्तूनां भेदलक्षणम्। नान्यथा व्यक्तिभेदानां कल्पितोऽपि भवेदसौ ॥१३५॥" तत्त्वसं०। २ च आ०। ३ "नहि एकस्य एकदा एकप्रतिपत्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणञ्च युक्तम् एकत्वहानिप्रसङ्गात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ६९। ४ "प्रतिभावञ्च यद्येकः शब्दात्मा भिन्न इष्यते। सर्वेषामेकदेशत्वम् एकाकारा च विद् भवेत् ॥ १३६ ॥ प्रतिव्यक्ति तु भेदेऽस्य ब्रह्मानेकं प्रसज्यते। विभिन्नानेकभावात्मरूपत्वाद् व्यक्तिभेदवत् ॥ १३७ ॥" तत्त्वसं०। "स हि शब्दात्मा परिणामं गच्छन् प्रतिपदार्थं भेदं वा प्रतिपद्यते, न वा ?" तत्त्वसं० पं० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ० १२ उ०। सन्मति० टी० पृ० ३८२। स्या० रत्ना० पृ० १०१। ५ "अथापि कार्यरूपेण शब्दब्रह्ममयं जगत्। तथापि निर्विकारत्वात् ततो नैव क्रमोदयः ॥ १४० ॥...एवमपि शब्दस्य नित्यत्वेन अविकारित्वात् ततः क्रमेण कार्योदयो न प्राप्नोति सर्वेषामविकलाप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणात् युगपदेव उत्पादः स्यात्। कारणवैकल्याद्धि कार्याणि प्रविलम्बन्ते, तच्चेदविकलं तत् किमपरमपेक्षेरन् येन युगपन्न भवेयुः ?" तत्त्वसं० पं० पृ० ७१। प्रमेयक० पृ० १२ उ०। सन्मति० टी० पृ० ३८२। स्या० रत्ना० पृ० १०१।

नान्यथा; तच्चेदविकलम्, किमपरं तैरपेक्ष्यम् येन युगपन्न भवेयुः? तदेवं[1] शब्दब्रह्मणः सद्भावग्राहकप्रमाणस्य जगत्प्रपञ्चरचनानिमित्तत्वस्य चाऽसिद्धेः न तदभ्युपगमेन अबाधबोधाधिरूढस्यार्थस्यापलापो युक्तः। नापि परमब्रह्माभ्युपगमेन तस्यापि तदसिद्धेरविशेषात्।

परमब्रह्मवादिनो वेदान्तिनः पूर्वपक्षः–

ननु "सर्वं[2] खल्विदं ब्रह्म" [छान्दोग्यो०] "नेह[3] नानास्ति किञ्चन" [बृहदा०] "आरामं[4] तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन" [बृहदा०] इत्याद्युपनिषद्वाक्यात् परमब्रह्मणः सद्भावसिद्धेः चेतनाऽचेतनपरिणामेन जगत्प्रपञ्चरचनानिमित्तत्वमुपपद्यते। चेतनो हि परिणामोऽस्य कर्मात्मानः, अविप्रतिपत्त्या तत्र सर्वेषां चैतन्यान्वयप्रसिद्धेः, अचेतनस्तु पृथिव्यादिमहाभूतरूपः। न चैकत्वे ब्रह्मणः कथमयं नानारूपः परिणामः? इत्यभिधातव्यम्; सुवर्ण-क्षीरादेरेकत्वेऽपि कटक-दध्यादिविचित्रपरिणामोपलम्भात्,[5] 'तदेवेदं सुवर्णं कटकादिरूपतया परिणतम्', 'तदेवेदं क्षीरं दधीभूतम्' इति प्रतीतेः। क्षीरदध्नोस्तादात्म्ये किन्न युगपत्प्रतिभासः कटकसुवर्णवत् नीलपीताद्याकारैकवस्तुवद्वा? इत्यप्ययुक्तम्; देशचित्रस्यैवाऽर्थस्य युगपत्प्रतिभासार्हत्वात्, कालचित्रस्य तु स्वात्मभूतेनैव क्रमेणावष्टब्धत्वान्न युगपत्प्रतिभासः।

नन्वेकस्य कथं क्रमः? अनेकस्य कथम्? न हि घटपटादीन् विहाय अन्यः कश्चित्क्रमोऽस्ति। स हि तेषां स्वरूपम्, धर्मो वा स्यात्? स्वरूपञ्चेत्; किमेकैकशः, अनेकेषां वा? यदि एकैकशः; घटप्रतीतावपि क्रमप्रतीतिः स्यात्। अनेकेषां चेत्; तर्हि युगपत्प्रतिभासानामपि अनेकार्थानां क्रमप्रतीतिः स्यात्। अथ धर्मः; स किं कारणान्तराधीनः, प्रमातृ[6]कल्पनाय-

---

१ शब्दब्रह्मवादस्य विविधभङ्ग्या खण्डनं निम्नग्रन्थेषु प्रेक्षणीयम्–मीमांसाश्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० १७६। न्यायमं० पृ० ५३१। तत्त्वसं० पृ० ६७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४०। प्रमेयक० पृ० ११ उ०। सन्मति० टी० पृ० ३८०, ४९४। स्या० रत्ना० पृ० ८८। शास्त्रवा० टी० पृ० २३५ उ०। २ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ…" छान्दोग्योप० ३।१४।१। सर्वं हि खल्विदं आ०, भां०। "ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्…।" मैत्र्युप० ४।६। ३ "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥" बृहदा० ४।४।१९। "मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥" कठोप० ४।११। "साक्षाच्च 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादिभिः बहुभिः वचोभिः ब्रह्मातिरिक्तस्य प्रपञ्चस्य प्रतिषेधात् चेतनोपादानमेव जगत् भुजङ्ग इवारोपितो रज्जूपादान इति सिद्धान्तः।" ब्रह्मसू० शां० भा० भाम० १।१।५। ४ "आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन" बृहदा० ४।३।१४। अष्टसह० पृ० १६०। प्रमेयक० पृ० १७ उ०। स्या० रत्ना० पृ० १९१। स्याद्वादमं० पृ० ९९। प्रमेयरत्नमा० पृ० ७५। ५ "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि।" ब्रह्मसू० २।१।२४। "…तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते" ब्रह्मसू० शां० भा०। ६–तृसंक–ब०, ज०।

त्तौ वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः ; तदुत्पत्तौ ज्ञानव्यतिरेकेण कारणान्तरस्याऽनुपलभ्यमानत्वात् । प्रमातृकल्पनायत्तत्वे तु एकत्वेऽप्यसौ न विरोधमध्यास्ते, सर्वत्र तत्कल्पनानुसारेणैव 'क्रमेणैते प्रतिभाताः, युगपदेते प्रतिभाताः' इत्यादिव्यवहारप्रसिद्धेः । ननु चैकत्वे ब्रह्मणो देशकालचित्रता विरुद्धयते, तस्यां वा तदेकत्वमिति चेत् ; न ; चित्रपटादीनां देश-कालवैचित्र्येऽपि एकत्वोपलम्भात् । प्रतिभासभेदोऽपि एकस्य न विरोधमास्कन्दति, निश्चितैकत्वस्यापि पादपस्य दूरासन्नपुरुषापेक्षया विभिन्नप्रतिभासविषयत्वप्रतीतेः । सामर्थ्यभेदोऽपि एकत्वं न विरुणद्धि ; जलनिर्झरैकस्यापि वीची-तरङ्ग-बुद्बुद-फेनाद्यनेककार्यकरणे सामर्थ्यभेदाध्यवसायात् ।

न चैकत्वे तस्य विचित्रसृष्टिविधानम् उत्कृष्टाऽपकृष्टप्राण्युत्पादनम् नैर्घृण्यहेतुकनिरतिशयनरकादिदुःखकरणञ्चाऽनुपपन्नम् ; सापेक्षस्य कर्तृत्वात् । स हि कर्मात्मानुष्ठितधर्माधर्मसहायो विचित्रां सृष्टिमुत्पादयति, कर्मात्मानो हि विहित-निषिद्धकर्मानुष्ठातृत्वेन प्रतिप्राणि प्रसिद्धाः । यद्यपि एकब्रह्मविवर्ताः ते, तथापि अविद्यया भेदमिवापादिताः कर्मणां कर्तृत्वेन तत्फलानाञ्च भोक्तृत्वेन अवधार्यन्ते । अतस्तान् पुण्याऽपुण्योपेतान् सार्वज्ञ्यज्ञानेनाऽऽकलय्य उक्तप्रकारं सर्गमारभमाणस्यास्य न नैर्घृण्याद्युपालम्भो न्याय्यः । स्वभावादेव वा ऊर्णनाभ इवांशूनां कारणान्तरनिरपेक्षं ब्रह्म जगद्वैचित्र्यस्य कारणम् ।

१ देशचित्रता काल-भां० । २ "तथाहि-समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति एवमिहापि । न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः । न च परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति..." ब्रह्मसू० शां० भा० २।१।१३। ३ "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ।" ब्रह्मसू० २।१।३४। "...सापेक्षत्वात् ; यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हि ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत् ? धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः । अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिः इति नायमीश्वरस्यापराधः । ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः···एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसाधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येव असाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति···तथाहि दर्शयति श्रुतिः-एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते (कौ० ब्रा० ३।८।) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन (बृहदा० ३।२।१३) इति च । स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेव ईश्वरस्य अनुगृहीतृत्वं निगृहीतृत्वञ्च दर्शयति 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भगवद्गी० ४।११) इत्येवजातीयका ।" शां० भा० २।१।३४। ४-ष्टाप्रकृष्ट-ब०, ज० । ५-द्धधर्मा-भां० । ६ सर्वमार-ब०, ज० । स्वर्गमारम्भ-भां० । ७ "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥" मुण्डकोपनि० १।१।७। "स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति, तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।" बृहदा० २।१।२०। "य-

यदि चार्थानां भेदो नाऽविद्याकृतः किन्तु वास्तवः, तदा तत्र प्रमाणं वक्तव्यम्–तच्च प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षम्; व्यावृत्तिरूपे भेदेऽस्य[1] प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, परस्परव्यवच्छेदो हि भेदः 'अयम् अयं न भवति, 'अस्मादयं भिन्नः' इति। स च प्रत्यक्षस्याऽविषयः; विधिविषयत्वात्तस्य, "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः"[2] [ ] इत्यभिधानात्।

किञ्च, अर्थानां भेदः क्रमेण गृह्येत, यौगपद्येन वा ? न तावद् यौगपद्येन; तस्य प्रतियोगिग्रहणसापेक्षत्वात्, न च प्रतियोग्यग्रहणे तद्ग्रहणापेक्षो भेदो अर्थस्वरूपग्रहणमात्राद् ग्रहीतुं शक्यः, अतिप्रसङ्गात्। न च आश्रय-प्रतियोगिनोर्युगपद् ग्रहणं संभवति; प्रतियोगिप्रतिपत्तेः भेदाश्रयार्थस्वरूपप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात्, तदप्रतीतौ 'अयमस्माद् भिन्नः' इति प्रतीतेरनुपपत्तेः। नापि क्रमेण; इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्–घटप्रतिपत्तौ हि तद्व्यवच्छेदेन पटादिप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्तौ च पटादिव्यवच्छेदेन घटप्रतिपत्तिरिति। तन्न प्रत्यक्षेण भेदप्रतिपत्तिः।

नाप्यनुमानेन; अस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। सम्बन्धप्रतिपत्तिपूर्वकं हि अनुमानं प्रवर्तते, न चाऽविषये प्रत्यक्षात् सम्बन्धप्रतिपत्तिर्युक्ता। न च भेदेनाऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। न च सुख-दुःखादिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या आत्मादेर्भेदानुमानं युक्तम्; तस्या मिथ्यारूपत्वात्, अतो भेदोऽप्यपारमार्थिक एव आत्मादेः सिद्धश्चेन्न वास्तवः।

किञ्च, असौ भेदः पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात्, उभयरूपः, अनुभयरूपो वा ? यद्याद्यः पक्षः; तत्रापि किमसौ स्वतो भिद्यते, भेदान्तरेण वा ? यदि स्वतः; अर्थैः किमपराद्धम् येनैषां स्वतो भेदो नेष्यते ? अथ भेदान्तरेण; तदा अनवस्था, तस्याप्यपरभेदान्तरेण अर्थेभ्यो भेदप्रसङ्गात्। अथ अभिन्नः; तदा अर्थमात्रं भेदमात्रं वा स्यात्। नाप्युभयरूपः; उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गात्, भेदाऽभेदयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वेन एकत्रैकदा संभवाऽभावाच्च। नाप्यनुभयरूपः; विधि-प्रतिषेधयोः एकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यम्भावित्वात्।

स्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः। देव एकः स्वयमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ॥" श्वेताश्व० ६।१०। "उर्णनाभिर्यथा तन्तून्…" ब्रह्म० ३। "ऊर्णनाभीव तन्तुना…" क्षुर ९। "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्।" ब्रह्मसू० २।१।३३। "एवमीश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति।…" शां० भा० २।१।३३। "तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी चानपेक्ष्य किञ्चित् प्रस्थानसाधनं सरोऽन्तरात् सरोऽन्तरं प्रतिष्ठते, एवं चेतनमपि ब्रह्म अनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत् स्रक्ष्यति।" ब्रह्मसू० शां० भा० २।१।२५।

१ भेदेप्यस्य भां०। २ 'नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते' इत्युत्तरार्द्धांशः। प्रमेयक० पृ० १७ उ०। न्यायवि० टी० पृ० १८६ पू०। स्याद्वादमं० पृ० १००। प्रमेयरत्नमा० पृ० ७४। 'प्रत्यक्षेण विरुद्धयते' न्यायमं० पृ० ५२६। सन्मति० टी० पृ० २७३। स्या० रत्ना० पृ० १९१। "यदुच्यते केचित् (?) आहुर्विधातृ…" ब्रह्मसू० भास्करभा० पृ० ९९।

किञ्च, अखिलार्थानाम् एक एव भेदः, प्रत्यर्थं भिन्नो वा ? यद्येक एव; तर्हि तस्याऽभेदात् तेषामप्यभेद एव स्यात्। अथ प्रत्यर्थं भिन्नः; किं स्वतः, भेदान्तरेण वा ? पक्षद्वयेऽपि प्राक्प्रतिपादितमेव दोषद्वयं द्रष्टव्यम्। ततो भेदाऽऽग्रहं परित्यज्य अभिन्नमेकं परमब्रह्मलक्षणं पारमार्थिकं तत्त्वं प्रतिपत्तव्यमिति।

ब्रह्माद्वैतस्य खण्डनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]—'चेतनाऽचेतनपरिणामेन' इत्यादि; तदसमीचीनम्; अत्र परिणामवाचोयुक्तेरेवाऽसंभवात्। परिणामो हि पूर्व[2] (पूर्वधर्म) परित्यागेन धर्मान्तरस्वीकारः। ब्रह्म चेत् पूर्वं चिद्रूपं परित्यज्य[3] आकाशादिस्वरूपं स्वीकुरुते, तदा ब्रह्मरूपतैवाऽनेन परित्यक्ता स्यात्, चिदानन्दमयं[4] हि ब्रह्म उच्यते। अथ स्वरूपाऽपरित्यागेनैव आकाशादिरूपतया तत् परिणमते; तन्न; इत्थम्भूतस्य परिणामस्य क्वचिदप्यप्रतिपत्तेः। कार्यमेव हि तेन इत्थमर्थान्तरभूतमुत्पादितं स्यात्, तथा च उपादानान्तरसिद्धिः तद्व्यतिरिकेण तदनुपपत्तेः इत्यद्वैतहानिः, 'ब्रह्मोपादानकारणं जगत्' इति स्ववचनव्याघातश्च।

किञ्च, क्षीर-सुवर्णादेः परिणामिनः कालपरिवास-सुवर्णकारकरव्यापारादिसहकारिसव्यपेक्षस्य परिणामे प्रवृत्तिर्दृष्टा, ब्रह्मणश्च सहकार्यभावात् कथं तत्र प्रवृत्तिः, परिणामस्य निष्पत्तिर्वा ? तत्सद्भावे वा अद्वैतहानिः। अथ इतरपरिणामिपदार्थविलक्षणत्वात्तस्य न दोषोऽयम्, इदमेव हि तस्य माहात्म्यम्—यदन्यानपेक्षमपि तत् तथाविधं[5] परिणामं प्रतिपद्यते; तन्न; दृष्टानुसारेणैव अदृष्टार्थकल्पनोपपत्तेः। यः कस्यचित् कदाचिदपि परिणामिनः स्वभावो न दृष्टः 'सोऽस्यास्ति' इति केनावष्टम्भेन कल्प्यते ? उपादानान्तरस्याऽनुपपत्तेरिति चेत्; न; तदुपपत्तेर्निषेधाऽसंभवात्, दध्यादौ क्षीरादेरुपादानत्वप्रतीतेः। यदि च अन्यदुपादानान्तरं नास्ति तथापि ब्रह्मणो यत् प्रमाणेनाऽनुपपन्नं रूपं तत् कथं घटेत ? स्वभावतश्चास्य परिणामे प्रवृत्तौ तदनुपरतिप्रसङ्गः; सदैकरूपपरिणामश्च स्यात्।

किञ्च, सर्वाऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः प्रयोजनवत्त्वेन व्याप्ता[6]। ब्रह्मणश्च विश्वप्रपञ्चरचने किं किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, न वा ? यदि नास्ति; तदा नास्य प्रेक्षापूर्वकारिता, प्रेक्षापूर्वकारी हि न प्रयोजनमनुद्दिश्य कदाचिदपि प्रवर्तेत, अन्यत्र जडात्। द्विविधा हि प्रवृत्तिः—जडस्य, इतरस्य च। तत्र जडप्रवृत्तिः[7] नित्यं परायत्तैव, न हि यावत्स्वप्रयोजनमुद्दिश्य न चेतनेन प्रेर्यते तावज्जडः

---

१ पृ० १४७ पं० ६। २ पूर्वपरि–भां०, आ०। सर्वधर्मपरि–ब०, ज०। "अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।" न्यायभा० ३।२।१५। योगसू० व्यासभा० ३।१३। ३ परिहृत्य आ०, ब०, ज०। ४ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" बृहदा० ३।९।२८। ५–विधपरि–ब०, ज०। ६ "प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तेः प्रयोजनवत्तया व्याप्तत्वात् अतः किमर्थमयं पुरुषो जगद्रचनाव्यापारमीदृशं करोतीति वक्तव्यम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७६। ७ जडस्य प्रवृत्तिः भां०।

क्वचित्प्रवर्तते, न च ब्रह्मणो जडत्वमङ्गीक्रियते, प्रेरकस्याऽन्यस्य प्रसङ्गतः अद्वैतहानिप्रसङ्गात्। ननु चेतनस्यापि स्वापादिदशायां तदन्तरेण प्रवृत्तिर्दृश्यते; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; पूर्वाऽभ्यस्तस्वप्रयोजनप्रवृत्तिनिबन्धनत्वात् तत्प्रवृत्तेः, अन्यथा अनभ्यस्तेऽपि विषये तदा प्रवृत्तिः स्यात्। प्रयोजनवत्त्वे च ब्रह्मणः साकाङ्क्षत्वात् कृतार्थता न स्यात्। प्रयोजनं हि इष्टं साध्यमुच्यते, सर्वथा कृतार्थस्य च साध्याऽभावात् तद्विरुद्ध्यते।

किञ्च, ब्रह्म सावयवम्, निरवयवं वा ? न तावत् सावयवम्; चिद्रूपत्वात्, नहि चितोऽवयवानां सम्भवोऽस्ति, तत्संभवे वा अस्याः कार्यत्वप्रसङ्गात् नित्यत्वक्षतिः। निरवयवत्वे च सर्वात्मना प्रथममेव आकाशादिपरिणामं प्रतिपन्नस्य स्वरूपप्रच्युतितो जडत्वप्रसक्तेः लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः परिणामान्तराऽसङ्क्रमश्च स्यात्, न हि जडस्यास्य आकाशरूपतां गतस्य केनचिदप्रेरितस्य अतो व्यावृत्य परिणामान्तरे वृत्तिर्घटते, न चान्यस्तद्व्यतिरिक्तः कश्चित् प्रेरकोऽस्ति द्वैतप्रसङ्गात्। ततोऽयुक्तमिदं सृष्टिक्रमकथनम्–'ब्रह्मणः प्रथम आकाशलक्षणः परिणामः, तस्माद्वायुः, ततस्तेजः, ततो जलम्, ततः पृथिवी, ततो नानाविधौषधयः, ततो जरायुजाण्डजोद्भेदजादिभेदेन नानाविधः शरीरादिसर्गः विषयसर्गश्च'[1] इति। ब्रह्मपरिणामत्वे च आकाशादीनां कर्मात्मनाञ्चाऽभेदः, कारणस्याभिन्नत्वात्। न हि अभिन्नस्वरूपादुपादानाद् भिन्नजातीयस्योत्पत्तिर्युक्ता, वह्नेर्जल-तेजसोरुत्पत्तिप्रसङ्गात्। भोग्यभोक्तृभावश्च एतेषामनुपपन्नः; 'कर्मात्मानो भोक्तारः, भूतानि भोग्यानि' इति। न हि तस्मात्तेषामभेदे विरुद्धस्वभावद्वयसंभवः, तत्संभवे वा विरुद्धधर्माऽध्यासाद् ब्रह्मणो नैकत्वम्।

यदप्युक्तम्[2]–सुवर्ण-क्षीरादेरेकत्वेऽपि कटक-दध्यादिविचित्रपरिणामवदत्रापि सर्वं घटते; तदप्युक्तिमात्रम्; तस्य अनेकस्वभावत्वे कथञ्चिदुत्पत्ति-विनाशवत्त्वे च सति विचित्रपरिणामस्योपपत्तेः सर्वथैकस्वभावस्य अनुत्पत्ति-विनाशधर्मणश्चार्थस्यैवाऽसंभवात् खरविषाणवत्। क्रमश्च अर्थानां धर्मः पराधीनोऽनेकस्थः। स च द्वेधा–देशक्रमः, कालक्रमश्च। तत्र युगपद्भाविनां देशप्रत्यासत्तिरूपो देशक्रमः, यथा 'वृद्धा एते क्रमेणोपविष्टाः' इत्यादिप्रतीत्यारूढः। कालप्रत्यासत्तिविशिष्टार्थानां तु कालक्रमः, 'क्रमेणोत्पद्यन्ते वर्णाः' 'क्रमेणोत्पद्यन्ते श्वास-कोशादयः' इत्यादिप्रतीतिसमधिगम्यः। युगपत्प्रतिभासमानानेकार्थानां किन्न क्रमप्रतीतिरिति चेत् ? कालस्य उपाधेरभावात्। यन्निबन्धना हि या प्रतीतिः सा तदभावे न भवति यथा देशनिबन्धना क्रमप्रतीतिः देशाभावे. कालनिबन्धना चेयं प्रतीतिरिति। चित्र[3]पट-दूरासन्नपादपा-ऽम्भोनिधि-

---

१ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या औषधयः, औषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः..." तैत्ति० २।१। २ पृ० १४७ पं० १०।
३ "चित्रपटादिद्रव्यमेकस्वभावमपि चक्षुरादिकरणसामग्रीभेदात् रूपादिविलक्षणाकारं तदनुविधानात्... दूरासन्नानाम् एकत्र वस्तुन्युपनिबद्धनानादर्शनानां पुरुषाणां निर्भासभेदात् तद्विषयस्यापि वस्तुनः स्वभावभेदोऽस्तु।" अष्टसह० पृ० ११०।

प्रभृतीनामपि सर्वथैकस्वभावत्वमसिद्धम्; चित्ररूपत्वात् विशदेतरप्रतिभासविषयत्वात् सामर्थ्यभेदाच्चात्र कथञ्चिद् भेदप्रसिद्धेः।

किञ्च, ब्रह्मणश्चित्ररूपत्वं विभिन्नप्रतिभासविषयत्वं सामर्थ्यभेदश्च अवस्थानां भेदे सति स्यात्, अभेदे वा? न तावदभेदे; एकस्यामप्यवस्थायां तत्प्रसङ्गात्। भेदे चेत्; तर्हि तासामन्योन्यं भेदप्रसाधनाय इतरेतराभावादिरप्यायात इति सुष्ठु प्रसाधितमद्वैतम् तत्स्वरूपस्य विधिरूपत्वेन प्रतिषेधसाधकत्वाऽयोगात्! अस्तु वा यथाकथञ्चित्तासामन्योन्यं भेदः; तथापि अवस्थावतः ता भिन्नाः, अभिन्नाः, उभयम्, अनुभयं वा? भेदे 'तस्य अवस्थाः' इति व्यपदेशो न स्यादनुपकारात्, उपकारे वा अनवस्था। अभेदे; किमवस्थातादात्म्येन अवस्थाता स्थितः, अवस्थातृतादात्म्येन अवस्था वा? प्रथमपक्षे अवस्थातुरेकत्वानुपपत्तिः तद्वत्तस्यापि भेदप्रसङ्गात्, न हि भिन्नतादात्म्येनावस्थितं तत्स्वरूपवदभिन्नं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षे तु अवस्थातैव नाऽवस्थाः, न हि अभिन्नतादात्म्येनावस्थितं तत्स्वरूपवद् भिन्नं भवितुमर्हति तत्स्वरूपस्यापि भेदप्रसङ्गात्। उभयपक्षेऽपि उभयदोषः। अनुभयपक्षस्त्वयुक्तः; विधि-प्रतिषेधधर्मयोः एकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यम्भावित्वेन एकत्रैकदा उभयप्रतिषेधानुपपत्तेः।

यदपि–'कर्मात्मानुष्ठितकर्मसहायस्य कर्तृत्वात्' इत्याद्युक्तम्[3]; तदप्ययुक्तम्; यतः कर्मात्मनां कर्मणाञ्चोत्पादः तदायत्त एव, तद्व्यतिरेकेणाऽन्यस्याऽनभ्युपगमात्। तत्र किं प्रथमं कर्मात्मनो निर्माय कर्मभिर्योजयति, कर्माणि [4]वोत्पाद्य कर्मात्मनः सृजति? 'न तावत् प्रथमम् अनुष्ठात्रभावात् कर्माणि स्रष्टुं शक्यन्ते, कर्मसम्बन्धञ्च विना नाऽनुष्ठातारो भिन्नाः कल्पयितुं शक्यन्ते' इति इतरेतराश्रयत्वान्न कस्यचित् सृष्टिः स्यात्। 'अविद्यया भेदमिवापादिताः' इत्यादि चातीव दुर्घटम्, तस्यास्ततो व्यतिरेकाऽव्यतिरेकपक्षयोरनुपपत्तेः, तथा तदनुपपत्तिश्च शब्दाद्वैतनिराकरणप्रघट्टके[5] प्रपञ्चतः प्रतिपादिता इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

किञ्च, अज्ञानस्वभावाऽविद्या ज्ञानस्वभावं ब्रह्म च, न च ज्ञानाऽज्ञानयोः भावाऽभावयोरिव कचित्तादात्म्यं दृष्टम्। न च इत्थमनिर्वचनीयाऽविद्या इत्यभिधातव्यम्; वस्तुनो भेदाऽभेदाभ्यां विचार्यमाणत्वोपपत्तेः, न चावस्तुत्वमस्याः संगच्छते, सकलभेदप्रपञ्चं निष्पादयन्त्या यदि अवस्तुत्वमविद्यायाः तदा ब्रह्मणोऽप्यवस्तुत्वं स्यात्।

किञ्च, ब्रह्मस्वरूपाऽप्रवेदनप्रभवोऽविद्याप्रादुर्भावः, अविद्याप्रादुर्भावप्रभवं वा ब्रह्मस्वरूपाऽप्रवेदनम्? न तावदाद्यः पक्षः; नित्योदितत्वेन ब्रह्मणः स्वरूपाऽप्रवेदनाऽसंभवात्। नापि द्वितीयः; नित्योदिते तस्मिन् प्रकाशमाने मध्यन्दिनावस्थित इवाऽर्के तस्यास्तमस्तुल्यायाः प्रादु-

---

१ "योऽपि अवस्थावतोऽवस्थां पदार्थन्तरभूतां नानुमन्यते तस्यापि कथमवस्थाभेदाद् अवस्थावतो भेदो न स्यात् अवस्थानां वा कथमभेदो न भवेत् तदर्थान्तरत्वाभावात्"···आप्तपरी० पृ० २१। २ कर्मानुष्ठित– आ०। ३ पृ० १४८ पं० ९। ४ चोत्पाद्य भां०। ५ पृ० १४३ पं० १।

र्भावाभावात् । अनादित्वात्तस्या नायं दोषश्चेत् ; न ; एवमपि तमः-प्रकाशयोरिव ब्रह्मा-ऽविद्ययोः सहावस्थानाऽनुपपत्तेः । कर्मात्मनाञ्च अविद्यास्वभावत्वे कथमयं विचारात्मको विवेकः अविद्यात्मनो विद्यात्मकविचारविरोधात् ? कुतश्चास्योत्पत्तिः-अविद्यात एव, अन्यतो वा ? न तावदन्यतः ; अविद्याव्यतिरेकेण अन्यस्यानभ्युपगमात् । अथ अविद्यैव एवंविधविद्योपायः; तन्न; विरोधात्, न हि तमः तेजःप्रकाशोपायः प्रतीयते ।

यच्चान्यदुक्तम्[1]-'स्वभावादेव वा ऊर्णनाभ[2] इवांशूनां कारणान्तरनिरपेक्षं ब्रह्म जगद्वैचित्र्यकारणम्'; तदप्युक्तिमात्रम्; ऊर्णनाभस्य तन्तूत्पादने अन्तर्वहिःकारणापेक्षाप्रतीतेः तत्र तदनपेक्षत्वासिद्धेः, ततः कथं तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन ब्रह्मणस्तदनपेक्षस्य स्वभावतो जगद्वैचित्र्यहेतुत्वं[3] प्रसाधयितुं शक्यम् ? स हि प्राणिहिंसालाम्पट्यतो वंशकुड्यादिकं वहिःकारणकलापं समासाद्य अन्तर्गतं लालारूपं पुद्गलप्रचयं प्राणिभक्षणप्रयोजनमुररीकृत्य दीर्घीकुर्वन्नुपलभ्यते । ततः सहकारि-प्रयोजनानपेक्षस्य उपादानरूपस्य ब्रह्मणो जगद्वैचित्र्यमभ्युपगच्छन्नयम् उपेक्षणीय एव, दृष्टहानेः अदृष्टपरिकल्पनायाश्चाऽनुषङ्गात् ।

यदप्युक्तम्[4]-'भेदे प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणं[5] वर्तेत' इत्यादि ; तत्र प्रत्यक्षत एव भेदः प्रतीयते, अक्षव्यापारानन्तरप्रभवप्रत्यये अन्योन्यासंसृष्टस्य नीलादेः प्रतिभासनात्, परस्पराऽसङ्कीर्णताप्रतिभास एव च भेदप्रतिभासः । न च अन्योन्यव्यावृत्तिर्भेदः किन्तु पदार्थस्वरूपम्, तद्धि[6] स्वकारणपरम्परातः त्रैलोक्यविलक्षणस्वभावमेवोत्पन्नम् । तथाभूतञ्च तत् चेतनात्मकम् अहङ्कारास्पदं ग्राहकाकारमन्तः प्रतिभासते नीलादिकं तु ग्राह्याकारं वहिः । नहि तदुभयं मुक्त्वा अद्वैतं कस्यचित्स्वप्नेऽपि किञ्चित्प्रतिभासते । ननु यदि पदार्थस्वरूपमेव भेदः तर्हि प्रथमाऽक्षसन्निपाते तत्स्वरूपप्रतिपत्तौ 'अयमस्माद् भिन्नः' इति किमिति न प्रतीयते इति चेत् ? पदार्थान्तरग्रहणसापेक्षत्वाद् अभेदवत्, यथैव हि प्रथमाऽक्षसन्निपाते प्रतीतोऽपि सत्सामान्यलक्षणोऽभेदः अर्थान्तराऽप्रतीतौ 'सत् सत्' इति अनुगतात्मना नोल्लिखति, तथा भेदोऽपि । अस्तु वा अन्योन्याभावरूपो भेदः ; तथापि अस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतिः न विरुद्ध्यते, सत्स्वरूपेणेव असत्स्वरूपेणाप्यर्थानां प्रत्यक्षे प्रतिभासनात् । न खलु स्वरूपेण सत्त्वमेव अर्थानां

---

१ पृ० १४८ पं० १३ । २ "प्राणिनां भक्षणाच्चापि तस्य लाला प्रवर्तते" मी० श्लो० पृ० ६५२ । "प्रकृत्यैवांशुहेतुत्वमूर्णनाभेऽपि नेष्यते । प्राणिभक्षणलाम्पट्यात् लालाजालं करोति यत् ॥ १६८ ॥" तत्त्वसं० । "ऊर्णनाभः मर्कटकः" तत्त्वसं० पं० पृ० ७६ । प्रमेयक० पृ० १९ उ० । सन्मति० टी० पृ० ७१७ । स्या० रत्ना० पृ० १९९ । ३-त्वं साध-ब०, ज० । ४ पृ० १४९ पं० १ । ५-णं प्रवर्तते भां०, श्र० । ६ तद्धिस्वका-ब०, ज० । ७ "अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसम्पत्तेः पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति ग्रहीतं भवति नेतरथा । तथा चाह-तत्परिच्छिन्नं त्वन्यद् व्यवच्छिनत्ति इति भाववदभावमपि ग्रहीतुं प्रभवति प्रत्यक्षम्..." न्यायमं० पृ० ५२९ ।

प्रत्यक्षे प्रतिभासते न पुनः पररूपेणाऽसत्त्वम्, तदप्रतीतौ तेषामप्यप्रतीतिप्रसङ्गात् स्व[1]पररूपोपादानापोहापाद्यत्वाद् वस्तुनो वस्तुत्वस्य।

यच्चान्यदुक्तम्[2]–'क्रमेणासौ गृह्यते युगपद्वा' इत्यादि; तदप्येतेनैव प्रत्युक्तम्; उक्तन्यायेन युगपद्भेदप्रतिभाससंभवात्। प्रतियोग्यप्रतिपत्तौ कथं भेदः तत्सापेक्षः प्रतीयते ? इत्यप्यसुन्दरम्; यतो भेदव्यवहार एव परापेक्षो न तत्स्वरूपम्, तद्धि स्वकारणकलापात् प्रतियोगिग्रहणनिरपेक्षमेवोत्पन्नम्, कथमन्यथा अभेदेऽपि इतरेतराश्रयो न स्यात्–भेदापेक्षै[3] हि सामान्यसिद्धिः, तदपेक्षा च भेदसिद्धिरिति ? सङ्कोचितप्रसारिताङ्गुल्यादौ च प्राक्-प्रध्वंसाभावरूपः क्रमभावी भेदः क्रमेणैव सुस्पष्टमाभासते।

यच्चोक्तम्[4]–'अखिलार्थानाम् एक एव भेदः प्रत्यर्थं भिन्नो वा' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; एकत्वविरोधलक्षणत्वाद् भेदस्य, यत्र हि ऐक्यविरोधः तत्र भेदशब्दः प्रयुज्यते यथा 'नीलाद् भिन्नं पीतम्' इत्यादौ। 'स किं धर्मिणो भिन्नोऽभिन्नो वा' इत्यादिविकल्पसंहतिरपि अनेकान्तसमाश्रयणात् प्रत्याख्याता, न खलु धर्म-धर्मिणोः सर्वथा भेदोऽभेदो वा संभवति इत्यग्रे वक्ष्यते। कथञ्चैवंवादिनः अभेदः सिद्ध्येत् भिन्नाऽभिन्नादिविचारस्य तत्रापि कर्तुं श[5]क्यत्वात् ? तथाहि–अयमभेदः भेदेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात् ? यद्यभिन्नः; तदाऽस्य अभेदरूपताऽनुपपत्तिः भेदस्वात्मवत्तावद्वा भेदप्रसङ्गात्। अथ भिन्नः; तन्न; भेदेभ्यो भिन्नस्य अभेदस्याऽप्रतीतेः, अन्यथा विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गः, न हि घटात् पटे भिन्ने प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते।

किञ्च, असौ ततो भिन्नः प्रत्यक्षेण प्रतीयेत, अनुमानेन वा ? प्रत्यक्षेण चेत्; किं भेदस्वरूपग्राहिणा, अन्येन वा ? न तावदन्येन; तथाभूतस्यास्य असंवेद्यमानत्वात्, न हि अन्तर्बहिर्वा भेदस्वरूपाऽनवभासिप्रत्यक्षं स्वप्नेऽपि संवेद्यते नीलसुखादिभेदस्वरूपावभासिन एवास्य सदा संवेदनात्। भेदस्वरूपग्राहिणाऽपि तेन युगपत्, क्रमेण वा[6] अभेदः प्रतीयेत ? न तावद् युगपत्; द्वयप्रतीतेरभावात्, न खलु सर्वथा भिन्नौ भेदाऽभेदौ युगपत् क्वचिदपि प्रत्यक्षे प्रतिभासेते इत्यनेकान्तसिद्ध्यवसरे प्रतिपादयिष्यते। नापि क्रमेण; प्रत्यक्षस्य एकक्षणस्थायितया क्रमेणाप्यतः तत्प्रतिपत्तेरसंभवात्। तन्न प्रत्यक्षतोऽभेदप्रतिपत्तिर्घटते। नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षाऽभावे तस्याप्यनुपपद्यमानत्वात् तत्पूर्वकतया तस्य भवद्भिरभ्युपगमात्।

किञ्च, अभेदो नाम द्वितीयापेक्षः, तदग्रहे कथमसौ ग्रहीतुं शक्योऽतिप्रसङ्गात्, यो यदपेक्षो धर्मः नासौ तदग्रहे[7] ग्रहीतुं शक्यः यथा दण्डाग्रहे दण्डित्वम्, द्वितीयापेक्षश्च अभेदलक्षणो धर्म इति। यथाप्रतीति अभेदसिद्ध्यभ्युपगमे च भेदसिद्धिरपि त[8]थैवाऽभ्युपगन्तव्या

---

१ स्वरूपपररूप–श्र०। २ पृ० १४९ पं० ६। ३–पेक्षापि हि श्र०। ४ पृ० १५० पं० १। ५ सुशक्य–श्र०। ६ वा स्वरूपभेदः ब०,ज०। ७ –ग्रहेपि ग्र–श्र०। ८ तथाभ्यु–श्र०।

इति सिद्धः प्रत्यक्षतः शरीरादिभेदवद् आत्मनोऽपि भेदः। विभिन्नसुख-दुःखादिप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेश्च; न चेयं मिथ्या असन्दिग्धाऽबाध्यमानस्वरूपत्वात् आत्मप्रतीतिवत्। आत्मनोऽभेदाभ्युपगमे च एकस्मिन् सुखिते सर्वं जगत् सुखितं स्यात्, दुःखिते च दुःखितम्, बद्धे बद्धम्, मुक्ते मुक्तम्, प्रवृत्ते प्रवृत्तम्, निवृत्ते[3] च निवृत्तम्; न चैवमस्ति, अतोऽस्ति[4] आत्मनो वास्तवो भेदः। अन्यथा 'स एव सुखी दुःखी बद्धो मुक्तः प्रवृत्तोऽप्रवृत्तश्च' इति प्राप्नोति, न चैतद् युक्तम्, परस्परविरुद्धधर्माणां नित्यनिरंशैकरूपे वस्तुनि असंभवात्। न च कल्पिताकाशभेदवद् आत्मन्यपि कल्पितभेदात् सर्वमिदमुपपत्स्यते इत्यभिधातव्यम्; आकाशस्याऽबाधितप्रमाणप्रसिद्धस्वरूपस्य वास्तवप्रदेशप्रसिद्धेः 'घटाकाशम्, पटाकाशम्' इत्यादिव्यवहारो युक्तः, ब्रह्मणस्तु कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः खपुष्पवत् न कल्पितोऽपि भेदः संभवेत्।

योऽपि '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' इत्याद्यागमः तत्प्रतिपादकः प्रतिपादितः†; सोऽपि द्वैतविषयत्वाद् भेदमेव प्रसाधयति, नहि वाच्य-वाचक-प्रतिपाद्य-प्रतिपादकानां मध्ये अन्यतमस्याप्यपाये प्रमाणभूताऽऽगमसत्ता उपपद्यते।

किञ्च, सकलशरीरेषु आत्मन एकत्वे शरीरभेदेऽपि प्रतिसन्धानप्रसङ्गः, यथैव हि एकस्मिन् शरीरे प्रदेशभेदेऽपि एकत्वादात्मनः प्रतिसन्धानम्, एवं शरीरभेदेऽपि स्यात्। न च कल्पितभेदानां जीवानां भिन्नत्वात् कल्पितप्रदेशभेदवत् प्रतिसन्धानाऽभावः; यतः प्रदेशानां भेदे यद्यपि अन्योन्यं प्रतिसन्धानं नास्ति तथापि तद्वर्तिप्रदेश्यपेक्षया तदस्ति, एवं जीवानां भेदे परस्परप्रतिसँन्धानाऽभावेऽपि तदनुस्यूताऽऽत्मापेक्षया तत् स्यादिति। ततः अद्वैताद्याग्रहग्रहाभिनिवेशं परित्यज्य अबाधबोधाधिरूढो बाह्यार्थो यथाप्रतीति अभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः। अतः **सिद्धो द्रव्यपर्यायात्मार्थो विषयः**। कस्याऽसौ विषयः इत्यत्राह–**विषयिणो द्रव्य-भावेन्द्रियस्य**। अथ किं द्रव्येन्द्रियम्? इत्याह–**द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम्**। रूपरसगन्धस्पर्शवन्तो हि पुद्गलाः तदात्मकं तत्परिणामविशेषस्वभावम्।

१–मानत्वात् भां०, श्र०। २ "कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतञ्च नो भवेत्। विद्याविद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२६॥" आप्तमीमांसा। ३–त्ते नि–श्र०। ४ अतोऽस्यात्म–श्र०। ५ "...एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि।" ब्रह्मसू० शां० भा० २।१।१४। ६ प्रतिसाधनं श्र०। ७–सम्बन्धाना–श्र०। ८ ब्रह्माद्वैतवादस्य नैकविधतया पर्यालोचना निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्या–मीमांसाश्लो० सम्बन्धाक्षेपपरि० श्लो० ८२। शास्त्रदी० ११११५। न्यायमं० पृ० ५२६। तत्त्वसं० पुरुषपरी० पृ० ७५। आप्तमी०, अष्टश०, अष्टसह० पृ० १५७, द्वि० परि०। सिद्धिवि० टी० पृ० ३७० पू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९४। प्रमेयक० पृ० १७ उ०। सन्मति० टी० पृ० २८५, ७१५। न्यायवि० टी० पृ० १६८ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १९०। शास्त्रवा० श्लो० ५४३। शास्त्रवा० टी० पृ० २७६। स्याद्वादमं० पृ० ९७। प्रमेयरत्नमा० पृ० ७४। ९ "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" तत्त्वार्थसू० ५।२३। † पृ० १४७ पं० ४।

'अत्यन्तभिन्नजातीयपृथिव्याद्यारब्धत्वमिन्द्रियाणाम्' इति नैयायिकस्य पूर्वपक्षः तन्निरसनञ्च—

ननु च इन्द्रियाणामविशेषतः पुद्गलात्मकत्वमयुक्तम्; अत्यन्तभिन्नजातीयेभ्यः पृथिव्यादिभ्योऽत्यन्तभिन्नजातीयानां चक्षुरादीनामाविर्भावविभावनात्। तथा च न्यायभाष्यम्–"*पृथिव्यप्तेजोवायूनां घ्राणरसनचक्षुःस्पर्शनेन्द्रियभावात् (भावः)*" [ ] इति। अमुमेवार्थमनुमानतः समर्थयते–पार्थिवं घ्राणम् रूपादिषु सन्निहितेषु गन्धस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, यद् यत्तथाविधम् तत्तत् पार्थिवं दृष्टम् यथा नागकर्णिकाविमर्दककरतलादि, रूपादिषु सन्निहितेषु गन्धस्यैवाऽभिव्यञ्जकञ्च घ्राणम्, तस्मात् पार्थिवमिति। आप्यं रसनम् रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात् लालावत्। चक्षुस्तैजसं रूपादिषु सन्निहितेषु रूपस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्। वायव्यं स्पर्शनं रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाऽभिव्य-

१–णामशेषपुद्गलात्मत्व–ब०, ज०। २ "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।" न्यायसू० १।१।१२। "पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि भूतत्व-इन्द्रियप्रकृतित्व-बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानि।" प्रशस्तपा० पृ० २२। "तथा च न्यायभाष्यम्–पृथिव्यप्तेजोवायुभ्यो घ्राणरसनचक्षुस्पर्शनेन्द्रियभावः।" स्या० रत्ना० पृ० ३४४। "भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। तथाऽऽपस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाऽविशेषात्।" वैशेषिकसू० ८।२।५,६। "रसनचक्षुस्त्वग्-इन्द्रियाणां प्रकृतिः इति शेषः।" ३ "भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्॥" न्यायसू० ३।१।६०। "दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः, वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जिकाः, तेजो रूपव्यञ्जकम्, पार्थिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्यचिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम्, अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति…" न्यायभा०। "यज्जातीयमिन्द्रियं भवति तस्य यो गुणविशेषः इतरेतरभूतव्यवच्छेदहेतुः गन्धादिः स तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते इत्ययं नियमः।" न्यायवा० १।१।१२। ४ "पार्थिवं घ्राणं रूपरसगन्धस्पर्शेषु नियमेन गन्धस्य व्यञ्जकत्वात् बाह्यपार्थिववदिति, यथा मृगमदगन्धव्यञ्जकाः कुक्कुटोच्चारादयः पार्थिवा इत्यर्थः।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५३०। "…द्रव्यत्वे सति रूपादिमध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात् गन्धयुक्तद्रव्यवत्।" न्यायमं० पृ० ४८१। "पार्थिवत्वेऽपि रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वं प्रमाणम् कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतवत्…" प्रश० कन्द० पृ० ३५। वैशे० उप० पृ० १२८। "…यथा कस्तूरिकाद्रव्यम्" प्रश० व्योम० पृ० २३३। ५–व्यञ्जनत्वात् श्र०। ६–कर्णिकापेक्षेवि–श्र०। ७ "रसनमिन्द्रियमाप्यं गन्धादिषु मध्ये नियमेन रसस्य व्यञ्जकत्वात् दन्तान्तरस्यन्दमानोदकबिन्दुवत्…" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५३०। प्रश० व्योमव० पृ० २४६। "…मुखशोषिणां लालादिद्रव्यवत्" प्रश० कन्द० पृ० ३८। "…सक्तुरसाभिव्यञ्जकसलिलवत्" वैशे० उप० पृ० १२८। ८ "तैजसं चक्षुः रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्य व्यञ्जकत्वात् प्रदीपादिवत्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५३०। न्यायमं० पृ० ४८१। प्रश० कन्द० पृ० ४०। प्रश० व्योम० पृ० २५५। वैशे० उप० पृ० १२८। ९ "वायवीयं त्वगिन्द्रियं गन्धादिषु मध्ये स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वात् स्वेदोदबिन्दुशीतस्पर्शव्यञ्जकव्यजनपवनवत्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५३०। प्रश० व्योमव० पृ० २७१। "…अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकसमीरणवत्।" प्रश० कन्द० पृ० ४५। वैशे० उ० पृ० १२८।

ञ्जकत्वात् तोयशीतस्पर्शव्यञ्जकवाय्ववयविवत्। श्रोत्रस्य तु पुद्गलात्मकत्वम्[1] अतीवाऽनुपपन्नम्; शब्दस्य स्वसमानजातीयविशेषगुणवतैव इन्द्रियेण ग्राह्यत्वोपपत्तेः[2]; तथाहि–शब्दः स्वसमानजातीयविशेषगुणवता इन्द्रियेण गृह्यते, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, बाह्य[3]केन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सति अनात्मविशेषगुणत्वाद्वा रूपादिवदिति।

तदेतदविचारितरमणीयम्; पृथिव्यादीनामत्यन्तभिन्नजातीयत्वेन द्रव्यान्तरत्वाऽसिद्धितः प्रत्येकमिन्द्रियाणां तदारब्धत्वाऽसिद्धेः। द्रव्यान्तरत्वाऽसिद्धिश्च तेषां विषयपरिच्छेदे प्रसाधयिष्यते।

यदप्युक्तम्[4]–'पार्थिवं घ्राणम्' इत्यादि; तदप्यसमीचीनम्; हेतोर्दिनकरकिरणैः उदकसेकेन चाऽनेकान्तात्। दृश्यते हि तैलाभ्यक्तस्य आदित्यरश्मिभिर्गन्धाभिव्यक्तिः, भूमेस्तु उदकसेकेनेति। 'आप्यं रसनम्' इत्याद्यप्ययुक्तम्; हेतोर्लवणेन व्यभिचारात्, तस्याऽनाप्यत्वेऽपि रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वप्रसिद्धेः। 'चक्षुस्तैजसम्' इत्याद्यप्य[5]नुपपन्नम्; हेतोः माणिक्याद्युद्योतेनाऽनैकान्तिकत्वात्, स हि रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशको न च तैजस इति। 'वायव्यं स्पर्शनम्' इत्याद्यप्यसाम्प्रतम्; कर्पूरादिना हेतोर्व्यभिचारात्, स हि सलिलादौ रूपादिषु सन्निहितेषु शीतस्पर्शस्यैवाऽभिव्यञ्जको न च वायव्य इति। पृथिव्यप्तेजःस्पर्शाऽभिव्यञ्जकत्वाच्च स्पर्शनस्य पृथिव्यादिकार्यत्वाऽनुषङ्गः, वायुस्पर्शाऽभिव्यञ्जकत्वात् वायुकार्यत्ववत्। चक्षुषश्च तेजोरूपाभिव्यञ्जकत्वात् तेजःकार्यत्ववत् पृथिव्यप्समवायिरूपाऽभिव्यञ्जकत्वात् पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसङ्गः। रसनस्य च आप्यरसाभिव्यञ्जकत्वाद् अप्कार्यत्ववत् पृथिवीरसाभिव्यञ्जकत्वात् पृथिवीकार्यत्वप्रसङ्गः। 'शब्दः स्वसमानजातीयविशेषगुणवता' इत्याद्यपि स्वगृहप्रक्रियोपदर्शनमात्रम्; शब्दे नभोगुणत्वस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। ततो[6] नेन्द्रियाणां प्रतिनियतभूतकार्यत्वं व्यवतिष्ठते प्रमा[7]णाऽभावात्।

साङ्ख्यपरिकल्पितस्य इन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वस्य प्रत्याख्यानम्—

एतेन आ[8]हङ्कारिकत्वमपि इन्द्रियाणां साङ्ख्यपरिकल्पितं प्रत्याख्यातम्; तत्रापि प्रमाणाऽभावाऽविशेषात्, प्रमाणबाधासद्भावाच्च। तथाहि–नाहङ्कारिकाणि इन्द्रियाणि, अचेतनत्वे सति करणत्वाद् वास्यादिवत्, इन्द्रियत्वाद्वा कर्मेन्द्रियवत्। न मनसा व्यभिचारः; द्रव्यमनसोऽनाहङ्कारिकत्वाऽभ्युपगमात्। नापि भावेन्द्रियाऽनिन्द्रियैर्व्यभिचारः; 'अचेतनत्वे सति' इति विशेषणात्। नापि सुखादिभिर्व्यभिचारः; तेषां करणत्वाऽभावात्। तथा, नाह[9]ङ्कारिकाणि इन्द्रियाणि प्रतिनियतज्ञानव्यपदेशनिमित्तत्वाद् रूपादिवत्, प्रतिनियत-

१–त्मत्वम् श्र०। २–ह्यतोप–श्र०। ३ बाह्येन्द्रि–आ०, ब०, ज०, मां०। ४ पृ० १५६ पं० ५। ५–प्यनुप–श्र०। ६ सर्वमेतद् अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्डे (पृ० ६२) स्याद्वादरत्नाकरे च (पृ० ३४५) वर्त्तते। ७–माणभा–श्र०। ८ "अभिमानोऽहङ्कारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः। ऐन्द्रिय एकादशकः तन्मात्रापञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥" सांख्यका०। ९ "एकाहङ्कारप्रकृतित्वे तु एकं वा सर्वार्थं सर्वाणि वा सर्वार्थानि स्युः। विषयनियमात्तु प्रकृतिनियमोऽप्येषामनुमीयते।" न्यायकलिका पृ० ६।

विषयप्रकाशकत्वाद्वा प्रदीपवत्। यथैव हि–'रूपज्ञानम्, रसज्ञानम्' इत्यादिप्रतिनियतज्ञानव्यपदेशहेतवो रूपादयः नाहङ्कारिकाः तद्वत् 'चक्षुर्ज्ञानम् रसनज्ञानम्' इत्यादितद्व्यपदेशहेतुत्वाच्चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि। तथा, नाहङ्कारिकाणि इन्द्रियाणि पौद्गलिकाऽनुग्रहोपघाताश्रयत्वात् दर्पणादिवत्। यथैव हि दर्पणादयः पौद्गलिकैर्भस्मपाषाणादिभिः क्रियमाणाऽनुग्रहोपघाताश्रयभूता नाहङ्कारिकाः किन्तु पौद्गलिकाः तथा अञ्जनादिभिः पौद्गलिकैः क्रियमाणानुग्रहोपघाताश्रयभूतानि चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि। मनोऽपि नाहङ्कारिकम्, अनियतविषयत्वाद् आत्मवदिति। ततः प्रतिनियतेन्द्रिययोग्यपुद्गलारब्धत्वं द्रव्येन्द्रियाणां प्रतिपत्तव्यम् इति सिद्धं पुद्गलात्मकत्वं तेषामित्यलमतिप्रसङ्गेन।

भावेन्द्रियमिदानीं व्याचष्टे–लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्, अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः।

ननु च अतीन्द्रियशक्तिसद्भावे प्रमाणाभावात् कथं लब्धिरूपं भावेन्द्रियं व्यवतिष्ठेत?

'अतीन्द्रियशक्तिसद्भावे प्रमाणाऽभावात्' इति वदतो नैयायिकस्य पूर्वपक्षः—

तथाहि–अन्त्यतन्तुसंयोगानन्तरमुपजायमानः पटः अङ्गुल्यग्निसंयोगानन्तरञ्च दाहो नाधिककारणापेक्षः, तस्य तावन्मात्रान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन अन्यहेतुकत्वाऽनुपपत्तेः। न च अतीन्द्रियशक्तिमन्तरेण 'पिपासापनोदो जलात् नानलात्' 'शीतापनोदोऽनलात् न पुनर्जलात्' इति नियमाऽनुपपत्तिः, तदुपपत्तये साऽभ्युपगन्तव्या इत्यभिधातव्यम्; स्वरूप-सहकारिशक्तिप्रसादादेव तन्नियमोपपत्तेः। द्विविधा हि शक्तिः स्वरूप-सहकारिशक्ति-

१ "भौतिकत्वे तु भूतानां भेदात् नियतगुणोत्कर्षयोगित्वात् नियतविषयग्राह्येन्द्रियप्रकृतित्वं तथा च प्रदीपादितेजोरूपरसाद्यनेकविषयसन्निधानेऽपि रूपस्यैव प्रकाशि भवितुमर्हति। एवमिन्द्रियान्तरेष्वपि वक्तव्यम्। तदेष विषयनियमः प्रकृतिनियमकारित इन्द्रियाणाम् इति भौतिकानि इन्द्रियाणि..." न्यायमं० पृ० ४८०। २ एषाऽविकला चर्चा स्या० रत्नाकरे (पृ० ३४६) द्रष्टव्या। "अनेन खलु आहङ्कारिकाणि इन्द्रियाणीति यदाहुः सांख्याः तन्निराकृतम्, निराकरणहेतुमाह–ऐकात्म्य इति श्लिष्टं पदम्, सांख्यानां किल राद्धान्ते कारणात्मकं कार्यं तच्च कारणम् इन्द्रियाणाम् अहङ्कार इति ऐकात्म्यम् एककारणत्वम्, तथा च ऐकात्म्यम् एकत्वं घ्राणादीनाम् इत्यनियमः स्यात्..." न्यायवा० १।१।१२। न्यायवा० ता० टी० पृ० २२३। "पञ्चेन्द्रियाणि जीवस्य मनसोऽनिन्द्रियत्वतः। बुद्ध्यहङ्कारयोरात्मरूपयोस्तत्फलत्वतः॥ १॥" तत्त्वार्थश्लो० २।१५। ३ "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।" तत्त्वार्थसू० २। १८। ४ "लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः।" सर्वार्थसि० २।१८। तत्त्वार्थसार श्लो० ४४ पृ० १११। "इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः।" राजवा० २।१८। "स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिः।" तत्त्वार्थश्लो० २।१८। "आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः।" स्या० रत्ना० पृ० ३४४। जैनतर्कपरि० पृ० ११४ पू०। ५ व्यवतिष्ठते आ०। ६ "न तावत् मीमांसकवदतीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरभ्युपेयते किन्तु कारणानां स्वरूपं वा सहकारिसाकल्यं वा।" न्यायवा० ता० टी० पृ० १०३। "स्वरूपादुद्भवत्कार्यं सहकार्युपबृंहितात्। न हि कल्पयितुं शक्ता शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्॥" न्यायमं० पृ० ४१। "किन्तु योग्यतावच्छिन्नस्वरूपसहकारिसन्निधानमेव शक्तिः। सैवेयं द्विविधा शक्तिरुच्यते अव-

भेदात् । तत्र स्वरूपशक्तिः तन्त्वादीनां तन्तुत्वादिरूपा, चरमसहकारिरूपा तु सहकारिशक्तिः; न हि सन्तोऽपि तन्तवः अन्त्यतन्तुसंयोगं विना पटमारभन्ते । तथा च, अनलत्वाऽभिसम्बन्धाद् अनल एव शीतापनोदं विदधाति न जलं तदभावात्, जलत्वाऽभिसम्बन्धाच्च जलमेव पिपासामपनुदति नत्वनलः, तयोः प्रतिनियतसामान्याश्रयत्वेन अन्योन्यकार्योत्पादं प्रति अनङ्गत्वात् । प्रयोगः–दहनादयो निजसहकारिसन्निधिलक्षणमेव सामर्थ्यमुद्वहन्ति असति प्रतिबन्धके कार्योत्पादकत्वात्, यद् असति प्रतिबन्धके कार्यमुत्पादयति तन्निजसहकारिसन्निधिलक्षणमेव सामर्थ्यं बिभर्ति, यथा कर्म विभागेन [1]निवृत्ते पूर्वसंयोगे उत्तरसंयोगोत्पादिकां[2] निजसहकारिसन्निधिलक्षणामेव शक्तिम्, तथा च दहनादयः, तस्मात्तेऽपि तथा इति । न [3]चैवं प्रतिबन्धकमण्यादिसन्निधानेऽप्यग्नेः स्फोटादिकार्यकारित्वप्रसङ्गः निजसहकारिसन्निधिलक्षणायाः शक्तेः सद्भावात् इत्यभिधातव्यम्; तदुत्पत्तौ करतलाऽनलसंयोगवत् प्रतिबन्धकमण्याद्यभावस्यापि सहकारित्वात् । न चाऽभावस्य अवस्तुत्वात् कारणत्वाऽभावः; यतो दर्शनं नः प्रमाणम्, दृश्यते च 'नास्ति' इति ज्ञाने प्रमाण-प्रमेयाऽभावस्य कारणत्वम्, प्रत्यवाये नित्याऽकरणस्य, पतनकर्मणि संयोगाऽभावस्य च ।

किञ्च[4], असौ शक्तिः नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या; तदा सर्वदा कार्योत्पादप्रसङ्गः

स्थिता, आगन्तुका च । सत्त्वाद्यवच्छिन्नं स्वरूपमवस्थिता शक्तिः । आगन्तुका तु दण्डचक्रादिसंयोगरूपा ।" न्यायमं० पृ० ४९५ । "नहि नो दर्शने शक्तिपदार्थ एव नास्ति, कोऽसौ तर्हि ? कारणत्वम् । किं तत् ? पूर्वकालनियतजातीयत्वम्, सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वेति...अनुग्राहकत्वसाम्यात् सहकारिष्वपि शक्तिपदप्रयोगात्..." न्यायकुसु० १।१३, पृ० ६३ ।

१ "उत्क्षेपणादिकं हि कर्म विभागेन निवर्तिते पूर्वसंयोगे उत्तरसंयोगोत्पादे स्वरूपलक्षणायाः पूर्वसंयोगप्रध्वंसलक्षणसहकारिरूपायाश्च दृष्टशक्तेरतिरिक्तशक्तिभाक् न भवत्येव..." स्या० रत्ना० पृ० २८६ । निवर्त्तिते आ० । २–संयोगोत्पादकां आ० । ३ "यदपि विषदहनसन्निधाने सत्यपि मन्त्रप्रयोगात् तत्कार्याऽदर्शनं तदपि न शक्तिप्रतिबन्धनिबन्धनमपि तु सामग्र्यन्तरानुप्रवेशहेतुकम्"..."न्यायमं० पृ० ४२ । "न मन्त्रादिसन्निधौ कार्यानुत्पत्तिः अदृष्टं रूपमाक्षिपति, यथा अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अवधृतसामर्थ्यो वह्निर्दाहस्य कारणम् तथा प्रतिबन्धकमन्त्रादिप्रागभावोऽपि कारणम्...भावस्य भावरूपकारणनियतत्वदर्शनात् अभावकार्यत्वं नास्तीति चेन्न; नित्यानां कर्मणामकरणात् प्रत्यवायस्य उत्पादात्, अन्यथा नित्याकरणे प्रायश्चित्तानुष्ठानं न स्याद् वैयर्थ्यात् ।" प्रश० कन्दली पृ० १४५ । "अत्रोच्यते–भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः । प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥ १० ॥" न्यायकुसु० स्त० १, पृ० ४३ । "मण्याद्यभावविशिष्टवह्न्यादेः दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वम्, अनेनैव सामञ्जस्ये अनन्तशक्तितत्प्रागभावप्रध्वंसाभावकल्पनानौचित्यात्..." मुक्तावली का० २ । ३ "किञ्च, शक्तिरभ्युपगम्यमाना पदार्थस्वरूपवन्नित्या अभ्युपगम्येत, कार्या वा ? नित्यत्वे सर्वदा कार्योदयप्रसङ्गः, सहकार्यपेक्षायां तु स्वरूपस्यैव तदपेक्षा अस्तु किं शक्त्या ? कार्यत्वे तु शक्तेः पदार्थस्वरूपमात्रकार्यत्वं वा स्यात्, सहकार्यादिसामग्रीकार्यत्वं वा ?"...न्यायमं० पृ० ४२ ।

तस्यो[1]: सदा सत्त्वात्। ननु तन्नित्यत्वेऽपि सहकारिणां कादाचित्कत्वात् कार्ये कादाचित्कत्वं युक्तं तदपेक्षया तस्याः कार्यकारित्वप्रतिज्ञानात्; इत्यप्ययुक्तम्; शक्तिकल्पनावैयर्थ्याऽनुपङ्गात्; स्वरूपस्यैव सहकारिकारणापेक्षस्य कार्योत्पादकत्वोपपत्तेः। अनित्यत्वे तु पदार्थस्वरूपमात्रसम्पाद्या[2]ऽसौ, निजाऽऽगन्तुकलक्षणसामर्थ्योत्पाद्या[3], अतीन्द्रियशक्त्यन्तरनिष्पाद्या[4] वा ? प्रथमपक्षे पदार्थस्वरूपस्य शाश्वतिकत्वेन शश्वच्छक्तेरुत्पादप्रसङ्गात् स एव सदा सातत्येन कार्योत्पादप्रसङ्गः। निजागन्तुकसामर्थ्यसम्पाद्यत्वे तु शक्तेः कार्यमेव तत्सम्पाद्यमस्तु, अलमप्रातीतिकाऽतीन्द्रियशक्तिकल्पनया। अतीन्द्रियशक्त्यन्तरनिष्पाद्यत्वेऽपि अनवस्था, तस्याऽपि कादाचित्कतया तदन्तरनिष्पाद्यत्वप्रसङ्गात्।

तथा[5] प्रतिकार्यम् एका शक्तिः, अनेका वा ? न तावदेका; तद्भेदात् कार्यभेदाश्रयणात्। अथ अनेका; किमसौ शक्तिमतो भिन्ना, अभिन्ना वा ? भेदे अपसिद्धान्तप्रसङ्गः। अभेदे तु किं शक्तिभ्यः तद्वानभिन्नः, तद्वतो वा शक्तयः ? प्रथमविकल्पे शक्तिस्वरूपवत् शक्तिमतोऽप्यनेकत्वमतीन्द्रियत्वञ्च स्यात्। तत्तादात्म्ये तस्यापि तावद्धा भेदात् अतीन्द्रियस्वरूपस्वीकाराच्च; अन्यथा तत्तादात्म्याऽनुपपत्तिः। द्वितीयविकल्पे तु शक्तिमत्स्वरूपवत् शक्तीनामप्येकत्वानुषङ्गः, एकस्मादभिन्नानां तत्स्वरूपवद् अनेकत्वाऽनुपपत्तेः कुतः कार्यनानात्वसंभव इति ?

शक्तिमस्वीकुर्वतो नैयायिकस्य निराकरणम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[6]–'अन्त्यतन्तुसंयोगानन्तरम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताऽभिधानम्, अतीन्द्रियशक्तिमन्तरेण प्रतिनियतकार्यकारणभावाऽनुपपत्तेः। प्रतिनियतं[7] हि कारणं कार्यञ्चोपलभ्यते पटः तन्तुभ्यो न वीरणादेः[8] दाहः कृशानोः न जलादेः, सेयं व्यवस्था परिदृश्यमानपदार्थस्वरूपादनुपपद्यमाना तदतिरिक्तं तद्गतमेव धर्मान्तरत्व (रं स्व) सिद्ध्यर्थमाक्षिपति। ननु चेयं व्यवस्था तद्व्यतिरेकेणापि[9] अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां पटं प्रति तन्तूनामेव उत्पादनसामर्थ्याऽध्यवसायात् सिद्ध्यति इत्यभिदधतोऽपि स्वरूपातिरेकिणी शक्तिरेव शरणम्, तदनभ्युपगमे द्रव्यस्वरूपाऽविशेषात् सर्वस्मात् सर्वसंभवो दुर्निवारः। [10]स्वभावभेदान्न सर्वस्मात् सर्वसंभवश्चेत् तर्हि [11]स्वो भावः कार्यनियमहेतुर्विशिष्टं स्वरूपम् इत्यङ्गीकृता सकलार्थाश्रिता भेदवती विचित्रा शक्तिः।

यदप्युक्तम्[12]–'स्वरूप-सहकारिशक्तिप्रसादादेव' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; [13]स्वाश्रयजन्यकार्यनिरपेक्षतया सामान्यस्य स्थितत्वात्, [14]स्वानाश्रयभूतकारणान्तरजन्यकार्यं प्रति साधारणत्वेन [15]कार्यकारणभावप्रतिनियमव्यवस्थापकत्वाऽसंभवाच्च। अग्नित्वं हि स्फोटवद् विजातीय-

१ तस्याः सत्त्वात् आ०, ब०, ज०, भां०। २–द्या सा–श्र०। –द्योऽसौ भां०। ३–त्पाद्यः भां०। ४–द्यो वा भां०। ५ तथानेका भां०, श्र०। ६ पृ० १५८ पं० ११। ७ प्रतिविनियतम् आ०। ८–भ्यो वी–भां०, श्र०। ९–केणान्वय–भां०। १० स्वभेदान्न आ०। ११ स्वभावः भां०, श्र०। १२ पृ० १५८ पं० १६। १३ स्वम् अग्नित्वसामान्यं तस्य आश्रयोऽग्निः तज्जन्यं कार्यं स्फोटादि। १४ स्वस्य अग्नित्वस्य अनाश्रयभूतं कारणान्तरं जलादि। १५–कार्यकारणभावं प्रति–आ०।

कारणजन्यकार्येष्वपि तुल्यरूपम्। न हि स्फोटं प्रत्येव अग्नेरग्नित्वम् यथा पुत्रापेक्षं पितुः पितृत्वम्, भृत्यापेक्षं वा स्वामिनः स्वामित्वम्, अपि तु सर्वं[1] प्रत्येव अग्निः अग्निरेव। न हि कार्यान्तराणि प्रति अग्निः अनग्निर्भवति, अतो दाहवत् पिपासाद्यपनोदमपि विदध्यात्। ननु असाधारणं स्वरूपं व्यवस्थानिमित्तम्, तथाभूतञ्चेदम् अग्नित्वमग्नेः अनग्निभ्यो व्यावृत्तिनिमित्तत्वात्, दाहत्वमपि अदाहाद् दाहस्य व्यावृत्तिहेतुत्वात्, अतः कार्यकारणभावप्रतिनियमस्य दृष्टेनैव उपपत्तेर्नाऽदृष्टकल्पना उपपन्ना; तदयुक्तम्; अनग्निव्यावर्तकतया [2]तुल्यस्वरूपस्याऽभावेपि अग्नित्वस्य प्रतिनियतकार्योत्पादकत्वव्यवस्थापकत्वाऽनुपपत्तेः तस्य[3]ापि सर्वकार्याणि प्रति साधारणत्वात्, न हि कार्यान्तरेष्वपि अग्नित्वस्याग्नेः अनग्निभ्यो व्यावर्तकत्वं नास्ति येनाऽस्य[4] तज्जनकत्वं[5] न स्यात्, जलादिकारणापेक्षया हि अग्नित्वस्याऽसाधारणस्वरूपता न जलादिकार्यापेक्षयेति। एवं जलस्यापि शैत्यादिजनकत्वे[6] प्रतिनियमो न घटते; तन्नियम[7]निमित्तस्य[8] च जलत्वस्य दाहादावपि साधारणत्वात्, अतो जलमपि दहेद् अनलोऽपि पिपासामपनुदेदविशेषात्।

अथ दाहस्याऽग्निजन्यत्वे दाहत्वजातेर्व्यवस्थानिमित्तत्वात् क्षित्यादीनामदाहरूपतया अग्निजन्यत्वाऽप्राप्तिः, शैत्यादीनाञ्च जलादिजन्यत्वे तज्जातेः[9] प्रयोजकत्वात् तद्रहितत्वेन दाहस्य कथमिव जलादिजन्यत्वप्रसङ्गः? तदसमीचीनम्; दाहत्वजातेः शैत्याद्यपेक्षया [10]अतुल्यत्वेऽपि जलादिकारणान्तरापेक्षया तुल्यत्वान्न प्रतिनियतकार्य-कारणभावव्यवस्थाहेतुत्वम्। ननु यत् सामान्यं यत्र समवेतं तदेव तत्र कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुः, न चाऽग्नित्वं जलादौ समवेतं नापि दाहत्वं शीतादौ; इत्यप्यसुन्दरम्; एवमप्यग्नित्वादेः कारणत्वादिव्यवस्थापकत्वाऽयोगात्, [11]यद्धि अकारणादेर्व्यावृत्तं कारणादावनुवृत्तं तद् असाधारणत्वात् कारणत्वं व्यवस्थापयति, अग्नित्वादिकं[12] च अकारणेभ्यो न व्यावृत्तं भूतभाविषु अग्निविशेषेष्ववि (ष्वपि वि) द्यमानत्वेन अकारणेष्वपि गतत्वात्। न च असत्त्वेन भूत-भविष्यतोर्वह्निविशेषयोः वह्नित्वाश्रयत्वानुपपत्तिः; वह्नित्वावच्छेदेन 'आसीद्[13] वह्निः, भविष्यति वह्निः' इति [14]प्रत्ययद्वयाऽनुपपत्तिप्रसङ्गात्। अस्तु वा [15]सत्त्वविशेषितविशेषाश्रयत्वम्; तथापि न वह्नित्वस्य विपक्षाद् व्यावृत्तिः विवक्षितवह्निविशेषजन्यधूमं प्रति वह्निविशेषान्तरस्याऽकारणत्वात्, तज्जन्यञ्च प्रति अन्यस्याऽकारणत्वात्, अतः अकारणेऽपि[16] विपक्षे वह्नित्वस्योपलम्भान्न स्वाश्रयकारणत्वप्रयोजकत्वम्।

किञ्च, अनग्निरूपाऽर्थेभ्यो व्यावर्तमानमग्नित्वम् अग्निजन्यकार्यं प्रति [17]अनग्निरूपार्थानां कारणत्वमपाकरोतु, निखिलाऽग्निव्यक्तीनाम् अन्योन्यकार्यजननं प्रति कारणत्वसङ्करप्रसङ्गं

१ अतीन्द्रियशक्तिरूपा। २ असाधारणत्वेऽपि। तुल्यारू-श्र०। ३ अग्नित्वस्य। ४ अग्नित्वस्य। ५ कार्यान्तरजनकत्वम्। ६-त्वे सति नि-भां०। ७ कार्यकारणनियम। ८-स्य ज-आ०। ९ शैत्यादिजातेः। १० असाधारणत्वेऽपि। ११ यद्यका-श्र०। १२-कं वा अ-श्र०। १३-सीदग्निः भ-भां०, श्र०। १४ प्रत्ययानुपप-भां०। १५ सत्यविशेषित-आ०। १६-पि च विप-श्र०। १७ अग्निरूपा-भां०।

कथं परिहर्त्तुमुत्सहते, अतस्तत्परिहारे किञ्चिन्नियामकं वक्तव्यम्-तच्च सामान्यम्, विशेषः, द्वयम्, शक्तिर्वा स्यात् ? न तावत्सामान्यम्; व्यक्त्यन्तरेऽप्यनं(प्यनु)गमात्। नापि विशेषः; यतो न विशेषान्तरजन्यकार्यं प्रति विशेषो विशेषरूपतां परित्यजति। नापि द्वयम्; अत एव, अतः शक्तेरेव तन्नियामकत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्। स्वरूप-सहकारिशक्तेस्तन्नियामकत्वे च लोकप्रतीतिविरोधः, प्रतीयते हि लोके स्वरूप-सहकारिशक्तियुक्तेष्वपि बलीवर्द-मनुष्यादिषु 'अयमत्र कार्ये समर्थः, अयञ्चाऽसमर्थः अल्पसामर्थ्यो वा' इत्यादिव्यवहारः प्रतीतिश्च। तत्सिद्धं तन्निमित्तं स्वरूप-सहकारिशक्तिव्यतिरिक्तं सामर्थ्यम्, अन्यथा अयं विभागो न स्यात्, सर्वेषां समानमेव कार्यकारित्वं तदकारित्वं वा स्यात्।

किञ्च, सहकारिलाभमात्रात् पदार्थाः कार्यं कुर्वन्ति, स्वभावभेदे सति सहकारिलाभाद्वा ? प्रथमपक्षे तल्लाभे सत्यपि स्वरूपस्याऽविशिष्टत्वात् मृत्पिण्डाद् घटस्येव पटस्याप्युत्पत्तिः स्यात्, 'स्वभावभेदश्च शक्तिभेदे सत्येव स्यात्' इत्युक्तम्। किञ्च, अग्नेः स्वरूपसहकारिसन्निधिमात्रात् कार्यकारित्वाऽभ्युपगमे प्रतिबन्धकमण्यादिसन्निधानेऽपि तत्प्रसङ्गः, न हि तदाऽग्नित्वस्य करतलाऽनलसंयोगस्य वा सहकारिणो विनाशोऽन्यत्वं वाऽस्ति; तत्स्वरूपस्याऽविकलस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। ततो दृष्टरूपात् कारणादनुद्भवत् कार्यं तदतिरिक्तं किञ्चिन्निमित्तान्तरं परिकल्पयति, सा च शक्तिः।

ननु तन्मण्यादिसन्निधौ सामग्र्यभावाद् वह्नेः कार्याऽकरणत्वादकारणत्वम्, करतलाऽनलसंयोगवद् दाहोत्पत्तौ तन्मण्याद्यभावस्यापि सामग्रीत्वात्; तदसत्; यतः [7]कोऽत्र अभावः सहकारी-किं प्रतिबन्धकमण्यादेः प्रागभावः, प्रध्वंसः, अन्योन्याभावः, अत्यन्ताऽभावः, अभावमात्रं वा ? यदि प्रागभावः; तदा विद्यमानेऽप्येकस्मिन्मणौ मण्यन्तरप्रागभावाऽपेक्षया दाहोत्पत्तिः स्यात्। अथ तस्यैव प्रागभावं प्राप्य असौ दाहं विधत्ते; तर्हि [8]तत्प्रध्वंसे, सत्यपि वा अस्मिन् उत्तम्भकमणिसन्निधौ दाहोत्पत्तिर्न स्यात्। एतेन प्रध्वंसस्य सहकारित्वं प्रत्युक्तम्; तत्प्रागभावे, तत्सत्त्वेऽपि वा उत्तम्भकमण्युपनिपाते दाहाऽनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यन्योन्याभावः; प्रतिबन्धकमण्यादिसद्भावेऽप्यस्य [10]संभवात् दाहोदयानुषङ्गात्, [11]तत्प्राक्-प्रध्वंसाभावसंभवे तदनुदयप्रसङ्गाच्च। अत्यन्ताऽभावस्य च प्रतिबन्धकमण्यादावसंभवादेव सहकारित्वं प्रत्याख्यातम्। नाप्यभावमात्रं सहकारि; अभावचतुष्टयव्यतिरिक्तस्य अभावमात्रस्यैवाऽसंभवात्। ततः

---

१ कथ हि पोहितुमु-भां०। २ व्यक्तंतरेप्यनग-भां०। ३-तां त्यजति भां०, श्र०। ४ हि स्वरूपकारिशक्ति-भां०। ५-पि चावद्ध मनु-भां०। ६ चास्ति भां० श्र०। ७ "कश्चास्याभावः कार्योत्पत्तौ सहकारी स्यात्-किमितरेतराभावः, प्रागभावो वा स्यात्, प्रध्वंसो वा, अभावमात्रं वा ?" प्रमेयक० पृ० ५२ पू०। स्या० रत्ना० पृ० २८८। ८ तत्प्रतिध्वंसे आ०, भां०। ९ नान्योन्या-भां०, श्र०। १०-संभवतो दा-श्र०। ११ तत्प्रध्वंसा-श्र०।

प्रतिबन्धकमण्याद्यभावो न दाहादौ कारणम् अन्वय-व्यतिरेकशून्यत्वात्, यद् यत्रान्वय-व्यतिरेकशून्यं न तत्तत्र कारणम् यथा पटे कुम्भकारः, तथा चायम्, तस्मात्तथेति। अन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकत्वाद्वा पैङ्गल्यादिवत्।

किञ्च, यदि तन्मन्त्राद्यभावो दाहहेतुः तदैकतन्मन्त्रादिव्यक्तिसद्भावेऽपि अन्यतन्मन्त्रादिव्यक्तीनां भूतभविष्यद्वर्तमानानां तद्देशे तत्काले च अभावाः सन्तीति दाहोत्पत्तिः किन्न स्यात्? न च एकव्यक्त्यभावो नास्ति इति व्यक्त्यन्तराभावैः स्वकार्यं न कर्त्तव्यम्, न हि भावव्यक्त्यन्तराणि न सन्ति इति एका भावव्यक्तिः स्वकार्यन्न करोति इति प्रातीतिकम्। न च अनन्तानां सम्भूय कार्यकारित्वं क्वापि प्रतिपन्नम्। न चैक एवायमभावः तन्मन्त्रादिजातेरेकत्वात् इत्यभिधातव्यम्; जातेः अभावेषु भवताऽनभ्युपगमात्, अन्यथा अभावानां द्रव्य-गुण-कर्मान्यतमरूपताप्रसङ्गो जातेस्तत्रैव परिसमाप्तत्वात्।

किञ्च, मण्यादिमात्राऽभावो दाहहेतुः, प्रतिबन्धकाऽभावो वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; मण्यादिमात्राऽभावे दाहाऽदर्शनात्। न च विशिष्टमण्याद्यभावः कारणम्; तद्वैशिष्ट्यस्य कार्यैकसमधिगम्यस्य नामान्तरेण शक्तेरेवाऽभिधानात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; प्रतिबन्धकस्तम्भितविषभक्षणे पश्चात् प्रतिबन्धकनिवृत्तौ मरणप्रसङ्गात्। अत्र हि प्रतिबन्धकेन रसाभावः क्रियते; अतिशयान्तरं वा? न तावद्रसाभावः; नीरसत्वस्य विषेऽनुपलम्भात्, रसस्य तत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। नापि अतिशयान्तरम्; अदृष्टकल्पनाप्रसङ्गात्। यदि चाऽतिशयः कश्चिदतीन्द्रियः कल्प्येत तदा शक्तिकल्पने को विद्वेषः? ततो निराकृतमेतत्–'दहनादयो निजसहकारिसन्निधिलक्षणमेव सामर्थ्यमुद्वहन्ति' इत्यादि; निजसहकारिसन्निधिलक्षणसामर्थ्याद् उक्तप्रकारेण तेषां कार्यकारित्वानुपपत्तेः। तल्लक्षणसामर्थ्यात् तदुत्पत्त्यभ्युपगमे च बीजादेरप्यत एव अङ्कुरादिकार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्, स्रग्वनितादेश्च सुखाद्युत्पत्त्यनुषङ्गात् अतीन्द्रियस्येश्वरस्य अदृष्टादेश्च कल्पनाऽनुपपत्तिः।

यच्च 'प्रतिबन्धकमण्यादिसन्निधाने कार्याऽकरत्वादकारणत्वम्' इत्युक्तम्; तत्र किमिदं कार्याऽकरत्वं नाम–किं कार्यप्रतियोगित्वम्, प्रतिबद्धत्वं वा? प्रतियोगित्वे पुनस्ततो दाहोत्पत्तिर्न स्यात् जलादिवत्। नापि प्रतिबद्धत्वम्; प्रतिमण्यादिसन्निधानेऽपि कार्याऽकरत्वप्रसङ्गात्।

किञ्च, सामान्यरूपा शक्तिः प्रतिबन्धकेन प्रतिबद्ध्यते, द्रव्यस्वभावा, गुणरूपा वा? प्रतिबन्धश्चास्याः प्रध्वंसः, अभिभवो वा? तत्र न तावत् सामान्यरूपायाः शक्तेः प्रध्वंस-

१ प्रतिबन्धकमन्त्रमण्यादि। २ दाहादिद्–भां०, श्र०। ३ कल्पेत आ०। ४ एव बांकु–भां०, श्र०। ५–त्पत्तिप्रसङ्गात् भां०, श्र०। ६ यच्च तन्मण्यादि–भां०, श्र०। ७ पृ० १६२ पं० १६। ८ अत्र भां०, श्र०। ९ प्रतिबन्धकमण्यादिसन्निधानेऽपि उत्तम्भकमण्यादिसन्निधौ कार्यकरत्वाप्रसंगात् भां०, श्र०। प्रतिबन्धकमण्याद्यपेक्षया प्रतिमण्यादिः उत्तम्भकमण्यादिः मल्लप्रतिमल्लन्यायेन। १० प्रतिबन्धकश्चास्याः भां०।

लक्षणः प्रतिबन्धो घटते; नित्यत्वात्। नापि द्रव्यरूपायाः; तस्याः समवायिकारणविनाशाद् असमवायिकारणविनाशाद्वा विनाशाऽभ्युपगमात्। नापि गुणरूपायाः, तस्या विरोधिगुणप्रादुर्भावाद् आश्रयविनाशाद्वा विनाशप्रतिज्ञानात्। अभिभवलक्षणस्तु प्रतिबन्धोऽनुपपन्नः; प्रतिबन्धकमण्यादिसन्निधानेऽपि सामान्यादिस्वरूपायाः निज-सहकारिशक्तेः अनभिभूतायाः प्रतीतेः।

किञ्च, द्वे अपि शक्ती किं कारणजन्ये, उत एका जन्या अन्या नित्या? प्रथमपक्षोऽनभ्युपगमान्न युक्तः। द्वितीयपक्षे तु 'एकां शक्तिं प्रतिबन्धको हन्ति, अपरां पालयति' इति महत्तस्य वैचित्र्यम्! ततो मन्त्रौषधादिभिरचिन्त्यप्रभावैः अतीन्द्रियायाः शक्तेरेव प्रतिबन्धः प्रतिपत्तव्यः। कः पुनः शक्तेः प्रतिबन्धः इति चेत्? अभिभवः, विनाशो वा।

ननु प्राप्य शक्तिं प्रतिबन्धकः प्रतिबध्नाति, अप्राप्य वा? न तावत् प्राप्य; शक्तिमतो मणिमन्त्रादिनाऽप्राप्तौ तेनाऽस्याः प्राप्तेरयोगात्, न हि हस्तेन घटाऽप्राप्तौ तद्गतरूपादेः प्राप्तिः संभवति। अप्राप्तस्य प्रतिबन्धे च एकस्मादेव मणिमन्त्रादेः सर्वस्याः शक्तेः प्रतिबन्धः स्यात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; योग्यतालक्षणसम्बन्धवशाद् योग्याया एवाऽस्या तेन प्रतिबन्धोपपत्तेः चुम्बकवत्। न खलु चुम्बकस्य अयसः योग्यतातोऽन्यः सन्निकर्षादिः सम्बन्धोऽस्ति, नाप्ययोग्यस्य आकर्षणम्; त्रैलोक्योदरवर्तिनोऽपि अयसः तेनैकेनैव आकर्षणप्रसङ्गात्। ननु विनष्टायाः शक्तेः कुतः पुनः प्रादुर्भावः यतो दाहादिकार्योत्पत्तिःस्यादिति चेत्? शक्त्यन्तरयुक्ताद्वह्निक्षणादेव, न चाऽनवस्थानुषङ्गो दोषाय; बीजाङ्कुरादिवत् तत्कार्यकारणप्रवाहस्याऽनादित्वेष्टत्वात्। तास्चैवम्भूताः शक्तयोऽर्थानाम् अनेकरूपाः सन्ति प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वात्, कथमन्यथा कञ्चित् प्रति प्रतिबद्धोऽप्यग्निः तदैवाऽन्यस्य दाहादिकं विदध्यात्, विषं वा प्रतिबद्धमारणशक्तिकं व्याध्युपशमं कुर्यात्? न चैकस्य अनेकस्वभावत्वविरोधः; प्रमाणतः प्रतिपन्नस्य अविरोधात्सद्भावात्। शक्ति-तद्वतोः सर्वथाभेदाऽभेदपक्षोक्तमपि दूषणमनुपपन्नम्; तयोः कथञ्चिद्भेदाऽभ्युपगमात्। ततः कार्यकारणभावप्रतिनियमं प्रतिजानद्भिः प्रतिपदार्थं स्वात्मभूतमतीन्द्रियं कार्यैकसमधिगम्यं विचित्रं रूपान्तरं शक्त्यपराभिधानं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। इति सिद्धा शक्तिः पदार्थानाम्। अतो युक्ता अर्थग्रहणशक्तिः आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपा लब्धिः।

---

१ स्वरूप-सहकारिसन्निधिलक्षणे। २-यो भावानाम् भां०, श्र०। ३ किञ्चित्प्रतिबन्धोऽप्य- भां०। किं कश्चित् प्रतिब-श्र०। ४-न्द्रियकार्यै-श्र०। ५ अतीन्द्रियशक्तिप्रतिपादनपराः इमे ग्रन्था द्रष्टव्याः। "नित्यं कार्यानुमेया च शक्तिः किमनुयुज्यते। तद्भावभावितामात्रं प्रमाणं तत्र गम्यते ॥ ४४ ॥" मी० श्लो० वा० शब्दनित्य०। प्रक० पं० पृ० ८१। शास्त्रदी० सू० ११।५। प्रमेयक० पृ० ५,१। सन्मति० टी० पृ० ५८६। स्या० रत्ना० पृ० २८६। तत्त्वसङ्ग्रहकारस्तु-"तत्र शक्तातिरेकेण न शक्तिर्नाम काचन" (श्लो० १६०७) इत्यादिना पदार्थस्वरूपामेव शक्तिमभ्युपगच्छति।

उपयोगः[1] पुनः अर्थग्रहणव्यापारः। विषयान्तराऽऽसक्ते चेतसि सन्निहितस्यापि विषयस्याऽग्रहणात् तत्सिद्धिः। इदानीं 'सन्निपात' इत्यादि व्याचष्टे 'योग्यता' इत्यादिना। तयोः विषयविषयिणोः अनन्तरं[2] भूतमुत्पन्नम्, अनेन अनन्तरशब्दः[3] साक्षात् सन्निपातशब्दस्तु[4] सामर्थ्याद् व्याख्यातः। न खलु[5] तयोः योग्यदेशाद्यवस्थानलक्षणसन्निपाताऽसंभवे पूर्वमिव[6] तदनन्तरं कस्यचित् प्रादुर्भावो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्। किं तत् तदनन्तरभूतम्? इत्याह– अर्थग्रहणम्। अर्थस्य अनन्तरोक्तस्य ग्रहणम् न पुनः स्वरूपगताऽर्थाकारमात्रस्य, ज्ञानस्य अर्थाकारतया स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः। घटादेर्बहिर्देशसम्बद्धस्य अन्तर्देशसम्बद्धेन ज्ञानेन अहमहमिकया प्रतीयमानेन प्रतिप्राणि प्रतिभासप्रतीतेः। ननु यद्यर्थादुत्पन्नं तदाकारानुकारि च तन्न स्यात् कथं तर्हि नियतार्थग्राहकम्? इत्यत्राह–योग्यतालक्षणम्। योग्यतां[7] नियतार्थग्रहणसामर्थ्यम् लक्षणम् स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तमिति।

साकारज्ञानवादिनो बौद्धैकदेशी-सौत्रान्तिकस्य पूर्वपक्षः–

अत्र सौत्रान्तिकमतावलम्बी प्राह–ज्ञानम् अर्थस्य ग्राहकं भवत् किं सम्बद्धस्य ग्राहकं[8] भवेत्, असम्बद्धस्य वा? न तावदसम्बद्धस्य; अतिप्रसङ्गात्। अथ सम्बद्धस्य; किं तादात्म्येन, तदुत्पत्त्या वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; योगाचारमतप्रसङ्गात्[9]। तदुत्पत्तिरपि न समसमये संभवति; सव्येतरगोविषाणवत् समसमयवर्तिनोः कार्यकारणभावाऽभावात्, भिन्नसमये च अर्थस्य विनष्टत्वात् नाऽऽकारमन्तरेण ग्रहणं घटते। तदुक्तम्[10]–

"[11]*भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।*

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम्॥" [प्रमाणवा० ३।२४७] इति।

प्रयोगः–अर्थाकारं ज्ञानम् अर्थकार्यत्वात् उत्तरार्थक्षणवत्। तथा, यद् यस्य ग्राहकं तत्तदाकारम् यथा स्वरूपग्राहकं ज्ञानं स्वरूपाकारम्, नीलाद्यर्थस्य ग्राहकञ्च ज्ञानमिति।

किञ्च, अतीताऽनागतविषयज्ञानानां [12]केशोण्डुकादिज्ञानानाञ्च बाह्यार्थस्य ग्राह्यस्याऽभावात्

१ "तन्निमित्तः आत्मनः परिणाम उपयोगः।" सर्वार्थसि०, राजवा० २।१८। तत्त्वार्थसार पृ० १११। "उपयोगः प्रणिधानम्।" तत्त्वार्थभा० २।१९। "उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः।" स्या० रत्ना० पृ० ३४४। २ अनन्तरभूत–भां०, श्र०। ३ अन्तरश–भां०। ४–शब्दश्च सा–भां०। ५ खल्वनयोः भां०। ६ पूर्वमेव भां०। ७ "स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।" परीक्षामु० २।९। ८–हकमसम्ब–भां०, श्र०। ९–मतप्रतिप्रसवप्रसङ्गात् आ०, भां०। १० यदुक्तम् आ०। ११ उद्धृतश्चैतत्–न्यायवि० टी० पृ० १३५ उ०। प्रमेयरत्नमा० पृ० ४८। "युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्" प्रमाणवा०। १२ "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्य उत्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्ड्रकाख्यः कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुरति, अथवा करसम्मृदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था सा केशोण्ड्रकः।" शास्त्रदी० युक्तिस्नेहप्र० सि० १।१५। पृ० ९८।

कथमिव आकारमन्तरेण तद्ग्रहणम् ? यद् यदाकारं न भवति न तत् तस्य ग्राहकम् यथा शुक्लसंवेदनं नीलस्य, ग्राहकश्चार्थस्य ज्ञानमिति । निराकारत्वाभ्युपगमे[१] च ज्ञानस्य स्वरूपस्या[२]प्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, उत्पद्यमानं हि ज्ञानं 'नीलमिदम्, पीतमिदम्' इत्याद्याकारेणैव प्रतीयते, तदभावे कथमिव अस्य प्रत्यक्षता स्यात् ? निराकारत्वे च ज्ञानानामन्योन्यं भेदोऽपि सुदुर्लभः, नीलाद्याकारो हि संविदः संविदन्तराद् व्यावर्तकं रूपम्, तदभावे कुतः किं व्यावर्त्तेत ? तस्माद् यतो 'नीलस्येदं[३] विज्ञानम्, पीतस्येदम्' इत्यधिगतिर्नियतकर्म्मिका सम्पद्यते तदेवं[४] रूपमस्यां क्रियायां साधकतमत्वात् प्रमाणम्, संविदः संविदन्तराच्च भेदकम् । उक्तञ्च–

"तत्रा[५]ऽनुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः ।
भाव्यं तेनाऽऽत्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते ॥" [प्रमाणवा० ३। ३०२] इति ।

न च अर्थरूपताऽत्यये 'नीलस्येयं बुद्धिः' इति बुद्धेरर्थेन घटना घटते, तथाविधायाश्चास्याः सर्वार्थं प्रत्यविशेषात् प्रतिकर्मव्यवस्थाऽपि दुर्घटा । तथा च तत्स्वरूपं प्रतिपदार्थं निराकारतयाऽप्राप्तभेदं सद् व्यवहर्तॄणामर्थक्रियार्थिनां नियतार्थप्रतीत्यहेतुतया कथं नियतेऽर्थे प्रवृत्तेरङ्गं स्यात् ? तदुक्तम्–

"अर्थेन[६] घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥" [प्रमाणवा० ३।३०४] इति ।

न च कारणत्वाऽविशेषात् अर्थवत् चक्षुरादेरप्याकारानुकरणं ज्ञाने किन्न स्यादित्यभिधातव्यम् ? तदविशेषेऽपि अपत्येन पित्राकारानुकरणवत् नियतस्यैवाऽऽकारानुकरणोपपत्तेः । उक्तञ्च–

"यथैवा[७]ऽऽहारकालादेः समानेऽपत्यजन्मनि ।
पित्रोस्तदेकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥" [प्रमाणवा० ३।३६६] इति ।

ततो यद् यदाकारं स्वज्ञानेन आलम्ब्यते तत्तदाकारमेव प्रतिपत्तव्यम् यथा सास्नादिमदा-

---

१–त्वानभ्यु–श्र० । २–स्यास्य प्र–भां० । ३–दं ज्ञानम् भां० । "तदाकारं हि संवेदनमर्थं व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्चेति । यथा च आकारयोगिता ज्ञानस्य तथोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः ।" प्रमाणवा० अलं० पृ० २ । ४ "स्वसंवित्तिः फलं चास्य ताद्रूप्यादर्थनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥ १० ॥" प्रमाणसमु० । "किमर्थं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम् ? क्रियाकर्मव्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निबन्धनम् ॥ ४२९ ॥···सारूप्यतोऽन्यथा न भवति नीलस्य कर्मणः संवित्तिः पीतस्य वेति क्रियाकर्मप्रतिनियमार्थमिष्यते···" प्रमाणवा० अलं० पृ०११९ । "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ।" न्यायवि० ११९ । "···प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥१३४४॥" तत्त्वसं० । ५ उद्धृतञ्चैवत्–न्यायमं० पृ० ५३८ । मीमांसाश्लो० वा० टी० शून्यवाद श्लो० २० । ६ "अर्थेन घटयत्येनां··· अन्यत्स्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥३०५॥ तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।" प्रमाणवा० । "तदुक्तम्–अर्थेन घटयेदेनां···"सिद्धिवि० टी० पृ० ११९ । सन्मति० टी० पृ० ५१० । प्रमेयक० पृ० २८ पू० । न्यायवि० टी० पृ० १२६ उ० । प्रमाणमी० पृ० ३३ । स्याद्वादमं० पृ० १३६ । ७ 'तदेकस्याकारं' प्रमाणवा० ।

कारः स्वज्ञानेनाऽऽलम्ब्यमानो गौः सास्नादिमान्, अर्थाकारश्चाऽर्थज्ञानं स्वज्ञानेनाऽऽलम्ब्यते इति सिद्धा साकारता ज्ञानस्येति।

साकारवादप्रतिक्षेपपुरस्सरं ज्ञानस्य निराकारत्व-व्यवस्थापनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[2]–'ज्ञानमर्थस्य सम्बद्धस्य असम्बद्धस्य वा ग्राहकम्' इत्यादि; तत्र सम्बद्धस्यैव तद् ग्राहकम्, सम्बन्धश्च[3] ज्ञानार्थयो[4] योग्यतालक्षणो न पुनः तदुत्पत्तिलक्षणः अर्थाज्ज्ञानोत्पत्तेर्निषेत्स्यमानत्वात्। तथा च 'अर्थाकारं ज्ञानम् अर्थकार्यत्वात्' इत्यत्र असिद्धो हेतुः। तल्लक्षणसम्बन्धश्च[5] (न्धाच्च) ज्ञानमर्थस्य समकालस्य भिन्नकालस्य वा ग्राहकं न[6] विरुद्ध्यते, अतः '*भिन्नकालं कथं ग्राह्यम्*' इत्याद्ययुक्तम्। किञ्च, स्वागमा (गम) प्रसिद्धं ज्ञानमाश्रित्य साकारता प्रसाध्यते, अनुभवप्रसिद्धं वा? तत्राद्यविकल्पे स्वागमप्रसिद्धस्याऽविकल्पकज्ञानस्य आकाशकुशेशयप्रख्यत्वात् न तत्साकारेतरचिन्तयाऽस्माकं किञ्चित् प्रयोजनम्। यदेव हि प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकारणं प्रमाणभूतम् आबालमनुभवप्रसिद्धं सविकल्पकं[7] ज्ञानं तदेव निराकारतया प्रसाधयितुमुपक्रान्तम्। न खलु 'स्वाकारो ज्ञानानां विषयः' इति प्रतियन्ति लौकिकाः, अनात्मभूतार्थोन्मुखतया तैस्तेषामर्थपरिच्छेदकत्वप्रतिज्ञानात्। न च लोकव्यवहारातिक्रमेण अर्थव्यवस्था युक्ता; "*प्रामाण्यं व्यवहारेण*" [प्रमाणवा० २।५] इत्यादिविरोधाऽनुषङ्गात्। प्रत्यक्षादिविरोधप्रसङ्गाच्च; तथाहि–प्रत्यक्षेण तावत् विषयाकाररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते, न पुनर्दर्पणादिवत् प्रतिबिम्बाक्रान्तम्। अनुमानेन च; तथाहि–यद् येन स्वात्मनोऽर्थान्तरभूतं वेद्यते तत्तेन अतदाकारेण यथा स्तम्भादेर्जाड्यम्, वेद्यते च स्वात्मनोऽर्थान्तरभूतं ज्ञानेन नीलादिकमिति। नचाऽयमसिद्धो हेतुः; नीलादेर्ज्ञानाद् भेदप्रसाधनात्।

का चेयं ज्ञानस्य साकारता नाम–स्वसंविद्रूपता, वैशद्यादिस्वभावः, अर्थाकारोल्लेखः[8], अर्थाकारधारित्वं वा? तत्र आद्यविकल्पत्रये सिद्धसाध्यता; ज्ञाने तत्त्रयस्यापि सद्भावात्, तदन्यतमापाये ज्ञानस्य ज्ञानरूपत्वस्यैवाऽनुपपत्तेः वैशद्यादिरूपतया स्वपरव्यवसायस्वभावत्वात्तस्य। अर्थाकारधारित्वं तु ज्ञानस्याऽनुपपन्नम्; प्रमाणविरोधात्। तथाहि–नीलाद्याकारो ज्ञाने न सङ्क्रामति[9] जडस्यैव धर्मत्वात्, यो[10] जडस्यैव धर्मः स ज्ञाने न सङ्क्रामति यथा जडता,

१–नावल–श्र०। २ पृ० १६५ पं० ११। ३ "सम्बन्धो हि योग्यतास्वभाव एव ज्ञानार्थयोः ग्राह्यग्राहकभावाङ्गम् न तु तादात्म्यादिः।" स्या० रत्ना० पृ० १६३। ४–नार्थयोग्य–भां०, आ०। ५ लक्षणसम्बन्ध–भां०। ६ न रुद्ध्यते भां०, श्र०। ७–कल्पकज्ञानं भां०। ८ "किमिदमर्थाकारत्वं वेदनानां यद्वशात् प्रतिनियतार्थपरिच्छेदः स्यात् किम् अर्थाकारोल्लेखित्वम्, अर्थाकार धारित्वं वा?" रत्नाकराव० ४।४७। स्याद्वादमं० पृ० १३१। ९–ति अर्थस्यैव भां०। १० यो अर्थस्यैव भां०।

जडस्यैव[1] धर्मश्च नीलाद्याकार इति। न च सत्त्वादिना व्यभिचारः; तस्य जडस्यैव धर्मत्वाऽसंभवात् अजड[2]सुखादावप्यस्य संभवात्।

किञ्च, अर्थेन सह ज्ञानस्य सर्वात्मना सारूप्यम्, एकदेशेन वा? सर्वात्मना सारूप्ये[3] जडत्वादर्थस्य ज्ञानमपि जडमेव स्यात्। यस्य सर्वात्मना अर्थेन[4] सारूप्यं तज्जडम् यथा उत्तरोऽर्थक्षणः, सर्वात्मना सारूप्यञ्च अर्थेन ज्ञानस्येति। प्रमाणरूपताविरोधानुषङ्गश्च तद्वदेवास्य स्यात् प्रमेयरूपताऽनुकरणात्, न चैतद् युक्तम्; प्रमाणप्रमेययोर्बहिरन्तर्मुखाऽऽकारतया भेदेन प्रतिभासमानत्वात्। अथ एतद्दोषपरिजिहीर्षया एकदेशेन सारूप्यमिष्यते; तर्हि तेनाऽजडाकारेण जडताप्रतिपत्तेरभावात् कुतः तद्विशिष्टताऽर्थस्य प्रतीयते? यद् येन यत्र न प्रतीयते न तेन तत्र तद्विशिष्टता प्रत्येतुं शक्या यथा रूपज्ञानेन अप्रतिपन्नेन रसेन विशिष्टता मातुलिङ्गादौ, न प्रतीयते च अजडाकारेण नीलादिज्ञानेन अर्थ[5]जडतेति। जडताऽप्रतीतौ च कथं नीलताऽपि प्रतीयेत? अन्यथा[6]ऽनयोर्भेदः स्यात्। यस्मिन् अप्रतीतेऽपि यत् प्रतीयते तत्त[7]तः अन्यद् यथा घटेऽप्रतीयमानेऽपि प्रतीयमानः पटः, अप्रतीयमानायामपि जडतायां प्रतीयते च नीलतेति। सुगतेन चास्याः प्रतीत्यभावे कथं सत्त्वम्? सत्त्वे वा कथं तस्य अशेषज्ञता?

पर[8]रागादिवेदने च अस्य यदि तदाकारता स्यात् तर्हि परकीयसकलकल्पनाजालाऽनुकरणात् कथं वीतरागता विधूतकल्पनाजालता च[9] स्यात्? अथ तदाकारानुकरणेऽपि 'मदीया एते रागादयः' इति बुद्धेरभावान्नाऽयं दोषः; कथं तर्हि परस्य ते? तद्बुद्धिसद्भावादिति चेत्; ननु तेन तद्बुद्ध्याकाराऽनुकरणे अयमेव दोषोऽनुषज्यते। अथ एतद्दोषाद् बिभ्यता 'अतदाकारेण ज्ञानेन जडतादिकं प्रतीयते' इत्यभ्युपगम्यते; तर्हि नीलाद्याकारोऽपि अतदाकारेणैव ज्ञानेन प्रतीयताम् अलमाकाराऽऽग्रहग्रहाऽभिनिवेशेन। अथ नीलतां तत् तदाकारतया प्रतिपद्यते जडतां त्वतदाकारतया[10]; तदिदम् [11]अर्धजरतीयन्यायाऽनुसरणम्।

---

१ जडत्वस्यैव श्र०। २ अजडे सु-श्र०। ३ "सर्वात्मना हि सारूप्ये ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत्। साम्ये केनचिदंशेन स्यात्सर्वं सर्ववेदनम्॥" प्रमाणवा० ३।४३५। तत्त्वसं० श्लो० २०३९। सन्मति० टी० पृ० ४६४। "सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम्। अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थदृग्॥२७॥" न्यायवि० पृ० १२९ उ०। ४ "अर्थेन सर्वात्मना तत्र स्वाकाराधाने ज्ञानस्य जडताप्रसक्तेः उत्तरार्थक्षणवत्। एकदेशेन तदाधायकत्वे सांशताप्रसक्तेः।" शास्त्रवा० टी० पृ० १५९ पू०। ५ अर्थे जड-श्र०। ६-था तयोः श्र०। ७ तत्ततोऽन्यथा आ०। ८ "अन्यरागादिसंवित्तौ तत्सारूप्यसमुद्भवात्। प्राप्नोत्यावृत्तिसद्भावः औपलम्भिकदर्शने॥ २०४८॥" तत्त्वसं०। ९ च न स्यात् श्र०। १०-तया प्रतिपद्यते तदिदम् भां०, श्र०। ११ "तद्यथा-अर्धं जरत्याः कामयन्ते अर्धं नेति।" पातं० महाभा० ४।१।७८। "मुखं न कामयन्ते अङ्गान्तरं तु कामयन्ते जरत्याः।" महाभा० प्रदीप। "अर्धं मुखमात्रं जरत्याः वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीन्यायः।" ब्रह्मसू० शां० भा० रत्नप्रभा १।२।८। "नहि कुक्कुट्यादेरेकदेशो भोगाय पच्यते एकदेशस्तु प्रसवाय कल्प्यते..." ब्रह्मसू० शां० भा० आनन्दगि० १।२।८। अस्य न्यायस्य विशेषस्वरूपं विविधस्थलनिर्देशपुरस्सरं लौकिकन्यायाञ्जल्यां (पृ० ७) द्रष्टव्यम्।

किञ्च, एकदेशेन सारूप्यात् नीलार्थवद् अशेषार्थानामपि ग्रहणप्रसङ्गः[1] सत्त्वादिमात्रेणास्य सर्वत्र सारूप्याऽविशेषात्। अथ तदविशेषेऽपि नीलाद्याकारवैलक्षण्यात्तेषामग्रहणम्; तर्हि समानाकाराणामशेषाणां ग्रहणाऽनुषङ्गः। अथ यत एव उत्पद्यते तस्यैव आकारानुकरणे ग्राहकम् न सारूप्यमात्रेण; एवमपि समनन्तरप्रत्ययस्य तद् ग्राहकं स्यात्[2]। तदुत्पत्ति-सारूप्याभ्याञ्च प्रामाण्यव्यवस्थायां पितरि पुत्रस्य प्रामाण्यप्रसङ्गः।

किञ्च, परमाणवः प्रत्येकं परमाण्वात्मना आत्मीयमाकारं ज्ञाने समर्पयन्ति, सङ्घातात्मना वा? तत्र प्रथमः[3] पक्षोऽनुपपन्नः; परमाणूनां स्वरूपेणाऽप्रतिभासनात्, तद्विपरीतस्य अनेकावयवात्मनोऽवयविनः स्थिर-स्थूलस्य प्रतिभासनात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; तेषां समुदितानामपि स्वरूपाऽपरित्यागतः[4] तथाभूताऽवयविस्वरूपेण प्रतिभासाऽनुपपत्तेः। न खलु समुदितास्ते अणुत्वा-ऽनेकत्वे परित्यजन्ति परमतप्रवेशाऽनुषङ्गात्। न चाऽन्यथाभूतानां तेषाम् अन्यथा विज्ञानजनकत्वं[5] युक्तम्; प्रमाणविरोधात्। तथाहि–परमाणवो न स्थूलाद्याकारेण ज्ञानं स्वरूपयन्ति, तद्रूपरहितत्वात्, यद् यद्रूपरहितं न तत् तेनाऽऽत्मना ज्ञानं स्वरूपयति यथा नीलं पीतात्मना, स्थूलाद्याकाररहिताश्च परमाणव इति। तत्सदृशत्वे[6] च ज्ञानस्य अणुवत् तदपि मूर्त्तम्, सूक्ष्मत्वादप्रत्यक्षञ्च स्यात्। अथ समुदितानां तेषामपि प्रत्यक्षता इष्यते; तर्हि समुदितपरमाणुवत् ज्ञानस्यापि त्रिचतुरस्र-दीर्घ-ह्रस्व-परिमण्डल-सम-विषमादिरूपप्रसङ्गः, जलधारणाऽऽहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वं बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षता च स्यात्।

किञ्च, आकारो ज्ञानादभिन्नः, भिन्नो वा? भेदे ज्ञानं निराकारमेव स्यात्। अभेदे तयोः अन्यतरदेव स्यात्। कथञ्चिद्भेदे तु मतान्तराऽनुषङ्गः। स्वतोऽभिन्नस्य च आकारस्य[7] ज्ञानग्राह्यत्वे अर्थे दूराऽतीतादिव्यवहारो[8] न स्यात्। यत् स्वतोऽभिन्नं गृह्यते न तत्र दूरादिव्यवहारः यथा स्वरूपे, स्वतोऽभिन्नं गृह्यते च पर्वतप्रासादादिकमिति। अस्ति च अर्थे दूरादिव्यवहारः 'दूरे पर्वतः, निकटे प्रासादः, अतीतो राजा' इत्यादिव्यवहारस्याऽस्खलद्रूपस्य प्रतीतेः। न च आकाराधायकस्य दूराऽतीतत्वात् तथा व्यवहारः इत्यभिधातव्यम्; जाग्रच्चेतसो दूराऽतीतत्वेन प्रबोधचेतसि तथा व्यवहारप्रसङ्गात्[9]। अथ भ्रान्तोऽयं व्यवहारः अत्यन्तनिकटेऽपि ज्ञानाकारे अन्यथात्वेन व्यवहारात्; ननु 'ज्ञानाकारे' इति कुतः? [10]अस्य भ्रान्तत्वाच्चेत्; अन्योन्या-

---

१ ग्रहणम् भां०। २ "तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम्। संवेद्यं स्यात् समानार्थविज्ञानं समनन्तरम्॥" प्रमाणवा० ३।३२३॥ ३–थमप–श्र०। ४–त्यागः तथा–भां०। ५ विज्ञानस्वरूपकत्वं आ०। ६ तत्सदृशत्वं ज्ञानस्य आ०। ७ आकारमात्रस्य भां०। ८ "दूरासन्नादिभेदेन व्यक्ताव्यक्तं न युज्यते। तत्स्यादालोकभेदाच्चेत्तत्तिरोधानाऽपिधानयोः॥ तुल्यादृष्टिरदृष्टिर्वा सूक्ष्मोंऽशस्तस्य कश्चन। आलोकेन न मन्देन दृश्यतेऽतो भिदा यदि॥" प्रमाणवा० ३।४०८-९। "विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्य अर्थे दूरनिकटादिव्यवहाराभावप्रसङ्गः।" प्रमेयक० पृ० २७ पू०। ९–प्रसङ्गः स्यात् श्र–भां०। १० अन्यस्य भां०, श्र०।

श्रयः-अस्य भ्रान्तत्वसिद्धौ हि 'ज्ञानाकारे' इत्यस्य सिद्धिः, तत्सिद्धौ चाऽस्य भ्रान्तत्वसिद्धि-[1]रिति। अनुमानञ्च शब्दादेरनित्यत्वादिकमधिगच्छद् यदि तदाकारं तर्हि धर्मरूपतैव अस्य स्यात् नानुमानरूपता। अथ अतदाकारम्; कथमनेन तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तौ वा किमन्यत्रापि साकारताप्रसाधनप्रयासेन?

किञ्च, अर्थेन सादृश्यमात्मनः तदेव ज्ञानं प्रतिपद्यते, ज्ञानान्तरं वा? यदि ज्ञानान्तरम्[2]; तत्किम् ज्ञानाऽर्थौ प्रतिपद्य तयोः सादृश्यं प्रतिपद्येत, अप्रतिपद्य वा? न तावदप्रतिपद्य; सादृश्यप्रतिपत्तेः तद्वत्प्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्[3], न हि यमलकयोरप्रतिपन्नयोः सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्। अथ प्रतिपद्य; कुतस्तत्प्रतिपत्तिः-किमेकस्मादेवाऽतो ज्ञानान्तरात्, द्वाभ्यां वा? तत्र प्रथमपक्षोऽसाम्प्रतः; तयोर्भिन्नकालतया एकत्र ज्ञाने प्रतिभासाऽनुपपत्तेः। यौ भिन्नकालौ न तयोरेकत्र ज्ञाने प्रतिभासः यथा उदयाऽस्तमनयोः, भिन्नकालौ च ज्ञानाऽर्थाविति। न चाऽनयोः भिन्नकालत्वमसिद्धम्; ज्ञानाऽर्थयोः कार्यकारणभावतः समसमयवृत्तित्वस्य भवताऽनभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षोऽप्यसङ्गतः; द्वयोरपि ज्ञानान्तरयोरत्यन्तविलक्षणत्वेन[4] तत्सादृश्यप्रतिपत्त्यहेतुत्वात्। ये अत्यन्तविलक्षणे ज्ञाने न ते कस्यचित् सादृश्यं प्रतिपत्तुं समर्थे यथा देवदत्त-यज्ञदत्तज्ञाने, अत्यन्तविलक्षणे च ज्ञानाऽर्थविषये ज्ञानान्तरे[5] इति। न चेदमसिद्धम्; ज्ञानादुत्पन्नस्य ज्ञानाकारस्य ज्ञानस्य अर्थोत्पन्नाऽर्थाकारज्ञानादत्यन्तवैलक्षण्यस्य भिन्न[6]सामग्रीप्रभवतया भिन्नविषयतया च प्रसिद्धत्वात्। ययोर्भिन्नसामग्रीप्रभवता भिन्नविषयता च तयोरत्यन्तवैलक्षण्यम् यथा रूपस्पर्श[7]ज्ञानयोः, भिन्नसामग्रीप्रभवता भिन्नविषयता च ज्ञाना-ऽर्थज्ञानयोरिति। अस्तु वा ताभ्यां तत्सादृश्यप्रतिपत्तिः; तथापि अनयोरपि अर्थ-ज्ञानाभ्यां सादृश्यम् अन्यतः प्रतिपत्तव्यम्, तस्यापि अर्थज्ञानज्ञानैः[8] सादृश्यम् अन्यतः इत्यनवस्था। अथ तदेव ज्ञानम् आत्मनोऽर्थेन सादृश्यं प्रतिपद्यते; तन्न; तत्काले अर्थस्याऽसत्त्वात्[9]। यत्काले यन्नास्ति न तेन सद् आत्मनः स्वत एव सादृश्यं प्रतिपत्तुं समर्थम् यथा पुत्रकालेऽसता पित्रा पुत्रः[10], नास्ति च ज्ञानकाले अर्थ इति। ततो ज्ञाने अर्थसारूप्यस्य विचार्यमाणस्याऽनुपपत्तेः 'यद् यदाकारं न भवति न तत्तस्य ग्राहकम्' इत्याद्ययुक्तम्।

यदप्यभिहितम्[11]-'निराकारत्वे ज्ञानस्य[12] स्वरूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; स्वपरप्रकाशकत्वं हि बुद्धेराकारः न पुनर्नीलाद्याकारः, अस्य अर्थधर्मत्वात्। न चाऽन्याकारेण अन्यस्य प्रत्यक्षता युक्ता; अतिप्रसङ्गात्, किन्तु स्वाकारेण, तथाभूतेन चाऽऽ

१-द्धिः अनु-भां०। २-न्तरं भिन्नं त-भां०। ३ तद्द्वयप्र-श्र०। ४ ज्ञानयोरत्यन्त-भां०, श्र०। ५ ज्ञाने इति भां०, श्र०। ६ भिन्नसामग्रीप्रभवतया च सुप्र-भां०, श्र०। भिन्नसामग्रीतया प्रभवभिन्नविषयतया च आ०। ७-र्शनज्ञा-भां०। ८ अर्थज्ञानैः श्र०। ९ अर्थेऽस्या-भां०, आ०। १० पुत्रे आ०। ११ पृ० १६६ पं० २। १२ -स्य रूपस्या-आ०।

कारेण अस्याः प्रत्यक्षत्वम्[1] 'नीलमहं वेद्मि' इत्याद्युल्लेखेन सुप्रसिद्धमेव । व्यावृत्तिरपि संविदः संविदन्तरात् प्रतिनियतार्थग्राहकत्वस्वरूपेणैव, न पुनर्नीलादिस्वरूपेण[2] अस्य ग्राह्यधर्मत्वात् । पदार्थानां हि स्वगतधर्मेणैव अन्योन्यं व्यावृत्तिर्युक्ता नान्यधर्मेण अतिप्रसङ्गात्, तथा च *'तत्रानुभवमात्रेण'* इत्याद्यनुपपन्नम् । अनुभवमात्रेण ज्ञानस्य सारूप्येऽपि प्रतिनियताऽर्थानुभव[3]प्रकारेण प्रतिविषयं विशेषसंभवात् । न खलु नीलग्रहणस्वभाव एव अस्य पीतग्रहणस्वभावो भवितुमर्हति, तथाभूतेन च[4] स्वभावेन[5] प्रत्यर्थं सम्बन्धसंभवात् *'अर्थेन घटयत्येनाम्'* इत्याद्यपि अनल्पतमोविलसितम् ।

किञ्च[6], 'घटयति' इति 'सम्बन्धयति' इत्यभिप्रेतम्, 'अर्थसम्बद्धं निश्चाययति' इति वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; अर्थरूपताया ज्ञानस्याऽर्थे सम्बन्धकारणत्वे तादात्म्याऽभावप्रसङ्गात् । ययोः कार्यकारणभावः न तयोस्तादात्म्यम् यथा अग्निधूमयोः, कार्यकारणभावश्च अर्थसम्ब[7]द्धज्ञाना-ऽर्थरूपतयोरिति । द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; अर्थसम्बद्धज्ञानेन अर्थरूपतायाः क्वचित् सम्बन्धाऽप्रतीतेः । यस्य येन सम्बन्धः क्वचिन्न प्रतिपन्नः न तस्य तन्निश्चयहेतुत्वम् यथा सह्यस्य विन्ध्येन क्वचिदप्रतिपन्नसम्बन्धस्य न विन्ध्यनिश्चयहेतुत्वम्, क्वचित्सम्बन्धाऽप्रतीतिश्च अर्थसम्बद्धज्ञानेन अर्थरूपतायाः, इति कथमसौ अर्थसम्बद्धं ज्ञानं निश्चाययेत् ? न च विशिष्टविषयोत्पादादन्यो ज्ञानस्य अर्थे सम्बन्धो घटते, स च स्वसामग्रीतः एव सम्पन्न इति अर्थरूपताप्रसाधनप्रयासो व्यर्थः ।

ननु निराकारत्वे ज्ञानस्य सर्वं सर्वस्य ग्राहकं स्यादविशेषात्; इत्यप्यसमीचीनम्; पुरोवर्त्तिन्येवाऽर्थे ज्ञानस्य स्वकारणैर्नियमितत्वात् प्रदीपवत् । न खलु प्रदीपः घटादीनाम् आकारमनुकुर्वन् तेषां प्रकाशकः प्रतीयते; प्रत्यक्षविरोधात् । नाप्याकाररहितस्य प्रकाशकत्वे सकलघटादीनां प्रकाशकत्वं प्रसज्यते; गृहाद्यन्तर्वर्तिनामेव प्रतिनियतानां तेषां प्रतिनियतसामग्रीप्रभवतया प्रतिनियतसामर्थ्यमासादयता[8] तेन प्रकाशनात् । साकारतयापि[9] अर्थप्रकाशकत्वाभ्युपगमे 'एकस्य घटज्ञानस्य त्रैलोक्योदरवर्तिनां निखिलघटानां प्रकाशकत्वप्रसङ्गः' इति चोद्ये भवतोऽपि प्रतिनियतसामग्रीप्रभवप्रतिनियतयोग्यतातो नान्यदुत्तरम् । [10]तदेवं साकारतापक्षस्य अनेकदोष-

१–त्यक्षं नी–आ० । २ नीलादिना स्व–श्र० । ३–नुभवप्रभवप्रका–आ० । ४ च प्रत्य–आ० । ५ प्रतिनियतार्थग्राहकत्वलक्षणेन । ६ "यतोघटयति सम्बन्धयति विवक्षितं ज्ञानमर्थसम्बद्धमर्थरूपता निश्चाययति वा ?" प्रमेयक० पृ० २८ पू० । ७ "एतेन वित्तिसत्तायाः साम्यात सर्वैकवेदनम् । प्रलपन्तः प्रतिक्षिप्ताः प्रतिविम्बोदये समम् ॥२६॥" न्यायवि० पृ० १२७ पू० । "प्रकाशनियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिविम्बतः । अन्तरेणापि तादूप्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः ॥३२॥" न्यायवि० पृ० १३९पू० । ८–मापाद–श्र० । ९ "साकारत्वेऽपि चायं पर्यनुयोगः समानः"...सन्मति० टी० पृ० ४६० । १० "प्रतिकर्मव्यवस्थानस्यान्यथानुपपत्तितः । साकारस्य च बोधस्य प्रमाणत्वोपवर्णनम् ॥ ३३ ॥ क्षणक्षयादिरूपस्य व्यवस्थापकता न किम् । तेन तस्य स्वरूपत्वाद् विशेषान्तरहानितः ॥ ३४ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२६ ।

दुष्टत्वान्न स्वाकारमात्रालम्बनं ज्ञानम्। किं तर्हि ? तद्व्यतिरिक्तग्राह्या[1]र्था[2]लम्बनम्, ततो विलक्षणप्रतिभासत्वात्। यद्वि[3]ज्ञानं यद्विलक्षणप्रतिभा[4]सं न तत्त[5]दालम्बनम् यथा रूपविलक्षणप्रतिभासं रसज्ञानं न रूपालम्बनम्, स्वाकाराद् विलक्षणप्रतिभासश्च घ[6]टादिज्ञानमिति। न चायमसिद्धो हेतुः; अन्तर्मुखाऽऽकारतया प्रतिभासमानज्ञानाकाराद् बहिर्मुखाकारतया प्रतिभासमानघटादिज्ञानस्य विलक्षणप्रतिभासत्व[7]प्रसिद्धेरिति।

कथं तदनन्तरं तद् भूतम् ? इत्याह–'सन्मात्रम्' इति। सन्मात्रविषयत्वात् सन्मात्रकमि (त्रमि) त्युच्यते। किं तत् ? दर्शनम् 'आलोकः' इति यावत्। तत् किं करोति ? इत्य[8]त्राह–'स्वविषय' इत्यादि। उत्तरम् स्वोत्तरकालभाविनं

विवृतिव्याख्यानम्—

परिणामम् विकारम् प्रतिपद्यते यत् 'दर्शनम्' इति सम्बन्धः। कथम्भूतं परिणामम् ? इत्याह–'स्व' इत्यादि। स्वशब्देन उत्तरः परिणामो गृह्यते। तस्य विषयः अवान्तरो मनुष्यत्वादिजातिविशेषः तस्य व्यवस्थापनम् सङ्कर-व्यतिकरव्यतिरेकेण नियतरूपेण योजनम्, तस्मै विकल्पः निर्णयात्मा यस्य स तथोक्तः तम् इति। तस्य किन्नाम इत्याह–'अवग्रहः' इति। आद्यशब्दलभ्यं फलं दर्शयन्नाह–'पुनः' इत्यादि। पुनः अवग्रहोत्तरकालम्, अवग्रहेण विषयीकृतः अव[9]ग्रहीकृतः अवान्तरमनुष्यत्वादिजातिविशेषः तस्य विशेषः कर्णाट-लाटादिभेदः तस्य आकाङ्क्षणम् भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यम् ईहा भवति। तथा तेन कर्णाटादिप्रकारेण ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः। ननु दर्शनादीनामन्योन्यं भेदैकान्ते क्षणिकत्वप्रसङ्गाद् अपसिद्धान्तप्रसक्तिः, अभेदैकान्ते पुनः अन्यतमस्यैव प्रसङ्गाद् व्यपदेशभेदो दुर्लभः स्यात्, इत्यत्राह–'कथञ्चिद्' इत्यादि। कथञ्चित् न सर्वात्मना "[10]दर्शनादीनाम् अभेदेऽपि एकत्वेऽपि न केवलं भेदे परिणामविशेषाद् व्यपदेशस्य शब्दस्य[11] भेदः नानात्वं सुघटमेवेति।

अवायाऽनन्तरं धारणामुक्त्वा चतुर्विधं मतिज्ञानमुपसंहरन् कारिकार्धमाह–

धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम्।

विवृतिः–स्मृतिहेतुर्धारणा[12] संस्कार इति यावत्। ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात्।

१–ग्राबल–श्र०। २–र्थाबल–श्र०। ३ यदि ज्ञानं भां०। ४–भासनम् श्र०। ५–दावलम्ब–श्र०। ६ घटज्ञानमिति भां०, श्र०। ७–त्व सिद्धेः भां०। अस्य च साकारवादस्य विविधभङ्ग्या खण्डनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्। न्यायमं० पृ० ५४०। शास्त्रदी० १।१।५। तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ०१३६। न्यायवि० टी० पृ० १२९। प्रमेयक० पृ० २७ पू०। सन्मति० टी० पृ० ४५९। स्या० रत्ना०, रत्नाकराव०, सू० ४।४७। स्याद्वादमं० पृ० १३०। ८ इत्याह श्र०। ९ अवगृहीतः भां०, श्र०। १० दर्शनानाम् भां०, श्र०। ११–स्य वा भे–भां०, श्र०। १२ "धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च। धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम्।" तत्त्वार्थभा०

स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत्, यत एवं **तत्** तस्मात् **मतिज्ञानम्** अवग्रहावायधारणाभेदेन **चतुर्विधम्** ।

कारिकार्धं विवृण्वन्नाह–'स्मृतिहेतुः' इत्यादि । स्मृतेः अनुभूतवस्तुविषयायाः तच्छब्द-

विवृतिव्याख्यानम्— परामृष्टायाः प्रतीतेः **हेतुः धारणा** भावना **संस्कार इति यावत्** । ननु च ईहा चेष्टा प्रयत्न इत्यर्थः, धारणा च संस्कारः, तयोश्च ज्ञानादत्यन्तभेदः, "बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्काराः" [ ]इत्यभिधानात्, तत्कथमनयोः प्रत्यक्षता ? इत्याशङ्क्यमानं प्रति आह–'ईहा' इत्यादि । ईहा-धारणयोरपि न केवलम् अवग्रहा-ऽवाययोः ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयम् अभ्युपगन्तव्यम् । कुत एतदित्यत्राह–'तद्' इत्यादि । तयोः अवग्रहाऽवाययोः उपयोगविशेषात् व्यापारविशेषात् । तथाहि–अवग्रहस्य ईहा, अवायस्य च धारणा व्यापारविशेषः, न च चेतनोपादानो व्यापारविशेषः अचेततनो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् । अथवा ईहा-धारणयोः सम्बन्धी उपादेयत्वेन यः उपयोगविशेषः अवाय-स्मृतिलक्षणः तस्मात् इति ग्राह्यम् । न वै खलु चेतनम् अचेतनोपादानं युक्तम्; चार्वाकमतानुप्रवेशप्रसङ्गात् ।

इदानीं स्वसंविदामपि बह्वादिभेदमवग्रहादिकम्, अवग्रहादीनाञ्च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वे फलत्वमुत्तरोत्तरस्य दर्शयन्नाह—

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत् स्वसंविदाम् ॥ ६ ॥
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

विवृतिः–परमार्थैकसंवित्तेः वेद्यवेदकाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायां क्षणभङ्गादेरपि प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत । ततः किम् ? गृहीतग्रहणात् संवृतिवत् तदनुमानं प्रमाणं

१।१५ । "धरणं पिय धारणं विंति ॥३॥" आव० नि० । "धृतिः धरणम् अर्थानामिति वर्तते । परिच्छिन्नस्य वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं तद्धरणं पुनर्धारणां ब्रुवते ।" आव० नि० हरि० पृ० १० । "एवमविच्युति-वासना-स्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा भवति ।" विशेषा० भा० बृह० गा० १८८-१८९ । "अर्थस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा ।" सर्वार्थसि० १।१५ । "निर्ज्ञातार्थाविस्मृतिर्धारणा" राजवा० १।१५ । "ततो दृढतरावायज्ञानाद् दृढतमस्य च । धारणात्वप्रतिज्ञानात् स्मृतिहेतोर्विशेषतः ॥ २१ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२१ । "स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ।" प्रमाणनय० २।१० । "महोदये च कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं···। अनन्तवीर्योऽपि–तथा निर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति···।" स्या० रत्नाकर पृ० ३४९ । "स्मृतिहेतुर्धारणा" प्रमाणमीमां० १।१।२९ ।

१ ईहा धारणायाः आ०, भां० । २ कार्यत्वेन । ३–दानायुक्तम् आ० । ४ "बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।" तत्त्वार्थसू० १।१६ । "···निसृतासन्दिग्धध्रुवाः···" तत्त्वार्थाधि० सू० १।१६ । ५–मानं न आ० वि० ।

न स्यात्; तदनयोः समारोपव्यवच्छेदाऽविशेषात् संवृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं स्यात्। सर्वस्यैव निर्विकल्पकज्ञानस्य समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षिणः प्रामाण्यं न स्यात् ततः संव्यवहाराऽभावात्। अर्थक्रियार्थी हि प्रमाणम् अप्रमाणं वा अन्वेषते, रूपादिक्षणक्षयादिस्फुटप्रतिभासाऽविशेषात् खण्डशः प्रामाण्यं यदपेक्षं तदेव फलं युक्तम्; तत्त्वतः तत्कृतो न भवति। 'तत्त्वतः तत् ततो न भवति' इत्यपि पाठः। भावे वा निर्णीतिः अखण्डशः कुतो न भवेत्? बहुबहुविधक्षिप्राऽनिसृताऽनुक्तध्रुवेतरविकल्पानाम् अवग्रहादेः स्वभावभेदान्न विरुद्ध्यते। प्रतिभासभेदेऽपि स्वभावभेदाऽभावकल्पनायां क्रमवृत्तिधर्माणामपि तथाभावात् कुतः क्रमः सुख-दुःखादिभेदो वा परमार्थतः प्रतिष्ठाप्येत सहप्रतिभासवत्? तदयम् एकमनेकाऽऽकारं क्षणिकज्ञानं कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः प्रतिभासभेदानाम् उपयन् क्रमवर्तिनामपि तथैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हति हर्षविषादादीनाम्। अतोऽनेकान्तसिद्धिः। प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यम् अभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम्।

कारिकाव्याख्यानम्–

बहु आदिर्यस्य बहुविधादेः स तथोक्तः तेन, अवग्रहादीनाम् अष्टचत्वारिंशत् **बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्**। एतदुक्तं भवति–बह्वादिभिः द्वादशप्रभेदैः अवग्रहादयश्चत्वारो गुणिता अष्टचत्वारिंशद् भवन्ति। केषाम्? इत्याह–**'स्वसंविदाम्'** इति। चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः लुप्तो द्रष्टव्यः, तेन अर्थग्रहणमनुवर्तमानं चशब्देन लब्धतौपरिणामं सम्बद्ध्यते। तथा चायमर्थः स्थितः–न केवलम् अर्थग्रहणस्य अपि तु स्वसंविदाञ्च बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशद् भवति (भवन्ति), अन्यथा तासां श्रुतादावन्तर्भावो वक्तव्यः, ज्ञानपट्कत्वञ्चाऽनुपज्येत मतौ अनन्तर्भावात् अवग्रहाद्यात्मकत्वात्तस्याः।

ननु च अर्थे बहुबहुविधादिधर्माणां संभवाद् युक्तो बह्वाद्यवग्रहादिः न पुनर्ज्ञानस्वरूपे, तत्र तदसंभवात्, न हि ज्ञानस्वरूपे बहु-बहुविधादिधर्माः कदाचिदपि प्रतीयन्ते बहिरर्थे एव तेषां सर्वदा प्रतीतेः; इत्यप्यपेशलम्; बह्वादिधर्मग्राहकत्वस्य ज्ञानस्वरूपगतस्य स्वसंवेदनविषयतोपपत्तितः तत्स्वरूपेऽपि बह्वाद्यवग्रहादिसंभवाऽविरोधात्। किं पुनर्ज्ञानस्य स्वसंवेदनं नाम? इति चेदुच्यते–

ज्ञानान्तराऽनपेक्षं यत् स्वरूपप्रतिभासनम्। तत् स्वसंवेदनं ज्ञाने सिद्धमर्थप्रतीतितः॥

प्रयोगः–स्वग्रहणात्मकं ज्ञानम् अर्थग्रहणात्मकत्वात्, यत् पुनः स्वग्रहणात्मकं न भवति न तद् अर्थग्रहणात्मकम् यथा घटादि, अर्थग्रहणात्मकञ्च ज्ञानम्, तस्मात् स्वग्रहणात्मकमिति।

---

१ विरुद्ध्येत ज० वि०। २ क्रमभावेऽपि आ० वि०। ३ षष्ठी। ४–त्वं वानु–आ०। ५ अथ बहुविधा–आ०, भां०। ६–स्य संवे–भां०। ७–तः स्व–भां०।

ननु ज्ञाने स्वसंविदितत्वं प्रमाणविरुद्धम् कर्मत्वेनाऽप्रतीयमाने तस्मिन् परोक्षत्वस्यैवोपपत्तेः;

'ज्ञाने स्वसंविदितत्वं प्रमाणविरुद्धम्' इति जैमिनीयस्य पूर्वपक्षः–

तथाहि–ज्ञानं परोक्षम् कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानत्वात्, यत् पुनः प्रत्यक्षं तत् कर्मत्वेन प्रतीयमानं दृष्टम् यथा अर्थः, कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानञ्च ज्ञानम्, तस्मात् परोक्षमिति। न चाऽयमसिद्धो हेतुः; कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानत्वस्य ज्ञानाख्ये धर्मिणि विद्यमानत्वात्, न खलु घटाद्यर्थवत् कर्मत्वेन ज्ञानं स्वप्नेऽपि प्रतिभासते, प्रतिभासने वा करणात्मनो ज्ञानान्तरस्य परिकल्पना प्रसज्येत, तस्यापि[2] प्रत्यक्षत्वे करणात्मकं ज्ञानान्तरमपरं परिकल्प्येत[3] इत्यनवस्था। तस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि करणत्वे प्रथमे कोऽपरितोषः येनाऽस्य तथा करणत्वं नेष्यते? न च एकस्यैव ज्ञानस्य परस्परविरुद्धकर्म-करणाकाराभ्युपगमो युक्तः; अन्यत्र तथा प्रतीत्यभावात्। तस्मादेतद्दोषपरिजिहीर्षया ज्ञानस्य प्रत्यक्षरूपताऽऽग्रहं परित्यज्य प्रतीत्यनतिक्रमेण परोक्षरूपतैवाऽभ्युपगन्तव्या। इन्द्रियाऽर्थसम्प्रयोगादिसामग्रीतो हि क्रियास्वभावम् आत्मनि ज्ञानमुत्पद्यमानं नित्यपरोक्षरूपमेव उत्पद्यते।

न चास्य नित्यपरोक्षरूपत्वे ग्राहकप्रमाणाऽभावाद् अभावोऽनुषज्यत इत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षतो हि तत्प्रतीत्यभावान्नित्यपरोक्षरूपता, न पुनर्मूलतोऽपि ग्राहकप्रमाणाऽभावात्,

१ "ननूत्पन्नायां बुद्धौ ज्ञातोऽर्थ उच्यते नानुत्पन्नायाम्, अतः पूर्वं बुद्धिः उत्पद्यते पश्चाज्ज्ञातोऽर्थः? सत्यम्; पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते न तु पूर्वं ज्ञायते। भवति हि कदाचिदेतद् यज्ज्ञातोऽप्यर्थः सन्नज्ञात इत्युच्यते। न च अर्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धेः रूपोपलम्भनम्, तस्मान्न व्यपदेश्या बुद्धिरव्यपदेश्यञ्च न प्रत्यक्षम्। तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः।" शावरभा० १।१।५। "अस्मन्मते ज्ञाततालिङ्गकानुमानेनैव बुद्धेर्ग्रहणाङ्गीकारात्, तस्य च अर्थग्रहणोत्तरकालीनत्वात् न प्रतिबन्धकाभावमात्रेण अर्थग्रहणसमये बुद्धेर्ग्रहणं भवितुमर्हति।" शावरभा० प्रभाटी० पृ० ३३। "संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या न संवेद्यतया। केयं वाचो युक्तिः संवेद्या न संवेद्येति? इयमियं वाचो युक्तिः नास्याः कर्मभावो विद्यते इत्यर्थः। कर्म च संवेद्याभिधेयं न संवित्, तस्मान्न पृथक् संवेद्यतया ग्रहीतुं शक्यते। न चाऽसंवेद्यैव संवित् तन्मूलत्वात् सर्वभावानां संवेद्यभावस्य। किं तर्हि? आनुमानिकम्, फलमेव हि प्रमाणम् इति प्रमाणविदो मन्यन्ते (पृ० ६४) किमसंवेद्यमेव विज्ञानम्? बाढमसम्वेद्यं न त्वप्रमेयम्। कः पुनः प्रमेयसंवेद्ययोर्विशेषः? यत्र हि विषयस्य स्वरूपं परिच्छिद्यते तत्संवेद्यमित्युच्यते अतः संवेदनं प्रत्यक्षमिति प्रमाणविदः असम्वेदना च प्रमितिः ज्ञाने आकारान्तराग्रहणात्। तस्मात् ज्ञानं प्रत्यक्षमित्ययुक्तम्। क्षणिकत्वाच्चास्य प्रत्यक्षता न संभवति... (पृ० ६५) ...तस्मान्न बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत् अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः" (पृ० ६७) बृहती १।१।५। पञ्जिका पृ० ६४-६७। "अपि च ज्ञानमनुमेयमिष्यते। तदनुमाने च नार्थसत्तामात्रं लिङ्गम्; तदविनाभावनियमाभावात्। अथ अर्थज्ञानमित्युच्यते; तदपि नोत्पत्तिमात्रेण लिङ्गम्..." प्रकरणपं० पृ० ६३। २ तत्प्रत्यक्षत्वे भां०, श्र०। ३–कल्प्यते भां०, श्र०।

अर्थापत्त्याख्यस्य तद्ग्राहकप्रमाणस्य सद्भावात्। तथाहि–'क्रिया न काचित् निष्फला संभवति' इति ज्ञानक्रिया प्रकटनाख्यं फलम् अर्थे प्रादुर्भावयति, तस्माच्च फलात् प्रतिप्राणि सुप्रसिद्धात् अन्यथाऽनुपपद्यमानाद् आत्मनि अहम्प्रत्ययग्राह्ये नित्यपरोक्षं क्रियारूपं ज्ञानमुपकल्प्यत इति। उक्तञ्च–"*अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः, स हि बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्।*" [शाबरभा० १।१।५] इति। प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या च ज्ञानमनुमीयते; अज्ञाते प्रवृत्तिविषये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, प्रयोजनार्थी हि पुरुषः कदाचित् प्रवर्तते कदाचिन्न प्रवर्तते इत्यत्र न ज्ञानादन्यत् तदा तत्प्रवृत्तेः कारणमस्ति। न हि इष्टसाधनोऽप्यर्थः स्वरूपेणैव प्रवृत्तिहेतुर्घटते सर्वदा प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, न चैवम्, अतः कादाचित्कत्वात् प्रवृत्तेः अर्थातिरिक्तम् 'अन्यदपि किञ्चित्कारणमस्ति' इत्यवगम्यते यस्मिन् सति अर्थः प्रवृत्तियोग्यतामापद्यते, तच्च ज्ञानमिति।

ज्ञानस्य अस्वसंविदितत्वनिरसनपुरस्सरं स्वसंवेदनत्वव्यवस्थापनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानत्वात्' इति; तद् आत्मना फलज्ञानेन चाऽनैकान्तिकम् तयोः कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानयोरपि प्रत्यक्षत्वेनाऽभ्युपगमात्। अथ अनयोः कर्मत्वेनाऽप्रतीतावपि कर्तृत्वेन फलत्वेन च प्रतीतेः प्रत्यक्षता इष्यते; तर्हि प्रमाणाऽभिमतज्ञानस्य कर्मत्वेनाऽप्रतीतावपि करणत्वेन प्रतीतेः प्रत्यक्षता इष्यताम् अविशेषात्। अथ करणत्वेन प्रतीयमानं ज्ञानं करणमेव स्यान्न प्रत्यक्षम्, तर्हि कर्तृफ-

---

१–ख्यस्य प्रमा–आ०, भां०। "तत्रात्मना न शक्यं तत्रान्योत्पत्तिरतदस्ति वा। तेनैतत्कारणाभावान्न तदानीं नानुभूयते ॥ १८१ ॥ नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते। ज्ञाने चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते ॥ १८२ ॥" "अर्थापत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणम्, सा च अर्थस्य ज्ञातत्वान्यथानुपपत्तिप्रभवा। प्रागर्थस्य ज्ञातत्वाभावान्नोत्पद्यते। ज्ञाते त्वर्थे पश्चात्तज्ज्ञातत्वानुपपत्त्या अर्थापत्तिप्रमाणमुपजायते..." मीमां० श्लो० टी० सू० १।१।५। शून्यवाद। "ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत्। तच्च फलमैन्द्रियकज्ञानजन्यमापारोक्ष्यम् लिङ्गादिज्ञानजन्यं तु पारोक्ष्यमित्युच्यते...तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयतीति सिद्धयत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्। अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्य आत्मनः कर्मभूतस्य च अर्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति। न ह्यागन्तुककारणमन्तरेण आत्मनोऽर्थं प्रति व्याप्तृत्वमुत्पत्तुमर्हति, तच्च कारणं लोके ज्ञानशब्देन अभिधीयते...." शास्त्रदी० १।१।५। २ प्रादुर्भवति भां०, श्र०। ३–ग्राह्यं नि–आ०। ४ "ज्ञाते त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिरिति शाबरभाष्ये श्रवणात्।" प्रमाणपरी० पृ० ६०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४७। न्यायवि० टी० पृ० १४ पू०। ५–ते च प्र–भां०। ६–न्यत् यथा तत्प्रवृ–आं०। ७ पृ० १७५ पं० ११। ८ "कर्मत्वेनाऽप्रतिभासमानत्वात् करणज्ञानमप्रत्यक्षं करणत्वेन प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। कथञ्चित् प्रतिभासते च कर्म च न भवतीति व्याघातस्य प्रतिपादितत्वात्। कथञ्चायं फलज्ञानं कर्मत्वेनाऽप्रतिभासमानमपि प्रत्यक्षमुपयन् करणज्ञानं तथा नोपैति?" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४६। प्रमाणपरी० पृ० ६१। प्रमेयक० पृ० ३१ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २१३।

लरूपतया प्रतीयमानयोः आत्म-फलज्ञानयोः कर्तृ-फलरूपतैव स्यान्न प्रत्यक्षता इत्यप्यस्तु तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् ।

किञ्च, सकलप्रमाणापेक्षया ज्ञानस्य कर्मत्वाऽप्रसिद्धिः, स्वरूपाऽपेक्षया वा ? यदि सकलप्रमाणापेक्षया; तदा सत्त्वमप्यस्य[1] अतिदुर्लभम् ; तथाहि–यत् सर्वप्रमाणापेक्षया कर्म न भवति न तत् सत् यथा खरविपाणम् , सर्वप्रमाणापेक्षया न भवति च कर्म विवक्षितं प्रमाणाभिमतं ज्ञानमिति । एवं प्रमाणान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः इत्यखिलप्रमाणानामसत्त्वप्रसङ्गे प्रमेये कः समाश्वासः प्रमाणनिबन्धनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः ? इति पूत्कुर्वतोऽपि[2] द्विजस्य सकलशून्यतापातः स्यात्, तं परिजिहीर्षता ज्ञानस्य अप्रत्यक्षत्वेऽपि प्रमाणान्तरात् प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या इति 'कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानत्वात्' इत्यस्याऽसिद्धत्वम् । अस्तु नाम अस्य प्रमाणान्तरात् प्रतीयमानत्वं न तु कर्मत्वम् ; इति चाऽयुक्तम् ; प्रतीयमानस्य अकर्मत्वविरोधात्, प्रतीयमानत्वं[3] हि ग्राह्यत्वमुच्यते, तदेव च कर्मत्वमिति ।

अथ स्वरूपापेक्षया कर्मत्वाऽप्रसिद्धिः ; तदप्यनुभवविरुद्धत्वादयुक्तम् ; सुप्रसिद्धो हि 'घटग्राहिज्ञानविशिष्टमात्मानं स्वतोऽहमनुभवामि' इत्यनुभवः, तत्प्रसिद्धत्वाच्च ज्ञाने कर्मत्व[4]प्रसिद्धिरिति (द्धेरिति) कथं स्वरूपापेक्षया तत्र कर्मत्वस्याऽप्रसिद्धिः अनुभवेन न विरुद्ध्यते ? प्रतीतिसिद्धस्याप्यत्र प्रत्यक्षत्वस्य[5] कर्मत्वस्य चाऽपह्नवे अर्थे तत्सद्भावे कः[6] समाश्वासः इति कथं तस्य व्यतिरेकदृष्टान्तता स्यात् ? प्रसङ्ग-विपर्ययाभ्याञ्चास्य[7] प्रत्यक्षतासिद्धिः[8] ; तथा हि–'यत् परोक्षं न तत् स्वोपधानेन अन्यमुपलम्भयति यथा इन्द्रियम् , परोक्षञ्च भवद्भिः परिकल्पितं ज्ञानम्' इति प्रसङ्गः । विपर्ययस्तु–'यत् स्वाकारोपहितम् आकारान्तरमुपलम्भयति तत् परोक्षं[9] न भवति प्रत्यक्षं वा भवति, यथा प्रदीपाद्यालोकः, उपलम्भयति च ज्ञानं स्वाकारोपहितं नीलादिकम्' इति ।

किञ्च, बुद्धेः स्वसंवेदनप्रत्यक्षाऽगोचरत्वे कुतः तत्सत्त्वं सिद्ध्येत् ? प्रमाणान्तराच्चेत्–किं प्रत्यक्षरूपात् , अनुमानरूपाद्वा ? न तावत् प्रत्यक्षरूपात् ; मतान्तरानुप्रवेशप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानरूपात् ; तस्य अत्रोत्पत्तेरेवाऽसंभवात् । तस्य खलु उत्पत्तिः लिङ्गाद् भवति, न च ज्ञानेन

१ सत्त्वमस्य भां, श्र० । २ फुत्कु–श्र० । ३ "साक्षात् प्रतीयमानत्वं हि विषयीक्रियमाणत्वं विषयत्वमेव च कर्मत्वम् ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५ । प्रमेयक० पृ० ३२ पू० । ४ कर्मत्वस्य कथं आ० । कर्मत्वाप्रसिद्धिरिति कथं भां० । ५ प्रत्यक्षस्य आ०, भां० । ६ कः कथं समा–भां० । ७ "प्रसङ्गश्च नाम परप्रसिद्धेन परस्य अनिष्टापादनमुच्यते ।" न्यायमं० पृ० १०२ । "साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम् । व्यापकनिवृत्तौ चावश्यम्भाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः ।" प्रमेयक० पृ० ६९ पू० । ८–ताप्रसिद्धेः श्र० । ९ परोक्षं न भवति यथा भां० ।

अविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गं संभवति। तद्धि इन्द्रियम्, अर्थः, तदतिशयः, तत्सम्बन्धः, तत्र प्रवृत्तिर्वा भवेत्? यदि इन्द्रियम्; तदा तदपि किं निर्विशिष्टम्, विशिष्टं वा तद्धेतुः स्यात्? यदि निर्विशिष्टम्; तर्हि सुप्त-मत्त-मूर्च्छिता-ऽन्यत्रगतचित्तावस्थास्वपि बुद्धेः अनुमानप्रसङ्गः इन्द्रियसद्भावस्य तत्राप्यविशेषात्। अथ विशिष्टमिन्द्रियं तद्धेतुः, तच्चात्र नास्ति तेनाऽयमदोषः; ननु केन विशेषेण इन्द्रियस्य विशिष्टत्वम्–अनावरणत्वेन, प्रगुणमनःसहकृतत्वेन वा? न तावदनावरणत्वेन; अस्य प्रत्यक्षतः प्रत्येतुमशक्यत्वात्, अप्रतिपन्नस्य च हेतुविशेषणत्वे विशेषणाऽसिद्धो हेतुः स्यात्। विशेष्यासिद्धश्च; तथाहि–शक्तिः इन्द्रियम्, शक्तिश्च अध्यक्षतः प्रत्येतुमशक्या इति। विषयपरिच्छित्त्या अनावरणेन्द्रियसिद्धौ अन्योन्याश्रयः; तथाहि–विषयपरिच्छित्तिः बुद्धिः, तत्सिद्धौ अनावरणत्वोपेतमिन्द्रियं सिद्ध्यति, तथाभूतेन्द्रियसिद्धौ च विषयपरिच्छित्तिः सिद्ध्यतीति। एतेन प्रगुणमनःसहकृतत्वमपि प्रत्याख्यातम्; मनसोऽतीन्द्रियस्य प्रगुणत्वधर्मोपेतस्य विषयपरिच्छित्तेरन्यतः प्रत्येतुमशक्यत्वाऽविशेषात्, तत्र च इतरेतराश्रयदोषाऽनुषङ्गात्।

अथ अर्थो लिङ्गम्, सोऽपि किं सत्तामात्रेण लिङ्गम्, ज्ञातत्वविशेषणविशिष्टो वा? प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः; तथाभूतस्यास्य व्यभिचारात्। न खलु यत्र यदा सत्ताविशिष्टोऽर्थः तत्र तदा बुद्धिः अनुमातुं शक्या; तामन्तरेणाऽपि अस्य संभवतः अविनाभावाऽभावात्। यस्य तु येन अविनाभावः न तत् तदभावे संभवति यथाऽग्नेरभावे धूमः, संभवति च बुद्धेरभावेऽप्यर्थ इति। सत्तामात्रेण चाऽनुमापकत्वे सर्वार्थसत्तायाः सर्वपुरुषान् प्रति अविशिष्टत्वात् सर्वबुद्ध्यनुमानं स्यात्। अथ एतद्दोषाद् बिभ्यता ज्ञातेन अर्थो विशिष्यते 'ज्ञातोऽर्थः तत्कल्पकः' इति; अत्रापि ज्ञातत्वेन अर्थो ज्ञातः, अज्ञातो वा तत्कल्पकः स्यात्? अज्ञातस्य कल्पकत्वे सर्वं सर्वस्य कल्पकं स्याद् अविशेषात्। अथ ज्ञातः; किं तत एव ज्ञानात्, तदन्तराद्वा? तत एव ज्ञप्तौ अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि ज्ञातत्वविशिष्टेऽर्थे ततो ज्ञानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अर्थस्य ज्ञातत्वसिद्धिरिति। ज्ञानान्तरात्तज्ज्ञप्तौ चाऽनवस्था। न च अज्ञाते ज्ञाते ज्ञातविशिष्टताऽर्थस्य घटते; तथाहि–यो यद्विशेषणपूर्वकः प्रत्ययः स तस्मिन् विशेषणे ज्ञाते सत्येव प्रादुर्भवति, यथा दण्डविशेषणपूर्वको 'दण्डी' इति प्रत्ययः, ज्ञात-विशेषणपूर्वकश्च 'ज्ञातोऽर्थः' इति प्रत्ययः, तस्मात् ज्ञात-विशेषणे ज्ञाते सत्येव उपपद्यत इति। तज्ज्ञप्तौ च स एव परमतप्रवेशः अनवस्था च। न च ज्ञातत्वविशिष्टस्याऽर्थस्य ज्ञानेन विनाऽनुपपद्यमानत्वात् ज्ञानकल्पकत्वमित्यभिधातव्यम्;

१ "विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः। अहेतुरात्मसंवित्तेरसिद्धिर्व्यभिचारतः ॥१६॥" न्यायवि० पृ० १०८। "तद्धि अर्थज्ञप्तिरिन्द्रियार्थौ तत्सहकारिप्रगुणं मनो वा?" प्रमेयक० पृ० ३२ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २१६। २ ज्ञातत्वज्ञानविशेषण–भां०। ज्ञातत्वज्ञानविशेषणविशेषे वा श्र०। ३ ज्ञानेन श्र०। ४ विशेषणीभूते। ज्ञाने भां०, श्र०। ५ ज्ञानवि–भां०। ६–हि यद्वि–भां०। ७ ज्ञानवि–भां०, श्र०। ८ ज्ञान–भां०, श्र०। ९ नैयायिकमत।

अनुपपद्यमानतामात्रस्याऽगमकत्वात् । न हि धूमादयोऽनुपपद्यमानतामात्रेण गमकाः ; नालिकेरद्वीपाऽऽयातं प्रत्यपि तेषां गमकत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? ज्ञाताः सन्तः, तथा अर्थोऽपि ज्ञातत्वविशिष्टतया ज्ञात एव ज्ञानस्य गमको युक्तः इति ।

अथ अर्थातिशयो लिङ्गम्, ननु कोऽयम् अर्थस्य अतिशयो नाम ? 'प्राकट्यम्' इति चेत् ; तत् किं ज्ञानम्, ज्ञानविषयत्वम्, प्रकाशतामात्रं वा ? यदि ज्ञानम् ; तदा तस्याऽसिद्धत्वात् कथं लिङ्गत्वम् ? न च आत्मसिद्धौ आत्मन एव लिङ्गत्वं क्वापि प्रतिपन्नम् येनाऽत्रापि तथा कल्प्येत । अथ ज्ञानविषयत्वम् ; तदपि 'ज्ञानाऽसिद्धौ न सिद्ध्यति' इत्युक्तम् ।

अथ प्रकाशतामात्रम् ; तदपि ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मः, उभयधर्मः, स्वतन्त्रं वा स्यात् ? यदि ज्ञानधर्मः ; तर्हि 'ज्ञानं प्रकाशते' इत्येतावदेव प्राप्नोति, न पुनः 'अर्थः प्रकाशते' इति, अन्यधर्मस्य अन्यत्र व्यपदेशाऽहेतुत्वात् । यो यद्धर्मो न भवति न स तत्र तथा व्यपदेशहेतुः यथा पटरक्तता रजते, न भवति च ज्ञानधर्मतया प्रकाशमानता अर्थस्य धर्मः, तस्मान्न 'अर्थः प्रकाशते' इति व्यपदेशहेतुरिति । अथ अर्थधर्मः ; स किं साधारणः, असाधारणो वा ? प्रथमपक्षे सर्वदा सर्वान् प्रति अविशेषेणैव अर्थोऽवभासेत न तु कदाचित् कञ्चन प्रति, प्रकाशरूपतायाः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् । न खलु प्रदीपः प्रकाशरूपतामापन्नः 'किञ्चित्प्रकाशते किञ्चिन्न' इति नियमो दृष्टः । अथ यदिन्द्रियेण उपकृतः असाधारणतद्धर्मोऽर्थः सम्पन्नः तस्यैव प्रकाशते नान्येषाम् । ननु इन्द्रियाणां स्वार्थप्रकाशकज्ञानजननात् नाऽपरं तदुपकारकत्वं प्रतीयते, एतच्च तज्ज्ञानस्य अर्थधर्मत्वे सर्वान् प्रति अविशिष्टम् । न हि 'नीलताद्यर्थधर्मः येनैव जन्यते तस्यैव प्रकाशते' इति नियमो दृष्टः । किञ्च, अर्थप्रकाशात् नित्यपरोक्षे ज्ञानेऽनुमीयमाने 'ज्ञानं मम अभूत' इत्यनुमानं स्यात् तस्य तत्प्रकाशात् पूर्वकालभावित्वात्, तथाभूतस्य च ज्ञानस्याऽनुमाने स्व-परसम्बन्धित्वविभागो दुर्लभः स्यात् ।

किञ्च, मुख्यतः अर्थस्य प्रकाशमानता धर्मः, उपचारतो वा स्यात् ? न तावन्मुख्यतः ; ज्ञानाऽनपेक्षया तत्र तत्सिद्धिप्रसङ्गात् । यत्र हि यत्स्वरूपं मुख्यतः प्रसिद्धम् तत्र तत् पराऽनपेक्षम् यथा वह्नौ भासुररूपोष्णस्पर्शस्वरूपम्, मुख्यतोऽभ्युपगम्यते च अर्थे प्रकाशमानताधर्मः, तस्मात् ज्ञानाऽनपेक्ष एव स्यात्, न चैवम्, ज्ञाने सत्येव सर्वदा तत्र तत्प्रतीतेः । उपचारतः तत्र तद्धर्माऽभ्युपगमे तु न किञ्चिदनिष्टम्, मुख्यतो हि प्रकाशमानता ज्ञानस्य धर्मः, सा तद्विषयत्वाद् अर्थे उपचर्यते । कुतः पुनर्ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य स्वपरप्रकाशता भवतीति चेत् ? स्वाभाव्यात् दिवाकरस्य करसम्पत्तिवत्, न हि दिवाकरस्य करसम्पत्तिः केनचित् क्रियते, तथा अत्र स्वपरप्रकाशता इति । तथा च अस्य स्वसंविदितत्वसिद्धेः, ततस्तस्य अनुमेयताऽनुप-

---

१ अनुपपद्यता–भां० । २ ननु युक्तोऽयम् भां०, श्र० । ३ तथापि भां०, श्र० । ४ असाधारणधर्मोऽर्थः भां०, श्र० । ५ प्रकाशेत आं०, भां० । ६ ज्ञानविषयत्वात् । ७–द्धेः तस्य श्र० ।

पत्तिः। उभयधर्मपक्षे तु प्रमाण-प्रमेयव्यवहाराभावप्रसङ्गः द्वयोः प्रकाशधर्मतया तुल्यत्वात्। ज्ञानकृता हि अर्थस्य तत्परिच्छिद्यमानतया प्रमेयता, द्वयोश्च प्रकाशमानत्वरूपयोः तुल्यत्वे किं केन क्रियते ? प्रयोगः–यद् यतो येन वपुषा न व्यतिरिच्यते न तत् तस्य तथारूपत्वे व्याप्रियते यथा घटो घटान्तरस्य पृथुबुध्नोदराकारतया, न व्यतिरिच्यते च ज्ञानम् अर्थात् प्रकाशरूपतया इति। स्वातन्त्र्ये च प्रकाशतायाः ज्ञानापेक्षाऽनुपपत्तिः, स्वातन्त्र्यस्य पारतन्त्र्यपरिहारेणाऽवस्थितत्वात्। यद् यत्र स्वतन्त्रं न कर्तृत्र (न तत्तत्र) परमपेक्षते यथा राजा स्वकार्ये, स्वतन्त्रा च अर्थानां प्रकाशमानता इति। न च ज्ञानाऽनपेक्षाऽसौ प्रतीयते।

किञ्च, इयं प्रकाशमानता अर्थादभिन्ना, भिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना ; तदा अर्थ एव सा, तस्य च सदा सत्त्वात् तस्या अपि सदा सत्त्वप्रसङ्गात् सर्वं जगत् सर्वदा सर्वज्ञमकिञ्चिज्ज्ञं वा स्यात्। अथ भिन्ना ; तदाऽसौ तत्र सम्बद्धा, असम्बद्धा वा ? यद्यसम्बद्धा ; कथम् 'अर्थस्य' इति व्यपदिश्येत ? यद् येनाऽसम्बद्धं न तत् 'तस्य' इति व्यपदिश्यते[1] यथा सह्यस्य विन्ध्यः, अर्थेनाऽसम्बद्धा च प्रकाशमानता इति। अथ सम्बद्धा ; किं तादात्म्येन, तदुत्पत्त्या, संयोगेन वा ? न तावत्तादात्म्येन ; भेदपक्षस्य अङ्गीकृतत्वात्, भेद-तादात्म्ययोश्च अन्योन्यं विरोधात्। नापि तदुत्पत्त्या ; यतः अर्थात् किं प्रकाशता उत्पद्यते, ततो वाऽर्थः ? न तावदर्थात् प्रकाशता उत्पद्यते ; ज्ञानात् तदुत्पत्तिप्रतिज्ञानात्। नापि प्रकाशतातोऽर्थः ; स्वकारणकलापात् प्रकाशतातः पूर्वमपि अस्योत्पन्नत्वात्। नापि संयोगेन प्रकाशता अर्थे सम्बद्धा, तस्य द्रव्यवृत्तित्वेन[2] अद्रव्यरूपायां प्रकाशतायां[3] संभवाऽभावात्। अस्तु वा केनचित् सम्बन्धेन सम्बद्धाऽसौ ; तथापि अर्थमात्रेण असौ सम्बद्धा, अर्थविशेषेण वा ? अर्थमात्रेण सम्बन्धे, स एव अशेषस्य जगतोऽशेषज्ञत्वस्य[4] अकिञ्चिज्ज्ञत्वस्य वा प्रसङ्गः। 'घटस्य आसीदत्र प्रकाशता, इदानीं तु पटस्य' इति प्रतिनियतदेश-कालविशिष्टे प्रतिनियतेऽर्थे तद्व्यपदेशाऽभावश्च स्यात्। अथ अर्थविशेषेण ; ननु कोऽयम् अर्थस्य विशेषः–ज्ञानजनकत्वम्[5], आलम्बनत्वं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः ; ज्ञानजनकत्वस्य अर्थे निराकरिष्यमाणत्वात्। द्वितीयविकल्पेऽप्यन्योन्याश्रयः[6]–अर्थस्य आलम्बनत्वसिद्धौ हि प्रकाशतायाः अर्थविशेषे सम्बन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अर्थस्य आलम्बनत्वसिद्धिरिति। तन्न अतिशयोऽपि लिङ्गम्।

नापि तत्सम्बन्धः ; तस्य सम्बन्धिज्ञानपूर्वकत्वात्, सम्बन्धिनौ चाऽत्र इन्द्रियार्थौ[7] ज्ञानार्थौ[8] अतिशयार्थौ[9] वा न ज्ञातुं शक्येते, यथा चैषां ज्ञातुमशक्तिः तथा प्रतिपादितमेव। अथ प्रवृत्त्या ज्ञानमनुमीयते ; तर्हि निवर्त्तकस्य ज्ञानस्य कथं प्रतिपत्तिः स्यात् ? प्रवृत्त्या हि

१–दिश्यते आ०, भां०। २–द्व्यप्राप्तित्वेन श्र०। ३ प्रकाशमानतायां आ०, भां०। ४–तोऽशेषज्ञस्य किंचि– भां०। –तोविशेषज्ञत्व– श्र०। ५ ज्ञानस्य जनकत्वम् आं०। ६–विकल्पोप्यन्यो– भां०। –विकल्पेन्योन्या– आ०। ७–यार्थाः श्र०। ८–नार्थाः श्र०। ९–यार्थाः श्र०।

प्रवर्त्तकमेव ज्ञानमनुमीयते न निवर्त्तकम्। अथ प्रवृत्ति-निवृत्तीभ्यां ज्ञानमुपकल्प्यते ; तर्हि तयोरभावे उदासीनस्य उपेक्षमाणोर्थ[1]विज्ञानं कथं कल्प्येत ?

अस्तु वा किञ्चिल्लिङ्गम् ; तथापि अगृहीतप्रतिबन्धं तत् न परोक्षां बुद्धिमनुमापयितुं समर्थम्, सर्वत्राऽस्य गृहीतप्रतिबन्धस्य स्वसाध्याऽनुमापकत्व[2]प्रतीतेः। प्रतिबन्धश्च लिङ्ग-लिङ्गिनोः अविनाभूतत्वेन प्रमाण[3]प्रतिपन्नयोरेव भवति। न च ज्ञानम्, तेन चाऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गं केनचित् प्रमाणेन प्रतिपन्नं यतः सम्बन्धग्रहणपुरस्सरमनुमानं प्रवर्तेत। ततोऽनुमानमिच्छता ज्ञानं प्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यम्। न च अपरोक्षस्य स्वयं प्र[4]काशस्वभावस्य आत्मनः क्रिया नित्य-परोक्षा युक्ता ; तथाहि–याऽसौ स्वयं प्रकाशमानस्याऽऽत्मनः प्रकाशक्रिया सा नित्यपरोक्षा न भवति, प्रकाशक्रियात्वात्, प्रदीपादेः प्रभाभारक्रियावदिति। किञ्च, [5]ज्ञानमुत्पद्यमानं स्वाऽनुभवेन तदनुभवव्यावृत्तं संवेद्यते, अर्थश्चास्य विषयभावमापन्न एव संवेद्यते 'अर्थमहं जानामि' इति प्रतीतेः। नित्याऽनुमेयत्वे च ज्ञानस्य उभयमपि दुर्घटम्, अर्थो हि प्रकाशमानः सर्वान् प्रति साधारणः इति ज्ञानस्य परोक्षत्वे 'मम प्रकाशते' इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिः। तस्मादुक्तदोषेभ्यो बिभ्यता ज्ञानस्य परोक्षताऽऽग्रहग्रहाऽभिनिवेशं परित्यज्य स्वसंविद्रूपता अभ्युपग[6]न्तव्या इति।

'ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्' इति वदतो नैयायिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वमयुक्तं[7] ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्यैवात्रोपपन्नत्वात्; तथा च अनुमानम्– ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत्[8]। न चाऽयमसिद्धो हेतुः ; पक्षे प्रवर्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः; सपक्षे सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः ; पक्ष-सपक्षवद् विपक्षे प्रवृत्त्यभावात्। नापि ईश्वरज्ञानेन अनैकान्तिकः ; अस्मदादिज्ञानापेक्षया ज्ञानान्तरवेद्यत्वाऽभ्युपगमात्, ईश्वरज्ञानस्य च अस्मदादिज्ञानाद् विशिष्टत्वात्। न च विशिष्टे दृष्टं धर्मम् अविशिष्टेऽपि योजयन् प्रेक्षावत्तां

१–णार्थे वि–श्र०। २–पकप्र–आ०, भां०। ३–णत्वप्रति–श्र०। ४ प्रकाशस्यात्मनः भां०। प्रकाशस्य भा–श्र०। ५ ज्ञानमुत्पाद्य–आ०। ६–गम्या इति आ०। ७ "प्रयोगस्तु विवादाध्यासिताः प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात्। ये ये प्रत्ययाः ते सर्वे प्रत्ययान्तरवेद्याः यथा न प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः (?)। अविद्यमानस्यावभासे अतिप्रसङ्गात् ज्ञायमानस्यैवावभासोऽभ्युपेयः। तथा च विज्ञानस्य स्वसंवेदने तदेव तस्य कर्म क्रिया चेति विरुद्धमापद्येत। यथोक्तम्–अङ्गुल्यग्रं यथात्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति। स्वांशेन ज्ञानमप्येवं नात्मानं ज्ञातुमर्हति॥ इति। यत्प्रत्ययत्वं वस्तुभूतमविरोधेन व्याप्तं तद्विरुद्धविरोधदर्शनात् स्वसंवेदनान्निवर्तमानं प्रत्ययान्तरवेद्यत्वेन व्याप्यते इति प्रतिबन्धसिद्धिः। एवं प्रमेयत्वगुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः। तथा च न स्वसंवेदनं ज्ञानमिति सिद्धम्।" विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७। "तथाहि–यदि स्वसंवेद्यमात्मान्तःकरणसंयोगादुपलभ्यं तदिष्टमेव। अथ तदेव ज्ञानं प्रमाणं प्रमेयं फलञ्चेति; तन्न; अन्यत्र त्रितयस्याभेदादर्शनात्, भेदे त्वनेकं दण्डाद्युदाहरणम्। अतो न ज्ञाने करणकर्मणोरभेदः स्वसंवेद्यत्वम्, नापि क्रियाकर्मणोरिति। तस्मात् ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्।" प्रश० व्यो० पृ० ५२९। ८ घटवत् श्र०।

लभते; अशेषार्थग्राहित्वस्याऽपि अशेषज्ञानानां तद्वत् प्रसङ्गात्। नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षाऽऽगमाभ्यामबाधितविषयत्वात्। ननु स्वसंविदितस्वभावम् अर्थज्ञानं प्रत्यक्षत एव प्रतीयते, ततः प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्ट एवाऽयम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; ज्ञानस्य स्वसंविदितस्वभावत्वाऽसंभवात्, अर्थग्रहणस्वभावतयैवास्य व्यवस्थितत्वात्। "*अर्थग्रहणं बुद्धिश्चेतना*" [ ] इत्यभिधानात्। ग्रहणञ्चास्य एकात्मसमवेताऽनन्तरज्ञानेनैव, न तु स्वतः। यद्येवम् अर्थ-ज्ञानयोः क्रमेणोत्पन्नयोः तथैवोपलम्भः स्यादिति चेत्; न; अनयोः क्रमभावेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतच्छेदवद् यौगपद्याऽभिमानतो भेदेनाऽनुपलम्भसंभवात्। न च अर्थज्ञानस्य ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वे तस्यापि अपरज्ञानप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गाद् अनवस्था स्यादित्यभिधातव्यम्; अर्थज्ञानस्य द्वितीयेन अस्यापि तृतीयेन ग्रहणाद् अर्थसिद्धेः अपरज्ञानकल्पनाऽनर्थक्यतोऽनवस्थासंभवाऽभावात्। अर्थजिज्ञासायां हि अर्थे ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानजिज्ञासायां तु ज्ञाने, प्रतीतेरेवंविधत्वात्।

ये तु स्वसंवेदनस्वभावं तद् अभ्युपगच्छन्ति ते प्रष्टव्याः-किं स्वेन संवेदनं स्वसंवेदनम्, स्वकीयेन वा? यदि स्वकीयेन; तदा सिद्धसाधनम्, स्वकीयेन अनन्तरोत्तरज्ञानेन प्राक्तनज्ञानस्य संवेदनाऽभ्युपगमात्। अथ स्वेन आत्मनैव संवेदनं स्वसंवेदनम्; तदयुक्तम्; स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, न हि सुतीक्ष्णोऽपि खड्गः आत्मानं छिनत्ति, सुशिक्षितोऽपि वा बटुः स्वस्कन्धमारोहति। तथा चेदमयुक्तम्-'ज्ञानं स्वप्रकाशात्मकम् अर्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इति। चक्षुरादिना अनेकान्ताच्च। स्वप्रकाशात्मकत्वञ्च बोधरूपत्वम्, भासुररूपसम्बन्धित्वं वा स्यात्? प्रथमपक्षे साध्यविकलो दृष्टान्तः प्रदीपे बोधरूपत्वस्याऽसंभवात्। अथ भासुररूपसम्बन्धित्वम्; तस्य ज्ञानेऽत्यन्ताऽसत्त्वात् कथं साध्यता? अन्यथा प्रत्यक्षबाधा।

किञ्च; किं येनैव आत्मना ज्ञानम् आत्मानं प्रकाशयति तेनैवाऽर्थम्, स्वभावान्तरेण वा? यदि तेनैव; कथं ज्ञानाऽर्थयोः भेदः अभिन्नस्वभावग्रहणग्राह्यत्वात् तदन्यतरस्वरूपवत्? अथ स्वभावान्तरेण; तदा तौ स्वभावौ ततोऽभिन्नौ, न वा? यद्यभिन्नौ; तत्रापि किं ताभ्यां ज्ञानम् अभिन्नम्, ज्ञानाद्वा तौ? तत्राद्यविकल्पे तौ एव न ज्ञानम्, तस्य तत्रैवाऽनुप्रवेशात् तत्स्वरूपवत्। द्वितीयविकल्पे तु ज्ञानमेव न तौ, तयोरत्रैवाऽनुप्रवेशात्, तथा च कथं ज्ञानं

१ प्रत्यक्ष एव भां०,श्र०। २-तत्वस्वभा-श्र०। ३ आप्तप० पृ० ९। स्या० रत्ना० पृ० २२४। ४-स्था इत्य-श्र०। ५ "स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, न हि तदेव अङ्गुल्यग्रं तेनैव अङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते, सैवाऽसिधारा तयैवाऽसिधारया छिद्यते।" स्फुटार्थ-अभिध०पृ० ७८। ६-स्व प्रकाशा-आ०,भां०। ७ "तत्र यदि प्रकाशकत्वं बोधरूपत्वं विवक्षितं तदा साधनविकलमुदाहरणम्, प्रदीपे बोधरूपत्वस्यासंभवात्। अथ प्रकाशकत्वं भास्वररूपसम्बन्धित्वं तद्विज्ञाने नास्त्यतो ज्ञानान्तरस्य तद्विषयस्योत्पाद एव ज्ञानस्य परिच्छेद इति।" प्रश० व्यो० पृ० ५२९।

स्वाऽर्थयोः प्रकाशकं स्यात् ? अथ भिन्नौ; तत्रापि किं तौ स्वसंविदितौ, स्वाश्रयज्ञानविदितौ वा ? प्रथमपक्षे स्वसंविदितज्ञानत्रयप्रसङ्गः, तत्रापि प्रत्येकं स्वपरप्रकाशस्वभावद्वयात्मकत्वे स एव पर्यनुयोगः अनवस्था च। द्वितीयपक्षेऽपि स्व-परप्रकाशहेतुभूतयोः तयोर्यदि ज्ञानं तथाविधेन स्वभावद्वयेन प्रकाशकम्; तर्हि अनवस्था। तदप्रकाशकत्वे प्रमाणत्वाऽयोगः, तयोर्वा तत्स्वभावेत्वविरोध[1] इति।

ज्ञानान्तरवेद्यत्वनिराकरणपुरस्सरा ज्ञानस्य स्वसंवेदनसिद्धिः–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[2]–'प्रमेयत्वात्' इति साधनम्; अतः किम् अस्मदादिज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रसाध्यते[3], ज्ञानसामान्यस्य वा ? यदि ज्ञानसामान्यस्य[4]; तदा ईश्वरज्ञानेन अनेकान्तः। अथ अस्मदादिज्ञानस्य; तन्न; अस्मदादिविशेषणस्य अत्राऽप्रतीयमानत्वात्। हृन्निविष्टं तद् इति चेत्; कथं कोशपानादृते अयमर्थः प्रतीयते ? अस्तु वा, तथापि तत् किं पक्षस्य विशेषणम्, हेतोर्वा ? यदि पक्षस्य; तदा ईश्वरज्ञानम् अपक्षोऽस्तु, हेतुस्तु[5] तत्र प्रवर्तमानः केन निषिद्ध्यते येन अनैकान्तिको न स्यात् ?

किञ्च, ईश्वरज्ञानं स्वसंविदितत्वाद् अनेन व्यवच्छिद्यते, सर्वदा परोक्षत्वात्, सदाऽप्रमेयत्वाद्वा ? स्वसंविदितत्वाच्चेत्; कुतस्तस्य तत्सिद्धिः–युक्तितः, अभ्युपगममात्राद्वा ? अभ्युपगममात्रात् तत्सिद्धौ सर्वं सर्वस्य इष्टं सिद्ध्येत्। अथ युक्तितः; काऽत्र युक्तिः ? अर्थग्रहणात्मकत्वम्, ज्ञानत्वं वा ? द्वयमपि[6] चेदम् अस्मदादिज्ञानेऽस्त्येव इत्युभयत्र स्वसंविदितत्वं सिद्ध्येत् न वा क्वचिदपि अविशेषात्। ननु[7] च ईश्वरज्ञानस्य अस्मदादिज्ञानाद् विशिष्टत्वात् तत्रैव स्वसंविदितत्वं युक्तम् नान्यत्र, न हि विशिष्टे दृष्टं धर्मम् अविशिष्टेऽपि योजयन्[8] प्रेक्षावत्तां लभते[9]; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; ज्ञानत्वस्य अर्थग्रहणात्मकत्वस्य च ईश्वरज्ञाने विशिष्टे दृष्टस्य धर्मस्य अस्मदादिज्ञाने प्रतिषेधप्रसङ्गात्। ननु ज्ञानत्वस्य अर्थग्रहणात्मकत्वस्य चाऽभावे कथं तत् ज्ञानं स्यात् तस्य[10] तत्स्वभावत्वात् ? इत्यन्यत्रापि समानम्, न हि स्वसंविदितत्वस्वभावस्याप्यभावे ज्ञानस्य ज्ञानता युक्ता; तस्यापि तत्स्वभावत्वा[11]ऽविशेषात्। न हि ईश्वरज्ञाने ज्ञानत्व-अर्थग्रहणात्मकत्वाभ्यामिव स्वसंविदितत्वेनापि विना ज्ञानस्वभावता दृष्टा एवमन्यत्रापि।

---

१ तत्स्वभाव इति विरोध भां०, श्र०। २ पृ० १८१ पं० १६। ३–साध्येत श्र०। ४ "महेश्वरार्थज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारात्" ''' प्रमाणपरी० पृ० ६०। "सुखादिनापि वेद्यत्वस्य व्यभिचारित्वमीश्वरज्ञानेन च।" न्यायवि० टी० पृ० ११६ पू०। स्या० रत्ना० पृ० २२२। ५ हेतुस्तत्र भां०। ६–मप्यस्मदा–भां०, श्र०। ७ "अस्मदादिज्ञानापेक्षया अर्थज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रमेयत्वहेतुना साध्यते, ततो नेश्वरज्ञानेन व्यभिचारः तस्य अस्मदादिज्ञानाद् विशिष्टत्वात्। न हि विशिष्टे दृष्टं धर्ममविशिष्टेऽपि घटयन् प्रेक्षावत्तां लभते।" प्रमाणपरी० पृ० ६०। प्रमेयक० पृ० ३४ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २२२। ८ योजयत् आ०, श्र०। ९ लभ्यते भां०, श्र०। १० तस्यैतत्स्व–भां०। ११ तत्स्वाभाव–आ०।

न च स्वभावः प्रादेशिको युक्तः आलोकस्य स्वपरप्रकाशतावत्। न खलु स्वपरप्रकाशता आदित्यालोकस्यैव स्वभावः न प्रदीपाद्यालोकस्य, उभयत्राप्यविशेषतस्तत्प्रतीतेः। अथ अस्मदादिज्ञानस्य ईश्वरज्ञानवत् स्वपरव्यवसायात्मकत्वे तद्वत् निखिलार्थावभासित्वमपि स्यात्; तदसमीचीनम्; योग्यस्यैवाऽवभासनात् प्रदीपवत्। न हि प्रदीपस्य आदित्यवत् स्वपरप्रकाशस्वभावत्वेऽपि तद्वन्निखिलार्थस्य प्रकाशकत्वं दृष्टम्, योग्यस्यैव नियतदेशार्थस्य अनेन प्रकाशनात्, एवमत्रापि। योग्यता च अखिलज्ञानानां स्वावरणक्षयोपशमतारतम्यलक्षणा प्रतिपत्तव्या। न हि तदभावे विषयग्रहणतारतम्यं तेषां घटते इत्यग्रे प्रसाधयिष्यते। तन्न स्वसंविदितत्वात् अस्मदादिविशेषणेन ईश्वरज्ञानस्य व्यवच्छेदः।

नापि सर्वदा परोक्षत्वात्; मीमांसकमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्, न हि नैयायिकैः सर्वदा परोक्षं किञ्चिज्ज्ञानमिष्यते। तत्परोक्षत्वे च कथम् ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वम्? ततोऽन्यस्याऽशेषार्थस्य ग्रहणात् तत्त्वम्; इत्यप्ययुक्तम्; ज्ञानस्याऽग्रहणे तेन अर्थग्रहणाऽयोगात्। नहि असंवेद्यमानाऽनुभवाद् अर्थोऽनुभूतो नाम; आत्मान्तरप्रत्यक्षतोऽपि अर्थप्रत्यक्षताप्रसङ्गात्, न खलु तत्र अस्वसंविदितत्वाद् अन्यद् अप्रत्यक्षताकारणमस्ति। यद् यत्र समवेतं तत् तत्र प्रत्यक्षताकारणम् न पुनः स्वसंविदितत्वम्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; समवायाऽसिद्धौ समवेतत्वाऽसिद्धेः[3]। सदाऽप्रमेयत्वाऽभ्युपगमे च ईश्वरज्ञानस्य सर्वदाऽसत्त्वप्रसङ्गः, यत् सर्वदाऽप्रमेयं न तत् कदाचित् सत् यथा खपुष्पम्, सर्वदाऽप्रमेयञ्च ईश्वरज्ञानमिति। ततः तस्य सत्त्वम् अर्थग्रहणञ्च इच्छता स्वसंविदितस्वभावत्वमभ्युपगन्तव्यम्, तद्वदन्यदपि। अथ हेतुविशेषणम् 'अस्मदादिज्ञानत्वे सति प्रमेयत्वात्' इति; तर्हि साधनविकलो दृष्टान्तः, तथाभूतस्य हेतोः घटादिदृष्टान्तेऽसंभवादिति।

यदप्युक्तम्–[6]'अर्थग्रहणं बुद्धिश्चेतना' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; स्वसंविदितस्वभावाऽभावे ज्ञानेऽर्थग्रहणस्यैवाऽसंभवात्। तद्धि तत्र अर्थादुत्पत्तेः, चेतनातो वा स्यात्? तत्र यदि अर्थादुत्पत्तेर्ज्ञानेऽर्थग्रहणमिष्यते; तर्हि घटेऽपि तदिष्यताम् चक्राद्यर्थात् तदुत्पत्तेरप्यविशेषात्। अथ चेतनातः; ननु कुतो ज्ञानस्य चेतनासिद्धिः–अर्थग्रहणात्, चेतनात्मप्रभवत्वाद्वा? अर्थग्रहणाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि अर्थग्रहणे चेतनासिद्धिः, तत्सिद्धेश्च अर्थग्रहणसिद्धिरिति। अथ चेतनात्मप्रभवत्वात्; ननु आत्मनोऽपि कुतश्चेतनत्वं सिद्ध्येत्–चेतनासमवायात्, स्वतो वा? यदि स्वतः; ज्ञानस्यापि तथा तदस्तु विशेषाऽभावात्। अथ चेतनासमवायात्; अयमपरोऽन्योन्याश्रयः–चेतनासमवायाद्धि आत्मा चेतनः, तत्प्रभवत्वाच्च बुद्धिश्चेतना इति।

किञ्च, 'अर्थग्रहणं बुद्धिः' इत्यत्र किम् 'अर्थस्यैव ग्रहणं बुद्धिः' इत्यवधार्यते, किं वा अर्थस्यापि?

१–मन्यत्रापि श्र०। २ सर्वज्ञत्वम्। ३–द्धेः तथाऽप्र–श्र०। ४–स्वभावमीश्वरज्ञानमभ्यु–आ०। ५–न्यस्यापि श्र०। अस्मदादिज्ञानमपि। ६ पृ० १८२ पं० ४। ७ "अर्थग्रहणत्वं हि ज्ञाने अर्थादुत्पत्तेः चेतनास्वरूपत्वतो वा भवेत्?" स्या० रत्ना० पृ० २२४।

तत्राद्यः पक्षोऽध्यक्षविरुद्धः; 'नीलम्' इत्युल्लेखेन अर्थग्रहणवत् 'अहम्' इत्युल्लेखेन आत्मग्रहणस्याप्यनुभवात्। न हि नीलादिसंवेदनाद् भिन्नकालं तदात्मसंवेदनम[1]नुभूयते; तत्संवेदनसमकालमेव अन्तः परिस्फुटरूपस्याऽनुभवात्[2]। अतोऽर्थसंवेदनस्य आत्मसंवेदनादभिन्नस्वभावत्वात् तत्संवेदने तदपि संविदितम् इति स्वसंवेदनसिद्धिः। यद् यस्माद् अभिन्नस्वभावं तस्मिन् गृह्यमाणे तद् गृहीतमेव यथा नीले गृह्यमाणे तस्यैव स्वरूपं सन्निवेशादि, स्वरूपसंवेदनाद् अभिन्नस्वभावश्च अर्थसंवेदनमिति।

अथ 'अर्थस्यापि ग्रहणम्' इत्ययं पक्षः कक्षीक्रियते; तदा सिद्धसाधनं स्वसंवेदनाऽप्रतिक्षेपात्। यदि च ज्ञानमस्वसंविदितस्वभावम् इष्यते; तदा तत् किं परोक्षं स्यात्, ज्ञानान्तरवेद्यं वा? न तावत् परोक्षम्; मतान्तरप्रसङ्गात्, तेनाऽ[3]प्रत्यक्षेण अर्थप्रत्यक्षताविरोधाच्च। तथाहि–यद् अव्यक्तव्यक्तिकं न तद् व्यक्तम् यथा किञ्चित् केनचिद् अज्ञानम्, अव्यक्तव्यक्तिकञ्च नीलादिकं वस्तु इति। व्यक्तिर्हि ज्ञानम्, सा यदा अव्यक्ता; तदा कथम् अर्थव्यक्ततोपपन्ना, सन्तानान्तरज्ञानादपि अर्थव्यक्तत्वाऽनुपङ्गात्।

अथ ज्ञानान्तरवेद्यं तदिष्यते; तत्रापि किं सहसम्भूतज्ञानसंवेद्यम्, उत्तरकालीनज्ञानसंवेद्यं वा स्यात्? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; युगपज्ज्ञानानामसंभवात्, अन्यथा "[4]*युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्*" [न्यायसू० १।१।१६ ।] इति वचो विरुद्धयेत। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; विच्छिन्नप्रतिभासाऽभावात्, न खलु 'प्रागर्थज्ञानम्, प[5]श्चात्तज्ज्ञानज्ञानम्' इति सान्तरा प्रतीतिरनुभूयते। ततः 'ग्रहणञ्च अर्थज्ञानस्य एकात्मसमवेताऽनन्तरज्ञानेन' इत्यादि प्रत्याख्यातम्।

किञ्च, उत्तरकालीनज्ञानकाले तत् प्राक्तनज्ञानम् अनुवर्तते, न वा? यद्यनुवर्तते; स एव ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्गः, अक्षणिकत्वाऽनुषङ्गश्च स्यात्। अथ नाऽनुवर्तते; कस्य तर्हि तद् ग्राहकम् ग्राह्यस्य प्रागेव विलीनत्वात्? किञ्च, इन्द्रियजं प्रत्यक्षं प्रवर्तमानं सम्बद्धे वर्तमाने च विषये प्रवर्तते, अतीतक्षणवर्तिनश्च ज्ञानस्य न वर्तमानत्वम् मनोलक्षणेन्द्रियसन्निकर्षो वा संभवति, न च असम्बद्धे अवर्तमाने चाऽर्थे प्रवर्तमानं ज्ञानं प्रत्यक्षं युक्तम्, तत्कथं तत्र मानसप्रत्यक्षवार्ताऽपि स्यात्? अर्थाद् उत्पन्नञ्च ज्ञानम् अर्थग्राहकम्, न च विनष्टस्य जनकत्वम्; असत्त्वात्। असतश्च अर्थक्रियाकारित्वाऽनुपपत्तिः; विरोधात्। न च विनश्यदवस्थस्य जनकत्वं युक्तम्; तथाभूतस्य कारकत्वाऽदर्शनात्, न हि म्रियमाणस्य पितुः पुत्रं प्रति का[6]रकत्वं दृष्टम्।

---

१ अहमित्युल्लेखरूपम्। २–भवनात् श्र०। ३ "परोक्षज्ञानविषयः परिच्छेदः परोक्षवत्।" न्यायवि० पृ० ९७ पू०। "तस्यापि च परोक्षत्वे प्रत्यक्षोऽर्थो न सिद्धयति। ततो ज्ञानावसायः स्यात्कुतोऽस्याऽसिद्धवेदनात्॥ २२४॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४७। ४ उद्धृतञ्चैतत्–सन्मति० टी० पृ० ४७७। न्यायवि० टी० पृ० ११७ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २२५। ५ पश्चाज्ज्ञानम् आ०, भां०। ६ कारणत्वं भां०, श्र०।

किञ्च, अर्थज्ञानोत्पत्तौ नियमेन तद्ग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते, न वा ? प्रथमपक्षे न पुरुषायुषेणाऽपि अर्थान्तरे ज्ञानस्य सञ्चारः ज्ञानज्ञानोत्पत्तावेव आजन्म मनसो व्यापारात्, तथा च अनवस्थातो[2] नार्थः अर्थज्ञानं वा सिध्येत्। न च अप्रत्यक्षेण अर्थज्ञानज्ञानेन अर्थज्ञानस्य, तेन च अर्थस्य प्रत्यक्षता युक्ता; सन्तानान्तरज्ञानादपि तत्प्रसङ्गात्। अथ तदुत्पत्तावपि नियमेन तन्नोत्पद्यते, अर्थजिज्ञासायां हि अर्थे ज्ञानमुत्पद्यते, ज्ञानजिज्ञासायां तु ज्ञाने; तदप्यसुन्दरम्; ज्ञानस्य जिज्ञासाप्रभवत्वाऽसंभवात्, नष्टाश्वस्य अश्वदिदृक्षायां सत्यामपि अश्वदर्शनाऽनुत्पत्तेः, असत्यामपि च गोदिदृक्षायां तद्दर्शनोत्पत्तेः।

किञ्च, 'अर्थजिज्ञासायां सत्याम् अहमुत्पन्नम्' इति तज्ज्ञानमेव प्रतिपद्यते, ज्ञानान्तरं वा ? प्रथमविकल्पे जैनमतसिद्धिः, तथा प्रतिपद्यमानं हि ज्ञानं स्वार्थपरिच्छेदकं स्यात्। द्वितीयविकल्पे तु अनवस्था–तत्रापि जिज्ञासाप्रभवत्वस्य अन्यतः प्रतीतेः। अस्तु वा तत्प्रभवतया तृतीया[3]दिज्ञानाऽनुत्पत्तिः; तथापि–'अर्थज्ञानम् अज्ञातमेव मया अर्थस्य परिच्छेदकम्' इति ज्ञानान्तरं प्रतिपद्यते, न वा ? प्रतिपद्यते चेत्[4]; तर्हि देव (तदेव) स्व-परपरिच्छेदकं सिद्धम्। न प्रतिपद्यते चेत्; कथं तथा प्रतिपत्तिः अतिप्रसङ्गात् ? [5]किञ्च, अर्थज्ञानम् अर्थम् आत्मानञ्च प्रतिपद्य 'अज्ञातमेव मया ज्ञानम् अर्थं जानाति' इति ज्ञानान्तरं प्रतीयात्, अप्रतिपद्य वा ? प्रथमपक्षे त्रिविषयत्वमस्य प्रसज्यते। द्वितीयपक्षे तु अतिप्रसङ्गः 'अज्ञातमेव मया अणुद्वयं द्व्यणुकमारभते' इत्यपि तत् प्रतीयादिति। ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे च अज्ञान[6]तैवास्य स्यात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षायाम् अप्रकाशतावत्, न हि स्वसिद्धौ परमुखप्रेक्षित्वं विहाय अन्यज् जडस्य लक्षणम्।

किञ्च, अर्थसंवेदनात् तत्संवेदनस्य भेदे तथैव उपलम्भः कुतो न स्यात् ? आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतच्छेदवद् यौगपद्याभिमानादिति चेत्; कथमेवं सर्वभावानां क्षणिकत्वं न स्यात् 'एकत्वाध्यवसायस्य अत्रापि [7]आशुवृत्तिप्रवृत्तत्वात्' इति बौद्धेनापि अभिधातुं शक्यत्वात् ? [8]मूर्तानाञ्च उत्पलपत्राणां मूर्तेन शू (सू)च्यग्रेण छेदः क्रमेणैव युक्तः; युगपत्प्राप्त्यभावात्। प्रयोगः–योऽयम् औत्तराधर्यक्रमावस्थितानां मूर्तानामुत्पलपत्राणां मूर्तेन एकपुरुषव्यापारात्

१ "विमुखज्ञानसंवेदो विरुद्धो व्यतिरन्यतः। असञ्चारोऽनवस्थानमविशेष्यविशेषणम्॥ १९॥ ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेक्षेत परस्तथा। ज्ञानज्ञानलताऽशेषनभस्तलविसर्पिणी॥ २१॥" न्यायवि० पृ० ११०-१११। प्रमाणपरी० पृ० ६०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२। युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७। सन्मति० टी० पृ० ४७९। प्रमेयक० पृ० ३४ उ०। स्याद्वादमं० पृ० ९४। चन्द्रप्रभच० २।५७-५९। २–तो ज्ञानात्मार्थज्ञानं वा भां०, श्र०। ३–तीयज्ञा–श्र०। ४ चेतदेव आ०, भां०। ५ "किञ्चाऽर्थज्ञानमर्थमात्मानं च प्रतिपद्य……" युक्त्यनुशा० टी० पृ० ९। प्रमेयक० पृ० ३७ उ०। ६–तैव स्यात् आ०, भां०। ७ आशुवृत्तित्वात् भां०। ८ "मूर्तस्य सूच्यग्रस्य औत्तराधर्यावस्थितमुत्पलपत्रशतं युगपद्व्याप्तुमशक्तेः।" प्रमेयक० पृ० ३६ पू०। सन्मति० टी० पृ० ४७७।

कृतः छेदः सः क्रमभाव्येव, यथा तथाभूतानां ताम्रपत्राणां मूर्तेन सूच्यग्रेण एकपुरुषव्यापारात् कृतश्च्छेद इति । आत्मनस्तु स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य अविकलेन्द्रियस्य अप्राप्तार्थप्रकाशकस्य अमूर्तस्य युगपत् स्वविषयप्रकाशने को विरोधः यतो युगपज्ज्ञानोत्पत्तिर्न स्यात् ? न च उत्पल[1]पत्रशतवत् परस्परपरिहारस्थितानि इन्द्रियाणि सूच्यग्रवन्मूर्तस्य मनसः युगपत्प्राप्तुमसमर्थत्वान्न तथा तदुत्पत्तिः इत्यभिधातव्यम् ; भवत्कल्पितस्य मनसः षट्पदार्थपरीक्षावसरे निराकरिष्यमाणत्वात् ।

यदप्युक्तम्[2]–'स्वेन-आत्मनैव संवेदनम् स्वसंवेदनम् ; तदयुक्तम् ; स्वात्मनि क्रियाविरोधात्' इत्यादि; तदप्यसारम् ; ईश्वरज्ञानेन प्रदीपाद्यालोकेन च अनेकान्तात् । न हि ईश्वरज्ञानं स्वप्रकाशने ज्ञानान्तरमपेक्षते "स्वपरावभासकमेकं नित्य[3]ज्ञानं जगत्कर्तुः [ ] इत्यभ्युपगमात् । नापि प्रदीपाद्यालोकः स्वरूपप्रकाशने प्रकाशान्तरमपेक्षते; प्रतीतिविरोधात् । का च क्रिया[4] ज्ञानस्य स्वात्मनि विरुद्ध्यते–किम् उत्पत्तिरूपा, परिस्पन्दात्मिका, धात्वर्थस्वभावा, ज्ञप्तिलक्षणा वा ? यदि उत्पत्तिलक्षणा; सा विरुद्ध्यताम् । न हि 'ज्ञानम् आत्मानमुत्पादयति' इति अस्माकमभ्युपगमः, स्वसामग्रीतः तदुत्पत्तिप्रतिज्ञानात् । नापि[5] परिस्पन्दात्मिका ; तस्या द्रव्यवृत्तित्वेन अद्रव्यरूपे ज्ञाने सत्त्वस्यैवाऽसंभवात् ।

धात्वर्थरूपाऽपि–अकर्मिका, सकर्मिका वा क्रिया स्वात्मनि विरु[6]द्ध्यते ? न तावदकर्मिका; 'वृक्षस्तिष्ठति' इत्यादौ तस्याः स्वात्मन्येव प्रतीतेः । अथ प्रतीतितः अस्यास्तत्राऽविरोधः; तर्हि 'ज्ञानं प्रकाशते' इत्याद्यकर्मकक्रि[7]यायाः ज्ञानस्वरूपेऽप्यविरोधोऽस्तु, प्रतीतेः उभयत्राप्यविशिष्टत्वात् । अथ 'ज्ञानम् आत्मानं जानाति' इति सकर्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धा, ततोऽन्यत्रैव कर्मत्वप्रतीतेः इत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम् ; 'आत्मा आत्मानं हन्ति, प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति' इत्यादेरपि विरोधाऽनुषङ्गात् । आत्मादेः कर्तुः कर्मत्वोपचारः ज्ञानेऽपि समानः । एतेन ज्ञप्तिक्रियायाः स्वात्मनि विरोधः प्रत्याख्यातः ; स्वरूपेण कस्यचिद् विरोधाऽसिद्धेः, अन्य[8]था प्रदीपस्यापि स्वपरप्रकाशनविरोधः स्यात्, न चैवम् , अतो यथा प्रदीपः स्वकारणकलापात् स्वपरप्रकाशनस्वभावो जायमानो न विरोधमध्यास्ते तथा ज्ञानमपि । अथ ज्ञप्तिक्रिया कर्मतया स्वात्मनि विरुद्ध्यते त[9]तोऽन्यत्रैव कर्मत्वस्य प्रतीतेः; तर्हि प्रकाशनक्रियापि प्रदीपस्वरूपे [10]तथा विरुद्ध्यताम् स्वरूपादन्यत्रैव [11]अस्या अपि [12]प्रतीत्यविशिष्टत्वात् । स्वसामग्रीतः स्वपर-

---

१–पत्रवत् आ०, भां० । २ पृ० १८२ पं० १४ । ३–त्यं ज्ञानं श्र० । ४ "का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा; परिस्पन्दरूपा, धात्वर्थरूपा वा ?" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२ । "किमुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा…" प्रमाणपरी० पृ० ५९ । आप्तपरी० पृ० ४७ । प्रमेयक० पृ० ३५ उ० । स्या० रत्ना० पृ० २२८ । स्या० मं० पृ० ९३ । ५ परस्पन्दा–आ० । ६ विरुद्ध्येत श्र० । ७–क्रियायां आ० । ८ अन्यथापि प्र–आ० । ९ स्वात्मनः । १० कर्मतया । ११ प्रकाशनक्रियायाः । १२ प्रतीतिविशेषात् आ० ।

प्रकाशनस्वभावस्य अस्योत्पत्तेः तस्यास्तत्राऽविरोधः, इत्यन्यत्रापि समानम्। यदि चैकत्र दृष्टो धर्मः सर्वत्र विधीयते प्रतिषिध्यते वा, तर्हि रथ्यापुरुषे असर्वज्ञत्वोपलम्भात् महेश्वरेऽपि तत्प्रसङ्गः, द्विचन्द्रादिज्ञाने च प्रामाण्यप्रतिषेधप्रतीतेः एकचन्द्रादिज्ञानेऽपि तत्प्रतिषेधप्रसङ्गः। अत्र वस्तुवैचित्र्यसंभवे ज्ञानेन किमपराद्धं येन तत् तत्र नेष्यते ?

किञ्च, ज्ञानान्तरापेक्षया तत्र कर्मत्वविरोधः, स्वरूपापेक्षया वा ? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य असर्वज्ञत्वम्, "*एकात्मसमवेताऽनन्तरज्ञानग्राह्यम् अर्थज्ञानम्।*" [ ] इति ग्रन्थविरोधश्च स्यात्। ज्ञानान्तरापेक्षया तत्र तस्याऽविरोधे च स्वरूपापेक्षयापि अविरोधोऽस्तु, सहस्रकिरणवत् स्वपरोद्योतनस्वभावत्वात्तस्य। कर्मत्ववच्च ज्ञानक्रियातोऽर्थान्तरस्यैव करणत्वस्य प्रतीतेः तस्यापि तत्र विरोधः स्यात्, तथा च 'ज्ञानेन अहमर्थं जानामि' इति ज्ञानस्य करणतया प्रतीतिर्न स्यात्।

अथ अर्थवत् ज्ञाने ज्ञानस्वरूपस्याऽप्रतीतेर्न स्वतः प्रत्यक्षता; ननु 'अर्थवत्' इति कोऽर्थः– किं यथा अर्थो बहिर्देशसम्बद्धः प्रतीयते न तथा ज्ञानम्, किं वा यथा अर्थोन्मुखं ज्ञानं न तथा स्वोन्मुखम् इति ? प्रथमविकल्पे सिद्धसाध्यता, घटाद्यर्थ-तज्ज्ञानयोर्बहिरन्तर्देशसम्बद्धतया अवभासनात्। घटाद्यर्थदेशसम्बद्धतया ज्ञानस्याऽप्रतिभासनाद् अप्रत्यक्षत्वे घटाद्यर्थस्यापि ज्ञानदेशसम्बद्धतयाऽप्रतिभासनाद् अप्रत्यक्षता स्यात्। द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; 'घटम्' 'अहम्' 'वेद्मि' इति त्रयस्यापि प्रतिभासनात्। अत्र प्रतिभासद्वयविलोपे घटप्रतिभासे कः समाश्वासः ?

किञ्च, ज्ञानस्वरूपताऽप्रतिभासे कथं तस्य अर्थोन्मुखत्वम् अन्यद्वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् 'अस्य इदम्' इति सम्बन्धप्रतिपत्तेः सम्बन्धिप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् ? अथ ज्ञानान्तरेण ज्ञानं प्रतीत्य अर्थोन्मुखत्वमस्य प्रतीयते; तदा आवृत्त्या अर्थप्रतीतिप्रसङ्गः–प्रथमं हि प्रथमज्ञानेऽर्थप्रतीतिः ततो ज्ञानान्तरे, कथमन्यथा 'अर्थोन्मुखमेतत्' इति प्रतीतिः स्यात् ? ततो ज्ञाने अर्थोन्मुखत्वप्रतिभासवत् स्वोन्मुखत्वप्रतिभासोऽप्यभ्युपगम्यताम् अलं प्रतीत्यपलापेन।

कश्चै क्रियायाः स्वात्मा यत्र अस्या विरोधः प्रतिपाद्यते–किं तस्याः स्वरूपम्, क्रियावदात्मा वा स्यात् ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्वरूपस्याविरोधकत्वात्, अन्यथा सर्वभावानां स्वरूपे विरोधाऽनुषङ्गात् निःस्वरूपत्वप्रसङ्गः स्यात्। विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च न अस्याः स्वरूपे विरोधो युक्तः। द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; क्रियावत्येव अखिलक्रियाणां प्रतीतेः, अन्यथा सर्वद्रव्याणां निष्क्रियत्वं क्रियाणाञ्च निराश्रयत्वं स्यात्, न चैवम्, कर्तृस्थायाः क्रियायाः कर्त्तरि कर्मस्थायाश्च कर्मणि प्रतीयमानत्वात्।

यदप्यभिहितम्–'प्रकाशत्वं बोधरूपत्वम्, भासुररूपसम्बन्धित्वं वा' इत्यादि; तदप्य-

---

१ वैचित्र्यम्। २–स्वज्ञानं आ०। ३ प्रथमपक्षे श्र०। ४ "स्वात्मा हि क्रियायाः स्वरूपं क्रियावदात्मा वा ?" आप्तपरी० पृ० ४७। प्रमेयक० पृ० ३५ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २२१। ५ पृ० १८२ पं० १७। ६ प्रकाशकत्वं श्र०।

भिधानमात्रम्; यतः अर्थप्रकाशकत्वम् अर्थोद्योतकत्वम् उच्यते तच्च क्वचिद् बोधरूपतया क्वचिद् भासुररूपतया वा न विरोधमध्यास्ते।

यच्चान्यदुक्तम्–'येनैवाऽऽत्मना ज्ञानमात्मानं प्रकाशयति तेनैवार्थम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; स्वभाव-तद्वतोः भेदाऽभेदं प्रति अनेकान्तात्, ज्ञानात्मना हि स्वभाव-तद्वतोः अभेदः, स्वपरप्रकाशस्वभावात्मना च भेदः, इति ज्ञानमेव अभेदः, तत्स्वभावौ एव भेदः इत्युक्तदोषाऽनवकाशः। कल्पितयोस्तु भेदाऽभेदयोः तद्दूषणप्रवृत्तौ स्वाभिप्राय एव प्रतिषिद्धः स्यान्न वस्तुस्वरूपम्। न चैवं कस्यचिद् इष्टतत्त्वव्यवस्था घटते; तथा तत्प्रवृत्तेः सर्वत्र संभवात्। स्व-परग्रहणस्वभावौ च ज्ञानस्य तत्प्रकाशनसामर्थ्यं, तद्रूपतया च अस्य परोक्षता, तत्प्रकाशनलक्षणकार्याऽनुमेयत्वात् तयोः, इत्युक्तदोषाऽनवकाशः इति।

एतेन सांख्योऽपि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रतिपादयन् प्रत्याख्यातः।

'अचेतनत्वात् न ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकम्' इति सांख्यस्य पूर्वपक्षः–

ननु ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकं न भवति अचेतनत्वात् पटादिवत्। न चास्य अचेतनत्वमसिद्धम्; तथाहि–अचेतनं ज्ञानम् प्रधानपरिणामत्वात् तद्वदेव। यत् पुनश्चेतनम् तन्न प्रधानपरिणामः यथा आत्मा, प्रधानपरिणामश्च ज्ञानम् इति। तत्परिणामत्वञ्चास्य सुप्रसिद्धम् "प्रकृतेर्महान्" [सांख्यका० २२] इत्याद्यभिधानात्। प्रधानस्य हि जगत्प्रपञ्चरचनायां प्रवर्तमानस्य प्रथमतो "महान् एको व्यापको विषयाध्यवसायस्वरूप आसर्गप्रलयस्थायी भवति "आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः"" [ ] इत्यभिधानात्। स च अस्माद्-

१ यतः अर्थोद्यो–श्र०। २ पृ० १८२ पं० २०। ३ तदप्यस–श्र०। ४ "स्वभावतद्वतोः भेदाभेदं प्रत्यनेकान्तात्..." प्रमेयक० पृ० ३८ पू०। ५–नवकाशः आ०। ६ तथा प्रवृत्तेः आ०। ७–हणभावौ आ०। ८ ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादस्य खण्डनं निम्नग्रन्थेषु विलोकनीयम्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४०। प्रमाणपरी० पृ० ६०। युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७। प्रमेयक० पृ० ३३ उ०। न्यायवि० टी० पृ० १०९ उ०। प्रमेयरत्नमा० सू० ६।१। सन्मति० टी० पृ० ४७५। स्या० रत्ना० पृ० २१९। स्या० मं० पृ० ९५ श्लो० १५। ९ "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ २२॥" सांख्यका०। "तस्याः प्रकृतेर्महान् उत्पद्यते प्रथमः कश्चित्। महान् बुद्धिः मतिः प्रज्ञा संवित्तिः ख्यातिः चितिः स्मृतिरासुरी हरिः हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः।" माठरवृ०, गौडपादभा०। सांख्यसं० पृ० ६। १० "महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥७१॥ महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनो मननवृत्तिकम्। मननमत्र निश्चयः। तद्वृत्तिका बुद्धिरित्यर्थः। यदेतद्विस्तृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्। महत्तत्त्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वं तदुच्यते॥" सांख्यप्र० भा० १।७१। "सत्तामात्रात्मभावो यश्चाहमस्मीति लक्षणः॥ ३८॥ आत्मनिश्चयबुद्धिर्वा लिङ्गमात्रं महानिति। बुद्धितत्त्वं तथाख्यातं तत् पट् प्रकृतिकारणम्॥३९॥" योगका० साधनपाद। ११ उद्धृतश्चैतत्–तत्त्वसं० पं० पृ० २९। सन्मति० टी० पृ० ३००।

शामसंवेद्यस्वभावः, ततस्तु या प्रतिप्राणि विभिन्ना इन्द्रिय-मनोवृत्तिद्वारेण बुद्धिवृत्तयो निस्सरन्ति ताः प्रमाणान्तरेण संवेद्यस्वभावाः। प्रतिपुरुषं हि इन्द्रियवृत्तिः प्रथमतो विषयाकारेण परिणमते ततो मनोवृत्तिद्वारेण, बुद्धिवृत्तिः एकतः सङ्क्रान्तविषयाकारा अन्यतश्च सङ्क्रान्तचिच्छाया विषयव्यवस्थापिका। न खलु बुद्धौ आदर्शस्थानीयायां विषयाकाराऽसङ्क्रमे पुरुषेण अर्थश्चेतयितुं शक्यः "बुद्ध्[2]यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इत्यभिधानात्। बुद्ध्यध्यवसितं बुद्धिप्रतिविम्बितम् इत्यर्थः।

ननु बुद्धिव्यतिरिक्तस्य चैतन्यस्य कदाचिदप्यप्रतीतेः कथं तत्र चिच्छायासङ्क्रान्तिः? इत्यप्यसमीचीनम्; सतोऽप्यनयोर्विवेकस्य संसर्गविशेषवशाद् विप्रलब्धेन अवधारयितुमशक्तेः अयोगोलक-वह्निविवेकवत्। न च अयोगोलक-वह्न्योरपि अभेद एव इत्यभिधातव्यम्; अनयोः अन्योन्याऽसंभविसंस्थान-रूप[3]-स्पर्शविशेषप्रतीतितः अन्योन्यं भेदप्रतीतेः। ययोरन्योन्याऽसंभवी संस्थान-रूप-स्पर्शविशेषः प्रतीयते तयोरन्योन्यं भेदः यथा घट-पटयोः, अन्योन्याऽसंभवी संस्थान-रूप-स्पर्शविशेषश्च अयोगोलक-वह्न्योरिति। न चाऽयमसिद्धः; अयोगोलकवृत्तसन्निवेशाऽभासुररूपाऽनुष्णस्पर्शेभ्यो वह्निभासुररूपोष्णस्पर्शयोः प्रत्यक्षत एव विशेषः[4] प्रतीयते। अतो यथाऽत्र अन्योन्यप्रदेशाऽनुप्रवेशलक्षणसंसर्गाद् विप्रलब्धो भेदं नावधारयति एवं बुद्धिचैतन्ययोरपि। उक्तञ्च-"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनाव[5]दिव लिङ्गम्" [सांख्यका० २०] इति। अचेतनाऽपि हि बुद्धिः चेतनासंसर्गात् [6]चेतनायमाना प्रतिभासते इति।

---

१ "एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥...बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनश्च सङ्कल्प्य अहङ्काराय अहङ्कारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम्। सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥ बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति...।" सांख्यका० ३६, ३७। "इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेरर्थाकारा वृत्तिर्जायते...।" स्मृतिरपि-"तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिविम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥" सांख्यप्र० भा० १।८७। "बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिविम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्याः इत्यर्थः।" योगसू० तत्त्ववैशा० २। २०। २ उद्धृतश्चैतत्-तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५०। आप्तपरी० पृ० ४१। प्रमेयक० पृ० २६ उ०। न्यायवि० टी० पृ० ५४७ पू०। स्या० रत्ना० पृ० २३३। ३-रूपस्पर्शनयोः वि-भां०। ४ विशेषप्रतीतेः भां०, श्र०। ५-वदिह भां०, श्र०। "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥ यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्मात् तत्संयोगादचेतनं महदादि लिङ्गं अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्त्तते। को दृष्टान्तः? तद्यथा-अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संसृष्टः शीतो भवति अग्निना संयुक्त उष्णो भवति एवं महदादिलिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति।..."माठरवृ०, गौडपादभा०। ६ चेतयमाना श्र०।

अचेतनत्वनिरसनपुरस्सरं ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वव्यवस्थापनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'न स्वव्यवसायात्मकं ज्ञानम् अचेतनत्वात्' इति; तत्र किमिदमचेतनत्वं नाम–अस्वसंविदितत्वम्, अर्थाकारधारित्वम्, जडपरिणामत्वं वा? प्रथमपक्षे साध्याऽविशिष्टो हेतुः। द्वितीयपक्षे तु साधनविकलो दृष्टान्तः, न खलु पटादयो दर्पणादिवत् अर्थाकारधारिणः प्रतीयन्ते। स्वरूपाऽसिद्धश्च इत्थम्भूतमचेतनत्वम्; अमूर्ते ज्ञाने मूर्तस्याऽर्थस्य आकारधारित्वाऽनुपपत्तेः। तथाहि–न विषयाकारधारि ज्ञानम् अमूर्तत्वात्, यदमूर्तम् तद् विषयाकारधारि न भवति यथा आकाशम्, अमूर्तञ्च ज्ञानमिति। तद्धारित्वे वा अमूर्तत्वमस्य विरुद्ध्यते; तथाहि–यद् विषयाकारधारि तन्मूर्तम् यथा आदर्शादि, विषयाकारधारि च ज्ञानमिति। विषयाकारधारित्वञ्चास्य प्रागेव प्रबन्धेन प्रतिषिद्धम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन। जडपरिणामत्वमपि असिद्धमेव; आत्मपरिणामत्वात्तस्य। तथाहि–ज्ञानपरिणामवान् आत्मा द्रष्टृत्वात्, यस्तु न तथा स न द्रष्टा यथा घटादिः, द्रष्टा च आत्मा, तस्मात् ज्ञानपरिणामवान् इति। तथा चास्य अचेतनत्वसमर्थनार्थं यदुक्तम्–'प्रधानपरिणामत्वात्' इति साधनम्; तदप्यसिद्धमेव; अस्य आत्मपरिणामत्वसमर्थनात्।

न च आत्मनः अनित्यज्ञानपरिणामात्मके अनित्यत्वापत्तिः; प्रधानेऽपि तत्प्रसङ्गात्। व्यक्ताऽव्यक्तयोरभेदेऽपि 'व्यक्तमेव अनित्यं परिणामत्वात्, न तु अव्यक्तं परिणामित्वात्' इत्यन्यत्रापि समानम्। आत्मनोऽपरिणामित्वे अर्थक्रियाकारित्वाऽभावतः अश्वविषाणवद् असत्त्वप्रसङ्गश्च। आसर्गप्रलयस्थायित्वं व्यापित्वञ्च बुद्धेः अतीवाऽनुपपन्नम्; तत्परिणामस्य तद्विरोधात्। तथाहि–न बुद्धिः व्यापिका नित्या च प्रधानपरिणामत्वात् पटादिवत्। न च आकाशादिना अनेकान्तः; तस्य तत्परिणामत्वाऽसिद्धेः। सिद्धौ वा तद्वत् तस्यापि तद्विरोधप्रसङ्गः। अथ तत्परिणामत्वाऽविशेषेऽपि किञ्चिद् आसर्ग-प्रलयस्थायि व्यापकञ्च अन्यद् अन्यथा; तर्हि तदविशेषेऽपि 'ज्ञानं स्वसंविदितं पटादिकञ्च अन्यथा' इति किन्नेष्यते अविशेषात्?

किञ्च, अयं प्रथमो बुद्धिरूपः परिणामः प्रकृतेः कुतः स्यात्–स्वभावतः, पुरुषार्थकर्त्तव्यतातः, अदृष्टाद्वा? यदि स्वभावतः; तर्हि सदा अस्य सत्त्वप्रसङ्गः स्वभावस्य सदा सत्त्वसंभवात्। यत् स्वाभाविकं न तत् कादाचित्कम् यथा त्रिगुणात्मकत्वम्, स्वाभाविकश्च प्रकृतेराद्यो बुद्धिपरिणाम इति। अथ पुरुषार्थकर्त्तव्यताहेतुः, 'आत्मनो हि भोगो मया सम्पादनीयः' इत्यनुसन्धाय प्रकृतिः महदादिभावेन परिणमते इति; तदप्यसुन्दरम्; जडस्वभावायास्तस्याः

---

१ पृ० १८९ पं० ११। २ "प्रधानस्य चाऽनित्याद् व्यक्तादनर्थान्तरभूतस्य नित्यतां प्रतीयन् पुरुषस्यापि ज्ञानादशाश्वतादनर्थान्तरभूतस्य नित्यत्वमुपैतु सर्वथा विशेषाभावात्।" आप्तपरी० पृ० ४१। स्या० रत्ना० पृ० २३५। ३ "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ १०॥" सांख्यका०। ४ पटादिवत्। ५ आकाशस्यापि। ६ नित्यत्वव्यापकत्वविरोध।

'पुरुषार्थो मया सम्पादनीयः' इत्यनुसन्धानानुपपत्तेः। तथाहि–प्रथमसृष्टिकाले प्रकृतिः अनुसन्धानशून्या अनुत्पन्नबुद्धिवृत्तित्वात्, यदाऽसौ अनुत्पन्नबुद्धिवृत्तिः तदा अनुसन्धानशून्या यथा संहृतसृष्टयवस्थायाम्[1], अनुत्पन्नबुद्धिवृत्तिश्च प्रकृतिः प्रथमसृष्टिकाले इति। उत्पन्नायां बुद्धिवृत्तौ सङ्क्रान्तायाञ्च चिच्छायायां भवति अनुसन्धानम्, प्रथमसृष्टिकाले च प्रकृतेर्जडत्वात् पुरुषस्य च निरभिलापत्वात् 'पुरुषार्थमहं प्रवर्ते' इति कस्य इदमनुसन्धानं स्यात्? चिच्छायासङ्क्रान्तिश्च पुरुषस्य बुद्धौ प्रतिबिम्बनम् यथा मुखस्य दर्पणे, न च व्यापिनोऽस्य क्वचित् प्रतिबिम्बनं युक्तम्। यद् व्यापकं न तत् क्वचित् प्रतिबिम्बति यथा आकाशम्, व्यापकश्च आत्मा इति।

किञ्च, अस्वच्छस्वभावस्य मुखादेः स्वच्छस्वभावे दर्पणे प्रतिबिम्बनमुचितम्, बुद्धौ तु त्रिगुणात्मकत्वेन अत्यन्तम्लानस्वभावायां कथमत्यन्तस्वच्छस्वभावः पुरुषः प्रतिबिम्बेत्? यत् स्वच्छस्वभावं न तद् अस्वच्छस्वभावे प्रतिबिम्बति यथा दर्पणो मुखे, स्वच्छस्वभावश्च चिन्मयः पुरुष इति। प्रतिबिम्बने वा अस्य अस्मादृशामसंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात् न तत्प्रतिबिम्बप्रतिपत्तिः स्यात्। यद् असंवेद्यपर्वणि स्थितं न तस्य क्वचित् प्रतिबिम्बितस्यापि प्रतिबिम्बग्रहणम् यथा परमाणोः, असंवेद्यपर्वणि स्थितश्च अस्मादृशाम् आत्मा इति। तद्ग्रहणे वा मुख-दर्पणयोरिव प्रकृति-पुरुषयोः विवेकेन अवधारणात् तन्निमित्तः सर्वस्य सर्वदा मोक्षः स्यात्[2], ततो न कश्चित् शास्त्रश्रवण-मनन-निदिध्यासनादिषु[3] प्रयतेत। तन्न पुरुषार्थकर्त्तव्यतातोऽपि प्रकृतेः तत्परिणामः। नापि अदृष्टात्; चक्रकप्रसङ्गात्–सिद्धे हि चिच्छायाच्छुरितबुद्धिवृत्तिसद्भावे सुखसाधनप्रतिपत्तिपूर्वकमदृष्टसाधनानुष्ठानम्, तदनुष्ठानाद् अदृष्टस्योत्पत्तिः, तदुत्पत्तौ च प्रथमसृष्टिकाले तथाविधबुद्धिवृत्तिसद्भावसिद्धिरिति।

यदप्युक्तम्[4]–'तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिव[5] लिङ्गम्' इति; तत्र कोऽयं संसर्गशब्दार्थः–प्रतिबिम्बनम्, भोग्यभोक्तृभावो वा? न तावत् प्रतिबिम्बनम्; तस्य प्रतिषिद्धत्वात्। नापि भोग्यभोक्तृभावः; पुरुषस्य निरभिलापत्वात्। न च अस्मिन्निरभिलापे प्रकृतेर्भोग्यता तस्य वा भोक्तृता उपपद्यते; निरभिलापस्य सुख-दुःखसंविल्लक्षणभोगाऽभावे भोग्य-भोक्तृभावाऽनुपपत्तेः। 'चेतनावत्' इत्यस्य च भाषितस्य कोऽर्थः–किम् 'अचेतनं चेतनं सम्पद्यते' इत्यर्थः, तच्छायाच्छुरितं वा? तत्राद्यपक्षोऽसाम्प्रतः; अन्यसन्निधाने अन्यस्य अन्यधर्मस्वीकाराऽसंभवात्[6], अन्यथा अकर्तृत्वादिधर्मोपिताऽऽत्मसन्निधानात् प्रकृतेरपि अकर्तृत्वादिधर्मस्वीकारः स्यात्, तथा च 'प्रकृतेर्महान्' इत्यादि जगत्प्रपञ्चप्ररूपणा विशीर्येत। अत्रैवाऽर्थे प्रयोगः–चेतना बुद्धौ तद्व्यपदेशहेतुर्न[7] भवति आत्मधर्मत्वात्, यो यः आत्मधर्मः स सोऽन्यत्र तद्व्यपदेशहेतुर्न भवति यथा प्रकृतौ अकर्तृत्वादिः; आत्मधर्मश्च चेतना इति। अथ चैतन्यसन्निधाने बुद्धिः

१ धर्मेयदशायाम्। २ स्यात्ततो आ०। ३–षु यतेत श्र०। ४ पृ० १९० पं० १५। ५–वदिह भां०, श्र०। ६–रासंभावात् आ०। ७ तद्वद्व्यप– श्र०।

तच्छायाच्छुरिता भवति इत्युच्यते; तदप्यविचारितरमणीयम्; तत्सन्निधानस्य सदैव सद्भावात्, अतो बुद्धेः आसर्ग-प्रलयस्थायिन्याः सदैव तच्छायाच्छुरितत्वाऽनुषङ्गात् सदा संवित्तिः स्यात्, तथा च 'अस्मादृशाम् असंवेद्यपर्वणि स्थितः' इति वचो विरुद्ध्यते। न चास्या वास्तवचैतन्याऽभावे विषयव्यवस्थापनशक्तिर्युक्ता, न खलु माणवकस्य अग्न्युपचाराद् दाहादिजननशक्तिर्दृष्टा। यद् यत्रोपचरितं न तत्तत्र मुख्यप्रयोजनप्रसाधकम् यथा माणवके अग्न्यादि, उपचरितञ्च बुद्धौ चैतन्यमिति।

किञ्च, मुख-आदर्शवत् बुद्धि-चैतन्ययोर्भेदे सिद्धे सति अन्यस्याऽन्यत्र प्रतिबिम्बनं युक्तम्, न चासौ सिद्धः, संविद्रूपस्यैकस्यैव हर्ष[1]-विषादाद्यनेकाऽऽकारस्य विषयव्यवस्थापकत्वेन अनुभवप्रसिद्धत्वात्। तस्यैवं एते 'चैतन्यम्, बुद्धिः, अध्यवसायः, ज्ञानम्[2], संवित्तिः' इति पर्यायाः। तथा च चैतन्यं ज्ञानमेव तद्वाचकैः प्रतिपाद्यमानत्वाद् बोधवत्। प्रसिद्धो[3] हि लोके 'चेतयते, जानीते, बुद्ध्यते, अध्यवस्यति, पश्यति' इति एकार्थे प्रयोगः। न च शब्दभेदमात्राद् वास्तवोऽर्थभेदः; अतिप्रसङ्गात्।

यदप्यभिहितम्[4]–'संसर्गविशेषवशाद्विप्रलब्धो बुद्धि-चैतन्ययोर्विवेकं नावधारयति' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; वह्नि[5]-अयोगोलकयोरपि अन्योन्यं भेदाऽभावात्, अयोगोलकद्रव्यं हि पूर्वाकारपरित्यागेन अग्निसन्निधानाद् विशिष्टरूप-स्पर्शपर्यायाऽऽधारमेकमेव उत्पन्नमनुभूयते आमाऽऽकारपरित्यागेन पाकाकाराधारघटद्रव्यवत्। एवमिहापि एकस्मिन् स्व-परप्रकाशात्मकपर्याये अनुभूयमाने अन्यसद्भावो नाऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा न क्वचिद् एकत्वव्यवस्था स्यात्।

१ "एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः।···" न्यायमं० पृ० ७४। २ "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।" न्यायसू० १।१।१५। प्रशस्त० भा० पृ० १७१। "बुद्धिः किल त्रैगुण्यविकारः त्रैगुण्यं चाऽचेतनमित्यचेतनम्। केवलमिन्द्रियप्रणालिकया अर्थाकारेण परिणमते। चितिशक्तिश्चापरिणामिनी नित्यचैतन्यस्वभावा। तस्याः सन्निधानादयस्कान्तमणिकल्पा बुद्धिः तत्प्रतिबिम्बोद्ग्राहितया चैतन्यरूपतामापन्ना इव अर्थाकारपरिणता अर्थं चेतयते। तेन योऽसौ नीलाकारः परिणामो बुद्धेः स ज्ञानलक्षणा वृत्तिरित्युच्यते। आत्मप्रतिबिम्बस्य तु बुद्धिसङ्क्रान्तस्य यो बुद्ध्याकारनीलसम्बन्धः स आत्मनो व्यापार इवोपलब्धिः आत्मनो वृत्तिरित्याख्यायते। तदिदं बुद्धितत्त्वं जडप्रकृतितया इन्दुमण्डलमिव स्वयमप्रकाशं चैतन्यमार्त्तण्डमण्डलच्छायापत्त्या प्रकाशते, प्रकाशयति चार्थान्, इति तन्निराकरणाय पर्यायोपन्यासः बुद्धिरुपलब्धिः···।" न्यायवा०ता०टी० १।१।१५। प्रशस्त० कन्द० पृ० १७१। "बुद्धिरध्यवसायो हि संवित्संवेदनं तथा।. संवित्तिश्चेतना चेति सर्वं चैतन्यवाचकम् ॥ ३०२ ॥" तत्त्वसं० पृ० ११५। सन्मति० टी० पृ० ३०४। स्या० रत्ना० पृ० २३८। ३ "समानं भवति पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्रापि अर्थो न भिद्यते" न्यायभा० ३।२।३। "य एव बुद्ध्यते जानाति अध्यवस्यति स एव पश्यति चेतयते च, न खल्वत्र वस्तुरूपभेदं पश्यामः··· ।" न्यायमं० पृ० ४९१। ४ पृ० १९० पं० ८। ५ "वह्न्ययोगोलकयोरप्यभेदात्··· ।" प्रमेयक० पृ० २६ उ०।

सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च, अनिष्टपरिहारेण इष्टे वस्तुन्येकस्मिन् अनुभूयमानेऽपि अन्यसद्भावाऽऽशङ्कया क्वचित् प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेः। ततः अबाधितैकत्वप्रतिभासाद् अन्यपरिहारेणावभासमाने वस्तुनि एकत्वव्यवस्थामिच्छता अनुभवसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनेकधर्माऽऽधारचिद्विवर्तस्यापि एकत्वेनाऽनुभूयमानस्य एकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, न पुनः तद्व्यतिरिक्ता तेन संसृष्टा बुद्धिः। प्रयोगः–यद् यतो व्यतिरेकेण नोपलभ्यते न तत् तद्व्यतिरेकेण अभ्युपगन्तव्यम् यथा पृथुबुध्नोदराद्याकारव्यतिरेकेण घटः, नोपलभ्यते च चैतन्यव्यतिरेकेण बुद्धिरिति।

यदपि–'इन्द्रियमनोवृत्तिद्वारेण' इत्याद्युक्तम्[२]; तदप्ययुक्तम्; इन्द्रियादिवृत्तेः प्रागेव अपास्तत्वात्। अस्तु वाऽसौ; तथापि एतद्द्वारेण प्रतिप्राणि प्रसृतानां बुद्धिवृत्तीनां ज्ञानान्तरवेद्यत्वे यौगपक्षोक्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्गः। सङ्क्रान्तविषयाऽऽकारत्वञ्चाऽऽत्मनः बुद्धिरेवावगच्छति, आत्मा वा? न तावद् बुद्धिरेव; स्वयं स्वात्मनोऽप्रतिपत्तौ 'अहमनेन समाना' इति प्रतिपत्तेरयोगात्, तथा तत्प्रतिपत्तौ तु सिद्धं स्वसंविदितत्वम्।

स्वयं ज्ञानान्तरेण वा बुद्धेरर्थसारूप्यप्रतिपत्तौ[३] वा बौद्धपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्गः। आत्माऽपि बुद्ध्यर्थौ प्रतिपद्य तत्सारूप्यं प्रतिपद्येत, अप्रतिपद्य वा? न तावदप्रतिपद्य; अर्थस्य बुद्धेश्च अप्रतिपत्तौ तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः, द्वयोर्हि स्वरूपप्रतिपत्तौ 'अयमनेन समानः' इति सारूप्यप्रतिपत्तिर्युक्ता, न पुनस्तदप्रतिपत्तौ। तथाहि–सादृश्यप्रतिपत्तिः तदुभयप्रतिपत्तिपूर्विका[४] सादृश्यप्रतिपत्तित्वात् गो-गवयसादृश्यप्रतिपत्तिवत्। अथ बुद्ध्यर्थौ प्रतिपद्यतेऽसौ; किं स्वतः, बुद्ध्यन्तरेण वा? स्वतस्तत्प्रतिपत्तौ बुद्धिकल्पनावैफल्यम्। क्रियायाः करणमन्तरेणाऽनुपपत्तेः तत्साफल्यम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; इन्द्रियाऽन्तःकरणयोरेव तत्र करणत्वोपपत्तेः। बुद्ध्यन्तरेण तत्प्रतिपत्तौ च अनवस्था। न च प्राक्तनबुद्धिकाले बुद्ध्यन्तरमस्ति; ज्ञानयौगपद्याऽनभ्युपगमात्, अतः कथं तेनापि तत्काले स्वयमसता तत्प्रतिपत्तिः स्यात्? साकारताऽभ्युपगमे च दूराऽतीतादिव्यवहाराऽभावो बौद्धपक्षोक्तः अत्रापि द्रष्टव्य इति[५]।

एतेन[६] 'न ज्ञानं स्वसंविदितम् भूतपरिणामत्वात् घटादिवत्' इत्याचक्षाणश्चार्वाकोऽपि प्रत्याख्यातः; ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यतायां यौग-साङ्ख्यपक्षोक्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्गात्। भूतपरिणामत्वञ्च असिद्धम् आत्मपरिणामत्वात्तस्य। आत्मसिद्धिश्च प्रमेयपरिच्छेदे चार्वाकमतपरीक्षावसरे विधास्यते इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

१–रेण च भा–आ०, भां०। २ पृ० १९० पं० १। ३–त्तौ बौ–श्र०। ४ तद्द्वुभय–आ०, भां०। ५ अस्य च प्रधानपरिणामात्मकबुद्धिवादस्य पर्यालोचनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–न्यायसू०, भाष्य, वार्त्तिक, ता० टीका १।१।१५। ३।२।३-५। न्यायमं० पृ० ४९०। तत्त्वसं० पृ० ११५। प्रमाणपरी० पृ० ६१। प्रमेयक० पृ० २६। स्या० रत्ना० पृ० २३३। न्यायवि० टी० पृ० १२० उ०। ६ "न स्वसंवेद्यं ज्ञानं कायाकारपरिणतभूतपरिणामत्वात् पित्तादिवत्…" प्रमाणपरी० पृ० ६२।

तदेवं कारिकायाः पूर्वभागं व्याख्याय उत्तरभागव्याख्यानार्थमुपक्रम्यते—

अवग्रहादीनां प्राक् प्रतिपादितविज्ञानविशेषाणां मध्ये **पूर्वस्य पूर्वस्य प्रमाणत्वम् स्यात्** भवेत् उत्तरपरिच्छित्तिविशेषं प्रति साधकतमत्वात्। **उत्तरम् उत्तरम्** विज्ञानं **फलम्** तत्प्रसाध्यत्वात्। तद् यद्या (यथा) अवग्रहस्य प्रमाणत्वे ईहा फलम्, एवम् उत्तरत्रापि योज्यम्।

कारिकोत्तरार्द्धव्याख्यानम्—

स्वतः प्रामाण्यवादिनां मीमांसकस्य पूर्वपक्षः—

ननु चास्तु उक्तप्रकारेणैषां प्रमाण-फलव्यवस्था; तत्प्रामाण्यं[1] तु स्वतः अभ्युपगन्तव्यम्, परतस्तदभ्युपगमे अनेकदोषोपनिपातात्[2]। तथाहि—प्रमाणस्य भावः अर्थपरिच्छेदिका शक्तिः, कर्म वा अर्थपरिच्छेदः प्रामाण्यम्। तच्च स्वतः—विज्ञानमात्रोत्पादकसामग्रीतो जायते। न हि तत् स्वात्मनि स्वव्यापारे वा तदुत्पादकसामग्रीव्यतिरिक्तं किञ्चिदधिकं गुणादिकमपेक्षते; तस्य विधिमुखेन कार्यमुखेन चाऽप्रतीतेः अनुमानवत्। न हि अनुमाने ज्ञानोत्पादकं त्रैरूप्याऽतिरिक्तं कारणान्तरं प्रामाण्योत्पादकमुपलभ्यते; अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तत एव तदुत्पत्तिप्रतीतेः। किञ्च, अर्थतथात्वपरिच्छेदिका शक्तिः प्रामाण्यम्, शक्तयश्च भावानां स्वत एव आविर्भवन्ति न उत्पादककारणाधीनाः। तदुक्तम्—

"स्वतः[3] सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥" [मीमांसाश्लो० सू० २ श्लो० ४७]

नैचैतत्[4] सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणाद् अभिधीयते, किन्तु यः कार्यगतो धर्मः कारणे समस्ति स कार्यवत् तत एवोत्पद्यते, यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेऽपि मृत्पिण्डादुपजायमाने[5] मृत्पिण्डरूपादिद्वारेण उत्पद्यन्ते। ये तु कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते तत एवोत्पद्यन्ते किन्तु स्वत एव, यथा तस्यैव उदकाहरणशक्तिः। एवं विज्ञानेऽपि अर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः चक्षुरादिष्वविद्यमाना तेभ्यो नोदयमासादयति किन्तु स्वत एव आविर्भवति। उक्तञ्च—

"आत्मलाभे[6] हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥" [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४८]

---

१ "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥ प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः। प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥" सर्वद० जैमिनिद०। "सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत् प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा ? ॥ ३३ ॥" "......स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्...॥ ४७ ॥" मीमांसाश्लो० सू० २। २–पातात् अर्थपरि– आ०। ३ उद्धृतश्चैतत्–तत्त्वसं० पृ० ४७५। न्यायमं० पृ० १६५। प्रमेयक० पृ० ३९ उ०। सन्मति० टी० पृ० ४। ४ "न चैतत्सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते; किन्तु यः...." प्रमेयक० पृ० ३९ उ०। ५ मृत्पिण्डाज्जाय–श्र०। ६ उद्धृतश्चैतत्– प्रमेयक० पृ० ३९ उ०। सन्मति० टी० पृ० ४। तत्त्वसंग्रहे तु पूर्वपक्षे कुमारिलकर्तृकतया (पृ० ७५६) उपलभ्यते।

यथा–"मृद्-दण्ड-चक्र-सूत्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे त्वस्य परापेक्षा न विद्यते ॥" [ ]

तत्र उत्पत्तौ प्रामाण्यं गुणादिकमपेक्षते । नापि अर्थपरिच्छेदलक्षणे स्वव्यापारे स्वग्रहणम्, अगृहीतप्रामाण्यादपि प्रमाणाद् अर्थपरिच्छेदप्रतीतेः । यदि पुनः संवादकज्ञानात् गुणज्ञानात् अर्थक्रियाज्ञानाद्वा प्रामाण्यनिश्चयः स्यात्, तदा अनवस्थादिदोषाऽनुषङ्गः–संवादज्ञानस्य संवादज्ञानान्तराऽपेक्षणात्, गुणज्ञानस्य गुणज्ञानान्तरापेक्षणात्, अर्थक्रियाज्ञानस्य च तदितराऽपेक्षणात् । प्रथमज्ञानस्य द्वितीयात्, द्वितीयस्य च प्रथमात् प्रामाण्यनिश्चये अन्योन्याश्रयः । संवादादिज्ञानस्य संवादाद्यनपेक्षस्यैव तन्निश्चये प्रथमस्य तथा तद्भावे प्रद्वेषः किन्निबन्धनः ? उक्तञ्च–

"यथैव प्रथमं ज्ञानं तत्संवादमपेक्षते ।
संवादेनापि संवादः परो मृग्यस्तथैव हि ॥" [ ]
"कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ॥" [मीमांसाश्लो० सू० २ श्लो० ७६]
"संवादस्याथ पूर्वेण संवादित्वात् प्रमाणता ।
अन्योन्याश्रयभावेन प्रामाण्यं न प्रकल्प्यते ॥" [ ]

तस्मात् स्वत एव सर्वत्र प्रामाण्यम् ।

अप्रामाण्यं तु परतः, तत् खलु उत्पत्तौ ज्ञानोत्पादककारणाऽतिरिक्तं दोषाख्यं कारणान्तरमपेक्षते, निवृत्त्याख्ये च स्वकार्ये स्वग्रहणम् । अप्रमाणं हि संशय-विपर्यय-अज्ञानभेदात् त्रिविधम् । तत्र अज्ञानस्य ज्ञानाऽभावस्वरूपतया स्वतः सिद्धत्वान्न तत्र काचिदपेक्षा, संशय-विपर्ययोस्तु उत्पत्तौ प्रमातृदोषाः क्षुदादयः, मनोदोषा अप्रणिधानादयः, इन्द्रियदोषाः तिमिरादयः, विषयदोषाः चलत्वादयः, यथासंभवं कारणत्वेन अनुमन्यन्ते । निवृत्त्याख्ये स्वकार्ये स्वज्ञप्त्यपे-

१ मृत्पिण्डचक्रसूत्रादि भां० । न्यायमं० पृ० १६२ । 'मृत्पिण्डदण्डचक्रादि' प्रमेयक० पृ० ३९ उ० । सन्मति० टी० पृ० ४ । तत्त्वसंग्रहे तु पूर्वपक्षे कुमारिलकर्तृकतया । (पृ० ७५७) उपलभ्यते । "सर्वे हि भावाः स्वात्मलाभायैव स्वकारणमपेक्षन्ते । घटो हि मृत्पिण्डादिकं स्वजन्मन्येव अपेक्षते नोदकाहरणेऽपि । तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तौ गुणवत् इतरद्वा कारणमपेक्षतां नाम स्वकार्ये तु विषयनिश्चये अनपेक्षमेव ।" मीमांसाश्लो० टी० सू० २ श्लो० ४८ । २ एतत्कारिकात्रयं निम्नग्रन्थेषु उद्धृतं वर्तते–प्रमेयक० पृ० ४० पू० । सन्मति० टी० पृ० ६ । स्या० रत्ना० पृ० २५१ । 'कस्यचित्तु' इत्येका तु न्यायमं० पृ० १६३ । 'प्रद्वेषः किन्निबन्धनः' मीमांसाश्लो० । पूर्वे द्वे कारिके तत्त्वसंग्रहे पूर्वपक्षे कुमारिलकर्तृकतया (पृ० ७५७) उपलभ्येते । ३ "अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः । वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात् ॥ ५४ ॥" मीमांसाश्लो० सू० २ । ४ "अप्रमाणं पुनः स्वार्थग्राहकं स्यात् स्वरूपतः । निवृत्तिस्तस्य मिथ्यात्वे नाऽगृहीते परैर्भवेत् ॥ ८५ ॥" मीमांसाश्लो० सू० २ । ५–ख्ये अकार्ये श्रा० ।

क्षा च; उत्पन्नमात्रे ज्ञाने प्रतीतिमात्रे च साधारणे न तावत् पुरुषं निवर्त्तयति[1] यावत् कारणदोषज्ञानादिना तत् मिथ्यात्वेन नाऽवधार्यते। न च प्रामाण्यमपि उत्पत्तौ गुणाख्यं कारणान्तरमपेक्षते अतस्तदपि परतः इत्यभिधातव्यम्; गुणानां कुतश्चिदप्यप्रसिद्धेः, सिद्धौ वा न तदुत्पत्तौ व्यापारः दोषापसारणे एव[2] तेषां चरितार्थत्वात्। एवंविधमेव[3] हि पदार्थानां स्वरूपम्–यत् स्वयं संभवन्तः[4] स्वप्रतिपक्षमुन्मीलयन्ति, गुणाश्च दोषप्रतिपन्थिनः[5], अतः तैरपसारितेषु[6] तेषु स्वरूपत एव कारणानि व्याप्रियमाणानि प्रमाणभूतमेव ज्ञानं जनयन्ति। यदि पुनः निष्पन्नेऽपि[7] ज्ञाने स्वव्यापारकरणसामर्थ्यं स्वतो न स्यात् तदा तत्स्वरूपमेव अनिष्पन्नं स्यात्[8]। नहि अप्रकाशकत्वधर्मोपेते वह्नौ निष्पन्ने प्रकाशकत्वादयो धर्माः कारणान्तरेण उत्तरकालमाधीयन्ते इति प्रातीतिकम्। अस्तु वा गुणानां प्रमाणभूतज्ञानोत्पादने[9] व्यापारः; तथापि न प्रामाण्यस्य परतो भावः, प्रामाण्यं हि बोधकत्वम्, तच्च ज्ञानस्य अन्याऽनपेक्षस्य जन्मसमकालञ्चेत् संवृत्तम् तदा सिद्धा स्वतः प्रामाण्यप्रसिद्धिरप्रतिहतप्रसरा। एवञ्च सर्वेषामेव ज्ञानानामौत्सर्गिके बोधकत्वलक्षणे प्रामाण्ये स्थिते यत्र [10]बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानञ्च उत्पद्यते तत्र अप्रामाण्यं परतो निश्चीयते इति।

स्वतः प्रामाण्यवादप्रतिक्षेपपुरस्सरं प्रामाण्यस्य कथञ्चित्स्वतः-परतस्त्वप्रसाधनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[11]–'अर्थपरिच्छेदिका शक्तिः प्रामाण्यम्'; तत्र किम् अर्थमात्रपरिच्छेदिका शक्तिः प्रामाण्यस्वरूपं स्यात्, यथार्थपरिच्छेदिका वा? प्रथमपक्षे संशय-विपर्यय-स्वप्नादिज्ञानैः तल्लक्षणव्यभिचारः, तेषामप्रामाण्येऽपि अर्थमात्रपरिच्छेदिकायाः शक्तेः सद्भावात्। द्वितीयपक्षे तु परतः प्रामाण्यप्रसिद्धिः, विज्ञानमात्रोत्पादिकायाः चक्षुरादिसामग्रीतो यथार्थपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणप्रामाण्यस्यानुत्पत्तेः, गुणयुक्ताया एव तत्सामग्र्याः तदुत्पादने सामर्थ्यसंभवात्। ननु गुणानां विधिमुखेन कार्यमुखेन वा प्रतीत्यभावात् कथं तदधीना तस्योत्पत्तिः? इत्यसमीक्षिताभिधानम्; तेषां सकलजनसाक्षिकत्वेन प्रतीतिभूधराधिरूढत्वात्[12]। न हि 'चक्षुरादिगता नैर्मल्यादयः, विषयगताश्च आसन्न-निश्चलत्वादयः, मनोगताः प्रणिधानादयः, आत्मगताः [13]सन्तृप्तत्वस्वस्थतादयः, प्रकाशगताः स्फुटत्वादयः गुणा न सन्ति' इत्यभिदधानो लोकप्रतीत्या न बाध्यते।

ननु नैर्मल्यादि चक्षुरादेः स्वरूपम् न पुनर्गुणः। अथ कुतोऽस्य तत्स्वरूपतासिद्धिः–तद्गु-

१–र्त्तयन्ति आ०। २ "प्रामाण्यं तत्र गुणतो नैव स्यादित्युदाहृतम्॥ ६४॥ तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः। अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥ ६५॥" मीमांसाश्लो० सू० २। ३ एवैतेषाम् आ०। ४ संभवात् स्व–भां०, श्र०। ५–प्रतिबन्धिनः भां०, श्र०। ६–सारितेषु ते स्व–आ०। –सारितेषु स्व–भां०। ७ निष्पन्ने स्व–आ०, भां०। ८ स्यात् तथा च प्रकाश–आ०। ९–दनव्या–श्र०। १० "तस्माद् यस्य च दुष्टं कारणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एव असमीचीनः प्रत्ययो नान्यः।" शाबरभा० १।१।५। ११ पृ० १९५ पं० ८। १२–रारूढ–आ०। १३ संतृप्तस्वस्थानादयः आ०।

क्तस्यैव उत्पादात्, तद्व्यतिरेकेण अनुपलभ्यमानत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे रूपादिभिर्व्यभिचारः, घटादेः तद्युक्तस्यैवोत्पादेऽपि तेषां तद्गुणत्वप्रतीतेः। कथञ्चैवंवादिनः काचकामलादेः दोषता सिद्ध्येत् जाततैमिरिकस्य तद्युक्तस्यैव चक्षुरादेरुत्पादात् ? एतेन द्वितीयपक्षोऽपि प्रत्युक्तः; काचकामलादेः चक्षुषः रूपादेश्च घटादेर्भेदेनाऽनुपलभ्यमानस्यापि दोष-गुणत्वप्रतीतेः। कश्चात्र स्वरूपशब्दार्थः– तादात्म्यम्, तन्मात्रत्वं वा ? तत्र आद्यविकल्पे नैर्मल्यादेर्न गुणत्वनिषेधः तादात्म्यस्य तद्-प्रतिद्वन्दित्वात्, अन्यथा रूपादेरपि गुणत्वाऽभावः स्यात्। द्वितीयविकल्पस्तु अयुक्तः; चक्षु-रादौ अनुवर्तमानेऽपि अस्य निवर्तमानतया तन्मात्रत्वाऽनुपपत्तिः। यस्मिन्ननुवर्तमानेऽपि यन्नि-वर्तते न तत् तन्मात्रमेव, यथाऽनुवर्तमानेऽपि पटे नीलादिसंयोगान्निवर्तमानः शुक्लादिगुणः, अनुवर्तमानेऽपि चक्षुरादौ निवर्तते च कामलिनः कुपितादेर्वा नैर्मल्यादिकमिति।

यदि च गुणाः चक्षुरादौ नेष्यन्ते तर्हि तत्पटुत्वतारतम्यसद्भावो न प्राप्नोति, अस्ति चायम्– 'अयं पटुविन्द्रियः अयं पटुतरेन्द्रियः' इत्यादिप्रतीतेः। कथं वा गुणाऽनभ्युपगमे "*गुणेभ्यो दोषाणामभावः*" [मीमांसाश्लो० सू० २ श्लो० ६५] इत्यादि स्थाने स्थाने गुणसद्भावाऽऽवेदको वार्त्तिककारोद्गारः शोभते ? न च 'गुणो नाम न कश्चिदस्ति दोषाऽभावमात्रे तद्व्यवहारात्' इत्यभिधातव्यम्; दोषस्याप्येवम् असत्त्वाऽनुषङ्गात् तत्रापि 'गुणाऽभावमात्रे दोषव्यवहारः' इत्य-भिदधतो न वक्त्रं वक्रीभवति। नैर्मल्यादेर्मलाऽभावरूपतया अगुणत्वे च कथं तद्दर्शने लोकस्य 'इदं गुणवच्चक्षुः' इति व्यवहारः स्यात् ? अञ्जनादिना च चक्षुषो गुणातिशयाधानं सुप्रती-तमेव, कथमन्यथा बहलान्धकारायां निशीथिन्यां व्याघ्रादिनेत्रचूर्णाञ्जनाद् रूपविशेषोपलम्भः, शिशुमारवसाञ्जनात् जलान्तरितार्थस्य ग्रहणं वा ? न च सत्त्वेऽपि गुणानां दोषापसारणे व्यापा-रेण प्रामाण्याऽहेतुत्वात् स्वतस्तत् इत्यभ्युपगन्तव्यम्; अप्रामाण्यस्याप्येवं स्वतः सत्त्वप्रसङ्गात् दोषाणां गुणापसारणहेतुत्वेन अप्रामाण्याऽजनकत्वात्। तस्माद् उभयं स्वतः, परतो वा अभ्युपगन्तव्यं समानाऽऽक्षेपसमाधानत्वात्। न च 'उत्पन्नायाः ज्ञानव्यक्तेः पश्चात् कारणान्त-रात् प्रामाण्यमुत्पद्यते वस्त्रस्य लाक्षादे रक्ततादिवत्' इत्यभ्युपगम्यते, येन 'उत्पत्त्यनन्तरमेव विज्ञानस्य प्रध्वंसात् किमाश्रयं प्रामाण्यं स्यात्' इत्ययं दोषोऽवकाशं लभेत्, स्वसामग्रीतः अर्थान्यथात्वपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणाऽप्रामाण्यवत् अर्थतथाभावपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणप्रामाण्य-स्यापि उत्पत्त्यभ्युपगमात्।

१–देप्येषां श्र०। २ तत्र पटुत्व–भां०। ३ कुमारिलस्य मीमांसाश्लोकवार्तिककर्त्तुः उद्गारः। ४ वक्रंभ– आ०। ५ जलजन्तुविशेषः। शिंशुमार–भां०, श्र०। ६ "तस्मादेव च ते न्यायादप्रामाण्यमपि स्वतः। प्रसक्तं शक्यते वक्तुं यस्मात्तत्राप्यदः स्फुटम् ॥ ३०६६ ॥ तस्माद्दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावतः। प्रमाणरूपनास्तित्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥ ३०६७ ॥" तत्त्वसं०। "तेषां स्वतोऽप्रमाणत्वमज्ञानानां भवेन्न किम्। तत एव विशेषस्याभावात् सर्वत्र सर्वथा ॥ ९५ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७५। प्रमेयक० पृ० ४१ उ०। सन्मति० टी० पृ० ९। स्या० रत्ना० पृ० २४३।

यदप्युक्तम्[1]–'अनुमानप्रामाण्योत्पत्तौ त्रैरूप्यातिरिक्तं गुणान्तरं नोपलभ्यते' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; तदुत्पत्तौ[2] साध्याऽविनाभावित्वस्यैव गुणस्य सद्भावात्। ननु साध्याऽविनाभावित्वं हेतोः स्वरूपसाकल्यं कथं गुणः? तर्हि तदविनाभावित्वाऽभावोऽपि हेतोः स्वरूपवैकल्यम् न पुनर्दोषः, इत्यप्रामाण्यमपि अनुमाने दोषेभ्योऽसंभाव्यम्। अथ स्वरूपवैकल्यमेवाऽत्र दोषः; तर्हि तत्साकल्यमेव गुणोऽस्तु विशेषाऽभावात्। अतः सिद्धम् अनुमानेऽपि गुणप्रभवं प्रामाण्यम्। आगमप्रामाण्योत्पत्तौ तु विधिरूपस्य यथार्थदर्शनादेर्गुणस्य व्यापारः सुप्रसिद्धः, अयथार्थदर्शनादेर्दोषस्य इव तदप्रामाण्योत्पत्तौ।

यदप्युक्तम्[3]–'*आत्मलाभे तु भावानाम्*' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; अप्रामाण्यस्याप्येवं स्वतो भावाऽनुषङ्गात्, यथैव हि यथार्थप्रकाशनशक्तिः प्रामाण्यरूपा चक्षुरादिकारणेषु अविद्यमाना ज्ञाने भवन्ती स्वतोऽभिधीयते तथा अयथार्थप्रकाशनशक्तिरपि अप्रामाण्यरूपाऽभिधीयताम् अविशेषात्, न हि सापि तद्वत् तत्र विद्यते। तथाच "*वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात्*" [मी.मां० श्लो० सू० २ श्लो० ५४] इत्यस्य विरोधः।

किञ्च, उत्पत्तौ, ज्ञप्तौ, स्वकार्ये वा स्वतः प्रमाणानां प्रामाण्यं स्यात्? तत्र न तावदुत्पत्तौ; तथाहि–प्रामाण्यं[4] प्रमाणोत्पादककारणकलापातिरिक्तकारकोत्पाद्यं तदनुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानत्वात्, यद् यदित्थं तत् तत्तथा यथा घटानुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानः तद्व्यतिरिक्तः संयोगादिः, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति। न चायमसिद्धो हेतुः; मिथ्याज्ञाने प्रामाण्याश्रयबोधसद्भावेऽपि प्रामाण्याऽनुत्पत्तेः। नापि विरुद्धः; विपक्ष एवाऽवृत्तेः। नाप्यनैकान्तिकः; विपक्षाद् व्यावृत्तत्वादेव। नापि कालात्ययापदिष्टः; विपरीतार्थोपस्थापकस्य अध्यक्षादेरभावात्।

किञ्च, अयं स्वशब्दः[5] आत्मा-आत्मीय-ज्ञाति-धनेषु मध्ये अत्र कस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तमानो गृह्यते? तत्र ज्ञाति-धनयोः अत्राऽसंभवात् आत्मा-आत्मीयौ एवाऽवशिष्येते। तत्रापि स्वतः 'कारणमन्तरेण आत्मनैव प्रामाण्यमुत्पद्यते' इत्यर्थः स्यात्, आत्मनो वा सकाशात्, आत्मीयायाः सामग्रीतो वा? प्रथमपक्षे निर्हेतुकस्याऽस्य देश-कालनियमाऽयोगात् सर्वत्र सर्वदा तत्प्रसङ्गः। द्वितीयविकल्पेऽपि 'स्वतः' इति प्रामाण्यविशेषणम्, प्रमाविशेषणं[6] वा? प्रामाण्यविशेषणत्वे 'प्रामाण्यं प्रामाण्याद् आत्मलाभमनुभवति' इत्यायातम्; तच्च अयुक्तम्; एकस्य वस्तुनः स्वात्मापेक्षया[7] उत्पाद्योत्पादकत्वधर्माप्रतीतेः। अनुपपत्तेश्च; तथाहि–प्रामाण्यं स्वात्मन एव नोत्पद्यते कार्यत्वाद् अप्रामाण्यवत् घटादिवद्वा।

---

१ पृ० १९५ पं० ११। २ "अनुमानोत्पादकहेतोस्तु साध्याविनाभावित्वमेव गुणो यथा तद्वैकल्यं दोषः…।" प्रमेयक० पृ० ४२ उ०। सन्मति० टी० पृ० ११। स्या० रत्ना० पृ० २४८। ३ पृ० १९५ पं० २२। ४ "प्रामाण्यं प्रमाणोत्पादककारणकलापातिरिक्तकारकोत्पाद्यम्"… ५ "स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने ॥ २१० ॥" अमरको० नानार्थवर्ग। ६ प्रमाणवि–आ०, श्र०। ७ स्वापेक्षया भां०, श्र०।

एतेन द्वितीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः। आत्मीया च सामग्री–विज्ञानमात्रोत्पादिका, विशिष्टा वा ? विशिष्टा चेत्; सिद्धसाधनम्, स्वसामग्रीविशेषात् निखिलार्थानामुत्पत्त्यभ्युपगमात्। तथा च अप्रामाण्यस्य अखिलार्थानाञ्च स्वत एव सिद्धिः स्यात् तद्वत्, विशिष्टत्वञ्च तत्सामग्र्याः प्रागेव प्रतिपादितम्। 'विज्ञानमात्रोत्पादिका' इत्यपि श्रद्धामात्रगम्यम्; प्रमाणाऽप्रमाणव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य ज्ञानमात्रस्य क्वचित् कदाचिदप्यनुपलम्भात् धवादिव्यक्तिव्यतिरिक्तवृक्षमात्रवत्। ज्ञानमात्रस्य च वृक्षमात्रवत् सामान्यरूपत्वात्, तस्य च भवन्मते कुतश्चिदनुत्पत्तेः कथं तदुत्पादिका काचित् सामग्री स्यात्? विज्ञानमात्रोत्पादकसामग्रीतः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमे च संशयादावपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः तस्याः तत्राप्यविशेषात्। अथ संशयादौ शुद्धा विज्ञानसामग्री नास्ति, अतः कथं तदुत्पादः ? यद्येवं विज्ञानस्याऽप्युत्पादो न स्यात् तत्सामग्र्याः अशुद्धत्वेन अपरिपूर्णत्वात्। ननु परिपूर्णैव सामग्री, परम् अधिककाचकामलादिदोषाऽनुप्रवेशः; तर्हि अधिककारणानुप्रवेशात् तज्जन्यमप्रामाण्यमपि उपजायताम्, प्रामाण्यं तु विज्ञानसामग्रीप्रभवं विज्ञानवत् प्रादुर्भवद् दुर्निवारम्। अथ दोषाऽभावविशिष्टायाः सामग्रीतः प्रामाण्यमुत्पद्यते नान्यस्याः; सिद्धं तर्हि परतः प्रामाण्यम्, विज्ञानकारणाऽतिरिक्तदोषाऽभावाख्यकारणात् तदुत्पत्तिप्रसिद्धेः। न हि दोषाऽभावो विज्ञानकारणम्; तमन्तरेणापि मिथ्याज्ञाने विज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः, प्रामाण्योत्पत्तौ तु भवत्येव असौ कारणम् अन्वयव्यतिरेकोपपत्तेः। अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामवधृतसामर्थ्यस्याऽप्यस्य प्रामाण्याऽजनकत्वे दोषाणामपि अप्रामाण्यजनकत्वाऽभावः स्यात्।

किञ्च, दोषैः चक्षुरादीनां किं क्रियते येन ते तत्सन्निधाने प्रामाण्यं नोत्पादयन्ति ? तदुत्पादिका शक्तिश्चेदपनीयते; ननु यैव विज्ञानमात्रोत्पादने तेषां शक्तिः सैव प्रामाण्योत्पादनेऽपि, अन्या वा? सैव चेत्; तर्हि तदपगमे कथं तेषां तन्मात्रोत्पादनेऽपि व्यापारः स्यात्? अथ अन्या; कथन्न परतः प्रामाण्यम्? तन्नोत्पत्तौ स्वतः प्रामाण्यं घटते।

नापि ज्ञप्तौ; प्रामाण्यनिश्चयस्य कादाचित्कतया निर्निमित्तत्वाऽनुपपत्तेः। तथाहि–यत् कादाचित्कं तन्न निर्निमित्तम् यथा घटादि, कादाचित्कश्च प्रामाण्यनिश्चय इति। निमित्तञ्चास्य–स्वरूपम्, अन्यद्वा स्यात्? न तावत् स्वरूपम्; अस्वसंविदितत्वोपगमात्। नापि अन्यत्; स्वतः प्रामाण्यव्याघातप्रसङ्गात्। यच्च अन्यन्निमित्तम् तत् किं प्रत्यक्षम्, उत अनुमानम् अन्यस्यात्राऽनधिकारात्? प्रत्यक्षञ्चेत्; न; अस्य इन्द्रियसम्बद्धे विषये व्यापारात्, न च इन्द्रियाणाम् अर्थसंवेदनेन सह सम्बन्धोऽस्ति येनास्य यथार्थपरिच्छेदस्वभावं प्रामाण्यं प्रत्यक्षतः प्रतीयेत, प्रतिनियते रूपादौ तद्वति चाऽर्थे तेषां सम्बन्धात्। नापि मनोव्यापारप्रभवप्रत्यक्षगम्यं तत्;

१–ण व्यति–आ०, भां०। २ शुद्धविज्ञा–श्र०। ३–रेकेणोप–भां०। ४ प्रामाण्याऽनिश्चय ब०, ज०। ५ "सनिमित्तत्वे किं स्वनिमित्ता अन्यनिमित्ता वा ?" प्रमेयक० पृ० ४२ उ०। सन्मति० टी० पृ० १३। ६ अन्यं स्या–आ०। ७ प्रतीयते ब०, ज०।

तथाविधाऽनुभवाऽभावात्। नापि अनुमानगम्यम्; लिङ्गाऽभावात्। अर्थप्राकट्यं लिङ्गमिति चेत्; किं यथार्थविशेषणम्, निर्विशेषणं वा ? न तावद् यथार्थविशेषणम्; प्रामाण्यनिश्चयात् प्राग् अर्थप्राकट्यस्य यथार्थत्वविशेषणाऽसिद्धेः। तन्निश्चयात् तत्सिद्धौ च इतरेतराश्रयः। निर्विशेषणस्य चास्य प्रामाण्यनिश्चायकत्वे मिथ्याज्ञानेऽपि तन्निश्चायकत्वप्रसङ्गः अविशेषात्। तन्न ज्ञप्तावपि स्वतः प्रामाण्यं युक्तम्।

नापि स्वकार्ये; यतः अस्य कार्यं पुरुषप्रवृत्तिः, अर्थपरिच्छेदो वा ? तत्र पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं प्रामाण्यस्य निश्चितस्यैव युक्तम् निवृत्तिहेतुत्ववदप्रामाण्यस्य। न हि अर्थित्वमात्रेण प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवर्तन्ते, रसायनादौ उपयोगिन्यौषधे जरा-मृत्युहरणादिसामर्थ्योपेते तथात्वेनाऽनिश्चिते प्रकृष्टायामप्यर्थितायां तेषां प्रवृत्त्यभावात्, निश्चयापेक्षा एवं हि सर्वे धर्माः प्रवृत्तिहेतवः। नापि अर्थपरिच्छेदाख्ये स्वव्यापारे प्रामाण्यं स्वग्रहणाऽनपेक्षम्; यतोऽस्य अर्थपरिच्छेदमात्रं कार्यम्, यथार्थपरिच्छेदो वा ? न तावद् अर्थपरिच्छेदमात्रम्; तस्य अप्रामाण्येऽपि संभवात्। यथार्थपरिच्छेदश्च नाऽगृहीतप्रामाण्यात् प्रमाणात् संभवति, ततः प्रमाणाऽप्रमाणसाधारणस्य अर्थपरिच्छेदमात्रस्यैवोत्पत्तेः। न च तद्ग्रहणे अनवस्थादिदोषाऽनुषङ्गः; अभ्यासावस्थायां स्वतः प्रामाण्यनिश्चयतः संवादाद्यपेक्षाऽभावतः अनवस्थाद्यनवतारात्। नहि अभ्यासक्रोडीकृते जले जलज्ञानम् आत्मनोऽर्थतथाभावपरिच्छेदसमर्थस्वभावताप्रतिपत्तौ संवादादिकमपेक्षते, निरारेकस्य 'इदमित्थमेव' इत्यध्यवसायात्मनोऽस्य प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वादप्रामाण्यवत्। न खलु स्वभ्यस्ते विषये मरीचिकादौ जलादिप्रतिभासः स्वात्मनोऽर्थान्यथात्वपरिच्छेदसमर्थस्वभावताप्रतिपत्तौ विसंवादादिकमपेक्षते, तत्स्वभावतया अस्यात्र स्वतः सर्वेषां सुप्रसिद्धत्वात् इत्युभयं तत्र स्वतः सिद्धमभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्यासावस्थायां

१ "तद्धि फलं निर्विशेषणं वा स्वकारणस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यमनुमापयेद्, यथार्थत्वविशिष्टं वा ?" न्यायमं० पृ० १६८। प्रमेयक० पृ० ४२ उ०। सन्मति० टी० पृ० १४। स्या० रत्ना० पृ० २५६। २-विशेषासि-आ०। ३ "तस्मात् प्रेक्षावतां युक्ता प्रमाणादेव निश्चितात्। सर्वप्रवृत्तिरन्येषां संशयादेरपि क्वचित् ॥ १२३ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७६। ४-तायां प्रवृ-भां०। ५ एव सर्वे आ०। ६ तथा अप्रा-ब०, ज०। "नार्थपरिच्छेदमात्रं प्रमाणकार्यमप्रमाणेऽपि तस्य भावात्।" सन्मति० टी० पृ० १२। ७ "आभ्यासिकं यथा ज्ञानं प्रमाणं गम्यते स्वतः। मिथ्याज्ञानं तथा किञ्चिदप्रमाणं स्वतः स्थितम् ॥३१००॥" तत्त्वसं०। "नहि बौद्धैः एषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः अनियमपक्षस्य इष्टत्वात्; तथाहि-उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः इति पूर्वमुपवर्णितम्…।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८११। "तत्राभ्यासात् प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः। अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः केचिदञ्जसा ॥ १५२॥ तच्च स्याद्वादिनामेव स्वार्थनिश्चयनात् स्थितम्। न तु स्वनिश्चयोन्मुक्तनिःशेषज्ञानवादिनाम् ॥१२६॥ क्वचिदत्यन्ताभ्यासात् स्वतः प्रमाणत्वस्य निश्चयान्नानवस्थादिदोषः।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७७। "इति स्थितमेतत्-प्रमाणादिष्टसंसिद्धिः तदाभासाद्विपर्ययः। प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा ॥" प्रमाणपरी० पृ० ६३। ८-तः प्रसि- श्र०।

तु परतः। न चैवमनवस्था; तस्य अभ्यस्तविषयत्वेन स्वतः प्रामाण्यप्रसिद्ध्या प्रमाणान्तराऽनपेक्षणात्। अनभ्यस्तविषये हि जलप्रतिभासे अर्थक्रियाज्ञानाद् दर्दुराऽऽरावउदकाहरणादिलिङ्गोत्थाऽनुमानाद्वा जलाविनाभावित्वेन असकृन्निश्चयतः स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् प्रामाण्यं निश्चीयते।

ननु च अर्थक्रियाज्ञानमपि अर्थाऽभावेऽपि स्वप्नावस्थायां दृश्यते, तत् कोऽस्य पूर्वज्ञानाद् विशेषः? इत्यप्यसुन्दरम्; जाग्रद्दशायां तद्विसंवादाऽदर्शनात्। न खलु यथा जाग्रद्दशायामर्थज्ञानम् अर्थमन्तरेणाप्युपलभ्यते तथा अर्थक्रियाज्ञानमपि, येन अस्यापि तदा व्यभिचाराऽऽशङ्कया अर्थक्रियाज्ञानान्तरात् प्रामाण्यं निश्चीयते, तद्दशाञ्चाश्रित्य प्रमाणादिचिन्ता प्रतन्यते। अतो न स्वप्नदशोपलब्धेन जाग्रद्दशोपलब्धस्य साम्याऽऽशङ्कापि श्रेयसी। नहि प्रेक्षापूर्वकारी स्वप्नदशासमानां जाग्रद्दशां मन्यते, तद्दृष्टान्तेनैव अशेषप्रत्ययानां निरालम्बनत्वाऽनुषङ्गतो बहिरर्थाऽभावप्रसङ्गात् क कस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्?

ननु च अर्थक्रियाज्ञानात् पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्ये मणिप्रभायां मणिबुद्धेः कूटेऽपि द्रमे तद्बुद्धेश्च प्रामाण्यप्रसङ्गः; तन्न; एवम्भूताऽर्थक्रियाज्ञानात् पूर्वज्ञाने अप्रामाण्यस्यैव प्रसिद्धेः तेन संवादाऽसंभवात्। 'कुञ्चिकाविवरस्थायां हि मणिप्रभायां मणिज्ञानम्, अपवरकान्तर्देशसम्बद्धे तु मणौ अर्थक्रियाज्ञानम्' इति भिन्नदेशार्थग्राहकत्वेन भिन्नविषययोः तयोः कथमविसंवादः तिमिराद्याहितविभ्रमज्ञानवत्? कूटे च द्रमे किं कूटज्ञानम्, द्रमज्ञानम्, खरकज्ञानं वा प्रमाणमापद्येत? तत्राद्यपक्षद्वये सिद्धसाधनम्। तृतीयपक्षस्त्वयुक्तः; तत्साध्यार्थक्रियासंवादाऽसंभवात्, सम्पूर्णचेतना (र्णवेतन) लाभो हि खरकद्रमस्य अर्थक्रिया न कतिपयचेतना (यवेतन) लाभः।

यच्चोक्तम्-'प्रामाण्यं हि बोधकत्वम्' इत्यादि; तत्रापि किं बोधकत्वमात्रं प्रामाण्यम्, उत अर्थबोधकत्वम्? तत्राद्यपक्षोऽसंभाव्यः; बोधकत्वमात्रस्य क्वचिज्ज्ञाने प्रतीत्यभावात्,

---

१ तु तेषां पर- भां। २ "ननु चार्थक्रियाभासि ज्ञानं स्वप्नेऽपि विद्यते। न च तस्य प्रमाणत्वं तद्धेतोः प्रथमस्य च ॥ २९८० ॥ नैवं भ्रान्ता हि सावस्था सर्वा बाह्यानिबन्धना। न बाह्यवस्तुसंवादः तास्ववस्थासु विद्यते ॥ २९८१ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ४३ पू०। सन्मति० टी० पृ० १५। ३ अतो न स्वप्नदशोपलब्धस्य साम्या- आ०। ४ अनृते। भाषायां 'जाली' इति। ५ द्रम इति मुद्राविशेषः। ६ मूल्यम्। "कर्मण्या तु विधा भृत्या भृतयो भर्म वेतनम्। भरण्यं भरणं मूल्यं निर्वेशः पण इत्यपि॥" अमरको० शूद्रव० ३८। ७ खरकं सत्यम्, 'खरा' इति भाषायाम्। "क्वचित्कूटेऽपि जयतुङ्गे ज्ञानं प्रमाणं कतिपयार्थक्रियादर्शनात्; तत्र कूटे कूटज्ञानं प्रमाणमेव अकूटज्ञानं तु न प्रमाणं तत्संवादाभावात्। सम्पूर्णचेतनालाभो हि तस्यार्थक्रिया न कतिपयचेतनालाभ इति।" प्रमेयक० पृ० ४३ उ०। ८ पृ० १९७ पं० ११। "अपरे तु अन्यथा प्रतिज्ञार्थं वर्णयन्ति-बोधात्मकत्वं नाम प्रामाण्यम्''' तदेतदसम्यक्; यतो न बोधात्मकत्वमेव प्रामाण्यं युक्तं विपर्ययज्ञानेऽपि संभवात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८११।

सकलज्ञानानां [1]वहिरन्तः स्वार्थावबोधकत्वेनैव अध्यवसायात् । द्वितीयपक्षेऽपि अर्थमात्रबोधकत्वं तत् स्यात्, अवितथार्थबोधकत्वं वा ? न तावद् अवितथार्थबोधकत्वम्; अस्य विशिष्टकारणकलापाधीनत्वप्रतिपादनात् । नापि अर्थमात्रबोधकत्वम्; द्विचन्द्रादिवेदनस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात्, तथा च तद्वेद्यस्य द्विचन्द्रादेर्नाऽसत्यत्वम् । यत् खलु प्रमाणभूतवेदनवेद्यं तन्नाऽसत्यम् यथा सुखादि, प्रमाणभूतवेदनवेद्यञ्च द्विचन्द्रादीति । प्रमाणभूतत्वञ्च द्विचन्द्रादिवेदनस्य 'बोधरूपतैव प्रामाण्यम्' इत्यभिदधतां नासिद्धम्; प्रयोगः–यद् यतो न व्यतिरिच्यते तत् तत्स्वरूपमात्राऽनुबन्धि यथा शाखादिमत्त्वादव्यतिरिच्यमानं वृक्षत्वं तन्मात्रानुबन्धि, न व्यतिरिच्यते च बोधरूपतातः प्रामाण्यमिति । ननु च अनुत्पन्नबाधकस्य बोधस्य प्रमाणभूतत्वं स्वरूपम्, अत्र च बाधकमुत्पद्यते, अत एव अस्माभिः अप्रामाण्यं परतः अङ्गीक्रियते; तदप्यसुन्दरम्; बोधस्य किल स्वरूपसमकालभाविप्रामाण्यम्, तस्मिन् स्थिते कुतः परतोऽप्रामाण्यस्याऽवकाशः ?

किञ्च, इदमप्रामाण्यं किं प्रामाण्यस्याऽभावः, वस्तुभूतो वा धर्मः ? प्रथमपक्षे प्रामाण्याभावो ज्ञानत्वाऽभाव एव उक्तः स्यात्, 'ज्ञानत्वमेव हि प्रामाण्यम्' इति भवतां पक्षः, तथा च परतः 'ज्ञानस्य ज्ञानत्वाऽभावः' इति न किञ्चित् सङ्गतम् । यद्धि यादृग्रूपनियतं तद् अतादृग्रूपं नान्यतो भवति यथा घटः पृथुबुध्नोदराद्याकारः, प्रमाणरूपनियतञ्च ज्ञानम्, इति न बाधकज्ञानाद् अप्रामाण्यं युक्तम् ।

किञ्च, कारणदोषज्ञानं बाधकज्ञानञ्चाऽप्रवर्तमानं कथमतीतज्ञानस्य प्रामाण्याऽभावमापादयितुं शक्नोति ? न हि पूर्वज्ञानकाले तदस्ति, तत्काले वा पूर्वज्ञानमिति । स्वस्मिन्नेव काले तेन तस्य अप्रमाणतासम्पादने अतिप्रसङ्गः घटज्ञानस्यापि पटज्ञानकालेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । नहि अन्यद् अन्यकालेऽप्रमाणत्वेन केनचिद् इष्टम् । अथ वस्तुभूतो धर्मः अप्रामाण्यम्; स वक्तव्यः कोऽसौ इति ? संशय-विपर्ययौ इति चेत्; ननु तयोर्ज्ञानात्मकत्वात् नाऽप्रमाणता युक्ता; तथाहि-संशयविपर्ययौ नाऽप्रमाणं ज्ञानत्वात् प्रमाणत्वाभिमतज्ञानवदिति ।

किञ्च, सर्वत्र ज्ञाने [10]औत्सर्गिके प्रामाण्ये सति कुतः संशय-विपर्ययलक्षणधर्मसंभवः ? स हि ज्ञानस्य स्वत एव आयातः, विषयात्, सहकारिभ्यः, प्रमातुः, ज्ञानान्तरप्रभावात्, इन्द्रियादेः, आधारसम्बन्धाद्वा ? प्रथमपक्षे सर्वदा तस्य तथात्वप्रसङ्गः; प्रयोगः–यद् यस्य स्वरूपत एव भवति तत् तस्य न कदाचिदपि निवर्त्तते यथा नीलस्य नीलता, तथा च ज्ञानस्य संशया-

---

१ वहिरन्तश्चार्था– आ० । २ "बोधविशेषः प्रामाण्यमिति चेत्; न तर्हि वक्तव्यम्–तच्च ज्ञानानां स्वाभाविकमेव न गुणकृतम् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८११ । ३–वेदकस्या– श्र० । ४ दोषादेः । ५ ज्ञानाभावः भां० । ६–वुराकारः ब०, ज० । ७ प्रमाणनियतरूपञ्च भां०, श्र० । ८–ञ्चावर्तमानम् आ०, ब०, ज० । ९ पटज्ञानेऽप्रा– ब०, ज० । १० अत्सर्गिके आ०, ब०, ज० । "प्रामाण्यनिश्चयो यस्मात्तत्र तन्मात्रभाविकः । तस्मिन् जाते च सन्देहविपर्यासावनास्पदौ ॥ २९२९ ॥" तत्त्वसं० ।

दिरूपतेति। द्वितीयपक्षेऽपि विषयमात्रस्य संशयादिरूपोत्पत्तौ व्यापारः, विशिष्टस्य वा विषयस्य? विषयमात्रस्य चेत्; सर्वं ज्ञानं संशयादिरूपं स्यात्। विशिष्टस्य चेत्; ननु किमिदं विषयस्य विशिष्टत्वम्–अविवेचितत्वम्, सादृश्योपहतत्वं वा? अविवेचितत्वे विषयमात्रमेव अङ्गीकृतं स्यात्, तत्र च उक्तो दोषः। अथ सादृश्योपहतो विषयो विरुद्धविशेषस्मरणद्वारेण विपर्ययज्ञानं जनयति, उभयविशेषस्मरणद्वारेण च संशयज्ञानम्; तदप्यचारु; सर्वस्यैव विषयस्य अवश्यं केनचित् सादृश्यसंभवात् सर्वदैव तथाविधज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। गृहीतं सादृश्यं तथा करोति इति चेत्; सन्निहितेऽपि कुर्यात्। विशेषाऽग्रहणमपि तत्कारणम्, सन्निहिते च तदभावात् तन्न करोति इति चेत्; ननु सतो विशेषस्य अग्रहणमपि कुतः? अदृष्टाच्चेत्; तन्न; अदृष्टस्य अविकलसामग्र्यां कार्यप्रतिबन्धकत्वाऽदर्शनात्। तद्वशाद्धि कदाचित् सामग्री एव न संयुज्यते, संयुक्ता वा विजातीयेन युज्यते येन सामग्र्यन्तरतामासादयति, अत्र च इन्द्रियादिसामग्री नान्यथाभूता नाप्यसंयुक्ता इति कथं विशेषाऽग्रहणम्? किञ्च, विशेषाऽग्रहणवत् प्रामाण्याऽप्रामाण्योत्पादनेऽपि अदृष्टस्य व्यापारः किन्न स्याद् यतोऽप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि परतो न स्यात्?

एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः; सहकारिभिः अधर्मादिभिः अप्रामाण्यं संशयादिरूपमापाद्यते, धर्मादिभिस्तु प्रामाण्यम् अवितथार्थनिश्चयस्वरूपमिति। नापि प्रमात्रा तत्र तद्रूपमापाद्यते; प्रतीतिविरोधात्, न हि कस्यचित् प्रमातुः ईदृशी प्रतीतिः 'संशयवानहं भूयासम्' इति। अभ्युपगमे वा नास्य ज्ञानस्याऽप्रामाण्यहेतुत्वम्; तथाहि–'संशयो मे स्यात्' इति ज्ञानं नाऽप्रामाण्यकारणं ज्ञानत्वात् 'घटं जानीयाम्' इत्यादिज्ञानवत्। अथ ज्ञानान्तरप्रभावाद् आविर्भूतोऽसौ विशेषः; तत्रापि किं स्वकीयात्, परकीयाद्वा तदन्तरप्रभावादसौ आविर्भवेत्? यदि स्वकीयात्; तदा स्वकाले सतो ज्ञानस्य तेनाऽसौ विशेषो विधीयते, असतो वा? न तावत् सतः; ज्ञानान्तरकाले प्राक्तनज्ञानस्याऽसंभवात्, अन्यथा युगपज्ज्ञानद्वयाऽनभ्युपगमविरोधः। स्वकालेऽसतश्च कथं तेनाऽसौ विधातुं शक्यः भिन्नकालत्वात्, यद् यतो भिन्नकालं न तेन तस्य विशेषो विधातुं शक्यः यथा भूत-भविष्यत्कालभाविजपापुष्पेण वर्तमानकालीनस्फटिके, भिन्नकालश्च इदं ज्ञानान्तरमिति। नापि परकीयात् ततः संशयाद्युत्पत्तिः; तथा प्रतीत्यभावात्। ननु 'चैत्रस्य संशयमुत्पादयामि' इति प्रमात्रन्तराणां प्रतीतिरस्ति; तन्न; सार्वत्रिकसंशये प्रमात्रन्तरज्ञानस्य नियतसद्भावाऽसंभवात्। यत् खलु यत्र कारणं तत् तत्र नियतसद्भावम् यथा अन्त्यदशाप्राप्तं बीजमङ्कुरस्य, न च प्रमात्रन्तरज्ञानं नियतसद्भावं संशयादिकार्ये इति। इन्द्रियादेश्च तद्धेतुत्वे सर्वत्र ज्ञाने संशयादिरूपोत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ आधारसम्बन्धात्तत्र तदुत्पत्तिः; ननु तत्सम्बन्धः प्रमाणतः प्रतिपन्नः, न वा? प्रतिपन्नश्चेत्; कथं संशयविपर्या-

१ 'विषयस्य' नास्ति ब०, ज०। २ नाप्यन्यसं–श्र०। ३ ज्ञाने। ४–मानस्फ–ब०, ज०। ५ चैत्रस्य आ०, श्र०।

सकारिणमाधारं जानानोऽधितिष्ठेद् अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् ? अप्रतिपन्नश्चेत्, कथं 'तत्कृता ज्ञाने संशयादिरूपता' इति प्रतिपत्तिः ?

किञ्च, इदं संशयादिरूपमप्रामाण्यं बोधस्वरूपादतिरिक्तम्, अनतिरिक्तं वा ? अनतिरिक्ते[1] कथम् अतिरिक्तकारणापेक्षा ? अतिरेके तद्वद् यथार्थनिश्चयस्वरूपप्रामाण्यस्यापि अतोऽतिरेकप्रसिद्धेः सिद्धमुभयस्य विज्ञानकारणातिरिक्तकारणाज्जन्म, इत्यलमतिप्रसङ्गेन[2]। ततः परतो लब्धप्रमाणभावस्य अवग्रहादेः ईहादिकं फलम् इति युक्तमुक्तम्।

एतदसहमानस्य सौगतस्य मतं तावन्निराकुर्वन्नाह-'परमार्थे' इत्यादि। **परमार्थेन** अकल्पितरूपेण **एका** निरंशा या **संवित्तिः** तस्याः यो **वेद्याकारः**

विवृतिव्याख्यानम्- वेद्यस्य नीलादेराकार इव तदाकारः यश्च **वेदकाकारः** वेद्याकारग्राहकाऽऽकारः तयोर्या **प्रमाणफलव्यवस्था** वेद्याकारस्य प्रमाणव्यवस्था "*सारूप्यमस्य*[3] *प्रमाणम्*" [न्यायवि० १।१६] इत्यभिधानात्, वेदकाकारस्य च फलव्यवस्था "*अधिगतिः फलम्* " [ ] इति वचनात्। तस्यामङ्गीक्रियमाणायाम **क्षणभङ्गादेरपि** क्षणभङ्गः आदिर्यस्य, आदिशब्दोऽयं प्रकारवाची तेन क्षणभङ्गप्रकारः सर्वो निरंशत्वादिस्वभावो लिङ्गादभिन्नो गृह्यते, तस्यापि न केवलं सत्त्वादिहेतोः **प्रत्यक्षत्वं** प्रत्यक्षविषयत्वम् **प्रसज्येत** । **ततः** तस्मात् तत्प्रत्यक्षत्वात् किं दूषणं स्याद् इति चेत्, अत्राह-'गृहीत' इत्यादि। **गृहीतस्य** दर्शनविषयीकृतस्य **ग्रहणात् तदनुमानं** क्षणभङ्गाद्यनुमानं **प्रमाणं न स्यात् संवृतिवत्** प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पवत्। ननु गृहीतेऽपि क्षणभङ्गादौ विपरीतारोपव्यवच्छेदफलत्वात् नानुमानम् अप्रमाणमिति चेत्, अत्राह-'तत्' इत्यादि। **तयोः** प्रमाणाऽप्रमाणतया अङ्गीकृतयोः **अनयोः** संवृति-अनुमानयोर्मध्ये न केवलं प्रत्यक्षाद् अनुमानस्य अपि तु **संवृतेरपि** ताभ्यां **प्रमाणान्तरत्वं स्यात्**। कुत एतत् इति चेत्? अत्राह-**समारोपव्यवच्छेदाऽविशेषात्**। यथैव हि अनुमानात् क्षणविवेकनिश्चये निश्चय[4]-आरोपमनसोर्बाध्यबाधकभावात् भावी समारोपो न जायते इति तद्व्यवच्छेदकं तत्, तथा संवृत्या नीलादेर्निश्चये अनीलादिरूपोऽसौ न जायते इति सापि तद्व्य-

---

१-नतिरिक्ते आ०, भां०। २ स्वतःप्रामाण्यवादस्य विविधरीत्या समीक्षा निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्या- तत्त्वसं० स्वतःप्रामाण्यपरी० पृ० ७४४। न्यायवा० ता० टी० पृ० ११। न्यायमं० पृ० १६७। न्यायकुसुमा० द्वि० स्त०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७५। प्रमाणपरी० पृ० ६३। प्रमेयक० पृ० ३८ उ०। सन्मति० टी० पृ० २। स्या० रत्ना० पृ० २४०। प्रमेयरत्नमा० १।१२। ३ "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्" न्यायबि०। "स्वसंवित्तिःफलञ्चास्य तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥" प्रमाणसमु० १।१०। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥ १३४३॥" तत्त्वसं०। ४ "निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावतः।" प्रमाणवा० १।५०।

वच्छेदिकाऽस्तु। भवत्वेवम्, को दोषः इति चेत्? अत्राह–'सर्वस्यैव' इत्यादि। **सर्वस्य** चतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य **प्रामाण्यं न स्यात्** 'न कचित् नीलादौ क्षणक्षयादौ वा प्रामाण्यं स्यात्' इति एवकारार्थः। कस्य? **निर्विकल्पकज्ञानस्य,** कथम्भूतस्य? **समारोपव्यवच्छेदाऽऽकाङ्क्षिणः** समारोपव्यवच्छेदहेतुत्वात् क्षणक्षयादौ अनुमानम्, नीलादौ च संवृतिः तद्व्यवच्छेदः तम् आकाङ्क्षति इत्येवंशीलस्य। अयमर्थः–यथा क्षणभङ्गादौ तदपेक्षस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य न प्रामाण्यम् अनुमानस्यैव तत्र प्रामाण्यात् तथा नीलादावपि तत्रापि संवृतेरेव प्रामाण्यात्। पूर्वफक्किकया प्रमाणान्तरम्, अनया पुनः इष्टस्यापि प्रत्यक्षप्रमाणस्य अभावं दर्शयति। ननु प्रवर्त्तकं[१] प्रमाणं नान्यत्, अतिप्रसङ्गात्। प्रवर्त्तकञ्च अभ्यासदशायां निर्विकल्पकं ज्ञानम्[२], अनभ्यासदशायां तु अनुमानम्। न च अन्या दशा[३] समस्ति यस्यां विकल्पकज्ञानं प्रवर्तकत्वात्प्रमाणं स्यात्, इत्यत्राह[४]–'ततः' इत्यादि। ततः निर्विकल्पकज्ञानात् अभ्यासे संव्यवहारस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य अभावात्। एतच्च सविकल्पकसिद्ध्यवसरे प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्।

स्यान्मतम्–सकलप्रत्ययानां भ्रान्तत्वाऽभ्युपगमतः प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्याऽनभ्युपगमात् कथम् 'संवृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं स्यात्' इत्युक्तं शोभेत? इत्यत्राह–'अर्थक्रियार्थी हि'[५] इत्यादि। सकलप्रमाणाऽभाववादिना अर्थ्यते अभिलष्यते इति अर्थः सकलप्रमाणाभावः, तस्य क्रिया व्यादानम् तदर्थी[६] हि प्रमाणमन्वेषते। किमिव? अप्रमाणं वा अप्रमाणमिव 'प्रमाणाऽभाववत्' इत्यर्थः, 'नहि प्रमाणमन्तरेण तदभावः सिद्ध्यति' इत्युक्तं माध्यमिकं प्रति बहिरर्थसिद्धिप्रघट्टके।

यदि वा, अर्थः हेय उपादेयश्च तस्य क्रिया प्राप्तिः परिहारश्च तदर्थी हि यस्मात् प्रमाणं यतस्तयोः प्राप्ति-परिहारौ स्तः अप्रमाणं वा यतस्तयोः तौ न भवतः इति अन्वेषते। न च निर्विकल्पकात् तौ भवतः इति तात्पर्यार्थः। अन्वेषते एव तर्हि प्रमाणमिति चेत्, अत्राह–'रूपादि' इत्यादि। रूपम् आदिः यस्य रसादेः स तथोक्तः, क्षणक्षय आदिः यस्य निरंशत्वादेः सोऽपि तथोक्तः, तयोः स्फुटस्य विशदस्य प्रतिभासस्य अविशेषतः खण्डशः प्रामाण्यम् रूपादौ न क्षणक्षयादौ यदपेक्षम् यम् स्वार्थनिश्चयम्[७] अपेक्षते, यस्मिन् वा अपेक्षा यस्य तद् यदपेक्षम् तदेव नाऽधिगतिमात्रम् फलं युक्तम् उपपन्नम्। अथ इष्यते एव निर्णयः फलम् "*यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवाऽस्य प्रमाणता*" [ ] इत्यभिधानात्। स तु निर्विकल्पकात् इति चेत्, अत्राह–'तत्कृतः' इत्यादि। तेन निर्विकल्पकेन कृतः तत्कृतः निश्चयः तत्त्वतः परमार्थतो न भवति 'कल्पनया केवलं भवति' इत्यर्थः। 'तत्त्वतः तत् ततो न भवति'

१ आकांक्षते ब०, ज०। २–कं ज्ञानं ना–ब०, ज०। ३ अन्यदशा श्र०। ४ इत्याह ब०, ज०। ५ "अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते।" हेतुबिन्दु परि० १। ६ तदर्थं हि आ०। ७ स्वार्थनिश्चयं आ०, भां०।

इति च क्वचित् पाठः। तत् निर्णयफलम् ततो निर्विकल्पकात् न भवति इति। यथा च त[1]त् ततो न भवति तथा सविकल्पकसिद्धौ प्रतिपादितमेव। अभ्युपगम्यापि अतो निर्णयं दूषणमुपदर्शयन्नाह–'भावे वा' इत्यादि। भावे वा उत्पत्तौ वा ततो निर्णयस्य निर्णीतिः स्वार्थव्यवसायः अखण्डशः रूपादाविव क्षणक्षयादावपि कुतो न भवेत्[3] परिस्फुटतया प्रतिभासस्य उभयत्राऽविशेषात्, 'दर्शनपाटवादिकमपि अनंशस्य दर्शनस्य उभयत्राऽवशिष्टम्' इत्युक्तं सविकल्पकसिद्धौ।

ननु यथा परमार्थैकसंविदो वेद्य-वेदकाकारयोः प्रमाण-फलव्यवस्था विरुद्ध्यते तथा अवग्रहादेरपि, सामान्यवद् विशेष[4]स्यापि अवग्रहेणैव ग्रहणात्; अन्यथा गृहीतेतररूपे द्वे वस्तुनी स्याताम्। यथा च अविकल्पकप्र[5]त्यक्षस्य अनुपलक्ष्यमाणत्वादप्रामाण्यम् तथा अवग्रहादेरपि, तस्यापि अनुपलक्षणाऽविशेषात्; इत्याशङ्क्य आह–'बहुबहुविध' इत्यादि। बहु-बहुविध-क्षिप्र-अनिसृत-अनुक्त-ध्रुवाः, इतरे च अबह्वादयः ये विकल्पाः भेदाः तेषां सम्बन्धी यः अवग्रहादिः तस्य न विरुद्ध्यते, 'प्रमाणफलव्यवस्था' इति सम्बन्धः। कुत एतत् इति चेत्? अत्राह–'स्वभावभेदात्' इति, स्वः आत्मीयः अवग्रहादेर्भावः यो ग्राह्योऽर्थः तस्य कथञ्चिद्भेदात्। अथवा स्वभावभेदात् अवग्रहादेः स्वरूपभेदात् इति ग्राह्यम्।

यदप्युक्तम्–'तस्य अनुपलक्षणात्' इति, तत्राह–'प्रतिभासभेदेऽपि' इत्यादि। प्रतिभासस्य स्वरूपसंवित्तेः भेदेऽपि नानात्वेऽपि, अवग्रहादेः स्वभावभेदाऽभावकल्पनायां स्वभावस्य स्वरूपस्य यो भेदः तस्य अभावकल्पनायाम् अ[6]द्वयज्ञानकल्पनायाम्। किम्? इत्यत्राह–'क्रमेण' इत्यादि। क्रमेण वृत्तिः वर्तनं येषाम् उपादानोपादेयरूपाणां दर्शनस्मरणादीनां तेषाम् अपि न केवलम् अवग्रहादीनाम् तथाभावात् तेन स्वभाव[7]भेदाऽभावकल्पनाप्रकारेण भावात् कारणात्। कुतः प्रमाणात्, न कुतश्चित् क्रमः कार्यकारणभावः सुखदुःखादिभेदो वा आदिशब्देन हर्ष-नीलादिपरिग्रहः परमार्थतः प्रतिष्ठाप्येत व्यवस्थाप्येत? पुरुषाद्वैतं स्यात् इति भावः।

ननु यदि अवग्रहादेः प्रतिभासभेदः कथमेकत्वम्? इत्यत्राह–'सहप्रतिभासवत्' इति। सहप्रतिभासा बुद्धेर्नीलादय आकाराः तेषामिव तद्वत् इति। 'तद्' इत्यादिना उक्तार्थोपसंहारमाह–यत एवं तत् तस्मात् अयं सौगतः एकम् अभिन्नम् अनेकाकारम् चित्राकारम् क्षणिकज्ञानम् पूर्वोत्तरकोटिविविक्तमध्यक्षणवेदनं कुतश्चित् कस्याश्चिद् अभिन्नयोग-क्षेमलक्षणायाः अशक्यविवेचनतालक्षणाया वा प्रत्यासत्तेः नैकट्यात्। केषां सम्बन्धिन्यास्तस्याः? इत्याह–

१ इति क–आ०। २ तस्वतो आ०। ततो व०। तत्तो ज०। ३–त् इति स्फुट–व०, ज०। ४–षस्य अ–आ०। ५–प्रत्ययस्य भां०। ६–अद्वयाज्ञा–आ०। ७–भेदभाव–व०, ज०।

'प्रतिभासभेदानाम्' इति। प्रतिभासभेदाः बुद्धेर्नीलादय आकारविशेषाः तेषाम् उपयन्[1] अभ्युपगच्छन्, **क्रमवर्तिनामपि** क्रमेण वर्त्तितुं शीलानामपि **तथा** अशक्यविवेचन[2]त्वप्रत्यासत्तिप्रकारेण, केवलस्य अभिन्न[3]योग-क्षेमप्रत्यासत्तिप्रकारस्य सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारात् **एकत्वं प्रतिपत्तुमर्हति।** केषाम्? इत्यत्राह–**'हर्षविषादादीनाम्'** इति। **अतः** अस्मात् तदेकत्वात् **अनेकान्तसिद्धिः** प्रत्येया, **'प्रत्येयम्'** इत्यनेन वक्ष्यमाणेन जातलिङ्गपरिणामेन सम्बन्धात्।

ननु प्रमाणफलयोः क्रमभाविनोर्भेदात् सन्तानान्तरवत् तद्भावो न प्राप्नोति इति चेत्; अत्राह–**'प्रमाण'** इत्यादि। **'अतः'** इत्यनुवर्तते अतो न्यायात् **प्रमाणफलयोः** अवग्रहेहयोः ईहाऽवाययोः अवायधारणयोः **क्रमभावेऽपि तादात्म्यम्** कथञ्चिदेकत्वम्।

ननु प्रमाणफलयोस्तादात्म्यमनुपपन्नम् प्रमाणविरोधात्; तथाहि[4]–प्रमाणम् आत्मव्यतिरिक्त-क्रियाकारि कारकत्वात्, यत् कारकं तद् आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि प्रतिपन्नम् यथा कुठारादि, कारकञ्च प्रमाणम्, तस्माद् आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि इति। तथा, प्रमाणं स्वतो विभिन्नफलविधायि करणत्वात्[5], यत् करणं तत् स्वतो विभिन्नफलविधायि प्रसिद्धम् यथा वास्यादि, करणञ्च प्रमाणम्, तस्मात् स्वतो विभिन्नफलविधायि इति। न चायं साध्यविकलो दृष्टान्तः; न हि करणं वास्यादि स्वात्मनि क्रियां कुर्वद् दृष्टम्, न च अकुर्वतः करणत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्, तस्मात् स्वतो विभिन्नं फलं कर्त्तरि कर्मणि वा कुर्वत् करणं

प्रमाणफलयोः सर्वथाभेदवादिनो नैयायिकस्य पूर्वपक्षः—

१ उपनयन् श्र०। २–चनप्रत्या–भां०, ब०, ज०। ३ "प्रतिक्षणं विषयपरिच्छेदलक्षणो योगः, तदर्थक्रियाऽनुष्ठानलक्षणश्च क्षेमः परिपालनरूपः···।" हेतुवि० टी० पृ० ५६। ४ "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।···" न्यायभा० १।१।३। "तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्···प्रमितिः द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्···अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्··· प्रमितिः गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति।" प्रशस्त० भा० पृ० १८७। "सर्वञ्च प्रमाणं स्वविषयं प्रति भावसाधनं प्रमितिः प्रमाणम् इति, विषयान्तरं प्रति करणसाधनं प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्। यदि भावसाधनः प्रमाणशब्दः किं फलं विषयस्याधिगतत्वात्? उक्तं फलं हानादिबुद्धय इति···।" न्यायवा० १।१।३। पृ० २९। ५ "करणं हि प्रमाणमुच्यते प्रमीयतेऽनेन इति। न च क्रियैव क्वचित् करणं भवति, क्रियायां साध्यायां कारकं किमपि करणमुच्यते यथा दात्रेण चैत्रः शालिस्तम्बं लुनाति इति कर्तृकर्मकरणानि क्रियातो भिन्नान्युपलभ्यन्ते तथेहापि चक्षुषा घटं पश्यतीति दर्शनक्रियातः पृथग्भाव एव तेषां युक्तो न दर्शनं करणमेव इति। प्रमा प्रमाणमिति तु फले प्रमाणशब्दस्य साधुत्वाख्यानमात्रम् कृतिः करणमितिवत्···तेन चक्षुरादेः ज्ञानक्रियामुपजनयतः करणत्वं ज्ञानस्य फलत्वमेवेति युक्तः तथाव्यपदेशः···" न्यायमं० पृ० ७०। "स्वातिरिक्तेत्यादिना शंकरस्वामी प्रमाणयति–स्वातिरिक्तक्रियाकारि प्रमाणं कारकत्वतः वास्यादिवत्··· ॥ १३५३ ॥" तत्त्वसं०।

प्रतिपत्तव्यम्। विरुद्धा च प्रमाणस्यैव फलरूपता ; न हि एकस्य एकदा स्वात्मापेक्षया करणरूपता फलरूपता चोपपन्ना विरुद्धयोर्धर्मयोः सकृदेकत्र समावेशाऽसंभवात्, अतः प्रमाणफलयोर्भेद एव ज्यायान्। विशेषणज्ञानं हि प्रमाणं विशेष्यज्ञानं फलम्, तयोश्च कथमभेदः ? विभिन्नसामग्रीप्रभवतया विभिन्नविषयतया च भेदस्यैवोपपत्तेः; ययोर्विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वं विभिन्नविषयत्वञ्च[2] तयोर्भेदः यथा घटपटज्ञानयोः, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वं[3] विभिन्नविषयत्वञ्च विशेषण-विशेष्यज्ञानयोरिति। नचायमसिद्धो हेतुः ; विभिन्ना हि विशेषणज्ञानोत्पत्तौ विशेषणाऽक्षसन्निकर्षलक्षणा सामग्री, विभिन्ना च विशेष्यद्रव्यादिज्ञानोत्पत्तौ तदिन्द्रियसन्निकर्षलक्षणा सामग्री। विषयभेदस्तु तज्ज्ञानयोः सुप्रसिद्ध एव, अन्योन्यविलक्षणयोः विशेषण-विशेष्ययोस्तदालम्बनत्वात्।

प्रमाणफलयोः सर्वथा भेदप्रतिविधानपूर्विका कथञ्चित्तादात्म्यसिद्धिः—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावत्–प्रमाणफलयोः भेदे साध्ये 'कारकत्वात्' इति साधनमुक्तम्[4]; तदसमीचीनम्; यतोऽतः किमनयोः कथञ्चिद्भेदः साध्येत, सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; सिद्धसाध्यता, अज्ञाननिवृत्तेः प्रमाणधर्मतया हानोपादानादेश्च तत्कार्यतया प्रमाणात् कथञ्चिद्भेदाऽभ्युपगमात्। द्विविधं[5] हि प्रमाणस्य फलम्–ततो भिन्नम्, अभिन्नश्चेति। तत्र अभिन्नम् अज्ञाननिवृत्तिः तद्धर्मत्वात्[6]। यो यद्धर्मः स ततोऽभिन्नः यथा प्रदीपात् स्व-परप्रकाशः, प्रमाणधर्मश्च अज्ञाननिवृत्तिः स्वपररूपव्यामोहविच्छेदलक्षणा

१ "यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणम् तदा द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिः इत्यर्थः। यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमारूपमर्थप्रतीतिरूपत्वात् तदा तदुत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षम्...विशेष्यज्ञानं हि विशेषणज्ञानस्य फलम् विशेषणज्ञानं न ज्ञानान्तरफलम्...यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं फलं तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम्, यदा विशेष्यज्ञानं फलं तदा सामान्यविशेषालोचनं प्रमाणम् इत्युक्तं तावत्। सम्प्रति हानादिबुद्धीनां फलत्वे विशेष्यज्ञानं प्रमाणमित्याह..." प्रश० कन्दली पृ० १९९। मीमांसाश्लो० सू० ४ श्लो० ७०–७३। २–त्वं चा आ०। ३–त्वं विषय– आ०। ४ पृ० २०८ पं० १०। ५ "उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः। पूर्वा वाऽज्ञाननाशो सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥" आप्तमीमांसा। "प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्। केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥२८॥" न्यायावतार। "उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्..." सर्वार्थसि० १।१०। "प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।" सिद्धिवि० टी० पृ० १२६ पू०। "प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः। निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥" न्यायवि० ३। ९०। पृ० ५९६। "हानादिवेदनं भिन्नं फलमिष्टं प्रमाणतः। तदभिन्नं पुनः स्वार्थाज्ञानव्यावर्तनं समम् ॥ ४२ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२७। "अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। प्रमाणाद्भिन्नमभिन्नञ्च।" परीक्षामुख ५।१, २। प्रमाणनय० ६।१।२२। प्रमाणमीमांसा १।१।३५, ३९, ४१, ४२। ६ "क्रियाकरणयोरैक्यविरोध इति चेदसत्। धर्मभेदाभ्युपगमाद्वस्त्वभिन्नमितीष्यते ॥" प्रमाणवा० ३।३१८।

इति। न हि सर्वथा भेदे अभेदे वा धर्म-धर्मिभावो घटते विरोधात्; तथाहि–ययोः सर्वथा भेदः न तयोर्धर्म-धर्मिभावः यथा सह्य-विन्ध्ययोः, सर्वथा भेदश्च धर्म-धर्मिणोः भवद्भिरभिप्रेत इति। तथा, यत्र सर्वथाऽभेदः न तत्र धर्म-धर्मिभावः यथा धर्मधर्मिणोरन्यतरस्वरूपे, सर्वथाऽभेदश्च धर्म-धर्मिणोर्भवद्भिरिष्ट इति। अतः सर्वथाभेदोऽभेदपक्षे तयोः तद्भावाऽनुपपत्तेः कथञ्चिद्भेद एव ज्यायान्, साधकतमस्वभावतया हि ज्ञानस्य प्रमाणता अज्ञाननिवृत्त्यात्मकतया च फलरूपता इति। साधकतमस्वभावता च अस्य स्वपरग्रहणव्यापार एव तद्ग्रहणाऽभिमुख्यलक्षणः। ज्ञानं हि स्वकारणकलापादुपजायमानं स्वार्थग्रहणव्यापारलक्षणोपयोगरूपं सत् स्वार्थव्यवसायरूपतया परिणमते। इत्थं कथञ्चिद्भेदेऽपि अनयोः कार्यकारणभावो न विरुद्ध्यते। तथा च 'एकस्य एकदा स्वात्मापेक्षया करणरूपता फलरूपता चानुपपन्ना' इत्याद्ययुक्तम्; एकस्यापि अपेक्षाभेदाद् अनेककारकरूपतोपपत्तेः, यथा 'वृक्षस्तिष्ठति, वृक्षेण कृतम्, वृक्षादपेतम्, वृक्षं पश्य' इत्यादौ, एवं प्रमाणस्यैकस्यापि साधकतम-स्वपररूपव्यामोहविच्छेदलक्षण-अज्ञाननिवृत्तिस्वभावाऽपेक्षया प्रमाणरूपता फलरूपता च न विरोधमध्यास्ते।

ननु च अज्ञाननिवृत्तिः ज्ञानमेव, न च तदेव तस्यैव कार्यं युक्तं विरोधात्, अतः कथमस्याः प्रमाणफलत्वं स्यात्? इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतः अज्ञाननिवृत्तेः स्वार्थव्यवसायपरिणतिलक्षणायाः स्वार्थग्रहणव्यापारलक्षण-उपयोगरूपप्रमाणेन कार्यत्वाऽविरोधात्, साधकतमांशस्य इतरांशात् कथञ्चिद्भेदप्रतिपादनात्।

किञ्च, धर्मरूपताम्, धर्मिरूपतां वा अभ्युपगम्य 'अज्ञाननिवृत्तिः ज्ञानमेव' इत्यभ्युपगम्येत? यदि धर्मिरूपताम्; तत्रापि किमपेक्षया अज्ञाननिवृत्तेः धर्मित्वं परिकल्प्येत–ज्ञानापेक्षया, धर्मान्तराऽपेक्षया वा? प्रथमपक्षे 'तन्निवृत्तेः धर्मित्वम्, ज्ञानस्य तु धर्मत्वम्' इति वैपरीत्यमायातम्, न चैतद्युक्तं तस्याः तदाश्रितत्वात्। यद् यदाश्रितं न तस्य स्वाश्रयापेक्षयैव धर्मित्वं दृष्टम् यथा सुख-रूपादेः, ज्ञानाश्रिता च अज्ञाननिवृत्तिः इति, अतः कथस्या धर्मित्वम्? नियमेन अस्याः पराश्रितायाः धर्मस्वभावत्वस्यैव उपपत्तेः तल्लक्षणत्वात्तस्य। अथ धर्मान्तरापेक्षया; तदा ज्ञानापेक्षया किमस्याः स्यात्? धर्मरूपता चेत्; कथमेवम् 'ज्ञानमेव अज्ञाननिवृत्तिः' इति अभेदाऽभिधानं युज्यते? 'ज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तिः धर्मः' इति भेदाऽभिधानस्यैव उपपन्नत्वात्, न खलु उपचारादन्यत्र धर्म-धर्मिणोरभेदाऽभिधानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, असौ कार्या, अकार्या वा स्यात्? यदि अकार्या; सर्वत्र सर्वदा सत्त्वप्रसङ्गात् सर्वः

---

१ "भेदैकान्ते पुनर्न स्यात् प्रमाणफलतागतिः। सन्तानान्तरवत् स्वेष्टेऽप्येकत्रात्मनि संविदोः ॥४५॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२८। "अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः। भेदे तु आत्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।" परीक्षामुख ६।६७, ७१। २–निवृत्त्यात्मना च श्र०। ३ परिणमति ब०, ज०। ४ करणता आ०, भा०। ५–ता वानुपपत्तेः ब०, ज०। ६ च आ०। ७ किमपेक्ष्य आ०, भा०।

सर्वदर्शी स्यात्, देशादिनियतकारणाधीनतया हि भावानां देशादिनियमः नान्यथा। अथ कार्या असौ; कुतो जायेत–प्रमाणाभिमतज्ञानात्, अन्यतो वा ? यदि अन्यतः; प्रमाणाभिमतज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्तरकालश्च तदुत्पत्तिप्रसक्तिः, न हि तदकार्यस्य तत्सत्ताकाले एव आत्मलाभो युक्तः। प्रयोगः–यद् यदकार्यं न तद् आत्मलाभे तत्सत्तामपेक्षते यथा घटाऽकार्यः पटो नात्मलाभे घटसत्ताम्, प्रमाणाऽकार्या च अज्ञाननिवृत्तिः अन्यत उत्पत्तिमत्त्वेन इति। अथ प्रमाणादेव असौ उत्पद्यते; सिद्धं तर्हि प्रमाणफलत्वमस्याः, तथा च 'ज्ञानमेव अज्ञाननिवृत्तिः' इति दुर्घटम्।

सुघटत्वेऽपि वा, किं ज्ञानमात्रमेव अज्ञाननिवृत्तिः, विशिष्टं वा ज्ञानम् ? प्रथमपक्षे अनध्यवसायादेः दत्तो जलाञ्जलिः–ज्ञानमात्रधर्मतया अज्ञाननिवृत्तेः स्वपररूपव्यामोहविच्छेदलक्षणायाः तत्रापि सत्त्वप्रसङ्गात्। व्यामोहो हि अनध्यवसायादिस्वभावः, स कथं तद्विपक्षभूतया अज्ञाननिवृत्त्या क्रोडीकृते ज्ञानमात्रे अवकाशं लभेत ? यत्र यत्सत्तामात्रनिबन्धनो यद्विपरीतधर्मसद्भावः न तत्र तत्संभवः यथा आत्मसत्तामात्रनिबन्धनेन अमूर्तचेतनत्वादिधर्मेण क्रोडीकृते आत्मनि न मूर्त-अचेतनत्वादिधर्मसंभवः, ज्ञानसत्तामात्रनिबन्धनेन अज्ञाननिवृत्तिधर्मेण अनध्यवसायादिविरोधिना क्रोडीकृतश्च ज्ञानमिति। अथ विशिष्टज्ञानधर्मता अज्ञाननिवृत्तेः इष्यते; ननु किमिदं ज्ञानस्य विशिष्टत्वं नाम–स्वपररूपयोः व्यामोहविच्छेदहेतुत्वम्, अबाधितत्वम्, संस्कारजननयोग्यता, विशिष्टकारणकलापादात्मलाभो वा ? प्रथमविकल्पे अस्मन्मतसिद्धिः, स्याद्वादिभिः अनध्यवसायादिलक्षणव्यामोहविच्छेदहेतोः ज्ञानविशेषस्य अज्ञाननिवृत्तिधर्माश्रयत्वाऽभ्युपगमात्। उत्तरविकल्पत्रयमपि अस्मन्मतमेव अवगाहते, स्वपररूपयोः व्यामोहविच्छेदं कुर्वतो ज्ञानविशेषस्य अबाधितस्य संस्कारजननयोग्यस्य विशिष्टकारणकलापादाविर्भावमाबिभ्रतः अज्ञाननिवृत्तिधर्माधारत्वोपपत्तेः। ततः सूक्तम्–प्रमाणधर्मत्वाद् अज्ञाननिवृत्तिलक्षणं फलं प्रमाणादभिन्नम्, हानोपादानादिकं तु भिन्नम्।

ननु यथा स्वार्थग्रहणाभिमुख्यलक्षणोपयोगरूपं ज्ञानं स्वपरप्रमितिरूप-अज्ञाननिवृत्तिरूपतया परिणमते तथा हानादिरूपतयापि, तत्कथमस्य भिन्नफलत्वमिति चेत् ? तद्व्यवहितत्वात्, समुत्पन्ने हि अज्ञाननिवृत्तिलक्षणे फले हानोपादानादिलक्षणं फलमुत्पद्यते इति अज्ञाननिवृत्तिलक्षणेन फलेन अस्य व्यवधानाद् भिन्नत्वम्, अज्ञाननिवृत्तेस्तु अपरेण स्वप्नेऽपि अव्यवधानादभिन्नत्वम्। तन्न कारकत्वलक्षणाद् हेतोः प्रमाण-फलयोः सर्वथा भेदः सिद्ध्यति। नापि करणत्वात्; उक्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्गात्।

यदप्यभिहितम्[6]–'विशेषणज्ञानं प्रमाणम् विशेष्यज्ञानं फलम्' इत्यादि; तदप्यपेशलम्;

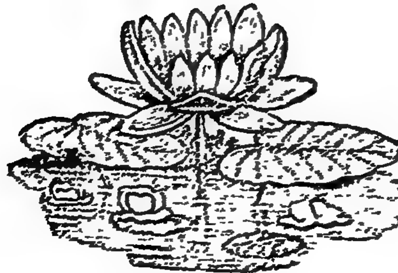
१–सत्तानिव–आ०। २ ज्ञानमात्रमिति आ०, ब०, ज०। ३–जनने योग्य– ब०, ज०। ४–दात्मनो लाभो श्र०। ५–नादिकंल–ब०, ज०। ६ पृ० २०९ पं० ३।

विशेषण-विशेष्ययोर्विभिन्नज्ञानालम्बनत्वाऽभावात्। एकमेव हि ज्ञानं तदालम्बनम्, न हि 'शुक्लः पटः, दण्डी पुरुषः' इत्यादौ विशेषणविशेष्ययोर्ज्ञानभेदोऽनुभूयते; प्रतीतिविरोधात्। न च विषयभेदात् ज्ञानभेदः; पञ्चाङ्गुलादेर्विषयस्य अनेकस्यापि एकज्ञानाऽलम्बनत्वात्, कथमन्यथा 'सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकज्ञानालम्बनम् अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्' इत्यत्र अस्य दृष्टान्तता? कथं वा अवयविनः सिद्धिः, ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यभागानामपि एकज्ञानालम्बनत्वाऽभावप्रसङ्गतः तद्व्यापित्वेन अस्य सिद्ध्यनुपपत्तेः?

याऽपि विशेषणाक्षसन्निकर्षादिलक्षणा विभिन्ना सामग्री प्रतिपादिता[1]; सापि अनुपपन्ना; सन्निकर्षस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्। सति[2] च कार्यभेदे कारणभेदः कल्पयितुं युक्तः, न चात्र तद्भेदोऽस्ति इत्युक्तम्। ततः सूक्तम्-प्रमाणफलयोः क्रमभावेऽपि तादात्म्यम् अभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् इति।

निर्मूल्य लक्षणमथान्यमतप्ररूढम्,
प्रत्यक्षलक्षणमिदं गदितं प्रमायाः।
ताराप्रभाप्रकटितं खलु वस्तुजातम्,
इन्दुः प्रकाशयति तत्र किमस्ति चित्रम्॥ १॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे
प्रत्यक्षपरिच्छेदः प्रथमः।
ग्रं–४५००।



१ पृ० २०९ पं० ६। २ सति का–आ०, भां०।

प्रमाणप्रवेशे द्वितीयो विषयपरिच्छेदः ।

यत्रार्थे प्रमितेः प्रवृत्तिरखिलव्यामोहविच्छेदतः,
तद्रूपप्रतिपादनार्थममलः आरभ्यते प्रक्रमः ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकारनिचयप्रच्छादितार्थं स्फुटम्,
स्याद्वादाऽप्रतिमप्रचण्डतरणेर्नान्यः क्षमो द्योतितुम् ॥१॥

सम्यग्विषयवता हि प्रमाणेन भवितव्यम्, समीचीनश्च विषयः प्रमाणस्य यादृशो भवति, तं दर्शयन् प्रकृतमर्थञ्चोपसंहरन्नाह—

तद्द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥ ७ ॥

विवृतिः—भेदाऽभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिः अनेकान्तात् । नान्तर्बहिर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्पराऽनात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः ; द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात् । न केवलं साक्षात्करणम् एकान्ते न संभवति, अपि तु—

कारिकाविवरणम्—

यतोऽवग्रहादीनां प्रमाण-फलभूतानां क्रमभावेऽपि तादात्म्यम् अभिन्नविषयत्वञ्च **तत्** तस्मात् **अर्थः** अर्थक्रियासमर्थः प्रमाणगोचरो भावः **द्रव्यपर्यायात्मकः** बहिः घटादिः इत्यर्थः । किमिव ? इत्यत्राह— '**अन्तश्च**' इति । चशब्द इवार्थे निपातानामनेकार्थत्वात्, अन्तरिव । कल्पनातः स तथाविधः स्यात्, इत्यत्राह— **तत्त्वतः** परमार्थतः ।

विवृतिव्याख्यानम्—

'**भेद**' इत्यादिना तद् व्याचष्टे—**भेदाऽभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः** कारणात् **अर्थस्य सिद्धिः** निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा **अनेकान्तात्** अनेकान्तेन हेतुना, [2]तं वा आश्रित्य । नहि भेदैकान्ते वैशेषिकाभ्युपगते षट्पदार्थलक्षणे, नैयायिकाभ्युपगते वा षोडशपदार्थलक्षणे [3]अर्थस्य सिद्धिः घटते ; प्रमाणतोऽप्रसिद्धस्वरूपाणां तेषामर्थसिद्धिनिबन्धनत्वाऽनुपपत्तेः । यत् प्रमाणतोऽप्रसिद्धस्वरूपं न तद् अर्थसिद्धिनिबन्धनम् यथा गगनेन्दीवरम्, प्रमाणतोऽप्रसिद्धस्वरूपाश्च यौगाभ्युपगताः पदार्था इति ।

१—ना एतद् श्र० । २ तदाश्रित्य ब० । ३ अर्थसिद्धिः ब०, ज० ।

षट्पदार्थवादे वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु वैशेषिकैरभ्युपगता द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाख्याः षट् पदार्थाः अभावश्च सप्तमः, ते च अन्योन्याऽसंभविलक्षणलक्षितत्वेन अन्योन्यमेकान्ततो भिन्नाः प्रमाणतः सुप्रसिद्धा एव। तथाहि–द्रव्यलक्षणं[3] तावद् गुणादिषु न संभवति। तस्य हि लक्षणम्–द्रव्यत्वाभिसम्बन्धः, क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणत्वञ्च। तथा च सूत्रम्–"क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्" [वैशे० सू० १।१।१५] इति। तल्लक्षितानि पृथिवी-अप्-तेजः-वायु-आकाश-काल-दिक्-आत्म-मनांसि नवैव द्रव्याणि। तत्र पृथिव्यप्तेजोवायवो द्विविधा नित्याऽनित्यभेदात्। तत्र परमाणुरूपा नित्याः सदकारणवत्त्वात्। द्व्यणुकाद्यवयविरूपास्तु अनित्या उत्पत्तिमत्त्वात्। आकाशकालदिगात्ममनांसि तु नित्यानि एव।

तत्रेदं द्रव्यलक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानम्; तथाहि–द्रव्यम् इतरेभ्यो भिद्यते द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात् क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणत्वाद्वा, यत् पुनः इतरेभ्यो न भिद्यते न तत्तथा यथा गुणादि, तथा च तत्, तस्माद् इतरेभ्यो भिद्यते। व्यवहारो वा साध्यः–विवादास्पदीभूतं वस्तु 'द्रव्यम्' इति व्यवहर्त्तव्यम् अस्मादेव हेतोः, यत्तु नैवं व्यवह्रियते न तत् तथा यथा गुणादि, तथा चेदम्, तस्मात् 'द्रव्यम्' इति व्यवहर्त्तव्यम्। एवं शेषलक्षणान्यपि; "पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी" [प्रश० भा० पृ० २०] "अप्त्वाभिसम्बन्धाद् आपः" [प्रश० भा० पृ० ३५] "तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः" [प्रश० भा० पृ० ३८] "वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः" [प्रश०भा० पृ० ४४] इत्येतानि बोद्धव्यानि। आकाश-काल-दिशां तु एकैकत्वात् तल्लक्षणभूताऽपरसामान्याऽभावेऽपि पारिभाषिकाः (क्यः) तिस्रः संज्ञा लक्षणम्–'आकाशम्, कालः, दिक्' इति।

---

१ "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।" वै०सू० १।१।४। २ "भावपरिज्ञानापेक्षित्वादभावस्य पृथगनुपसंख्यानम्..." प्रश० व्यो० पृ० २०। "अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतन्त्र्यात् नत्वभावात्।" प्रश० कन्दली पृ० ७। "अभावस्य च समानतन्त्रासिद्धस्याऽप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्यविरोधात् अभ्युपगमसिद्धान्तसिद्धत्वात्।" न्यायली० पृ० ३। ३–णं गुणा–आ०। ४ "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।" वै० सू० १।१।१५। ५ "पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।" वै० सू० १।१।५। ६ "सदकारणवन्नित्यम्।" वै०सू० ४।१।१। ७ "लक्षणं च भेदार्थं व्यवहारार्थं चेति। तथाहि–पृथिव्यादीनि इतरस्माद् भिद्यन्ते द्रव्याणीति वा व्यवहर्त्तव्यानि द्रव्यत्वयोगात्।" प्रश० व्योम० पृ० १५०। "पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः।" प्रश० भा० पृ० २०। "एतेन द्रव्यादिपदार्थस्य इतरेभ्यो भेदलक्षणमुक्तम्।" प्रश० कन्दली पृ० २०। ८ द्रव्यत्वात् ब०, ज०। ९ "आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति आकाशं कालो दिगिति।" प्रश० भा० पृ० ५८।

तथाहि–आकाशम् इतरेभ्यो भिद्यते, विवादास्पदीभूतं द्रव्यम् 'आकाशम्' इति व्यवहर्त्तव्यम्, अनादिकालप्रवाहाऽऽयात-आकाशशब्दवाच्यत्वात्, यत्तु इतरेभ्यो न भिद्यते न च 'आकाशम्' इति व्यवह्रियते न तद् अनादिकालप्रवाहाऽऽयाताऽऽकाशशब्दवाच्यम् यथा रूपादि, तच्छब्द-वाच्यश्चेदम्, तस्मादुक्तसाध्यमिति । एवं [2]दिक्कालयोरपि लक्षणं द्रष्टव्यम् । *"आत्मत्वाऽ-भिसम्बन्धाद् आत्मा"* [प्रश० भा० पृ० ६९] *" मनस्त्वाभिसम्बन्धात् मनः"* [प्रश० भा० पृ० ८९] इत्यत्रापि पूर्ववत् केवलव्यतिरेक्यनुमानं द्रष्टव्यम् । एवं रूपादयः चतुर्विंशतिर्गुणाः । उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि । पराऽपरभेदभिन्नं द्विविधं सामान्यम् अनुगतज्ञानकारणम् । नित्यद्रव्यवृत्तयः [6]अन्त्या विशेषाः अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवः । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानाम् 'इह' इति प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवाय इति ।

पद्पदार्थपरीक्षायां पार्थिवादि-परमाणुलक्षणनित्यद्रव्य-निराकरणम् –

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम् †–'पृथिव्यप्तेजोवायवो द्विविधाः' इत्यादि; तदसमीचीनम्; परमाणुरूपाणां तेषां सद्भावे प्रमाणाऽभावात् । नहि तत्सद्भावे अस्मदादिप्रत्यक्षं प्रवर्तते अतीन्द्रियत्वात्तेषाम् । नाप्यनुमानम्; तत्सद्भावाऽऽवेदिनस्तस्याऽसंभवात् । नन्विदमस्ति–द्व्यणुकादिकार्यं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणाऽऽरब्धं कार्यत्वात् घटादिवत्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; कार्यस्य स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वनियमाऽसंभवात् । तथाहि–किं कार्यमात्रं तदारब्धं प्रसाध्येत, द्रव्यत्वविशिष्टं वा कार्यम्? प्रथमपक्षे बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारः, तेषां कार्यत्वे सत्यपि स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वनियमाऽसंभवात् । द्वितीयपक्षे तु भस्मादिना अनेकान्तः, तस्य द्रव्यत्वे सति कार्यत्वे सत्यपि ततोऽल्पप-

१ "आकाशमितरेभ्यो भिद्यते अनादिकालप्रवाहायाताकाशशब्दवाच्यत्वात् ।" प्रश० व्योम० पृ० ३२२ । २ "दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा ।" प्रश० भा०पृ० ६६ । "कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् ।" प्रश० भा० पृ० ६३ । ३ "रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।" वैशे० सू० १।१।६। "......इति कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्त इत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः ।" प्रश० भा० पृ० १० । ४ "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।" वैशे० सू० १।१।७। ५ "सामान्यं द्विविधं परमपरं च...अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम् ।" प्रश० भा० पृ० ३११ । ६ "अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमानाः अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः ।" प्रश० भा० पृ० ३२१ । ७ "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः ।" प्रश० भा० पृ० ३२४। ८ "तथा कार्यादल्पपरिमाणं समवायिकारणम् तस्याप्यन्यद् अल्पपरिमाणम् इत्याद्यं कार्यं निरतिशयपरमाणुपरिमाणैरारब्धमिति ज्ञायते ।" प्रश० व्यो० पृ० २२४ । ९–रब्धत्वाऽसंभवात् ब०, ज०, भां०, श्र० । † पृ० २१४ पं० ७।

रिमाणकारणारब्धत्वाऽप्रतीतेः । न खलु 'कार्यपरिमाणादल्पपरिमाणमेव द्रव्यं कारणम्' इति सर्वत्र व्याप्तिः, किन्तु 'कार्यं कारणं विना न भवति' इति व्याप्तिः, कार्यपरिमाणाद् अधिकस्य न्यूनस्य समस्य वा द्रव्यस्य कारणत्वप्रतीतेः । तत्र महतः पलालकूटात् [1]प्रशिथिलावयवकार्पासपिण्डाच्च न्यूनपरिमाणस्य भस्मनः निविडाऽवयवकार्पासपिण्डस्य च प्रादुर्भावः प्रतीयते, अल्पपरिमाणाच्च बीजात् महापरिमाणस्य वृक्षादेः, समपरिमाणाच्च दुग्धादेः समपरिमाणस्य दध्यादेः इति । न च किञ्चित् कार्यद्रव्यं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणपूर्वकमुपलभ्य सर्वं कार्यद्रव्यं तथा साधयितुं युक्तम्; शब्द-विद्युत्-प्रदीपादीनां क्षणिकत्वमुपलभ्य सकलार्थानां सत्त्वादेः क्षणिकत्वसाधनप्रसङ्गात् । 'दृष्टान्तमात्रसद्भावेऽपि अत्र साकल्येन व्याप्तेरभावान्न तत्साधकत्वम्' इत्य[2]न्यत्रापि समानम् । अतः परमाणूनां सद्भावस्य कुतश्चित् प्रमाणाद[3]प्रसिद्धेः 'परमाणुरूपाः पृथिव्यादयो नित्याः सदकारणवत्त्वात्' इत्यत्र हेतोर्विशेषणाऽसिद्धत्वम् ।

विशेष्याऽसिद्धत्वञ्च स्कन्धभेद[4]पूर्वकत्वात्तेषाम्; तथाहि–परमाणवः स्कन्धाऽवयविद्रव्यविनाशकारणकाः तद्भावभावित्वात् घटविनाशपूर्वककपालवत् । नचेदमसिद्धम्; द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यविनाशे एव परमाणुसद्भावप्रसिद्धेः । वि[5]भाग एव तद्विनाशाज्जायते नाणवः; इत्ययुक्तम्; स्कन्धस्याप्येवमहेतुकत्वप्रसङ्गात् । शक्यते हि वक्तुम्–'संयोग एव अणुसङ्घाताज्जायते न स्कन्धः' इति । सर्वदा स्वतन्त्रपरमाणूनां तद्विनाशमन्तरेणाऽपि सद्भावसंभवाद् भागाऽसिद्धो हेतुः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; तेषामसिद्धेः, 'विवादापन्नाः परमाणवः स्कन्धभेदपूर्वका एव तत्त्वात् द्व्यणुकादिभेदपूर्वकपरमाणुवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च । ननु पटोत्तरकालभावितन्तूनां पटभेदपूर्वकत्वेऽपि तत्पूर्वकालभाविनां [6]तेषामतत्पू[7]र्वकत्ववत् परमाणूनामपि अस्कन्धभेदपूर्वकत्वं केषाञ्चित् स्यात्; इत्यप्यसुन्दरम्; तेषामपि [8]प्रवेणीभेदपूर्वकत्वेन स्कन्धभेदपूर्वकत्वप्रसिद्धेः ।

ननु परमाणूनां ग्राहकप्रमाणाऽभावतो भवद्भिरेव अभावप्रतिपादनात् न तेषां स्कन्धभेदपूर्वकत्वप्रतिज्ञा श्रेयसी; इत्यप्यनुपपन्नम्; भवतामेव अनवद्यतत्साधकप्रमाणाऽभावतः तदभावप्रतिपादनात्, अस्माकन्तु निरवद्यतत्साधकाऽनुमानस्य सद्भावात्ततः तेषां सद्भावोपपत्तेः तद्भे-

१ "श्लथावयवकार्पासपिण्डसंघाततो यथा । घनावयवकार्पासपिण्डः समुपजायते ॥ ७ ॥"'कश्चित् परिमाणादणुपरिमाणकारणपूर्वकः कश्चित् महापरिमाणकारणपूर्वकः कश्चित् समानकारणारब्धः ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३२ । "हेतुश्चानैकान्तिकः प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डात् अल्पपरिमाणनिविडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात् ।" अष्टसह० पृ० २१० । प्रमेयक० पृ० ७५ उ० । स्या० रत्ना० पृ० ८७० । २ इत्यत्रापि ब०, ज०, भां०, श्र० । ३ –दप्रसिद्धे पर–आ० । ४ "भेदादणु ।" तत्त्वार्थसू० ५।२७ । ५ "विभागः परमाणूनां स्कन्धभेदान्न वाऽणवः । नित्यत्वादुपजायन्ते मरुत्पथवदित्यसत् ॥ २ ॥ संयोगः परमाणूनां संघातादुपजायते । न स्कन्धस्तद्वदेवेति वक्तुं शक्तेः परैरपि ॥ ३ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३१ । प्रमेयक० पृ० १६० उ० । ६ तेषां तत्पू–श्र० । ७–त्पूर्वकत्वात् आ०, ब०, ज०, भां० । ८ "तस्यापि तन्त्वादेः कार्पासप्रवेणीभेदादेव उत्पत्तिप्रसिद्धेः ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३९३ ।

दपूर्वकत्वप्रतिज्ञा उपपन्नैव । तथाहि-अणुपरिमाणतरतमादिभेदः[1] क्वचिद् विश्रान्तः परिमाणतर-तमादिभेदत्वात् महत्परिमाणतरतमादिभेदवत्[2] । यत्र च अस्य विश्रान्तिः ते परमाणवः[3], इति न तेषां सद्भावाऽसंभवः ।

नित्यैकरूपताया एव असंभवात्, तद्रूपतायां तेषां क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाऽनुपपत्तेः ; तथाहि-एकान्ततो नित्यस्वभावाः सन्तः परमाणवः सर्वदा कार्याऽजननस्वभावा इष्यन्ते, तद्विपरीता वा ? प्रथमविकल्पे द्व्यणुकादिकार्यस्य सर्वदाऽसत्त्वप्रसङ्गः सर्वदा तदजननस्वभावेभ्यः तेभ्यः तदुत्पत्त्यनुपपत्तेः ; यद् यदजननस्वभावम् न ततस्तदुत्पत्तिः यथा शालिबीजाद् यवाङ्कुरस्य, द्व्यणुकादिकार्याऽजननस्वभावाश्च सर्वदा भवद्भिः परिकल्प्यन्ते परमाणव इति । तथा च परमाणूनामपि असत्त्वमेव स्यात्, कार्याऽकारित्वात्, यत् कार्याऽकारि न तत् सत् यथा गगनेन्दीवरम्, कार्याऽकारिणश्च सर्वदा तदजननैकस्वभावतया भवन्मते परमाणव इति । अथ सर्वदा कार्यजननैकस्वभावास्तेऽभ्युपगम्यन्ते तत्रापि[4]-किम् एकाकिनस्ते[5] तज्जननैकस्वभावा इष्यन्ते, सहकारिसमन्विता वा ? यदि एकाकिनः ; तदा तत्प्रभवकार्याणां सकृदेव उत्पत्तिः स्यात्, अविकलकारणत्वात्, ये अविकलकारणाः ते सकृदेव उत्पद्यन्ते यथा समानसमयोत्पादा बहवोऽङ्कुराः, अविकलकारणाश्च जननैकस्वभावाऽणुकार्यत्वेन अभिमताः सर्वे[6] भावा इति । तथाभूतानामप्येषामतोऽनुत्पत्तौ सर्वदाऽनुत्पत्तिप्रसङ्गः अविशेषात् ।

ननु[7] समवायि-असमवायि-निमित्तभेदात् त्रिविधं कारणं कार्यजन्मनि व्याप्रियते । यत्र हि कार्यं समवैति तत् समवायिकारणम् यथा द्व्यणुकस्य अणुद्वयम् । यच्च कार्यैकार्थसमवेतं कार्यकारणैकार्थसमवेतं वा कार्यमुत्पादयति तद् असमवायिकारणम् यथा पटारम्भे तन्तुसंयोगः, पट-

१ "तथा घटादिकारणकारणेषु अल्पतरादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः तरतमशब्दवाच्यत्वात् महापरिमाणवत्, यत्र विश्रान्तस्ते परमाणवः इति ।" प्रश० व्यो० पृ० २२४ । "अणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं परिमाणतारतम्यत्वात् महत्परिमाणतारतम्यवत्, यत्रेदं विश्रान्तं यतः परमाणुर्नास्ति स परमाणुः ।" प्रश० कन्दली पृ० ३१ । स्या० रत्ना पृ० ८७० । २ महापरि-आ०, ब०, ज० । ३-वाः परमा-ब०, ज० । ४ अत्रापि भां० । ५ ते जननैक-ब०, ज० । ६ "नित्यत्वे सकलाः स्थूला जायेरन् सकृदेव हि । संयोगादि न चापेक्ष्यं तेषामस्त्यविशेषतः ॥ ५५२ ॥ यदि पर्वतादीनां स्थूलानां कारणभूताः परमाणवो नित्याः सन्तीत्यभ्युपगम्यन्ते तदा तत्कार्याणां स्थूलानामविकलकारणत्वात् सकृदेवोत्पत्तिप्रसङ्गः । प्रयोगः-ये समग्राऽप्रतिबद्धकारणाः ते सकृदेव भवन्ति, यथा बहवोऽङ्कुरास्तुल्योत्पादाः...।" तत्त्वसं० पं० पृ० १८६ । प्रमेयक० पृ० १५९ उ० । सन्मति० टी० पृ० ६५७ । स्या० रत्ना० पृ० ८७० । ७ "स्यादेतत् त्रिविधं कारणमिष्टं समवायिकारणमसमवायिकारणं निमित्तकारणं च...तत्र अपेक्षणीयस्य संयोगादेरसन्निहितत्वात् समग्रकारणत्वमसिद्धम् अतोऽसिद्धो हेतुः, इत्याशंक्याह-संयोगादीति । यदि हि संयोगादिना कश्चिद् विशेषोऽणूनामाधीयेत तदा ते तमपेक्षेरन् । यावत् परैरनाधेयविशेषा एवाणवो नित्यत्वात् तत्कथं संयोगादि तेषामपेक्ष्यं स्यात् ।..." तत्त्वसं० पं० पृ० १८६ ।

समवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादि च। शेषं तूत्पादकं निमित्तकारणम् अदृष्ट-आकाशादि। तत्र संयोगादेरपेक्षणीयस्य अभावात् अविकलकारणत्वं तेषामसिद्धम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; संयोगादिना अनाधेयाऽतिशयत्वेनाऽणूनां तदपेक्षाऽनुपपत्तेः। अथ संयोग एव अमीषामतिशयः; स किं नित्यः, अनित्यो वा? नित्यश्चेत्; सर्वदा कार्योत्पत्तिः स्यात् तदतिशयभूतस्य संयोगस्य सदा सत्त्वात्। अथ अनित्यः; तदा तदुत्पत्तौ कोऽतिशयः स्यात्–संयोग एव, क्रिया वा? संयोगश्चेत्; किं स एव, संयोगान्तरं वा? न तावत् स एव; अस्य अद्याप्यसिद्धेः, स्वोत्पत्तौ स्वस्यैव व्यापारविरोधाच्च। नापि संयोगान्तरम्; तस्य अनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा तदुत्पत्तावपि अपरसंयोगातिशयकल्पनाप्रसङ्गाद् अनवस्था स्यात्। नापि क्रिया अतिशयः; तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषाऽनुषङ्गात्। किञ्च, 'अदृष्टापेक्षाद् आत्माऽणुसंयोगात् परमाणुषु क्रिया उत्पद्यते'[1] इति भवताऽभ्युपगमात्, आत्म-परमाणुसंयोगोत्पत्तावपि अपरोऽतिशयः कल्पनीयः तत्र च तदेव दूषणम्, इति अपराऽनवस्था।

किञ्च, असौ संयोगो द्व्यणुकादिनिर्वर्त्तकः किं परमाण्वाश्रितः[2], तदन्याश्रितः, अनाश्रितो वा? तत्र आद्यपक्षे तदुत्पत्तौ आश्रयः उत्पद्यते, न वा? यदि उत्पद्यते; तदा अणूनामपि कार्यताऽनुषङ्गः असंयोगरूपतापरित्यागेन संयोगरूपतया परिणमनात्। अथ नोत्पद्यते; कथं तर्हि असौ तदाश्रितः स्यात्, विरुद्धधर्माऽध्यासतः ततस्तस्य अत्यन्तभेदप्रसङ्गात्? तथाभूतोऽप्यसौ तत्सम्बद्धत्वात् तदाश्रितः इति चेत्; केन पुनः सम्बन्धेन असौ तत्सम्बद्धः–समवायेन, संयोगेन, कार्यकारणभावेन वा? न तावत् समवायेन; अस्याऽसत्त्वात्, तदसत्त्वञ्च अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् सिद्धम्। नापि संयोगेन; संयोगे संयोगस्याऽसंभवात्[3] गुणत्वेन अस्य द्रव्यवृत्तित्वात्। नापि कार्यकारणभावेन; संयोगं प्रति अणूनां कारणत्वाऽभावात्, तदभावश्च अनतिशयत्वात्। अनतिशयानामपि जनकत्वे सर्वदा जनकत्वप्रसङ्गः अविशेषात्। अतिशयान्तरकल्पने च अनवस्था तदुत्पत्तावपि अपराऽतिशयपरिकल्पनप्रसङ्गात्। अन्याश्रितत्वे तु संयोगस्य परमाण्वतिशयत्वाऽनुत्पत्तिः तत्सम्बन्धाऽभावात्, यत्रैव हि असौ आश्रितः तस्यैव अतिशयः नान्यस्य अतिप्रसङ्गात्। अनाश्रितत्वं तु तस्य अनुपपन्नम्, गुणत्वात्, यो गुणः नासौ अनाश्रितः यथा रूपादिः, गुणश्च भवद्भिरभिप्रेतः संयोग इति। अनाश्रितत्वे वा गुणत्वाऽनुपपत्तिः; यदनाश्रितम् न तद् गुणः यथा आकाशादि, अनाश्रितश्च परमाण्वतिशयरूपतया भवत्कल्पितः संयोग इति।

---

१ "...सर्वात्मगतवृत्तिलब्धाऽदृष्टापेक्षेभ्यः तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ..." प्रश० भा० पृ० ४८। "सर्वात्मगताश्च वृत्तिलब्धाश्च अदृष्टाश्च तानपेक्षन्ते ये तत्संयोगाः आत्माणुसंयोगाः तेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते। पवनपरमाणवः समवायिकारणम्, लब्धवृत्त्यदृष्टवदात्मपरमाणुसंयोगः असमवायिकारणम्, अदृष्टं निमित्तकारणम्...।" प्रश० कन्दली पृ० ५२। २ परमाण्वादावाश्रितः ब०, ज०। ३–न संयोगस्या–आ०, ब०।

किञ्च, असौ संयोगः तेषां सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात् ? यदि सर्वात्मना; पिण्डोऽणुमात्रः स्यात्। अथ एकदेशेन; तदा अणूनां सांशत्वप्रसङ्गः। तत्र एकाकिनां तेषां तज्जननैकस्वभावता घटते। नापि सहकारिसमन्वितानाम्; यतः तेषां सहकारिणः स्वगताऽतिशयविशेषा एव, वस्त्वन्तराणि वा ? प्रथमपक्षे प्रागुक्त-अशेषदोषाऽनुषङ्गः। द्वितीयपक्षेऽपि वस्त्वन्तराणि अणूनामुपकारं कुर्वन्ति, न वा ? कुर्वन्ति चेत्; किं भिन्नम्, अभिन्नं वा ? यदि अभिन्नम्; तदा तेषां कार्यत्वम्। अथ भिन्नम्; तदा तत एव कार्यनिष्पत्तेः परमाणूनामकारकत्वं स्यात्। अथ तत्कृतोपकारसहकारिणस्ते कारकाः; ननु उपकारस्य तत्सहकारित्वम् उपकारान्तरेण, सत्तामात्रेण वा ? तत्र आद्यविकल्पे अनवस्था उपकारान्तरस्यापि उपकारान्तरकारित्वेनैव सहकारित्वप्रसङ्गात्। द्वितीयविकल्पे तु अतिप्रसङ्गः, सत्तामात्रेण सर्वस्य सर्वं प्रति सहकारित्वप्रसक्तेः।

किञ्च, एते सहकारिणः परस्परोपकार्योपकारकभावेन अणूनुपकुर्वन्ति, अन्यथा वा ? यदि उपकार्योपकारकभावेन; तदा पुनरपि उपकारस्य तेभ्यो भेदाऽभेदपक्षयोः प्रागुक्ताऽशेषदोषोपनिपातप्रसङ्गः। अथ सहकारिणः अणूनां परस्परस्य वा न किञ्चित् कुर्वन्ति, कार्यस्यैव मिलित्वा तैः निर्वर्तनात्; एतदप्ययुक्तम्; यतः प्रत्येकं समर्थाः सन्तोऽणवः सहकारिभिः सह मिलित्वा कार्यं कुर्वन्ति, असमर्था वा ? यदि समर्थाः; तदा प्रत्येकं तेषाञ्च कार्यजनकत्वप्रसङ्गात् तावद्धा कार्यस्य भेदप्रसङ्गः, सहकार्यपेक्षावैयर्थ्यञ्च स्यात्। अथ प्रत्येकमसमर्थास्ते; तर्हि तत्सन्निधाने कुतस्तेषां सामर्थ्यं स्यात् ? सहकारिभ्य एव इति चेत्, ननु तैस्तेभ्योऽभिन्नम्, भिन्नं वा सामर्थ्यं विधीयते ? यदि अभिन्नम्; तदा तेषां कार्यत्वप्रसङ्गः। अथ भिन्नम्; तदा तेषां तेन सम्बन्धाऽनुपपत्तिः समवायादेरसंभवात्, तत एव कार्योत्पत्तिप्रसक्तितः अणूनामकारकत्वञ्च स्यात्।

अस्तु वा यथाकथञ्चित् तेषां सामर्थ्यम्; तथापि येन रूपेण एकं कार्यं परमाणवो जनयन्ति तेनैव कार्यान्तरम्, रूपान्तरेण वा ? यदि तेनैव; तदा सकलकार्याणामेकत्वप्रसङ्गः, एकस्वभावकारणकार्यत्वात्, यत् एकस्वभावकारणकार्यम् तद् एकम् यथा विवक्षितकार्यम्, तथाभूतानि च परमाणुकार्यतयाऽभिमतानि अखिलकार्याणि इति। अथ रूपान्तरेण; तदा तत्काले प्राक्तनं तद्रूपं निवर्त्तते, न वा ? यदि निवर्त्तते; तदा अणूनामनित्यत्वप्रसङ्गः, स्वरूपप्रच्युतिलक्षणत्वात्तस्य, यस्य स्वरूपप्रच्युतिः तदनित्यम् यथा घटादि, प्राक्तनस्वरूपप्रच्युतिश्च रूपान्तरोत्पत्तिसमयेऽणूनामिति। अथ न निवर्त्तते; तदा कथं तेषां रूपान्तरसंभवः ? यत्र प्राक्तनं

१ "षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता। षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥१२॥" विंश० विज्ञप्तिमा०। २-षां जननैक-ब०, ज०। ३ अथ तु भि-श्र०। ४ उपकारकस्य ब०, ज०। ५ परस्य वा आ०। ६ "किं येन स्वभावेन आद्यामर्थक्रियां करोति किं तेनैव उत्तराणि कार्याणि, समासादितस्वभावान्तरः करोति ?…" तत्त्वोप० पृ० १२६।

रूपं न निवर्त्तते न तत्र रूपान्तरस्य संभवः यथाऽनिवर्त्तमानसङ्कोचितरूपायामङ्गुल्यां प्रसारितरूपस्य, न निवर्तते च उत्तरकार्यजननस्वरूपसमये प्राक्तनं कार्यजननस्वरूपं परमाणूनाम् इति। तत्समये तेषां तत्सम्भवे वा युगपत् सकलकार्यजननसामर्थ्यसंभवाद् युगपदेव अखिलकार्याणामुत्पादः स्यात्। तदेवमेकान्ततो नित्यैकस्वभावतायां परमाणूनां कार्यकारित्वाऽनुपपत्तेः प्राक्तन-अजनकस्वभावपरित्यागेन विशिष्टसंयोगपरिणामपरिणतानां जनकस्वभावसंभवात् सिद्धं कथञ्चिदनित्यत्वम्। प्रयोगः–ये क्रमवत्कार्यहेतवः ते अनित्याः यथा क्रमवदङ्कुरादिनिर्वर्त्तका बीजादयः, तथाभूताश्च परमाणव इति। तत्र भवत्परिकल्पितं पार्थिवादिपरमाणुलक्षणं नित्यद्रव्यं व्यवतिष्ठते।

षट्पदार्थपरीक्षायां तदारब्धस्य द्व्यणुकाद्यवयविरूपपृथिव्यादिद्रव्यस्य कार्यकारणभावनिरसनपुरस्सरं प्रतिविधानम्—

नापि तदारब्धं द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यम्, सिद्धे हि कार्य-कारणभावे तदारब्धत्वं द्व्यणुकादेः वक्तुं शक्येत, न च भवन्मते असौ सिद्धः विचार्यमाणस्य अस्य अत्राऽनुपपद्यमानत्वात्। तथाहि–यौगमते तावत् किमिदं द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यस्य कार्यत्वं नाम–स्वकारणसत्तासमवायः, अभूत्वाभावित्वं वा? प्रथमपक्षे किं कार्यस्य स्वकारणैः सत्तया च समवायः, किं वा स्वकारणानां सत्तया समवायः, आहोस्वित् सत्तया युक्तस्तत्समवाय इति? तत्र आद्यपक्षे किं कार्यस्य उत्पन्नस्य तैः तया च समवायः, अनुत्पन्नस्य, उभयरूपस्य, अनुभयरूपस्य वा? यदि उत्पन्नस्य; अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि स्वकारणसत्तासमवाये कार्यस्य उत्पत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्समवायसिद्धिरिति। तत्समवायनिरपेक्षस्य चाऽस्य स्वातन्त्र्येणोत्पत्तौ तत्समवायकल्पनानर्थक्यम्, यत् स्वातन्त्र्येण प्रसिद्धम् न तत् क्वचिदन्यत्र समवैति यथा घटः पटे, स्वातन्त्र्येण प्रसिद्धश्च भवन्मते कार्यमिति। कारणवार्त्ता चात्र अतिदुर्लभा, पदार्थात्मलाभे हि व्याप्रियमाणस्य वस्तुनः कारणत्वं व्यपदिश्यते नान्यस्य अतिप्रसङ्गात्। निष्पन्ननिष्पत्त्यर्थश्चास्य व्यापारे सर्वदाऽनुपरतिप्रसङ्गात् न कदाचित् कार्यस्य स्वरूपसिद्धिः स्यात्। अनुत्पन्नस्य चास्य आकाशकुशेशयप्रख्यत्वात् कथं स्वकारणैः सत्तया च समवायः स्यात्? उत्पन्नाऽनुत्पन्नत्वञ्च एकस्यैकदाऽतिदुर्घटम्, न हि एकत्रैकदा परस्परविरुद्धौ धर्मौ एकान्तवादिनो घटेते। अनुभय-

---

१ प्राक्तनकार्य–ब०, भां०। २ "स्वकारणे समवायः, प्रागसतः सत्तासमवायो वा कार्यत्वमित्येके; तदयुक्तम्; प्रध्वंसे तदभावात्, तस्मात् कारणाधीनः स्वात्मलाभः कार्यत्वम्…।" प्रश० कन्द० पृ० १८। "किमिदं कार्यत्वं नाम? स्वकारणसत्तासम्बन्धः, तेन सत्ता कार्यमिति व्यवहारात्। अभूत्वा भवनम् इत्येके…।" प्रश० व्यो० पृ० १२९। "कार्यत्वमभूत्वाभावित्वम्…।" प्रश० किरणा० पृ० २९। न्यायभा० ५।१।३७। ३–भयस्य वा ब०, ज०। ४ वास्य ब०, ज०। ५ यद्यर्था–ब०, ज०। ६ च आका–आ०।

रूपता तु अस्य अनुपपन्ना ; विधिप्रतिषेधधर्मयोर्मध्ये एकतरनिषेधे अन्यतरविधेरवश्यंभावित्वात्। कारणानां तु सत्तया समवाये कार्यस्य किमायातम् ? नहि घटस्य सत्तया समवाये पटस्य किञ्चिद् भवति ।

किञ्च, कार्यस्वरूपमपेक्ष्य कारणस्य कारणव्यपदेशो भवति, न च अश्वविषाणप्रख्यस्य कार्यस्य किञ्चिद्रूपं पश्यामः यदपेक्ष्य अस्य कारणत्वं स्यात् , अकारणत्वे चास्य कथं कार्यनिष्पादकत्वम् ? अथ सत्तया सहितः तत्समवाय एव कार्यस्य कार्यत्वम् ; तन्न[2]; समवायस्यासिद्ध[3]स्वरूपतया तल्लक्षणत्वाऽयोगात् , तदसिद्ध[4]स्वरूपता चास्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् सुप्रसिद्धा । अस्तु वाऽसौ ; तथापि अस्य नित्यतया आत्मादिवत् कार्यत्वाऽयोगः, तत्त्वे वा नित्यत्वाऽनुपपत्तिः; यत् कार्यम् न तन्नित्यम् यथा घटादि, कार्यश्च भवद्भिः परिकल्पितः समवाय इति । सत्तायुक्तसमवायस्य च कार्यलक्षणत्वे तथाविधस्यास्य सर्वत्र सर्वदा सर्वान् प्रत्यविशेषात् आकाशादीनामपि कार्यत्वप्रसङ्गः । किञ्च, अयं समवायः सम्बन्धः, सम्बन्धश्च सम्बन्धिकार्यः सम्बन्ध्याश्रितश्च भवति यथा संयोगः। कार्यभूतस्य च सम्बन्धिनोऽनिष्पन्नत्वात् न तत्कार्यत्वं तदाश्रितत्वं वा समवाये घटते, तन्निष्पत्तौ वा युतसिद्धत्वेन तत्र संयोग एव स्यात् न समवायः , तस्य अयुतसिद्धसम्बन्ध्याश्रितत्वेन योगैः अभ्युपगमात्। अथ विलक्षणोऽयं सम्बन्धः यदसिद्धेऽपि सम्बन्धिनि स्यात् ; तदसत् ; यतः 'सम्बध्नाति सम्बन्धिनौ' इति सम्बन्धः, स च असति सम्बधिनि कथं स्यात् ? अन्यथा वन्ध्यायाः तत्सुते सम्बन्धः स्यात्। प्रध्वंसस्य च सत्तासमवायाऽभावतः अकार्यत्वप्रसङ्गात् तदुत्पत्तये मुद्गरादिकारणवैयर्थ्यम् ।

अथ अभूत्वाभावित्वं कार्यत्वम्; तदपि कस्य ? योऽभूत्वा भवति तस्य इति चेत्; ननु चात्र अभवने भवने च कस्य कर्तृत्वम् ? कार्यस्य तावत् शशविषाणप्रख्यत्वात् न कर्तृत्वम्, भवनं हि स्वरूपस्वीकारः, स च असतो दुर्घटः। तन्न कार्यत्वं परस्य किञ्चिद् घटते ।

नापि कारणत्वम् ; तद्धि कार्यमात्रनिष्पादकत्वम्, नियतकार्यनिष्पादकत्वं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् तन्मात्रनिष्पादकत्वस्य सर्वत्र संभवात् , इति न नियतकार्यार्थी कश्चित् नियतकारणोपादानं कुर्यात्। द्वितीयपक्षे तु कार्यस्य अश्वविषाणप्रख्यत्वात् कथं कारणस्वरूपं तेन अवच्छिद्येत ? वास्तवं हि रूपं सता एव अवच्छिद्यते । असता अवच्छेदे च कारणस्यापि असत्त्वप्रसङ्गः 'असन् घटः' इति यथा । विकल्पमात्रकल्पितेन तेन तस्य अवच्छेदे तु कारणत्वमपि तादृगेव स्यात्, नहि कल्पितेन अवच्छेदे वस्तुनो वास्तवं रूपं सिद्ध्यति, यथा सिंहो माणवक इति । किञ्च, कारणानां कार्यालम्बना प्रवृत्तिः , अनालम्बना वा ? यदि अनालम्बना; न

१-ख्यस्य किं-आ०, ब०, ज०, भां० । २-न्न प्रमाणतः सम-भां० । ३-द्धरूप-ब०, ज०, । ४-द्धरूप-ब०, ज० । ५-स्य स-आ० । ६-द्यते आ० ।

क्वचित्तानि विरमेयुः, ततश्च खरविषाणादीनामपि उद्भवः स्यात्। अथ कार्यालम्बना ; तदाऽस्य सत्ता अङ्गीकृता स्यात्, इति कारणव्यापारवैफल्यम्।

ननु कारणानां न व्यापारवशेन कारणत्वम्, किन्तु यद्भावाऽभावाभ्यां यस्य भावाऽभावौ 'तत् तस्य कार्यम् इतरत् कारणम्' इति व्यपदिश्यते; तदसत्यम्; एवं सति यथा 'तदभावे न भवति' इत्यत्र न कश्चिद् व्यापारः कारणगतः तथा 'तद्भावे भवति' इति कारणसद्भावमात्रं प्रतिपादितं स्यात्, न कार्यविषये किञ्चित्करत्वम्। कथञ्चैवंवादिनः गगनादेः क्वचित् कारणत्वसिद्धिः तस्य नित्यत्व-व्यापित्वाभ्यां देशकालकृतव्यतिरेकाऽसंभवात्। किञ्च, 'तस्मिन् सति भवति' इति 'तच्छब्देन' यो निर्दिष्टः'भवति' इत्यनेन च, तयोरुपकार्योपकारक[1]भावाऽभावे [2]संभवति 'स भवति' इति मृदर्थमात्रप्रतिपादनमेव कृतं स्यात्, ततश्च प[3]रापेक्षाप्रतिलब्धकर्माद्यभिधानप्रवृ[4]त्तद्वितीयादिविभक्तिवाच्यता न क्वचित् स्यात्, इति स्वरूपसत्तामात्रेणैव अर्थाः प्रतिपादिताः स्युः न सामर्थ्यभाक्त्वेन।

अथ पूर्वकालभावित्वमात्रं कारणत्वम् न तु व्यापारः कश्चित्; तर्हि सर्वेषां पूर्वकालभाविनां जगदुदरवर्तिनां का[5]रणत्वप्रसङ्गादतिप्रसङ्गः स्यात्। अथ नियमेन पूर्वकालभावित्व[6]म्; तर्हि मेर्वादेरपि पटं प्रति कारणत्वं स्यात् तदविशेषात्। ननु नैव मेर्वादिः पूर्वमेव भवति उत्तरकालमपि अनुवृत्तेः; इत्यन्यत्रापि समानम्, नहि तन्तवः पटोत्पत्त्युत्तरकालं नानुवर्त्तन्ते प्रतीतिविरोधात्। ननु नियतकाल एव कार्यकारणभावः अन्त्यतन्तुसंयोगोपलक्षितायाः सामग्र्या एव पटं प्रति कारणत्वात्, पटस्यापि स्वसत्तालाभक्षणे एव कार्यत्वम्, अन्यथा अविकलकारकसामग्रीसन्निधाने पुनः पटान्तरोत्पत्तिः स्यात्। न[7]न्वेवं पूर्वक्षणभाविनि कारणे अनन्तरक्षणभाविनि च कार्ये स्वकालनियते सहभावाऽभावात् इतरेतरसव्यपेक्षं यत् कार्यत्वं कारणत्वञ्च तद् दुर्घटम्।

किञ्च, असति व्यापारे नियमेन पूर्वकालभावित्वमात्रेण कारणत्वकल्पने बीजपूरकादिरूपोत्पत्तौ तदवयवगतानां रसादीनामपि कारणत्वं स्यात्, तथा रसाद्युत्पत्तौ तदवयवगतरूपस्यापि, अतश्च रूपादीनां नियमेन सजात्यारम्भकत्वं न स्यात्। तदेवं परमते कार्यकारणभावस्य [8]विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् 'द्व्यणुकाद्यवयविरूपाः पृथिव्यादयोऽनित्याः उत्पत्तिमत्त्वात्' इत्याद्ययुक्तम्; हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं हि कार्यत्वमुच्यते, तच्च उक्तप्रकारेण भवन्मते सर्वथाऽसिद्धम्। आश्रयाऽसिद्धश्च ; स्वावयवेभ्योऽत्यन्तविभिन्नस्य पृथिव्याद्यवयविनः कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः।

१–कभावे भां०, श्र०। २ संभवति सति इति सप्तमी बोध्या। कारणे कार्ये च तच्छब्दनिर्देशेन तस्मिन् मृल्लक्षणेऽर्थे 'स भवति' इति मृल्लक्षण एवार्थो भवतीति अयमर्थः स्यात् न 'घटो भवति' इत्यर्थः। ३ परोक्षप्रति–आ०। ४–प्रवृत्ति–ब०, ज०। ५ कारणप्रसङ्गः स्यात् आ०। ६–त्वं तत्तर्हि श्र०। ७ नत्वेवं पूर्वक्षणेभा–आ०। ८ कार्यकारणनानात्वस्य खण्डनम् अष्टसहस्र्याः चतुर्थपरिच्छेदे द्रष्टव्यम्।

पट्पदार्थपरीक्षायाम् 'अवयव-अवयविनौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वादिभ्यः' इति यौगानां पूर्वपक्षः–

ननु अतोऽनुमानात् तस्य तेभ्यः सर्वथा विभिन्नस्य प्रसिद्धिः–अवयव-अवयविनौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटवत्, घटपटादौ हि भिन्नप्रतिभासित्वमत्यन्तभेदे सत्येव उपलब्धम् इति अवयव-अवयविनोः तद् उपलभ्यमानं कथन्नात्यन्तभेदं प्रसाधयेत् ? अन्यत्रापि अस्य तदप्रसाधकत्वप्रसङ्गात्। नचानयोर्भिन्नप्रतिभासत्वमसिद्धम्; पटाद्यवयविप्रतिभासस्य तन्त्वाद्यवयवप्रतिभासवैलक्षण्येन अशेषप्राणिनां सुप्रसिद्धत्वात्। तथा विरुद्धधर्माध्यासतोऽपि अनयोर्जल-अनलवद् भेदः। नच विरुद्धधर्माध्यासोऽप्यनयोः असिद्धः; पटो हि पटत्वजातिसम्बन्धी विलक्षणाऽर्थक्रियासम्पादकः अतिशयेन महत्त्वयुक्तः, तन्तवः तन्तुत्वजातिसम्बन्धिनः अल्पपरिमाणादिधर्मोपेताश्च, इति कथन्नाऽतो भिद्यन्ते? विभिन्नकर्तृकत्वाच्च घट-पटवत्, तन्तवो हि चात्र प्रवेणी-रण्डाकरव्यापाराद् आत्मलाभं प्रतिपद्यन्ते, तुरि-तन्तु-वेम-शलाका-तन्तुवायव्यापारात्तु पट इति। विभिन्नशक्तिकत्वाच्च विष-अगदवद् अवयव-अवयविनोर्भेद एव, पूर्वोत्तरकालभावित्वाच्च पिता-पुत्रवत्, विभिन्नपरिमाणत्वाच्च बदर-आमलकवत्। प्रतिभासभेदे विरुद्धधर्माध्यासादौ च सत्यपि अनयोरभेदे पदार्थसङ्करः स्यात् सर्वत्र भेदव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्, नहि प्रतिभासभेदादिकं विहाय अन्यत् तद्व्यवहारनिबन्धनमुत्प्रेक्षामहे।

तादात्म्याऽभ्युपगमे च अवयवाऽवयविनोः प्रतिभासभेदादिकमतिदुर्लभम्; तादात्म्यं हि एकत्वमुच्यते, तस्मिन् सति कथं प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासादिकं वा स्यात् विभिन्नविषयत्वात् तयोः ? यदि च तन्त्वाद्यवयवेभ्यो नार्थान्तरं पटाद्यवयवी; तर्हि तन्तवोऽपि स्वांशुभ्यो नाऽर्थान्तरम् तेऽपि स्वाऽवयवेभ्यः इति एवं तावत् यावन्निरंशाः परमाणवः, तेभ्यश्च अभेदे सर्वस्य कार्यग्रामस्य अनुपलम्भः स्यात्। तस्माद् अर्थान्तरमेव अवयवेभ्यः अवयवी प्रतिपत्तव्य इति।

यदप्युच्यते–अवयवेभ्यो नास्ति अर्थान्तरभूतोऽवयवी वृत्तिविकल्पाद्यनुपपत्तेः खरविषाणवत्। न चेयमसिद्धा; तथाहि–अर्थान्तरभूतः पटाद्यवयवी तन्त्वाद्यवयवेषु एकदेशेन वर्त्तेत, सर्वात्मना वा ? न तावद् एकदेशेन; अवयवव्यतिरेकेण अवयविनोऽपरदेशाऽभावात्, भावे वा तेष्वपि अनेन 'इत्थं वर्त्तितव्यम्' इति अनवस्था स्यात्। सर्वात्मना वृत्तौ; एकत्रैव अवयवे सर्वात्मनाऽस्य वृत्तत्वाद् अन्येषामवयवानामवयविशून्यताप्रसङ्गः, यावन्तो वाऽवयवाः तावन्तोऽवयविनः स्युः प्रत्यवयवं तस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वात्।

---

१ तदनुप–श्र०। २–सोऽनयोः आ०, ब०, ज०, भां०। ३–कर्तृत्वाच्च आ०। "विभिन्नकर्तृशक्त्यादेः भिन्नौ तन्तुपटौ यथा। विरुद्धधर्मयोगेन स्तम्भकुम्भादिभेदवत् ॥ ५६१ ॥" इति पूर्वपक्षरूपेण तत्त्वसं० पृ० १८९। ४ भेदव्यवच्छेद–ब०, ज०। ५–न्तु व्यवहारनिबन्धनमुपेक्षामहे आ०।

तदप्यसमीचीनम्[1]; यतः अवयविनो निरासे स्वतन्त्रमिदं साधनम्, प्रसङ्गसाधनं वा ? यदि स्वतन्त्रम्; धर्मि-साध्यपदयोः व्याघातः यथा 'इदञ्च, नास्ति च' इति । हेतोश्च आश्रयाऽसिद्धता, अवयविनोऽसिद्धत्वात् । न च वृत्त्या सत्त्वं व्याप्तम्, समवायवृत्तेरनभ्युपगमेऽपि भवता रूपादेः सत्त्वाभ्युपगमात् । एकदेशेन सर्वात्मना वा अवयविनो वृत्तिप्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् प्रकारान्तरेण वृत्तिरभ्युपगता स्यात्, अन्यथा 'न वर्तते' इत्येव अभिधातव्यम् । वृत्तिश्च समवायः, तस्य सर्वत्र एकत्वात् निरवयवत्वाच्च कार्त्स्न्यैकदेशशब्दाऽविषयत्वम्, कार्त्स्न्यैकदेशशब्दयोर्भेदविषयत्वाच्च[2] अभिन्नेऽवयविनि प्रवृत्तिरयुक्ता । 'कृत्स्नम्' इति हि अनेकत्वे सति अशेषस्याऽभिधानम्, 'एकदेश' इति च अनेकत्वे सति कस्यचिदभिधानम् । तौ एतौ कार्त्स्न्य-एकदेशशब्दौ भेदे सत्येव प्रतिपन्नत्वाद् एकस्मिन् अवयविनि अनुपपन्नौ । तन्नेदं स्वतन्त्रसाधनम् ।

अथ प्रसङ्गसाधनम्[3] परस्येष्टया अनिष्टाऽऽपादनात्; ननु परेष्टिः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? यदि प्रमाणम्; तर्हि तयैव बाध्यमानत्वाद् अनुत्थानं विपरीताऽनुमानस्य । न[4] च अनेनैव अस्या बाधा, तामन्तरेण अस्याऽपक्षधर्मतया प्रामाण्यस्यैव असंभवात् । अथ अप्रमाणं सा; तर्हि 'प्रमाणं विना प्रमेयस्याऽसिद्धिः' इत्येतदेव[5] अभिधातव्यम्, किमनुमानोपन्यासाऽऽयासेन इति ?

अवयवेभ्योऽत्यन्तभिन्नस्य नित्यनिरंश-अवयविनः प्रतिविधानम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[6]—'भिन्नप्रतिभासत्वात्' इति साधनम्; अतः अवयव-अवयविनोः किं कथञ्चिद्भेदः साध्यते, सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; तदा सिद्धसाधनम् तयोः कथञ्चिद्भेदस्य अस्माभिरपि इष्टत्वात् । अथ सर्वथा; तदा पक्षस्य अध्यक्षबाधा, कथञ्चित्तादात्म्यापन्नयोरेव अनयोः अबाधाऽध्यक्षे प्रतिभासनात् । यद्

१ "तथा हि वृत्त्यनुपपत्तेरसत्त्वमिति किमिदं स्वतन्त्रसाधनमुत प्रसङ्गसाधनमिति । यदि स्वतन्त्रसाधनम्; अवयवी धर्मी, नास्तीति साध्यमिति प्रतिज्ञावाक्यपदयोः व्याघातः यथा इदं नास्ति चेति । हेतोराश्रयासिद्धत्वं च धर्मिणोऽप्रसिद्धत्वात् । तथा स्वमते रूपादीनां सत्त्वं न च वृत्तिरस्ति इति व्यभिचारः समवायानभ्युपगमात् ।...न च परस्य वृत्त्या सत्त्वं व्याप्तम्...।" प्रश० व्यो० पृ० ४५ । २ "एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ।" न्यायसू० ४।२।११ । "किं प्रत्यवयवं कृत्स्नोऽवयवी वर्त्तते अथैकदेशेन इति नोपपद्यते प्रश्नः । कस्मात् ? एकस्मिन् भेदाभावात् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः । कृत्स्नमिति हि एकस्य अशेषाभिधानम् । एकदेश इति नानात्वे कस्यचिदभिधानम् । ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविनि उपपद्येते भेदाऽभावात् ।" न्यायभा० ४।२।११ । ३ "अथ परव्याप्त्या परस्य अनिष्टापादनमिति...तत्र यदि परेण प्रमाणात् प्रतिपन्नः तेनैव बाध्यमानत्वादनुत्थानं विपरीतानुमानस्य । न चानेनैव तस्य बाधात् तदन्तरेण पक्षधर्मत्वादिति । अथाप्रमाणेन प्रतिपन्नः तर्हि प्रमाणं विना प्रमेयस्यासिद्धिरिति वाच्यं किमनुमानोपन्यासेन तस्य अपक्षधर्मतयाऽप्रमाणत्वात्... ?" प्रश० व्यो० पृ० ४६ । ४ न चास्या बाधा आ० । ५ इत्येतावदेव ब०, ज०, भां०, श्र० । अनयैव दिशा पूर्वपक्षः—तत्त्वसं० पृ० १८९ । प्रमेयक० पृ० १५५ पू० । सन्मति० टी० पृ० ६५८ । स्या० रत्ना० पृ० ८७३ । अवयव-अवयविभेदविषयिणी चर्चा च—न्याय सू०, भा०, वा०, ता० टी० २।१।३२, ४।२।१५। न्यायमं० पृ० ५५० । प्रश० व्यो० पृ० ४४ । प्रश० कन्दली पृ० ४१ । इत्यादिषु द्रष्टव्या । ६ पृ० २२३ पं० २ ।

यथा अबाधाऽध्यक्षे प्रतिभासते तत् तथैव अभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया, अबाधाऽध्यक्षे प्रतिभासेते च कथञ्चित्तादात्म्येन अवयव-अवयविनौ इति। न च तत्प्रतिभासिनोऽध्यक्षस्य अबाधत्वविशेषणमसिद्धम्; तद्बाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्य असंभवात्।

न खलु प्रत्यक्षं तद्बाधकम्; अत्यन्त[1]तद्भेदस्य अत्राप्रतिभासमानत्वात्। अनुमानमपि भिन्नप्रतिभासत्वाद् हेतोराविर्भूतं तद्बाधकं स्यात्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकारणप्रभवत्वात्, भिन्नकालत्वात्, विरुद्धधर्माध्यासात्, विभिन्नशक्तिकत्वात्, विभिन्नपरिणामत्वाद्वा? न तावद् भिन्नप्रतिभासत्वाद् आविर्भूतादनुमानाद् अवयवाऽवयविनोः आत्यन्तिको भेदः सिद्ध्यति; प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशा[2]नन्तरं प्रयुक्तत्वेन अस्य 'अनुष्णोऽग्निः द्रव्यत्वात्' इत्यादिवत् कालात्ययापदिष्टत्वात्, दूराऽऽसन्नपुरुषप्रतिभासिना पादपाद्यर्थेन अनैकान्तिकत्वा[3]च्च। नापि भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्; नर्त[4]क्यादिना व्यभिचारात्, एकाऽपि हि नर्तकी करण-अङ्गहार-भ्रूभङ्ग-अक्षिविक्षेपाद्यनेकक्रियां प्रेक्षकजनानां हर्ष-विषादाद्यनेकार्थक्रियाश्च परस्परविलक्षणां विदधातीति। भिन्नकारणप्रभवत्वमपि अङ्कुरादिनाऽनैकान्तिकम्, एकस्यापि अङ्कुरस्य क्षित्याद्यनेककारणकलापादुत्पत्तिप्रतीतेः। [5]भिन्नकालत्वादपि रण्डाकरण्डावस्थतन्तुभ्यः पटस्य भेदः प्रसाध्यते, पटावस्थतन्तुभ्यो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्, तेभ्यः तद्भेदस्य अस्माभिर[6]भ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु असिद्धो हेतुः; पटावस्थतन्तूनां पटाद् भिन्नका[7]लत्वस्याऽसंभवात्।

विरुद्धधर्माध्यासोऽपि धूपदहनादिना अनैकान्तिकत्वान्न तदत्यन्तभेदप्रसाधकः; न खलु हस्तलग्न-इतरप्रदेशयोः शीत-उष्णस्पर्शलक्षणविरुद्धधर्माऽध्यासेऽपि धूपदहनादेर्भेदोऽस्ति। न च हस्तलग्नेतरप्रदेशयोरेव शीतोष्णस्पर्शाधारता न धूपदहनाद्यवयविनः इत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षविरोधात्।

[8]भिन्नशक्तित्वाद् [9]भिन्नपरिणामत्वाच्च तन्तु-पटादीनां कथञ्चिदवस्थाभेद एव सिद्ध्येन्न पुनः आत्यन्तिको भेदः, तत्र च सिद्धसाधनम्। अतो भिन्नप्रतिभासत्वादेरपि अवयवाऽवयविनोः कथञ्चिद्भेदस्यैव प्रसिद्धेः [10]सिद्धं कथञ्चित्तदभेदग्राहिणोऽध्यक्षस्य अबाधत्वविशेषणम्। यद् यद्रूपतया प्रमाणतो न प्रतीयते तत् तद्रूपं न भवति यथा घटः पटरूपतया, न प्रतीयते च अत्यन्त-

१-न्तं तद्भे- ब०, ज०। २-नन्तरप्र- ब०, ज०। ३ अनेकान्ताच्च श्र०, ब०, ज०। ४ "नहि एकत्र नर्तक्यादिक्षणे युगपदुपनिबद्धदृष्टीनां प्रेक्षकजनानां विविधं कर्म बुद्धिव्यपदेशसुखादिकार्यमसिद्धं येन स्वभावाऽभेदेऽपि विविधकर्मता न भवेत्।" अष्टसह० पृ० ९५। ५ "प्रथमेभ्यश्च तन्तुभ्यः पटस्य यदि साध्यते। भेदः साधनवैफल्यं दुर्निवारं तदा भवेत् ॥५७९॥ प्राप्तावस्थाविशेषा हि ये जातास्तन्तवोऽपरे। विशिष्टार्थक्रियासक्ताः प्रथमेभ्यो विलक्षणाः ॥५८०॥" तत्त्वसं० पृ० १९४। प्रमेयक० पृ० १५७ पू०। ६-रभ्यु- ज०। ७-कालस्य ब०, ज०। ८ विभिन्न- ब०, ज०, श्र०। ९ विभिन्न- ब०, ज०, श्र०। १० प्रसिद्धं श्र०।

भेदरूपतया अवयवाऽवयविनौ इति। तन्त्वाद्यवयवानां हि अवस्थाविशेषः स्वात्मभूतः शीतापनोदाद्यर्थक्रियाकारी पटाद्यवयवी प्रतिभासते न पुनः तेभ्योऽत्यन्तमर्थान्तरभूतः, तथाविधस्य अस्य स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात्।

तथा तदप्रतिभासनं हि अदृश्यस्वभावत्वात्, समवायात्, कार्यकारणभावात्, विशेषणविशेष्यभावाद्वा ? न तावद् अदृश्यस्वभावत्वात्; 'भूयोऽवयवग्रहणे सति अवयविनो ग्रहणम्' इत्यभ्युपगमव्याघातप्रसङ्गात्। नापि समवायात्; कथञ्चित्तादात्म्यव्यतिरेकेण अपरस्य समवायस्य समवायनिषेधे निषेत्स्यमानत्वात्। नापि कार्यकारणभावात्; कुम्भ-कुम्भकारयोरप्यभेदप्रतिभासप्रसङ्गात्। तन्त्वाद्यवयवानां पटाद्यवयविनं प्रति समवायिकारणत्वात्तत्रैव अभेदप्रतिभासः; इत्यप्यसुन्दरम्; समवायाऽसिद्धौ समवायिकारणत्वस्याप्यसिद्धेः, नहि कथञ्चित्तादात्म्यमन्तरेण अन्यः समवायः, तथापरिणामित्वव्यतिरेकेण वा अन्यत् समवायिकारणं क्वापि प्रसिद्धम्। नापि विशेषणविशेष्यभावात्; दण्ड-पुरुषयोरपि अभेदप्रतिभासप्रसङ्गात्, यथैव हि 'पटविशिष्टास्तन्तवः' इति तन्तुपटयोर्विशेषणविशेष्यभावोऽस्ति तथा दण्ड-पुरुषयोरपि। अतः अवयवेभ्यः अवयविनोऽत्यन्तभेदे सति अनुपलम्भकारणाऽभावात् तथैव असौ उपलभ्येत, न च उपलभ्यते, अतो नाऽसौ ततोऽत्यन्तभिन्न इति। यद् यतः अत्यन्तभेदेन भिन्नं नोपलभ्यते न तत् ततोऽत्यन्तभिन्नम् यथा अवयविनः स्वरूपम्, अवयवेभ्योऽत्यन्तभेदेन भिन्नो नोपलभ्यते च अवयवीति।

यदप्युक्तम्[3]–'स्वतन्त्रसाधनं प्रसङ्गसाधनं वा' इत्यादि; तदप्यसारम्; यतो भवतु प्रसङ्गसाधनं स्वतन्त्रं वा, किमेतावता भवतः ? यदपि 'स्वतन्त्रसाधने धर्मि-साध्यपदयोर्व्याघातः' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; यतो नाऽवयविनः सद्भावनिरासार्थमिदमुच्यते, किं तर्हि ? तदत्यन्तभेदस्य। 'नहि अवयवेभ्योऽत्यन्तभिन्नोऽवयवी कुतश्चिदपि प्रतीयते' इत्युक्तम्, यस्तु प्रती-

१ "तथाहि–केचित्तन्तवो विशिष्टावस्थाप्राप्ताः शीतापनोदनाद्येकार्थक्रियासमर्था भवन्ति नापरे ये योषित्कर्तृकाः तत्रैकार्थक्रियोपयोगिनस्तन्तून् विशिष्टान् प्रतिपादयितुं पट इत्येका श्रुतिः विनिवेश्यते व्यवहर्तृभिः''' ।" तत्त्वसं० पं० पृ० १९५। प्रमेयक० पृ० १५७ पू०। सन्मति० टी० पृ० ६६२। २ "भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षानुगृहीतेन अवयवेन्द्रियसन्निकर्षेण ग्रहणात्''' ।" प्रश० व्यो० पृ० ४६। ३ पृ० २२४ पं० १। ४ "स्वातन्त्र्येण इत्यादिना शंकरस्वामिनः परिहारमाशङ्कते–स्वातन्त्र्येण प्रसङ्गेन साधनं यत्प्रवर्त्तते। स्वयं तदुपलब्धौ हि सत्यं संगच्छते न तु ॥ ६१४ ॥ न च कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्तिः क्वचन लक्षिता। अस्याऽसंभवाद् द्रव्यमसत्स्यादपरोऽपि च ॥ ६१५ ॥ दृष्टौ वा क्वचिदेतस्या द्रव्यादावनिवारणात्। अथ तस्मिन्नदृष्टौ तु भेदे प्रश्नो न युज्यते ॥६१६॥ एतावत्तु भवेद्वाच्यं वृत्तिर्नास्तीति तच्च न। युक्तं प्रत्यक्षतः सिद्धेरिहेदमिति बुद्धितः ॥ ६१७ ॥ प्रत्यक्षं न तदिष्टं चेद्बाधकं किञ्चिदुच्यताम्। रूपादिचेतसोऽपि स्यान्नैव प्रत्यक्षताऽन्यथा ॥ ६१८ ॥" तत्त्वसं० पृ० २०४। ५–न्त्रसाधनं वा ब०, ज०। ६–ता यदपि ब०, ज०, भां०। ७ पृ० २२४ पं० २। ८ तदयुक्तम् भां०।

तिसिद्धः तन्त्वाद्यवयवानामाऽऽतानवितानीभावादिपरिणतानाम् आत्मभूतोऽवस्थाविशेषः पटाद्यवयवी नाऽसौ निरस्यते, तत्र वृत्तिविकल्पादिदूषणाऽनवतारात्। अर्थान्तरभूतं हि वस्तु वर्तमानम् 'एकदेशेन सर्वात्मना वा वर्तते' इत्यादिदोषमास्कन्दति, न पुनः स्वात्मभूतम् तस्य तथापरिणामात्। यत् स्वात्मनोऽर्थान्तरे वर्त्तते तत् सर्वात्मना एकदेशेन वा, यथा कुण्डे बिल्वादि अनेकाऽऽसनेषु देवदत्तादि च, स्वात्मनोऽर्थान्तरेष्ववयवेषु वर्तते च अवयवीति।

यच्चान्यदुक्तम्[2]–'वृत्तिश्च समवायः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; समवायस्य निर्मूलमुन्मूलितत्वेन आकाशकुशेशयवत् कस्यचित् क्वचिद् वृत्तित्वाऽनुपपत्तेः। यदप्यभिहितम्[3]–'कार्त्स्न्यैकदेशशब्दयोर्भेदविषयत्वाद् अभिन्नेऽवयविनि प्रवृत्तिरयुक्ता' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; अनेकाऽवयवेषु एकस्याऽनंशस्य अर्थान्तरभूतस्याऽवयविनो वर्तमानस्य अप्रतीतेः, कार्त्स्न्यैकदेशञ्च परित्यज्य प्रकारान्तरेण वृत्तेरप्यप्रतीतेः। यत् खलु यत्र वर्तते तद् एकदेशेन यथा स्थूणासु वंशः, सर्वात्मना वा यथा कुण्डे दधीति। अतः प्रकारद्वयाऽनभ्युपगमेऽवयविनोऽवयवेषु वृत्त्यनुपपत्तिः, तद्व्यापकयोः एकदेश-साकल्ययोरभावात्, तदनुपपत्तौ च अस्य अतः सर्वथा भेदाऽभावः। तथाहि–तन्त्वाद्यवयवेभ्यो न सर्वथा भिन्नः पटाद्यवयवी, कार्त्स्न्यैकदेशाऽवृत्तित्वात्, यत्तु यतः सर्वथा भिन्नम् न तत्र तस्य कार्त्स्न्यैकदेशाऽवृत्तिः यथा कुण्डादौ दध्यादेः, कार्त्स्न्यैकदेशाऽवृत्तिश्च अवयवेषु अवयविन इति।

निरंशैकस्वभावत्वे च अवयविनः सकृदनेकाऽवयवव्यापित्वाऽनुपपत्तिः; तथाहि–यत् निरंशैकस्वभावं द्रव्यम् तन्न सकृदनेकद्रव्यव्यापि यथा परमाणुः, निरंशैकस्वभावञ्च अवयविद्रव्यमिति। न च आकाशादिनाऽनेकान्तः; तस्य अनन्तादिप्रदेशतया निरंशत्वाऽसिद्धेः। यदि वा, यद् अनेकं द्रव्यं तन्न सकृन्निरंशैकद्रव्यव्याप्तम् यथा कटकुड्यादि परमाणुना, अनेकद्रव्याणि च अवयवा इति। निरंशत्वे[6] च अवयविनः कोपीनादिना शरीरस्य एकदेशाऽऽवरणे सकलशरीरमाव्रियते, न वा? यदि आव्रियते; तर्हि विवक्षिताऽवयववत् सकलस्याऽस्य अनुपलब्धिप्रसङ्गः।

१ "कृत्स्नैकदेशशब्दाभ्यामयमर्थः प्रकाशते। नैरंश्येनास्य किं वृत्तिः किं वा तस्यान्यथैव सा ॥ ६२० ॥ यथा पात्रादिसंस्थस्य श्रीफलादेर्यथाऽथवा। अनेकासनसंस्थस्य चैत्रादेरुपलक्षिता ॥ ६२१ ॥" तत्त्वसं० पृ० २०५। प्रमेयक० पृ० १६२ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६६८। "नानाकारैकविज्ञानं स्वाधारे बदरादिवत्। तादात्म्येन पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ॥ १०७ ॥" न्यायवि० पृ० ४८१ उ०। २ पृ० २२४ पं० ६। ३ पृ० २२४ पं० ७। ४ "एकावयव्यनुगता नैव तन्तुकरादयः। अनेकत्वाद्यथा सिद्धाः कटकुड्यकुटादयः ॥ ६०५ ॥ यदि वाऽभिमतं द्रव्यं नानेकावयवाश्रितं। एकत्वादणुवद्वृत्तेरयुक्तिर्बाधिका प्रमा ॥ ६०६ ॥" तत्त्वसं० पृ० २०१। सन्मति० टी० पृ० ६६५। ५ अवयविनः इ–ब०, ज०। ६ "स्थूलस्यैकस्वभावत्वे मक्षिकापदमात्रतः। पिधाने पिहितं सर्वमासज्येताविभागतः ॥ ५९३ ॥ रक्ते च राग एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत्। विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते ॥५९४॥" तत्त्वसं० पृ० १९८। प्रमाणवा० २।८५। सन्मति० टी० पृ० ६६३। स्या० रत्ना० पृ० ८८३। ७–कलं श–भ०।

अथोच्यते[2]–तदावरणेऽपि न शरीरस्यावरणम् अवयवाऽऽवारकद्रव्यसंयोगस्य तदावरणे सामर्थ्याऽभावात्, न खलु यावानवयवद्रव्यसंयोगोऽवयवमावृणोति तावानेव अवयविनम् तस्य महत्त्वात्। यद्येवम्; प्रदेशतः तदावरणम् अस्ति, न वा? अस्ति चेत्; न; अनंशस्य प्रदेशाऽभावतः तथा तदावरणाऽनुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अनंशताव्याघातः विरुद्धधर्मसंसर्गात्। यद्[1] विरुद्धधर्मसंसर्गि न तद् अनंशम् यथा जलाऽनलादि, विरुद्धधर्मसंसर्गि च आवृताऽनावृतस्वभावतया अवयविस्वरूपम् इति। विरुद्धधर्मसंसर्गेऽपि अस्य अभेदे सर्वत्र भेदवार्तोच्छेदः, विश्वस्य विश्वरूपत्वेऽपि एकद्रव्यत्वप्रसङ्गात्। अथ अवयवाऽऽवारकद्रव्यसंयोगेन अवयविनः प्रदेशतोऽपि नास्त्यावरणम्; तर्हि तत्प्रदेशेऽप्यस्य उपलब्धिप्रसङ्गात् समग्रोऽप्यवयवी उपलभ्येत अविशेषात्, नहि अवयवाऽऽवरणे अनावरणे वा अवयविनः कश्चिद् विशेषोऽस्ति उभयत्राऽस्याऽनावृतत्वाऽभ्युपगमात्। ननु समग्र-असमग्रशब्दयोर्भेदविषयत्वात् अभिन्नेऽवयविनि प्रवृत्तिरयुक्ता; इत्यपि प्रागेव कृतोत्तरम्, अवयविनः कथञ्चिद् भेदप्रतिपादनात्। अवयवाऽऽवरणेऽपि अवयविनोऽनावरणे च तस्य तत्र वृत्तिविरोधः, यत् खलु यत्र वर्त्तते तस्याऽऽवरणे तदपि आव्रियमाणं दृष्टम् यथा कुण्डाऽऽवरणे दधि, वर्तते च अवयवेषु अवयवीति। तथा, यदुपलब्धिपूर्विका यस्योपलब्धिः न तस्य अनुपलब्धौ तदुपलब्धिः यथा त्र्यस्रादिसंस्थानाऽनुपलब्धौ सृङ्गाटकादेः[3], अवयवोपलब्धिपूर्विका च अवयविनः उपलब्धिः इति। अथ आवृतावयवप्रदेशे तस्य अनुपलभ्यत्वमिष्यते; कथमेवम् अस्यैकत्वं स्यात् उपलभ्याऽनुपलभ्यत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासतः कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेः?

रक्ता[4]ऽरक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाच्च; तथाहि–एकस्मिन् तन्त्वाद्यवयवे रज्यमाने पटाद्यवयवी रज्यते, न वा? यदि रज्यते; कृत्स्नेऽप्यवयविनि रक्तप्रत्ययप्रसङ्गः। ननु च[5] अवयविनो

१ "यो विरुद्धधर्मसंसर्गवान् नासावेकः यथा घटादिरर्थः,विरुद्धधर्माध्यासवांश्च स्थूलो नीलादिरर्थ इति।" (पृ०७८) "अथवा अन्यथाऽयं विरुद्धधर्मसंसर्गः। तथाहि–आवृते एकस्मिन् पाण्यादौ स्थूलस्यार्थस्य आवृतानावृतरूपे युगपद् भवन्तौ विरुद्धधर्मद्वयसंयोगमस्य आवेदयतः।" अवयविनिरा०पृ० ८५। २ "एकावयवावरणेऽपि अवयव्यावरणस्याऽभावात्।" प्रश० कन्दली पृ० ४२। न्यायवा०ता० टी० १।१।३२। पृ० ३८३। "अर्थावरणेऽप्यवयविनोऽनावृतैकरूपत्वात्।"न्यायली०पृ० ९। ३ शृंगाटकादेः ब०, ज०। 'सिंघाड़ा' इति भाषायाम्। ४ "नन्वेकनेकरागादौ समरागादिदोषतः ॥८८॥" न्यायवि०पृ० १९७ उ०। "तथा रागाऽरागाभ्यां विरोधः संभावनीयः।..." अवयविनिरा० पृ० ८७। ५ "रागद्रव्यसंयोगो रक्तत्वम्, अरक्तत्वञ्च तदभावः, उभयञ्चैकत्र भवत्येव संयोगस्य अव्याप्यवृत्तिभावात्।" प्रश० कन्दली पृ० ४२। न्यायली० पृ० ९। "ननु च इत्यादिना शंकरस्वामिनः परिहारमाशङ्कते–ननु चाव्याप्यवृत्तित्वात् संयोगस्य न रक्तता। सर्वस्यारज्यते नापि सर्वमावृतमीक्ष्यते ॥६००॥" तत्त्वसं० पृ० १९९। "शंकरस्वामी अत्राह–वस्त्रस्य रागः कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोग उच्यते। स चाव्याप्यवृत्तिः, ततः एकत्र रक्ते न सर्वस्य रागः, न च शरीरादेरेकदेशावरणे सर्वस्यावरणं युक्तमिति।" सन्मति० टी० पृ० ६६४।

रक्तत्वं कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोगः, स च अव्याप्यवृत्तिः, नहि रूपादिवत् स्वाश्रयमसौ व्याप्नोति अवयवान्तरे तदुपलब्धावपि अनुपलभ्यमानत्वात्, तत् कथमेकत्र रागे सर्वत्र रागप्रसङ्गः? इत्यप्यसाम्प्रतम्; निरंशेऽवयविनि संयोगस्य अव्याप्यवृत्तित्वाऽनुपपत्तेः। तस्याऽव्याप्यवृत्तित्वं हि सर्वद्रव्याऽव्यापकत्वम्[1], नियतप्रदेशे वर्त्तमानत्वम्, अवयवान्तरेऽवयविन्युपलभ्यमानेऽपि अनुपलभ्यमानत्वं वा? तत्र आद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; द्रव्यस्यैकस्य सर्वशब्दविषयत्वाऽनभ्युपगमात्, निरंशत्वे चास्य कथं तत्संयोगेन साकल्यतः तदव्याप्तिः? तथा तदव्याप्तौ वा निरंशत्वविरोधः। द्वितीयविकल्पस्तु उपपन्नो यदि अवयविनो नियतप्रदेशत्वमभ्युपगम्येत[2], तदभ्युपगमे च अपसिद्धान्तप्रसङ्गः, यौगैस्तस्याऽप्रदेशत्वप्रतिज्ञानात्। तृतीयविकल्पोऽप्येतेन प्रत्याख्यातः; तस्य नियतप्रदेशत्वाऽनभ्युपगमे अवयवान्तरेऽवयविन्युपलभ्यमाने तत्संयोगस्याऽनुपलभ्यमानत्वाऽनुपपत्तेः। तन्नास्य अव्याप्यवृत्तित्वमुपपद्यते, तदुपपत्तौ वा सिद्धो विरुद्धधर्माऽध्यासः, तत्कथमस्य सर्वथैकत्वं स्यात्? अथ तस्मिन् रज्यमानेऽपि असौ न रज्यते; तदप्ययुक्तम्; दृष्टेष्टविरोधात्, 'नहि तन्त्वाद्यवयवे रज्यमाने पटो न रज्यते' इति केनचिद् दृष्टमिष्टं वा।

निरंशत्वे च अवयविनः चित्ररूपप्रतिपत्त्यनुपपत्तिः, नीलादिचित्राऽऽकाराणां विभिन्नप्रतिभास-विरुद्धधर्माऽऽक्रान्तानामेकत्वाऽयोगात्, नहि [3]नीलम् 'पीतम्' इति शक्यं वक्तुम्, तथाभूतानामप्येषामैक्ये नानेकं जगत् स्यात्। ननु न नीलादीनि[4] तत्र रूपाणि 'चित्रम्' इति व्यपदिश्यन्ते तेषां विभिन्नप्रतिभासादितया चित्रज्ञानाऽगोचरत्वात्, किन्तु एकमेव तत् चित्रसंज्ञकं रूपम्, तद्योगात् अवयवी चित्रः यथा शुक्लयोगात् शुक्ल इति; अत्रापि किं शुक्लादिविशेषशून्यं रूपमात्रं चित्रम्, शुक्लादय एव वा समुदिताः, शुक्लादिरूपविलक्षणं वा तद्रूपम्? तत्र न तावद् रूपमात्रम्; विशेषशून्यस्य सामान्यस्य क्वचिदप्यनुपलब्धेः। नापि नीलादय एव समुदिताः; प्रत्येकं तेषां चित्रत्वाऽभावात्, नहि 'नीलं चित्रम्' 'पीतं चित्रम्' इत्येकैकशः तेषां चित्ररूपत्वमस्ति। समुदितानां तद् भविष्यति; इत्यप्यसम्भाव्यम्; समुदिता हि बहवः उच्यन्ते, 'चित्रम्' इत्येकम्, न च बहूनामप्राप्तावस्थाविशेषाणामेकं रूपं भवितुमर्हति।

१ "यदि सर्वं द्रव्यं न व्याप्नोतीत्यर्थः; तदयुक्तम्; द्रव्यस्य सर्वशब्दाविषयत्वाभ्युपगमात्। आश्रयस्यैकदेशे वर्तते; तदप्ययुक्तम्; तस्यैकदेशासंभवात्।..." तत्त्वसं० पं० पृ० २०० । २-गम्यते श्र० । ३ नीलमेव पीतम्। ४ "अचित्राणि रूपाणि संहत्य पटे चित्रं रूपमुत्पादयन्तीति पक्ष आश्रीयते। एवं चैतस्मिन्न किञ्चिद् बाध्यते।" न्यायवा० ४।२।११-१२ पृ० ५०७ । "इष्यत एव अस्माभिर्यथा अवयवसमवेतैः सितहरितलोहितादिभिः असमवायिकारणैः अवयविनि चित्रं रूपमारभ्यत इति।" न्यायवा० ता० टी० ४।२।१२ । "तस्मात् संभूय तैरारभ्यते। तच्चारभ्यमाणं विविधकारणस्वभावानुगमात् श्यामशुक्लहरितात्मकमेव स्यात् चित्रमिति च व्यपदिश्यते।" प्रश० कन्दली पृ० ३०।

किञ्च[1], एते नीलादयः किम् आश्रयव्यापिनः, एकदेशवृत्तयो वा ? यदि आश्रयव्यापिनः; तदा एकेनैव नीलेन आश्रयस्य व्याप्तत्वाद् अन्येषां निरवकाशता । एकदेशवृत्तित्वञ्च अयुक्तम्; नहि आश्रयस्य देशाः सन्ति निरंशत्वादवयविनः । अथ अवयवानामेव तानि रूपाणि; तर्हि अवयवी नीरूपः स्यात्, तथा च अस्याऽप्रत्यक्षत्वम्, नीरूपस्यापि प्रत्यक्षत्वे गगनादेरपि प्रत्यक्षताप्रसङ्गः । अथ शुक्लादिरूपविलक्षणं तत् चित्रं रूपम्; तर्हि परिदृश्यमाननीलादिविशेषव्यतिरेकेण विलक्षणैव प्रतीतिः स्यात्, न पुनस्तत्र प्रत्यभिज्ञायमाना नीलादयः प्रतिभासेरन्, न हि शुक्लादिविलक्षणे पीतादौ प्रतिभासमाने शुक्लप्रत्यभिज्ञानमस्ति ।

किञ्च, एते नीलाद्युपाधयः अवयविनोऽपकारकाः, उपकारका वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; अपकारकाणामुपाधित्वाऽयोगात् । द्वितीयपक्षे तु समस्तोपकारकोपाध्यग्रहणे तदुपकार्यत्वेन उपाधिमतोऽप्यग्रहणात् सर्वाऽग्रहणप्रसङ्गः । नियतोपाध्युपकार्यत्वेन अस्य प्रतीतेर्न तत्प्रसङ्गश्चेत्; तर्हि तदुपकार्यत्वेन अस्य प्रतीतौ समस्तोपाध्युपकार्यरूपत्वात् तदुपकार्यत्वेनाप्यस्य ग्रहणप्रसङ्गात् सर्वग्रहणाऽनुषङ्गः । अथ एकोपाध्युपकार्यत्वेन अस्य प्रतिपत्तौ तदुपाधिविशिष्टत्वेनैव ग्रहणात् उपाध्यन्तरविशिष्टत्वेनाऽग्रहणान्न सर्वग्रहणप्रसङ्गः; तर्हि एकस्यावयविनो गृहीताऽगृहीतरूपद्वयप्रसङ्गात् निरंशत्वव्याघातः । नहि तस्य एकोपाध्युपकार्यत्वमेव रूपम्, अपि तु समग्रोपाध्युपकार्यत्वम्, तच्च अखिलोपाध्यप्रतिपत्तौ प्रत्येतुं न शक्यते ।

ननु प्रत्युपाध्युपकार्याः तस्य शक्तयो भिन्नाः, तत्र एकोपाध्युपकार्यशक्तिविशिष्टस्य उपाधिमतो ग्रहणेऽपि उपाध्यन्तरोपकार्यशक्तिविशिष्टस्य अग्रहणात् न समग्रग्रहणमिति; अत्रापि उपाधिमतोऽशेषशक्त्यात्मकत्वाद् एकशक्तियुक्तस्य ग्रहणे अशेषशक्तियुक्तस्य ग्रहणप्रसङ्गात् उपाधिवर्गस्याप्यशेषस्य ग्रहणाऽनुषङ्गतः समग्रग्रहणमनिवार्यम् । येनैव हि रूपेण असौ एकां शक्तिं बिभर्त्ति तेनैव अपराम्, तत्रापि रूपान्तरविकल्पनेऽनवस्था निरंशाऽवयविप्रतिज्ञाक्षतिश्च । किञ्च, हस्त-आकाशविभागाद् यदैव शरीर-आकाशविभागः तदैव पाद-आकाशसंयोगजः शरीर-आकाश संयोगः, इति एक एव अवयवी एकेनैवाऽऽकाशेन एकदैव संयुक्तो वियुक्तश्च इति अन्योन्यविरुद्धरूपद्वयाऽऽक्रान्तः कथमेकान्तेन एकत्वभाग् भवेत् ? यद् अन्योन्यविरुद्धरूपद्वयाऽऽक्रान्तम् न तद् एकान्तेनैकम् यथा प्रसारितेतराङ्गुलिस्वरूपम्, अन्योन्यविरुद्धरूपद्वयाऽऽक्रान्तश्च आकाशादिना संयुक्तेतररूपः शरीराद्यवयवीति ।

१ "अतो बहूनां रूपाणामेकस्यां पृथिव्यामभ्युपगमे व्याघातः । अभ्युपगम्यापि च ब्रूमः । शुक्लादीनां बहूनामेकत्र सद्भावे किमाश्रयव्यापित्वं प्रदेशवर्तित्वं वा ?…" प्रश० व्यो० पृ० २२१ । २ चित्ररूपम् ज० । ३ "एकोपकारके ग्राह्येऽदृष्टाः तस्मिन्न सन्ति ते । सर्वोपकारकं ग्राह्यं तद्ग्रहे सकलग्रहः ॥" प्रमाणवा० १।५६ । "तदुक्तम्–एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे । दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते तद्ग्रहे सकलग्रहः ।" अष्टश० पृ० १५२ । ४–किं नियत्तं ते–आ० । ५–रपरिकल्पने ब०, ज०, श्रां०, श्र० ।

एवं चलाऽचलादिलक्षणविरुद्धधर्मद्वयेऽपि एकान्तेन एकत्वप्रतिक्षेपो द्रष्टव्यः, पाण्याद्यवयवे हि चलति तत्प्रदेशे शरीराऽवयविनः चलत्वम् अन्यत्र च अचलत्वमिति। ततो न अवयवेभ्योऽत्यन्तभिन्नो निरंशोऽवयवी प्रतिपत्तव्यः, किं तर्हि ? तन्त्वाद्यवयवानामेव आतानवितानीभूताद्यवस्थाविशेषविशिष्टानां कथञ्चिदेकत्वपरिणतिलक्षणोऽवस्थाविशेषः पटाद्यवयवी प्रतिपत्तव्यः, तस्यैव 'यमहमद्राक्षम् एतर्हि तमेव संस्पृशामि' इति प्रतीतेरिति।

प्रासङ्गिकः 'रूपादिव्यतिरिक्तो नास्ति अवयवी' इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः—

ननु रूपादिव्यतिरिक्तस्य अवयविनः कुतश्चित् प्रमाणादप्रतीतेः कथं तदभ्युपगमः प्रेक्षावतां युक्तः ? तथाहि—तद्व्यतिरिक्तः अवयवी प्रत्यक्षतः प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? न तावत् प्रत्यक्षतः; चक्षुरादीन्द्रियप्रभवप्रत्यये हि रूपादिकमेव अवभासते नापरोऽवयवी, तस्यैव अवयवित्वव्यपदेशो न किञ्चिदनिष्टम्, संज्ञामात्रभेदात्। नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षाऽविषये तस्याप्रवृत्तेः। यदि हि कदाचित् प्रत्यक्षतोऽवयवी प्रतिपन्नः स्यात्, तेन च अविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गम्; तदा क्वचित् धूमादग्निवत् तद्दर्शनादसौ अनुमीयेत, न च रूपादिव्यतिरेकेण स्वप्नेऽप्यसौ प्रत्यक्षे प्रतिभासते, अतः अस्य ग्राहकप्रमाणाऽभावाद् अभाव एव ज्यायान्। यद्ग्राहकं प्रमाणं नास्ति तदसत् यथा खरविषाणम्, नास्ति च अवयविनो ग्राहकं किञ्चित् प्रमाणमिति।

तदुत्पत्तौ कारणाऽनुपपत्तेश्च; यदुत्पत्तौ कारणं नोपपद्यते तत् नास्ति यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, नोपपद्यते च अवयव्युत्पत्तौ किञ्चित्कारणमिति। नचेदमसिद्धम्; द्व्यणुकाद्यवयव्युत्पत्तौ हि कारणं परमाणुसंयोगः, स च तेषां सर्वात्मना एकदेशेन वा नोपपद्यते। सर्वात्मना हि परमाणूनां संयोगे पिण्डस्याऽणुमात्रत्वप्रसङ्गाद् दत्तोऽवयविने जलाञ्जलिः। नाप्येकदेशेन; अणूनां देशाऽसंभवात्, तत्संभवे तेषां परमाणुत्वाऽनुपपत्तेः दिग्भागभेदतः परमाणुषट्केन युगपत् संयुज्यमानानां तेषां षडंशतापत्तेः। तस्मादयःशलाकाकल्पाः परमाणव एव परमार्थतोऽभ्युपगन्तव्याः। न च अवयविद्रव्याऽनभ्युपगमे अन्योन्याऽसम्बद्धेषु अयःशलाकाकल्पेषु अणुषु स्थूलैकाकारप्रतिपत्तिर्न स्यादित्यभिधातव्यम्; केशेषु तैमिरिकोपलब्धिवत् तत्र तत्प्रतिपत्त्यु-

१ "पाण्यादिकम्पे सर्वस्य जन्मप्राप्तेर्विरोधिनः। एकत्र कर्मणोऽयोगात् स्यात् पृथक् सिद्धिरन्यथा॥" प्रमाणवा० २।८४। "तत्र पाण्यादावेकस्मिन् कम्पमाने स्थूलोऽर्थः सकम्पनिष्कम्पे रूपे युगपत् प्रतिपद्यमानः कथं विरुद्धधर्मसंसर्गवान्न स्यात्...।" अवयविनिरा० पृ० ८१। २–त्त्वे प्र–आ०। एकप्रति–ब०, ज०। ३ प्रतीतेः ननु आ०। ४ 'ननु' इत्यतः प्राक् आदर्शे लिखितः 'बौद्धः' इति शब्दः टिप्पणीगत एवेति प्रतिभाति। ५ "षट्केन युगपद्योगात्" इत्यादि; विज्ञप्तिमा० कारि० १२। "यद्वा सर्वात्मना वृत्तौ अनेकत्वं प्रसज्यते। एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः॥ ६१३॥" तत्त्वसं०। ६–पत्तिः श्र०। ७–पत्तिः श्र०। ८ "अयःशलाकाकल्पा हि क्रमसंगतमूर्त्तयः। दृश्यन्ते व्यक्तयः सर्वाः कल्पनामिश्रितात्मकाः॥ ४२॥" "अणुसंहतिमात्रश्च घटाद्यस्माभिरिष्यते॥ ७८॥" तत्त्वसं०। ९ "यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्॥ १॥" विंश० विज्ञप्ति०। "समानज्वालासंभूतेर्यथा दीपे न विभ्रमः। नैरन्तर्यस्थितानेकसूक्ष्मवित्तौ तथैकधा॥५८९॥" तत्त्वसं०।

पपत्तेः । यथैव हि तैमिरिकस्य स्थूलैकाकाररहितेष्वपि केशेषु तदाकारा प्रतीतिर्भवति एवमस्मदादेः परमाणुष्वपि, नहि एकैकशः तैमिरिकेण केशाः कदाचिदपि[1] प्रतीयन्ते । अतः स्थूलादिप्रतीतिर्भ्रान्ता अतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपत्वात्, स्थाणौ पुरुषप्रतीतिवत् ।

किञ्च, अनेकाऽवयवव्यापित्वं रूपरसाद्यात्मकत्वञ्च अवयविनो भवद्भिरिष्यते, तच्च अस्याऽखिलावयवग्रहणे सत्येव ग्रहीतुं शक्यम् नान्यथा । तद्ग्रहणञ्च अर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण स्यात्, परभागभाव्यवयवग्राहिणा, उभयप्रत्यक्षेण वा ? न तावद् अर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा; तस्य परभागभाव्यवयववार्त्ताऽनभिज्ञत्वात्, न च व्याप्याऽग्रहणे तद्व्यापित्वं ग्रहीतुं शक्यम् अतिप्रसङ्गात् । यद् येन रूपेण प्रतिभासते तत् तथैव सद्व्यवहारविषयः यथा नीलं नीलरूपतयाऽवभासमानं तथैव सद्व्यवहारविषयः, अर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धितया प्रतिभासते च अवयवीति । तथा[2] च अर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपात् परभागभाव्यवयवसम्बन्धितत्स्वरूपस्य विरुद्धधर्माऽध्यासतो भेदसंभवात् कथं निखिलाऽवयवानामेकेनाऽवयविना व्याप्तिः सिद्ध्येत् ? तत्सम्बन्धित्वलक्षणविरुद्धधर्माऽध्यासेऽपि अस्याऽभेदे भेदवार्त्तोच्छेदः स्यात् । तथा यस्मिन् प्रतिभासमाने यन्न प्रतिभासते तत् ततो भिन्नम् यथा घटे प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमानः पटः, न प्रतिभासते च अर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपम्, इति प्रतिभासभेदादपि अस्य भेदः । एतेन परभागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण तद्व्यापित्वग्रहणं प्रत्याख्यातम् । नाप्युभयप्रत्यक्षेण; तस्याऽसंभवात्, नहि अर्वाक्-पर-मध्य[3]भागभाव्यवयवग्राहि एकं प्रत्यक्षं कदाचित् प्रतीयते ।

रूपरसाद्यात्मकत्वमपि अस्य एतेनैव प्रतिविहितम्; नहि रूपग्राहिणा रसग्राहिणा उभयग्राहिणा प्रत्यक्षेण तद्ग्रहणमुपपद्यते, रूपग्राहिणश्चाक्षुषप्रत्यक्षस्य रसेऽप्रवृत्तेः, तद्ग्राहिणश्च रासनप्रत्यक्षस्य रूपेऽप्रवृत्तेः, उभयग्राहि च प्रत्यक्षं न स्वप्नेऽपि प्रतिभासते इति ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरा अवयवेभ्यः कथञ्चिदभिन्नस्य एकाऽनेकात्मकस्य अवयविनः सिद्धिः–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[4] 'चक्षुरादीन्द्रियप्रभवप्रत्यये' इत्यादि; तत्र किं तत्प्रभवप्रत्यये घटादिव्यपदेशार्हं रूपम् एकत्वपरिणतिविशिष्टम् ऊर्ध्वाधोमध्यभागात्मकं विशिष्टाऽऽकारोपेतं प्रतिभासते, अन्योन्यविलक्षणाऽनंशपरमाणुप्रचयरूपं वा ? प्रथमपक्षे कथमवयविद्रव्यस्य तत्प्रभवप्रत्ययेऽप्रतिभासः, तद्भागात्मिकाया विशिष्टाकारान्वितायाः तत्परिणतेरेव अवयवित्वात् ? रूपाद्यतिरिक्तस्याऽवयविनः प्रतिभासाभावाद् असत्त्वाऽभ्युपगमे रूपादेरप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तद्व्यतिरेकेण अस्याप्यप्रतिभासनात् । न खलु बिल्वाऽऽमलकादि-अवयविद्रव्यरहिताः तद्रूपादयः स्वप्नेऽप्युपलभ्यन्ते । यद् यद्रूपतया निर्बाधबोधे प्रतिभासते तत् तद्रूपमेव प्रतिपत्तव्यम् यथा नीलं नीलरूपतया, प्रतिभासते च एकत्वपरिणत्यादिलक्षण-अव-

१–चित् प्रती–श्र०। २ तथाऽर्वा–आ०, भां०। ३–मध्यभाव्य–आ०। ४ पृ० २३१ पं० ८।

यविरूपतया तत्र विल्वाऽऽमलकादिरूपमिति। न च तत्प्रतिभासिनो बोधस्य निर्बाधत्वविशेषणमसिद्धम्; तद्बाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात्। न हि प्रत्यक्षादिप्रमाणं तद्बाधकम्; शतशो विचारयतोऽपि एकत्वाद्यात्मनैव अर्थानामवभासनात्।

ननु च अवयवसंयोगपूर्विका एकत्वादिपरिणतिर्भवति, 'न च अवयवानां संयोगः सर्वात्मना एकदेशेन वा घटते' इत्युक्तम्; तदयुक्तम्; यस्मादेवं वदतो भवतः किं तत्र सम्बन्धाऽभावोऽभीष्टः, कार्त्स्न्यैकदेशं परित्यज्य प्रकारान्तरेण वा सम्बन्धोऽभिप्रेत इति? तत्र आद्यविकल्पे प्रत्यक्षविरोधः, अर्थानामवयवसम्बन्धस्य प्रत्यक्षे प्रतिभासनात्, तदसम्बन्धे रज्जु-वंशदण्डादेः एकदेशाऽऽकर्षणे तदन्याऽऽकर्षणं न स्यात्। यद् येनासम्बद्धम् न तस्याऽऽकर्षणे तदन्यस्याऽऽकर्षणं दृष्टम् यथा कुम्भाऽऽकर्षणे कुड्यस्य, असम्बद्धश्च भवन्मते रज्जु-वंशदण्डादेः अर्वाग्भागः परभागेन इति। अथ कार्त्स्न्यैकदेशं परित्यज्य प्रकारान्तरेण अन्योन्यमवयवानां सम्बन्धोऽभिप्रेतः; तद् युक्तम्; स्निग्धरूक्षत्वलक्षणप्रकारान्तरेणैव अर्थानां सम्बन्धोपलब्धेः, नहि सक्तु-तोयादौ तत्परित्यज्य अन्यत्प्रकारान्तरं सम्बन्धहेतुः प्रतीयते।

यापि अणूनां षडंशतापत्तिः उक्ता; सा किम् आरम्भकदेशापेक्षया, संयोगहेतुभूतस्वभावाऽपेक्षया वा? तत्र प्रथमपक्षे परस्परविरोधः–'परमाणवः' 'षडंशारब्धाश्च' इति। षडंशारभ्यत्वे हि तेषां स्वावयवापेक्षया अधिकपरिमाणत्वसंभवात् कथं परमाणुत्वम्? यस्य हि निरतिशयमल्पं परिमाणं स परमाणुः। द्वितीयपक्षस्तु न दोषाय, दिग्भागभेदेन अणुसंयोगहेतुभूतस्वभावलक्षण-अंशानां परमाणुष्वभिप्रेतत्वात्, कथमन्यथा जलधारणाहरणाद्यर्थक्रियाकारिणो घटादेर्निष्पत्तिः? न खलु परमाणवः अयःशलाकाकल्पास्तत्कारिणः, परस्परमसम्बद्धत्वात्, ये परस्परमसम्बद्धाः न ते जलधारणाद्यर्थक्रियाकारिणः यथा विभिन्नदेशाः परमाणवः, परस्परमसम्बद्धाश्च घटादिव्यपदेशार्हा भवन्मते परमाणव इति। अथ देशप्रत्यासत्तिविशिष्टास्ते तत्कारिणो नान्ये; तन्न; अवयविनोऽनभ्युपगमे देशप्रत्यासत्तेरप्यनुपपत्तेः देशस्याप्यवयवित्वात्।

एतेन 'अन्योन्यविलक्षणाऽनंशपरमाणुप्रचयरूपं घटादिस्वरूपम् अक्षप्रभवप्रत्यये प्रतिभासते' इति पक्षः प्रत्याख्यातः; नहि यथोपवर्णितस्वभावाः परमाणवः अक्षप्रभवप्रत्यये कस्यचिदपि अवभासन्ते, स्थिर-स्थूल-साधारणस्वरूपस्यैवाऽर्थस्य अखिलप्राणिनां तत्र प्रतिभासनात्।

१–धवि–आ०। २ "धारणाकर्षणोपपत्तेश्च।" न्यायसू० २।१।३५। "कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेऽपि माभूवन् विभागवत्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २२३। प्रमेयक० पृ० १५२ पू०। सन्मति० टी० पृ० २५३। ३ "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।" तत्त्वार्थसू० ५।३३। "सर्वात्मनैकदेशेन वाऽणूनामसम्बन्धात्, सम्बन्धस्य च प्रतीतेः प्रकारान्तरेण एषां सम्बन्ध इति कल्पना युक्तियुक्तैव।" सन्मति० टी० पृ० २५२। ४ पृ० २३१ पं० २१। ५–हेतुस्व–ब०, ज०, भां०, श्र०। ६–धारणाद्य–आ०। ७–था भिन्न–ब०, ज०। ८–दिरूपम् श्र०। ९ "चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २२३। "तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः। स्कन्धस्तु सप्रदेशांशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः॥१०६॥" न्यायवि० पृ० ४८१ उ०।

तैमिरिकोपलब्धिवत् तत्र[1] तत्प्रतिभासः[2]; इत्यप्यसमीचीनम्; नहि [3]तैमिरिकस्यापि अन्योन्यमसम्बद्धाः केशाः कदाचिदपि उपलब्धिविषयाः, संयोगविशेषलक्षणसमूहावस्थापन्नानामेव तेषां तद्विषयत्वप्रतीतेः । केशदृष्टान्ताच्च अवयविप्रतिषेधोऽनुपपन्नः; केशानामेव अवयवित्वात् ।

किञ्च, अवयविनोऽनभ्युपगमे घटादिप्रत्ययो निर्विषयः, सविषयो वा स्यात्? न तावन्निर्विषयः; 'घटमहं जानामि' इत्याद्युल्लेखेन अस्य विषयसंवेदकत्वात्, तन्निर्विषयत्वे प्रमाणाऽभावाच्च । 'सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नादिप्रत्ययवत्' इत्यादि च तन्निर्विषयत्वप्रसाधकं प्रमाणं [4]बाह्यार्थसिद्धौ विस्तरतः प्रतिव्यूढम् ।

अथ सविषयः; कोऽत्र विषयः? परमाणुसमूहश्चेत्; कः पुनरयं परमाणुसमूहो नाम–किं परमाणव एव, तद्धर्मो वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; परमाणूनामत्यन्त[5]मणुत्वेन अतीन्द्रियत्वतः प्रत्यक्षविषयत्वाऽनुपपत्तेः, तथा च सर्वाऽग्रहणप्रसङ्गात् न क्वचित् प्रत्यक्षव्यवहारः स्यात्, गुणकर्मसामान्यादेरपि अवयव्यात्म[6]कस्यैव प्रत्यक्षविषयत्वप्रतीतेः 'गौः' 'शुक्लः' 'चलति' इत्यादिवत् । अथ तद्धर्मः संयोगरूपः तत्समूहशब्दवाच्यः; तन्न; अणूनां संयोगाऽभ्युपगमे अवयविप्रत्याख्यानाऽनुपपत्तेः न्यायस्य समानत्वात्, येनैव हि न्यायेन [7]अयमेकोऽनेकत्र वर्त्तते तेनैव अवयव्यपि । किञ्च, अयं तत्संयोगः वास्तवः, अवास्तवो वा? यद्यवास्तवः; कथं प्रत्यक्षविषयः? यदवास्तवम् न तत् प्रत्यक्षविषयः यथा गगनेन्दीवरम्, अवास्तवश्च भवद्भिरभिप्रेतोऽणुसंयोग इति । वास्तवत्वेऽपि अस्य अस्मदादिप्रत्यक्षविषयत्व[8]मयुक्तम्, निरतिशयपरिमाणद्रव्यसंयोगत्वात्, यो निरतिशयपरिमा[9]णद्रव्यसंयोगः स न अस्मदादिप्रत्यक्षविषयः यथा आकाशपरमाणुसंयोगः, निरतिशयपरिमाणद्रव्यसंयोगश्च अणूनामन्योन्यसंयोग इति ।

ननु न तत्संयोगः अस्मदादिप्रत्यक्षविषयः, किं तर्हि? [10]सञ्चिताः परमाणव एव; इत्यपि अयुक्तम्; परमाणुप्रत्यक्षतापक्षस्य कृतोत्तरत्वात् । [11]सञ्चितत्वञ्चामीषां देशप्रत्यासत्तिः, संयोगविशिष्टत्वं वा स्यात्? उभयत्रापि अवयविसिद्धिः, देशस्य स्वयमवयवित्वात्, संयोगे च समानन्यायात् । यदि च परमाणवस्तद्विषयाः; तदा 'महान् एको घटः' इत्यादिप्रत्ययो न स्यात्, तेषां महत्त्वाऽभावाद् बहुत्वाच्च ।

---

1 तत्र प्र–आ० । 2 तत्प्रतिभासते श्र० । 3 "केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ।" "स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ।" न्यायसू० ४।२।१३, १४ । 4 पृ० १३५ । 5–न्तपरमाणु–भां० । "तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः । नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यान्न च ते बुद्धिगोचराः ॥ ८७ ॥" न्यायवि० पृ० १९७ । 6–त्मकस्यैकस्यैव श्र० । 7 संयोगः । 8–त्वं न युक्तम् ब०, ज०, भां०, श्र० । 9–णसंयो–आ०, ब०, ज० । 10 "सञ्चयमात्रं विषय इति चेन्न; सञ्चयस्य संयोगभावात्तस्य चातीन्द्रियस्याग्रहणादयुक्तम्... ।" न्यायभा० ४।२।१४ । 11 "सन्निवेशस्तेषां देशप्रत्यासत्तिः, संयोगविशेषो वा?" स्या० रत्ना० पृ० ८८६ ।

अथ सेना-वनप्रत्ययवत् तत्रासौ घटते, यथैव हि सेनाङ्गेषु वनाङ्गेषु[२] बहुषु दूरादगृह्यमाण-पृथक्त्वेषु 'एकं वनम्, एका सेना' [३]इति एकप्रत्ययः प्रादुर्भवति एवं परमाणुष्वत्यन्तप्रत्यासन्नेषु पृथक्त्वस्याऽग्रहणात् 'महान् एको घटः' इत्यादिप्रत्ययः प्रादुर्भवतीति; तदसाम्प्रतम्; परमाणूनामतीन्द्रियत्वेनाऽनुपलब्धौ तत्प्रत्ययविषयत्वाऽनुपपत्तेः, उपलभ्यमानानां हि रथादिसेनाङ्गानां धवादिवनाङ्गानाञ्च 'एका सेना' इत्याद्यभेदप्रत्ययविषयत्वं दृष्टम् नाऽनुपलभ्यमानानाम्। न च अवयव्यनभ्युपगमे 'सेना-वनप्रत्ययवत्' इति दृष्टान्तो घटते; सेना-वनाङ्गानामवयवित्वेन अनुपपत्तौ सेना-वनप्रत्ययस्याप्यनुपपत्तेः। यदि च एकाऽवयव्यनपेक्षः तद्वद् अवयवेषु एकप्रत्ययः स्यात्; तदा देशभेदे ग्रहणभेदोपलम्भः स्यात्, यत्र एकाऽवयव्यनपेक्षोऽभेदस्वरूपमात्रनिबन्धनः अभेदप्रत्ययः तत्र देशभेदे ग्रहणभेदो दृष्टः यथा सेनावनाङ्गेषु, एकावयव्यनपेक्षश्च अवयवेषु अभेदप्रत्ययो भवता इष्ट इति। सुप्रसिद्धो हि सेना-वनाङ्गेषु देशभेदाद् ग्रहणभेदः दूराद् एकत्वग्रहणस्य आसन्नेऽनेकत्वग्रहणस्य च अवभासनात्, नचैवं देशविकल्पे ग्रहणविकल्पोपपत्तिर्घटादावस्ति। किञ्च, तदङ्गेषु एकाऽवयव्यभावेऽपि देशप्रत्यासत्तेः संयुक्तसंयोगस्य वा एकस्य निमित्तस्य सद्भावात् 'एका सेना' इत्याद्यभेदप्रत्ययो युक्तः, परमाणुषु तु कस्यचिदप्येकस्य निमित्तस्याऽसंभवात् कथमसौ युक्तः?

यच्चान्यदुक्तम्[४]–'स्थूलादिप्रतीतिर्भ्रान्ता अतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपत्वात्' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताऽभिधानम्; अतस्मिंस्तत्प्रत्ययस्य मुख्योपलम्भमन्तरेण अनुपपत्तेः। नहि अप्रसिद्धमुख्यपुरुषस्य स्थाणावपुरुषे पुरुषप्रत्ययो दृष्टः, न च स्थौल्यादिकं मुख्यतो भवतः क्वचित् प्रसिद्धम् अवयविसिद्धिप्रसङ्गात्।

यदप्यभिहितम्[५]–'अर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; प्रत्यक्षस्मरणादिसहायेन आत्मना अर्वाक्-परभागभाव्यवयवव्यापकत्वस्य अवयविनो ग्रहणोपपत्तेः। नहि अस्माभिः प्रत्यक्षादिज्ञानपर्याय[६] एव अर्थग्राहकोऽभिप्रेतः येनाऽयं दोषः स्यात्, किं तर्हि? तत्परिणत आत्मा, तत्सद्भावश्च सन्तानविचाराऽवसरे प्रसाधितः[७]।

अर्वाक्-परभागभाव्यवयवसम्बन्धितया च विरुद्धधर्माध्यासात् प्रतिभासभेदाच्च अवयविनः कथञ्चिद्भेदः प्रसाध्येत, सर्वथा वा? यदि कथञ्चित्; तदा सिद्धसाधनम्, न खलु तत्सम्बन्धिनोऽवयविनो यौगवत् निरंशत्वम् अस्माभिरभिप्रेतम्, [८]प्रतिसम्बन्धं सम्बन्धिनः कथञ्चिद्भेदाऽभ्युपगमात्। सर्वथा ततस्तद्भेदसाधने तु रूपादिक्षणेन अनेकान्तः, तस्य रूप-रसादिक्षणान्तरं प्रति उपादान-सहकारिशक्तिलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेऽपि अभेदाऽभ्युपगमात्। नहि रूपक्षणस्य

१ "सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्न; अतीन्द्रियत्वादणूनाम्।" न्यायसू० २।१।३६। २-ङ्गेषु दूरा- श्र०। ३ इतिप्र- आ०। ४ पृ० २३२ पं० ३। ५ पृ० २३२ पं० ५। ६-य पदार्थ- ब०, ज०। ७ पृ० ९। ८ प्रतिसम्बन्धि सम्ब- ब०, ज०।

रूपक्षणान्तरं प्रति उपादानशक्तिरेव रसादिक्षणान्तरं प्रति सहकारिशक्तिः; रसादेरपि रूपत्वप्रसङ्गात्। तथाहि–रसो रूपस्वभावः रूपेण उपादानशक्त्या उत्पाद्यमानत्वात् उत्तररूपक्षणवत्। नापि सहकारिशक्तिरेव इतरा; तज्जन्योत्तररूपस्यापि रसत्वप्रसङ्गात्। तथाहि–रससहभावि रूपं रसस्वभावम् प्राक्तनरूपेण सहकारिशक्त्या उत्पाद्यमानत्वात् रसवत्। ततो रूप-रसयोर्भेदमिच्छता कारणस्य उपादानेतरशक्त्योर्वास्तवो भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। अथ कल्पितत्वात् तत्र तद्भेदोऽवास्तवः; तन्न; अस्य अवास्तवत्वे कार्यकारणभावस्यापि अवास्तवत्वप्रसक्तितो रसाद् रूपादेरव्यभिचारिणोऽनुमानस्य अनुपपत्तेः कथम् "*एक[2]सामग्र्यधीनस्य रूपादेरसतो गतिः*" [प्रमाणवा० १।१०] स्यात्?

यदप्युक्तम्[3]–'रूपरसाद्यात्मकत्वमपि' इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्; 'यमहमद्राक्षम् एतर्हि तमेव स्पृशामि' इत्यनुसन्धानप्रत्ययाद् अवयविनो रूपाद्यात्मकत्वप्रसिद्धेः। नहि द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपस्पर्शाधारैकार्थग्रहणमन्तरेण अनुसन्धानप्रत्ययो घटते, रूपस्पर्शयोश्च प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वाद् असौ न संभवति। तदेवं प्रसिद्धसद्भावस्य अवयविनो नाऽपह्नवो युक्तः, तदपह्नवे परमाणुमात्रस्वस्यापि अपह्नवप्रसङ्गात्, तमन्तरेण अन्यस्य तद्व्यवस्थापकोपायस्यासत्त्वात्। 'यत् कार्यं तत् स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धम् यथा पटः, कार्यञ्च द्व्यणुक इति' एतस्मात्, 'अल्पपरिमाणं क्वचित् परमकाष्ठामापन्नम् प्रकृष्यमाणत्वात् महापरिमाणवत्' इत्यतो वा तद्व्यवस्थापने; कथन्न अवयविप्रसादादेव तद्व्यवस्थापनं स्यात्? कथ[6]ञ्च अवयविनोऽपह्नवे सकलानुमानोच्छेदो न स्यात्, धर्मि-हेतु-दृष्टान्तानामवयविस्वभावानां भवतोऽप्रसिद्धेः? तत्प्रसिद्धौ वा कथं तदपह्नवः तेषामपरमाणुरूपाणामेव प्रसिद्धेरिति?

ततः सिद्धः स्वावयवेभ्यः कथञ्चिदभिन्नो वास्तवो घटादिरेकाऽनेकस्वभावः अवयवी। इति न परपरिकल्पितं कार्यकारणभूतं परमाणु-द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यमवतिष्ठते। अतः 'पृथिव्यप्तेजोवायवो द्विविधाः नित्याऽनित्यभेदात्' इत्यादि प्रत्युक्तम्; उक्तप्रकारेण परपरिकल्पितस्य परमाण्वादिद्रव्यस्य अव्यवस्थितेः।

षट्पदार्थपरीक्षायां वैशेषिकोक्तद्रव्यलक्षणस्य प्रतिविधानम्—

कुतश्च अस्य द्रव्यत्वं सिद्ध्येत्? द्रव्यत्व[8]योगाच्चेत्; ननु द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तच्च द्रव्ये ज्ञाते ज्ञायते, द्रव्यत्वञ्च विना न द्रव्यज्ञप्तिः, वैशेषिकैः जातिद्वारेणैव द्रव्यादिप्रतिपत्त्यभ्युपगमात्, इत्यन्योन्याश्रयः। किञ्च, सामान्यं संस्थानादिना केनचिद् व्यज्यते यथा गोत्वं खुर-ककुदादिसंस्थानेन, घृततैलादीनां वा तप्तानां गन्धेन, न

१–णलक्षणस्यापि ब०, ज०। २ "हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्।" इति उत्तरार्द्धांशः प्रमाणवा० १।१०। तत्त्वसं० पं० पृ० ४१७। न्यायवा० ता० टी० पृ० १६२। ३ पृ० २३२ पं० १८। ४ "कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्। उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न॥ ६८॥" आप्तमी०, अष्टसह० पृ० २२३। ५ परका–आ०। ६ कथन्नाम अ–भां०। ७ देशकालानु–भां०। ८ "द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम् इति चेन्न; उभयासिद्धेः···।" सर्वार्थसि०, तत्त्वार्थराज० ५।२। ९ वा इवार्थे।

च इह किञ्चिद् व्यञ्जकमस्ति । क्रियावत्त्वं गुणवत्त्वं समवायिकारणत्वम् अत्राऽस्ति, इति चेत्; तत् किं व्यस्तम्, समस्तं वा व्यञ्जकम् ? न तावद् व्यस्तम्; क्रियावत्त्वस्य आकाशादिद्रव्यव्यक्तिषु असंभवात्। गुणवत्त्वस्यापि सद्यः समुत्पन्नेषु पटादिष्वसंभवान्न व्यञ्जकत्वम् । लब्धात्मलाभो हि अवयवी गुणोत्पत्तौ समवायिकारणं भवति, इति सद्यः समुत्पन्ने पटे गुणाभावो भवद्भिरेव इष्टः, इति योगिनां तत्र द्रव्यबुद्धिर्न स्यात् । नापि समवायिकारणत्वं तद्व्यञ्जकम्; तस्यापि सर्वदाऽसंभवात्, नहि सर्वः सर्वदा समवायिकारणम्, इति अस्य लक्षणस्य सर्वत्राऽव्याप्तिदोषः । किञ्च, यदा कारणं तदा न समवायि, यदा समवायि न तदा कारणम्, 'कार्याद्धि पूर्वस्मिन् क्षणे कारणम् न च तदा कार्यमस्ति येन कार्यसमवायि स्यात्, यदा च कार्यसमवायि तदा निष्पन्नत्वात् कार्यस्य न कारणम्' इति असंभवो लक्षणदोषः । 'यद् यत्र संभवति तत् तत्र लक्षणम्' इत्यत्रापि सद्यः समुत्पन्ने घटादौ असंभव एव तद्दोषः, तत्र कस्यचिदपि तल्लक्षणस्याऽसंभवात् । समुदितानां तल्लक्षणत्वेऽपि अव्याप्तिरेव, सद्यः समुत्पन्ने घटादौ त्रितयस्याप्यभावात्, आकाशादौ तु क्रियावत्त्वस्य इति ।

यदपि 'द्रव्यम् इतरेभ्यो भिद्यते द्रव्यत्वाऽभिसम्बन्धात्' इत्याद्यनुमानम्; तदप्यसाम्प्रतम्; अनुमानं खलु उभयवादिप्रसिद्धे धर्मिणि पर्वतादौ सति प्रवर्तते, अन्यथा हेतूनामाश्रयाऽसिद्धता स्यात्, दृष्टान्ते च उभयवादिसम्प्रतिपन्ने, साध्यधर्मे वह्नौ साध्यधर्मिणि सन्दिग्धे, अन्यथा अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः स्यात्; धर्मिणि च उभयवादिसम्प्रतिपन्ने साधनधर्मे धूमे, अन्यथा असिद्धो हेतुः स्यात् । न च इह नवद्रव्यप्रकारो धर्मी कस्यचित् केनचित्प्रमाणेन प्रसिद्धः, नापि तत्र प्रवर्त्तमानं द्रव्यत्वादिसाधनम्, भेदाख्यश्च साध्यधर्मः इति । भेदो हि इतरेतराभावः, स च प्रतियोगिसव्यपेक्ष एव प्रतीयते, प्रतियोगिनश्च द्रव्यव्यतिरेकिणोऽनन्ताः, ते अयोगिनां कस्य प्रमाणस्य ग्राह्याः इति चिन्त्यम् ? किञ्च, प्रतियोगिनो गृह्यमाणाः किं द्रव्याद्भिन्ना गृह्यन्ते, अभिन्ना वा ? प्रथमपक्षे भेदग्राहकप्रमाणेनैव द्रव्यस्य अन्येभ्यो भेदः प्रसिद्धः इति इदमनुमानमनर्थकम् । द्वितीयपक्षे तु परस्परसङ्कीर्णेषु गृह्यमाणेष्वर्थेषु कस्य कस्माद् भेदः इति अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः स्यात् ।

---

१ "न च लक्षणमप्येकं पृथिव्यादिषु पञ्चसु क्रियावत्स्वेव क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणस्य भावात् । निष्क्रियेषु आकाशकालदिगात्मसु क्रियावत्त्वस्याभावात् ।" आप्तप० पृ० ५ । स्या० रत्ना० पृ० ८४५ । २ "तत्र तावद् गुणाश्रयो द्रव्यमित्यलक्षणं यतः–'अव्याप्तेरतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः । आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात् ॥ उत्पन्नमात्रं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठतीत्यंगीकाराद्व्याप्तेः । गुणादावपि 'चतुर्विंशतिर्गुणाः' इत्यादि संख्यागुणान्वयवीक्षणादतिव्याप्तेः ।" चित्सुखी पृ० १७५ । खंडनखंड० पृ० ५७९ । ३–व्याप्तिः दो–आ०, श्र० । ४ यदा तु ज० । ५–नां लक्ष–आ०, ब०, ज० भां० । ६ पटादौ ब०, ज० । ७ क्रियावत्त्वस्य गुणवत्त्वस्य समवायिकारणत्वस्य च । ८–प्यसंभा–भां ।

किञ्च, केवलव्यतिरेकी हेतुः स उच्यते यस्य पक्षव्यापकत्वे सति केवलो व्यतिरेकः नान्वयः स्यात्, ततश्च 'यत्र भेदाख्यः साध्यधर्मो नास्ति तत्र द्रव्यत्वमपि नास्ति' इति व्यतिरेकोऽनयोर्धर्मयोः असति प्रतिबन्धे कथं निश्चेतुं शक्यते ? 'किं भेदाऽभावात् तत्र द्रव्यत्वं नास्ति वस्त्वन्तराऽसत्त्वाद्वा' इति सन्देहः। यत्र हि प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः तत्र 'एकाऽभावे द्वितीयो नास्ति' इति युक्तम्, यथा अग्निधूमयोः प्रत्यक्षाऽनुपलम्भादिप्रमाणेन प्रतिपन्ने कार्यकारणभावे 'अग्न्यभावे धूमो नास्ति' इति। इह पुनः साध्यसाधनधर्मयोः उक्तप्रकारेण स्वरूपतोऽसिद्धत्वात् केनचित्प्रमाणेन अविनाभावस्याऽगृहीतत्वात् न साध्याऽभावे साधनाऽभावप्रतिपत्तिः, इति केवलव्यतिरेकिणोऽनुमानस्य अननुमानत्वात् न तेन इतरेभ्यो भेदः व्यवहारो वा शक्यते व्यवस्थापयितुम्। एतेन 'पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्' इत्यादि केवलव्यतिरेक्यनुमानं प्रत्याख्यातम्; उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात्। किञ्च, पृथिव्यादीनामन्योन्यम् अत्यन्तमर्थान्तरत्वे सिद्धे सति एतद्वक्तुं शक्यते, न च तत् सिद्धम् पुद्गलात्मनाऽन्योन्यं तेषां कथञ्चिदभेदात्।

'पुद्गलात्मकत्वे पृथिव्यादीनां न प्रतिनियतगन्धादिगुणाधारतानियमः' इति यौगानां पूर्वपक्षः—

ननु एकपुद्गलात्मकत्वे तेषां प्रतिनियतगन्धादिगुणाधारतानियमो न प्राप्नोति पुद्गलानामविशेषतो रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मकत्वाऽभ्युपगमात्, अतः तदात्मकत्वे पृथिव्यादीनां चतुर्णामपि अविशेषेणैव गन्धादिप्रतीतिः स्यात्, न चैवम्, चतुर्ष्वपि एतेषु गन्धादिगुणचतुष्टयस्य प्रतिनियमेनैव आधेयत्वप्रतीतेः। उक्तञ्च–"*गन्धः पृथिव्यामेव, अप्सु रसः, तेजसि रूपम्, वायौ स्पर्शः।*" [ ] इति। पृथिवीत्वादिप्रतिनियतजातिसम्बन्धोऽपि तेषामेकत्वे दुर्घटः, अन्योन्यं हि तेषां तत्त्वान्तरत्वाभावेनाभिन्नजातीयत्वे अबादीनामपि अविशेषतः पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धः स्यात्। न खलु घट-घटी-शराव-उदञ्चनादीनां तथाऽभिन्नजातीयत्वेऽविशेषतः पृथिवीत्वाऽभिसम्बन्धो न दृष्टः, न च तेषामविशेषतः तत्सम्बन्धोऽस्ति, पृथिव्यामेव पृथिवीत्वाभिसम्बन्धप्रतीतेः, अबादावेव अप्त्वादिसम्बन्धप्रतीतेः इति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं तेषाम् एकपुद्गलात्मकत्वप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'एकपुद्गलद्रव्यात्मकत्वे' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतः प्रतिनियतगन्धादिगुणाधारतानियमस्तत्र तत्सत्तापेक्षया, तदभिव्यक्त्यपेक्षया वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; पृथिवीवत् जलादावपि गन्धादिगुणचतुष्टयसद्भावतः तदाधारताप्रतिनियमाऽनुपपत्तेः। कुतः प्रमाणात् तत्र तत्सद्भावः सिद्धः इति चेत्? 'अनुमानात्' इति ब्रूमः; तथाहि–जलादयो गन्धादिमन्तः स्पर्शवत्त्वात्,

१ "कथं तर्हि इमे गुणा विनियोक्तव्या इति? एकैकश्येन उत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः।" न्यायसू० ३।१।६४। २ तत्त्वाभा–आ०। तत्त्वान्तराभा–ब०, ज०। ३ अबादिस–श्र०। ४ "आपो गन्धवत्यः स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवत्...।" सर्वार्थसि० ५।३।

यत् स्पर्शवत् तद् गन्धादिमत् प्रसिद्धम् यथा पृथिवी, स्पर्शवन्तश्च जलादय इति । 'यत् पुनर्गन्धादिमन्न भवति न तत् स्पर्शवत्, यथा आत्मादि' इति विपक्षे बाधकं प्रमाणम् ।

अथ गन्धादिगुणानाम् अभिव्यक्त्यपेक्षया पृथिव्यादौ तदाधारताप्रतिनियमोऽभिधीयते; अभिधीयताम्, तथापि न तावता तत्र द्रव्यान्तरत्वसिद्धिः, जल-कनकादिसंयुक्ताऽनलेन अनेकान्तात् । नहि अनभिव्यक्तभासुररूपोष्णस्पर्शो जल-कनकादिसंयुक्ताऽनलः अभिव्यक्तभासुररूपोष्णस्पर्शादनलाद् द्रव्यान्तरं भवतां प्रसिद्धः[1], द्रव्यसंख्याव्याघातप्रसङ्गात् । एवं पृथिव्यादिरपि अनभिव्यक्तेनाप्यविशिष्टगुणेन उपेतत्वात् नाऽन्योन्यम् अत्यन्तद्रव्यान्तरत्वेन अर्थान्तरम्; यद् अविशिष्टगुणोपेतम् न तद् अन्योन्यम् अत्यन्तद्रव्यान्तरत्वेन अर्थान्तरम् यथा आत्मादि, अविशिष्टरूपादिगुणोपेतञ्च पृथिव्यादि इति । यथैव हि आत्मनां बुद्ध्यादिमत्त्वाऽविशेषात् नाऽन्योन्यम् अत्यन्ततत्त्वान्तरत्वेनाऽर्थान्तरत्वम्[2] तथा पृथिव्यादीनामपि रूपादिमत्त्वाऽविशेषात् न तथा तत्त्वान्तरत्वम् ।

यदप्युक्तम्[3]–'पृथिवीत्वादिप्रतिनियतजातिसम्बन्ध' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; अवान्तरजातिसम्बन्धस्य सर्वथा तत्त्वभेदा[4]ऽप्रसाधकत्वात्, व्यक्तिभेदमेव हि असौ प्रसाधयति न तत्त्वभेदम्, अन्यथा क्षत्रियत्वाद्यवान्तरजातिसम्बन्धात् आत्मनामपि तत्त्वान्तरत्वप्रसङ्गात् तत्संख्याव्याघातः स्यात् । जातिभेदेन अन्योन्यं पृथिव्यादीनामात्यन्तिकभेदाऽभ्युपगमे च उपादानोपादेयभावो न स्यात्; येषां जातिभेदेन आत्यन्तिको भेदः न तेषाम् उपादानोपादेयभावः यथा आत्म-पृथिव्यादीनाम्, तथा तद्भेदश्च पृथिव्यादीनां भवद्भिरिष्ट इति । तन्तुपटाद्युपादानोपादेयभावेन व्यभिचारपरिहारार्थम् आत्यन्तिकविशेषणम्, नहि तत्र आत्यन्तिकः तद्भेदोऽस्ति पृथिवीत्वादिसामान्यस्य अभिन्नस्यापि संभवात् । नन्वेवं द्रव्यत्वादिना पृथिव्यादीनामपि अभेदसंभवात् तद्भावोऽस्तु; इत्यप्ययुक्तम्; आत्म-पृथिव्यादीनामप्येवं तद्भेदाऽभावाद् उपादानोपादेयभावः स्यात्, तथा च आत्माऽद्वैतप्रसङ्गात् पृथिव्यादिद्रव्यप्रपञ्चाय दत्तो[5] जलाञ्जलिः ।

तन्न आत्यन्तिकभेदाऽभ्युपगमे पृथिव्यादीनां तद्भावो घटते; अस्ति चासौ, चन्द्रकान्ताज्जलस्य[6] जलादेश्च मुक्ताफलादेरुत्पत्तिप्रतीतेः । अतो न तेषां सर्वथा तत्त्वान्तरत्वेन भेदः; येषाम् उपादानोपादेयभावः न तेषामन्योन्यमत्यन्ततत्त्वान्तरत्वेन भेदः यथा तन्तुपटादीनाम्, उपादानोपादेयभावश्च पृथिव्यादीनामिति । चन्द्रकान्ताद्यन्तर्भूतात् जलादिद्रव्यादेव जलादेरुत्पत्तिः; इत्यप्यनुपपन्नम्; तत्र तत्सद्भावाऽऽवेदकप्रमाणाऽभावात् । 'विजातीयाद् विजातीयस्योत्पत्तौ तत्त्वव्यवस्थाऽभावप्रसङ्गात्, तदन्तर्भूतात् तद्द्रव्यादेव तदुत्पत्तिः' इत्यभ्युपगमे 'मृत्पिण्डाद्यन्तर्भूताद् घटादेरेव घटाद्युत्पत्तिः' इत्यप्यभ्युपगम्यतामिति सांख्यदर्शनसिद्धिः । ततो मृत्पिण्डादौ

---

१ प्रसिद्धश्चेत ज० । २–थाऽर्थान्तरत्वम् श्र० । ३ पृ० २३८ पं० १८ । ४ सत्त्वभे–श्र० । ५ दत्ता ब०, ज० । ६ "चन्द्रकान्ताज्जलस्य जलान्मुक्ताफलादेः काष्ठादनलस्य व्यजनादेश्च अनिलस्योत्पत्तिप्रतीतेः ।" प्रमेयक० पृ० १६३ पू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९ ।

घटादिवत् चन्द्रकान्तादौ जलादेरप्रतीतितोऽभावात्, आत्यन्तिकभेदे च उपादानोपादेयभावाऽनुपपत्तेः 'पर्यायभेदेन अन्योन्यं पृथिव्यादीनां भेदः, रूप-रस-गन्धस्पर्शात्मकपुद्गलद्रव्यरूपतया च अभेदः' इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। तन्न नित्यादिस्वभावम् आत्यन्तिकभेदभिन्नं परपरिकल्पितं पृथिव्यादिचतुःप्रकारं द्रव्यं व्यवतिष्ठते। नाप्याकाशद्रव्यम्; परपरिकल्पितस्वभावस्य अस्यापि सद्भावे प्रमाणाऽभावाऽविशेषात्।

षट्पदार्थपरीक्षायां 'शब्दगुणकम् आकाशम्' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु तत्सद्भावे शब्दलिङ्गप्रभवमनुमानमस्त्येव प्रमाणम्; तथाहि–शब्दः क्वचिदाश्रितः गुणत्वात् रूपादिवत्[1]। न चास्य गुणत्वमसिद्धम्; गुणः[2] शब्दः द्रव्य-कर्मान्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात्, यद् यदेवंविधम् तत् तद् गुणः यथा रूपादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति। न च द्रव्यकर्माऽन्यत्वमसिद्धम्; तथाहि–शब्दो द्रव्यं न भवति एकद्रव्यत्वात् रूपादिवत्। किञ्चिद्धि द्रव्यम् अद्रव्यं[3] भवति नित्यत्वात् यथा आत्मादि, किञ्चित्तु अनेकद्रव्यम् कार्यत्वात् यथा घटादि, न तु एकद्रव्यम्। शब्दस्य एकद्रव्यत्वं कुतः सिद्धमिति चेत्? 'एकद्रव्यं[4] शब्दः सामान्य-विशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्[5] रूपादिवत्' इत्यतोऽनुमानात्। अत्र च 'सामान्यविशेषवत्त्वात्' इत्युच्यमाने परमाण्वादिभिर्व्यभिचारः स्यात्; तन्निवृत्त्यर्थम् 'इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युक्तम्। तथापि घटादिना अनेकान्तः; तन्निरासार्थम् एकविशेषणम्। 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः; तन्निवृत्त्यर्थं बाह्यविशेषणम्। रूपत्वादिना व्यभिचारपरिहारार्थञ्च 'सामान्यविशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणम्। तथा, कर्माऽपि न भवत्यसौ संयोग-विभागाऽकारणत्वात् रूपादिवदेव। इतश्च न द्रव्यं न कर्म शब्दः, अनित्यत्वे सति नियमेन अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्, यद् यद् एवम् तत्[6] तत् तथा यथा रसादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति। आत्मना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थम् 'अनित्यत्वे सति' इति विशेषणम्। तथापि अचाक्षुष[7]प्रत्यक्षप्रतीयमानद्रव्य-कर्मभ्यां व्यभिचारः; तत्परिहारार्थम् 'निय-

१ "शब्दः क्वचिदाश्रितः गुणत्वात्...यथा रूपादिः।" प्रश० व्यो० पृ० ३२२। २ "प्रसक्तयोः द्रव्यकर्मणोः प्रतिषेधे सामान्यादावप्रसङ्गाच्च गुण एवावशिष्यते शब्दः। कथं पुनः न द्रव्यं शब्दः? एकद्रव्यत्वात्। अद्रव्यं वा भवति द्रव्यम् आकाशपरमाण्वादि, अनेकद्रव्यं वा द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यम्, एकद्रव्यं तु शब्दः एकाकाशाश्रितत्वात्। तस्मान्न द्रव्यम्। नापि कर्म शब्दः शब्दान्तरजनकत्वात्। कर्मणो हि समानजात्यारम्भकत्वं नास्ति। सत्ताशब्दत्वादिसामान्यसम्बन्धाच्च सामान्यादित्रयप्रसङ्गोऽस्य नास्ति इति पारिशेष्याद् गुण एव शब्दः।" न्यायमं० पृ० २२९। "न द्रव्यकर्मजातीयः शब्दः श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वात् शब्दत्वादिवत्। गुणः शब्दः द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् रूपादिवत्।" प्रश० व्यो० पृ० ६४९। ३ न द्रव्यं समवायिकारणं यस्य तत्। ४ एकद्रव्यः श्र०। ५ "शब्दो गुणः जातिमत्त्वे सति अस्मदादिबाह्याचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद् गन्धवत्।" न्यायलीला० पृ० २५। ६ तत्तथा आ०। ७ अचक्षुष्यप्र–आ०।

मेन' इति विशेषणम्, तयोः शब्दादिवद् अचाक्षुपप्रत्यक्षत्वनियमाऽसंभवात्। तथा शब्दो न द्रव्यं न कर्म, व्यापकद्रव्यसमवेतत्वात्, यद् यदित्थम् तत् तत् तथा यथा सुखादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति। ततः सिद्धं 'द्रव्यकर्मान्यत्वे सति' इति विशेषणम्। 'द्रव्यकर्मान्यत्वात्' इत्युच्यमाने सामान्यादिना व्यभिचारः; तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्युक्तम्।

अतः सिद्धं गुणत्वेन शब्दस्य क्वचिदाश्रितत्वम्। यश्च अस्याऽऽश्रयः तत् पारिशेष्याद् आकाशम्; तथाहि-न तावत् स्पर्शवतां परमाणूनां विशेषगुणः शब्दः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् कार्यद्रव्यरूपादिवत्। नापि कार्यद्रव्याणां पृथिव्यादीनां विशेषगुणोऽसौ; [1]कार्यद्रव्यान्तराऽप्रादुर्भावेऽप्युपजायमानत्वात् सुखादिवत्, [2]अकारणगुणपूर्वकत्वाद् इच्छादिवत्, [3]अयावद्द्रव्यभावित्वात्, [4]अस्मदादिपुरुषान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषान्तराऽप्रत्यक्षत्वाच्च तद्वत्, [5]आश्रयाद् भेर्यादेः अन्यत्रोपलब्धेश्च। स्पर्शवतां हि पृथिव्यादीनां यथोक्तविपरीता गुणाः प्रतीयन्ते इति। नाप्यात्म[6]विशेषगुणः; अहङ्कारेण विभक्त[7]ग्रहणात्, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आत्मान्तरग्राह्य[8]त्वाच्च, [9]बुद्ध्यादीनां च आत्मगुणानां तद्वैपरीत्योपलब्धेः। नापि [10]मनोगुणः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत्। नापि दिक्कालविशेषगुणः; तयोः पूर्वाऽपरादिप्रत्ययहेतुत्वात्। अतः [11]पृथिव्यादिव्यतिरिक्ताश्रयाऽऽश्रितोऽसौ तद्वृत्तिबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणत्वात्, यस्तु एवं न भवति

---

१ "कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः।" वैशे० सू० २।१।२५। "कार्यान्तरस्य स्वावयवकार्यसजातीयस्य अप्रादुर्भावाद् अननुभवात् अर्थात् भेर्यादौ। अयं भावः-यथा भेर्यादौ रूपादयो विशेषगुणाः स्वावयवरूपादिसजातीया अनुभूयन्ते तथा स्वावयवशब्दसजातीयः शब्दः भेर्यादौ नोपलभ्यते। निःशब्दैरपि भेर्याद्यवयवैः भेर्याद्यारम्भात्।" वै० सू० वि० पृ० ९०। २ "शब्दः प्रत्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वकत्वात्, अयावद्द्रव्यभावित्वात्, आश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः।" प्रश० भा० पृ० ५८। "समवायिकारणेषु गुणाः कारणगुणाः ते पूर्वं कारणं यस्य गुणस्य असौ कारणगुणपूर्वकः यथा पटरूपादिः तन्तुरूपादिपूर्वक इति। न चैवम्, शब्दकारणस्याकाशस्य अकार्यत्वेन समवायिकारणगुणाभावात्।...." प्रश० व्यो० पृ० ३२३। "स्वाश्रयस्य यत् समवायिकारणं तद्गुणपूर्वः शब्दो न भवति पटरूपादिवदाश्रयोत्पत्त्यनन्तरमनुत्पादात् अतः सुखादिवत् स्पर्शवतां विशेषगुणो न भवति।" प्रश० कन्द० पृ० ५९। ३ "यावद्द्रव्यं शब्दो न भवति सत्येव आश्रये शङ्खादौ तद्विनाशात्।" प्रश० कन्दली पृ० ५९। प्रश० किरणा० पृ० १०७। ४ अस्मदादिपुरुषान्तराणां समीपदेशवर्त्तिनां प्रत्यक्षत्वेऽपि पुरुषान्तराणां दूरदेशवर्तिनामप्रत्यक्षत्वं शब्दस्य। ५ "स्पर्शवद्विशेषगुणत्वे शब्दस्य शङ्खादिराश्रयो वाच्यः। स च तस्मादन्यत्र दूरे कर्णशष्कुलीदेशे समुपलभ्यते। न चान्यगुणस्य अन्यत्र ग्रहणमस्ति तस्मान्न स्पर्शवद्विशेषगुणः।...." प्रश० कन्द० पृ० ६०। "आश्रयाभिमताच्छङ्खादेरन्यत्र कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ने नभसि उपलब्धेः।" प्रश० किरणा० पृ० १०७। "अन्यत्रशब्दो विनार्थः तेन आश्रयं विना उपलब्धियोग्यत्वात् इत्यर्थः अयोग्याश्रयकत्वादिति यावत्।" न्यायली० प्रका० पृ० २७७। ६ "परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः।" वै० सू० २।१।२६। "बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वादात्मान्तरग्राह्यत्वादात्मन्यसमवायादहङ्कारेण विभक्तग्रहणाच्च नात्मगुणः।" प्रश० भा० पृ० ५८। ७-ग्रहणादात्मान्तर-आ०। ८-त्वात् ब०, ज०। ९-नां तु भां०, श्र०। १० "श्रोत्रग्राह्यत्वाद् वैशेषिकगुणभावाच्च न दिक्कालमनसाम्।" प्रश० भा० पृ० ५८। ११ "शब्दः पृथिव्युदकज्वलनपवनदिक्कालात्ममनोव्यतिरिक्तद्रव्याश्रयः तद्वृत्तिबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणत्वात्।" प्रश०व्यो०पृ० ३२९।

नाऽसौ तथा यथा रूपादिः, तथा च शब्दः, तस्मात् तद्व्यतिरिक्ताश्रयाऽऽश्रित इति। यदाश्रितश्च असौ तदाकाशम्। शब्दलिङ्गाऽविशेषाद् विशेषलिङ्गाऽभावाच्च एकं विभु च, निरतिशयपरिमाणाऽधिकरणत्वाच्च परमाणुवत् नित्यं सिद्धम्।

तल्लिङ्गभूतस्य च शब्दस्य उत्पत्तिप्रक्रिया प्रदर्श्यते; तथाहि–संयोगाद् विभागात् शब्दाच्च शब्द उत्पद्यते। तत्र संयोगात् तदुत्पत्तौ आकाशं समवायिकारणम्, भेर्याद्याकाशसंयोगः असमवायिकारणम्, भेरीदण्डसंयोगः निमित्तकारणम्। विभुद्रव्यविशेषगुणानां संयोगनिमित्तानां संयोगाऽसमवायिकारणत्वाऽव्यभिचारात्; प्रयोगः–संयोगनिमित्ता विभुद्रव्यविशेषगुणाः संयोगाऽसमवायिकारणाः, संयोगनिमित्तत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, यद् यदित्थम् तत् तथा यथा बुद्ध्यादयः, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति। तथा विभागादपि शब्दोत्पत्तौ आकाशं समवायिकारणम्, वंशदल-आकाशविभागोऽसमवायिकारणम्, वंशदलविभागः निमित्तकारणम्। ननु वंशदलविभागोत्तरकालं शब्दोत्पत्तिदर्शनात् युक्तं तस्य तन्निमित्तत्वम्, न पुनः वंशदल-आकाशविभागस्य असमवायिकारणत्व, तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात्; इति च न चेतसि निवेश्यम्; शब्दनिमित्तानामनेकद्रव्यगुणानां समानजातीयाऽसमवायिकारणसमन्वितानां शब्दारम्भकत्वप्रतीतेः। प्रयोगः–विभागः स्वसमानजातीयेन असमवायिकारणेन सहितः शब्दमारभते, अनेकद्रव्यगुणत्वे सति शब्दारम्भकत्वात्, यो य एवम् स स तथा यथा भेरीदण्डसंयोगः, तथा च विभागः, तस्मात्तथा इति। शब्दात् शब्दोत्पत्तौ तु आकाशं समवायिकारणम्, प्राक्तनः शब्दः असमवायिकारणम्, अदृष्टादिकं निमित्तकारणमिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'शब्दः कचिदाश्रितः' इत्यादि; तदसमीक्षिताऽभिधानम्;

शब्दस्य आकाशगुणत्वाभावप्रसाधनपूर्विका द्रव्यत्वसिद्धिः, आकाशस्य सर्वथा नित्य-निरवयवत्वनिरसनपुरस्सरा युगपन्निखिलार्थावगाहनहेतुतया सिद्धिश्च—

यतः किम् अतोऽनुमानात् शब्दस्य आश्रयमात्राश्रितत्वं प्रसाध्यते, नित्यैकव्यापि-आश्रयाऽऽश्रितत्वं वा ? प्रथमपक्षे कथमतो नभोद्रव्यसिद्धिः आश्रयमात्रस्यैव सिद्धिप्रसङ्गात्? तत्र च सिद्धसाध्यता, शब्दस्य पुद्गलपरिणामतया तदाश्रितत्वाऽभ्युपगमात्। नित्यैकव्यापि-आश्रयाऽऽश्रितत्वे तु साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः; रूपादीनां तद्विपरीताश्रयाऽऽश्रितत्वात्। गुणत्वञ्च अस्य असिद्धम्; तत्प्रसाधकप्रमाणाऽभावात्।

---

१ "शब्दलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च।" वै०सू० २।१।३०। २–त्तिक्रिया आ०। ३ "संयोगाद्विभागात् शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः।" वै०सू० २।२।३१। ४ "भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते–अत्रापि आकाशं समवायिकारणम्···।" प्रश०व्यो०पृ० ६५०। प्रश० कन्द० पृ० २८९। ५–णासद्भावात् अ०। ६–कत्वाप्रतीतेः अ०। ७ पृ० २४० पं० ६। ८ "यदि सामान्येन आश्रितत्वमात्रमेषां साध्यते शब्दानां तदा सिद्धसाध्यता।" तत्त्वसं० पं० पृ० २०७। "पुद्गलस्कन्धस्यैकद्रव्यस्य शब्दाश्रयत्वोपपत्तेः सिद्धसाधनत्वात्···।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२२। प्रमेयक० पृ० १६४ पू०। सन्मति०टी० पृ० ६५०। ९ "एकव्यापिप्रवव्योमसमवायस्तु सिद्ध्यति। नैषामन्वयवैकल्याद्यक्माद्याश्रितस्तथा ॥६२८॥" तत्त्वसं०।

यदपि 'द्रव्यकर्माऽन्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात्' इति तत्प्रसाधकं साधनमुपन्यस्तम्[1]; तदपि विशेषणैकदेशाऽसिद्धत्वात् न तत्प्रसाधकम्। कर्माऽन्यत्वे सत्यपि हि शब्दस्य द्रव्यान्यत्वमसिद्धम्; द्रव्यलक्षणलक्षितत्वेन अस्य द्रव्यत्वोपपत्तेः, गुण-क्रियावत्त्वं हि द्रव्यलक्षणम्, तच्च अविकलं शब्देऽस्तीति। अतः द्रव्यं शब्दः गुण-क्रियावत्त्वात्, यद् गुणक्रियावत् तद् द्रव्यम् यथा बाणादि, गुण-क्रियावांश्च शब्द इति। न चायमसिद्धो हेतुः; तस्य तद्वत्त्वप्रसाधकप्रमाणसद्भावात्। तथाहि–गुणवान् शब्दः स्पर्श-अल्पत्व-महत्त्वपरिमाण-संख्या-संयोगाऽऽश्रयत्वात्, यद् एवंविधम् तद् गुणवत् तथा बदर-आमलकादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति।

तत्र न तावत् स्पर्शाऽऽश्रयत्वमस्य असिद्धम्; तथाहि–स्पर्शवान् शब्दः स्वसम्बद्धाऽर्थान्तराऽभिघातहेतुत्वात्, यद् इत्थम् तद् इत्थम् यथा मुद्गरादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति। न चेदमसिद्धम्; कंसपात्र्यादिध्वानाऽभिसम्बन्धे श्रोत्राऽभिघातप्रतीतेः। न च शब्दसहचरितेन वायुना अत्र अभिघात इत्यभिधातव्यम्; शब्दान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वात्, तथाभूतस्याप्यस्य अन्यहेतुत्वकल्पने न क्वचिद् हेतु-फलभावप्रतिनियमः स्यात्। गुणत्वेन अस्य निर्गुणत्वतः स्पर्शाऽभावात् तदभिघाताऽहेतुत्वे चक्रकप्रसङ्गः–'गुणत्वं हि अद्रव्यत्वे सिद्धे सिद्ध्येत्, तदपि अस्पर्शवत्त्वे[4], तदपि गुणत्वे' इति। तथा 'स्पर्शवान् शब्दः स्पर्शवताऽर्थेन अभिहन्यमानत्वात् तृणादिवत्' इत्यतोऽपि अनुमानाद् अस्य स्पर्शवत्त्वसिद्धेः। न चेदमसिद्धम्; प्रतिवात-भित्त्यादिभिः स्पर्शवद्भिः तदभिघातप्रतीतेः। तन्न अस्य स्पर्शाश्रयत्वमसिद्धम्।

नापि अल्पत्व-महत्त्वपरिमाणाश्रयत्वम्; अल्प-महत्त्वप्रतीतिविषयत्वात्, यत् तत्प्रतीतिविषयः तत् तत्परिमाणाश्रयः यथा बदर-आमलकादि, तत्प्रतीतिविषयश्च शब्द इति। न चायमसिद्धो हेतुः; 'अल्पः शब्दः, महान् शब्दः' इति तत्प्रतीतिविषयतया अस्य आबालं सुप्रसिद्धत्वात्। तथाभूतस्याप्यस्य तत्प्रतीतिविषयत्वाऽपह्नवे बदरादावपि तत्प्रतीतिविषयत्वापह्नवप्रसङ्गात् सर्वत्र तत्परिमाणाभावः स्यात्। न खलु प्रतीतेरन्यतः तत्र तत्परिमाणसिद्धिः। अथ बदरादेर्द्रव्यत्वात् तत्परिमाणप्रसिद्धिर्युक्ता न शब्दे विपर्ययात्; तदप्यसत्; अन्योन्याश्रयाऽनुषङ्गात्–सिद्धे हि शब्दस्य अद्रव्यत्वे तत्परिमाणाऽभावसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अद्रव्यत्वसिद्धिरिति। तत्र तत्परिमाणाऽनभ्युपगमे च किन्निबन्धना शब्दे तत्प्रतीतिः स्यात्? कारणगताऽल्पत्वमहत्त्वपरिमाणनिबन्धना चेत्; बदरादावपि असौ स्वकारणाऽल्पत्वमहत्त्वपरिमाणनिबन्धनाऽस्तु, तथा अन्यत्राप्येवम् इति न क्वचित् मुख्यतोऽल्पमहत्त्वपरिमाणनिबन्धना तत्प्रतीतिः स्यात्, प्रतीतिविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्टः। तन्न अस्य अल्पत्वमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वमप्यसिद्धम्।

---

१ पृ० २४० पं० ८। २ "द्रव्यं शब्दः स्पर्शाल्पत्व···" प्रमेयक० पृ० १६४ पू०। ३ "कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिः अस्पर्शत्वकल्पनामस्तङ्गमयति···।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०८। ४–त्वे सिद्धे सिद्ध्यत् तदपि श्र०। ५–णे प्रसिद्धिः ब०, ज०, भां०। ६–णाल्पमहत्त्व–ब०, ज०, आ०। ७–मसि–ब०, ज०, आ०।

नापि संख्याश्रयत्वम्; 'एकः शब्दः, द्वौ शब्दौ, बहवः शब्दाः' इति प्रतीत्या घटादिवत् शब्दे संख्यावत्त्वप्रसिद्धेः। अथ उपचारात् शब्दे संख्यावत्त्वप्रतीतिः; ननु किंगता संख्या तत्र उपचर्य्यते–कारणगता, विषयगता वा? यदि कारणगता; तत्रापि किं समवायिकारणगता, कारणमात्रगता वाऽसौ तत्र उपचर्येत? तत्राद्यपक्षे 'एकः शब्दः' इति सर्वदा व्यपदेशप्रसङ्गः गगनलक्षणतत्समवायिकारणस्य एकत्वात्। द्वितीयपक्षे तु 'बहवः शब्दाः' इति सदा व्यपदेशः स्यात् तन्मात्रस्य बहुत्वात्। विषयसंख्योपचारे तु गगन-आकाश-व्योमादिशब्दाः बहुव्यपदेशभाजो न स्युः तद्विषयस्य एकत्वात्, पश्वादीनाञ्च बहुत्वात् 'एको गोशब्दः' इति व्यपदेशः स्वप्नेऽपि दुर्लभः। यथाऽविरोधं संख्योपचारः; इत्यप्ययुक्तम्; स्वयं संख्यावत्त्वे एव अविरोधसंभवात्। किञ्च, विपरीतोपलम्भस्य बाधकस्य सद्भावे सति उपचारकल्पना स्यात् 'अग्निर्माणवकः' इत्यादिवत्, न च अग्निरहितमाणवकस्य इव एकत्वादिसंख्यारहितशब्दस्य उपलम्भोऽस्ति, इति कथम् उपचारतस्तत्र तत्कल्पना स्यात्? तथापि तत्तथात्वकल्पने अनुपचरितमेव न किञ्चित् स्यात्। कथमेवं भवतामपि 'एकं रूपम्' इत्यादिगुणेषु संख्याव्यपदेशः? इत्यप्ययुक्तम्; यन्मते हि संख्याया गुणत्वम् तन्मते एव अस्यास्तत्राऽसंभवतः तद्व्यपदेशाऽभावप्रसङ्गः, नाऽस्माकम् प्रमेयत्ववस्तुत्वादिवत् तद्धर्मतया तस्या अभ्युपगमात्। धर्माणाञ्च गुणादौ भावो न विरुद्ध्यते, अन्यथा तेषामप्रमेयत्वादिप्रसङ्गः। कथमन्यथा 'षट् पदार्थाः' इत्यादिव्यपदेशः स्यात्? तन्न संख्याऽऽश्रयत्वमपि अस्य असिद्धम्।

नापि संयोगाऽऽश्रयत्वम्; वाय्वादिना अभिहन्यमानत्वात्, यद् वाय्वादिनाऽभिहन्यमानम् तत् संयोगाश्रयः यथा पांश्वादि, तेन अभिहन्यमानश्च शब्द इति। न चेदमसिद्धम्; देवदत्तं प्रति आगच्छतः शब्दस्य प्रतिवातादिना प्रतिनिवर्त्तनप्रतीतेः, यत्र येन प्रतिनिवर्त्तनं प्रतीयते तत्र तेन अभिघातोऽस्ति यथा पांश्वादौ, प्रतिवातादिना प्रतिनिवर्त्तनं प्रतीयते च शब्दे इति। तत्प्रतिनिवर्तनप्रतीतिश्च अन्यदिगवस्थितस्य अस्य अन्यदिगवस्थितेन ग्रहणादवसीयते, यद् अन्यदिगवस्थितम् अन्यदिगवस्थितेन गृह्यते तत्र प्रतिनिवर्त्तनमस्ति यथा तृणादौ; तथाभूतः तथाभूतेन गृह्यते च शब्द इति। ननु गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तः तेन प्रतिनिवर्त्यन्ते, न च तेषां तेन संयोगः निर्गुणत्वाद् गुणानाम्; इत्यप्यचोद्यम्; तद्वतो द्रव्यस्यैव अनेन प्रतिनिवर्त्तनात्, केवलानां तेषां निष्क्रियत्वेन आगमनप्रतिनिवर्त्तनाऽनुपपत्तेः। अतः सिद्धं शब्दस्य संयोगाऽऽश्रयत्वम्; क्षकारादौ अक्षरसंयोगप्रतीतेश्च। जात्यन्तरस्य अस्योत्पत्तौ सर्वत्र संयोगवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गः, दण्ड्यादेरपि जात्यन्तरस्यैव उत्पत्तिप्रसक्तेः। तन्नासिद्धं शब्दस्य गुणवत्त्वम्।

---

१ गौशब्दः आ०, ब०, ज०, भां०। २–लम्भस्य सद्भा–ब०, ज०। ३ इत्यादिगुणेषु संख्याव्य–श्र०। ४–तोऽप्यस्ति श्र०।

नापि क्रियावत्त्वम्; पूर्वदेशत्यागेन देशान्तरे समुपलभ्यमानत्वात्, यद् इत्थं देशान्तरे समुपलभ्यते तत् क्रियावद् दृष्टम् यथा वाणादि, तथा तत्र समुपलभ्यते च शब्द इति। न चेदमसिद्धम्; वक्तृमुखप्रदेशत्यागेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे शब्दस्योपलब्धेः सकलजनप्रसिद्धत्वात्। नापि सामान्यादिना व्यभिचारि; तत्र विशेषणस्यास्याप्रवृत्तेः। ननु न आद्य एव आकाशतच्छङ्खमुखसंयोगादेः समवायि-असमवायि-निमित्तकारणाज्जातः शब्दः श्रोत्रेण आगत्य सम्बद्ध्यते येनास्य क्रियावत्त्वं स्यात्, किन्तु वीचीतरङ्गन्यायेन[1] अपरापर एव आकाशशब्दादिलक्षणात् समवायि-असमवायि-निमित्तकारणाज्जातः अन्य एव, अतः कथमस्य क्रियावत्त्वसंभावना ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; सर्वत्र एवं क्रियोच्छेदप्रसङ्गात्, 'वाणादयोऽपि हि पूर्वपूर्वसमानजातीयक्षणप्रभवा लक्ष्यप्रदेशव्यापिनः न पुनः ते एव' इति कल्पयतो न वक्त्रं वक्रीभवेत्। प्रत्यभिज्ञानाद् अत्र स्थायित्वसिद्धेः नैवं कल्पना, इत्यन्यत्रापि समानम्–'उपाध्यायोक्तं[2] शृणोमि शिष्योक्तं शृणोमि' इति एकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य शब्देऽपि प्रतीतेः।

ननु प्रत्यभिज्ञानस्य भवन्मते दर्शन-स्मरणकारणकत्वात्[3], अत्र च तदभावात् कथं तदुत्पत्तिः ? न खलु उपाध्यायाद्युक्ते शब्दे दर्शनवत् स्मरणं संभवति अस्य पूर्वदर्शनाद्याहितसंस्कारप्रबोधनिबन्धनत्वात्, न च कारणाऽभावे कार्यस्य उत्पत्तिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; सम्बन्धिताप्रतिपत्तिद्वारेण अत्र एकत्वस्य प्रतीतेः, सम्बन्धितायाश्च दर्शन-स्मरणयोः सद्भावसंभवात् प्रत्यभिज्ञानस्य उत्पत्तिरविरुद्धा। तथाहि–प्रत्यक्षानुपलम्भतोऽनुमानतो वा तत्कार्यतया तत्सम्बन्धिनं शब्दं प्रतिपद्य इदानीं तद्दर्शनस्मृतिप्रभवं प्रत्यभिज्ञानं तत्सम्बन्धितया शब्दं प्रतिपद्यमानम् एकत्वविशिष्टमेव प्रतिपद्यते व्यजनाऽनिलवत्, कथमन्यथा 'उपाध्यायोक्तं शृणोमि' इत्यादि प्रतीतिः स्यात् ? 'तदुक्तोद्भूतं तत्सदृशं शब्दान्तरं शृणोमि' इति प्रतीतिप्रसङ्गात्। अथ लून-पुनर्जातनख-केशादिवत् सदृश-अपरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत् प्रत्यभिज्ञानम् नैकत्वनिबन्धनम्; तदेतद् वाणादावपि समानम्, इति अशेषाऽर्थानां क्षणिकत्वप्रसङ्गात् सौगतमतसिद्धिः स्यात्।

ननु शब्दः तीव्रतम-तीव्रतर-तीव्र-मन्द-मन्दतर-मन्दतमलक्षणषड्विधभेदभिन्नः[4] प्रतीयते न वाणादिः, अतः तत्र तद्भेदप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या क्षणिकत्वं परिकल्प्यते[5], न वाणादौ विपर्ययात्, तत्कथं सौगतमतसिद्धिः स्यात् ? इत्यप्यविचारितरमणीयम्; तद्भेदप्रतीतेः क्षणिकत्वाऽप्रसाधकत्वात्, अन्यथा वायोरपि क्षणिकत्वप्रसङ्गः, व्यजनादिकारणकलापप्रभवस्य अस्यापि

---

१ "वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहणम्। श्रोत्रशब्दयोः गमनागमनाभावात् अप्राप्तस्य ग्रहणं नास्ति परिशेषात् सन्तानसिद्धिः।" प्रश० भा० पृ० २८८। "यथाहि महतः पाषाणाद्यभिघातादुपजाता वीची वीच्यन्तरमारभते साऽपि पुनर्वीच्यन्तरमिति सन्तानाः तद्वच्छब्दसन्तानाः...।" प्रश० व्यो० पृ० ६५०। प्रश० कन्द० पृ० २८९। २–ध्यायेनोक्तं ब०, ज०। ३–णत्वात् ब०, ज०। ४ तीव्रतीव्रतरतीव्रतमतीव्रमन्द–ब०, ज०। ५–कल्पते आ०, ब०।

प्रत्यासन्नतमादिपुरुषैः तीव्रतमादिभेदेन प्रतीयमानत्वाऽविशेषात्। बाणादेरपि चैवं तत्प्रसङ्गः लक्ष्यप्रदेशे प्रक्षिप्तस्य अस्यापि तथाविधैस्तैः तद्भेदेन प्रतीयमानत्वसंभवात्। अथ अत्र तीव्रतमादिस्वभावक्रियानिबन्धनः तद्भेदप्रतिभासः; तदेतत् शब्देऽपि समानम्।

अथ[1] अत्र बाधकसद्भावात् क्षणिकत्वकल्पनाऽयुक्ता न बाणादौ विपर्ययात्; ननु अत्र किं बाधकम्–प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? प्रत्यक्षञ्चेत्; किम् एकत्वविषयम्, क्षणिकत्वविषयं वा? न तावद् एकत्वविषयम्; समविषयत्वेन तदनुकूलत्वात्। नापि क्षणिकत्वविषयम्; शब्दे अन्यत्र वा तद्विषयस्य अस्य असिद्धत्वात्। अथ अनुमानं तद्विषयं तद्बाधकम्; तथाहि–क्षणिकः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात् सुखादिवत्; तदपि मनोरथमात्रम्; एकशाखाप्रभवत्ववत् कालात्ययापदिष्टत्वाद् हेतोः। न चास्य तदपदिष्टत्वमसिद्धम्; प्रत्यभिज्ञा[2]ख्यप्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। विभुद्रव्यविशेषगुणत्वं[3]चासिद्धम्; शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसाधनात्।

वीचीतरङ्गन्यायेन च शब्दस्य उत्पत्त्यभ्युपगमे प्रथमतो वक्तृव्यापाराद् एकः[4] शब्दः प्रादुर्भवेत्, अनेको वा? यद्येकः; कथं नानादिक्काऽनेकशब्दोत्पत्तिः[5] सकृत् स्यात्? सर्वदिक्कताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसंयोगानाम समवायिकारणानां समवायिकारणस्य च आकाशस्य सर्वगतस्य भावात् सकृत् सर्वदिक्काऽनेकशब्दोत्पत्त्यविरोधे शब्दस्य आरम्भकत्वाऽनुपपत्तिः। यथैव हि आद्यः शब्दो न शब्देनाऽऽरब्धः ताल्वाद्याकाशसंयोगादेव असमवायिकारणादुत्पत्तेः, तथा सर्वदिक्कशब्दान्तराण्यपि ताल्वादिव्यापारप्रभववाय्वाकाशसंयोगेभ्य एव असमवायिकारणेभ्यः तदुत्पत्तिसंभवात्। तथा च *"संयोगाद्विभागात् शब्दाच्च शब्दोत्पत्तिः"* [वै० सू० २।२।३१] इति ब्रुवते। अथ शब्दान्तराणां प्रथमः शब्दः असमवायिकारणं तत्सदृशत्वात्, अन्यथा तद्विसदृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गो नियामकाऽभावात्; नन्वेवं 'प्रथमस्यापि शब्दस्य अन्यस्माच्छब्दाद् असमवायिकारणादुत्पत्तिः तस्यापि अन्यस्मात्[6] पूर्वशब्दात्' इति अनादित्वापत्तिः शब्दसन्तानस्य स्यात्। अथ प्रथमः शब्दः प्रतिनियतः प्रतिनियताद् वक्तृव्यापारादेव उत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराणि आरभते[7]; तर्हि किम् आद्येन शब्देन असमवायिकारणेन कल्पितेन? प्रतिनियतवक्तृव्यापारात् तत्प्रभवप्रतिनियतवाय्वाकाशसंयोगेभ्यः[8] स्वसदृश-अपरापरशब्दोत्पत्तिसंभवात्। तन्न एकः शब्दः शब्दान्तरारम्भकः।

नाप्यनेकः; एकस्मात् ताल्वाद्याकाशसंयोगाद् अनेकशब्दोत्पत्तेरनुपपत्तेः। न च अनेकः

---

१ अथ बाध–भां०। २–भिज्ञानाख्य–श्र०। ३–त्वं चासि–आ०। ४ "शङ्खमुखसंयोगादाकाशे शब्दः प्रादुर्भवन् एक एव प्रादुर्भवेदनेको वा?" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२१। प्रमेयक० पृ० १६७ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९४२। "वीचीतरङ्गवृत्त्यैवमन्त्यः श्रोत्रेण गृह्यते। अदृष्टकल्पना तस्मिन् पक्षे बह्वी प्रसज्यते ॥ ९० ॥" मी० श्लो० पृ० ७५३। ५–त्तिः स्यात् त–भां०। ६ अपरस्मात् ब०, ज०। ७–रभेत श्र०। ८–भ्यश्च सदृ–ब०, ज०, भां०।

ताल्वाद्याकाशसंयोगः सकृद् एकस्य वक्तुः संभवति; प्रयत्नस्य एकत्वात्। न च प्रयत्नभेदमन्तरेण ताल्वादिक्रियापूर्वकः अन्यतरकर्मजस्ताल्वाद्याकाशसंयोगो घटते यतोऽनेकः शब्दः स्यात्। अस्तु वा कुतश्चिद् आद्यः शब्दोऽनेकः; तथापि असौ स्वदेशे शब्दान्तराण्यारभते, देशान्तरे वा? न तावत् स्वदेशे; देशान्तरे शब्दोपलम्भाऽभावप्रसङ्गात्। अथ देशान्तरे[1]; तत्रापि तत्र गत्वा, स्वदेशस्थ एव वा देशान्तरे तान्यसौ जनयेत्? यदि स्वदेशस्थ एव; तर्हि अदृष्टमपि शरीरदेशस्थमेव देशान्तरवर्तिमणिमुक्ताफलाद्याकर्षणं कुर्यात्, तथा च *"धर्माऽधर्मौ स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभेते"* [ ] इत्यस्य विरोधः। श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे वा ततः शब्दोत्पत्तेः तद्विषयविज्ञानोत्पत्तेर्वा प्रसङ्गाद् अन्तरालशब्दानां श्रोत्रे प्राप्यकारित्वस्य च कल्पनाऽनर्थक्यम्। न च वीचीतरङ्गादौ अप्राप्तकार्यदेशत्वे सति आरम्भकत्वं दृष्टम्, येन अत्रापि तथा कल्प्येत अध्यक्षविरोधात्। अथ तद्देशे गत्वा; सिद्धं तर्हि शब्दस्य क्रियावत्त्वम्।

आकाशगुणत्वे[3] च अस्य अस्मदादिप्रत्यक्षताऽनुपपत्तिः, तस्य अत्यन्तपरोक्षत्वात्, यः अत्यन्तपरोक्षगुणिगुणः नासौ अस्मदादिप्रत्यक्षः यथा परमाणुरूपादिः, तथा च परेण अभ्युपगतः शब्द इति। तत्प्रत्यक्षत्वे वा; अस्य अत्यन्तपरोक्ष-आकाशविशेषगुणत्वाऽयोगः, यद् अस्मदादिप्रत्यक्षम् तन्न अत्यन्तपरोक्षगुणिगुणः यथा घटरूपादयः, तथा च शब्द इति।

यच्चोक्तम्[4]–'सत्तासम्बन्धित्वात्' इति; तत्र किं स्वरूपभूतया सत्तया सम्बन्धित्वं विवक्षितम्, अर्थान्तरभूतया वा? प्रथमविकल्पे सामान्यादिभिर्व्यभिचारः, तेषां द्रव्य-कर्माऽन्यत्वे सति तथाभूतया सत्तया सम्बन्धित्वेऽपि गुणत्वाऽभावात्। द्वितीयविकल्पस्तु अयुक्तः; स्वतोऽसतामर्थानाम् अर्थान्तरभूतसत्तातः सत्त्वस्य '**स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्**' इत्यत्र[5] निपेत्स्यमानत्वात्।

यच्चान्यदुक्तम्[6]–'शब्दो द्रव्यं न भवति एकद्रव्यत्वात्' इति; तत्र एकद्रव्यत्वसाधनमसिद्धम्; यतो गुणत्वे गगने एव एकद्रव्ये समवायेन वर्त्तने च सिद्धे तत् सिद्ध्येत्, तच्च उक्तनीत्या अपास्तमिति कथं तत्सिद्धिः?

यदपि एकद्रव्यत्वे साधनमुक्तम्[7]–'एकद्रव्यः[8] शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति; तदपि प्रत्यनुमानबाधितम्[9]; तथाहि–अनेकद्रव्यः शब्दः अस्म-

१–रे तत्र ग–ब०, ज०। २ "अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्म अदृष्टकारितम्।" वैशे० सू० ५।२।१३। "धर्माधर्मौ च स्वाश्रयसमवेते सुखदुःखे पराश्रये तु क्रियामारभेते···।" प्रश० व्यो० पृ० ४३७। ३ "अमूर्त्तगुणस्य आत्मगुणवद् इन्द्रियविषयत्वादर्शनात्।" तत्त्वार्थराज० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२१। "न तावदमूर्त्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेन एकवेदनवेद्यत्वाद् अमूर्त्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयतापत्तेः।" पञ्चा० टी० पृ० १८५। ४ पृ० २४० पं० ८। ५ पञ्चमपरिच्छेदस्य चत्वारिंशत्तमकारिकाव्याख्यानावसरे। ६ पृ० २४० पं० १०। ७ पृ० २४० पं० १३। ८ एकद्रव्यं आ०। ९ प्रत्यक्षानुमान–ज०।

दादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। वायुना अनेकान्तश्च; स हि सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षोऽपि अनेकद्रव्यः, चक्षुषैकेन प्रतीयमानैश्चन्द्राऽर्कादिभिश्च। अस्मदादिविलक्षणैः बाह्येन्द्रियान्तरेण तत्र प्रतीतिः, शब्देऽपि समाना, अत्र तथाऽनुपलम्भः अन्यत्रापि तुल्यः।

यदपि 'अनित्यत्वे सति नियमेन अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्' इत्युक्तम्[1]; तदप्ययुक्तम्; वायुना अनैकान्तिकत्वात्, स हि अनित्यत्वे सति नियमेनाऽचाक्षुषप्रत्यक्षोऽपि द्रव्यम् इति।

यदपि–'व्यापकद्रव्यसमवेतत्वात्' इत्यभिहितम्[2]; तदप्यभिधानमात्रम्; असिद्धत्वात्, सिद्धे हि गुणत्वे तत्र अस्य समवेतत्वं सिद्ध्येत्, न च तत्सिद्धम् उक्तप्रकारेण निरस्तत्वात्।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'न तावत्स्पर्शवतां परमाणूनाम्' इत्यादि; तत् सिद्धसाधनम्, तद्गुणत्वस्य शब्देऽनभ्युपगमात्। यथा च अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे शब्दस्य परमाणुविशेषगुणत्वविरोधः तथा आकाशविशेषगुणत्वविरोधोऽपि। नहि अस्मदादिप्रत्यक्षत्वं परमाणुविशेषगुणत्वमेव निराकरोति शब्दस्य न आकाशविशेषगुणत्वम् उभयत्राऽविशेषात्। यथैव हि परमाणुगुणो रूपादिः अस्मदाद्यप्रत्यक्षः तथा आकाशगुणो महत्त्वादिरपि।

यदपि–'आश्रयाद् भेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेः' इत्याद्युक्तम्[4]; तदप्ययुक्तम्; भेर्यादेः शब्दाऽऽश्रयत्वाऽसिद्धेः तस्य तन्निमित्तकारणत्वात्। आत्मादिगुणत्वनिषेधस्तु सिद्धसाधनात् न समाधानमर्हति।

याऽपि शब्दोत्पत्तौ प्रक्रिया–'आकाशं समवायिकारणम्' इत्यादिका[5]; साऽपि एतेन निरस्ता; शब्दस्य आकाशगुणत्वनिषेधे तं प्रति अस्य समवायिकारणत्वाऽनुपपत्तेः। यदि वा[6], आकाशं निरवयवं शब्दस्य समवायिकारणं स्यात्; तर्हि तद्वत् तस्यापि व्यापित्वप्रसङ्गः। देशकृतं हि नैयत्यम् अव्यापित्वमुच्यते, तच्च आकाशस्य तत्समवायिकारणस्य अदेशत्वे अतिदुर्घटम्। यो निष्प्रदेशद्रव्यगुणः नासौ स्वाश्रयाऽव्यापकः यथा तन्महत्त्वम्, परमाणुरूपादिर्वा, निष्प्रदेशस्य आकाशस्य गुणश्च भवद्भिः परिकल्पितः शब्द इति। तस्य अव्याप्यवृत्तित्वे वा कथं तदाधारस्य आकाशस्य सावयवत्वं न स्यात् 'प्रदेशवृत्तिर्गुणः, निष्प्रदेशाधारश्च' इति कोऽन्यो जडात्मनो ब्रूयात्? यदि च सावयवं नभो न भवेत् तदा श्रोत्रसमवेतस्येव ब्रह्माण्डवर्तिनोऽपि शब्दस्य अस्मदादिभिरुपलम्भः स्यात् निरवयव-एकाकाशलक्षणश्रोत्रसमवेतत्वात्। अथ धर्माऽधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्ध आकाशदेश एव श्रोत्रम्[8]; तत्र ब्रह्माण्डवर्त्तिनः शब्दस्य असमवायात् न अस्मदादिभिरुपलम्भः; नन्वयम्[9] अन्धसर्पविल-

१ पृ० २४० पं० १९। २ पृ० २४१ पं० २। ३ पृ० २४१ पं० ६। ४ पृ० २४१ पं० ९। ५–दि सा–आ०। पृ० २४२ पं० ३। ६ च श्र०। ७–कारल–भां०। ८ "श्रोत्रं पुनः श्रवणविवरसंज्ञको नभोदेशः शब्दनिमित्तोपभोगप्रापक-धर्माधर्मोपनिबद्धः…।" प्रश० भा० पृ० ५९। ९ "नन्वयमन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन सावयवत्वाङ्गीकार एव परिहारः।" स्या० रत्ना० पृ० ८९१।

प्रवेशन्यायेन सावयवत्वाऽङ्गीकार एव परिहारः, श्रोत्राऽऽकाशदेशात् ब्रह्माण्डवर्तिशब्दाऽऽधाराकाशदेशस्य अन्यत्वात्।

अव्याप्यवृत्तित्वञ्चास्य पर्युदासरूपम्, प्रसज्यरूपं वा स्यात्? आद्यपक्षे एकदेशवृत्तित्वमेव उक्तं स्यात्, 'आकाशं[1] हि व्याप्य शब्दो न वर्त्तते' इति ब्रुवता 'तदेकदेशे वर्तते' इत्यभ्युपगतं स्यात्। व्याप्यवृत्तित्वं हि सामस्त्यवृत्तित्वम्, तत्प्रतिषेधे च एकदेशवृत्तित्वं स्यात्, तच्च 'आकाशस्य निष्प्रदेशत्वे अतिदुर्घटम्' इत्युक्तम्। प्रसज्यपक्षे तु वृत्तिप्रतिषेधमात्रमेव उक्तं स्यात्; न चैतदुपपन्नम्। शब्दस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वतः तत्प्रतिषेधविरोधात्, तत्प्रतिषेधे वा गुणत्वाऽनुपपत्तिः। यस्य सर्वथा वृत्तिप्रतिषेधः नासौ गुणः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, सर्वथा वृत्तिप्रतिषेधश्च शब्दस्य इति। समवायस्य तत्र तद्वृत्तेरभ्युपगमात् न 'एकदेशेन सामस्त्येन वा' इत्यादिदोषः; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; तस्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। तन्निरवयवत्वे च सन्तानवृत्त्या शब्दस्याऽऽगतस्य श्रोत्रेण उपलब्धिर्न स्यात्; अपरापर-आकाशदेशोत्पत्तिद्वारेण अस्य श्रोत्रसमवेतत्वाऽनुपपत्तेः। वीचीतरङ्गन्यायेन हि अपरापर-आकाशदेशे शब्दोत्पत्तिकल्पने कथन्नास्य सावयवत्वं सिद्ध्येत्? तन्न सर्वथा आकाशस्य अनवयवत्वं युक्तम्।

नापि सर्वथा नित्यत्वम्; तद्वत् शब्दस्यापि[2] नित्यत्वप्रसङ्गात्। तस्य हि विनाशः आश्रयविनाशात्, विरोधिगुणप्रादुर्भावात्, तन्निमित्ताऽदृष्टाऽभावाद्वा? न तावद् आश्रयविनाशात्; तस्य सर्वथा नित्यत्वप्रतिज्ञानात्। नापि विरोधिगुणप्रादुर्भावात्; यतः को विरोधी गुणः–तन्महत्त्वम्, संयोगादिर्वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; तन्महत्त्वस्य एकार्थसमवेतत्वेन विरोधित्वाऽसिद्धेः। तत्सिद्धौ वा श्रवणसमयेऽपि तदभावप्रसङ्गः [3]अनुत्पत्तिरेव वा, सदापि[4] तन्महत्त्वस्य सद्भावात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; संयोगादेः शब्दोत्पादं प्रति कारणत्वेन विरोधित्वाऽनुपपत्तेः। नापि तन्निमित्तादृष्टाऽभावात् तदभावः; तुच्छाभावस्य अशेषसामर्थ्यशून्यत्वेन अश्वविषाणवत् तद्विनाशाऽहेतुत्वात्।

तदेवम् आकाशहेतुत्वस्य शब्देऽनुपपत्तेः पौद्गलिकत्वमेव[5] अभ्युपगन्तव्यम्। तथाहि–पौद्गलिकः शब्दः, गुण-क्रियावत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, यदेवम् तदेवम् यथा घटादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति। ततः शब्दस्य आकाशगुणत्वाऽसिद्धेः नाऽसौ तल्लिङ्गम्, इति नातः तत्सद्भावसिद्धिः। नन्वेवम् आकाशद्रव्यापह्नवे कथं भवतां नाऽपसिद्धान्तः स्यात्? इत्यप्यसारम्; परपरिकल्पितस्यैव सर्वथा नित्यनिरंशस्वभावस्याऽस्य अस्माभिः प्रतिक्षेपात् न तद्विपरीतस्य, अस्य उक्तदोषाऽगोचरचारित्वात्।

१–शं व्या– आ०। २–स्यापि सर्वथा नि–श्र०। ३ अनुपपत्ति–ब०, ज०। ४ तदा हि तन्महत्त्वसद्भा–भां०। तदापि तन्महत्त्वसद्भा–श्र०। ५ "सद्दो खंदप्पभवो खंदो परमाणुसंघसंघादो। पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥ ७९ ॥" पञ्चास्तिका०।

कुतस्तत्सद्भावसिद्धिः भवतामपीति चेत् ? 'युगपन्निखिलद्रव्याऽवगाहकार्यात्' इति ब्रूमः। तथाहि–युगपन्निखिलावगाहः साधारणकारणाऽपेक्षः, युगपन्निखिलावगाहत्वात्, य एवंविधोऽवगाहः स एवंविधकारणाऽपेक्षो दृष्टः यथा एकसरःसलिलान्तःपातिमत्स्याद्यवगाहः, तथावगाहश्चायमिति। ननु सर्पिषो मधुन्यवगाहः, भस्मनि जलस्य, जले अश्वादेर्यथा, तथैव आलोक-तमसोः अशेषार्थावगाहो भविष्यति, अतः कथमस्माद् आकाशसिद्धिः ? इत्यप्यसुन्दरम्; अनयोरपि आकाशाऽभावे अवगाहाऽनुपपत्तेः।

ननु निखिलार्थानां यथा आकाशेऽवगाहः तथा तस्यापि 'अन्यस्मिन्नधिकरणे अवगाहेन भवितव्यम्' इत्यनवस्था, तस्य स्वरूपेऽवगाहे सर्वाऽर्थानां स्वात्मन्यवगाहप्रसङ्गात् कथम् आकाशस्य अतः सिद्धिः ? इत्यप्यपेशलम्; आकाशस्य व्यापित्वेन स्वावगाहित्वोपपत्तितः अनवस्थाऽनुपपत्तेः, अन्येषामव्यापित्वेन स्वावगाहित्वाऽयोगाच्च, नहि किञ्चिदल्पपरिमाणं वस्तु स्वाऽधिकरणं दृष्टम् अश्वादेर्जलाद्यधिकरणत्वप्रतीतेः। कथमेवं दिक्कालात्मनाम् आकाशेऽवगाहः व्यापित्वात् ? इत्यप्यसाम्प्रतम्; तेषां व्यापित्वाऽसिद्धेः, तदसिद्धिश्च दिग्द्रव्यस्यासत्त्वेन कालात्मनोश्च असर्वगतद्रव्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् सिद्धा। नन्वेवमपि अमूर्त्तत्वेन काल-आत्मनोः पाताऽभावात् कथं तदाधेयता ? इत्यप्ययुक्तम्; अमूर्त्तस्यापि ज्ञानादेः आत्मनि आधेयत्वप्रसिद्धेः।

एतेन 'अमूर्त्तत्वात् नाऽऽकाशं कस्यचिदधिकरणम्' इत्यपि प्रत्युक्तम्; अमूर्त्तस्याप्यात्मनो ज्ञानाधिकरणत्वप्रतीतेः। समसमयवर्तित्वात् निखिलार्थानां नाधाराऽऽधेयभावः, अन्यथा आकाशादुत्तरकालं तेषां भावः स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; समसमयवर्तिनामपि आत्म-अमूर्त्तत्वादीनां तद्भावप्रतीतेः, न खलु परेणापि अत्र पूर्वाऽपरीभावोऽभ्युपगम्यते नित्यत्वाऽभावाऽनुषङ्गात्। तन्न परपरिकल्पितम् आकाशद्रव्यं घटते; नापि कालद्रव्यम्।

---

१ "सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तहय पुग्गलाणं च। जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवइ आयासम् ॥ ९० ॥" पञ्चास्तिका०। "अवगाहणालक्खणेण णं आगासत्थिकाए।" व्या० प्रज्ञ० १३।४।४८१। "आकाशस्यावगाहः।" तत्त्वार्थसू० ५।१८। २ "आकाशधातो रूपधातौ आलोकतमःस्वभावत्वात्।" स्फुटार्थ अ० पृ० ५८। ३ ननु अखिला–ब०, ज०। "यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठं धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यतेआकाशस्यापि अन्य आधारः कल्प्यः तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्गः इति चेन्नैष दोषः; नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्यते सर्वतोऽनन्तं हि तत्।…" सर्वार्थसि० ५।१२। ४–देः एकात्म–श्र०। ५ "युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावो दृश्यते घटे रूपादयः शरीरे हस्तादय इति।…" सर्वार्थसि० ५।१२। ६ प्रायः अनयैव प्रक्रियया आकाशद्रव्यस्य चर्चा–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३१, प्रमेयक० पृ० १६३ उ०, तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ३५८, सन्मति० टी० पृ० ६७०, स्या० रत्ना० पृ० ९४१, इत्यादिषु द्रष्टव्या।

ननु कालद्रव्यस्य पराऽपरादिप्रत्ययलक्षणाल्लिङ्गात् प्रसिद्धेः कथमघटमानता ? तथाहि–

'पराऽपरादिप्रत्ययाल्लिङ्गात् अस्ति नित्यः एकः विभुश्च कालः' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

दिग्देशकृतपरापरादिप्रत्ययविपरीताः परापरादिविशिष्टप्रत्ययाः विशिष्टकारणपूर्वकाः, विशिष्टप्रत्ययत्वात्, यो विशिष्टप्रत्ययः स विशिष्टकारणपूर्वको दृष्टः यथा 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययः, विशिष्टाश्च एते परा-ऽपर-[1]यौगपद्या-ऽयौगपद्य-चिर-क्षिप्रप्रत्यया इति। पराऽपरयोर्हि दिग्-देशकृतयोर्व्यतिकरोऽत्र [2]दृश्यते–यत्रैव हि दिग्-देशभागे स्थिते पितरि उत्पन्नं परत्वम् तत्रैव स्थिते पुत्रेऽपरत्वम्, यत्र च स्थिते पुत्रेऽपरत्वमुत्पन्नम् तत्रैव स्थिते पितरि परत्वमुत्पद्यमानं दृष्टम् इति। अतः दिग्देशाभ्याम् अन्यन्निमित्तान्तरम् अत्र प्रत्यये अभ्युपगन्तव्यम्, तदन्तरेण तद्व्यतिकराऽनुपपत्तेः। न च पराऽपरादिप्रत्ययानाम् आदित्यादिक्रिया वलिपलितादिकं वा निमित्तं युक्तम्; तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् पटादिप्रत्यय[3]वत्। त[4]था च सूत्रम्– "*अपरस्मिन् परं युगपदयुगपच्चिरं क्षिप्रम् इति काललिङ्गानि*" [वै० सू० २।२।६]। तल्लिङ्गाऽविशेषाद् विशेषलिङ्गाऽभावाच्च आकाशवत् तस्य एकत्व-नित्यत्व-विभुत्वादयो धर्माः प्रतिपत्तव्याः। तथाभूतस्य च कालद्रव्यस्य इतरस्माद् भेदे 'कालः' इति वा व्यवहारे साध्ये पराऽपरादिप्रत्यय एव लिङ्गम्; तथाहि–का[5]लः इतरस्माद् भिद्यते, 'कालः' इति वा व्यवहर्त्तव्यः, पराऽपरादिप्रत्ययलिङ्गत्वात्, यस्तु न इतरस्माद्भिद्यते 'कालः' इति वा न व्यवह्रियते नाऽसौ उक्तलिङ्गः यथा पृथिव्यादिः, तथा च कालः, तस्मात्तथा इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[6]–'पराऽपर' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतः अतो

षट्पदार्थपरीक्षायां कालस्य नित्यैकनिरंशरूपतानिरसनपुरस्सरा अणुरूप-अनेकद्रव्यत्वसिद्धिः–

लिङ्गात् कालः किम् एकद्रव्यस्वरूपः, अनेकद्रव्यस्वरूपो वा साध्येत ? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; नित्यनिरंशैकरूपतया विचार्यमाणस्य अस्यानुपपद्यमानत्वात्। यद् यद्रूपतया विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत् तद्रूपतया अभ्युपगन्तव्यम् यथा जगत् ब्रह्माद्यद्वैतरूपतया, नित्यनिरंशैकरूपतया विचार्यमाणो नोपपद्यते च काल इति। न चेदमसिद्धम्; तत्र तद्रूपतायाः परस्परविलक्षणपराऽपरप्रत्ययादिका[7]र्यभेदाऽनुपपत्त्या अतीतादितद्रूपभेदाऽनुपपत्त्या च अनुपपद्यमानत्वात्। नहि सर्वथा नित्यस्य निरंशस्य एकस्वभावस्य च अर्थस्य अनित्य-विभिन्नदेशानेकस्वभावकार्यकारित्वं घटते; ब्रह्मणोऽप्येवंविधस्य अनेकग्रामारामादि-

१–यौगपद्यचिर–ब०, ज०। २ "यत्र हि दिग्विवक्षयोत्पन्नं परत्वं तत्रैवापरत्वं यत्रैवापरत्वं तत्रैव परत्वमुत्पद्यमानं दृष्टम्।···" प्रश० व्यो० पृ० ३४३। ३–यलिंगत्ववत् श्र०। ४ तथा सू–आ०, ब०, ज०। ५ "काल इतरस्माद् भिद्यते···व्यवहारो वा साध्यते विवादापन्नं काल इति व्यवहर्त्तव्यम् परापरव्यतिकरादिलिङ्गत्वात्।···" प्रश० व्यो० पृ० ३४२। ६ पृ० २५१ पं० १। ७ "निरंशैकस्वभावत्वात् पौर्वापर्य्यायसंभवः। तयोः सम्बन्धिभेदाच्चेदेवं तौ निष्फलौ ननु॥ ६३०॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० १६९ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ८९२। ८–त्यावि–आ०।

कार्यकर्तृत्वाऽनुषङ्गतः तदद्वैतसिद्धिप्रसङ्गात्। 'विचित्रसहकारिवशात् तथाविधस्यापि तत्कर्तृत्वाऽविरोधः' इत्यपि अन्यत्राऽविशिष्टम्, अविद्यादेः सहकारिणो ब्रह्मण्यपि संभवात्। न च स्वरूपमभेदयतां सहकारित्वं संभवति इत्युक्तम् ईश्वरपरमाणुविचारप्रक्रमे। अतोऽत्र यौगपद्यादिप्रत्ययाऽनुत्पत्तिरेव, यत् खलु कार्यजातम् एकस्मिन् काले कृतम् तद् 'युगपत्कृतम्' इत्युच्यते, कालस्य च नित्यैकत्वादिरूपत्वे तदुत्पाद्यत्वेन कार्याणाम् एकदैवोत्पत्तिप्रसङ्गान्न किञ्चिद् अयुगपत्कृतं स्यात्।

चिर-क्षिप्रव्यवहाराऽभावश्च; यद्धि बहुना कालेन कृतं तत् 'चिरेण कृतम्' इत्युच्यते, यच्च स्वल्पेन कृतं तत् 'क्षिप्रं कृतम्' इति, तच्चैतदुभयं कालस्य सर्वथा नित्यादिरूपतायां दुर्घटम्। ननु कालस्य तद्रूपतायां सत्यामपि उपाधिभेदाद् भेदोपपत्तेर्न यौगपद्यादिप्रत्ययाभावः, तदुक्तम्– "*मणिवत् पाचकवद्वा उपाधिभेदात् कालभेदः*[3]" [ ] इति; तदप्यसमीक्षिताऽभिधानम्; यतः अत्र उपाधिभेदः कार्यभेद एव, स च 'युगपत्कृतम्' इत्यत्राप्यस्त्येव इति किमित्ययुगपत्प्रत्ययो न स्यात्? अथ क्रमभावी कार्यभेदः कालभेदव्यवहारहेतुः; अथ कोऽस्य क्रमभावः? युगपदनुत्पादश्चेत्; ननु 'युगपदनुत्पादः' इत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः? एकस्मिन् कालेऽनुत्पादश्चेत्; नन्वयम् इतरेतराश्रयः–यावद्धि कालस्य भेदो न सिद्ध्यति न तावत् कार्याणां भिन्नकालोत्पादलक्षणः क्रमः सिद्ध्यति, यावच्च कार्याणां तथाविधः क्रमो न सिद्ध्यति न तावत् कालस्य उपाधिभेदाद् भेदः सिद्ध्यति। ततः स्वरूपत एव कालस्य भेदोऽभ्युपगन्तव्यः, तथा च 'एककालमिदम्, चिरोत्पन्नम्, अनन्तरोत्पन्नम्' इत्यादिव्यवहारः सुघटः, नान्यथा।

एतेन परापरव्यतिकरोऽपि चिन्तितः, सर्वथा नित्यादिस्वभावे काले तस्याप्यनुपपद्यमानत्वात्। यथैव हि भूम्यवयवैः आलोकाऽवयवैर्वा बहुभिरन्तरितं वस्तु 'विप्रकृष्टम्, परम्' इति च उच्यते स्वल्पैस्तु अन्तरितं 'सन्निकृष्टम्, अपरम्' इति च, तथा बहुभिः क्षणैः अहोरात्रादिभिश्च अन्तरितम् 'विप्रकृष्टम्, परम्' इति च उच्यते स्वल्पैस्तु अन्तरितम् 'सन्निकृष्टम्, अपरम्' इति च। बहु-अल्पभावश्च गुरुत्व-परिमाणादिवद् अपेक्षानिबन्धनः कालैकत्वे सर्वथा दुर्घटः। यत् परापरादिप्रत्ययहेतुः तद् अनेकम् यथा भूम्यादिप्रदेशाः, पराऽपरादिप्रत्ययहेतुश्च काल इति।

यच्चान्यदुक्तम्[4]–'तल्लिङ्गाऽविशेषात्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; तदविशेषस्य असिद्धत्वात्। नहि यौगपद्यादिप्रत्ययाः तल्लिङ्गभूताः स्वरूपतोऽन्योन्यमविशिष्टाः, परस्परस्वरूपविविक्ततया तेषां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। प्रत्येकमपि च एषां विशिष्टताऽनुभूयत एव, नहि 'युगपद्भुक्ताः युग-

---

१–स्य नि–ब०, ज०, आ०। २ क्षिप्रकृतम् आ०। ३ "उपाधिभेदान्मणिवत् पाचकवद्वा नानात्वोपचारः।" प्रश० भा० पृ० ६४। "*यथा मणेः* स्वरूपापरित्यागेनैव उपाधिभेदादुपचर्यते नानात्वं पीतो रक्त इति'''यथा वा स्वरूपापरित्यागेनैव पुरुषस्य नानाक्रियावशात् पाचकादिभेदः तद्वदिहापि।'''" प्रश० व्यो० पृ० ३५१। प्रश० कन्द० पृ० ६६। ४ पृ० २५१ पं० १२।

पत्सुप्ताः स्थिता गता वा' इत्यादौ तत्प्रत्ययानामविशेषोऽस्ति प्रतीतिविरोधात्। अस्तु वा तत्प्रत्ययाऽविशेषः; तथापि अतः कालस्यैकत्वाऽभ्युपगमे गुरुत्वादिप्रत्ययाऽविशेषात् गुरुत्वपरिमाणादेरपि एकत्वप्रसङ्गः तुल्याऽऽक्षेपसमाधानत्वात्। ततो गुरुत्व-परिमाणादेः अनेकगुणरूपतावत् कालस्य अनेकद्रव्यरूपता अभ्युपगन्तव्या।

नित्य-निरंशैकद्रव्यरूपत्वे चास्य अर्थानां भूत-भविष्यत्-वर्तमानत्वं दुर्घटम्, अतीताऽनागत-वर्त्तमानकालभेदाऽभावात्, सिद्धे हि तद्भेदे तत्सम्बन्धादर्थानां तथा व्यपदेशः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। न चास्य तत्सिद्धिर्घटते, नित्य-निरंशैकरूपत्वात्, यद् एवंविधम् न तत्र अतीतादिस्वरूपभेदः यथा परमाणौ, नित्यनिरंशैकरूपश्च भवद्भिः परिकल्पितः काल इति।

अस्तु वा तत्र तद्भेदः; तथापि असौ स्वतः, अपराऽतीतादिकालसम्बन्धात्, अतीतादिक्रियासम्बन्धाद्वा स्यात्? न तावत् स्वतः; निरंशत्व-भेदरूपत्वयोर्विरोधात्। नाप्यपराऽतीतादिकालसम्बन्धात्; तस्य एकरूपतया अपरकालस्यैव असंभवात्, संभवे वा अनवस्था, तदतीतत्वादेरपि अपराऽतीतादिकालसम्बन्धेनैव उपपत्तेः। अथ अतीतादिक्रियासम्बन्धात् तस्य अतीतादित्वम्; ननु क्रियाणां कुतः अतीतादिरूपतासिद्धिः–अपराऽतीतादिक्रियासम्बन्धात्, तथाविधकालसम्बन्धाद्वा? प्रथमविकल्पे अनवस्था। द्वितीयविकल्पे तु अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि क्रियाणामतीतादित्वे तत्सम्बन्धात् कालस्य अतीतादित्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्सम्बन्धात् तासां तत्सिद्धिरिति।

भवतु वा कुतश्चित् तत्र अतीतादिभेदसिद्धिः; तथापि कालस्य सर्वथैकत्वप्रतिज्ञाने स्ववचनविरोधः, स्ववाचैव अस्य अतीतादिरूपतया भेदप्रतिपादनात्। लोकविरोधश्च; न खलु लौकिका अतीतादिरूपस्य पूर्वाह्ण-मध्याह्न-अपराह्णस्वभावस्य शीत-उष्ण-वर्षास्वरूपस्य च कालस्य एकत्वं प्रतिपद्यन्ते, प्रत्येकं तस्य तैर्भेदाऽभ्युपगमात्। अनुमानविरोधश्च; तथाहि–यत् सूक्ष्मेतरधर्माऽध्यस्तं द्रव्यम् तदनेकम् यथा पृथिव्यादि, सूक्ष्मेतरधर्माऽध्यस्तञ्च कालद्रव्यम् इति। यथैव हि पृथिव्यादिद्रव्याणां परमाणु-इतररूपतया, जीवद्रव्याणाञ्च कुन्थुगजादिजीवद्रव्यप्रभेदस्वभावतया सूक्ष्मेतरधर्माऽध्यस्तत्वाद् अनेकद्रव्यत्वम्, तथा कालद्रव्यस्यापि समय-मुहूर्त्तादितद्विशेषाऽपेक्षया तद्धर्माध्यस्तत्वसंभवात् अनेकद्रव्यत्वं प्रतिपत्तव्यम्। मुख्येतरविकल्पसंभवाच्च; न हि समय-आवलिकादिव्यवहारकालो मुख्यकालद्रव्यमन्तरेण उपपद्यते यथा मुख्यसत्त्वमन्तरेण क्वचिदुपचरितं सत्त्वम्।

---

१ "तद्धि किम् अपरातीतादिकालसम्बन्धात्, तथाभूतपदार्थक्रियासम्बन्धाद्वा स्यात्, स्वतो वा? प्रथमपक्षे अनवस्था।..." प्रमेयक० पृ० १४५ पू०। सन्मति० टी० पृ० ६७१। स्या० रत्ना० पृ० ८९४। २ "समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिभिर्निर्वर्त्यमानानां च पाकानां समयः पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढिसद्भावेऽपि समयः कालः ओदनपाककालः इत्यध्यारोप्यमाणः कालव्यपदेशः तद्व्यपदेशनिमित्तस्य मुख्यस्य कालस्य अस्तित्वं गमयति। कुतः? गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्।..." सर्वार्थसि० ५।२२।

स च मुख्यकालः अनेकद्रव्यम्, प्रत्याकाशप्रदेशं व्यवहारकालभेदाऽन्यथानुपपत्तेः। प्रत्याकाशप्रदेशविभिन्नो हि व्यवहारकालः कुरुक्षेत्र-लङ्काऽऽकाशप्रदेशयोः दिवसादिभेदाऽन्यथाऽनुपपत्तेः। ततः प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालस्य अणुरूपतया भेदसिद्धिः। तदुक्तम्–

"लोयागासपयेसे[3] एक्किक्के जे ठिया हु एक्किक्का।
रयणाणं रासीविव ते कालाणू मुणेयव्वा॥" [ ] इति।

'प्रमाणापेक्ष एव अयम् अतीतादिव्यवहारः न तु कालकृतः' इति कालद्रव्याऽभाववादिनः पूर्वपक्षः—

ननु कालद्रव्यस्य विचार्यमाणस्य स्वरूपत एव असंभवात् कस्य एकद्रव्यत्वप्रतिक्षेपेण अनेकद्रव्यत्वं प्रतिपाद्यते। नहि अतीतादिभेदभिन्नः कालः संभवति यत्सम्बन्धादर्थानामतीतादित्वं स्यात्; स्वतः परतो वा अस्य तद्भेदाऽनुपपत्तेः? स्वतो हि कालस्य अतीतादित्वे अर्थानामपि स्वत एव तदस्तु अलं कालकल्पनया। परतोऽपि अतीतादिकालान्तराभिसम्बन्धात्, अतीतादिक्रियाभिसम्बन्धाद्वा तस्य अतीतादित्वाऽभ्युपगमे प्रागुक्तदोषाऽनुषङ्गः। अतः प्रमाणाऽपेक्ष[4] एवायमतीतादिव्यवहारः;

---

१ "नानाद्रव्यं कालः प्रत्याकाशप्रदेशं युगपद्व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। प्रत्याकाशप्रदेशभिन्नो व्यवहारकालः सकृत् कुरुक्षेत्राकाशलङ्काकाशदेशयोः दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः।···" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३९९। २ "अनेकद्रव्यत्वे सति किमस्य प्रमाणम्?···उक्तं च–लोयायास पयेसे···ते कालाणू असंखदव्वाणि।" सर्वार्थसि० ५।३९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३९९। बृहद्द्रव्यसं० गाथा २२। श्वेताम्बराणां कालद्रव्यविषये मतभेदः; तथाहि–"कालश्च इत्येके" तत्त्वार्थसू० ५।३८। "एके तु आचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।" तत्त्वार्थाधि० भा० ५।३८। "तुशब्दो विशेषपरिग्रहार्थः, स च विशेषो भेदप्रधानो नयः तद्बलेन कालोऽपि, अपिशब्दः चशब्दार्थः 'कालश्च द्रव्यान्तरमागमे निरूपितम्' इति कथयन्ति। 'कति णं भन्ते दव्वा पण्णत्ता? गोयमा छद्दव्वा पण्णत्ता, तं जहा धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए अद्धा समएअ। (अनुयोगद्वा० द्रव्यगुणपर्यायनामसू० १२४) "विनिवृत्तौ वा तुशब्दः। कस्य व्यावर्त्तकः? धर्मास्तिकायादिपञ्चकाऽव्यतिरिक्तकालपरिणतिवादिनो द्रव्यनयस्य इति···यतः तत्प्रतिद्वन्दिनयानुसारिसूत्रमपरमागमे अस्ति–'किमिदं भन्ते कालोत्ति पवुच्चदि? गोयमा–जीवा चेव अजीवा चेव'। इदं हि सूत्रम् अस्तिकायपञ्चकाऽव्यतिरिक्तकालप्रतिपादनाय तीर्थकृतोपादेशि जीवाजीवद्रव्यपर्यायः कालः इति सूत्रार्थः।" तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४३०–३२। "कालद्रव्यस्य नोक्तं प्रदेशपरिमाणं तत्र तद्विवक्षया तु इदमुच्यते–सोऽनन्तसमयः। (तत्त्वार्थाधि० सू० ५।३९)" इत्यादिना कालद्रव्यस्य अनन्तप्रदेशित्वमुक्तं तत्त्वार्थभाष्यटीकायाम्। हेमचन्द्राचार्यास्तु दिगम्बरमतमेवानुसरन्ति; तथाहि–"लोकाकाशप्रदेशस्थाः भिन्नाः कालाणवस्तु ये। भावानां परिवर्त्ताय मुख्यः कालः स उच्यते॥" योगशा०। उक्तमतान्तराणां विशेषपरिशीलनाय–धर्मसं०, द्रव्यानुयोगत० अ० १० श्लो० १०–१८, युक्तिप्रवो० गा० २३। इत्यादयो द्रष्टव्याः। ३ लोयायासपएसे श्र०। ४ "विशिष्टसमयोद्भूतमनस्कारनिबन्धनम्। परापरादिविज्ञानं न कालान्न दिशश्च तत्॥ ६२९॥" "विशिष्टसमयः पौर्वापर्यादिदिनोत्पन्नेष्वर्थेषु पूर्वापरादिसंकेतः तदुद्भूतो मनस्कारः आभोगः स निबन्धनमस्येति तत्तथोक्तम्। अत एव नेतरेतराश्रयदोषः; विशिष्टपदार्थसंकेतनिबन्धनत्वादस्य ज्ञानस्येति।" तत्त्वसं० पं० पृ० २०९।

प्रमाणेन हि युगपदनुभूयमानं वस्तु 'वर्त्तमानम्' इत्युच्यते, अयुगपदनुभूयमानं तु पूर्वक्षणभावि 'भूतम्' उत्तरक्षणभावि तु 'भविष्यत्' इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'कालद्रव्यस्य' इत्यादि; तदविचारितरमणीयम्;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरा अनेकद्रव्यरूपस्य वास्तवकालद्रव्यस्य सिद्धिः—

यतः कुतोऽस्य स्वरूपत एव असंभवः–ग्राहकप्रमाणाऽभावात्, अतीतादिभेदाऽसंभवाद्वा? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; पराऽपरादिप्रत्ययलिङ्गप्रभवाऽनुमानस्यैव तत्सद्भावाऽऽवेदकप्रमाणस्य सद्भावात्। नहि तत्प्रत्यया निर्निमित्ताः कादाचित्कत्वात्, नाप्यविशिष्टनिमित्ता विशिष्टप्रत्ययत्वात्, नापि दिग्-गुण-जातिनिमित्ताः; तज्जन्यप्रत्ययवैलक्षण्येन उत्पत्तेः। तथा हि–अपरदिग्व्यवस्थितेऽप्रशस्तेऽधमजातीये स्थविरपिण्डे 'परोऽयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते, परदिग्व्यवस्थिते च उत्तमजातीये प्रशस्ते यूनि पिण्डे 'अपरोऽयम्' इति।[2]

अथ आदित्यादिक्रिया तन्निमित्तम्–जन्मनो[3] हि प्रभृति एकस्य आदित्यपरिवर्तनानि भूयांसि इति परत्वम्, अन्यस्य च अल्पीयांसि इति अपरत्वम्। नन्वेवं कथं यौगपद्यादिप्रत्ययप्रादुर्भावः स्यात् कालाऽतिरिक्तस्य निमित्तस्य अत्र विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात्? तद्धि आदित्यपरिवर्तनं स्यात्, क्रियाविशेषः, कर्तृकर्मणी वा? न तावद् आदित्यपरिवर्त्तनम्; एकस्मिन्नपि आदित्यपरिवर्त्तने सर्वेषामुत्पादात्। आदित्यस्य हि परिवर्त्तनं मेरुप्रादक्षिण्येन परिभ्रमणम् अहोरात्रमभिधीयते, तस्मिन्नेकस्मिन्नपि यौगपद्यादिप्रतीतिविषयभूतानामर्थानामुत्पादः प्रतीयते एव। तथाव्यपदेशा[4]ऽभावाच्च; 'युगपत्कालः' इति हि व्यपदेशः, न पुनः 'युगपदादित्यपरिवर्तनम्' इति।

क्रियाविशेषोऽपि–आदित्यपरिवर्त्तनरूपः, घटिकादौ उदकसञ्चारादिरूपो वा? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; प्रागुक्तदोषाऽनुषङ्गात्। द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; तस्य तदनुमापकत्वात्; तथाहि–'एतावति तद्घटिकायाम् उदकसञ्चारे एतावान् कालः' इति क्रियाविशेषः कालाऽनुमापकः, न पुनः स एव कालः। किञ्च, तत्क्रियाया[5] क्रियारूपतया तदन्यक्रियावत्

---

१ पृ० २५४ पं० ६। २ "तथा चाधमजातीये दिग्विवक्षया परस्मिन् स्थविरपिण्डे वलिपलितादिसान्निध्यमपेक्षमाणस्य उत्कृष्टजातीयं युवानमवधिं कृत्वा इतरस्मात् परोऽयं विप्रकृष्टोऽयमिति बुद्धिर्भवति।..." प्रश० व्यो० पृ० ३४३। तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४२९। ३ "जन्मनः प्रभृत्येकस्य आदित्यपरिवर्त्तनानि भूयांसि इति परत्वम् अन्यस्य चाल्पीयांसीत्यपरत्वम्, अथादित्यपरिवर्त्तनमेवास्तु किं कालेनेति चेत्; न; युगपदादिप्रत्ययानुमेयत्वात्। नचादित्यपरिवर्त्तनादेव युगपदादिप्रत्ययाः संभवन्ति इति। एकस्मिन्नेवादित्यपरिवर्त्तने सर्वेषामुत्पादात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३४३। ४ "व्यपदेशाभावाच्च; युगपत्काल इति हि व्यपदेशो न युगपदादित्यपरिवर्त्तनमिति। न च क्रियैव काल इति वाच्यम्; युगपदादिप्रत्ययाभावप्रसङ्गात्।..." प्रश० व्यो० पृ० ३४३। ५ "क्रियामात्रमेव कालः तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न; तदभावे कालाभिधानलोपप्रसङ्गात्।..." तत्त्वार्थराज० पृ० २२८।

क्रियाप्रत्ययहेतुत्वं स्यात् न पुनः युगपदादिप्रत्ययहेतुत्वम्, 'युगपत् तद्रुदकसञ्चारः, क्रमेण तद्रुदकसञ्चारः' इति क्रियाविशेषोऽपि कालोपाधिक एव प्रतीयते तदन्यक्रियावत् तत्कथं स एव कालः स्यात्? तस्य च उक्तकार्यनिर्वर्त्तकस्य कालस्य 'क्रिया' इति नामान्तरकरणे नाममात्रमेव भिद्येत्।

अथ कर्तृ-कर्मणी एव यौगपद्यादिप्रत्ययस्य निमित्तम्; तदयुक्तम्; यतो यौगपद्यम् बहूनां कर्तृणां कार्ये व्यापारः 'युगपद् एते कुर्वन्ति' इति प्रतीतिसमधिगम्यः, बहूनां च कार्याणामात्मलाभः 'युगपद् एतानि कृतानि' इति प्रत्ययाधिरूढः; न चात्र कर्तृमात्रं कर्ममात्रं वा आलम्बनम् अतिप्रसङ्गात्, यत्र हि क्रमेण कार्यं जायते तत्रापि कर्तृ-कर्मणोः सद्भावात् स्यादेतद्विज्ञानम्, न चैवम्।

एतेन अयुगपत्प्रत्ययोऽपि चिन्तितः; न हि सोऽपि 'अयुगपद् एते कुर्वन्ति, अयुगपद् एतत्कृतम्' इत्यादिरूपोऽविशिष्टं कर्तृकर्ममात्रमालम्बते अतिप्रसङ्गादेव। अतः तद्विशेषणं कालोऽभ्युपगन्तव्यः, कथमन्यथा चिर-क्षिप्रव्यवहारोऽपि स्यात्? एक एव हि कर्ता किञ्चित्कार्यं चिरेण करोति व्यासङ्गाद् अनर्थित्वाद्वा, किञ्चित्तु क्षिप्रम् अर्थितया, तत्र 'चिरेण कृतम्, क्षिप्रं कृतम्' इति प्रत्ययौ विशिष्टत्वात् विशिष्टं निमित्तमाक्षिपतः इति कालसिद्धिः। तन्न ग्राहकप्रमाणाऽभावात् कालस्यासंभवः।

नापि अतीतादिभेदाऽसंभवात्; स्वरूपत एवास्य अतीतादिभेदसंभवात्, स्वपररूपयोः अतीतादिस्वरूपे स्वरूपतो नियतत्वेन अस्य तत्र परापेक्षाऽनुपपत्तेः। यद् यत्र स्वरूपतो नियतम् न (तत्) तत्र परमपेक्षते यथा स्वपररूपप्रकाशे प्रदीपः, स्वपररूपयोः अतीतादिस्वरूपे स्वरूपतो नियतश्च काल इति। न चैवम् अर्थानामपि स्वत एव अतीतादिस्वरूपभेदोऽस्तु इत्यभिधातव्यम्; प्रतिनियतस्वभावत्वाद् भावानाम्। न हि एकस्य स्वभावः सर्वस्य आपादयितुं युक्तः;

१-कार्यनिवर्त्तक-आ०, ब०, ज०, भां०। "यदि च कर्तृकर्मव्यतिरिक्ता विशिष्टप्रत्ययसम्पादिका क्रिया स्यात् संज्ञाभेदमात्रम्।…" प्रश० व्यो० पृ० ३४३। २-प्रत्ययनि-ब०, ज०। ३ इति सम-आ०, ब०, ज०। "बहूनां कर्तृणां कार्यकरणम् बहूनां कार्याणामात्मलाभ इति। तथाहि-युगपदेते कुर्वन्तीति कर्त्रालम्बनं ज्ञानं युगपदेतानि कृतानि इति कार्यालम्बनं च दृष्टम्। न चात्र कर्तृमात्रं कार्यमात्रं चालम्बनम् अतिप्रसङ्गात्। तथाहि यत्र क्रमेण कार्यं तत्रापि कर्तृकर्मणोः सद्भावात् स्यादेतद्विज्ञानम्। न चास्ति, कुतस्माद्? विशिष्टं कर्त्तारं कार्यं वाऽऽलम्ब्य उत्पद्यते विज्ञानमेतदिति ज्ञायते… ।" प्रश० व्यो० पृ० ३४३। प्रमेयक० पृ० १७० पू०। ४ कार्यमात्रं श्र०। ५ अयुगपदेतत् कु-आ०, ज०। ६ "तथैक एव कर्त्ता किञ्चित्कार्यं चिरेण करोति व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा, किञ्चित् क्षिप्रं तदर्थितया। तत्र चिरेण कृतं क्षिप्रं कृतमिति प्रत्ययो विलक्षणत्वाद् विलक्षणं कारणमाक्षिपति।…" प्रश० व्यो० पृ० ३४४। प्रमेयक० पृ० १७० पू०। तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४३०।

प्रदीपस्य स्वत एव स्वप्रकाशोपलम्भतो घटादीनामपि तथा[1] तत्प्रसङ्गात्, तथा च प्रतिनियतार्थस्वरूपव्यवस्थाविलोपः स्यात्।

यच्चान्यदुक्तम्[2]-'प्रमाणाऽपेक्ष एव' इत्यादि; तत्र किमिदं प्रमाणेन युगपदनुभूयमानत्वं नाम ? प्रमाणेन सह एककालतयाऽनुभूयमानत्वमिति चेन्न; स्ववचनविरोधाऽनुपङ्गात्, एवं वदता हि भवता स्ववचनेनैव कालः प्रतिपादितः, तदनभ्युपगमे 'एककालतया' इत्यभिधातुमशक्तेः, 'पूर्वक्षणभावि भूतम्' इत्यादिवचनाऽनुपपत्तेश्च, कालस्यैव क्षणाऽपरपर्यायेण अभिधानात्। अतः कालोपाधिकमेव इदं भावानां वर्त्तमानत्वादिकं स्वरूपं प्रमाणाऽपेक्षया व्यवह्रियते देशोपाधिकदूर-निकटादिस्वरूपवत्। कालाऽनभ्युपगमे लोकप्रतीतिविरोधश्च; लोके वसन्तादिकालप्रतीतिसद्भावात्, प्रतीयन्ते हि 'प्रतिनियत एव काले प्रतिनियता वनस्पतयः पुष्यन्ति' इत्यादिव्यवहारं कुर्वन्तो निखिलव्यवहारिणः, यथा 'वसन्तादिसमये[3] एव पाटलादयः' इति। एवं कार्यान्तरेष्वपि अभ्यूह्यम् 'प्रसवनकालमपेक्षते' इति व्यवहारात्, समयमुहूर्त्तादिव्यवहाराच्च तत्सिद्धिः। अतः सिद्धो वास्तवः कालः अनेकद्रव्यस्वभावः। तन्न परपरिकल्पितं कालद्रव्यमपि व्यवतिष्ठते; नापि दिग्द्रव्यम्।

'पूर्वाऽपरादिप्रत्ययलिङ्गात् प्रतीयमाना अस्ति दिक् पृथग् द्रव्यम्' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः-

नन्वस्य कालकृतपरापरादिप्रत्ययविपरीतपूर्वाऽपरादिप्रत्ययलिङ्गात् प्रतीयमानत्वात् कथमव्यवस्थितिः ? तथाहि-मूर्त्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तद्रव्यमवधिं[4] कृत्वा 'इदम् अतः पूर्वेण, दक्षिणेन, पश्चिमेन, उत्तरेण, पूर्वदक्षिणेन, दक्षिणाऽपरेण, अपरोत्तरेण, उत्तरपूर्वेण, अधस्तात्, उपरिष्टात्' इति अमी दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा 'दिक्' इति। तथा च सूत्रम्-"*अतः[5] इदम् इति यतः तद्दिशो लिङ्गम्।*" [वैशे० सू० २।२।१०] नहि इमे प्रत्यया निर्निमित्ताः कादाचित्कत्वात्। नापि अविशिष्टनिमित्ताः; विशिष्टप्रत्ययत्वात् 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययवत्। न च अन्योऽन्यापेक्षमूर्त्तद्रव्यनिमित्ताः; परस्पराश्रयत्वेन उभयप्रत्ययाऽभावाऽनुपङ्गात्। ततोऽन्यनिमित्तोत्पाद्यत्वाऽसंभवात् एते दिश एव अनुमापकाः। प्रयोगः-यदेतत् पूर्वाऽपरादिज्ञानं तत् मूर्त्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनम् तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् सुखादिप्रत्ययवत्। तथा, दिग्द्रव्यम्[6] इतरेभ्यो भिद्यते, 'दिग्' इति वा व्यवहर्त्त-

१ तथा प्रस-ब०, ज०। २ पृ० २५४ पं० १२। ३ "वसन्तसमय एव पाटलादिकुसुमानामुद्भवो न कालान्तर इत्येवं कार्यान्तरेष्वप्यूह्यं प्रसवकालमपेक्षते इति व्यवहारात् कारणत्वं कालस्य...।" प्रश० व्यो० पृ० ३४९। प्रमेयक० पृ० १७० पू०। ४-धिकृत्य ब०, ज०। "मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्त्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेन उत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति।" प्रश० भा० पृ० ६६। ५ "इत इदमिति यतः तद्दिश्यं लिङ्गम्।" वै० सू०। अकृतपाठस्तु-प्रमेयक० पृ० १७० पू०, सन्मति० टी० पृ० ६६९। ६ "तथा च दिगितरेभ्यो भिद्यते...।" प्रश० व्यो० पृ० ३५७।

व्यम् पूर्वादिप्रत्ययलिङ्गत्वात्, यत्तु न तथा न तत् पूर्वादिप्रत्ययलिङ्गम् यथा क्षित्यादि, तथा चेदम्, तस्मात्तथा इति। विभुत्व-एकत्व-नित्यत्वादयश्च अस्या धर्माः कालवद् अवगन्तव्याः। न च अस्या एकत्वे प्राच्यादिभेदव्यवहारो दुर्घटः; सवि[1]तुर्मेरुप्रदक्षिणमावर्त्तमानस्य लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशैः संयोगात् तस्य सुघटत्वादिति।

पूर्वोक्तदिग्द्रव्यप्रतिविधानपुरस्सरम् आकाशप्रदेशपङ्क्तेरेव पूर्वाऽपरादिप्रत्ययहेतुत्वप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[2]–'मूर्त्तेष्वेव द्रव्येषु' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतोऽमी प्रत्ययाः कार्यभूताः सन्तः किं कारणमात्रस्याऽनुमापकाः, दिग्द्रव्यलक्षणकारणविशेषस्य वा? प्रथमपक्षे कथमतो दिग्द्रव्यस्य सिद्धिः कारणमात्रस्यैव सिद्धेः? तत्र च सिद्धसा[3]ध्यता तेषाम् आकाशलक्षणकारणपूर्वकत्वाऽभ्युपगमात्, तस्यैव 'दिग्' इति नामान्तरकरणे नाम्नि एव विवादः नाऽर्थे, दिशः ततो द्रव्यान्तरत्वाऽसिद्धेः। एतेन द्वितीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः; दिग्द्रव्यस्य हि शशविषाणवत् सर्वथाऽसंभवे कथं तत्पूर्वकत्वं तत्प्रत्ययानां स्यात् यतस्ते तस्याऽनुमापकाः स्युः? न च तदसंभवे क्व प्राच्यादिव्यवहारः स्यात् इत्यभिधातव्यम्? [4]आकाशप्रदेशश्रेणिष्वेव आदित्योदयादिवशात् प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तेः, तथा च एषां न निर्हेतुकत्वम् नाप्यविशिष्टपदार्थहेतुकत्वं स्यात्। तथाभूतप्राच्यादिदिक्सम्बन्धाच्च मूर्त्तद्रव्येषु पूर्वाऽपरादिप्रत्ययविशेषस्य उत्पत्तेः न परस्परापेक्षया मूर्त्तद्रव्याण्येव तद्धेतवः, येन 'एकतरस्य पूर्वत्वाऽसिद्धौ अपरस्य अपरत्वाऽसिद्धिः, तदसिद्धौ च एकतरस्य पूर्वत्वाऽसिद्धिः' इति इतरेतराश्रयत्वेन उभयाऽभावः स्यात्।

ननु मूर्त्तद्रव्येषु पूर्वादिप्रत्ययस्य आका[5]शप्रदेशश्रेणिहेतुत्वे तत्र तत्प्रत्ययस्य किं हेतुत्वं स्यादिति चेत्? 'स्वरूपहेतुत्वमेव' इति ब्रूमः। तत्प्रदेशपङ्क्तेः स्व-पररूपयोः पूर्वाऽपरादिप्रत्ययहेतुस्वरूपत्वात्, प्रकाशस्य स्वपररूपयोः प्रकाशहेतुस्वरूपवत्, कथमन्यथा दिक्प्रदेशेष्वपि तत्प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्? तत्र हि पूर्वाऽपरादिप्रत्ययोत्पत्तिः—स्वभावतः, दिग्द्रव्यान्तराऽपेक्षया, परस्पराऽपेक्षया वा स्यात्? यदि स्वभावतः; तदा तत्प्रत्ययपरावृत्तिर्न स्यात्, यत्र हि दिक्प्रदेशे पूर्वप्रत्ययहेतुत्वं तत्र तदेव न अपरप्रत्ययहेतुत्वं स्यात्, यत्र च तत् न तत्र पूर्व-

---

१ "आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची।" "तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च।" "एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि।" वै० सू० २।२।१४, १५, १६। "मेरुं प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगविशेषाः लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधाः संज्ञाः···।" प्रश० भा० पृ० ६७। २ पृ० २५७ पं० १५। ३ "···अतः कारणमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता विशेषेण साध्ये अनुमानबाधा···।" तत्त्वसं० पं० पृ० २०९। सन्मति० टी० पृ० ६७०। स्या० रत्ना० पृ० ८९८। ४ "दिशोऽपि आकाशेऽन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः।···" सर्वार्थसि०, राजवा० ५।३। प्रमेयक० पृ० १७० उ०। स्या० रत्ना० पृ० ८९८। ५–काशश्रेणि–श्र०।

प्रत्ययहेतुत्वमिति । अस्ति च तत्परावृत्तिः, यत्र हि दिक्प्रदेशे विवक्षितप्रदेशाऽपेक्षया पूर्वप्रत्ययहेतुत्वं दृष्टम् तत्रैव अपरप्रदेशाऽपेक्षया अपरप्रत्ययहेतुत्वम् । तदुक्तम्–

"[2]प्राग्भागो यः सुराष्ट्राणां मालवानां स दक्षिणः ।
प्राग्भागः पुनरेतेषां तेषामुत्तरतः स्थितः ॥" [ ] इति ।

दिग्द्रव्यान्तराऽपेक्षया तत्र तत्प्रत्ययहेतुत्वे तु अनवस्था–तत्रापि तत्प्रत्ययहेतुत्वस्य अपरदिग्द्रव्यहेतुत्वप्रसङ्गात् । परस्परापेक्षया च तत्प्रदेशानां तत्प्रत्ययहेतुत्वे अन्योन्याश्रयानुषङ्गः । 'सवितुर्मेरुप्रदक्षिणमावर्त्तमानस्य' इत्यादिन्यायेन दिग्द्रव्ये प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ तत्प्रदेशपङ्क्तिष्वपि अत एव तद्व्यवहारोपपत्तेः अलं दिग्द्रव्यकल्पनया ।

अन्यथा देशद्रव्य[3]स्यापि कल्पनाप्रसङ्गः, 'अयमतः पूर्वो देशः' इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमन्तरेणाप्यनुपपत्तेः, तथा च 'नव द्रव्याणि' इति द्रव्यसंख्याव्याघातः स्यात् । पृथिव्यादिरेव देशद्रव्यमित्यनुपपन्नम्; तस्य पृथिव्यादिप्रत्ययहेतुत्वेन 'अयमतः पूर्वो देशः' इत्यादिप्रत्ययहेतुत्वाऽनुपपत्तेः । अथ पूर्वादिदिक्कृतः पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्ययः; तदेतन्मनोरथमात्रम्; दिशः गगनप्रदेशपङ्क्तेः उक्तन्यायेन अर्थान्तरत्वाऽसिद्धेः । नन्वेवम् आदित्योदयादिवशादेव आकाशप्रदेशपङ्क्तिष्विव पृथिव्यादिष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धेः आकाशप्रदेशश्रेणिकल्पनापि अफला; इत्यप्यसमीक्षिताऽभिधानम्; 'पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादयः' इति आधाराऽऽधेयव्यवहारोपलम्भतः पृथिव्याद्यधिकरणभूतायाः तत्प्रदेशपङ्क्तेः परिकल्पनस्य सफलत्वात्, प्रसाधितश्च आकाशं सुदृढप्रमाणेन प्राक् इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन ।

एतेन 'यदेतत्पूर्वाऽपरादिज्ञानम्' इत्याद्यनुमानम्[5]; तत्प्रत्युक्तम्; तज्ज्ञानस्य मूर्तद्रव्यव्यतिरिक्त-आकाशप्रदेशपङ्क्तिलक्षणपदार्थनिबन्धनतया दिग्द्रव्यनिबन्धनत्वाऽनुपपत्तेः । अतो दिग्द्रव्यस्य कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेः 'दिग्द्रव्यम् इतरेभ्यो भिद्यते' इत्यादि वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यमित्युपेक्षते । तन्न परपरिकल्पितं दिग्द्रव्यमपि व्यवतिष्ठते । नापि आत्मद्रव्यम्; तस्यापि सर्वगतत्वादिधर्मोपेतस्य कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः ।

'अस्त्यात्मा व्यापकः शरीरपरिमाणत्वे दोषसंभवात् स च प्रतिशरीरं भिन्नः' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

नन्विदमयुक्तम्; तद्धर्मोपेतत्वस्य अत्र अनुमानतः प्रसिद्धेः । तथाहि–आत्मा व्यापकः, अणुपरिमाणाऽनधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यद् यदेवम् तत् तथा यथा आकाशम्, तथा च आत्मा, तस्मात्तथा इति । न चास्य अणुपरिमाणानधिकरणत्वमसिद्धम्; तथाहि–अणुपरिमाणाऽनधिकरण आत्मा अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाऽधिकरण-

१ "व्यत्ययदर्शनाच्च; यैवैकत्र पूर्वा दिक् सैवान्यत्र दक्षिणा इति गृह्यते 'प्राग्भागो यः सुराष्ट्राणां मालवानां स दक्षिणः' इति ।···" न्यायमं० पृ० १४१ । २ उद्धृतश्चैतत्–न्यायवि० टी० पृ० ५६७ पू० । स्या० रत्ना० पृ० ८५८ । ३ "देशद्रव्यस्यापि कल्पनाप्रसङ्गात्··· ।" प्रमेयक० पृ० १७० उ० । स्या० रत्ना० पृ० ८९९ । ४–व्यादिष्वधि– ब०, ज० । ५ पृ० २५७ पं० २३ ।

त्वात् घटादिवत्। तथा, नित्यद्रव्यम् आत्मा अस्पर्शवद्द्रव्यत्वाद् आकाशवत्। यदि वा, नित्य आत्मा क्षणिकविशेषगुणाऽऽधारत्वात् आकाशवत्। तथा, द्रव्यम् आत्मा गुणवत्त्वात् घटवत्।

यदि च आत्मा व्यापको न स्यात्, तदा देवदत्ताङ्गनाङ्गस्य द्वीपान्तरवर्त्तिमणिमुक्ताफलादेश्च देवदत्तोपकारकस्य उत्पादो न स्यात्, तस्य तद्गुणपूर्वकत्वात्, तथाहि–देवदत्ताऽङ्गनाद्यङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकम् कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् ग्रासादिवत्। कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं कार्यजन्मनि व्याप्रियते नान्यथा अतिप्रसङ्गात्, अतः तदङ्गनाङ्गादिप्रादुर्भावदेशे तत्कारणवत् तद्गुणसिद्धिः, यत्र च गुणाः प्रतीयन्ते तत्र तद्गुण्यपि अनुमीयते तमन्तरेण तेपामनुपपत्तेः।

स्वाश्रयसंयोगाऽपेक्षाणामाश्रयान्तरे कर्माऽऽरम्भकत्वोपपत्तेश्च; तथाहि–अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात् प्रयत्नवत्। न चास्य क्रियाहेतुगुणत्वमसिद्धम्; 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनम् अणु-मनसोश्च आद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम् कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् पाण्यादिपरिस्पन्दवत्' इत्यनुमानतः तत्प्रसिद्धेः। नाप्येकद्रव्यत्वम्; तथाहि–एकद्रव्यम् अदृष्टम् विशेषगुणत्वात् शब्दवत्। 'एकद्रव्यत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारः; तन्निवृत्त्यर्थं 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युक्तम्। 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने च हस्तमुशलसंयोगेन स्वाश्रयाऽसंयुक्तस्तम्भादिक्रियाहेतुनाऽनेकान्तः; तत्परिहारार्थं 'एकद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणम्। 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने च स्वाश्रयाऽसंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुना अयस्कान्तेन अनेकान्तः; तन्निवृत्त्यर्थं 'गुणत्वात्' इत्युक्तम्।

किञ्च, आत्मनोऽसर्वगतत्वे दिग्-देशान्तर्वर्त्तिभिः परमाणुभिः युगपत्संयोगाभावः, अतश्च आद्यकर्माऽभावः, तदभावाद् अन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सम्बन्धस्य च अभावात् अनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। अस्तु वा यथाकथञ्चित् शरीरोत्पत्तिः; तथापि सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन् आत्मा सावयवः स्यात्, सावयवत्वे चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः। कार्यत्वे चासौ समानजातीयैः, भिन्नजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत ?

१ अथवा ब०, ज०। २–णाधिकरणत्वात् ब०, ज०, भां०, श्र०। ३ "देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतकार्याः तदुपगृहीताश्च शरीरादयः कार्यत्वे सति तदुपभोगसाधनत्वात् गृहवदिति।"…प्रश० किरणा० पृ० १४९। ४ "तथा धर्माधर्मयोः आत्मगुणत्वात् तदाश्रयस्य अव्यापकत्वे न स्यात् अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणुमनसोस्त्वाद्यं कर्म इति तयोः स्वाश्रयसंयोगापेक्षित्वात्। यथा प्रयत्नो हस्तकर्मणि आत्मसंयोगापेक्षः तथा धर्माधर्मौ आत्मसंयोगं विना न कर्म कुर्याताम् आत्मगुणत्वात्। नच तत्रान्यत् कारणमस्ति इति स्वाश्रयसंयोगापेक्षोऽदृष्ट एव कारणम् अतो व्यापकत्वाच्च परममहत्त्वम्…।" प्रश० व्यो० पृ० ४११। प्रश० कन्दली पृ० ८८। ४ आद्यकर्माभावादन्त्यसंयोगस्य आ०।

न तावद् भिन्नजातीयैः ; विजातीयानामनारम्भकत्वात् । अथ समानजातीयैः ; ननु समानजातीयत्वं[1] तेषाम् आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव स्यात्, तथा च 'आत्मभिः आत्मा आरभ्यते' इत्यायातम्, एतच्चायुक्तम्; एकत्र शरीरे अनेकात्मनाम् आत्मारम्भकाणामसंभवात् । संभवे वा प्रतिसन्धानाऽनुपपत्तिः, न हि अन्येन दृष्टम् अन्यः प्रतिसन्धातुमर्हति अतिप्रसङ्गात् । तदारभ्यत्वे चास्य घटवद् अवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशाद् विनाशः स्यात् ।

शरीरपरिमाणत्वे[2] च आत्मनो मूर्त्तत्वाऽनुषङ्गात् शरीरेऽनुप्रवेशो न स्यात् मूर्त्तस्य मूर्त्तेऽनुप्रवेशविरोधात्, ततो निरात्मकमेव अखिलं शरीरमनुपज्यते । कथं वा तत्परिमाणत्वे तस्य बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः स्यात्–तत्परिमाणपरित्यागात्, अपरित्यागाद्वा ? यदि परित्यागात्; तदा शरीरवत् तस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् परलोकाद्यभावाऽनुषङ्गः । अथ अपरित्यागात्; तन्न; पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत् तस्य उत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । तत्परिमाणत्वे चात्मनः शरीरच्छेदे छेदप्रसङ्ग इति ।

आत्मनो व्यापकत्वादिनिरसनपुरस्सरं शरीरपरिमाणत्वप्रसाधनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[3]–'आत्मा व्यापकः' इत्यादि; तदसमीचीनम्; प्रत्यक्षबाधितपक्षनिर्देशाऽनन्तरप्रयुक्तत्वेन[4] हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् । 'सुखी अहम्' इत्यादिप्रत्यक्षेण हि आत्मा गृह्यमाणः स्वशरीरे एव गृह्यते, न परशरीरे नाप्यन्तराले, अन्यथा सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तिः भोजनादिव्यवहारसङ्करश्च स्यात् ।

ननु च अव्यापकत्वेन आत्मनः प्रतिपत्तौ पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा युक्ता अनुष्णत्वे साध्ये अग्नेरुष्णत्वेन प्रतिपत्तिवत्, न चास्य तथा प्रतिपत्तिरस्ति नियतदेशाऽवच्छेदाऽभावादिति[5]; तदयुक्तम्; यतः कोऽयं तदवच्छेदाभावो नाम–नियतदेशाननुभवः, तदुल्लेखिशब्दाप्रयोगो वा ? तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; नियतदेशाऽनुभवस्य आत्मनि प्रतीयमानत्वात्, 'सुख्यहम्' इत्यादिप्रत्ययेन हि आत्मा सुखाद्यात्मकः शरीरप्रदेशे एवाऽनुभूयते, 'घटोऽयम्' इतिप्रत्ययेन पुरोदेशे पृथुबुध्नोदराद्याकारघटवत् । न खलु प्रत्यक्षेण वस्तु नियतदेशकालाकारानुभवव्यतिरेकेण अनुभवितुं शक्तम् अतिप्रसङ्गात् । द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः; यतो यदि नाम नियतदे-

१ सजातीयत्वं आ० । २ "अथ शरीरपरिमाणत्वादसिद्धमात्मनः परममहत्त्वं तथा च अल्पशरीरे अल्पो महति च महानात्मा···नन्वेतस्मिन् पक्षे सङ्कोचविकाशधर्मकत्वात् बालशरीरेऽप्यात्मनो विनाशे वृद्धावस्थायां नानात्मा सम्पद्यते इत्यन्यत्वे स्मरणं न स्यात् । न च पूर्वपरिमाणस्यानिवृत्तौ उत्तरपरिमाणेन शक्यं भवितुमिति पूर्वपरिमाणस्य आश्रयविनाशादेव निवृत्तिः ।···" प्रश० व्यो० पृ० ४११ । "एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् । शरीरपरिमाणतायां च सत्यां···घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत···समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः··· ।" ब्रह्मसू० शा० भा० २।२।३४ । ३ पृ० २५९ पं० २३ । ४ "न चास्य तदुपेतत्वमुपपद्यते प्रत्यक्षविरोधात्; प्रत्यक्षेण हि आत्मा···।" प्रमेयक० पृ० १७१ पू० । सन्मति० टी० पृ० १४२। स्या० रत्ना० पृ० ८९९ । ५–देशाव्यवच्छेदा–ब०, ज० ।

शोल्लेखिशब्दाऽप्रयोगः तथापि कथं प्रत्यक्षेण तदननुभवः ? नहि शब्दानुविद्धत्वं प्रत्यक्षस्य स्वरूपम्, येन तदभावे तस्य अर्थस्वरूपविवेच[1]कत्वाऽभावः स्यात्, तत्र तदनुविद्धत्वस्य प्रागेव कृ[2]तोत्तरत्वात्। अतः अनुभवोत्तरकालीन एव सर्वत्र शब्दप्रयोगः, अ[3]नुभूते हि अनेकधर्माध्यासिते वस्तुनि यत्रांशे अनुभव[4]प्रबोधनिबन्धनं सङ्केतस्मरणमुपजायते तत्रैव शब्दप्रयोगः नान्यत्र, तत्कथं तदप्रयोगात् तदनुभवाऽभावः ? नियतदेशोल्लेखिशब्दाऽप्रयोगात् देशनैयत्यस्य अननुभवे च काल-आकारनैयत्यस्याप्यननुभवः स्यात्, नहि 'घटोऽयम्, सुख्यहम्' इत्यादिबहिरन्तःप्रतीतौ देश-काल-आकारनैयत्योल्लेखिनाम् अत्र-इदानीम्-ईदृशशब्दानां प्रयोगोऽस्ति। अतः अत्र प्रतीतौ प्रतिनियतस्य वस्तुस्वरूपस्य कस्यचिदपि प्रतिभासाऽभावात् खपुष्पप्रतीतितो नाऽस्याः कश्चिद्विशेषः स्यात्। सत्त्वाऽसत्त्वप्रतिभासकृतः सोऽत्रास्तीति चेन्न; सदसत्शब्दयोरप्रयोगे तस्याप्यसंभवात्। अस्तु वाऽसौ; तथापि परमाण्वाकाशप्रतीतितः किंकृतोऽस्या विशेषः स्यात् ? स्फुटत्व-अस्फुटत्वप्रतिभासकृतः इति चेन्न; नियतदेशकालाऽऽकारग्रहणा-ऽग्रहणव्यतिरेकेण स्फुटत्वाऽस्फुटत्वप्रतिभासस्यैव असंभवात्। ततः प्रत्यक्षप्रतीतेः इतरप्रतीतितो विशेषमिच्छता देशादिनैयत्येन प्रतिभासः तच्छब्दाऽप्रयोगेऽपि अभ्युपगन्तव्यः, इति सिद्धा पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा हेतोश्च कालात्ययापदिष्टता।

किञ्च, अणुपरिमाणाऽनधिकरणत्वम् तत्परिमाणाधिकरणत्वप्रतिषेधः, स किं पर्युदासरूपः, प्रसज्यरूपो वा स्यात् ? यदि पर्युदासरूपः; तदाऽसौ भावान्तरस्वीकारद्वारेण प्रवर्त्तते। भावान्तरञ्चाऽत्र–परममहापरिमाणाऽधिकरणत्वम्, अवान्तरपरिमाणाऽधिकरणत्वं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे विशेषणाऽसिद्धो हेतुः, यथा 'अनित्यः शब्दः अनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धविशेषणः, यथा 'अनित्यः शब्दः नित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति। प्रसज्यपक्षे तु असिद्धत्वम्; तुच्छस्वभावाऽभावस्य अभावविचाराऽवसरे प्रमाणाऽगोचरचारितया प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। सिद्धौ वा किमसौ साध्यस्य स्वभावः, कार्यं वा स्यात् ? यदि स्वभावः; तदा साध्यस्यापि तद्वत् तुच्छरूपताऽनुषङ्गः तुच्छस्वभावाऽभावादभिन्नस्वभावत्वाद् गगनेन्दीवरवत्। अथ कार्यम्; तन्न; तुच्छस्वभावस्यास्य कार्यत्वाऽनुपपत्तेः, यत् तुच्छस्वभावं तन्न कार्यम् यथा खपुष्पम्, तुच्छस्वभावश्च भवद्भिः परिकल्पितोऽणुपरिमाणप्रतिषेध इति। कार्यत्वे चास्य कादाचित्कत्वप्रसङ्गात् तदुत्पत्तेः प्राक् आत्मनोऽणुप[5]रिमाणाधिकरणत्वं स्यात्। कार्यत्वञ्चास्य–स्वकारणसत्तासमवायः, 'कृतम्' इति बुद्धिविषयत्वं वा स्यात् ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; अभावस्य भवता स्वकारणसत्तासमवायाऽनभ्युपगमात्, अन्यथा भावरूपतैव अस्य स्यात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; तु[6]च्छस्वभावाभावस्य तद्विषयत्वाऽनुपपत्तेः,

---

१–चनत्वा–श्र०। २ पृ० १४४। ३ अनुभूयते ब०, ज०। ४–चबोध–आ०। –वभवप्रबोध–श्र०। ५–परिमाणत्वं ब०, ज०। ६ तुच्छस्वभावस्य तद्वि–आ०, ब०, ज०, भां०।

यस्य हि प्रमाणाऽगोचरत्वं तस्य कथं कृतबुद्धिविषयत्वं स्यात् ? तन्न आत्मनो विचार्यमाणोऽणुपरिमाणप्रतिषेधो घटते ।

यदपि तत्सिद्धये 'अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाऽधिकरणत्वात्' इति साधनमुक्तम्[1]; तदप्ययुक्तम्; तत्प्रतिषेधे प्रोक्ताशेषदोषानुषङ्गात्, सिद्धसाध्यताप्रसङ्गाच्च; अणुपरिमाणप्रतिषेधमात्रस्य घटादिवद् आत्मन्यपि अभ्युपगतत्वात् ।

नित्यद्रव्यत्वञ्च आत्मनः कथञ्चिद् विवक्षितम्, सर्वथा वा ? कथञ्चिच्चेत्; घटादिना अनेकान्तः, तस्य अणुपरिमाणाऽनधिकरणत्वे कथञ्चिन्नित्यद्रव्यत्वे च सत्यपि व्यापित्वाऽभावात् । अथ सर्वथा; तदसिद्धम्; सर्वथा नित्यस्य वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावतः खरविषाणवत् सत्त्वस्यैवाऽसंभवात् ।

एतेन 'अस्पर्शव[2]द्द्रव्यत्वम्' आत्मनो नित्यत्वसाधनाय यदुक्तम्[3] तदपि प्रत्युक्तम्; अतो हि तस्य कथञ्चिन्नित्यत्वसाधने सिद्धसाध्यता । सर्वथा तत्साधने हेतोरनन्वयत्वम्, आकाशादीनामपि सर्वथा नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।

एतेन 'क्षणिकविशेषगुणाधिकरणत्वात्' इत्यपि[4] प्रत्युक्तम्; विद्युदादिना अनैकान्तिकत्वाच्च; क्षणिकभासुररूपादिल[5]क्षणविशेषगुणाधिकरणत्वेऽपि अस्य सर्वथा[6] नित्यत्वाऽसंभवात् । अथ भासुररूपादेः क्षणिकविशेषगुणत्वं नास्ति वह्न्यादौ तस्य अक्षणिकत्वप्रतीतेः; तर्हि बुद्ध्यादेरपि तद्विशेषगुणत्वं माभूद् ईश्वरे तस्य अक्षणिकत्वप्रतीतेः ।

यदप्युक्तम्[7]–'देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गम्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यतः तत्कारणत्वेनाऽभिप्रेता[8] ज्ञानदर्शनादयो देवदत्तात्मगुणाः, धर्माऽधर्मौ वा ? प्रथमपक्षे कालात्ययापदिष्टो हेतुः; ज्ञानादीनां देवदत्ताङ्गनाङ्गादिजन्मनि अव्याप्रियमाणानां तद्देहे एव प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः । अथ धर्माऽधर्मौ; तर्हि तदङ्गादिकार्यं तन्निमित्तम् अस्माभिरपि इष्यत एव, तदात्मगुणत्वं[9] तु तयोर्नेष्यते अचेतनत्वात् शब्दादिवत् । न च सुखादिना हेतोर्व्यभिचारिता; अस्य अचेतनत्वाऽभावात्, तद्विरुद्धेन स्वसंवेदनलक्षणचैतन्येन अस्य व्याप्तत्वात् । नाप्यसिद्धता; तथाहि–अचेतनौ तौ स्वग्रहणविधुरत्वात् घटादिवत् । न ज्ञानेन अनेकान्तः; अस्य स्वग्रहणात्मकत्वप्रसाधनात् । प्रसाधयिष्यते च कर्मणां पौद्गलिकत्वं मोक्षविचाराऽवसरे इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अस्तु वा तयोस्तद्गुणत्वम्; तथापि न तदङ्गादिप्रादुर्भावदेशे तत्सद्भावसिद्धिः । न खलु 'कार्यदेशे सन्निहितमेव संकलं कारणं कार्यजन्मनि व्याप्रियते' इति नियमोऽस्ति, अञ्जनतिलक[10]-

---

१ पृ० २५९ पं० २७ । २–वद्द्रव्यं आ०, ब०, ज० । ३ पृ० २६० पं० १ । ४ पृ० २६० पं० २ । ५–लक्षणगुणा–ब०, ज० । ६–थाऽनित्यत्वसंभ–श्र० । ७ पृ० २६० पं० ४ । ८ "यतो देवदत्ताङ्गनाङ्गादिकार्यस्य कारणत्वेनाभिप्रेता ज्ञानदर्शनादयो देवदत्तात्मगुणा धर्माधर्मौ वा ?…" प्रमेयक० पृ० १७१ उ० । सन्मति० टी० पृ० १४७ । स्या० रत्ना० पृ० ९०६ । ९–णात्मत्व–श्र० । १०–कद्रव्यादेः ब०, ज० ।

मन्त्रादेः आकृष्यमाणाऽङ्गनादिदेशेऽसतोऽपि आकर्षणादिकार्यकर्तृत्वोपलम्भात्। 'कार्यत्वे सति' इति विशेषणञ्च किमर्थम्? काल-ईश्वरादिना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमिति चेत्; तर्हि काल-ईश्वरादिकम् अतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकम् कार्यमपि किञ्चिद् अन्यपूर्वकमपि तदुपकारकं भविष्यति इति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद् अनैकान्तिको हेतुः, सर्वज्ञत्वाऽभावे साध्ये वक्तृत्वादिवत्।

'प्रासादिवत्' इति दृष्टान्तश्च साध्यविकलः; तत्र हि आत्मनः को गुणः अभिप्रेतः-धर्मादिः, प्रयत्नो वा? यदि धर्मादिः; साध्यवत् प्रसङ्गः। अथ प्रयत्नः; ननु कोऽयं प्रयत्नो नाम? आत्मनः तदवयवानां वा हस्ताद्यवयवप्रतिष्ठानां परिस्पन्दः, स तर्हि चलनलक्षणा क्रिया कथं गुणः? अन्यथा गमनादेरपि गुणत्वानुषङ्गात् क्रियावार्त्तोच्छेदः स्यात्।

एतेन 'अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते' इत्यादि प्रत्याख्यातम्; अदृष्टस्य उक्तप्रकारतो गुणत्वाऽसिद्धेः, अतो विशेष्याऽसिद्धो हेतुः। विशेषणाऽसिद्धश्च तदेकद्रव्यत्वाऽप्रसिद्धेः। तद्धि किम् एकस्मिन् द्रव्ये संयुक्तत्वात्, समवायेन वर्त्तनात्, अन्यतो वा स्यात्? न तावत् संयुक्तत्वात्; संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात् अदृष्टस्य च अद्रव्यत्वात्, अन्यथा गुणवत्त्वेन अस्य द्रव्यत्वाऽनुषङ्गात् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति वचो विघटते। समवायेन वर्त्तनञ्च समवाये सिद्धे सिद्ध्येत्, स चासिद्धो निषेत्स्यमानत्वात्। तृतीयपक्षस्तु अनभ्युपगमादेव अयुक्तः।

क्रियाहेतुत्वमप्यस्याऽसिद्धम्; तथाहि-देवदत्तशरीरसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्तिषु मणिमुक्ताफलेषु देवदत्तं प्रति उपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, उत द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशे, किं वा सर्वत्र? तत्र आद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; अतिव्यवहितत्वेन तत्रास्य संबन्धाऽभावतः क्रियाहेतुत्वाऽनुपपत्तेः। अथ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धसंभवात् तदभावोऽसिद्धः; तदयुक्तम्; तस्य सर्वत्र सद्भावतः सर्वस्य आकर्षणप्रसङ्गात्। 'यददृष्टेन यत् जन्यते तददृष्टेन तदेव आकृष्यते न सर्वम्' इत्यप्ययुक्तम्; देवदत्तशरीरारम्भकपरमाणूनां तददृष्टाऽजन्यतया आकर्षणाऽभावप्रसङ्गात्, तथाप्याकर्षणे अतिप्रसङ्गः।

द्वितीयविकल्पेऽपि यथा वायुः स्वयमुपसर्पणवान् अन्येषां तृणादीनां तं प्रति उपसर्पणहेतुः तथा अदृष्टमपि स्वयं तं प्रति उपसर्पद् अन्येषामुपसर्पणहेतुः, द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव वा? प्रथमपक्षे स्वयमेव अदृष्टं तं प्रति उपसर्पति, अदृष्टान्तराद्वा? स्वयमेवास्य तं प्रति उपसर्पणे द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्याणामपि तथैव तत्प्रसङ्गात् अदृष्टकल्पनाऽनर्थ-

---

१-णं कि-आ०। २ "साध्यविकलं चेदं निदर्शनं प्रासादिवदिति तत्र हि आत्मनः... ।" प्रमेयक० पृ० १७२ पू०। सन्मति० टी० पृ० १४८। ३-प्रविष्टानां ब०, ज०। ४ पृ० २६० पं० ९। ५-ति विश-ब०, ज०। ६ सम्बन्धाभावात् भां०। ७ "अथ यददृष्टेन यज्जन्यते..." प्रमेयक० पृ० १७२उ०। सन्मति टी० पृ० १४३। स्या० रत्ना० पृ० ९०६।

क्यम्, 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद् देवदत्तगुणाकृष्टम् तं प्रति उपसर्पणात्' इति हेतुश्च अनैकान्तिकः स्यात्। अदृष्टान्तरात्तस्य तं प्रति उपसर्पणे अनवस्था, तस्यापि अदृष्टान्तरात् तं प्रति उपसर्पणप्रसङ्गात्। अथ द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव तत् तेषां तं प्रति उपसर्पणहेतुः; न; अन्यत्र प्रयत्नादौ आत्मगुणे तथाऽनभ्युपगमात्, न[1] खलु प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव ग्रासादेः देवदत्तमुखं प्रति उपसर्पणहेतुः अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात्। सर्वत्र च अदृष्टस्य वृत्तौ सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वं स्यात्, 'यददृष्टं यद् द्रव्यमुत्पादयति तददृष्टं तत्रैव क्रियां करोति' इत्यत्रापि 'शरीरारम्भकपरमाणुषु क्रिया न स्यात्' इत्युक्तम्।

कालात्ययापदिष्टश्चायं हेतुः; प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्, अदृष्टस्य हि आश्रयः आत्मा, स च द्वीपान्तरवर्तिद्रव्यैर्वियुक्तमेव आत्मानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते इति। तद्वियुक्तत्वेन अतस्तत्प्रतीतावपि आत्मनस्तद्द्रव्यैः संयोगाऽभ्युपगमे घटादीनां मेर्वादिभिः संयोगः किन्न स्यात् यतः सांख्यदर्शनं[2] न स्यात्? प्रमाणबाधनम् उभयत्र समानम्।

किञ्च, धर्माऽधर्मयोः द्रव्यान्तरसंयोगस्य च आत्मा एक आश्रयः, स च भवन्मते निरंशः, अतो धर्मेण अधर्मेण उभाभ्यां वा सर्वात्मनाऽस्य आलिङ्गिततनुत्वान्न तत्संयोगादेस्तत्रावकाशः, तेन वा न धर्मादेः इति। अथ तदालिङ्गिततत्स्वरूपपरिहारेण द्रव्यान्तरसंयोगादिः तत्र प्रवर्त्तते; तर्हि घटादिवद् आत्मनः सावयवत्वं स्वारम्भकावयवारभ्यत्वमनित्यत्वञ्च स्यात्।

एतेन एतन्निरस्तम्–'देवदत्तं प्रति उपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टाः तं प्रति उपसर्पणवत्त्वात् ग्रासादिवत्' इति; तेषां तद्गुणाकृष्टत्वे[3] प्रोक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। देवदत्त[4]-शब्देन चात्र कोऽर्थः अभिप्रेतः–शरीरम्, आत्मा, तत्संयोगः, आत्मसंयोगविशिष्टं शरीरम्, तत्संयोगविशिष्ट आत्मा, शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो वा? यदि शरीरम्; तर्हि तं[5] प्रति उपसर्पणात् तद्गुणाकृष्टाः पश्वादयः इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वस्य साधनाद् विरुद्धो हेतुः। अथ आत्मा; तस्य समाकृष्यमाणाऽर्थदेशकालाभ्यां सर्वदाऽभिसम्बन्धात् न तं प्रति किञ्चिद् उपसर्पेत, नहि अत्यन्ताऽऽश्लिष्टकण्ठं कामिनी कामुकमुपसर्पति। अन्यदेशो हि अर्थः अन्यदेशमर्थं प्रति उपसर्पति यथा लक्ष्यं प्रति बाणादिः, अन्यकालं वा प्रति अन्यकालः यथा अङ्कुरं प्रति अपराऽपरशक्तिपरिणामलाभेन बीजादिः। न चैतदुभयं [6]नित्य-व्यापित्वाभ्याम् आत्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते संभवति। अतो 'देवदत्तं

---

१ "न खलु प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्य एव...।" प्रमेयक० पृ० १७२ उ०। सन्मति० टी० पृ० १४३। २ पृ० २६० पं० ४। ३–त्वेऽत्रोक्ता–ब०, ज०। ४ "तत्र देवदत्तशब्दवाच्यः कोऽर्थः ? शरीरमात्मा तत्संयोगो वाऽऽत्मसंयोगविशिष्टं शरीरं वा शरीरसंयोगविशिष्ट आत्मा शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो वा...।" प्रमेयक० पृ० १७३ उ०। सन्मति० टी० पृ० १४४। ५ तत्प्रति ब०, ज०। ६ नित्यत्वव्या–ब०, ज०।

प्रति उपसर्पन्तः' इति धर्मिविशेषणम् 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः 'तं प्रति उपसर्पणवत्त्वात्' इति साधनधर्मः परस्य कल्पनाशिल्पिकल्पित एव स्यात्।

शरीरात्मसंयोगस्य च देवदत्तशब्दवाच्यत्वे तं प्रति चैषामुपसर्पणे 'तद्गुणाकृष्टास्ते' इत्यायातम्, न च गुणेषु गुणाः सन्ति निर्गुणत्वात्तेषाम्। आत्मसंयोगविशिष्टं शरीरं तच्छब्दवाच्यम्; इत्यत्रापि तदेव विरुद्धत्वं द्रष्टव्यम्। शरीरसंयोगविशिष्ट आत्मा तच्छब्दवाच्यः; इत्यत्रापि आत्मपक्षभावी दोषः स्यात्, तथाविधस्याप्यस्य नित्य-व्यापित्वेन सर्वत्र सर्वदा सन्निधानाऽनिवारणात्, न खलु घटसंयुक्तमाकाशं मेर्वादौ न सन्निहितम्।

अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशः तच्छब्देन उच्यते; स किं काल्पनिकः, पारमार्थिको वा? काल्पनिकत्वे 'कल्पितात्मप्रदेशगुणाऽऽकृष्टाः पश्वादयः तल्लक्षणाऽऽत्मानं प्रति उपसर्पणवत्त्वात्' इति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं प्रसाधयेत्, तथा च सौगतस्य इव तद्गुणकृतः प्रेत्यभावो न पारमार्थिकः स्यात्। नहि कल्पितस्य अग्नेः रूपादयो दाहादिकार्यं वा पारमार्थिकं दृष्टम्। अथ पारमार्थिकः; स किम् आत्मनः अभिन्नः, भिन्नो वा? यदि अभिन्नः; तदा आत्मैव असौ इति नोक्तदोषपरिहारः। अथ भिन्नः; तर्हि 'तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादयः' इत्येतत् तस्यैव आत्मत्वं प्रसाधयति, इति अन्यात्मकल्पनाऽऽनर्थक्यम्। कल्पने वा 'सावयवत्वेन कार्यत्वम् अनित्यत्वञ्च स्यात्' इत्युक्तम्।

यदप्यभिहितम्[१]–'आत्मनोऽसर्वगतत्वे दिग्देशान्तरवर्त्तिभिः परमाणुभिः' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; 'यद्[२] येन संयुक्तं तं प्रति तदेव उपसर्पति' इति नियमाऽसंभवात्, अयस्कान्तं प्रति अयसः तेनाऽसंयुक्तस्यापि आकर्षणोपलम्भात्। यस्य चात्मा सर्वगतः तस्य आरब्धकार्यैः अन्यैश्च परमाणुभिर्युगपत् संयोगात् तथैव तच्छरीरारम्भं प्रति एकमुखीभूतानां तेषाम् उपसर्पणप्रसङ्गान्न जाने कियत्परिमाणं तच्छरीरं स्यात्। अथ 'ये तत्संयोगाः तददृष्टापेक्षाः ते एव स्वसंयोगिनां परमाणूनामाद्यं कर्म आरचयन्ति नान्ये' इत्युच्यते; ननु केयं तेषां तददृष्टापेक्षा नाम–एकार्थसमवायः, उपकारः, सह आद्यकर्मजननं वा? तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; सर्वपरमाणुसंयोगानां देवदत्ताऽऽत्मनि अदृष्टेन सह एकार्थसमवायसंभवात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; अपेक्ष्याद् अपेक्षकस्य असम्बन्धाऽनवस्थानुषङ्गेण उपकारस्यैवाऽसंभवात्। सह आद्यकर्मजननम्; इत्यप्यसत्; अविशेषतः सर्वत्र तज्जनन[३]स्यापि प्रसङ्गात्, तत्संयोगाऽदृष्टयोरन्यतरस्य केवलस्यैव तज्जननसामर्थ्ये परापेक्षाऽनुपपत्तेश्च। यदि पुनः स्वहेतोरेव अदृष्ट-संयोगयोः सहितयोरेव कार्यजननसामर्थ्यमिष्यते; तर्हि तत एव अदृष्टस्यैव स्वाश्रय-

१ पृ० २६० पं० १९। २ "स्यादेवं यदि यद्येन संयुक्तं तं प्रति तदेवोपसर्पति इति नियमः स्यात्, न चास्त्ययस्कान्तं प्रत्ययसः तेनासंयुक्तस्याप्युपसर्पणोपलम्भात्।…" प्रमेयक० पृ० १७५ उ०। स्या० मं० पृ० ६२, कारिका ९। ३ –ननस्यातिप्र– आ०, भां०।

संयोगनिरपेक्षस्य तत्सामर्थ्यमिष्यताम्। दृश्यते हि हस्ताद्याश्रयेण अयस्कान्तादिना स्वाश्रयाऽसंयुक्तस्य भूभागस्थितस्य लोहादेः आकर्षणम्।

यच्चान्यदुक्तम्[1]–'सावयवं शरीरमनुप्रविशन्नात्मा' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; सावयवत्वेन भिन्नाऽवयवारब्धत्वस्य घटादावप्यसिद्धेः। न खलु[2] घटादिः सावयवोऽपि प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वको दृष्टः, कुम्भकारकरादिव्यापारान्वितात् मृत्पिण्डात् प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्याऽस्य उत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेन उत्तराकारपरिणामः कार्यत्वम्, तच्च बहिरिव अन्तरप्यनुभूयत एव। न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः; काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भात् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्, प्रमाणबाधनम् उभयत्रापि तुल्यम्। न च उक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽपि आत्मनोऽनित्यत्वा[3]ऽनुषङ्गात् प्रतिसन्धानाऽभावोऽनुपज्यते; कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येव अस्य उपपद्यमानतया वक्ष्यमाणत्वात्।

एतेन 'बालशरीरपरिमाण' इत्यादि[†] प्रत्युक्तम्; युवशरीरपरिमाणाऽवस्थायाम्[4] आत्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागेऽपि सर्वथा विनाशाऽसंभवात् विफणावस्थात्यागेन उत्फणावस्थोत्पादे सर्पवत्। अतः कथं परलोकाभावोऽनुपज्यते पर्यायतः तस्य अनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्?

यदप्युक्तम्[5]–'शरीरच्छेदे[6] तस्यापि छेदप्रसङ्गः' इति; तदप्यपेशलम्; कथञ्चित् तच्छेदस्य इष्टत्वात्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि तत्प्रदेशानां[7] छिन्नशरीरप्रदेशे अवस्थानम् आत्मनश्छेदः, स चात्र अस्त्येव; अन्यथा शरीरात्[8] पृथग्भूताऽवयवस्य[9] कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च [10]छिन्नावयवाऽनुप्रविष्टस्य आत्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः; तत्रैव अनुप्रवेशात्, कथमन्यथा छिन्ने हस्तादौ कम्पादितल्लिङ्गस्यादर्शनम्? न च अन्यत्र गतत्वात्तस्य तत्र[11] तल्लिङ्गाऽनुपलब्धिरित्यभिधातव्यम्; एकत्वादात्मनः शेषस्यापि तेन सह गमनप्रसक्तेः। नापि तदवस्थितस्य अस्य तत्रैव विनष्टत्वान्न तदुपलब्धिः इत्यभिधातव्यम्; शेषस्यापि एकत्वेन [12]तद्वद् विनाशप्रसक्तेः। न चैकत्र सन्ताने अनेक आत्मा; अनेकाऽर्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाऽभावप्रसङ्गात् शरीरान्तरव्यवस्थिताऽनेकज्ञानावसेयाऽर्थसंवित्तिवत्। अतः अन्यत्राऽगतेः तत्राऽसत्त्वात् अविनष्टत्वाच्च तत्रैव तदनुप्रवेशोऽनुमीयते। कथं

१ पृ० २६० पं० २२। २ "न खलु घटादिः सावयवोऽपि प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वकः।" प्रमेयक० पृ० १७६ पू०। सन्मति० टी० पृ० १४९। स्या० मं० पृ० ६३, का० ९। ३–त्यानु–आ०। ४ "युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशासंभवात् विफणावस्थोत्पादे सर्पवत् इति कथं परलोकाभावोऽनुपज्यते।..." स्या० मं० पृ० ६५, का० ९। ५ पृ० २६१ पं० ११। ६–दे छेद–ब०, ज०। ७–नां विभिन्नश–भां०, श्र०। ८ शरीरपृ–ज०। ९–स्य सकम्पो–ज०। १० तच्छिन्ना–भां०। ११–त्र लिङ्गा–ब०, ज०। १२ तद्विनाश–आ०। † पृ० २६१ पं० ८।

छिन्नोऽछिन्नावयवयोः सङ्घटनं पश्चादिति चेत्; न; एकान्तेन छेदाऽनभ्युपगमात् पद्मनालतन्तुवद् अच्छेदस्याप्यभ्युपगमात्, तथाभूताऽदृष्टवशाच्च तत्सङ्घटनमविरुद्धमेव।

यदप्युक्तम्[2]–'शरीरपरिमाणत्वे मूर्त्तत्वाऽनुषङ्गात्' इत्यादि; तत्र[3] किमिदं मूर्त्तत्वं नाम यद् आत्मनोऽनुषज्येत–असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वम्, रूपादिमत्त्वं वा? तत्र आद्यपक्षो न दोषावहः; अभीष्टत्वात्, नहि इष्टमेव दोषाय जायते। द्वितीयपक्षस्तु अनुपपन्नः; व्याप्त्यभावात्, नहि 'यद् असर्वगतं तत् नियमेन रूपादिमत्' इति अविनाभावोऽस्ति, मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि तदसंभवात्। अतो न आत्मनः शरीरेऽनुप्रवेशाऽनुपपत्तिः यतो निरात्मकं तत् स्यात्, असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्त्तत्वस्य मनोवत् तदप्रतिबन्धकत्वात्। 'रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्त्तत्वोपेतस्यापि हि जलादेः भस्मादावनुप्रवेशो न प्रतिबध्यते, आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्र असौ प्रतिबध्यते' इति महच्चित्रम्!

ततो यद् यथा निर्बाधबोधे प्रतिभासते तत् तथैव परमार्थतः सद्व्यवहारमवतरति यथा पुरः प्रतिनियतदेश-काल-आकारतया घटः, शरीरान्तः प्रतिनियतदेशकालाकारतया निर्बाधबोधे प्रतिभासते च आत्मा इति। न चायमसिद्धो हेतुः; शरीराद् बहिः तत्प्रतिभासाऽभावस्य प्रतिपादितत्वात्। उक्तप्रकारेण च अनवद्यस्य बाधकप्रमाणस्य कस्यचिदप्यसंभवात् न विशेषणाऽसिद्धत्वम्। तथा, आत्मा व्यापको न भवति, सामान्यविशेषवत्त्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, यद् यद् एवंविधं तत् तत् तथा यथा घटादि, सामान्यविशेषवत्त्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षश्च आत्मा, तस्माद् व्यापको न भवतीति। तन्न परेषां यथाभ्युपगतस्वभावम् आत्मद्रव्यमपि घटते। नापि मनोद्रव्यम्; नित्यादिस्वभावस्य अस्यापि कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः।

'युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तेः अस्ति मनः पृथग् द्रव्यम् तच्च नित्यं परमाणुरूपं प्रत्यात्मभिन्नं च' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु कार्यत्वा[4]ऽनुपपत्तेः नित्यस्वभावता मनसः सिद्धैव, तदनुपपत्तिश्च तदारम्भककारणाऽभावात् सुप्रसिद्धा। त[5]स्य हि आरम्भकं कारणं विजातीयम्, सजातीयं वा स्यात्? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; विजातीयस्य आरम्भकत्वाऽभावात्, "*विजातीयानामनारम्भकत्वम्*" [ ] इत्यभिधानात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; यतः मनःप्रादुर्भावे मनस एव सजातीयत्वम्, तथा च एकमनःप्रादुर्भावे कारणभूताऽनेकमनःसद्भावप्रसङ्गः एकस्य द्रव्यान्तरोत्पत्तौ अकारणत्वात्, "*द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभते (रभन्ते)*"

---

१ "ननु कथं छिन्नाछिन्नयोः सङ्घटनं पश्चात्? न; एकान्तेन छेदानभ्युपगमात् पद्मनालतन्तुवदविच्छेदस्याप्यभ्युपगमात्।…" प्रमेयक० पृ० १७६ उ०। स्या० मं० पृ० ६५, का० ९। २ पृ० २६१ पं० ६। ३ "तत्र केयं मूर्त्तिर्नाम असर्वगतद्रव्यपरिमाणं रूपादिमत्त्वं वा?" प्रमेयक० पृ० १७४ पू०। सन्मति० टी० पृ० १४५। स्या० रत्ना० पृ० ९०२। स्या० मं० पृ० ६४। ४–र्यतानु–श्र०। ५ तस्य आ–ब०।

[वैशे० सू० १।१।१८] इति वचनात्। न चैक[1]शरीरे अनेकमनःसद्भावोऽस्ति प्रतिशरीरमेकैकं[2] तया तेषां स्थितत्वात्, अन्यथा प्रतिशरीरं युगपदेव ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। न च प्रतिनियतशरीरावरुद्धत्वेन अन्योन्यं तेषां संयोगः संभवति, नाप्यसंयुक्तानां तज्जनकत्वम्; अतिप्रसङ्गात्। अथ मुक्तमनसां तदवरुद्धत्वाऽभावतोऽन्योन्यं संयोगसंभवात् तज्जनकत्वमिष्यते; तदयुक्तम्; धर्माऽधर्मानधिष्ठितानां तेषां तज्जनकत्वाऽनुपपत्तेः। अतोऽस्य कार्यत्वानुपपत्तेः सिद्धा नित्यता।

सद्भावसिद्धिस्तु युगप[3]ज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिलिङ्गात्, युगपत्स्वविषयसम्बद्धेषु हि सर्वेष्वपि इन्द्रियेषु यदेव मनसा प्रेर्यते तदेव स्वविषये बुद्धिमुत्पादयतीति। तथा, 'इन्द्रियाँ[4]ऽर्था युगपत्सन्निहिताः स्वकार्ये क्रमवत्कारणापेक्षाः, इतरसामग्रीसद्भावेऽपि क्रमेण कार्यकर्तृत्वात्, हस्ताद्यपेक्ष-अ[5]यस्कारादिवत्। चक्षुरा[6]दिकं क्रमवत्कारणापेक्षम्, कारणान्तरसाकल्ये सत्यपि अनुत्पाद्योत्पादकत्वात्, वासी-कर्त्तर्यादिवत्। सुखा[7]दिज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजम्, प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात्, चक्षुरादिप्रभवरूपादिज्ञानवत्' इत्याद्यनुमा[8]नाच्च। तच्च आशु[9]सञ्चारित्वेन अस्खलद्गतित्वाद् अस्पर्शम्, अस्पर्शत्वादेव आकाशवन्नित्यम्, क्रमेण अर्थपरिच्छेदकत्वादव्यापकम्[10], अदृष्टविशेषवशाच्च [11]प्रत्यात्मभिन्नम् इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[12]—'तस्य आरम्भकं कारणं सजातीयं विजातीयं वा' इत्यादि;

षट्पदार्थपरीक्षायां वैशेषिकाभ्युपगतस्य पूर्ववर्णितस्वभावस्य मनोद्रव्यस्य खण्डनम्—

तदसमीचीनम्; यतः किमपेक्ष्य कारणस्य सजातीयेतरचिन्ता प्रतन्यते—पृथिव्यादिद्रव्यमपेक्ष्य, अवान्तरसामान्यं वा? यदि अवान्तरसामान्यम्; [13]तदा तन्तुपटादीनामपि कार्यकारणभावो न प्राप्नोति तेषामन्योन्याऽसंभवि-अवान्तरसामान्याधारतया तद्-

---

१—कत्र श—श्र०। २ "प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्।" वै० सू० ३।२।३। "ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः।" न्यायसू० ३।२।५८। ३ "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च लिङ्गम्।" वै० सू० ३।२।१। "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।" न्यायसू० १।१।१६। ४ "चक्षुरादयो वा क्रमवत्कारणापेक्षाः सद्भावेऽपि क्रमेण कार्यजनकत्वात्…यथा वासीकर्त्तर्यादि हस्तम्।" प्रश० व्यो० पृ० ४२५। प्रश० कन्दली पृ० ९०। ५ अयस्कान्तादि—भां०। ६ "सत्यपि आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते।…" प्रश० भा० पृ० ८९। "आत्मेन्द्रियार्थाः कारणान्तरापेक्षाः सद्भावेऽपि अनुत्पाद्योत्पादकत्वात्, ये हि सद्भावेऽपि कार्यमनुत्पाद्य पश्चादुत्पादयन्ति ते सापेक्षाः यथा तन्त्वादयः अन्त्यसंयोगापेक्षा इति।" प्रश० व्यो० पृ० ४२४। प्रश० कन्दली पृ० ९०। ७ "सुखादिप्रतीतिरिन्द्रियजा अपरोक्षप्रतीतित्वाद् रूपादिप्रतीतिवत्।" प्रश० कन्दली पृ० ९०। ८ "रूपादिग्रहणानि चक्षुरादिव्यतिरेकेण अधिष्ठायकान्तरापेक्षाणि अयुगपदुत्पत्तेः, तद्यथा—अनेकशिल्पपर्यवदातस्य पुरुषस्य अनेकं वास्यादि युगपत् सन्निधानेनोपस्थितं हस्ताद्यधिष्ठायकापेक्षं न युगपदनेकरथक्रियां निर्वर्तयति, तथा चक्षुरादि न युगपदनेकं ज्ञानं करोति तस्मात्तदपि अधिष्ठायकान्तरमपेक्षते इति… चक्षुरादीन्द्रियं आत्मप्रवृत्तावधिष्ठायकान्तरापेक्षं अयुगपत्प्रवृत्तेः वास्यादिवत्।…" न्यायवा० पृ० ८१। ९ "प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसञ्चारि चेति।" प्रश० भा० पृ० ८९। १० "तदभावादणु मनः।" वै० सू० ७।१।२३। "यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु।" न्यायसू० ३।२।६१। ११ "प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम्।" प्रश० भा० पृ० ८९। १२ पृ० २६८ पं० २०। १३ "तदा तन्तुपटादीनामपि

पेक्षया सजातीयत्वाऽनुपपत्तेः, नहि तन्तुत्वापेक्षया पटस्य सजातीयत्वं संभवति पटत्वापेक्षया तन्तूनां वा। अथ पृथिव्यादिद्रव्यमपेक्ष्य; तर्हि तदपेक्षया यथा तन्तुपटादीनां सजातीयत्वसंभवात् कार्यकारणभावः, तथा पुद्गलद्रव्यापेक्षया अण्वादिना मनसः सजातीयत्वसंभवात् स स्यात्। तथा च सिद्धं मनसः पौद्गलिकत्वम्। प्रयोगः–पौद्गलिकं मनः इन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत्। ननु चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिव्यञ्जकतया प्रतिनियतभूतकार्यता प्रतिपन्ना, मनसस्तु अविशेषतो निखिलरूपादिव्यञ्जकतया तत्कार्यत्वाऽसंभवात् कथं तद्दृष्टान्तेन तस्य पुद्गलकार्यता स्यात्? इत्यपि मनोरथमात्रम्; तेषां प्रतिनियतभूतकार्यत्वस्य 'द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम्' इत्यत्र[2] प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात्। तद्भूतजातिभेदस्य च पृथिव्यादिचतुर्विधद्रव्यनिषेधावसरे[3] निषिद्धत्वात्। एकस्यैव रूपा[4]दिमतः पुद्गलस्य एते चक्षुरादयः पर्यायाः, अतो न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। यदि चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिव्यञ्जकत्वात् प्रतिनियतभूतकार्यता इष्यते; तदा मनसः सकलरूपादिव्यञ्जकत्वात् सकलभूतकार्यता इष्यताम् अविशेषात्।

यदप्युक्तम्[5]–'नित्यादिस्वभावस्य मनसः सद्भावसिद्धिस्तु युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिलिङ्गात्' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; परमाणुरूपस्य मनसः चक्षुराद्यधिष्ठायकत्वाऽनुपपत्तेः। अनेकरश्मिरूपं हि चक्षुः पार्थिवाद्यवयवस्वभावञ्च घ्राणादि, तत् किं मनसा युगपद् अधिष्ठीयते, क्रमेण वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; एकपरमाणुरूपेण अनेन युगपदनेकाऽधिष्ठानाऽनुपपत्तेः। यद् एकपरमाणुरूपं न तद् युगपदनेकाऽधिष्ठातृ यथा एकपरमाणुः, तद्रूपञ्च भवत्कल्पितं मन इति। द्वितीयपक्षेऽपि प्रत्यासन्न-दविष्ठार्थेषु क्रमेणैव प्रतीतिः स्यात्। आशु[6]सञ्चारित्वात् क्रमप्रतीतावपि युगपत्प्रतीतिभ्रमः; इत्यप्यपेशलम्; अवयविप्रतीतेरपि भ्रान्तित्वप्रसङ्गात्, अ[7]नेकस्मिन्नपि हि पुरोवर्तिन्यर्थे क्रमेण एकैकरश्मिजनितं ज्ञानं क्रमेण एकैकमेव अर्थं गृह्णीयात्[8], युगपदखिलाऽवयवेषु एकाकारा प्रतीतिस्तु भ्रान्ता स्यात्, "धत्तूरकपुष्पवद् आदौ सूक्ष्माणामपि *अन्ते महत्त्वम्*" [ ] इति च[9] विघटेत, नहि क्रमप्रवृत्तपरमाणूनां तथात्वं दृष्टम्। असिद्धा च युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिः; दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपदपि रूपादिज्ञानपञ्चकोत्पत्तिप्रतीतेः। क्रमभावेऽपि आशुवृत्त्या तज्ज्ञानानां यौगपद्यप्रतीतिः; इत्यप्यचारु; निखि-

---

कार्यकारणभावो न स्यात् तेषामन्योन्यासंभव्यवान्तरसामान्याधारतया तदपेक्षया सजातीयत्वासंभवात्।..." स्या० रत्ना० पृ० ९११।

१–यतका–भां०। २ पृ० १५५। ३ पृ० २३८। ४–पादिवतः आ०। ५ पृ० २६९ पं० ६। ६ "अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्।" न्यायसू० ३।२।६०। "उत्पलपत्रशतव्यतिभेदाभिमानवद् आशुभावित्वेन यौगपद्याभिमानोऽत्र द्रष्टव्यः।" प्रश० व्यो० पृ० ४२६। ७ एकस्मि–ब०, ज०, भां०, श्र०। ८ संगृ–ज०, भां०। ९ च न घटते श्र०।

लभावानां क्षणिकत्वप्रसङ्गात् अक्षणिकत्वाध्यवसायस्य सर्वत्र आशुवृत्तिप्रवृत्तत्वात्[1], प्रत्यक्षबाधा उभयत्र तुल्या। अथात्र यौगपद्यप्रतीतेर्भ्रान्ततया प्रत्यक्षत्वाऽनुपपत्तेर्न क्रमप्रतीतिबाधकत्वम्; ननु कुतोऽस्या भ्रान्ततासिद्धिः? एकमनःपूर्वकत्वेन तद्यौगपद्याऽनुपपत्तेः इति चेत्; चक्रकप्रसङ्गः–तत्प्रतीतेर्भ्रान्ततासिद्धौ[2] हि प्रत्यक्षत्वाऽनुपपत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च क्रमप्रतीतेरबाध्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च एकमनःसिद्धिरिति।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'इन्द्रियार्थाः' इत्यादि; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्; क्रमेण कार्यकर्तृत्वस्य एषामसिद्धत्वात्, दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपदपि ज्ञानपञ्चककर्तृत्वप्रतिपादनात्। मनसा अनैकान्तिकश्चेदम्; तद्धि इतरकारकसाकल्येऽपि क्रमेण कार्यकर्तृ न च क्रमवत्करणापेक्षम् अनवस्थाप्रसङ्गाद् अपसिद्धान्तप्रसङ्गाच्च।

एतेन 'अनुत्पाद्योत्पादकत्वात्' इत्यपि[4] प्रतिव्यूढम्; [5]भवदभ्युपगतेन मनसैव अनेकान्तात्; न खलु कारकान्तरसाकल्येऽनुत्पाद्योत्पादकमपि मनः क्रमवत्करणान्तराऽपेक्षम् अनवस्थाया अपसिद्धान्तस्य च प्रसङ्गात्। किञ्च, अनुत्पाद्योत्पादकत्वमस्य क्रमेण, युगपद्वा विवक्षितम्? यदि क्रमेण; तदा असिद्धो हेतुः, दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपदपि ज्ञानोत्पत्तिप्रतिपादनात्। अथ युगपत्; तदा विरुद्धः, तथोत्पादकत्वस्य [6]अक्रमिककरणाऽधीनत्वात् प्रसिद्धसहभाव्यनेककार्यकारिसामग्रीवत्।

यदप्यभिहितम्[7]–'सुखादिज्ञानम्' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; हेतोः अप्रसिद्धविशेषणत्वात्, [8]नहि सुखादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं सिद्धम्। इन्द्रियाश्रितं हि प्रत्यक्षं भवन्मते, न च तज्ज्ञाने किञ्चिदिन्द्रियं कारणभूतमस्ति यदाश्रितत्वेन अस्य प्रत्यक्षता स्यात्। मनोऽस्तीति चेन्न; अस्य कुतश्चिदपि अप्रसिद्धेः। अत एव तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रयः–मनःसिद्धौ हि तज्ज्ञानस्य तदाश्रितत्वेन प्रत्यक्षत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनःसिद्धिरिति। विशेष्याऽसिद्धश्चायम्; सुखादेर्भिन्नस्य तद्ग्राहकज्ञानस्य अप्रतीतेः। अत एव आश्रयाऽसिद्धश्चायम्; नहि 'घटादिवत् सुखादि अविदितस्वरूपं पूर्वमुत्पन्नं पुनरिन्द्रियेण सम्बद्ध्यते ततो ज्ञानं ग्रहणञ्च' इति लोके प्रतीतिरस्ति, प्रथममेव इष्टाऽनिष्टविषयाऽनुभवाऽनन्तरं स्वप्रकाशात्मनोऽस्य उदयप्रतीतेः।

किञ्च, 'यत्र संयुक्तं मनः तत्र समवेते ज्ञानमुत्पादयति' इत्यभ्युपगमे सकलात्मसमवेते सुखादौ तत् ज्ञानमुत्पादयतु, नित्यव्यापित्वेन मनसा तेषां संयोगाऽविशेषात्, तथा च प्रतिप्राणि भिन्नं मनोऽन्तरं व्यर्थम्। 'यस्य यन्मनः तत् तत्समवायिनि ज्ञानहेतुः' इत्यपि श्रद्धामात्रम्;

१–प्रवर्त्तमानत्वात् ब०, ज०। आशुप्रवृत्तित्वात् श्र०। २–द्धौ प्र–आ०। ३ पृ० २६९ पं० ७। ४ पृ० २६९ पं० ९। ५ "भवदभ्युपगतेन मनसैवानेकान्तात्।...." प्रमेयक० पृ० ३६ उ०। ६ अक्रमकर–ज०, श्र०। ७ पृ० २६९ पं० १०। ८ नहि ज्ञानस्य आ०।

प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वस्यैव अत्रासिद्धेः । तद्धि तत्कार्यत्वात्, तदुपक्रियमाणत्वात्, तत्संयोगात्, तददृष्टप्रेरितत्वात्, तदात्मप्रेरितत्वाद्वा स्यात् ? न तावत् तत्कार्यत्वात्; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्, नित्यत्वविरोधाऽनुषङ्गाच्च । नापि तदुपक्रियमाणत्वात्; सर्वथा नित्यतया अनाधेयाऽप्रहेयाऽतिशये तस्यापि अनुपपद्यमानत्वात् । नापि तत्संयोगात्; सर्वत्राप्यस्य अविशेषतः सर्वसम्बन्धित्वाऽनुषङ्गेण अविशेषतः तत्समवायिनि ज्ञानजनकत्वप्रसङ्गात् ।

नापि यददृष्टप्रेरितं प्रवर्त्तते निवर्त्तते वा तत्तस्य इत्यभिधातव्यम्; अचेतनस्य अदृष्टस्य अनिष्टनरकादिपरिहारेण इष्टे स्वर्गादौ तत्प्रेरणाऽसंभवात्, अन्यथा ईश्वराख्यचेतनाधिष्ठातृपरिकल्पनाऽनर्थक्यम् । 'तस्य अदृष्टप्रेरणे व्यापारात् नाऽनर्थक्यम्' इत्यभ्युपगमे मनस एवाऽसौ प्रेरकोऽस्तु अलमनया परम्परया । तस्य सर्वसाधारणत्वाच्च अतो न तन्नियमो युक्तः । न च अदृष्टस्यापि प्रतिनियमः सिद्धः; तस्य आत्मनोऽत्यन्तभिन्नत्वात् । ततस्तदत्यन्तभेदेऽपि समवायात् प्रतिनियमसिद्धिः; इत्यप्यसुन्दरम्; तस्य असिद्धस्वरूपत्वात् सर्वसाधारणत्वाच्च । 'येन आत्मना यन्मनः प्रेर्यते तत्तस्य' इत्यप्यसारम्; अनुपलब्धस्य प्रेरयितुमशक्यत्वात्, तथाविधस्यापि प्रेरणे अदृष्ट-परमाण्वादेरपि प्रेरणप्रसङ्गात् ईश्वरकल्पनावैयर्थ्यम् । तन्न मनसः कुतश्चित् सिद्धिः, सिद्धौ वा न संयोगः; निरंशयोः आत्म-मनसोः एकदेशेन संयोगे सांशत्वम्, सर्वात्मनैकत्वम् उभयव्याघातकारि स्यात् । तन्न यथोपवर्णितस्वभावं मनोद्रव्यमपि परेषामुपपद्यते ।

तदेवं परपरिकल्पितो द्रव्यपदार्थो विचार्यमाणो न घटामटाट्यते । नापि गुणपदार्थः; तस्यापि विचार्यमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपस्य अव्यवस्थितेः ।

'द्रव्याश्रय्यगुणवान्' इत्यादिसामान्यलक्षणलक्षिताः रूपादयश्चतुर्विंशतिर्गुणाः' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु गुणपदार्थस्य अस्माभिरभ्युपगतं स्वरूपं द्रव्याश्रितत्वादि, तस्य च प्रमाणतः तथैव प्रतीयमानत्वात् कथमव्यवस्थितिः ? तथा च तल्लक्षणसूत्रम्—"*द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणमनपेक्षः*" [वैशे० सू० १।१।१६] इति । द्रव्यम् आश्रयो यस्य असौ द्रव्याश्रयी द्रव्यतन्त्रः, अगुणवान् निर्गुणः, संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः एतेषु कर्त्तव्येषु सापेक्षं कारणत्वमस्य इत्यर्थः । अनेन च लक्ष-

---

१ "तद्धि तत्कार्यत्वात्तदुपक्रियमाणत्वात्...।" प्रमेयक० पृ० ३६ उ० । २ "तस्य सर्वसाधारणत्वाच्चातो न तन्नियमः...।" प्रमेयक० पृ० ३७ पू० । ३ न तत्संयोगः ब०, ज० । "सिद्धौ वा न संयोगः निरंशयोरेकदेशेन...।" प्रमेयक० पृ० ३६ उ० । ४ "बौद्धाः खलु 'षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः" (अभिध०को० १।१७) इत्यादिना मनसो ज्ञानरूपत्वमेवामनन्ति, परं योगाचारदर्शने तु षड्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽप्यस्ति मनोधातुः । ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति ।" स्फुटार्थअभि० पृ० ४९ । ५ अनेनैव ल–भां० ।

णेन लक्षिताः 'शुक्लः पटः, मधुरमाम्रम्, सुगन्धिर्मृगमदः, शीतलं जलम्' इत्यादिविशिष्टप्रत्यया (याद्) द्रव्यादर्थान्तरत्वेन प्रसिद्धा रूपादयश्चतुर्विंशतिरेव गुणाः । उक्तञ्च सूत्रकृता[1]–"*रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वा-ऽपरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः*" [वैशे० सू० १।१।६] इति सूत्रसङ्गृहीताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिता गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्म-अधर्म-शब्दाश्च सप्त इति ।

"*तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्, पृथिवी-उदक-ज्वलनवृत्तिः ।*" [प्रश० भा० पृ० १०४] "*रसो रसनेन्द्रिय[2]ग्राह्यः, पृथिवी-उदकवृत्तिः ।*" [प्रश० भा० पृ० १०५] "*गन्धो घ्राणग्राह्यः, पृथिवीवृत्तिः ।*" [प्रश० भा० पृ० १०५] "*स्पर्शः त्वगिन्द्रियग्राह्यः, पृथिवी-उदक-ज्वलन-पवनवृत्तिः ।*" [प्रश० भा० पृ० १०६] एते च रूपरसगन्धस्पर्शाः पार्थिवपरमाणुष्वनित्याः पावकसंयोगात्तत्र पाक[3]जरूपाद्युत्पत्तेः, अ[4]प्तेजोवाय्वणुषु यथासंभवं नित्याः कुतश्चित्तेषां तत्र अ[5]न्यप्रकारेण अनुत्पत्तेः, पार्थिवादिकार्यद्रव्येषु अनित्याः ।

संख्या[6] तु एकादिव्यवहारहेतुः एकत्वादिलक्षणा, एकद्रव्या च अनेकद्रव्या च । तत्र एकसंख्या एकद्रव्या, अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । सा च प्रत्यक्षत एव सिद्धा, विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तराऽपेक्षत्वाद् अनुमानतोऽपि । तत्र एकत्वसंख्या नित्यद्रव्येषु नित्या, कार्यद्रव्येषु अनित्या । द्वित्वादिसंख्या तु परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजन्या सर्वत्र अनित्या ।

---

१ "गुणाश्च रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः ।" प्रश० भा० पृ० १० । २ 'रसनग्राह्यः' प्रश० भा० । ३ "पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ।" "एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ।" "कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ।" वै० सू० ७।१।२,३,६ । "पार्थिवपरमाणुषु रूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम्–घटादेरामद्रव्यस्य अग्निना सम्बद्धस्य अग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति । तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुषु अग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् श्यामादीनां विनाशः, पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते । तदनन्तरं भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माऽणुसंयोगादुत्पन्नपाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः···।" प्रश० भा० पृ० १०६ । ४ "अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ।" "अनित्येष्वनित्या द्रव्याऽनित्यत्वात् ।" वै० सू० ७।१।४,५ । ५ अन्यत्रकारणानुत्पत्तेः आ० । ६ "एकादिव्यवहारहेतुः संख्या । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता । तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाश इति ।" प्रश० भा० पृ० १११ ।

परि[1]माणव्यवहारकारणं परिमाणम्, 'महद्, अणु, दीर्घम्, ह्रस्वम्' इति चतुर्विधम्। तत्र महद् द्विविधम्–नित्यम्, अनित्यञ्च। नित्यम्[2] आकाश-काल-दिग्-आत्मसु परममहत्त्वम्, अनि[3]त्यं द्व्यणु (त्र्यणु) कादिद्रव्येषु। अण्वपि नित्याऽनित्यविकल्पाद् द्विभेदम्। परमाणु-मनस्सु पारिमाण्डल्य[4]लक्षणं नित्यम्, अनित्यं द्व्यणुके एव। बदर-आमल-बिल्वादिषु तु महत्त्वपि तत्प्रकर्षाऽभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुव्यवहारः। द्व्यणुके ह्रस्वत्वमनित्यम्, त्र्यणुकादौ दीर्घत्वमनित्यम्। ननु द्व्यणुके अणुत्व-ह्रस्वत्वयोर्वर्त्तमानयोः त्र्यणुकादौ च महत्त्व-दीर्घत्वयोर्नाऽन्योन्यं कश्चिद् विशेषः इति चाऽयुक्तम्; 'महत्सु दीर्घम् आनीयताम्, दीर्घेषु महद् आनीयताम्' इति व्यवहारभेदप्रतीतितो महत्त्व-दीर्घत्वयोः परस्परतः प्रतिप्राणि भेदप्रसिद्धेः। अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनामेव प्रत्यक्षः। एतच्च महदादिपरिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरम् तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात् सुखादिवत्।

संयु[5]क्तमपि द्रव्यं यद्वशात् 'अत्र इदं पृथग्' इति अपोद्ध्रियते तद् अपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वम्। तच्च एकत्वसंख्याविशेषितम् एकत्ववत् नित्यम् अनित्यञ्च बोद्धव्यम्। द्विपृथक्त्वादि तु परार्द्धपृथक्त्वान्तं द्वित्वादिवदनित्यमेव।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः[6], प्राप्तिपूर्विका च अप्राप्तिर्विभागः[7]। तौ च द्रव्येषु यथाक्रमं संयुक्त-विभक्तप्रत्ययजनकौ अनित्यावेव। 'इदं परम्[8], इदमपरम्' इति यतोऽभिधान-प्रत्ययौ भवतः तद् यथाक्रमं परत्वम् अपरत्वञ्च, तच्च अनित्यमेव। बुद्ध्यादयश्च प्रयत्नान्ता अनित्या[9] एव। [10]गुरुत्वञ्च पृथिवी-उदकवृत्ति पतनक्रियानिबन्धनम्। तच्च पार्थिव-आप्याऽणुषु नित्यम्, द्व्यणुकादिषु अनित्यम्। [11]द्रवत्वं पृथिवी-उदक-ज्वलनवृत्ति स्यन्दनहेतुः। तच्च पृथिवी-तेजसो-

१ "परिमाणं मानव्यवहारकारणम्। तच्चतुर्विधम्...अथ त्र्यणुकादिषु वर्त्तमानयोः महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतः को विशेषः द्व्यणुकेषु चाणुत्वह्रस्वत्वयोरिति? तत्रास्ति महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतो विशेषः महत्सु दीर्घमानीयताम् दीर्घेषु च महदानीयतामिति विशिष्टव्यवहारदर्शनात्। अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु विशेषस्तद्दर्शिनां प्रत्यक्ष इति।" प्रश० भा० पृ० १३०। २ "अनित्येऽनित्यम्।" "नित्ये नित्यम्।" वै० सू० ७।१।१८,१९। ३ "अनित्यं त्र्यणुकादावेव।" प्रश० भा० पृ० १३०। ४ "नित्यं परिमण्डलम्।" वै० सू० ७।१।२०। ५ "पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम्। तत्पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यञ्च। तस्य तु नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः संख्यया व्याख्याताः।" प्रश० भा० पृ० १३८। ६ "संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम्...अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः।" प्रश० भा० पृ० १३९। ७ विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तम्...प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिर्विभागः।" प्रश० भा० पृ० १५१। ८ "परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्।" प्रश० भा० पृ० १६४। ९ विभुद्रव्यविशेषगुणानामनित्यत्वनियमात्। १० "संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्।" वै० सू० ५।१।७। "अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्।" वै० सू० ५।२।३। "गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्।" प्रश० भा० पृ० २६३। ११ "द्रवत्वात् स्यन्दनम्।" वै० सू० ५।२।४। "द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणं त्रिद्रव्यवृत्ति।" प्रश० भा० पृ० २६४।

नैमित्तिकमनित्यम्, अपां सांसिद्धिकम्, आप्याऽणुषु नित्यम् आप्यद्व्यणुकादौ तु अनित्यम्। [1]स्नेहोऽम्भस्येव स्निग्धप्रत्ययहेतुः। स च आप्याऽणुषु नित्यः, द्व्यणुकादौ अनित्यः।

संस्कार[2]स्त्रिविधः–वेगः, भावना, स्थितस्थापकश्चेति। तत्र वेगाख्यः पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-मनस्सु मूर्त्तद्रव्येषु प्रयत्न-अभिघातविशेषापेक्षात् कर्मणः समुत्पद्यते, नियतदिक्क्रियाप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च। भावनाख्यः पुनः आत्मगुणः ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च, दृष्ट-अनुभूत-श्रुतेष्वर्थेषु स्मृति-प्रत्यभिज्ञानकार्योन्नीयमानसद्भावः। मूर्तिमद्द्रव्यगुणः स्थितस्थापकः 'घनाऽवयवसन्निवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं प्रयत्नतोऽन्यथास्थितमपि पूर्ववत् य[3]थास्थितं स्थापयति' इति कृत्वा, दृश्यते च तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैव अवस्थानं संस्कारवशात्, एवं धनुः-शाखा-वस्त्रादौ कार्यमस्य द्रष्टव्यम्। स च त्रिविधोऽप्ययं संस्कारः अनित्य एव। धर्माऽधर्मौ[4] आत्मविशेषगुणौ अनित्यावेव। शब्द[5]स्तु आकाशविशेषगुणः अनित्य एव इति।

षट्पदार्थपरीक्षायां वैशेषिकोक्तगुणपदार्थस्य तत्संख्यायाश्च प्रतिविधानम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[6]–'द्रव्याश्रयी' इत्यादि गुणानां लक्षणम्; तदसमीचीनम्; भवत्कल्पिते द्रव्ये प्रति[7]षिद्धे तेषां तदाश्रितत्वाऽनुपपत्तेः। अस्तु वा तेषां तदाश्रितत्वादिकं लक्षणम्; तथापि 'तल्लक्षणलक्षिता रूपादयश्चतुर्विंशतिरेव गुणाः' इत्यवधारणमनुपपन्नम्; अनेकधा गुणानां श्रवणात्–लोके हि शौर्य-औदार्यादयो अनेकधा गुणाः श्रूयन्ते। वैयाकरणमते[8] तु 'विशेष्यं द्रव्यम्, विशेषणं[9] गुणः' इति प्रसिद्धम्। "*यस्य गुणस्य हि भावात् द्रव्ये शब्दानिवेशः[10] तदभिधाने त्वतलौ*" [पात० महाभा० ५।१।११९] इत्यभिधानात्।[11]वैद्यकतन्त्रे तु विशद-स्थिर-खरं[12]-पिच्छलत्वादीनां गुणत्वप्रसिद्धिः। सांख्याः[13] पुनः सत्त्वरजस्तमसां गुणत्वं प्रतिपन्नाः, इति कथं तेषामियत्ताऽवधारयितुं शक्या? किञ्च, एते रूपादयः एकस्मिन् "[14]घटाद्यवयविनि निरंशैकस्वभावा[15]" भवताऽभ्युपगम्यन्ते, तथा च

---

१ "स्नेहोऽपां विशेषगुणः सङ्ग्रहमृजादिहेतुः।" प्रश० भा० पृ० २६६। २ "संस्कारस्त्रिविधः...।" प्रश० भा० पृ० २६६-६७। ३ यथावस्थि–ब०, ज०। यथाव्यवस्थि–भां०। ४ "धर्मः पुरुषगुणः... अधर्मोऽप्यात्मगुणः।..." प्रश० भा० पृ० २७२, २८०। ५ "शब्दोऽम्बरगुणः...।" प्रश० भा० पृ० २८७। ६ पृ० २७२ पं० २१। ७ "द्रव्याणां प्रतिषेधेन सर्वे एव तदाश्रिताः। गुणकर्मादयोऽपास्ता भवन्त्येव तथा मताः॥ ६३४॥" तत्त्वसं०। ८–त्ते पुनः वि–ब०, ज०। ९–णं तु गु–ब०, ज०। १०–विनिवेशः आ०। ११ "गुरुर्लघुः स्निग्धरूक्षौ तीक्ष्णः श्लक्ष्णः स्थिरः सरः। पिच्छिलो विशदः शीत उष्णश्च मृदुकर्कशौ॥ स्थूलः सूक्ष्मो द्रवः शुष्कः आशुर्मन्दः स्मृता गुणाः।" सुश्रुत० सूत्रस्थान अ० ४१। १२ "सरस्तेषां प्रवर्त्तकः।" भावप्रका० ५।२१८। सुश्रुते–खरनामापि गुणः। १३ "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ १३॥" सांख्यका०। १४ घटावयविनि आ०। १५–भावभवता आ०।

[1]कुञ्चिकाविवरप्रदेशादिना उपलभ्यमाने घटादौ यावद्द्रव्यवर्तिनो रूपादेर्बहिरन्तश्च उपलब्धिः स्यात्, अन्यथा निरंशैकरूपताव्याघातः। न हि तद्रूपस्य प्रतिभासाऽप्रतिभासलक्षणविरुद्धधर्माध्यासो युक्तः विरोधात्। एवं जलसेकादिना पृथिव्यां क्वचिद् अभिव्यज्यमाने गन्धे [2]समग्रभूगोलाऽवयवगतस्य गन्धस्य अभिव्यक्तिः स्यात्, अन्यथा अभिव्यक्तेतरविरुद्धधर्माध्यासाद् अवयविव्यापी न कश्चिद् एको गुणः स्यात्। अग्निसंयोगात् पाकजरूपोत्पत्तौ तु विप्रतिपत्त्यभाव एव अस्माभिरपि अभ्युपगमात्।

'अपेक्षाबुद्धितो द्वित्वादिसंख्या उत्पद्यते' इत्येतत्तु अयुक्तम्; तस्याः पदार्थेषु स्वभावसिद्धत्वात् एकत्ववत्। तद्व्यवहार एव हि अपेक्षाबुद्धिजन्यः न स्वरूपम्, बदरामलकादौ स्थूलादिव्यवहारवत्, यथैव हि स्वकारणकलापात् स्थूलत्वादिधर्मोपेतेषु उत्पन्नेषु बदरादिषु तद्व्यवहारः अपेक्षाबुद्धितो जायते एवमत्रापि। न च 'अपेक्षाबुद्धितोऽर्थानामुत्पत्तिः' इति प्रामाणिको वक्ति; इच्छामात्रादर्थनिष्पत्तौ सर्वस्यैव अभिप्रेतार्थसिद्धिप्रसङ्गात्। किञ्च, एकस्यां बुद्धौ प्रतिभासमाना एकैकगुणाः कथं कदाचिद् द्वित्वमुत्पादयन्ति कदाचिच्च बहुत्वम्? नहि तेषामेकत्वे कश्चिद्विशेषः। न च यौ द्वौ एकैकगुणौ तौ द्वित्वसंख्यामुत्पादयतः, ये च बहवः ते बहुत्वसंख्याम् इत्यभिधातव्यम्; द्वित्वादिसंख्योत्पत्तेः प्राक् तेषु द्वित्वस्य बहुत्वस्य चाऽसंभवात्। गुणत्वञ्चास्या न संभाव्यम्; गुणेष्वपि सद्भावात्, सुप्रसिद्धो हि 'एकं ज्ञानम्, द्वे ज्ञाने, चतुर्विंशतिर्गुणाः, षट् पदार्थाः' इत्यादिप्रतीतितो गुणेषु संख्यासद्भावः। न च भाक्तोऽयं प्रत्ययः; अस्खलद्वृत्तित्वात्। स्खलद्वृत्तित्वं हि भाक्तप्रत्ययस्य लक्षणम् माणवके अग्निप्रत्ययवत्।

यदपि–'महद्, अणु, दीर्घम्, ह्रस्वम्' इति चतुर्धा परिमाणं प्रतिपादितम्; तदपि अनल्पतमोविलसितम्; वस्तुसंस्थानविशेषव्यतिरेकेण तद्भेदस्यासंभवात् कस्य गुणरूपता उपवर्ण्येत? तद्विशेषस्यापि तद्रूपतोपवर्णने वर्तुल-त्र्यस्र-चतुरस्रादेरपि गुणरूपतोपवर्णनाऽनुषङ्गान्न तच्चतुर्विधत्वोपवर्णनं शोभेत।

---

1 "द्रव्ये महति नीलादिरेक एव यदीष्यते। रन्ध्रालोकेन तद्व्यक्तौ व्यक्तिर्दृष्टिश्च नास्य किम् ॥ ६३६ ॥" तत्त्वसं०। सन्मति० टी० पृ० ६७३। स्या० रत्ना० पृ० ९२०। 2 "रन्ध्रालोकेन इत्युपलक्षणम्। भुव एकदेशे जलेन गन्धस्य अभिव्यक्तौ प्रदेशान्तरेऽपि अभिव्यक्त्युपलब्ध्योः प्रसङ्गः।" तत्त्वसं० पं० पृ० २११। 3–तन्न युक्तम् ब०, ज०। पृ० २७३ पं० १५। 4 "इच्छारचितसङ्केतमनस्कारान्वयं त्विदम्। घटेष्वेकादिविज्ञानं ज्ञानादाविव वर्तते ॥ ६३९ ॥ अद्रव्यत्वान्न संख्यास्ति तेषु काचिद् विभेदिनी। तज्ज्ञानं नैव युक्तं तु भाक्तमस्खलितत्वतः ॥ ६४० ॥" तत्त्वसं०। "यथाहि–एकं ज्ञानं द्वे ज्ञाने इत्यादौ संख्यामन्तरेणापि एकादिबुद्धिर्भवति एवं घटादिष्वपि।" तत्त्वसं० पं० पृ० २१२। प्रमेयक० पृ० १७७ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६७४। स्या० रत्ना० पृ० ९२४। 5 पृ० २७४ पं० १। 6 "महद्दीर्घादिभेदेन परिमाणं यदुच्यते। तदप्यर्थं तथारूपभेदादेव न किं मतम् ॥ ६७४ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० १७८ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६७५। स्या० रत्ना० पृ० ९२८।

यदप्युक्तम्[1]–'बदरामलकादिषु भाक्तोऽणुव्यवहारः' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; तत्र गौणत्वप्रतिपत्तेः कस्यचिदप्यभावात्, न खलु यथा सिंहमाणवकादिषु मुख्य-गौणविवेकप्रतिपत्तिः सर्वेषामविगानेन अस्ति, तथा 'द्व्यणुके एव अणुत्व-ह्रस्वत्वे मुख्ये अन्यत्र गौणे' इति तद्विवेकप्रतिपत्तिः। प्रक्रियामात्रप्रदर्शनस्य च सर्वशास्त्रेषु सुलभत्वान्नातः प्रतिनियतवस्तुस्वरूपव्यवस्थितिः। आपेक्षिकत्वाच्च परिमाणस्यागुणत्वम्, नहि रूपादेः सुखादेर्वा गुणस्य आपेक्षिकत्वं दृष्टम्। योऽपि नील-नीलतरादेः सुख-सुखतरादेर्वा आपेक्षिको व्यवहारः, सोऽपि तत्प्रकर्षाऽपकर्षनिबन्धनो न पुनर्गुणस्वरूपनिबन्धनः।

यदपि–'अपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वम्'[2] इत्याद्युक्तम्[3]; तदपि न युक्तम्; अपोद्धारव्यवहारो हि भेदव्यवहारः, स च सर्वार्थानां स्वगताऽसाधारणभेदकर्मनिबन्धनः इति किं तत्र पृथक्त्वलक्षणगुणान्तरकल्पनया ? अन्यथा अपृथक्त्वमपि अभेदव्यवहारकारणं गुणान्तरं कल्प्यतामविशेषात्। द्विपृथक्त्वादिप्रक्रिया च द्वित्वादिसंख्यादूषणेनैव दूषिता।

संयोगोऽपि[4] नैरन्तर्याऽवस्थिताऽर्थव्यतिरेकेण अपरो न प्रतीयते। नैरन्तर्येण परिणता हि पदार्थाः संयुक्तव्यवहारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते। नैरन्तर्यरूपसंयोगस्य च गुणत्वे सामीप्य-दूरत्वादेरपि गुणत्वप्रसङ्गाद् गुणसंख्याव्याघातः। विभागोऽपि[5] संयोगाऽभावमात्रम्, न तु विभक्ताऽर्थेषु गुणान्तरोत्पत्तिः, विभागगुणशून्येऽपि च सह्य-विन्ध्यादौ विभक्तप्रत्ययो दृश्यते। नहि तत्र तद्गुणोऽस्ति संयोगविशिष्टाऽर्थेष्वेव तत्संभवात्। *"प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिर्विभागः"* [प्रश० भा० पृ० १५१] इत्यभिधानात्। न चाऽसौ प्रत्ययो भाक्तः; वैलक्षण्याऽभावात्, नहि 'मेषौ विभक्तौ, सह्य-विन्ध्यौ विभक्तौ' इत्यनयोः प्रत्यययोर्वैलक्षण्यमवधार्यते द्वयोरस्खलद्गतित्वाऽविशेषात्।

परत्वाऽपरत्वयोरपि[6] संख्यावत् निरासो बोद्धव्यः; अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वाऽविशेषात्। सन्निकर्ष-विप्रकर्षयोरेव हि पराऽपरप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेर्न किञ्चित् परत्वाऽपरत्वाभ्यां प्रयोजनम्। किञ्च, अयं पराऽपरादिव्यवहारः सत्ताद्रव्यत्वादावप्यस्ति, स चेत् सङ्केतवशात् स्वरूपमात्रनिबन्धनः

---

१ पृ० २७४ पं० ४। २ "अपोद्धारव्यवहृतिः पृथक्त्वाद्या तु कल्प्यते। कारणात्सा विभिन्नात्मभावनिष्ठा न किं मता ॥ ६५१ ॥ परस्परविभिन्ना हि यथा बुद्धिसुखादयः। पृथग्वाच्याः तदङ्गञ्च विनाऽन्येन तथा परे ॥ ६५२ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० १७८ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६७७। ३ पृ० २७४ पं० ११। ४ "प्राप्तावस्थाविशेषे हि नैरन्तर्येण जातितः। ये पश्यत्याहरत्येष वस्तुनी ते तथाविधे ॥६६६॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० १७९ पू०। सन्मति० टी० पृ० ६७९। स्या० रत्ना० पृ० ९३१। ५ "विभागेऽपि यथायोगं वाच्यमेतत् प्रमाद्वयं। एकस्यानेकवृत्तिश्च न युक्तेति प्रबाधकम् ॥ ६७४ ॥" तत्त्वसं०। ६ "यथा नीलादिरूपाणि क्रमभावव्यवस्थितेः। अन्योपाधिविवेकेऽपि तथोच्यन्ते तथाऽपरे ॥ ६७६ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० १७९ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६८१। स्या० रत्ना० पृ० ९३५।

अन्यत्राप्येवमस्तु, किं तत्रापि परत्वाऽपरत्वगुणनिबन्धनत्वसाधनप्रयासेन ? किञ्च, एवं सति मध्यत्वमपि गुणः स्यात् कालकृतस्य दिक्कृतस्य च मध्यव्यवहारस्य दर्शनात् पराऽपरव्यवहारवत्।

'गुरुत्वञ्च पतनाऽनुमेयम्' इत्ययुक्तम्; करतलस्थिते सुवर्णपिण्डादौ पतनं विनाऽपि 'दशपलोऽयम्, पञ्चपलोऽयम्' इति प्रतीतेः। किञ्च, गुरुत्वं नाम द्रव्यस्य पतनशक्तिः, शक्तयश्च प्रतिद्रव्यं स्वस्यां स्वस्यामर्थक्रियायां नानाविधाः, ताः कियत्यः संख्यातुं शक्यन्ते। प्रधानभूता हि षट्कारकशक्तयोऽर्थानां तद्भेदप्रभेदाश्च अनन्ताः, ते चेन्न गण्यन्ते किं गुरुत्वपरिगणनया ? किञ्च, गुरुत्वस्य गुणत्वे लघुत्वमपि गुणः स्यात् अविशेषात्। गुरुत्वाऽभावरूपत्वात् तस्य न गुणत्वमिति चेन्; गुरुत्वमपि लघुत्वाऽभावः किन्न स्यात् ? ननु गुरुत्वस्य अभावरूपत्वे तारतम्यं न स्यात्, इत्यन्यत्रापि समानम्। न च पतनकर्मकारिण्येव गुरुत्वव्यवहारः; 'मदीयो गुरुः' इति आराध्ये, 'मस्त्रिगुरुः' इति वर्णधर्मे च गुरुत्वव्यवहारदर्शनात्। किञ्च, यदि गुरुत्वं गुणः स्यात् तदा 'कारणगतैर्गुणैः कार्ये गुणाः आरभ्यन्ते रूपादिवत्' इत्यभ्युपगमात् तन्तुगतेन दशपलपरिमाणेन गुरुत्वेन पटे गुरुत्वमारभ्यमाणं सातिशयं स्यात् परिमाणवत्, तथा च तुलानमनातिशयः स्यात्, न चैवमस्ति।

यदपि–'स्यन्दनकर्मकारणं द्रवत्वम्'; तदपि शक्तिविशेषात् नान्यत्। तत्क्रियोत्पत्तौ विशिष्टा शक्तिरेव हि द्रवत्वम्, 'न च अर्थगताः शक्तयः परिसंख्यातुं शक्यन्ते' इत्युक्तम्। 'तच्च त्रिद्रव्यवृत्ति' इत्यप्ययुक्तम्; तेजसि अभावात्। सुवर्णादौ च तैजसत्वमसिद्धम्, सिद्धौ वा यत् तत्र द्रवत्वमुपलभ्यते तत् संयुक्तसमवायात् पार्थिवमेव रसादिवत्। न च पृथिव्यामपि सर्वस्यां द्रवत्वं संभवति शुष्ककाष्ठादिष्वभावात्।

एतेन स्नेहगुणोऽपि प्रत्याख्यातः; नहि सोऽपि सामर्थ्यविशेषादन्यः अपां विशेषगुणो वा घटते, घृततैलादिषु पार्थिवेषु उपलम्भात् अप्सु चाऽनुपलम्भात्, नहि शुद्धाभिरद्भिः स्नाते पुरुषे स्निग्धप्रत्ययो दृष्टः। संग्रहहेतुत्वं वस्तुसामर्थ्यात् पार्थिवलाक्षादीनामपि दृष्टम्।

योऽपि संस्कारस्त्रिविधः; सोऽप्यनुपपन्नः; न खलु क्रियाणां सातत्येनोत्पादनसामर्थ्यादन्यः कश्चिद् वेगाख्यो गुणः कुतश्चित्प्रमाणात् प्रतीयते। कथं तर्हि 'वेगेन गच्छति' इति प्रतीतिर्न

१ "अन्यथा मध्यत्वस्यापि स्वीकारप्रसङ्गादिति भूषणः।" न्यायलीला० पृ० २५। २ "करतलाद्युपरिस्थिते द्रव्यविशेषे पातानुपलम्भेऽपि…।" प्रमेयक० पृ० १८० पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९३८। ३ "मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो…।" छन्दोमं० १।८। मगणः त्रिगुरुः भवति। मन्त्रिणि गुरुः भां०, श्र०। ४ "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।" वै० सू० २।१।२४। ५ पृ० २७४ पं० १८। ६ "पृथिव्यनलयोरप्यस्ति द्रवत्वमित्यनुपपन्नम्; सुवर्णादीनां…।" प्रमेयक० पृ० १८० पू०। ७ "घृतादेरपि लोके वैद्यकशास्त्रे च स्निग्धत्वेन प्रसिद्धत्वात्।…" प्रमेयक० पृ० १८० पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९३९। ८ पृ० २७७ पं० ३। ९ "न च क्रियातोऽर्थान्तरं वेगः अस्याः शीघ्रोत्पादमात्रे वेगव्यवहारप्रसिद्धेः।" प्रमेयक० पृ० १८० उ०। सन्मति० टी० पृ० ६८४। स्या० रत्ना० पृ० ९४०।

विरुध्यते ? इति चेत्; शीघ्रक्रियाणां सातत्ये 'वेगेन गच्छति' इति प्रतीतेरविरोधः। अतः प्रतीतेर्वेगाख्यगुणसद्भावे च 'वेगेन शास्त्रं जानाति, वेगेन पक्त्रिकाः पच्यन्ते' इत्यत्रापि वेगगुणसद्भावः स्यात्। 'सन्तानेन आगच्छति' इति प्रतीतेश्च सन्तानोऽपि गुणः स्यात्। भावनारूपोऽपि संस्कारः आत्मनः स्मरणजननशक्तेर्नान्यः। एतेन स्थितस्थापकोऽपि संस्कारः प्रत्याख्यातः; नहि सोऽपि यथाऽवस्थितवस्तुस्थापनसामर्थ्यादपरः प्रतिभासते। न चासौ नियमेन यथाऽवस्थितं वस्तु [1]स्थापयति आकृष्यमाणे शाखादौ अनियतदिक्त्वेन शाखादेर्गमनस्य स्थानस्य च दर्शनात्।

धर्माऽधर्मावपि नात्मगुणौ प्रतिपादयितुं शक्यौ; तत्र विप्रतिपत्तेः। अस्मन्मते हि [2]पौद्गलिकौ तौ, सांख्यमते बुद्धिधर्मौ, मीमांसककृतान्ते द्रव्यादिकं श्रेयःसाधनत्वशक्तिविशिष्टं तच्छब्दवाच्यम्, बौद्धराद्धान्ते ज्ञानस्यैव वासनाख्यं शक्तिरूपं कर्म इति प्रसिद्धम्।

एतेन शब्दोऽपि आकाशगुणः प्रतिषिद्धः; विप्रतिपत्तीनामविशेषात्। तथाहि–जैनाः [3]पौद्गलिकं तं प्रतिजानन्ति, मीमांसका [4]नित्यद्रव्यम्, [5]शिक्षाकारा मीमांसकविशेषाः वायवीयम्, [6]सौत्रान्तिकाः परमाणुरूपम्, [7]वैयाकरणाः स्फोटात्मकम्, [8]सांख्याः प्रकृतिपरिणामम् इति। तन्न गुणपदार्थोऽपि परपरिकल्पितो विचार्यमाणो घटते। एतेन कर्मपदार्थोऽपि प्रत्याख्यातः।

'उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः–

ननु कर्मणो गुणलक्षणाद् विभिन्नलक्षणलक्षितत्वात् कथं तत्प्रत्याख्यानेन अस्य प्रत्याख्यानम् ? तस्य हि लक्षणम्–"*एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणं कर्म*।" [वै० सू० १।१।१७] इति। एकद्रव्यम् आश्रयो अस्यास्तीति एकद्रव्यम्, न अस्य गुणाः सन्ति स्वयं च गुणो न भवति इति अगुणम्, संयोगविभागेषु च कर्त्तव्येषु न किञ्चित् कारणमपेक्षते इति [9]अनपेक्षम्। तच्च अनेन लक्षणेन लक्षितं कर्म पञ्चप्रकारं भवति, तथा च सूत्रम्–"*उत्क्षेपणम् अपक्षेपणम् आकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि*" [वै० सू० १।१।७] इति। तच्च 'उत्क्षिप्यते हस्तः, अपक्षिप्यते पादः, आकुञ्च्यते पाणिः, प्रसार्यते अङ्गुलिः' इत्यादिविशिष्टप्रत्ययाद् द्रव्यादर्थान्तरम्। [10]तत्र उत्क्षेपणम्–यद् ऊर्ध्वाऽधःप्रदेशैः संयोग-

---

१ स्थापनस्य श्र०। २ धर्मविषये तृतीयपृष्ठस्य टिप्पणी (१-७) द्रष्टव्या। ३ तच्च साधितं २४२ पृष्ठे। ४ "वर्णानां तु नित्यानां द्रव्यत्वमेवाङ्गीक्रियते।" शास्त्रदी० १।१।२३। ५ "तथा च शिक्षाकारा आहुः–वायुरापद्यते शब्दतामिति; नैतदेवम्।" शाबरभा० १।१।२२। ६ "उपात्तादिमहाभूतहेतुत्वाङ्गीकृतेर्ध्वनेः ॥ ६२७ ॥" तत्त्वसं०। ७ "स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः। ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते।" वाक्यप० १।७५। ८ 'तन्मात्रापञ्चकान्तर्गतः शब्दः प्रकृतिपरिणामरूपः' एतदर्थं सांख्यका० २४ द्रष्टव्या। ९ "स्वोत्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकभावभूतानपेक्षम् इत्यर्थः, तेन समवायिकारणापेक्षायां पूर्वसंयोगाभावापेक्षायां च नासिद्धत्वम्।" वै० उप० १।१।१७। १० उत्क्षेपणादीनां पञ्चानामपि लक्षणानि किञ्चिच्छब्दभेदेन प्रशस्तपादभाष्ये (पृ० २९१-९२) द्रष्टव्यानि।

विभागकारणं कर्म उत्पद्यते, यथा शरीराऽवयवे तत्सम्बद्धे च मुसलादौ ऊर्ध्वदिग्भाविभिः आकाशाद्यर्थैः संयोगकारणम् अधोदिग्भाविभ्यश्च विभागकारणं गुरुत्व-प्रयत्न-संयोगवशात् कर्म उत्पद्यते। उक्तविपरीतसंयोगविभागकारणं तदपक्षेपणम्। ऋजुनो द्रव्यस्य कुटिलत्व-कारणं कर्म आकुञ्चनम्, तद्यथा ऋजुनो वाह्वादिद्रव्यस्य अग्राऽवयवानामङ्गुल्यादीनां तद्देशैः स्वसंयोगिभिराकाशाद्यैर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे येन कर्मणा अवयवी कुटिलः सम्पद्यते तद् आकुञ्चनम्। तद्विपर्ययेण तु संयोगविभागोत्पत्तौ येन कर्मणा अवयवी ऋजुः सम्पद्यते तत् कर्म प्रसारणम्। अनियतदिग्देशैर्घटादिभिर्यत् संयोगविभागकारणं तद् गमनम्। उत्क्षेपणादिकं चतुःप्रकारमपि नियतदिग्देशैस्तैः तत्कारणम्। अत एव पञ्चैव कर्माणि भवन्ति भ्रमण-स्यन्दन-रेचनादीनां गमने एव अन्तर्भावादिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'एकद्रव्यम्' इत्यादि कर्मणो लक्षणम्; तदसमीचीनम्;

षट्पदार्थपरीक्षायां तथोक्तकर्मपदार्थनिरसनपुरस्सरं 'देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मकः परिणामोऽर्थस्य कर्म' इति व्यवस्थापनम्—

भवत्परिकल्पिते द्रव्ये प्रतिषिद्धे तस्य तल्लक्षणत्वाऽनुपपत्तेः। अस्तु वा तद् द्रव्यम्; तथापि एतद् गन्तृस्वभावम्, अगन्तृस्वभावम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा कर्मण आश्रयः स्यात्? गन्तृस्वभावं[6] चेत्; तर्हि तद्व्यतिरिक्तकर्मकल्पनावैयर्थ्यम्, तत्स्वभावस्यापि तत्कल्पने अनवस्थाप्रसङ्गात्। किञ्च, सर्वदा तत् तत्स्वभावम्, कदाचिद्वा? प्रथमपक्षे न कदाचित् तदवतिष्ठेत् सर्वदा गन्तृस्वभावत्वात् वायुवत्। अथ कदाचित्; तदा 'पूर्वम् अगन्तृस्वभावं तत् पश्चाद् गन्तृस्वभावम्' इत्यायातम्। तत्र च पूर्वाऽगन्तृस्वभावपरित्यागेन तद् गन्तृस्वभावतां स्वीकुर्यात्, अपरित्यागेन वा? यदि परित्यागेन; तदा अण्वादिद्रव्यस्य अनित्यतापत्तिः, स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात् तस्याः। अथ अपरित्यागेन; तन्न; अपरित्यक्ताऽगन्तृस्वभावस्य हिमाचलादिवत् गन्तृस्वभावसमावेशाऽनुपपत्तेः। तन्न गन्तृस्वभावस्य अण्वादिद्रव्यस्य कर्माश्रयत्वं घटते। नापि अगन्तृस्वभावस्य; आकाशादिवत् तथाविधस्य अस्य तदाश्रयत्वविरोधात्, पूर्वमगन्तृस्वभावस्य उत्तरकालं गन्तृस्वभाववर्तायां सत्यां तस्य तदाश्रयत्वे तु उक्तदोषाऽनुषङ्गः।

---

१ "गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम्।" वै० सू० १।१।२९। २ संयोगेन क–आ०। ३ तत्प्रसा– व०, ज०। ४ "···भ्रमणाद्यवरोधार्थत्वात्; उत्क्षेपणादिशब्दैरनवरुद्धानां भ्रमणपतनस्यन्दनादीनामवरोधार्थं गमनग्रहणं कृतमिति।" प्रश० भा० पृ० २९६। ५ पृ० २७९ पं० १५। ६–चं तदा त–आ०। "यदि गन्त्रादिरूपं तत्प्रकृत्या गमनादयः। सदा स्युः क्षणमप्येवं नावतिष्ठेत निश्चलम् ॥६९९॥ यस्माद्गत्याद्यसत्त्वेऽपि प्राप्नुवन्त्यस्य ते ध्रुवं। अत्यक्तपूर्वरूपत्वाद् गत्याद्युदयकालवत् ॥ ७०० ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० १८३ पू०। ७ "अथागन्त्रादिरूपं तत्प्रकृत्याऽगमनादयः। सदा स्युः क्षणमप्येकं नैव प्रस्पन्दवद्भवेत् ॥७०१॥ पश्चाद्गत्यादिभावेऽपि निश्चलात्मकमेव तत्। अत्यक्तपूर्वरूपत्वात् निश्चलात्मककालवत् ॥७०२॥" तत्त्वसं०। ८–तायां तस्य व०, ज०, श्र०। ९ च व०, ज०।

नाप्युभयस्वभावस्य; उभयपक्षनिक्षिप्तदोषाऽनुषङ्गात्। किञ्च, अस्य उभयस्वभावता युगपत्, क्रमेण वा स्यात्? न तावद् युगपत्; गन्तृत्वाऽगन्तृत्वस्वभावयोर्विभिन्नकालनिबन्धनत्वात्, ययोर्विभिन्नकालनिबन्धनत्वम् न तयोर्युगपद्भावः यथा प्रसारितेतराङ्गुलिस्वभावयोः, तत्कालनिबन्धनत्वञ्च तत्स्वभावयोरिति। युगपत्तद्भावे च अण्वादेः विरुद्धधर्माऽध्यासतो भेदप्रसंगाद् ऐकरूप[1]ताव्याघातः। क्रमेण तद्भावाऽभ्युपगमे अगन्तृरूपत्यागेन अत्यागेन वा गन्तृरूपोत्पादे प्रागुक्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्गः। अनुभयरूपता तु विरोधान्न युक्ता; विधिप्रतिषेधधर्मयोः एकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यंभावित्वात्। ततः सर्वथैकस्वभावे वस्तुनि कर्मणोऽनुपपद्यमानत्वान्न परेषां कर्मपदार्थो घटते।

अस्तु वाऽसौ; तथापि 'देशाद्[2] देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मकः परिणामोऽर्थस्य कर्म' इत्येतावतैव पर्याप्तत्वात् न तत्पञ्चप्रकारतोपवर्णनं युक्तम्, उत्क्षेपणादीनामत्रैवाऽन्तर्भावात्। अत्र अन्तर्भूतानामपि कञ्चिद्विशेषमादाय भेदेनाऽभिधाने भ्रमण-रेचनादीनामपि अतो भेदेनाऽभिधानाऽनुषङ्गात् कथं पञ्चप्रकारतैव अस्य स्यात्।

किञ्च, उत्क्षेपणादिकर्मणो भेदः स्वरूपनिबन्धनः, जातिनिबन्धनो वा स्यात्? स्वरूपनिबन्धनश्चेत्–किं स्वरूपमात्रनिबन्धनः, विशिष्टस्वरूपनिबन्धनो वा? न तावत् स्वरूपमात्रनिबन्धनः; तन्मात्रस्य सर्वेषामविशिष्टत्वात्। अविशिष्टस्याऽपि भेदकत्वे एकतद्व्यक्तेरपि भेदकत्वप्रसङ्गान्न क्वचिदेकत्वव्यवहारः स्यात्। विशिष्टस्वरूपनिबन्धनश्चेत्; किंकृतं तद्वैशिष्ट्यम्? जातिकृतमिति चेत्; तर्हि 'जातिनिबन्धनस्तद्भेदः' इत्यायातम्।

तत्रापि उत्क्षेपणत्वादिजातिः अभिव्यक्ता, अनभिव्यक्ता वा तत्कर्मणो भेदं विदध्यात्? न तावदनभिव्यक्ता; सर्वत्र सर्वदा तद्भेदाऽभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात्। अभिव्यक्ता चेत्; कुतस्तदभिव्यक्तिः–तत्कर्मभेदात्, अन्यतो वा? न तावदन्यतः; विजातीयव्यक्तीनामभिव्यञ्जकत्वे कर्कादिभ्यो गोत्वाऽभिव्यक्तिप्रसङ्गात्। तत्कर्मभेदस्य च अभिव्यञ्जकत्वे अन्योऽन्याश्रयः–सिद्धे हि तत्कर्मणो भेदे ततः तज्जातीनामभिव्यक्तिसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तत्कर्मणो भेदसिद्धिरिति।

किञ्च, आसां तत्कर्म[3]क्षणो व्यञ्जकः, तत्समुदायो वा? न तावत् तत्क्षणः; प्रथमक्षणे समुत्पन्नस्य तत्कर्मक्षणमात्रस्य दुर्लक्ष्यतया उत्क्षेपणत्वादिजात्यभिव्यञ्जकत्वाऽयोगात्, नहि क्षणमात्रभावि कर्म उत्क्षेपणम् अपक्षेपणं वा अस्मदादिभिर्लक्ष्यते, येन अतः तज्जातिभेदोऽभिव्यक्तः स्यात्, तस्य अतिसूक्ष्मत्वेन योगिनामेव प्रत्यक्षत्वात्। नापि तत्समुदायो व्यञ्जकः; कर्मणां क्षणिकत्वेन समुदायस्यैवाऽसंभवात्। बुद्धिपरिकल्पितः सोऽस्तीत्यप्ययुक्तम्; वस्तु-

१ एकरूप–ब०, ज०, श्र०। "यदि तु स्यादगन्ताऽयमेकदा चान्यथा पुनः। परस्परविभिन्नात्मसङ्गतेर्भिन्नता भवेत् ॥७०३॥" तत्त्वसं०। २ "उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया।" सर्वार्थसि० ५।७। प्रमेयक० पृ० १८३ पू०। ३ "उत्क्षेपणत्वादिजात्यभिव्यञ्जकः कर्मक्षणः तत्समुदायो वा····" स्या० रत्ना० पृ० ९५०।

भूतार्थक्रियायां काल्पनिकस्य सामर्थ्याऽसंभवात्। सर्वथा अर्थादर्थान्तरस्य च अस्य ग्राहकप्रमाणाऽभावाद् असत्त्वम्। यद् यतः सर्वथा अर्थान्तरं प्रमाणतो न प्रतीयते न तत् तथाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा सामान्यादेः स्वरूपसत्त्वम्, सर्वथा अर्थादर्थान्तरं न प्रतीयते च कुतश्चित्प्रमाणात् कर्म इति। ततो यथोक्तस्वरूपमेव कर्म प्रतीतिभूधरशिखरारूढं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

'संयोग एव कर्म' इति भूषणमतस्य निराकरणम्—

ननु 'सालोकाऽवयविद्रव्यसंयोग-विभागव्यतिरेकेण नाऽपरं किञ्चित् कर्म प्रतीयते, ऊर्ध्वप्रदेशाऽऽलोकाद्यवयविद्रव्यसंयोग-विभागपरम्परा हि उत्क्षेपणम् उच्यते, एवम् अपक्षेपणादावपि वक्तव्यम्' इत्यन्ये; सोऽपि प्रतीत्यपलापित्वाद् अप्रामाणिकः; नहि संयोग-विभागौ 'चलति' इत्यादिप्रतीतेरालम्बनतां प्रतिपद्येते 'संयुक्तः, वियुक्तः' इति प्रतीतिगोचरचारित्वात्तयोः, यथाविषयम् अवितथप्रत्ययप्रवृत्तेः, अन्यथा पटप्रत्ययोऽपि घटालम्बनः स्यात्। संयोग-विभागालम्बनत्वे चास्य तिष्ठत्यपि 'चलति' इति प्रत्ययः स्यात्, न चैवम्, न खलु नदीमध्यस्थिते स्थाणौ जलप्रवाहेण श्येनेन वा संयोगविभागेषु प्रवर्त्तमानेष्वपि 'स्थाणुश्चलति' इति स्वप्नेऽपि कस्यचित् प्रतीतिरस्ति। निरन्तरञ्च संयोग-विभागश्रेणिदर्शनात् देवदत्तवद् भूमावपि 'चलति' इति प्रतीतिः स्यात्। नहि संयोग-विभागयोः उभयत्र वृत्त्यविशेषे 'देवदत्ते एव तत्प्रतीतिर्भवति न भूमौ' इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिर्युक्ता; स्वेच्छाचारित्वप्रसङ्गात्। अथ देवदत्तक्रिययैव तौ जन्येते न भूमिक्रियया अतः तत्रैव तत्प्रतीतिमुत्पादयतः न भूमौ; यद्येवम्, क्रियान्वय-व्यतिरेकाऽनुविधायित्वात् तत्प्रतीतेः सिद्धं क्रियालम्बनत्वमेव।

संयोग-विभागाऽग्रहणेऽपि च निरालम्बे विहायसि विहरति विहङ्गमे 'चलति' इति प्रत्ययप्रतीतेश्च। नहि गगनतत्संयोगोऽस्मदादेः प्रत्यक्षः; प्रत्यक्षेतरद्रव्यवृत्तित्वाद् गन्धवहमहीरुहसंयोगवत्। ननु विततऽऽलोकावयवी आकाशः, तेन च पतत्रिसंयोगः अस्मदादेः प्रत्यक्ष एव; इत्यप्यसुन्दरम्; समन्धकारे 'खद्योतो गच्छति' इति प्रत्ययाभावप्रसङ्गात्। नहि तत्र आलोकाऽवयवी विद्यते, यत्संयोग-विभागग्रहणनिबन्धनोऽयं प्रत्ययः स्यात्। नापि अन्धकारलक्षणं किञ्चिद् भवन्मते वस्त्वस्ति, 'आलोकाभावस्तमः' इत्यभ्युपगमात्। भूकम्पो-

१ सर्वथाऽर्थान्तरस्य ग्रा–ज०। २ चार्थग्रहणस्य भां०, श्र०। ३–थार्थान्त–आ०। ४ भूषणः। "भूषणादिमते च कर्मणो गुणत्वेन...।" न्यायलीला० कण्ठा० पृ० ९४। "संयोगापेक्षया कर्मणोऽतिरिक्तत्वं नास्तीति भूषणकारमतम्।..." मुक्ता० दिनकरी पृ० ४०। "संयोग एव कर्म इति भूषणमतम्।" (प्र० प्र०) न्यायको० पृ० २०६। ५ वर्त्त–आ०। ६ "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः।" वै० सू० ५।२।१९। कन्दल्यां तु 'भाभावः' इति सूत्रपाठभेदः (पृ० १०)। "तस्माद्रूपविशेषोऽयं अत्यन्तं तेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितः तमः।" प्रश० कन्दली पृ० ९। जैनास्तु–"तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम् अय च पौद्गलिकम्।" सर्वार्थसि० ५।२४। 'द्रव्यं तमः' इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति... 'आलोकज्ञानाभावः' इति प्राभाकरैकदेशिनः।" सर्वदर्शनसं० औलू० द० पृ० २२९। वैयाकरणास्तु–"अणवः सर्वशक्तित्वाद्भेदसंसर्गवृत्तयः। छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः॥ १११॥" वाक्यप० काण्ड १।

त्पाते च जाते 'चलति वसुमती' इति प्रतीतिर्दृश्यते, न च तत्र उत्पातहेतुना संयोग-विभागौ गृह्येते। तस्मान्न संयोगाद्यालम्बना 'चलति' इति प्रतीतिः, किन्तु क्रियालम्बनैव।

किञ्च, इमौ संयोग-विभागौ अहेतुकौ, सहेतुकौ वा स्याताम्? अहेतुकत्वे सर्वदा सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्। सहेतुकत्वे कस्तयोर्हेतुः–पदार्थस्वरूपमात्रम्, तद्विशिष्टपरिणामो वा? प्रथमपक्षे स्थिरेऽप्यर्थे अपराऽपरप्रदेशाऽवयविद्रव्यसंयोग-विभागोत्पादप्रसङ्गः तत्स्वरूपमात्रस्य तत्राप्यविशिष्टत्वात्। विशिष्टपरिणामहेतुकत्वे तु नाममात्रभेदः, कर्मण एव तत्परिणामशब्देन अभिधानात्, तद्व्यतिरेकेण अपराऽपरप्रदेशाऽवयविद्रव्यसंयोग-विभागहेतोः पदार्थानां विशिष्टपरिणामस्य असंभवात्। अतः कर्म संयोग-विभागाभ्यां देवदत्तादेश्च अर्थान्तरम् विभिन्नप्रत्ययग्राह्यत्वात् घट-पटवत्। न चेदमसिद्धम्; संयोग-विभागयोः संविद्द्वयप्रतिष्ठतया संवेदनात्, कर्मणस्तु एकसंविन्निष्ठतया। तथा, देवदत्तः चलत्तिष्ठदवस्थायां देवदत्तप्रत्ययवेद्यः, कर्म पुनः चलदवस्थायामेव 'चलति' इति प्रत्ययवेद्यम्, अतः ततो भिन्नम्; सर्वत्र भेदव्यवस्थायाः संविद्भेदनिबन्धनत्वात्।

ननु क्षणमात्रस्थायितया अर्थानां देशाद्देशान्तरप्राप्त्यसंभवात् नैतल्लक्षणमपि कर्म उपपन्नम्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; क्षणिकत्वस्य अर्थानां निराकरिष्यमाणत्वात्। तन्न कर्मपदार्थोऽपि परपरिकल्पितो विचार्यमाणो घटते। नापि सामान्यपदार्थः; तत्स्वरूपस्यापि विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात्।

'द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरं पराऽपरभेदात् द्विविधं सामान्यम्' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु द्रव्य-गुण-कर्मोऽनिमित्ताऽबाध्यमानाऽनुगतज्ञाननिमित्तं सामान्यम्, तत्स्वरूपस्य चास्य कथं विचार्यमाणस्याऽनुपपत्तिः? तद्रूपतयाऽस्य प्रत्यक्षादिगोचरचारितया समर्थयिष्यमाणत्वात्। तद्रूपोपेतञ्च सामान्यं द्विविधम्–परम्, अपरं चेति। तत्र परं महाविषयं सत्ताख्यम्, तच्च समस्तेषु द्रव्यगुणकर्मसु अनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव हेतुत्वात् सामान्यमेव, न विशेषः। अपरं तु द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिलक्षणम्, तच्च स्वाश्रयेष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् 'सामान्यम्' इत्युच्यते, विजातीयेभ्यः स्वाश्रयस्य व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वाच्च सामान्यमपि सत् 'विशेषः' इत्यभिधीयते। तथाहि–गुणादिषु 'अद्रव्यम्' 'अगुणः' इत्यादिका येयं व्यावृत्तबुद्धिरुत्पद्यते तां प्रति एषामेव द्रव्यगुणत्वादीनां हेतुत्वं प्रतीयते नान्यस्य। न चैकस्य अस्य सामान्यविशेषभावो विरुध्यते इत्यभिधातव्यम्; अपेक्षाभेदात् तत्र तद्भावस्य अविरोधात्। तत्सद्भावे च प्रत्यक्षमेव तावत्प्रमाणम्, विभिन्नगवादिव्यतिरिक्तस्य अनुगतस्यैक-

---

१ "क्षणक्षयिषु भावेषु कर्मोत्क्षेपाद्यसंभवि। जातदेशे च्युतेरेव तदन्यप्राप्त्यसंभवात् ॥६९२॥" तत्त्वसं०। २ "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता।" वै० सू० १।२।७। ३–श्रयेष्वनु–आ०। "द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं सामान्यानि विशेषाश्च।" वै० सू० १।२।५। "तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद् सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते।" प्रश० भा० पृ० ११, ३१२। ४–वृत्तिप्र–श्र०। ५–वृत्तत्वबु–श्र०।

स्यास्य 'गौः' 'गौः' इत्यादि अनुगतेन्द्रियप्रभवप्रत्यये प्रतिभासमानत्वात्। नहि इदम् अनुगतै-काकारवस्त्वालम्बनमन्तरेण उपपद्यते; निर्हेतुकत्वेन सर्वदा सत्त्वस्य असत्त्वस्य वा प्रसङ्गात्, खण्डादिवत् अन्यत्रापि वा नियामकाऽभावतः प्रवृत्त्यनुषङ्गात्। न च व्यक्त्यालम्बनत्वादयम-दोषः इत्यभिधातव्यम्; व्यक्तीनां व्यावृत्तरूपतया अनुगतैकाकारप्रत्ययालम्बनत्वाऽयोगात्। अन्याकारप्रत्ययस्य अन्यालम्बनत्वे सर्वत्राऽनाश्वासान्न क्वचित् प्रतिनियतार्थसिद्धिः स्यात्।

तथा, अनुमानमपि तत्सद्भावावेदकत्वेन प्रवर्त्तते; तथा[2]हि–गो-अश्व-महिष-वराहादिषु गवाद्यभिधान-ज्ञानविशेषाः समय-आकृति-पिण्डादिव्यतिरिक्तस्वरूपानुरूपसंसर्गिनिमित्तान्तर-निबन्धनाः गवादिविषयत्वे सति पिण्डादिस्व[3]रूपाभिधान-ज्ञानाद्व्यतिरिक्ताभिधान-ज्ञानविशेष-त्वात्, यथा तेष्वेव गवादिषु 'सवत्सा धेनुः, भाराक्रान्तो महिषः, सशल्यो वराहः, साङ्कुशो मातङ्गः' इत्यभिधान-ज्ञानविशेषा निमित्तान्तरसंभवाः, ये च पिण्डादिस्वरूपव्यतिरिक्तनिमि-त्तान्तरनिमित्ता न भवन्ति न ते तद्व्यतिरिक्ताऽभिधान-ज्ञानविशेषाः यथा पिण्डादिप्रत्यया इति। तथा, 'य[4]द्वस्त्वाकारविलक्षणो यः प्रत्ययः स तद्व्यतिरिक्तनिमित्तान्तरनिबन्धनः यथा वस्त्रादिषु रक्तादिप्रत्ययः, तथा चायं पिण्डादिषु गवादिप्रत्यय इति। गवादिषु[5] अनुवृत्तिप्रत्ययः पिण्डादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनः, विशिष्टप्रत्ययत्वात्, नीलादिप्रत्ययवत् इति। गोपिण्डा[6]द-र्थान्तरं गोत्वम्, भिन्नप्रत्ययविषयत्वात् रूप-स्पर्शादिवत्, इति। पिण्डा[7]दर्थान्तरं गोत्वम्, 'तस्य' इति व्यपदेशात्, चैत्रस्य तुरङ्गमवत्। "गौः गौः' इत्यभिन्नाऽभिधान-प्रत्ययौ अनुवृत्तवस्तु-निबन्धनौ, अभावसामान्याभिधानप्रत्ययान्यत्वे सति अनुवृत्ताऽभि[9]धानप्रत्ययत्वात्[8]", चर्म-वस्त्रा[10]-दिषु नीलीद्रव्यसम्बन्धात् 'नीलम्' 'नीलम्' इत्यभिधानप्रत्ययवत्।' इत्याद्यनुमानेन च द्रव्या-दिभ्योऽर्थान्तरं तत् प्रतिभासते।

१–त्त्वम–ब०, ज०। २ तत्र भाविविक्तः आह–"गवादिशब्दप्रज्ञानविशेषा गोगजादिषु। समया-कृतिपिण्डादिव्यतिरिक्तार्थहेतवः॥ ७१६॥ गवादिविषयत्वे हि सति तच्छब्दबुद्धितः। अन्यत्वात्तद् यथै-ष्वेव सवत्साऽङ्कुशधीध्वनी॥७१७॥ शशशृङ्गादिविज्ञानैर्व्यभिचाराद्विशेषणम्। तत्स्वरूपाभिधानञ्च वैधर्म्यान्नि-दर्शनम्॥७१८॥" (पूर्वपक्षरूपेण) तत्त्वसं०। ३–स्वरूपाभिधानज्ञानविशेषत्वात् आ०, ब०, ज०। "गवादिविषयत्वे सति पिण्डादिस्वरूपाभिधानप्रज्ञानव्यतिरिक्ताभिधानज्ञानत्वात्।..." तत्त्वसं० पं० पृ० २३८। ४ "यथा परस्परविशिष्टेषु चर्मवस्त्रकम्बलादिषु नीलीद्रव्याभिसम्बन्धात् नीलं नीलमिति प्रत्ययानु-वृत्तिः तथा परस्परविशिष्टद्रव्यगुणकर्मसु सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः सा चार्थान्तराद्भवितुमर्हति।..." प्रश० भा० पृ० ३११-१२। "यद्वस्त्वाकारविलक्षणो यः स...।" तत्त्वसं० पं० पृ० २३८। ५ "गवादि-ष्वनुवृत्तिप्रत्ययो दृष्टः पिण्डव्यतिरिक्ताल्लिङ्गाद्भवतीति विशेषवत्त्वात् नीलादिप्रत्ययवत्।" न्यायवा० २।२।७०। ६ "गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं भिन्नप्रत्ययविषयत्वात् रूपस्पर्शप्रत्ययवदिति।" न्यायवा० २।२।७०। ७ "गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं व्यपदेशशब्दविषयत्वात् चैत्राश्ववत्।..." न्यायवा० २।२।७०। ८"गोर्गोत्वानुवृत्तिप्रत्यया भिन्ननिमित्ता विशेषवत्त्वाद्रूपादिप्रत्ययवत्।" न्यायवा० २।२।७०। ९–भिधान-प्रधान प्र–आ०। १०–स्वाच्च वस्त्रा–श्र०।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]-'द्रव्यगुणकर्माऽनिमित्त' इत्यादि; तदसमीचीनम्; भवत्कल्पितद्रव्यादीनामुक्तविधिना निषेधे सति सामान्यस्य तदाश्रितस्य तत्र अनुगतज्ञाननिमित्तत्वाऽनुपपत्तेः । नहि आश्रयमन्तरेण आश्रितानां क्वचिदवस्थितिः। कार्यकारित्वं वा दृष्टम् अनाश्रितत्वप्रसङ्गात् । 'अनुगतज्ञाननिमित्तम्' इत्यस्य च भाषितस्य कोऽर्थः-किम् अनुगतस्य ज्ञानस्य निमित्तम् अनुगतज्ञाननिमित्तम्, अनुगतं वा सत् ज्ञाननिमित्तम् इति ? प्रथमपक्षे ज्ञाने अनुगमः किंकृतः-स्वरूपकृतः, सामान्यकृतो वा ? न तावत् स्वरूपकृतः; अर्थानामपि स्वरूपत एव अनुगमप्रसङ्गतः सामान्यकल्पनाऽनर्थक्याऽनुषङ्गात् । अथ सामान्यकृतः, प्रतिभासस्या[4]ऽनुसारेण हि ज्ञानस्य अनुवृत्तिः नान्यथा; तर्हि 'अनुगतं सत् ज्ञाननिमित्तम्' इत्ययं पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात् । तत्राऽपि अस्य अनुगतत्वम्-ज्ञानाऽर्थयोः साधारणस्वभावाऽऽधारत्वम्, नित्यैकत्वे सति अनेकत्र व्यतिरिक्तया वृत्त्या वर्त्तमानत्वं वा ? आद्यविकल्पे संयोगेन अनेकान्तः, तस्य[5] ज्ञानाऽर्थयोः साधारणस्वभावत्वेन अनुगतस्य सतो ज्ञाननिमित्तत्वेऽपि सामान्यरूपत्वाऽभावात् । नहि तस्य येनैव स्वभावेन स्वं[6]-ज्ञानविषयत्वं तेनैव स्वसम्बन्धिनि वर्त्तमानत्वमसिद्धम्, सामान्यवत् निरंशत्वेन अस्यापि स्वभावभेदाऽभावात् । द्वितीयपक्षस्तु अयुक्तः; सामान्ये नित्यैकत्वस्य समवायवृत्त्यां[7] च अनेकत्र वर्त्तमानत्वस्य अव्याप्त्य[8]सिद्धेः ।

षट्पदार्थपरीक्षायां वैशेषिकोक्तनित्यानिरंशैकादिरूपसामान्यस्य प्रतिविधानपुरस्सरं तस्य सदृशपरिणामात्मकत्वप्रसाधनम्—

यदप्युक्तम्[9]-'तत्सद्भावे च प्रत्यक्षमेव' इत्यादि; तत्र प्रत्यक्षं गोत्वादिसामान्यस्य परिच्छेदकं [10]निर्विकल्पकम्, सविकल्पकं वा स्यात् ? न तावन्निर्विकल्पकम्; तस्य परामर्शशून्यत्वेन 'गौः गौः' इत्याद्युल्लेखेन अनुवृत्तवस्तुपरामर्शकत्वाऽयोगात् । तत्त्वे वा न यथोपवर्णितस्वरूपं वर्ण-आकृति-अक्षराकारशून्यं नित्यैकव्यापिस्वभावं तत् तत्र प्रतिभासते विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । न खलु स्वरूपेण प्रतिभासमानेऽर्थे कश्चिद् विप्रतिपद्यते व्यक्तिवत् । नापि सविकल्पकम्; तस्य निर्विकल्पकपृष्ठभावितया तत्प्रतिपन्ने एव अर्थे प्रवृत्तेः । 'न च सामान्यं निर्विकल्पकप्रतिपन्नम्' इत्युक्तम्, प्रतिपत्तौ वा गृहीतग्राहितया नितरामस्याऽप्रामाण्यम् ।

कीदृशश्चायमनुगतप्रत्ययः-किं [11]'योऽयं गौः सोऽयं गौः, किं वा अयमपि गौः अयमपि गौरिति ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; नहि शाबलेय-बाहुलेययोः प्रतिभासमानयोः 'य एवाऽयं गौः स

१ पृ० २८३ पं० १७ । २ अनुगतनि-आ०, ब०, ज०, भां० । ३ "अनुगतश्चासौ प्रत्ययश्चेति अनुगतप्रत्ययः, किं वा अनुगते वस्तुनि प्रत्यय इति ।···" स्या० रत्ना० पृ० ९५० । "तथाहि किमिदं सामान्यं किमनुवृत्तप्रत्ययकारणमुतानुवृत्तप्रत्ययप्रमाणकमथवा. अनुवृत्तत्वमाहोस्विन्नित्यत्वे सत्यनुवृत्तत्वमथवा नित्यमेकमनेकसमवेतत्वम् ।" चित्सुखी पृ० १९० । ४-भासस्या-ब०, ज० । ५ तज्ज्ञाना-ब०, ज० । ६ ज्ञान-ब०, ज०, श्र० । ७-त्याने-ब०, ज० । ८-प्यप्रसि-ब०, ज०, भां०, श्र० । ९ पृ० २८३ पं० २७ । १० "तत्र किं निर्विकल्पकात् सविकल्पकाद्वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात्···।" प्रमेयक० पृ० १४१ उ० । स्या० रत्ना० पृ० ९५८ । ११ "···किं य एवायं गौः स एवायमपि, किं वाऽयमपि गौः अयमपि गौः; किं वा गौर्गौः इति सामान्येनेति ।" स्या० रत्ना० पृ० ९५२ ।

एवाऽयं गौः' इति प्रतिभासः; तयोरैक्यप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षस्तु युक्तः; 'अयम्' इत्यनेन अन्योन्यविलक्षणशावलेयादिविशेषं परामृश्य 'गौः' इत्यनेन सदृशपरिणामपरामर्शात् । स्वकारणादेव हि तादृशं रूपमुत्पन्नं यत् तथाविधां बुद्धिमुत्पादयति, नंतु व्यक्तिव्यतिरिक्तं नित्यादिस्वभावं सामान्यम् तदग्रहेऽपि तद्ग्रहणप्रसङ्गात् ? यथैव हि घटाद् व्यतिरिक्तः पटः घटाऽग्रहेऽपि गृह्यते तथा सामान्यमपि विशेषाद् व्यतिरिक्तं विशेषाऽग्रहेऽपि गृह्येत, न च तदग्रहे तद् गृह्यते तस्मात् न तत् ततो व्यतिरिक्तम् ।

अथ तासां तद्व्यञ्जकत्वान्न तद्व्यतिरेकेण तत्प्रतिभासः, तर्हि प्रदीपादिवत् प्रथमं तासां प्रतिभासः स्यात्; न चैवम्, 'प्रथमं सामान्यं गृह्यते पश्चाद् व्यक्तिः' इत्यभ्युपगमात्, "नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यस्य विरोधाऽनुपङ्गाच्च । विपर्ययश्चायम् अनयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावं निराचष्टे । व्यक्तेश्च व्यञ्जकत्वे विजातीयव्यक्तेरपि तत् स्यात् व्यक्तित्वाऽविशेषात् । न च स्वव्यक्तेरेव व्यञ्जकत्वम् इत्यभिधातव्यम्; सामान्याऽसिद्धौ स्वव्यक्तेरेव निरूपयितुमशक्यत्वात् । अस्तु वा स्वव्यक्तेरेव तत्, तथाऽपि व्यक्तेतररूपतया कथं तस्य ऐक्यम् ? खण्डादयश्च अस्य व्यञ्जका यदि स्वभावतः तज्जननसमानशक्तियोगात्; तर्हि तावतैव सामान्यप्रयोजनसिद्धेः किं तेन सिद्धोपस्थायिना ?

किञ्च, उपकारं कुर्वती व्यक्तिः सामान्यं व्यनक्ति, अकुर्वती वा ? कुर्वती चेत्; कोऽनया तस्य उपकारः क्रियते–तज्ज्ञानोत्पादनयोग्यता, तज्ज्ञानं वा ? तद्योग्यता चेत्; सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा विधीयते ? भिन्ना चेत्; तत्करणे सामान्यस्य न किञ्चित् कृतम् इति तदवस्था अस्य अनभिव्यक्तिः । अभिन्ना चेत्; तत्करणे सामान्यमेव कृतं स्यात्, तथा चास्याऽनित्यत्वम् । तज्ज्ञानं चेत्; कथमतः सामान्यसिद्धिः अनुगतज्ञानस्य व्यक्तिभ्यः एव आविर्भावात् ? तत्सहायस्य अस्यापि अत्र व्यापारः इत्यपि श्रद्धामात्रम्; यतो यदि घटोत्पत्तौ दण्डाद्युपेतकुम्भकारवत् व्यक्त्युपेतं सामान्यमनुगतज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाणं प्रतीयेत, स्यादेतत्, तच्च न प्रतीयते तत्कथं तत्सहायस्य अस्य तत्र व्यापारः स्यात् ? न किञ्चित्कुर्वत्याश्च व्यञ्जकत्वे विजातीयव्यक्तेरपि व्यञ्जकत्वप्रसङ्गः ।

ननु व्यक्तीनां यदि अनुगतमेकं सामान्यं नेष्यते तदा कथं तत्र अनुगतप्रत्ययः अभिन्नशब्दनिवेशश्च स्यात् ? नहि घट-पटादीनां विभिन्नस्वभावानामसौ दृष्टः; इत्यप्यसाधीयः; सामान्येषु तदभावेऽपि 'सामान्यम्' 'सामान्यम्' इत्यनुगतप्रत्ययस्य एकशब्दनिवेशस्य च

१ ननु आ०, ब०, ज० । २–ग्रहणेऽपि आ० । ३ गृह्यते आ०, भां० । ४ तत्त्वतो ब०, ज० । ५ "विशिष्टबुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥ ८८ ॥" मी० श्लो० अपोहवाद । ६ व्यञ्जकभूतायाः व्यक्तेः प्रागेव व्यङ्ग्यभूतस्य सामान्यस्य ग्रहणरूपः । ७–नप्रसिद्धेः आं०, श्र० । ८ "सामान्यस्य व्यक्तिकार्यत्वप्रसङ्गः तदभिन्नस्योपकारस्य करणात् ।...." अष्टसह० पृ० १३९ । प्रमेयक० पृ० १३८ पू० । स्या० रत्ना० पृ० ९५३ । ९–त्वे कथं आ० ।

उपलम्भात्। न च यदभावेऽपि यद् भवति तत् तन्निबन्धनम् अतिप्रसङ्गात्। अथ सामान्येषु असौ समवायनिबन्धनः; कुत एतत् ? तत्र अपरसामान्याऽप्रतीतेश्चेत्; किं पुनः खण्डादिषु अपरं सामान्यं प्रतीयते ? अत एव प्रत्ययात् तत्प्रतीतौ सामान्येष्वपि प्रतीयताम्। समवायस्य अत्र कारणत्वे[1] च खण्डादिष्वपि अनुगतप्रत्यये स एव कारणमस्तु अलं सामान्यकल्पनया। यथैव हि येनैव समवायेन गोत्वं खण्डादिषु समवेतं तेनैव अश्वत्वं कर्कादिषु, अतः एकसमवायवशात् सामान्येषु सामान्यप्रत्ययः, तथा येनैव समवायेन खण्डः स्वावयवेषु वर्तते तेनैव मुण्डादिरपि इति 'गौः' 'गौः' इत्यपि प्रत्ययः समवायनिबन्धन एव स्यात्।

किञ्च, स्वयं समानेषु तत् तत्प्रत्ययहेतुः, असमानेषु वा ? प्रथमपक्षे तत एव तदुत्पत्तेः सामान्यं सिद्धोपस्थायि। असमानेषु[2] च तदुत्पत्तौ कर्कादिष्वपि गोत्वाद् गोप्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्, सर्वगतत्वेन तस्य समवायस्य च सर्वत्र सद्भावात्। किञ्च, समानानां भावः सामान्यम्, समानत्वञ्च तेषां किं सामान्यसम्बन्धात्, स्वभावाद्वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; नहि अनेन[3] अन्ये समाना भवन्ति, तद्वन्तो हि तथा स्युः। स्वभावात् चेत्; तर्हि तत एव एवम्भूतां बुद्धिं ते करिष्यन्ति इत्यलं सामान्यपरिकल्पनया। तन्निबन्धनत्वे चास्याः प्रथममेकव्यक्तिदर्शनेऽपि सा स्यात्, इन्द्रियसम्बन्धाऽविशेषात् व्यक्तिवत्। अथ द्वितीयादिव्यक्तिग्रहणमपि अस्याः सामग्री ततः प्रथमव्यक्तिप्रतिभासे न प्रतिभासः; कथमेवं सविकल्पप्रत्ययस्यास्य अनुसन्धानात्मनः प्रवृत्तिः अगृहीतेऽर्थे तदप्रवृत्तेः ?

किञ्च, इदं सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा ? यद्यभिन्नम्; तर्हि तद्वदेव अस्य उत्पत्ति-विनाशप्रसङ्गः। भिन्नं चेत्; तद् व्यक्त्युत्पत्तौ[4] उत्पद्यते, न वा ? यद्युत्पद्यते; तद्वदेव अनित्यत्वम्। नोत्पद्यते चेत्; तद् उत्पत्तिप्रदेशे विद्यते, न वा ? यदि विद्यते; व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वमपि गृह्येत[5]। व्यक्त्याश्रितत्वान्न तदभावे ग्रहणम् इत्यप्यसत्; आश्रयाश्रयिभावस्य उपकार्योपकारकभावे सत्येव कुण्डबदरादिवत्[6] संभवात्। बदराणां हि गुरुत्वाद् अधःपततां तत्प्रतिबन्धलक्षणोपकारकर्तृत्वेन कुण्डम् आधारः, सामान्यस्य तु निष्क्रियत्वेन पतनाऽभावान्न कश्चिद् आधारः संभवति[7] इति अनाश्रितत्वात् प्राक् ऊर्ध्वमपि उपलम्भः स्यात्। आश्रितत्वे[8] वा आश्रयाऽभावे अभावो रूपादिवत्। अथ तद्देशे तत् नास्ति, उत्पन्ने तु व्यक्तिविशेषे व्यक्त्यन्तराद् आगच्छति[9]; ननु ततः तद् आगच्छत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्य आगच्छति, न वा ? प्रथम-

---

१–त्वे ख–आ०। २–नेषु तदु–आ०। ३ अन्येन ब०, ज०, श्र०, भां०। ४ व्यक्तेरुत्प–ब०, ज०। "नहि तेन सहोत्पन्नाः नित्यत्वान्नाप्यवस्थिताः। तत्र प्रागविभुत्वेन नचायान्त्यन्यतोऽक्रियाः ॥ ८०७ ॥" तत्त्वसं०। ५ गृह्यते आ०। ६–दिव सं–आ०। –त् सम्बन्धात् भां०। ७ "गमनप्रतिबन्धोऽपि न तस्य बदरादिवत्। विद्यते निष्क्रियत्वेन नाधारोऽतः प्रकल्प्यते ॥ ८०० ॥" तत्त्वसं०। स्या० रत्ना० पृ० ९६३। ८–त्वे आश्र–आ०। ९ "न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥" प्रमाणवा० १।१५५। प्रमेयक० पृ० १३८ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६९१। स्या० रत्ना० पृ० ९५५।

पक्षे तस्याः तद्रहितत्वप्रसङ्गः। अथ अपरित्यज्य; तत्रापि किं व्यक्त्या सहैव आगच्छति, किं वा केनचिदंशेन तत्रैव तिष्ठति केनचिदागच्छति? प्रथमविकल्पे शाबलेयेऽपि 'बाहुलेयोऽयम्' इति प्रतीतिः स्यात्। द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्तः; निरंशत्वेन अस्य अंशवत्तया प्रवृत्त्यसंभवात्, यत्र हि यस्य वृत्तिनिबन्धनं नास्ति स न तत्र वर्त्तते यथा एकपरमाणुः सह्य-विन्ध्ययोः, नास्ति च[1] भिन्नदेशव्यक्तिषु युगपद्वृत्तिनिबन्धनं सामान्यस्य अंशा इति। सांशत्वे चास्य व्यक्तिवद-नित्यत्वप्रसङ्गः।

'सर्वगतत्वात्तस्य युगपत् सर्वत्र वृत्तिः' इत्यपि सर्वसर्वगतत्वम्, स्वव्यक्तिसर्वगतत्वं वा अङ्गीकृत्य उच्येत? सर्वसर्वगतत्वे खण्डाद्यन्तराले कर्कादौ च गोत्वोपलम्भप्रसङ्गः, दृश्यस्य सतोऽस्य सर्वत्र सद्भावाऽविशेषात्। 'स्वव्यक्तीनां व्यञ्जकत्वात् तत्रैव अस्य उपलम्भः' इत्यपि आसां व्यञ्जकत्वनिषेधात् कृतोत्तरम्। स्वव्यक्तिसर्वगतत्वेऽपि किं प्रतिव्यक्ति सर्वात्मना वर्त्तते, एकदेशेन वा? सर्वात्मना वृत्तौ सर्वव्यक्तीनामेकत्वम्, तस्य वा व्यक्तिवत् नानात्वं स्यात्। अंशतो वृत्तिश्च प्रागेव कृतोत्तरा। अतो वृत्त्यादिविकल्पैः पिण्डेषु नित्यादिस्वभावसामान्य-स्याऽनुपपत्तेरसत्त्वम्। प्रयोगः-यद् यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सत् नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा क्वचिद्देशे घटः, नोपलभ्यते च इन्द्रियसम्बन्धे सत्यपि पिण्डेषु परपरिकल्पितं सामान्यमिति। तन्न व्यक्तिभ्यः सर्वथा भिन्नस्वरूपमपि सामान्यं घटते। नाप्युभयरूपम्; उभयपक्षनिक्षिप्तदोषाऽ-नुषङ्गात्। तन्न प्रत्यक्षं सामान्यसद्भावाऽऽवेदकम्।

यदपि-'गवाद्यभिधानज्ञानविशेषाः' इत्याद्यनुमानं तत्सद्भावाऽऽवेदकमुक्तम्[6]; तत्रापि पिण्डादिव्यतिरिक्तं निमित्तान्तरमात्रं साध्यते, सामान्यं वा? निमित्तान्तरमात्रे सिद्धसाध-नम्, सदृशपरिणामस्य निमित्तान्तरस्य इष्टत्वात्। नित्यादिस्वभावसामान्यसाधने तु साध्यविक-लता दृष्टान्तस्य, तत्र सामान्यस्य निमित्तान्तरस्यासंभवात्। सामान्याऽभावेऽपि च सत्तासा-मान्यादौ गतत्वादनैकान्तिकत्वम्। कालात्ययापदिष्टश्च; पक्षे प्रागुक्तन्यायेन सामान्याऽभावाऽ-

---

१ च विभि-श्र०। २ "सर्वसर्वगता वा स्यात् पिण्डसर्वगतापि वा। सर्वसर्वगतत्वे स्यात् कर्कादावपि गोमतिः॥" न्यायमं० पृ० २९९ (पूर्वपक्षरूपेण)। "तथा तत्सर्वसर्वगतं स्वव्यक्तिसर्वगतं वा...।" प्रमेयक० पृ० १३८ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९५२। ३ "नहि सामान्यं तदाधारव्यक्तिग-तमेकं संभवति व्यक्त्यन्तरालेऽपि तदुपलम्भप्रसङ्गात्..." न्यायवि० टी० पृ० ३४५ पू०। स्या० मं० पृ० १०८। ४ "अभेयमश्लिष्टममेयमेव, भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात्। वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न मानं च नानन्तसमाश्रयस्य॥५५॥" युक्त्यनुशा०। सन्मति० टी० पृ० ६८९। ५-न्नरूपमपि ब०, ज०, श्र०। ६ पृ० २८४ पं० ६। ७ "तद्व्यतिरिक्तनित्यैकानुगामिसामान्याख्यसंसर्गिनिबन्धनत्व-मेषां साध्यते; तदा दृष्टान्तस्य साध्यविकलता।..."तत्त्वसं० पं० पृ० २४२। स्या० रत्ना० पृ० ९५६। ८ "अस्तीति प्रत्ययो यश्च सत्तादिष्वनुवर्त्तते॥ ७४४॥ अन्यधर्मनिमित्तश्चेत्तत्राप्यस्तितामतिः। तदन्य-धर्महेतुत्वेऽनिष्ठासक्तेरधर्मिता॥७४५॥ व्यभिचारी ततो हेतुरमीभिरयमिष्यते।" तत्त्वसं०।

वगतेः । विरुद्धश्च[1]; दृष्टान्ते सामान्याऽभावेनैव व्याप्तत्वात् । 'यद्वस्त्वाकारविलक्षणो यः प्रत्ययः' इत्याद्यप्यनुमानम् एतद्दूषणैर्दुष्टत्वान्न सामान्यसद्भावप्रसाधकम् । तदेवं परपरिकल्पितसामान्यस्य कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः 'तद् द्विविधम्' इत्यादिना तद्भेदोपवर्णनं वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनतुल्यमित्युपरम्यते ।

सामान्यपदार्थपरीक्षायां 'विजातीयव्यावृत्तिरेव अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनम्' इति सौगतमतनिरसनपुरस्सरं तस्य वास्तविकसदृशपरिणामनिबन्धनत्वप्रसाधनम्—

अस्तु तर्हि विजातीयव्यावृत्तिरेव अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनम्, नित्यनिरंशैकरूपसामान्यस्य उक्तप्रकारेण तन्निबन्धनत्वाऽसंभवात् । कथं पुनः सामान्यमन्तरेण कर्कादि[2]परिहारेण खण्डादिष्वेव [3]गोप्रत्ययप्रादुर्भावः इति चेत् ? 'विजातीय[4]व्यावृत्तेः' इति ब्रूमः, सा हि यत्रास्ति तत्रैव तत्प्रत्ययमुत्पादयति नान्यत्र । ननु बाह्यार्थाऽविषयत्वे कथमतः प्रत्ययात् तत्र प्रवृत्तिः ? इत्यप्यचोद्यम्; दृश्य-विकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायात् तदुपपत्तेः । एकत्वाध्यवसायश्च दर्शनानन्तरमुपजायमानस्य विकल्पस्य दर्शनेन सह भेदाऽग्रहणम् । ततो भेदाऽग्रहणाद् विकल्पव्यापारतिरस्कारेण 'मया गृहीतमिदम्' इत्यध्यवसायात् प्रवर्त्तते । वस्तुप्राप्तिश्च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धात् । सम्यङ्मिथ्याविवेकोऽपि अत एव; यो हि वस्तुसम्बन्धदर्शनभावी विकल्पः स सत्यः, अन्योऽन्यथा इति ।

तदप्यविचारितरमणीयम्; नित्यादिस्वभावसामान्यस्य तन्निबन्धनत्वाऽभावेऽपि सदृशपरिणामलक्षणस्यास्य प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्धस्वरूपस्य तन्निबन्धनत्वोपपत्तेः । न खलु समानधर्मयोगित्वस्वरूपः सदृशपरिणामः अर्थेषु प्रत्यक्षतो न प्रतीयते; सर्वतो[5] विलक्षणस्वलक्षणस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः । प्रत्ययप्रसादादेव हि सर्वत्र अर्थव्यवस्था, प्रत्ययश्चात्र विलक्षणेष्वपि शावलेयादिषु 'गौर्गौः' इत्यनुगताकारेण उपलभ्यते । न च अन्याकारेऽपि वस्तुनि अन्याकारेण प्रथनम् इत्यभिधातव्यम्; नीले पीतप्रतिभासप्रसङ्गतः प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपः स्यात् । अतोऽनुगतप्रतिभासाद् 'वस्त्वपि अनुगतधर्मोपेतम्' इत्यभ्युपगन्तव्यम् । व्यावृत्तिविषयत्वे चास्य 'गौः' 'गौः' इत्युल्लेखेन विधिप्रधानतया प्रवृत्तिर्न स्यात्, यथा च विजातीयपरावृत्तं वस्तुनः स्वरूपं तथा सजातीयपरावृत्तमपि, तथा च दर्शनानन्तरभाविविकल्पानां विजातीयव्यावृत्त्या-

१ विरुद्धत्वञ्च श्र० । २ कर्कः श्वेताश्वः । ३ गोत्वप्र–श्र० । ४ "गौरवाशक्तिवैफल्याद्भेदाख्यायाः समा श्रुतिः । कृता वृद्धैरतत्कार्यव्यावृत्तिविनिबन्धना ॥ १३९ ॥ न भावे सर्वभावानां [स्वस्वभावव्यवस्थितेः । यद्रूपं] शावलेयस्य बाहुलेयस्य नास्ति तत् ॥ १४० ॥ अतत्कार्यपरावृत्तिर्द्वयोरपि च विद्यते । अर्थाभेदेन विना शब्दाभेदो न युज्यते ॥ १४१ ॥ तस्मात्तत्कार्यतापीष्टाऽतत्कार्यादेव च भिन्नता ।" प्रमाणवा० १।१३९-४२ । तत्त्वसं० पृ० २३९, ३१७ । ५ "तत्र दृश्यसजातीयविजातीयव्यावृत्तत्वादुभयेऽपि व्यावृत्तिमेव स्पृशेयुः...सजातीयविजातीयव्यावृत्त्योर्न च भिन्नता । यतोऽन्यतरसंस्पर्शो विकल्पेन प्रकल्पते ॥" न्यायमं० पृ० ३१६ ।

कारोल्लेखित्वे तदभेदात् सजातीयव्यावृत्त्याकारोल्लेखित्वमपि स्यात्। न च सजातीयविजातीयव्यावृत्त्योः स्वलक्षणस्य च भेदः; वस्तुत्वात् निरंशत्वाच्च। नापि प्रतिनियतव्यावृत्तिलक्षणजात्यवभासे प्रतिनियमहेतुरस्ति।

किञ्च, असमानाकारव्यावृत्त्या समानाकारलक्षणं सजातीयत्वं कल्प्यते; तत्र च स्वयमसमानाकारस्य समानत्वं कल्प्येत, समानाकारस्य वा? तत्र स्वयमसमानाकारस्य कथमन्यतो व्यावृत्तावपि समानाकारता, गवाश्वयोरपि महिष्यादिव्यावृत्त्या समानाकारत्वप्रसङ्गात्? मूर्त्ताच्च घटाद् यथा व्यावर्त्तते ज्ञानम् तथा पटोऽपि, अतो मूर्त्तत्वं द्वयोः समानो धर्मः स्यात्। अन्योन्याश्रयश्च-अन्यतो व्यावृत्त्या हि समानाकारत्वम्, ततश्च अन्यतो व्यावृत्तिरिति। स्वयं समानाकारस्य तु अन्यतो व्यावृत्त्यौ[2] समानाकारत्वकल्पनावैफल्यम्।

सजातीयत्वञ्च अर्थानाम्-एकार्थक्रियाकारित्वात्, एकप्रत्यवमर्शजनकत्वात्, एकव्यावृत्त्याधारत्वाद्वा[3] स्यात्? न तावद् एकार्थक्रियाकारित्वात्; वाह-दोहादिक्रियायाः प्रतिविशेषं भिद्यमानत्वेन[4] एकत्वाऽसंभवात्, तस्याश्च कादाचित्कत्वात् तामकुर्वतः सजातीयत्वाऽभावात्, चक्षुःसम्बद्धेऽपि व्यक्तिविशेषे 'गौः' 'गौः' इत्यनुगतप्रत्ययो न स्यात्। एकार्थक्रियाकारित्वञ्च यदि सर्वस्वलक्षणेषु एकमनुस्यूतमभ्युपगम्यते; तदा सिद्धं तदेव अशेषविशेषनिष्ठं सामान्यम्। विकल्पारोपितं चेत्; न; तस्य निर्विषयत्वेन अर्थाऽगोचरत्वतः तत्र[5] स्वार्थक्रियाकारित्वस्य एकत्वेन आरोपणाऽसामर्थ्यात्। नापि एकप्रत्यवमर्शजनकत्वात्; प्रत्यवमर्शस्य तज्जनकत्वस्य च प्रतिव्यक्ति भेदेन एकत्वाऽनुपपत्तेः, न खलु य एव शावलेये गोप्रत्यवमर्शः तज्जनकत्वञ्च, स एव बाहुलेयेऽपि तयोः एकव्यक्तिवद् भेदाऽभावप्रसङ्गात्। नापि एकव्यावृत्त्याधारत्वात्; तस्या बहिरन्तर्विकल्पाऽनतिक्रमात्। तत्र व्यावृत्तेर्बाह्यत्वे सकल व्यक्ति व्यापित्वे च सामान्यरूपताप्रसङ्गः। आन्तरत्वे तु तस्या बहिरर्थाधारत्वाऽभावतः कथमतो बाह्यार्थस्य सजातीयत्वसिद्धिः, कथं[6] वा बहीरूपतया अवभासनम्?

'नान्तर्[7]बहिर्वा' इत्यपि स्वाभिप्रायमात्रम्; तथाभूतं हि व्यावृत्तिस्वरूपं किञ्चित्, न किञ्चिद्वा? न किञ्चिच्चेत्; कथं सजातीयत्वनिबन्धनम्? किञ्चिच्चेत्; नूनम् अन्तर्बहिर्वा तेन भवितव्यम्, तत्र च [8]उक्तो दोषः। ननु यया प्रत्यासत्त्या केचन भावाः स्वयं सदृशपरिणामं बिभ्रति तयैव स्वयमतदात्मकाः तथा किन्नाऽवभासेरन्? इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; चेतनेतरभेदाऽभावप्रसङ्गात्, 'ययैव हि प्रत्यासत्त्या चेतनेतरस्वभावान् भावाः स्वीकुर्वन्ति तयैव स्वयमतदात्मकाः तथाऽवभासेरन्' इत्यपि वदतो ब्रह्माद्वैतवादिनो न वक्त्रं वक्रीभवेत्।

---

१ अवस्तु-श्र०। २-त्त्या हि समानाकारत्वं लक्षणावैफल्यम् ब०, ज०। ३ एकवृत्त्या-आ०। ४ विद्य-आ०। ५ तत्रस्थार्थ-आ०। ६ कथं वही-आ०। ७ "नान्तर्न बहिरिति तु भणितिभङ्गिमात्रम्; तत्तादृशं किञ्चित् न किञ्चिद्वा... किञ्चिच्चेत् नूनमन्तर्बहिर्वा तेन भवितव्यमेव।..." न्यायमं० पृ० ३१६। ८ उक्तदोषः ब०, ज०।

नीलसुखादिव्यतिरिक्तस्य अस्य असत्त्वात् कथं तथाऽवभासनम् ? इत्यन्यत्रापि[1] समानम् , नहि सदृशेतरपरिणामरहितं स्वलक्षणमप्यस्ति यत् तथाऽवभासेत । न चैकस्य अनेकात्मकत्वविरोधान्न सदृशेतरात्मकत्वम् ; चित्राकारवत् विकल्पेतराकारवच्च एकस्य तदात्मकत्वा[2]ऽविरोधात् । ततः सदृशेतरात्मकत्वं वस्तुनो वास्तवमभ्युपगन्तव्यम् , पुरोव्यवस्थितस्य खण्डाद्यर्थस्य तथैव प्रतिभासनात् । न खलु ज्ञानज्ञेययोरपि चेतनेतररूपतया वैलक्षण्यप्रतीतिरेव; नीलसदादिना सादृश्यस्यापि प्रतीतेः , अन्यथा तयोरन्यतरदेव सत् स्यात् , सारूप्यवादश्च हीयेत ।

न च अनुवृत्तप्रतीतेर्निर्हेतुकत्वात् किं सदृशपरिणामादिकारणचिन्तया इत्यभिधातव्यम् ; निर्हेतुकत्वे तस्या देशादिनियमाऽयोगात् । वासनाहेतुकत्वे च अर्थापेक्षा न स्यात् , नहि अन्यहेतुकोऽर्थः अन्यदपेक्षते धूमादेर्जलापेक्षाप्रसङ्गात् । किञ्च, वासनाऽपि अनुभूतार्थविषयैव उपजायते , न च अत्यन्ताऽसत्त्वेन भवन्मते सामान्यानुभवसंभवः । किञ्च, असौ तथाभूतं प्रत्ययं विषयतया उत्पादयति, कारणमात्रतया वा ? यदि विषयतया; तदा सकलविशेषानुगता वस्तुभूता ग्राह्याकारा नामान्तरेण जातिरेव उक्ता । कारणमात्रतया च तज्जनने विषयो वक्तव्यः, निर्विषयस्य ज्ञानस्यैवाऽसंभवात् । न च सदृशपरिणामव्यतिरेकेण अन्यः तद्विषयो घटते; उक्तदोषाऽनुषङ्गात् । न चास्य वासनाप्रभवत्वे प्रमाणमस्ति,[3] येन हि प्रमाणेन वासनाया विकल्पं प्रति कारणत्वं प्रतीयते तस्यापि विकल्परूपतया बाह्यार्थविषयत्वाऽसंभवतः 'वासनाप्रभवोऽयं विकल्पः' इत्यवगन्तुमशक्यत्वात् । ततो निमित्तान्तराऽसंभवात् सदृशपरिणामनिमित्त एव अयमनुगतप्रत्ययोऽभ्युपगन्तव्यः ।

ननु तन्निमित्तत्वे[4] 'सदृशोऽयम्' इति प्रत्ययः स्यात्, न पुनः 'स एवाऽयं गौः' इति । क्वस्य पुनः 'स एवाऽयं गौः' इति प्रत्ययः ? नहि धवलं दृष्ट्वा शबलं पश्यतः 'स एवाऽयं धवलो गौः' इति प्रत्ययः प्रादुर्भवति, अविपर्यस्तस्य शबले धवलप्रतीतिविरोधात् । किं तर्हि ? 'गौः गौः' इति प्रत्ययः, सोऽप्यविरुद्धः कथम् ? इति चेत् ; सदृशपरिणामविशेषे गोशब्दसङ्केतात् , सकल[5]समानधर्मेषु हि सदृशशब्दसङ्केतात् तत्प्रधानतया 'सदृशोऽयम्' इति प्रत्ययः प्रवर्त्तते, तद्विशेषेषु पुनः गवाश्वादिविशेषशब्दसङ्केतात् तत्प्रधानतया 'गौः' 'अश्वः' इत्यादिप्रत्ययाः । कथमन्यथा सामान्येषु 'सामान्यम् सामान्यम्' इति प्रत्ययः षट्पदार्थेषु वा 'पदार्थः पदार्थः' इति ? नहि सामान्येषु अनुगतस्वभावस्वरूपं[6] षट्पदार्थेषु च अत्यन्तविभिन्नलक्षणलक्षितत्वलक्षणञ्च सदृशपरिणामं विहाय अन्यन्निमित्तान्तरमस्ति । 'प्रवृत्तिश्च दृश्य-विकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायात्'; इत्यपि[7] श्रद्धामात्रम् ; तदेकत्वाध्यवसायस्य सविकल्पकसिद्धौ[8] निरस्तत्वात् ।

1 इत्यत्रापि आ०, भां० । २-त्मत्वा-आ० । ३-णत्वमस्ति आ०, ब०, ज० । ४ तन्निमित्ते आ० । ५ स किल आ० । ६-भावरूपं ब०, ज० । ७ पृ० २८९ पं० १० । ८ पृ० ४९ ।

तन्न सामान्यपदार्थोऽपि परपरिकल्पितो घटते[1]। नापि विशेषपदार्थः; तत्रापि अनवद्यलक्षणस्य ग्राहकप्रमाणस्य चासंभवात्।

ननु विशेषाणां तावत् लक्षणमनवद्यं विद्यत एव; तथाहि–"*नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः*।"[2] [प्रश० भा० पृ० १३] इति। नहि तुल्यजाति-गुण-क्रियाधाराणां नित्यद्रव्याणामत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतुभूतान् विशेषान् विहाय अन्यत् तद्व्यावृत्तिबुद्धेर्निबन्धनं भवितुमर्हति। ते च नित्यद्रव्यवृत्तयः परमाणु-आकाश-काल-दिग्-आत्म-मनःसु वृत्तेः। तथा अन्त्याः; परमाणूनां हि जगद्विनाश-आरम्भकोटिभूतत्वात्, मुक्तात्मनां मुक्तमनसाञ्च संसारपर्यन्तरूपत्वाद् अन्तत्वम्, तेषु भवा 'अन्त्याः' इति, तेषु स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात्। वृत्तिस्तु एषां सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्यद्रव्ये विद्यते, अत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तयः', 'अन्त्याः' इति उभयपदोपादानम्। ते च परस्परमत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वात् स्वाश्रयमन्यतो विशेषयन्तीति 'विशेषाः' इत्युच्यन्ते। ते च अनन्ताः स्वाश्रयवन्नित्याः योगिनां प्रत्यक्षाः, अस्मदादीनां तु अनुमेयाः; तथाहि–तुल्यजातिगुणक्रियाधाराः परमाणवः[3] व्यावर्त्तकधर्मसम्बन्धिनः व्यावृत्तप्रत्ययविषयत्वात् मुक्ताफलराश्यन्तर्गतकृतचिह्नमुक्ताफलवत्। न चेदमसिद्धम्; तथाहि–परमाणवः[4] व्यावृत्तप्रत्ययविषयाः सत्तासम्बन्धित्वात् वदरामलकवत्[5]। अतो न ग्राहकप्रमाणाऽभावादपि अमीषामभावः सिद्ध्यति; प्रत्यक्षाऽनुमानयोस्तद्ग्राहकयोः प्रतिपादितत्वादिति।

'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, ते च तुल्यजातिगुणक्रियाधारेषु नित्यद्रव्येषु अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[6]–'नित्यद्रव्य' इत्यादि विशेषाणां लक्षणम्; तदसमीचीनम्; यतः तदाश्रयद्रव्याणां सर्वथा नित्यत्वम्, कथञ्चिद् वा अभिप्रेतम्? प्रथमपक्षे लक्षणस्य असंभवदोषदुष्टता[7]; नहि सर्वथा नित्यं किञ्चिद् द्रव्यमस्ति, तस्य द्रव्यपरीक्षाप्रघट्टके[8] प्रतिक्षिप्तत्वात्। अन्त्यत्वमपि एषामसंभवि एव असिद्धत्वात्, न खलु सतो जगतः महाप्रलयस्वभावः सर्वथा विनाशः, सर्वथाऽसतश्च पुनरुत्पत्तिः कुतश्चित् प्रमाणात् प्रसिद्धा, यतः परमाणूनां जगद्विनाशारम्भकोटिभूतत्वाद् अन्तत्वम्, तद्भवत्वेन च विशेषाणामन्त्यत्वं स्यात्। द्वितीयपक्षे तु अतिव्याप्तिर्लक्षणदोषः, तुल्यजा-

षट्पदार्थपरीक्षायां तथोक्तविशेषपदार्थप्रतिविधानपुरस्सरं नित्यद्रव्येषु व्यावृत्तप्रत्ययस्य तत्स्वरूपमात्रनिबन्धनत्वप्रसाधनम्—

१ सामान्यपदार्थस्य विविधभङ्गजालेन खण्डनं चित्सुख्यां (पृ० १९०) द्रष्टव्यम्। २ एतत्सर्वं विशेषपदार्थविवरणं प्रश०भाष्ये (पृ० ३११-१२) द्रष्टव्यम्। ३ "समानजातिगुणक्रियाधाराः परमाणवो विशेषसम्बन्धिनो व्यावृत्तिबुद्धिविषयत्वात्।···" प्रश० व्यो० पृ० ५८, ६९३। ४ "परमाणवो व्यावृत्तज्ञानविषयाः द्रव्यत्वात् गवादिवत्।" प्रश० व्यो० पृ० ६९३। ५–रामलकादिवत् श्र०। ६ पृ० २९२ पं० ३। ७ "ये पुनः कल्पिता एते विशेषा अन्त्यभाविनः। नित्यद्रव्यव्यपोहेन तेप्यसंभविताः क्षणाः ॥ ८१३ ॥" तत्त्वसं०। सन्मति० टी० पृ० ६९८। ८ पृ० २१७।

त्याश्याधाराणां मुक्ताफलादीनामत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतौ चिह्नेऽविशेषरूपेऽपि अस्य लक्षणस्य गतत्वात् । नहि तदाश्रयद्रव्यस्य कथञ्चिन्नित्यत्वमसिद्धम्; सर्वस्य वस्तुनो द्रव्यरूपतया नित्यत्वात् । अस्तु वा सर्वथा नित्यं द्रव्यम्; तथापि ये तत्र वर्त्तन्ते ते न कदाचनाऽपि नित्यद्रव्यं परित्यजन्ति । तेषां विशेषरूपत्वे आत्मत्वादिसामान्यैः पारिमाण्डल्यादिभिश्च व्यभिचारः; तान्यपि हि नित्यद्रव्येष्वेव वर्त्तन्ते न च विशेषव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते । व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वमपि एषां विद्यत एव; सामान्यविशेषरूपत्वात् । ननु समस्तनित्यद्रव्येष्वेव वर्त्तमानानां विशेषरूपत्वप्रतिज्ञानात्, आत्मत्वादीनाञ्च नियतनित्यद्रव्यवृत्तित्वात् न तैरनेकान्तः; इत्यप्ययुक्तमेव; निरतिशयपरिमाणेन अनेकान्तात्, तद्धि समस्तेष्वेव नित्यद्रव्येषु वर्त्तते, विशेषणत्वाच्च स्वाश्रयमन्यस्माद् व्यावर्त्तयति न च विशेषरूपमिति ।

किञ्च, अर्थानां स्वस्वभावादेव अन्योन्यव्यावृत्तबुद्धिजनकत्वोपपत्तेर्न विशेषैः साध्यं किञ्चित् प्रयोजनम् । नित्यद्रव्याणि हि स्वरूपेण व्यावृत्तानि विशेषैर्व्यावर्त्तन्ते, अव्यावृत्तानि वा ? यदि अव्यावृत्तानि; कथमन्यसम्बन्धादपि व्यावृत्ततामनुभवेयुः ? यद्धि स्वरूपेणाऽव्यावृत्तं तत नान्यसम्बन्धेऽपि व्यावृत्ततामनुभवति यथा एकव्यक्तिस्वरूपम्, स्वरूपेणाऽव्यावृत्तानि च नित्यद्रव्याणि इति । अथ व्यावृत्तानि; तदा किं विशेषैः साध्यम् ? यत् स्वरूपेण व्यावृत्तं न तत्र व्यावृत्तिहेतवो व्यतिरिक्तविशेषाः सन्ति यथा विशेषस्वरूपे, स्वरूपतो व्यावृत्तानि च नित्यद्रव्याणि इति । स्वरूपेण व्यावृत्तानामपि अमीषां तत्कल्पने विशेषाणामपि स्वरूपतो व्यावृत्तानां विशेषान्तरकल्पनाप्रसङ्गादनवस्था स्यात् । अथ अर्थव्यावृत्त्या विशेषाणां व्यावृत्तिः तद्व्यावृत्त्या च अर्थानाम्; तदप्यसाम्प्रतम्; अन्योऽन्याश्रयाऽनुषङ्गात् ।

ननु यथा प्रदीपादीनां स्वत एव भासुररूपता तत्स्वभावत्वात् न घटादिसम्बन्धात्, घटादीनां तु तत्सम्बन्धात्, एवं विशेषेषु स्वत एव व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वं तत्स्वभावत्वात् न परमाण्वादिसम्बन्धात्, परमाण्वादौ तु तद्योगात्; इत्यप्यसमीक्षिताऽभिधानम्; यतः प्रदीपादिसम्बन्धाद् घटादयो भावाः परित्यक्तप्राक्तन-अभासुरस्वभावा अन्ये एव भासुररूपतया उत्पद्यन्ते, इति युक्तं तेषां तत्सम्बन्धाद् भासुररूपत्वम्; न च परमाण्वादिषु एतत् संभवति तेषां सर्वथा नित्यत्वाऽभ्युपगमतः प्राक्तन-अविविक्तरूपत्यागेन अपरविविक्तरूपतयाऽनुत्पत्तेः । ननु पर-

१-त्तिहे-ब०, ज० । २ आत्मत्वपारिमाण्डल्यादीनाम् । ३-ष्वेव च वर्त्तते आ० । -ष्वेव नित्यद्रव्येष्वेव ज० । -ष्वेव नित्यद्रव्येष्वेव च श्र० । ४ अन्योन्यं ब०, ज० । ५-पैः साध्यः किञ्चित् भां० । -पैः किञ्चित् आ०, ब०, ज० । ६ तथा आ० । ७ प्रदीपानाम् आ०, ब०, ज०, भां० । "इह अतदात्मकेष्वन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवति यथा घटादिषु प्रदीपात् न तु प्रदीपे प्रदीपान्तरात्...।" प्रश० भा० पृ० ३२२ । ८ "प्रदीपादिप्रभावाच्च ज्ञानोत्पादस्वरूपताम् । लभन्ते क्षणिका ह्यर्थाः कलशाभरणादयः ॥ ८२१ ॥ न विवादास्पदीभूतविशेषबलभाविनी । वैलक्षण्यमतिस्तेषु क्रमोत्पत्तेः सुखादिवत् ॥८२२॥" तत्त्वसं० । प्रमेयक० पृ० १८२ पू० । सन्मति० टी० पृ० ६९९ । स्या० रत्ना० पृ० ९६४ ।

माण्वादौ अविविक्तरूपस्यैवाऽसंभवात् कस्य परित्यागेन ते विविक्तरूपाः स्युः, नित्यैकरूपाणां तेषां सर्वदा विशेषपदार्थाऽऽलिङ्गितत्वेन सदा विविक्तरूपस्यैव संभवात् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम् ; नित्यैकरूपत्वस्य परमाणुविचाराऽवसरे निराकृतत्वात् ।

यदप्यभिहितम्[1]-'ते च योगिनां प्रत्यक्षाः' इत्यादि ; तदप्यसाम्प्रतम् ; यतोऽण्वादीनां स्वरूपं स्वभावतः परस्पराऽसङ्कीर्णम्, सङ्कीर्णं वा ? प्रथमपक्षे कथमतो विशेषसिद्धिः, परस्पराऽसङ्कीर्ण-अण्वादिस्वरूपादेव योगिनां तत्र वैलक्षण्यप्रतीतिप्रसिद्धेः ? द्वितीयपक्षे तु तत्प्रत्ययस्य भ्रान्ततात्प्रसङ्गः ; स्वरूपतोऽन्योन्यमव्यावृत्तस्वरूपेषु अण्वादिषु व्यावृत्ताकारतया प्रवर्त्तमानस्य अस्य अतस्मिंस्तद्ग्रहरूपत्वात्, तथा च एतत्प्रत्यययोगिनस्ते अयोगिन एव स्युः । स्वरूपतोऽव्यावृत्तानामप्येषां विशेषाख्यपदार्थवशात् व्यावृत्तानां ग्रहणात् नायोगित्वं तेषाम् ; इत्यप्यनुपपन्नम् ; स्वरूपेण व्यावृत्तेषु अव्यावृत्तेषु वा विशेषाणां व्यावर्त्तकत्वप्रतिषेधात् । अनुमानबाधितश्च व्यतिरिक्तविशेषेभ्यः तत्प्रत्ययप्रादुर्भावः ; तथाहि-विवादापन्नेषु भावेषु विलक्षणप्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति, विलक्षणप्रत्ययत्वात्, विशेषेषु विलक्षणप्रत्ययवदिति ।

यदपि 'तुल्यजातिगुणक्रियाधाराः' इत्याद्यनुमानमुक्तम्[6]; तत्र अणूनां व्यावर्त्तकधर्मसम्बन्धित्वमात्रसाधने सिद्धसाधनम्, व्यतिरिक्तविशेषसम्बन्धित्वसाधने तु प्रागुक्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्ग इति । तन्न विशेषपदार्थोऽपि परपरिकल्पितो घटते । नापि समवायपदार्थः ; तत्रापि अनवद्यलक्षणस्य ग्राहकप्रमाणस्य चासंभवात् ।

'अयुतसिद्धानाम्' इत्यादिलक्षणलक्षितः सम्बन्धः समवायः, स च एको नित्यश्च' इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु च 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानाम् इहेदम्प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः' इत्यनवद्यतल्लक्षणसद्भावात् तदभावोऽसिद्धः । न च 'इह ग्रामे वृक्षाः' इति इहेदम्प्रत्ययहेतुना अन्तरालाऽभावेन अनेकान्तः ; सम्बन्धग्रहणात् । नापि 'इह आकाशे शकुनिः' इति प्रत्ययहेतुना संयोगेन ; 'आधाराधेयभूतानाम्' इत्युक्तेः, नहि आकाशस्य व्यापित्वेन अधस्तादेव भावोऽस्ति; शकुनेः उपर्यपि भावात् । नापि 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययहेतुना; 'अयुतसिद्धा-

---

१ पृ० २९२ पं० १३ । २ "अण्वाकाशदिगादीनामसंकीर्णं यदा स्थितम् । स्वरूपञ्च तदेतस्माद् वैलक्षण्योपलक्षणम् ॥८१४॥ मिश्रीभूतपरात्मानो भवेयुर्यदि ते पुनः । नान्यभावेऽप्यविभ्रान्तं वैलक्षण्योपलक्षणम् ॥ ८१५ ॥ कथं तेषु विशेषेषु वैलक्षण्योपलक्षणम् । स्वत एवेति चेन्नैवमण्वादावपि किं मतम् ॥८१६॥" तत्त्वसं० । प्रमेयक० पृ० १८१ उ० । सन्मति० टी० पृ० ६९८ । ३-द्ग्रहणरू-ब०, भां०, श्र० । ४-त्यनु-आ०, ब०, ज० । ५ "...विलक्षणप्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति..." प्रमेयक० पृ० १८२ उ० । सन्मति० टी० पृ० ६९९ । स्या० रत्ना० पृ० ९६४ । ६ पृ० २९२ पं० १३ । ७-द्यतल्लक्ष-ब०, ज० । ८ "इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ।" वै० सू० ७।२।२६ । "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः ।" प्रश० भा० पृ० १३ । ९ "इहप्रत्ययहेतुत्वमन्तरालादर्शनस्यापि इति सम्बन्धग्रहणम् ; तथाहि-दूराद् ग्रामारामयोः अन्तरालमप-

नाम्' इत्यभिधानात्, दधिकुण्डादयश्च युतसिद्धाः। युतसिद्धिश्च पृथगाश्रयवृत्तित्वं पृथग्गतिमत्त्वञ्च उच्यते। न चासौ तन्तुपटादिषु अस्ति तन्तून् विहाय पटस्य अन्यत्राऽवृत्तेः। न च 'इह आकाशे वाच्ये वाचकः आकाशशब्दः' इति वाच्यवाचकभावेन 'इह आत्मनि ज्ञानम्' इति विषय-विषयिभावेन च व्यभिचारः, अत्र अयुतसिद्धेः आधाराधेयभावस्य च भावादित्यभिधातव्यम्; उभयत्र अवधारणाश्रयणात्, अनयोश्च युतसिद्धेषु अनाधाराधेयभूतेष्वपि च भावात् घट-तच्छब्द-ज्ञानवत्।

नन्वेवम् 'अयुतसिद्धानामेव' इत्यवधारणेऽपि व्यभिचाराऽभावात् 'आधाराधेयभूतानाम्' इत्यभिधानमनर्थकम्, 'आधाराधेयभूतानामेव' इत्यवधारणे 'अयुतसिद्धानाम्' इत्यभिधानवत्; इत्यप्यसुन्दरम्; एकार्थसमवायिनां रूपरसादीनामयुतसिद्धानामपि अन्योन्यं समवायाऽसंभवात् इति एकार्थसमवायसम्बन्धव्यभिचारनिवृत्त्यर्थम् उत्तरावधारणम्, नहि अयं वाच्यवाचकभावादिवद् युतसिद्धानामपि संभवति। तथा उत्तरावधारणे सत्यपि 'आधाराधेयभावेन संयोगविशेषेण सर्वथाऽनाधाराधेयभूतानामसंभवता व्यभिचारो माभूत' इत्येवमर्थं पूर्वोऽवधारणम्। इति सूक्तमिदं तल्लक्षणम्।

अत इदमुच्यते–तन्तुपटादयः सामान्यतद्वदादयो वा 'संयुक्ता न भवन्ति' इति व्यवहर्त्तव्यम्, नियमेन अयुतसिद्धत्वाद् अधाराधेयभूतत्वाच्च, ये तु संयुक्ता न ते तथा यथा कुण्डबदरादयः, तथा चैते, तस्मात् संयोगिनो न भवन्ति इति। यदि वा, तन्तुपटादिसम्बन्धः 'संयोगो[1] न भवति, नियमेन अयुतसिद्धसम्बन्धत्वात्, ज्ञान-आत्मनोर्विषयविषयिभाववदिति। सद्भावे तु समवायस्य प्रत्यक्षमेव[2] प्रमाणम्; प्रत्यक्षतो हि तन्तुसम्बद्ध एव पटः प्रतिभासते रूपादयश्च पटादिसम्बद्धाः।

तथा अनुमानतोऽपि[3] असौ प्रतीयते; तथाहि–'इह तन्तुषु[4] पटः' इत्यादि इहप्रत्ययः सम्बन्धकार्यः, अबाध्यमान-इहप्रत्ययत्वात्, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिप्रत्ययवत्। न तावदयं प्रत्ययो

श्यताम् 'इह ग्रामे वृक्षाः' इति ज्ञानं दृष्टम्''' इत्यादि सर्वं पदकृत्यम् प्रश० व्यो० पृ० १०७-१०८, कन्दली पृ० १४। पूर्वपक्षरूपेण च आप्तपरी० पृ० २६, प्रमेयक० पृ० १८२ उ०। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

१ "न चासौ संयोगः सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात् अन्यतरकर्मादिनिमित्तासंभवात्।''' प्रश० भा० पृ० ३२६। २ नैयायिकमते प्रत्यक्षः समवायः; तथाहि–"समवाये च अभावे च विशेषणविशेष्यभावादिति।" न्यायवा० १।१।४। "अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिजातिमन्तौ च मिथः सम्बद्धावनुभूयेते, नान्यथा तन्तुषु पट इति शुक्लः पट इति पटः प्रस्पन्दत इति च पटो द्रव्यमिति च बुद्धिव्यपदेशौ स्याताम्।" न्यायवा० ता० टी० १।१।४। ३ वैशेषिकमते तु अतीन्द्रियः अनुमेयश्च; तथाहि–"अत एवातीन्द्रियः''' तस्मादिहबुद्ध्यनुमेयः समवाय इति।" प्रश० भा० पृ० ३२९। ४ "इह तन्तुषु पटः इत्यादि इहप्रत्ययः सम्बन्धकार्यः, अबाध्यमानेहप्रत्ययत्वात्, इह कुण्डे दधीति प्रत्ययवत्।''' प्रश० व्यो० पृ० १०९। प्रश० कन्द० पृ० ३२५।

निर्हेतुकः; कादाचित्कत्वात्। नापि तन्तुहेतुकः पटहेतुको वा; 'तन्तवः, पटः' इति वा प्रत्ययप्रसङ्गात्। नापि वासनाहेतुकः; तस्याः कारणरहितायाः संभवाऽभावात्। पूर्वज्ञानस्य तत्कारणत्वे तदपि कुतः स्यात्? तत्पूर्ववासनातश्चेत्; अनवस्था। ज्ञानवासनयोः अनादित्वाद् अयमदोषश्चेत्; नैवम्; नीलादि-सन्तानान्तर-स्वसन्तान-संविदद्वैतादिसिद्धेरपि अभावाऽनुषङ्गात्, अनादिवासनावशादेव नीलादिप्रत्ययस्य स्वतोऽवभासस्य च संभवात्। नापि तादात्म्यहेतुकोऽयम्; तादात्म्यं हि एकत्वमुच्यते, तत्र च सम्बन्धाऽभाव एव स्यात् द्विष्ठत्वात्तस्य। नापि संयोगहेतुकः; युतसिद्धेष्वेव अर्थेषु संयोगस्य संभवात्। न[1] चात्र समवायपूर्वकत्वं साध्यते येन दृष्टान्तः साध्यविकलः हेतुश्च विरुद्धः स्यात्, नापि संयोगपूर्वकत्वं येन अभ्युपगमविरोधः स्यात्। किं तर्हि? सम्बन्धमात्रपूर्वकत्वम्, तस्मिंश्च सिद्धे परिशेषात् समवाय एव तज्जनकः सेत्स्यति।

यच्च इदम्-'विवादास्पदम् 'इदमिह' इति ज्ञानं न समवायपूर्वकम् अबाधित-इहज्ञानत्वात् 'इह कुण्डे दधि' इति ज्ञानवत्' इति विशेषविरुद्धानुमानम्, तत् सकलानुमानोच्छेदकत्वाद् अनुमानवादिना न प्रयोक्तव्यम्। यच्चोच्यते-'इदम् इहेति ज्ञानं न समवायालम्बनम्'; तत्सत्यम्; विशिष्टाधारविषयत्वात्तस्य, नहि 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादि इहप्रत्ययः केवलं समवायमालम्बते तद्विशिष्टतन्तुपटालम्बनत्वात्, वैशिष्ट्यञ्चानयोः सम्बन्धः।

न[2] चास्य संयोगवन्नानात्वम्; इहेति प्रत्ययाऽविशेषात् विशेषलिङ्गाऽभावाच्च सत्प्रत्ययाऽविशेषात् तल्लिङ्गाऽभावाच्च सत्तावत्। न च सम्बन्धत्वमेव विशेषलिङ्गम्; अस्य अन्यथासिद्धत्वात्, नहि संयोगस्य सम्बन्धत्वेन नानात्वं साध्यते अपि तु प्रत्यक्षेण भिन्नाश्रयसमवेतस्य क्रमेण उत्पादोपलब्धेः। समवायस्य च अनेकत्वे सति अनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, संयोगे तु संयोगत्वबलात् नानात्वेऽपि स्यात्। न चैतत् समवाये संभवति, समवायत्वस्य समवाये समवायाऽसंभवात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्। संयोगस्य च गुणत्वेन द्रव्येष्वेव संभवात्, संयोगत्वं पुनः संयोगे समवेतम्। न च अनुगतप्रत्ययजनकत्वे सामान्यादस्य अभेदः; भिन्नलक्षणयोगित्वात्।

यच्चान्यत् समवाये बाधकमुच्यते-'निष्पन्नयोः अनिष्पन्नयोर्वा समवायः स्यात्? न[3] तावदनिष्पन्नयोः; सम्बन्धिनोरनुत्पादे सम्बन्धाऽसंभवात्[4]। निष्पन्नयोस्तु संयोग एव। तथा स्वसम्बन्धिभ्यामसौ सम्बद्धः, असम्बद्धो वा? न तावदसम्बद्धः; 'तयोरयं सम्बन्धः' इति

---

१ "न चात्र समवायपूर्वकत्वं साध्यते साध्यविकलताप्रसङ्गात्, नापि संयोगपूर्वकत्वम्, किं तर्हि सम्बन्धमात्रकार्यत्वम्।..." प्रश० व्यो० पृ० १०९। २ "न च संयोगवन्नानात्वं भाववत् लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च। तस्माद् भाववत् सर्वत्र एकः समवाय इति।" प्रश० भा० पृ० ३२६। ३ "नानिष्पन्नयोः समवायो घटते सम्बन्ध्यभावे सम्बन्धस्यादर्शनात्। अथ निष्पन्नयोः सम्बन्धः समवायः तर्हि युतसिद्धिः स्यात्।..." प्रश० व्यो० पृ० ६९९। ४-वात् अन्यथा निष्प-श्र०।

व्यपदेशाऽभावप्रसङ्गात्। सम्बद्धश्चेत्; किं स्वतः, परतो वा ? न तावत् स्वतः; संयोगादीनामपि तथा तत्प्रसङ्गात्। नापि परतः; अनवस्थाप्रसङ्गात्। न च गुणादीनामाधेयत्वं युक्तम्; निष्क्रियत्वात्, गतिप्रतिबन्धकश्च आधारः जलादेर्घटादिवदिति। तदप्युक्तिमात्रम्; यतो न निष्पन्नाऽनिष्पन्नयोर्वा समवायः; स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तित्वात्, नहि निष्पत्तिरन्या समवायश्चान्यः येन पौर्वापर्य्यं स्यात्। नापि समवायस्य सम्बन्धान्तरेण सम्बन्धः येन अनवस्था स्यात्; सम्बन्धस्य समानलक्षणसम्बन्धेन सम्बद्धस्य क्वचिददृष्टेः। अतः अग्नेरुष्णतावत् स्वतः[2] एव अस्य सम्बन्धो युक्तः स्वत एव सम्बन्धरूपत्वात्, न संयोगादीनां तदभावात्। न हि एकस्य स्वभावोऽन्यस्यापि, अन्यथा स्वतोऽग्नेरुष्णत्वदर्शनात् जलादीनामपि स्वत एव तत् स्यात्। प्रयोगः–समवायः सम्बन्धान्तरं नापेक्षते स्वतः सम्बन्धत्वात्, ये तु सम्बन्धान्तरमपेक्षन्ते न ते स्वतःसम्बन्धाः यथा घटादयः, न चाऽयं न स्वतः सम्बन्धः, तस्मात् सम्बन्धान्तरं नापेक्षते इति।

यच्चोक्तम्–'निष्क्रियत्वात् तेषामनाधेयत्वम्' इति; तदसत्; संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद् गुणादीनाम्, संयोगिनां सक्रियत्वेनैव, तेषां निष्क्रियत्वेऽपि आधाराधेयभावस्याध्यक्षेण प्रतीतेश्च इति।

'अयुतसिद्धानाम्' इत्यादिविशेषणप्रतिविधानपुरस्सरं समवायस्य कथञ्चित्तादात्म्यरूपताप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[3]–'अयुतसिद्धानाम्' इत्यादि; तदसमीचीनम्; समवायिनामसंभवे समवाये[4] एतल्लक्षणलक्षितत्वाऽनुपपत्तेः, तदसंभवश्च प्रागेव प्रतिपादितः। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषरूपा हि पञ्च पदार्थाः समवायित्वेन[5] भवद्भिः परिकल्पिताः, ते च तत्परीक्षावसरे प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्ताः, तत्कथम् अयुतसिद्धत्वादिलक्षणसंभवः यतस्तल्लक्षितः समवायः पदार्थान्तरं सिद्ध्येत् ? किञ्च, इदमयुतसिद्धत्वं शास्त्री[6]यम्, लौकिकं वा ? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; तन्तुपटादीनां शास्त्रीयाऽयुतसिद्धत्वस्याऽसंभवात्। वैशेषिक[7]शास्त्रे हि प्रसिद्धम्–अपृथगाश्रयवृत्तित्वम् अयुतसिद्धत्वम्, तच्च इह नास्त्येव; तन्तूनां स्वावयवांऽशुषु वृत्तेः पटस्य च तन्तुषु इति पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेः अपृथगाश्रयवृत्तित्वमसदेव। एवं गुणकर्मसामान्यानामपि अपृथगाश्रयवृत्तित्वाऽभावः प्रतिपत्तव्यः। लोकप्रसिद्धैकभाजनवृत्तिरूपं तु अयुतसिद्धत्वं युतसिद्धयोर्दुग्धाऽम्भसोरप्यस्ति इति कथं तल्लक्षणम् ?

ननु यथा कुण्डदध्यवयवाख्यौ पृथग्भूतौ द्वौ आश्रयौ, द्वौ च दधिकुण्डावयव्याख्यौ आश्र-

१ "…अतः समानलक्षणवृत्तिप्रतिषेध एव…।" प्रश० व्यो० पृ० ११९। २ "अविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः।" प्रश० भा० पृ० ३२९। ३ पृ० २९४ पं० १८। ४–ये तल्ल–श्र०। ५ "पञ्चानां समवायित्वमनेकत्वञ्च।" प्रश० भा० पृ० १६। ६ "सत्यामयुतसिद्धौ चेन्नेदं साधु विशेषणम्। शास्त्रीयायुतसिद्धत्वविरहात् समवायिनोः ॥ ४२ ॥ द्रव्यं स्वावयवाधारं गुणो द्रव्याश्रयो यतः। लौकिक्ययुतसिद्धिस्तु भवेद् दुग्धाम्भसोरपि ॥ ४३ ॥" आप्तपरी०। प्रमेयक० पृ० १८४ पू०। ७ "युतसिद्धिः पृथगवस्थितिः उभयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वं सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ।…" प्रश० कन्दली पृ० १४।

यिणौ न तथा तन्तुपटादिषु, तन्तोरेव स्वावयवापेक्षया आश्रयित्वात् पटापेक्षया च आश्रयत्वात्, अतः 'पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिः' इत्यस्य युतसिद्धिलक्षणस्य अभावादयुतसिद्धत्वं तेषाम्; इत्यप्यसत्; दिक्-काल-आकाश-आत्मनां युतसिद्ध्यभावप्रसङ्गात् तेषां पृथगाश्रयाऽऽश्रयित्वाऽभावात्। 'नित्यानां च पृथग्गतिमत्त्वम्' इत्यपि तल्लक्षणं तत्र असम्भाव्यम्; व्यापितया अन्यतरपृथग्गतिमत्त्वस्य उभयपृथग्गतिमत्त्वस्य वा तेषामसंभवात्। इतरेतराश्रयश्च-समवायसिद्धौ हि पृथगाश्रयसमवायित्वलक्षणा युतसिद्धिः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च तन्निषेधेन अयुतसिद्धानां समवायः सिद्ध्यतीति। ननु लक्षणं विद्यमानस्य अन्यतो भेदेन अवस्थापकम्, न तु सद्भावकारकम्, तेनाऽयमदोषः; तदयुक्तम्; ज्ञापकपक्षे सुतरामितरेतराश्रयप्रसक्तेः। तथाहि-नाऽज्ञातायां युतसिद्धौ तत्प्रतिषेधेन अयुतसिद्धानां समवायो ज्ञातुं शक्यते, अज्ञातश्चासौ न पृथगाश्रयसमवायित्वलक्षणां युतसिद्धिमवस्थापयितुमुत्सहते इति। न च प्रमाणतोऽप्रसिद्धस्य अस्य लक्षणमात्रात् सिद्धिर्युक्ता; यत् प्रमाणतोऽप्रसिद्धम् न तस्य तन्मात्रात् सिद्धिः यथा आत्माऽद्वैतादेः, प्रमाणतोऽप्रसिद्धश्च भवत्कल्पितः समवाय इति। सिद्धे हि कुतश्चित् लक्ष्यसद्भावे तदनुसारि लक्षणं प्रतीयते न पुनर्लक्षणबलादेव तत्सिद्धिः; सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्, तन्मात्रप्रणयनस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। अन्योन्याश्रयश्च-सिद्धे हि समवाये तस्य इदं लक्षणं सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च समवायसिद्धिरिति।

किञ्च, युतसिद्धेरभावः अयुतसिद्धिः, सिद्धिशब्देन चात्र किं ज्ञप्तिः, उत्पत्तिर्वा अभिप्रेता? यदि ज्ञप्तिः; तदा सामान्यतद्वदादीनामपि युतसिद्धिप्रसङ्गः, अनुवृत्तव्यावृत्तादिरूपतया तेषामन्योन्यं पृथगेव स्वरूपसंवेदनसंभवात्। अथ उत्पत्तिः; तदा 'न युतसिद्धिः अयुतसिद्धिः, अपृथगुत्पत्तिः' इत्यायातम्, तदपि जातेर्नित्यत्वाऽभ्युपगमाद् दुर्घटम्। अथ युतसिद्धेरभावमात्रमयुतसिद्धिः, सा च जातावस्ति तेनायमदोषः; न; इत्थम् आकाशादीनामपि अयुतसिद्धिः स्यात्, तथा उत्पन्ने पटे रूपादयः पृथगेव उत्पद्यन्ते, सिद्धेषु च पृथक् तन्तुषु पटः इत्यतोऽत्रापि युतसिद्धत्वं स्यात्।

---

१ "अनित्यानां तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति।" प्रश० भा० पृ० १५२। २ "सा पुनः द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम् इयं तु नित्यानाम्।" प्रश० भा० पृ० १५२। प्रश० कन्द० पृ० १४। ३ "...इत्यपि न विभुद्रव्येषु संभवति; तद्धि पृथग्गतिमत्त्वं द्विधा।..." आप्तपरी० का० ४४-४७। प्रमेयक० पृ० १८४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९६५। ४ "अत्र केचिदसद्दूषणमुद्भावयन्ति-समवायाऽसिद्धौ युतेष्वाश्रयेषु समवायो न युतसिद्धिः...तदेतदसद्दूषणम्; लक्षणस्य विद्यमानव्यवच्छेदकत्वात्। यदि हि अविद्यमानं लक्षणेन उत्पाद्येत भवेदेतद् दूषणम्...न चैतत् लक्षणस्य ज्ञापकत्वात् इति।" प्रश० व्यो० पृ० १०८। ५ "ज्ञापकपक्षे सुतरामितरेतराश्रयत्वम्" प्रमेयक० पृ० १८४ पू०। ६ "सिद्धिशब्देन किं ज्ञप्तिरुत्पत्तिर्वा।" स्या० रत्ना० पृ० ९६५। "तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा, अपृथक्कालत्वं वा, अपृथक्स्वभावत्वं वा? सर्वथापि नोपपद्यते।..." ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।१७।

किञ्च, इयमयुतसिद्धिः अभिन्न[1]देशाश्रयत्वेन, अभिन्नकालाश्रयत्वेन, अभिन्नधर्म्याश्रयत्वेन, अभिन्नकारणप्रभवत्वेन, अभिन्नस्वरूपत्वेन वा स्यात् ? न तावद् अभिन्नदेशाश्रय[2]त्वेन ; असिद्धत्वात्, नहि य एव तन्तूनां देशाः त एव पटस्यापि, तन्तवो हि स्वांशुषु स्थिताः पटस्तु तेषु इति । नापि अभिन्नकालत्वेन; अत एव, नहि य एव तन्तूनां कालः स एव पटस्यापि, प्रतीतिविरोधात् । कार्यकारणभावाऽभावप्रसङ्गाच्च; कारणेन हि कार्यस्य समकालत्वमन्यतः सिद्धस्य स्यात्, सिद्धे चास्मिन् किं कुर्वत् तत् कारणं स्यात् ? नापि अभिन्नधर्म्याश्रयत्वेन; अस्य अत्राऽसंभवात्, नहि अवयव-अवयव्यादीनां क्वचिदेकस्मिन् धर्मिणि आश्रितत्वमस्ति, प्रतीतिविरोधाद् अपसिद्धान्तप्रसङ्गाच्च ।

एतेन अभिन्नकारणप्रभवत्वेनापि अयुतसिद्धिः प्रत्याख्याता । अभिन्नस्वरूपत्वे तु अनयोः कस्य किमपेक्षा अयुतसिद्धिः कुत्र वा कस्य समवायः स्यात् ? अभिन्नस्वरूपत्वञ्च अन्यस्य अन्यस्वरूपापत्तिः, एकलोलीभावेन आत्मलाभो वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः, न खलु जात्यादेर्व्यक्त्यादिस्वरूपापत्तिः प्रत्यक्षतः प्रतीयते । द्वितीयपक्षे तु 'तथापरिणतिरेव अर्थानामयुतसिद्धत्वम्' इत्यस्मन्मतसिद्धिः । एकद्रव्याश्रयाणां रूपरसादीनामपि च एवंविधाऽयुतसिद्धिसंभवाद् अन्योन्यं समवायप्रसङ्गः । तेषामाश्रयाश्रयिभावाऽभावात् न तत्प्रसङ्गः; इत्यप्यचारु ; तथापरिणतिव्यतिरेकेण अन्यस्य आश्रयाश्रयिभावस्य तन्तुपटादावप्यसंभवात्, तदन्यस्य अस्य पृथक्सिद्धेषु कुण्डबदरादिष्वेव संभवात् ।

यदप्युक्तम्[3]–'उभयत्र अवधारणाश्रयणात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम् ; उभयत्र अ[4]वधारणाश्रयणेऽपि विपक्षैकदेशवृत्तेर्लक्षणस्य[5] व्यभिचारित्वात्, इष्टञ्च विपक्षैकदेशादव्यावृत्तस्य सर्वैरपि अनैकान्तिकत्वम्, शब्दस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये नित्यत्ववत् ।

यच्चोक्तम्[6]–'तन्तुपटादयः संयोगिनो न भवन्ति' इत्यादि; तत्सत्यम् ; तत्र तादात्म्योपगमात् ।

यत् पुनरुक्तम्[7]–'प्रत्यक्षत एव समवायः प्रतीयते' इत्यादि; तदपि श्रद्धामात्रम् ; तदसाधारणस्वरूपाऽव्यवस्थितेः, स्थिते हि घटादीनामसाधारणे स्वरूपे प्रत्यक्षता सिद्धा, न चास्य तत्सिद्धम् । तद्धि किमयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, [8]सम्बन्धत्वमात्रं वा स्यात् ? न तावदयुतसिद्धसम्बन्धत्वम् ; उक्तप्रकारेण अस्य अव्यवस्थितेः । न च एकस्य सामान्यात्मकं स्वरूपं युक्तम् ; समानानामभावे सामान्यस्याऽसंभवात् गगने गगनत्ववत् । नापि [9]सम्बन्धत्वमात्रं समवायस्य असाधारणं स्वरूपम् ; संयोगादावपि संभवात् ।

---

१ "अभिन्नदेशे वृत्तिः, अभिन्नकालता, अभिन्नधर्मिता, अभिन्नकारणप्रभवत्वम्, अभिन्नस्वरूपत्वं वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ९६५ । २–त्वेन अस्या आश्रयत्वेन असि– भां० । ३ पृ० २९५ पं० ५ । ४ अवधारणयापि ज० । ५–स्यास्य व्य– ज० । ६ पृ० २९५ पं० १४ । ७ पृ० २९५ पं० १८ । ८ सम्बन्धमात्रं ब०, ज० । ९ सम्बन्धमात्रं ब०, ज० ।

किञ्च, तद्रूपतया असौ[1] सम्बन्धबुद्धौ प्रतिभासते, 'इहेदम्' इत्यनुभवे, 'समवायः' इति प्रत्यये वा ? तत्र आद्यविकल्पे कोऽयं सम्बन्धो नाम यद्बुद्धौ असौ प्रतिभासेत-किं सम्बन्धत्व-[2]जातियुक्तः सम्बन्धः, अनेकोपादानजनितः, अनेकाश्रितः, सम्बन्धबुद्धयुत्पादकः, तद्बुद्धिविषयो वा ? न तावत् सम्बन्धत्वजातियुक्तः; समवायस्य असम्बन्धत्वप्रसङ्गात्, समवायान्तराऽसत्त्वेन अत्र सम्बन्धत्वजातेरप्रवर्त्तनात्। अथ संयोगवद् अनेकोपादानजनितः; तर्हि समवायस्य असम्बन्धत्वप्रसङ्गः तस्य नित्यत्वाऽभ्युपगमतः तदसंभवात्, पटादेश्च तत्प्रसङ्गः तत्संभवात्। नापि अनेकाश्रितः; गोत्वादेरपि सम्बन्धत्वाऽनुषङ्गात्। नापि सम्बन्धबुद्धयुत्पादकः; चक्षुरादेरपि तत्त्वप्रसक्तेः। नापि सम्बन्धबुद्धिविषयः; सम्बन्ध-सम्बन्धिनोः एकज्ञानविषयत्वे सम्बन्धिनोऽपि तद्रूपताऽनुषङ्गात्, न च प्रतिविषयं ज्ञानभेदः मेचकज्ञानाऽभावप्रसङ्गात्।

अथ 'इहेदम्' इति अनुभवे समवायः प्रतिभासते; न ; अस्य आधाराधेयभावलक्षणसम्बन्धाकारोल्लेखित्वात्, न च अन्याकारेऽर्थे प्रतीयमाने अन्याकारोऽर्थः कल्पयितुं युक्तः अतिप्रसङ्गात्। अथ कुण्डबदरादौ तत्सम्बन्धः सम्बन्धान्तरपूर्वको दृष्टः, अतः अवयव-अवयव्यादावपि असौ सम्बन्धान्तरपूर्वक एव सिद्ध्यति इति समवायसिद्धिः। नन्वेवम् अनवस्था स्यात्; दधिकुण्डादिसम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरात् तत्परतन्त्रतोपलम्भाद् अवयवाऽवयव्यादिसम्बन्धस्यापि तदन्तरात् तत्परतन्त्रताप्रसङ्गात्। अथ समवायबुद्ध्या असौ प्रतीयते; तन्न ; तद्बुद्धेः कस्यचिदपि असंभवात्, न हि 'एते तन्तवः, अयं पटः, अयं च समवायः' इति त्रितय[3]मन्योन्यविविक्तं कस्यचित् स्वप्नेऽपि प्रतिभासते। तन्न प्रत्यक्ष[4]गम्यः समवायः।

नाप्यनुमानगम्यः; तत्सद्भावा[5]वेदिनो निरवद्यस्य अस्याप्यसंभवात्। यच्च 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादि तत्सद्भावावेदकमनुमानमुक्तम्[6]; तदप्यसाम्प्रतम्; अनेकदोषदुष्टत्वात्। तथाहि-तावद् आश्रयाऽसिद्धोऽत्र हेतुः; तदसिद्ध[7]त्वञ्च 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्य धर्मिणोऽसिद्धत्वात्।

---

१ "किं सम्बन्धबुद्ध्याऽध्यवसीयते, अहोस्विदिहबुद्ध्या, समवायबुद्ध्या वा ?" तत्त्वोप० पृ० १०। प्रमेयक० पृ० १८४ उ०। २ किं सम्बन्धजातियुक्तः सम्बन्धः, आहोस्विदनेकोपादानजनितः, अनेकाश्रितो वा, सम्बन्धबुद्धिविषयो वा, सम्बन्धबुद्ध्युत्पादको वा, सम्बन्धाकारो वा ? तत्त्वोप० पृ० १०। प्रमेयक० पृ० १८४ उ०। ३ "अयं तन्तुः, अयं पटः, अयमनयोः समवाय इति न जातु जानते जनाः।···" तत्त्वोप० पृ० १०। "न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति। इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः॥ ७॥" स्या० मं०। ४ "नहि तस्य प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तिः पटतन्तुव्यतिरेकेण तदनिर्णयात्।" न्यायवि० वि० पृ० २२५ पू०। ५ तद्भावा-आ०। "समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः। अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः॥ १०४॥" न्यायवि० परि० १, पृ० २२६ पू०। ६ पृ० २९५ पं० २०। ७ "तामेव धर्म्यसिद्धिं समर्थयते···नैव तन्तुपटादीनां नानात्वेनोपलक्षणम्। विद्यते येन तेषु स्युरिदमत्रेति बुद्धयः॥ ८२९॥" तत्त्वसं०।

अप्रसिद्धविशेषणश्चायम्; 'पटे तन्तवः, वृक्षे शाखाः'[1] इत्यादिरूपतया प्रतीयमानप्रत्ययेन 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्य बाध्यमानत्वात्। स्वरूपाऽसिद्धश्च; तन्तु-पटप्रत्यये इहप्रत्ययत्वस्य अनुभवाऽभावात् 'पटोऽयम्' इत्यादिरूपतया अस्य अनुभवात्। अनैकान्तिकश्चायम्; 'इह प्रागभावेऽनादित्वम्, इह प्रध्वंसाऽभावे प्रध्वंसाऽभावाऽभावः' इति अबाध्यमान-इहप्रत्ययस्य सम्बन्धपूर्वकत्वाऽभावात्। न च अत्र विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धो वाच्यः; सम्बन्धान्तरमन्तरेण तद्भावस्यैव असंभवात्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यञ्च स्यात्।

किञ्च, अतोऽनुमानात् तन्तु-पटादौ सम्बन्धमात्रं प्रसाध्यते, तद्विशेषो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धस्य इष्टत्वात्। ननु तन्तु-पटयोः तादात्म्ये सति अन्यतरदेव स्यात्, तथा च सम्बन्धिनोरेकत्वे कथं सम्बन्धः स्याद् अस्य द्विष्ठत्वात्? इत्यप्ययुक्तम्; यो हि द्विष्ठः सम्बन्धः तस्य इत्थमभावो युक्तः, यस्तु तत्स्वभावतालक्षणः कथं तस्य अभावः? तन्तूनां स्वात्मभूतोऽवस्थाविशेष एव हि पटः नाऽर्थान्तरम्, आतानवितानीभूततन्तुव्यतिरेकेण देशभेदादिना तस्यानुपलभ्यमानत्वात्। अथ सम्बन्धविशेषः साध्यते; किं संयोगः, समवायो वा? संयोगश्चेत्; अभ्युपगमबाधा। अथ समवायः; दृष्टान्तस्य साध्यविकलता, पक्षस्य च अप्रसिद्धविशेषणत्वं समवायस्य क्वचिदप्यप्रसिद्धेः।

अथ न संयोगः समवायो वा साध्यते किन्तु सम्बन्धमात्रम्, तत्सिद्धौ च परिशेषात् समवायः सिद्ध्यति इत्युच्यते; ननु कोऽयं परिशेषो नाम? प्रसक्तप्रतिषेधेऽवशिष्टप्रत्ययहेतुः सः; इति चेत्; स किं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? यदि अप्रमाणम्; कथं प्रकृतप्रतीतिहेतुः अतिप्रसङ्गात्? अथ प्रमाणम्; किं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? न तावत् प्रत्यक्षम्; तस्य प्रसक्तप्रतिषेधद्वारेण अभिप्रेतसिद्धौ असमर्थत्वात्। अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानं परिशेषः; तर्हि प्रकृताऽनुमानस्य आनर्थक्यम्, तस्मिन् सत्यपि परिशेषमन्तरेण अभिप्रेतसिद्धेरभावात्, स तु प्रमाणान्तरमन्तरेणाऽपि तत्सिद्धौ समर्थः इति स एव उच्यताम्, न चाऽसौ उक्तः, तत्कथं समवायः सिद्ध्येत्?

यच्चान्यदुक्तम्[2]–'विशेषविरुद्धाऽनुमानं सकलानुमानोच्छेदकत्वान्न वक्तव्यम्' इत्यादि; तत् किम्[3] अनुमानाभासोच्छेदकत्वान्न वाच्यम्, सम्यगनुमानोच्छेदकत्वाद्वा? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; नहि कालात्ययापदिष्टहेतूत्थानुमानोच्छेदकस्य प्रत्यक्षादेः अनुमानवादिना उपन्यासो न क्रियते अतिप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; नहि धूमादिसम्यगनुमानस्य विशेषविरुद्धाऽनुमानसहस्रेणाऽपि प्रत्यक्षादिभिरपहृतविपर्ययेण बाधा विधातुं पार्यते। न च विशेषविरुद्धानुमानत्वादेव इदमवाच्यम्; यतो न विशेषविरुद्धानुमानत्वम् असिद्धादिवत् हेत्वाभासनिरूपणप्रघट्टके दोषो निरूपितः, येन अनुमानवादिभिः तद् असिद्धत्वादिवत् न प्रयुज्येत। ततो

---

१ "वृक्षे शाखा शिलाश्चाग इत्येषा लौकिकी मतिः ॥८३१॥" तत्त्वसं०। २ पृ० २९६ पं० ११।

३ "तत्किमनुमानाभासोच्छेदकत्वान्न···।" प्रमेयक० पृ० १८६ पू०।

यद् दुष्टमनुमानं तदेव विशेषविघाताय न वक्तव्यम्, यथा 'अयं प्रदेशः अत्रत्येन अग्निना अग्निमान्न भवति धूमवत्त्वात् महानसवद्' इत्यादिकम्। यतः तेन यो विशेषो निराक्रियते स प्रत्यक्षेणैव तद्देशोपसर्पणे प्रतीयते, न चैतत् समवाये संभवति प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेन अस्य प्रतिपादितत्वात्। न च अतद्विषयं बाधकम् अतिप्रसङ्गात्।

यत् पुनरुक्तम्[1]–'न चास्य संयोगवत् नानात्वम्' इत्यादि; तदप्यसमीचीनम्, तदेकत्वस्य अनुमानबाधितत्वात्। तथाहि–अनेकः समवायः भिन्न[2]देशकाला[3]कारार्थेषु सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वात्, यो य एवं सः सो नैकः यथा संयोगः, तथा चायम्, तस्मादनेक इति। प्रसिद्धो हि दण्ड[4]पुरुषसंयोगात् कट-कुड्यादिसंयोगस्य भेदः। 'निविडः संयोगः, शिथिलः संयोगः' इति प्रत्ययभेदात् अस्य भेदाभ्युपगमे 'नित्यं समवायः, कदाचित् समवायः' इति प्रत्ययभेदात् समवायस्यापि भेदोऽस्तु अविशेषात्। समवायिनोर्नित्यत्व-का[5]दाचित्कत्वाभ्यां समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ संयोगिनोर्निविडत्व-शिथिलत्वाभ्यां संयोगे तथा प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात् न पुनः संयोगस्य निविडत्वादिस्वभावसंभवात्, इति एकं सन्धित्सोः अन्यत् प्रच्यवते।

तथा 'नाना समवायः अयुतसिद्ध-अवयव-अवयव्याद्याश्रितत्वात् संख्यावत्' इत्यतोऽपि अस्य अनेकत्वसिद्धिः। न चेदमसिद्धम्; तदनाश्रितत्वे हि समवायस्य *"षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः।"* [प्रश० भा० पृ० १६] इत्यस्य विरोधः। अथ न परमार्थतः समवायस्य आश्रितत्वं किन्तु उपचारात्, निमित्तं तु उपचारस्य समवायि[6]षु सत्सु समवायज्ञानम्, तत्त्वतो हि आश्रितत्वे अस्य आश्रयविनाशे विनाशप्रसङ्गो गुणादिवत्; इत्यप्यसुन्दरम्; आश्रितत्वसामान्यस्य हेतुत्वात्। दिगादीनामप्येवम् आश्रितत्वापत्तेश्च; मूर्त्तद्रव्येषु उपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्य 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वाऽपरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात्। तथा च *'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः'* इत्यस्य विरोधः। सामान्यस्य अनाश्रितत्वप्रसङ्गश्च; आश्रयविनाशेऽपि अविनाशात् समवायवत्। अनुमानविरुद्धश्च परमार्थतोऽस्य अनाश्रितत्वम्; तथाहि–आश्रितः परमार्थतः समवायः सम्बन्धत्वात् संयोगादिवदिति।

त[7]था च 'इहेतिप्रत्ययाऽविशेषाद् विशेषलिङ्गाऽभावाच्च एकः समवायः[8]' इत्ययुक्तम्; विशेषलिङ्गाऽभावस्य अनन्त[9]रप्रतिपादितलिङ्गसद्भावतः असिद्धत्वात्। इहेति प्रत्ययाऽविशेषोऽपि अ-

---

१ पृ० २९६ पं० १६। २ विभिन्न–भां०, श्र०। ३–कालार्थेषु ब०, ज०। ४ "नहि संयोगः प्रतिविशेष्यं विशिष्टो नाना न भवति दण्डपुरुषसंयोगात् पटधूपसंयोगस्य अभेदाऽप्रतीतेः…तद्वत् समवायोऽनेकः प्रतिपद्यताम्…शिथिलः संयोगो निविडः संयोगः इति प्रत्ययो यथा संयोगे तथा नित्यं समवायः कदाचित् समवाय इति समवायेऽपि…।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९-२०। प्रमेयक० पृ० १८६ उ०। सन्मति० टी० पृ० ७०२। ५–कादाचित्काभ्याम् आ०, ब०, ज०, भां०। ६ "समवायिषु सत्स्वेव समवायस्य वेदनात्। आश्रितत्वे दिगादीनां मूर्त्तद्रव्याश्रितिर्न किम् ॥ ६० ॥" आप्तपरी०। प्रमेयक० पृ० १८६ उ०। ७ तथेहेति आ०। ८ पृ० २९६ पं० १६। ९–न्तरंप्र–भां०।

सिद्धः; 'इह आत्मनि ज्ञानम्, इह पटे रूपादिकम्' इति इहेति प्रत्ययस्य विशेषात्, विशेषणाऽनुरागो हि प्रत्ययस्य विशिष्टत्वम्। न च अनुगतप्रत्ययात् समवायस्य एकत्वं सिद्ध्यति; गोत्वादिसामान्येषु षट्पदार्थेषु च अनुगतस्यैकत्वस्याऽभावेऽपि 'सामान्यं सामान्यम्' 'पदार्थः पदार्थः' इति अनुगतप्रत्ययप्रतीतेः। 'सत्तावद्' इति दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः; सर्वथैकत्वस्य[1] सत्प्रत्ययाऽविशेषस्य च असिद्धत्वात्, तदसिद्धत्वञ्च अग्रे कथञ्चित्[2] तदनेकत्वस्य तद्विशेषस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् सिद्धम्।

यदप्युक्तम्[3]-'स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तित्वात्' इत्यादि; तदप्यचर्चिताऽभिधानम्; आत्मलाभस्य स्वकारणसत्तासमवायपर्यायतायां नित्यत्वप्रसङ्गात्। निरस्तश्च स्वकारणसत्तासमवायलक्षणं कार्यत्वं प्राक्† इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन।

यच्चोक्तम्[4]-'अग्नेरुष्णतादिवत्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः प्रत्यक्ष[5]सिद्धे वस्तुस्वभावे स्वभावैरुत्तरं वक्तुमुचितम् जलाऽनलवत्। न च 'समवायस्य स्वतः सम्बन्धत्वम्, संयोगादीनां तु परतः' इति प्रत्यक्षसिद्धम्; तत्स्वरूपस्य अध्यक्षाऽगोचरत्वप्रतिपादनात्। 'समवायोऽन्येन सम्बन्ध्यमानो न स्वतः सम्बद्ध्यते सम्बद्ध्यमानत्वात् रूपादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च।

यदप्यभिहितम्[6]-'समवायः सम्बन्धान्तरं नापेक्षते स्वतः सम्बन्धत्वात्' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्[7]; हेतोरसिद्धेः, नहि समवायस्य स्वरूपाऽसिद्धौ स्वतः सम्बन्धत्वं तत्र सिद्ध्यति। संयोगेन अनेकान्ताच्च; स हि स्वतः सम्बन्धः सम्बन्धान्तरञ्च अपेक्षते। न खलु स्वतोऽसम्बन्धस्वभावत्वे संयोगादेः परतः तद् युक्तम्; अतिप्रसङ्गात्। घटादीनाञ्च सम्बन्धित्वात् न परतोऽपि सम्बन्धत्वम्, इत्ययुक्तमुक्तम्[8]-'न ते स्वतः सम्बन्धाः[9]' इति। तन्न अस्य स्वतः सम्बन्धो युक्तः। नापि परतः; यतः परतः किं [10]संयोगात्, समवायान्तरात्, विशेषणभावात्, अदृष्टाद्वा स स्यात्? न तावत् संयोगात्; तस्य गुणत्वेन अद्रव्यस्वभावे समवाये संभवाऽभावात्। नापि समवायान्तरात्; तस्य एकरूपतया अभ्युपगमात्, अन्यथा "*तत्त्वं भावेन*" [वै० सू० ७।२।२८] व्याख्यातम्[11]", इति इदं विरुद्ध्येत।

नापि विशेषणभावात्; सम्बन्धान्तरेण सम्बद्धार्थेष्वेव अस्य[12] प्रवृत्तिप्रतीतेः दण्डविशिष्टः पुरुषः इत्यादिवत्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यञ्च स्यात्। न च समवाय-

१-कस्य ब०, ज०। "सत्तावदिति दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः सर्वथैकत्वस्य।..." प्रमेयक० पृ० १८६ उ०। २-श्चिदनेक-भां०। -श्चित्तदनेकस्य ब०, ज०। ३ पृ० २९७ पं० ४। ४ पृ० २९७ पं० ६। ५-क्षप्रसिद्धे श्र०। ६ पृ० २९७ पं० ९। ७ "प्राप्तित्वात् प्राप्त्यन्तराभाव इति चेन्न व्यभिचारात्।" तत्त्वार्थराज० पृ० ५। ८ पृ० २९७ पं० १०। ९ सम्बद्धाः आ०। १० "किं विशेषणविशेष्यभावेन, संयोगेन, समवायेन वा?" अष्टसह० पृ० २१५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०। प्रमेयक० पृ० १८८ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ९६९। ११ "व्याख्यातमितिशेषः।..." वै० सू०, उपस्का० ७।२।२८। १२ -स्य प्रतीतेः ब०, ज०। † पृ० १०१।

समवायिनां सम्बन्धान्तर[1]सम्बद्धत्वं संभवति अनभ्युपगमात्। किञ्च, विशेषणभावोऽपि एतेभ्यः अत्यन्तं भिन्नः कुतस्तत्रैव नियम्येत ? समवायाच्चेत्; इतरेतराश्रयः–सिद्धे हि समवायनियमे ततो विशेषणभावनियमसिद्धिः, तत्सिद्धौ च समवायनियमसिद्धिरिति। किञ्च, अयं विशेषणभावः षड्पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत्; किं भावरूपः, अभावरूपो वा ? न तावद् भावरूपः; 'षडेव पदार्थाः' इति नियमविघातप्रसक्तेः। नाप्यभावरूपः; अनभ्युपगमात्। अथ अभिन्नः; किं द्रव्यस्वरूपः, गुणादिस्वभावो वा भवेत्? न तावत् द्रव्यस्वरूपः; गुणाद्याश्रितत्वाऽभावप्रसङ्गात्। अत एव न गुणोऽपि। नापि कर्म; कर्माश्रितत्वाऽभावानुषङ्गात्। "*अकर्म कर्म*[2]" [ ] इत्यभिधानात्। नापि सामान्यम्; सामान्यादौ तदभावप्रसङ्गात् पदार्थत्रयवृत्तित्वात्तस्य। नापि विशेषः; नित्यद्रव्येभ्योऽन्यत्र वि[3]शेषणभावस्य अभावप्रसङ्गात्। युगपदनेकसमवायिविशेषणत्वे च अस्यानेकत्वप्राप्तिः, यद् युगपदनेकार्थविशेषणं तदनेकम् यथा दण्डकु[4]ण्डलादि, तथा च समवायः, तस्मादनेक इति। न च सत्तादिना अनेकान्तः; तस्यापि अनेकस्वभावत्वप्रसाधनात्। तन्न विशेषणभावेनाप्यसौ सम्बद्धः।

नाप्यदृष्टेन; अस्य सम्बन्धरूपत्वस्यैव असंभवात्। सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताऽभ्युपगतः, अदृष्टश्च आत्मवृत्तितया समवाय-समवायिनोरतिष्ठन् कथं द्विष्ठो भवेत्? षोढासम्बन्धवादित्वव्याघातश्च। यदि च अदृष्टेन समवायः सम्बद्धयते तर्हि गुण-गुण्यादयोऽपि अत एव सम्बद्धा भविष्यन्ति इति अलं तत्रापि समवा[5]यादिसम्बन्धकल्पनया। न च अदृष्टोऽप्यसम्बद्धः समवायसम्बन्धहेतुः; अतिप्रसङ्गात्। अथ सम्बद्धः; 'कुतः' इति वक्तव्यम्? समवायाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः। अन्यतश्चेत्; अपसिद्धान्तप्रसङ्गः। तन्न सम्बद्धः समवायः।

नाप्यसम्बद्धः; '*षण्णामाश्रितत्वम्*' इत्यस्य विरोधप्रसङ्गात्। 'इह आत्मनि ज्ञानम्; इत्यादि सम्बन्धबुद्धिः न सम्बन्ध्यसम्बद्धसम्बन्धपूर्विका सम्बन्धबुद्धित्वात् दण्डपुरुषसम्बन्धबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरोधानुषङ्गाच्च। किञ्च, अयं सम[6]वायः समवायिनोः परिकल्प्येत, असमवायिनोर्वा ? यद्यसमवायिनोः; तर्हि घटपटयोरपि तत्प्रसक्तिः। अथ समवायिनोः; कुतस्तयोः समवायित्वम्–समवायात्, स्वतो वा ? समवायाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि समवायित्वे तयोः समवायसिद्धिः, तस्याश्च तत्त्वसिद्धिरिति। स्वत एव तु समवायिनोः किं समवायेन ? न च संयोगेऽप्येतत् सर्वं समानम् इत्यभिधातव्यम्; संश्लिष्टतयोत्पन्नवस्तुव्यतिरिक्तस्य अस्याप्यसंभवात्, भिन्नसंयोगिनोस्तन्नियमे तु समानमेवैतत्।

१–राभिसम्बद्ध–श्र०। २ "कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः।" वै०सू० ७।१।१५। "कर्मभिः कर्माणि न तद्वन्ति गुणैश्च गुणाः न तद्वन्तः।···" उपस्का०। ३ विशेषभाव–आ०। ४–कुण्डलत्वादि ज०। ५–वायादिकल्प–आ०, ब०, ज०, भां०। ६ "अयं समवायः समवायिनोरसमवायिनोर्वा ?···"प्रमेयक० पृ० १८८ उ०।

यच्चान्यदुक्तम्[1]–'संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद् गुणादीनाम्' इत्यादि; तदप्यपेशलम्; यतो निष्क्रियत्वेऽप्येषाम् आधेयत्वम् अल्पपरिमाणत्वात्, तत्कार्यत्वात्, तथाप्रतिभासाद्वा ? तत्र आद्यः पक्षोऽसङ्गतः; सामान्यस्य महापरिमाणगुणस्य च अनाधेयत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अयुक्तः। तृतीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; तेषामाधेयतया प्रतिभासाभावात्। तदभावश्च रूपादीनां स्वाधारेषु अन्तर्बहिश्च सत्त्वात्। नहि अन्यत्र कुण्डादावधिकरणे बदरादीनामाधेयानां तथा सत्त्वमस्ति। अथ रूपादीनामाधेयत्वे सत्यपि युतसिद्धेरभावात् उपरितनतया प्रतिभासाऽभावः; न; युतसिद्धत्व-अयुतसिद्धत्वयोः उक्तप्रकारेणाऽव्यवस्थितयोः तथाप्रतिभासाऽनिबन्धनत्वात्। न च युतसिद्धत्वस्य उपरितनत्वप्रतीतिहेतुत्वम्; ऊर्ध्वाधःस्थितवंशादेः क्षीरनीरयोश्च तदभावात्। तस्मान्न सम्बन्धिभ्यः सम्बन्धः सर्वथार्थान्तरभूतो विचार्यमाणो घटते।

'न सम्बन्धबुद्धिर्वास्तवी तद्व्यतिरिक्तस्य सम्बन्धस्य असत्त्वात्' इत्यादिना सम्बन्धमात्रं निराकुर्वतो बौद्धस्य पूर्वपक्षः—

ननु सिद्धे सम्बन्धे तस्य सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरत्वम् अनर्थान्तरत्वं वा कल्पयितुं युक्तम्, न चासौ सिद्धः तत्स्वरूपाऽनवधारणात्; तथाहि–सम्बन्धोऽर्थानां पारतन्त्र्यलक्षणः, रूपसंश्लेषस्वभावः, परापेक्षास्वरूपो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमसौ सम्बन्धिनोर्निष्पन्नयोः, अनिष्पन्नयोर्वा स्यात् ? न तावदनिष्पन्नयोः स्वरूपस्यैवाऽसत्त्वात् शशविषाणवन्ध्यास्तनन्धयवत्। नापि निष्पन्नयोः तथाविधयोस्तयोः सह्य-विन्ध्यवत् पारतन्त्र्याऽभावतः सम्बन्धानुपपत्तेः। तदुक्तम्[2]—

"पारतन्त्र्यं[3] हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥" [ ]

नापि रूपसंश्लेषस्वभावोऽसौ घटते; सम्बन्धिनोर्द्वित्वे तत्संश्लेषविरोधात्। तयोरैक्ये वा सुतरां सम्बन्धाऽभावः, सम्बन्धिनोरभावे सम्बन्धाऽयोगात् द्विष्ठत्वात्तस्य। अथ नैरन्तर्यं तयोः सम्बन्धः; न; अस्य अन्तरालाऽभावत्वेन अतात्त्विकत्वतः सम्बन्धत्वाऽनुपपत्तेः, निरन्तरतायाश्च सम्बन्धत्वे सान्तरताऽपि सम्बन्धः स्यादविशेषात्।

किञ्च, अनयोः रूपश्लेषः[4] सर्वात्मना, एकदेशेन वा ? सर्वात्मना तत्संश्लेषे पिण्डोऽणुमात्रः स्यात्। एकदेशेन तत्संश्लेषे अणूनां षडंशतापत्तिः। तद्देशाश्च तेभ्योऽभिन्नाः, भिन्ना वा ? यद्यभिन्नाः; तदा तेषामभावात् कथमेकदेशेन तत्संश्लेषः स्यात्। अथ भिन्नाः तदा तैरपि अणूनां सर्वात्मना एकदेशेन वा संश्लेषे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च स्यात्। उक्तञ्च—

१ पृ० २९७ पं० ११। २ "आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम्। इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः॥६४॥" आप्तमी०। "नापि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धिव्यतिरेकेण अस्तित्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति।......" ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।१७। ३ उद्धृतश्चैतत्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४६। अष्टसह० पृ० १११। प्रमेयक० १४९ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ८१२। ४ रूपसंश्ले–श्र०।

"रूपश्लेषो[1] हि सम्बन्धः द्वित्वे स च कथं भवेत् ।
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥" [ ]

अथ[2] परापेक्षास्वरूपोऽसौ सम्बन्धः; अस्त्वेतत्; तथापि भावः स्वयं सन्, असन् वा परमपेक्षेत ? न तावदसन्; तथाभूतस्य अस्य अश्वविषाणवत् अपेक्षाधर्माश्रयत्वविरोधात्। नापि सन्; सर्वनिराशंसत्वात्, अन्यथा सत्त्वविरोधात्। तथा चोक्तम्—

"परा[3]पेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते ।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥" [ ]

किञ्च, सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यो भिन्नः; अभिन्नो वा स्यात् ? यद्यभिन्नः; तदा सम्बन्धिनावेव सम्बन्ध एव वा स्यात्। अथ भिन्नः; तदा सम्बन्धिनौ[4] केवलौ कथं सम्बद्धौ स्याताम् ? अस्तु वा ताभ्यामर्थान्तरमसौ; तथापि तेनैकेन सम्बन्धेन सह द्वयोः सम्बन्धिनोः कः सम्बन्धः ? यथा सम्बन्धिनोर्यथोक्तदोषान्न कश्चित् सम्बन्धः तथा अत्रापि, तेन सह अनयोः सम्बन्धान्तराभ्युपगमे च अनवस्था स्यात् तत्रापि सम्बन्धान्तराऽनुषङ्गात्। तन्न सम्बन्धबुद्धिर्वास्तवी तद्व्यतिरिक्तस्य सम्बन्धस्याऽसत्त्वात्। सत्त्वे वा 'द्वौ सम्बन्धिनौ सम्बन्धश्च' इत्यन्योन्यममिश्राः सर्वे भावाः स्वस्वरूपव्यवस्थिताः परमार्थतः स्थिताः, तान् इत्थम्भूतानपि भावान् कल्पना अन्योन्यं मिश्रानिवादर्शयतीति। उक्तञ्च—

"द्वयो[5]रेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः ।
कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥
ततः— तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः ।
इत्यमिश्राः स्वयं भावाः तान् मिश्रयति कल्पना ॥" [ ] इ[6]त्यादि।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[7]–'पारतन्त्र्य[8]' इत्यादि; तदसमीचीनम्; एकत्वपरिणतिलक्षणपारतन्त्र्यस्य अर्थानां प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धत्वेन निह्नोतुमशक्यत्वात्। यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धं न तन्निह्नोतुं शक्यम् यथा नीलादि, तत्प्रमाणप्रसिद्धञ्च एकत्वपरिणतिलक्षणं पारतन्त्र्यं बाह्याध्यात्मिकार्थानामिति। द्रव्य[9]-क्षेत्र-काल-भावकृता हि प्रत्या-

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं सम्बन्धस्य कथञ्चिदेकत्वपरिणतिलक्षणत्वव्यवस्थापनम्—

१ उद्धृतश्चैतत्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४८, प्रमेयक० पृ० १४९ पू० । २ अथापरा–श्र० । ३ उद्धृतश्चैतत्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४८, प्रमेयक० पृ० १४९ पू०, स्या० रत्ना० पृ० ८१३ । ४ सम्बन्धिनो वु–श्र० । ५ उद्धृतश्चैतत्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४७, प्रमेयक० पृ० १४९ पू० । स्या० रत्ना० पृ० ८१३ । ६ अनयैव प्रक्रियया पूर्वपक्षः (प्रमेयक० पृ० १४९ पू०, स्या० रत्ना० पृ० ८१२) द्रष्टव्यः । ७ पृ० ३०५ पं० १२ । ८–तन्त्र्यादि श्र० । ९ "द्रव्यतः क्षेत्रतः कालभावाभ्यां कस्यचित् स्वतः । प्रत्यासन्नकृतः सिद्धःसम्बन्धः केनचित् स्फुटः ॥१२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४६ । स्या० रत्ना० पृ० ८२१ ।

सत्तिः एकत्वपरिणतिस्वभावा पारतन्त्र्य-अपरनामा सम्बन्धोऽर्थानामभिप्रेतो जैनैः, स च आबालं प्रत्यक्षादिप्रमाणे प्रतिभासते, बहिरेकावयविद्रव्यगतानां रूपादीनाम् अन्तश्च एकात्मद्रव्यगतानां ज्ञान-सुखादीनां लोलीभूतानामध्यक्षत एव अवभासनात्। प्रसाधितश्च † अवयविद्रव्यम् आत्मद्रव्यञ्च प्राक् इत्यलमतिप्रसङ्गेन। तथा[1] एकक्षेत्रवर्त्तिनां क्षीर-नीरादीनामेकलोलीभावेन एकत्वपरिणतिलक्षणं क्षेत्रनिबन्धनं पारतन्त्र्यं प्रत्यक्षत एव प्रतीयते। कालनिबन्धनमपि तत् तथाविधम् आम्ररसादीनां बालाद्यवस्थशरीरावयवोपचयादीनां वा प्रत्यक्षत एव प्रतीयते। भावनिबन्धनमपि तत् संयोगिनां द्रव्य-पर्यायादीनाञ्च प्रतीयत एव, घटपटादीनां संयोगात्मना परिणतेः आत्मसुखादीनाञ्च[2] चैतन्यादिस्वभावतया इति। एकैकप्रधानतया च एवंविधा प्रत्यासत्तिः प्रदर्शिता न पुनरन्यव्यवच्छेदेन; द्रव्यादिप्रत्यासत्तौ क्षेत्रादिप्रत्यासत्तेरप्यनिवारणात्।

यदप्युक्तम्[3]–'निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; कथञ्चिन्निष्पन्नयोः सम्बन्धिनोः पारतन्त्र्याभ्युपगमात्। द्रव्य-पर्यायात्मकत्वे हि वस्तुनो द्रव्यरूपतया निष्पन्नस्य अनिष्पन्नपर्याय[4]पारतन्त्र्यमुपपद्यते तद्रूपतया तस्य परिणमनात्। पटो हि तन्तुद्रव्यरूपतया निष्पन्न एव, अन्वयिनो द्रव्यस्य पटपरिणामोत्पत्तेः प्रागपि सत्त्वात्, स्वरूपेण तु अनिष्पन्नः। तन्तुद्रव्यमपि स्वरूपेण निष्पन्नम् पटपरिणामरूपतया तु अनिष्पन्नम्। तथा अङ्गुल्यादिद्रव्यं स्वरूपेण निष्पन्नम् संयोगपरिणामात्मना त्वनिष्पन्नम्, इति सर्वं वस्तु स्यान्निष्पन्नं स्यादनिष्पन्नं पारतन्त्र्यभाक् भवतीति प्रतिपत्तव्यम्। किञ्च, पारतन्त्र्यस्याभावाद्[5] भावानां सम्बन्धाभावे तेन व्याप्तः क्वचित् सम्बन्धः प्रसिद्धः, न वा? प्रसिद्धश्चेत् कथं सर्वत्र सर्वदा सम्बन्धाभावः विरोधात्? अथ न प्रसिद्धः; कथमव्यापकाऽभावाद् अव्याप्यस्याभावसिद्धिः अतिप्रसङ्गात्?

यच्चान्यदुक्तम्[6]–'रूपश्लेषो हि' इत्यादि; तदपि एकान्तवादिनामेव दूषणं नास्माकम्, कथञ्चित्[7] सम्बन्धिनोरेकत्वापत्तिस्वभावस्य रूपश्लेषलक्षणसम्बन्धस्याभ्युपगमात्। अशक्यविवेचनत्वं हि सम्बन्धिनो रूपश्लेषः[8], असाधारणरूपता[9] च तदश्लेषः, स च अनयोर्न द्वित्वं विरुणद्धि तथाप्रतीतेः चित्राकारैकसंवेदनवत्।

यदप्यभिहितम्[10]–'सर्वात्मना एकदेशेन वा' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; प्रकारान्तरेणैव

† पृ० २३२। पृ० २६१। १ "द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तिलक्षणस्य सम्बन्धस्य निराकर्तुमशक्तेः। न हि कस्यचित् केनचित् साक्षात् परम्परया वा सम्बन्धो नास्तीति निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात्।…" अष्टसह० पृ० १११। तत्र आ०। "क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्यथा…।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४७। २ आत्मस्थसु– आ०। ३ पृ० ३०५ पं० १३। ४–पर्यवाय–आ०। ५ "पारतन्त्र्यस्याभावाद् भावानां सम्बन्धाभावमभिदधानाः तेन सम्बन्धं व्याप्तं क्वचित् प्रतिपद्यन्ते न वा।…" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४६। प्रमेयक० पृ० १५२ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ८२१। ६ पृ० ३०६ पं० १। ७ "ते हि कथञ्चिदेकत्वापत्तिं सम्बन्धिनो रूपश्लेषं सम्बन्धमाचक्षते।…" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४८। प्रमेयक० पृ० १५२ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ८२४। ८–स्य स्वरूपश्ले–श्र०। ९–रूपत्वाच्च आ०। १० पृ० ३०५ पं० २३।

अस्याभ्युपगमात्, कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां हि तस्यासम्भवात् अपरप्रकारस्य[1] च संभवात्। सम्बन्धबुद्ध्यन्यथाऽनुपपत्तेश्च प्रकारान्तरेणैव असौ स्निग्धरूक्षतानिबन्धनोऽभ्युपगन्तव्यः। यन्मते हि विभिन्नौ सम्बन्धिनौ अप्रच्युताऽनुत्पन्नपूर्वाऽपरस्वरूपौ अन्योन्यं सम्बद्ध्येते तन्मते अयमनन्तरोदितो दोषो भवत्येव, अस्मन्मते तु विश्लिष्ट[2]रूपतापरित्यागेन संश्लिष्टरूपतया एकलोलीभावलक्षणया परिणतिः सक्तुतोयादीनां सम्बन्धोऽभिप्रेतः, तत्कथमुक्तदोषाणां लेशतोऽप्यवकाशः स्यात्? तथाविधसम्बन्धाऽनभ्युपगमे च कथं चित्रसंवेदनसिद्धिः स्यात्? नहि चित्रसंविदः तथाभूतपरिणतिव्यतिरेकेण अन्यो नीलाद्यनेकाकारैः सम्बन्धः संभवति, सर्वात्मना एकदेशेन वा तस्यास्तैः सम्बन्धे प्रोक्ताऽशेषदोषाऽनुषङ्गात्। स च एवंविधः- सम्बन्धोऽर्थानां क्वचिन्निखिलप्रदेशानामन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशतो भवति यथा सक्तुतोयादीनाम्, क्वचित्तु प्रदेशसंश्लिष्टतामात्रेण यथा अङ्गुल्यादीनाम्। न च अन्तर्बहिर्वा सांशवस्तुवादिनः सांशत्वाऽनुषङ्गो दोषाय इष्टत्वात्। न चैवमनवस्था; तद्वतः तत्प्रदेशानामत्यन्तभेदाऽभावात्, तद्भेदे हि तेषामपि तद्वतां प्रदेशान्तरैः सम्बन्धः इत्यनवस्था स्यान्नान्यथा। अनेकान्तात्मवस्तुनो अत्यन्तभेदाऽभेदाभ्यां जात्यन्तरत्वात् चित्रसंवेदनवत्।

नन्वेवं परमाणूनामपि सांशत्वप्रसङ्गः; इत्यप्यचोद्यम्; यतोऽत्र अंश[3]शब्दः स्वभावार्थः, अवयवार्थो वाऽभिप्रेतः? यदि स्वभावार्थः; न कश्चिद् दोषः, तेषां विभिन्नदिग्भागव्यवस्थिताऽनेकाणुभिः सम्बन्धाऽन्यथाऽनुपपत्त्या तावद्धा स्वभावभेदोपपत्तेः। अवयवार्थस्तु तत्रासौ नोपपद्यते; अणूनामभेद्यत्वेन अवयवाऽसंभवात्। ननु स्वभावभेदसंभवेऽणूनां कथमविभागित्वप्रतिज्ञा न विरुद्ध्येत[4]? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतोऽविभागित्वं तेषां भेदयितुमशक्यत्वमुच्यते न पुनः निःस्वभावत्वम्।

यत्पुनरुक्तम्[5]-'*परापेक्षा हि*' इत्यादि; तदनभ्युपगमादेव परिहृतम्, नहि जिनपतिमताऽनुसारिभिः परापेक्षालक्षणः सम्बन्धोऽभ्युपगम्यते कथञ्चिदेकत्वपरिणतेः तत्त्वाऽभ्युपगमात्। परापेक्षत्वात्[6] सम्बन्धस्वभावो मिथ्या अर्थानाम्, असम्बन्धस्वभावार्थापेक्षो[7] हि सम्बन्धस्वभावोऽर्थानाम्; इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्; यतः क्व तस्य परापेक्षत्वम्-आत्मलाभे, सम्बन्धव्यवहारे वा? न तावद् आत्मलाभे; परानपेक्षात् स्वकारणकलापादेव एकत्वपरिणतिलक्षणसम्बन्धस्य आत्मलाभप्रतीतेः। तद्व्यवहारे परापेक्षत्वं तु न तस्य मिथ्यात्वं प्रसाधयति; परमार्थसत्त्वाऽप्रतिद्वन्दित्वात्, न खलु 'यत्र परापेक्षो व्यवहारः तत्र अपरमार्थसत्त्वम्' इति

१-स्य वा सं-ब०, ज०। २ विशिष्ट-आ०। ३ "अंशशब्दः स्वभावार्थः अवयवार्थो वा?" प्रमेयक० पृ० १५२ उ०। स्या० रत्ना० ८२४। ४-रुद्ध्यते आ०, ब०, ज०, भां०। ५ पृ० ३०६ पं० ६। ६ "न चापेक्षत्वात् सम्बन्धस्वभावस्य मिथ्याप्रतिभासः…।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४८ प्रमेयक० पृ० १५२ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ८२५। ७-पेक्षा आ०।

न्याप्तिरस्ति, इतरथा इतरज्ञानापेक्षया सुगतज्ञाने विशदतरादिव्यवहारतः तस्य अपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गतो लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात्। कथञ्चैवंवादिनो असम्बन्धस्वभावोऽप्यर्थानां वास्तवः सिद्ध्येत्, तस्याप्यापेक्षिकत्वाऽविशेषात्? प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानः सोऽनापेक्षिक एव, तत्पृष्ठभाविना तु विकल्पेन अध्यवसीयमानो यथा आपेक्षिकः तथाऽवास्तवोऽपि; इत्यन्यत्रापि समानम्, न खलु सम्बन्धोऽध्यक्षे न प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिकोऽसौ न स्यात्, अन्तर्वहिश्च[1] एकत्वपरिणतिरहितस्य अर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात्[2]।

यच्चोक्तम्[3]–'द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्' इत्यादि; तदप्येकान्तवादिनामेव दूषणम्, तैरेव सम्बन्धसम्बन्धिनामेकान्ततो भेदाऽभ्युपगमात् नाऽस्माकम्, एकलोलीभावादन्यस्य सम्बन्ध-सम्बन्धिभावस्यैवानभ्युपगमात्, तथाभूतश्च तद्भावः प्रत्यक्षगोचरचारितया प्ररूपितः। इत्ययुक्तमुक्तम्–'इत्यमिश्राः स्वयं भावाः तान् मिश्रयति कल्पना' इति। ततोऽवयवाऽवयव्यादौ उक्तप्रकारस्यैव सम्बन्धस्य प्रसिद्धेर्न परपरिकल्पितः समवायपदार्थोऽपि[4] घटते। तदेवं वैशेषिकमते कणादप्रणीतषट्पदार्थानां विचार्यमाणानामव्यवस्थितेः न तल्लक्षणे भेदैकान्ते अर्थस्य सिद्धिर्घटते।

नैयायिकाभिमतप्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थानां विशदरूपेण विवेचनम्—

माभूत् तत्र तत्सिद्धिः; अक्षपादप्रणीते तु षोडशपदार्थलक्षणे तस्मिन् सा भविष्यति, विभिन्नलक्षणलक्षितत्वेन एषामत्यन्तभेदभिन्नानां प्रमाणत उपपद्यमानत्वात्। तत्र सामान्येन उद्दिष्टानामेषां विशेषलक्षणानि विधातुं पार्यन्ते इति उद्देशतः षोडशपदार्थान्[5] सूत्रे निर्दिशति–"*प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगतिः*।" [न्यायसू० १।१।१] इति। तत्र अर्थपरिच्छित्तिसाधनं प्रमाणम्। तच्चतुर्विधम्[6]–"*प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि*।" [न्याय० सू० १।१।३] इत्यभिधानात्।

तत्परिच्छेद्यम् आत्मादिद्वादशविधं प्रमेयम्। तथा च सूत्रम्–"*आत्म-शरीर-इन्द्रिय-अर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्गास्तु प्रमेयम्*।" [न्यायसू० १।१।९] इति। तत्र आत्मा[7] सर्वस्य सुख-दुःखसाधनस्य द्रष्टा, सर्वस्याश्च सुखादिसंवित्तेराश्रयत्वेन भोक्ता, तस्य भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः, भोगो बुद्धिः। सर्वार्थो-

१–र्वहिर्वा व०, ज०। २–प्यप्रत्यक्षबुद्धौ प्रति–श्र०। ३ पृ० ३०६ पं० १६। ४ समवायः पदार्थो घ–आ०। ५–पदान् आ०। ६ "एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे (प्रत्यक्षानुमानयुक्तिशब्दाख्यैः) ..." चरकसं० सूत्रस्था० पृ० ६९। ७ "तत्र आत्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः, सर्वानुभवी। तस्य भोगायतनं शरीरम्, भोगायतनानि इन्द्रियाणि, भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः, भोगो बुद्धिः, सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः, शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृतिकारणं प्रवृत्तिदोषाश्च।" न्यायभा० १।१।९।

पलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्ति इति सर्वविषयं मनः। शरीर-इन्द्रिय-अर्थ-बुद्धि-सुख-दुःखसंवेदनानां [1]निर्वृतिकारणं प्रवृत्तिः पुण्य-पापरूपा[2]। दोषाः राग[3]-द्वेष-मोहाः। [4]उत्पन्नशरीरेन्द्रिय[5]बुद्धिवेदनाभिसम्बन्धस्य पुनः अन्यैः शरीरादिभिः आत्मनः सम्बन्धः प्रेत्यभावः। प्रवृत्तिदोषजनितः सुखदुःखोपभोगः फलम्[6]। *"बाधनालक्षणं दुःखम्।"* [न्यायसू० १।१।२१] तस्य च यत्नेन परिहार्यत्वात् फलात् पृथ[7]गुपादानम्। शरीरादिना एक[8]विंशतिभेदभिन्नेन दुःखेन आत्यन्तिको वियोगः अप[9]वर्गः।

नानार्थविमर्शः संशयः, *"समाना[10]ऽनेकधर्मोपपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।"* [न्यायसू० १।१।२३] इति सूत्रकारवचनात्। स च वार्तिककारमते त्रेधा[11]; तथाहि–समानाऽनेकधर्मोपपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो[12] विमर्शः संशयः। समानधर्मस्य स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतालक्षणस्य उपपत्तेः उपलब्धेः। [13]स च समानो धर्मः उपलभ्यमानो न केवलः संशयहेतुः किन्तु उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षः, उपलब्ध्यनुपलब्ध्य-

१ निवृत्ति–आ०। २ "प्रवृत्तिः पुण्यपापात्मिका...।" न्यायमं० पृ० ४२८। ३ "तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्।" न्यायसू० ४।१।३। ४ "पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।" "उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य, सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः। पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः।" न्यायभा० १।१।१९। "देहेन्द्रियादिसङ्घातस्य प्राक्तनस्य त्यागेन सङ्घातान्तरग्रहणं प्रेत्यभावः।" न्यायकलिका पृ० ७। ५–न्द्रियविषयबुद्धि–ब०, ज०। ६ "प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्।" "सुखदुःखसंवेदनं फलम्...।" न्यायभा० १।१।२०। "प्रवृत्तिदोषजनकं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलम्, तत्साधनं तु गौणम्।" न्यायकलिका पृ० ७। ७ "फलग्रहणाक्षिप्तमपि पीडनस्वभावं दुःखम् अदुःखसम्मतस्यापि दुःखत्वभावनार्थमुपदिश्यते। अत एव फलत्वेऽपि सुखमिह न निर्दिष्टम्।" न्यायकलिका पृ० ७। ८ "दुःखानि शरीरं षड् इन्द्रियाणि षड्विषयाः षड् बुद्धयः सुखं दुःखं च इत्येकविंशतिः।" मुक्ता० दिन० पृ० ४२। ९ "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।" न्यायसू० १।१।२२। "आत्यन्तिको दुःखवियोगोऽपवर्गः, सर्वगुणवियुक्तस्यात्मनः स्वरूपावस्थानम्।" न्यायकलिका पृ० ७। १० "संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेषु अनिश्चयः।" चरकसं० पृ० २६४। "उभयहेतुदर्शनं संशयः।" सुश्रुतसं० पृ० ७०९। "समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।" न्यायसू० १।१।२३। "अत्र च विमर्शः संशयः इति संशयसामान्यलक्षणम्।" ता० टी० २४७। "विरुद्धार्थावमर्शो विमर्शः, स्थाणुर्वा पुरुषो वेतीयता च सजातीयसंशयपक्षकानुगतं विजातीयेभ्यः प्रमाणादिभ्यो व्यवच्छिन्नं सामान्यलक्षणमुक्तं भवति।" न्यायमं० पृ० ५५६। "अन्ये तु (बौद्धाः) साधर्म्यदर्शनाद्विशेषोपलिप्सोर्विमर्शः संशयः।" न्यायवा० पृ० १००। ११ "तत्र समानधर्मोपपत्तेः अनेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेश्च त्रिविध एव संशयः।" न्यायवा० १।१।२३। पृ० ८७। "तत्र उपलब्ध्यनुपलब्ध्योस्तावत् पृथक् संशयकारणत्वं न भवतीति...।" न्यायवा० पृ० ९६। १२–पेक्षः संशयः आ०, ब०, ज०, भां०। १३ "सोऽयं साधारणो धर्म उपलभ्यमानः संशयहेतुः। किं केवल इति ? न केवलः। किं तर्हि ? उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च। यदि च उपलब्ध्यनुपलब्धी न व्यवस्थिते

व्यवस्थातो विशेषांशो [1]साधक-बाधकप्रमाणाऽभावात् विशेषापेक्षः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति विमर्शः संशयः । तथा, [2]समानजातीयम् असमानजातीयञ्च अनेकम्, अनेकस्माद् व्यावृत्तो धर्मः अनेकधर्मः, तदुपपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षः संशयः, यथा शब्दे विभागजत्वदर्शनात् किमयं गुणो द्रव्यं कर्म वा इति ? नहि विभागजत्वं सजातीये क्वचिद् गुणे विजातीये वा द्रव्ये कर्मणि च वर्त्तते, अतः संशयहेतुः–किंभूतस्य अस्य विभागजत्वमिति । तथा, विप्र[3]तिपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षः संशयः, यथा 'अस्ति आत्मा' इत्येके, 'नास्त्यात्मा' इत्यपरे, न च सद्भावाऽसद्भावौ सममेकत्र भवतः तस्मात्तत्त्वाऽनवधारणम् 'अस्ति आत्मा, नास्ति वा' इति संशयः ।

भाष्यकारमते तु उपलब्ध्यनुपलब्धी पृथक् संशयकारणम् इति पञ्चधा संशयः; तथाहि–[4]उपलब्ध्युपपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षः संशयः, यथा सद् उदकमुपलभ्यते, मरीचिकासु च असत्, इदानीं क्वचिद् उदकोपलब्धौ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणस्यानुपलब्धेः 'सद्वा उदकम् असद्वा' इति संशयः । तथा, [5]अनुपलब्ध्युपपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षः संशयः, यथा सन् मूलकीलकादि नोपलभ्यते, असच्च अनुत्पन्नं निरुद्धं वा, इदानीं 'पिशाचोऽपि सन् नोपलभ्यते असन् वा' इति संशयः । [6]समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः, विप्रतिपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धयो ज्ञातृस्था इति भेदः ।

भवत इति । किमेतावन्मात्रं साधनम् ? नेत्युच्यते । यदि विशेषाकाङ्क्षा भवति समानधर्ममुपलभते, उपलब्ध्यनुपलब्धी न व्यवतिष्ठेते इदन्तया वाऽनिदन्तया वा, विशेषाकाङ्क्षायां च सत्यामर्थसन्देहो भवतीति ।" न्यायवा० पृ० ८९ ।

१ साधकप्रमा–श्र० । २ "अथ अनेकधर्मस्य कोऽर्थः ? असाधारणो धर्मः ।...समानासमानजातीयविशेषकत्वात् समानजातीयमसमानजातीयञ्चानेकम्, तस्माद् विशेषो विशेषको धर्मः अनेकस्माद्विशेषोऽनेकधर्म इति ।...एकाऽनेकप्रत्ययहेतुर्वा धर्मोऽनेकधर्मः...।" न्यायवा० पृ० ९१ । ३ "विप्रतिपत्तेः संशय इति । व्याहतार्थप्रवादो विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थो व्याहतार्थप्रवादविषयत्वमुपलभमानस्य उपलब्ध्यनुपलब्ध्योश्चाव्यवस्थाने सति तद्गतविशेषानुस्मृतौ च सत्यां संशयो भवतीति ।" न्यायवा० पृ० ९६ । ४ "उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि–सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु, मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति । अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यते अथासत् इति संशयो भवति ।..." न्यायभा० १।१।२३ । ५ "अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्चाऽनुत्पन्नं निरुद्धं वा । ततः क्वचिदुपलभ्यमाने संशयः किं सन्नोपलभ्यते उतासन्निति संशयो भवति...।" न्यायभा० १।१।२३ । ६ "समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृगते...।" न्यायभा० १।१।२३ । वार्तिककारस्तु ज्ञेयस्थतया समानाऽनेकधर्मयोः कारणत्वं नानुमन्यते–"समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः इत्येतदपि न बुद्ध्यामहे । किमत्र धर्मः संशयकारणम्, अथ ज्ञानमिति । न धर्मः संशयकारणमित्यनेकधा समर्थितम् । समानानेकधर्मज्ञानं तु संशयकारणम्, तच्च ज्ञातरि वर्त्तते इति नास्ति भेदः ।" न्यायवा० पृ० ९६ ।

हिताऽहितप्राप्तिपरिहारौ तत्साधनञ्च प्रयोजनम्। "*यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्।*" [न्यायसू० १।१।२४] इति वचनात्। यमर्थम् आप्तव्यं हातव्यञ्च अध्यवसाय प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्। तच्च द्विविधं मुख्यं गौणं च। मुख्यं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ, तत्साधनं तु गौणम्।

प्रतिबन्धावधारणस्थानं दृष्टान्तः। तथा च सूत्रम्–"*लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।*" [न्यायसू० १।१।२५] "*नैसर्गिकं वैनयिकं च अतिशयमप्राप्ता लौकिकाः, तद्विपरीताः परीक्षकाः।*" [न्यायभा० १।१।२५] तेषां साध्यसाधनाधिकरणत्वेन तद्रहितत्वेन वा बुद्धिसाम्यविषयोऽर्थो दृष्टान्तः।

प्रमाणतोऽभ्युपगम्यमानः सामान्यविशेषवान् अर्थः सिद्धान्तः। "*तन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः।*" [न्यायसू० १।१।२६] इति सूत्रकारवचनात्। तन्त्रम्–शास्त्रम् अधिकरणं येषामर्थानां ते तन्त्राधिकरणाः, तेषाम् अभ्युगमसंस्थितिः–इत्थम्भावनियमः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः–"*सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-आधिकरण-अभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्।*" [न्यायसू० १।१।२७] तत्र "*सर्वतन्त्राऽविरुद्धः तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।*" [न्यायसू०

१ "प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः।" चरकसं० पृ० २६४। "यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाऽध्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति प्रयोजनं तद् वेदितव्यम्।" न्यायभा० १।१।२४। २ "तच्च गौणमुख्यभेदेन द्विविधम्। मुख्यं सुखप्राप्तिः दुःखपरिहारश्च, तत्साधनं गौणम्।" न्यायमं० पृ० ५६३। न्यायकलिका पृ० ८। ३ "तत्र दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्।" चरकसं० पृ० २६३। "दृष्टान्तवचनं हि यत्र पृथग्जनानामार्याणाञ्च बुद्धिसाम्यं तदा वक्तव्यम्। दृष्टान्तो द्विविधः–सम्पूर्णदृष्टान्तः आंशिकदृष्टान्तश्च।" उपायहृदय पृ० ५। ४ "सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्षितं हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः।" चरकसं० पृ० २६३। "इदमित्थम्भूतञ्चेत्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धम्, सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः।" न्यायभा० १।१।२६। "सामान्यविशेषवदर्थाभ्यनुज्ञा सिद्धान्त इति।" न्यायवा० पृ० १०३। "प्रमाणमूलाभ्युपगमविषयीकृतः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः।" न्यायमं० पृ० ५६५। न्यायकलि० पृ० ९। "साध्यस्य हेतुभिः विस्तरेण स्थापनं निर्णयश्च। एतत्सिद्धान्तलक्षणम्। आह–सिद्धान्तधर्माः कियन्तः? अत्रोच्यते चत्वारः–सर्वसमः, आदौ समः, पश्चाद्भिन्नः, आदौ भिन्नः पश्चात्समश्च।" उपायहृदय पृ० ६। ५ "तन्त्रम्–इतरेतराभिसम्बद्धस्य अर्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम्...अभ्युपगमसंस्थितिः अनवधारितार्थपरिग्रहः तद्विशेषपरीक्षणाय अभ्युपगमसिद्धान्तः।" न्यायभा० १।१।२६। "तन्त्रमधिकरणं येषामर्थानां भवति ते तन्त्राधिकरणाः तेषामभ्युपगमसंस्थितिः इत्थम्भावव्यवस्था धर्मनियमः सिद्धान्तो भवतीति। किमुक्तं भवति? योऽर्थो न शास्त्रितः तस्याभ्युपगमो न सिद्धान्त इति। न्यायवा० पृ० १०४। ६ "सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम सन्ति निदानानि सन्ति व्याधयः सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानामिति।" चरकसं० पृ० २६३। "सर्वेषां सम्प्रतिपत्तिविषयः सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति। यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानि।" न्यायवा० पृ० १०४। "यथा घ्राणादीनि इन्द्रियाणि गन्धादयः इन्द्रियार्थाः।..." न्यायभा० १।१।२८। "स्वशास्त्रे य उपदिष्टोऽर्थः सर्वशास्त्राविरुद्धश्च स सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।" न्यायमं० पृ० ५६५। न्यायकलि० पृ० ९।

१।१।२८] सर्वेषां सम्प्रतिपत्तिविषयः; यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानि, घ्राणादीनि इन्द्रियाणि, गन्धादयस्तदर्थाः इत्यादि । "*समानतन्त्रप्रसिद्धः*[1] *परतन्त्राऽसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः*[2] *।*" [न्यायसू० १।१।२९] यथा भौतिकानि इन्द्रियाणि यौगानाम्, अभौतिकानि सांख्यानाम् । "*यत्सिद्धौ अन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः*[3] *।*" [न्यायसू० १।१।३०] हेतोर्यस्य सिद्धौ अन्यस्य प्रक्रियमाणस्य[4] प्रतिज्ञार्थस्य सिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः, यथा कार्यत्वादेः क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणसामान्यसिद्धौ अन्यस्य तत्करणसमर्थस्य नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नाऽऽधारस्य तत्कारणस्य सिद्धिरिति । "*अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणम् अभ्युपगमसिद्धान्तः*[5] *।*" [न्यायसू० १।१।३१] यत् किञ्चिद्वस्तु अपरीक्षितमभ्युपगम्य विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । यथा अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽनित्यो वा इति शब्दस्य द्रव्यत्वमभ्युपगम्य नित्याऽनित्यत्वविशेषः परीक्ष्यते ।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशभूता अवयवाः[6] । साधनीयस्यार्थस्य[7] यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परि-

१-तन्त्रसिद्धः ब०, ज० । २ "प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तन्त्रे तत्तत्प्रसिद्धम् ।" चरकसं० पृ० २६३ । "सामान्यविशेषतद्वतां नियमेनाभ्युपगमः प्रतितन्त्रसिद्धान्त इति । यथा भौतिकानीन्द्रियाणीति यौगानामभौतिकानीति सांख्यानाम् ।" न्यायवा० पृ० १०५ । ३ "अधिकरणसिद्धान्तो नाम यस्मिन् यस्मिन्नधिकरणे संस्तूयमाने सिद्धानि अन्यान्यपि अधिकरणानि भवन्ति ।" चरकसं० पृ० २६४ । "वाक्यार्थसिद्धौ तदनुषङ्गी योऽर्थः सोऽधिकरणसिद्धान्त इति ।" न्यायवा० पृ० १०५ । "तेन यस्मिन्नर्थे ज्ञायमाने तदनुषङ्गिणोऽर्थाः तदन्तर्भावेन ज्ञायन्ते सोऽर्थः साक्षादधिक्रियमाणः तदनुषङ्गिणाञ्चाधारः तदाश्रयत्वात्तत्सिद्धेः, स पक्षो वा भवतु हेतुर्वा तेन रूपेण अधिकरणसिद्धान्तः । पक्षस्तावद् विवादाध्यासितमुपलब्धिमत्कारणमुत्पत्तिमत्त्वाद् वस्त्रादिवदिति । अत्र हि पृथिव्यादिगतेन उत्पत्तिमत्त्वेन उपलब्धिमत्पूर्वकं तद्गतं साध्यमानं स्वसिद्ध्यन्तर्गतानुषङ्गिसर्वज्ञत्वाद्युपेतत्वमेव सिद्ध्यति...।" न्यायवा० ता० टी० १।१।३० । ४ प्रतिक्रिय-ब०, ज० । ५ "अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम सः-यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः ।" चरकसं० पृ० २६४ । "यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते-अस्तु द्रव्यं शब्दः; स तु नित्यः अथाऽनित्यः ? इति द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः ।" न्यायभा० १।१।३१ । "अपरीक्षितोऽसूत्रित इति । योऽर्थः सूत्रेषु नोपनिबद्धः शास्त्रे चाभ्युपगतः सोऽभ्युपगमसिद्धान्त इति । यथा नैयायिकानां मन इन्द्रियमिति, वैशेषिकाणां नैयायिकानाञ्च श्रोत्रमाकाशमिति ।" न्यायवा० पृ० १०५ । "तस्माद्विशेषपरीक्षणार्थोऽपरीक्षिताभ्युपगमः प्रौढवादिना क्रियमाणोऽभ्युपगमसिद्धान्त इति सूत्रार्थः ।" न्यायमं० पृ० ५६८ । न्यायकलि० पृ० १० । ६ "परार्थानुमानवाक्योपपत्तेस्तदेकदेशा अवयवा युक्ता इति ।" न्यायमं० पृ० ५६९ । न्यायकलि० पृ० ९ । ७ "साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्य अवयवा उच्यन्ते ।" न्यायभा० पृ० ९ ।

समाप्यते तस्यैकदेशाः पञ्च । तथा च सूत्रम्[1]–"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।" [न्यायसू० १।१।३२] तत्र "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा[2]।" [न्यायसू० १।१।३३] "ज्ञापनीयेन धर्मेण विशिष्टस्य धर्मिणः परिग्रहवचनं साध्यनिर्देशः, यथा अनित्यः शब्दः इति।" [न्यायभा० १।१।३३] "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः[3]।" [न्यायसू० १।१।३४] उदाहरणेन[4] साधर्म्यात् साध्यधर्मस्य प्रज्ञापनं हेतुः, यथा अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् घटवदिति । "तथा वैधर्म्यात्।" [न्यायसू० १।१।३५] 'उदाहरणवैधर्म्यात्[5] साध्यसाधनं हेतुः, यथा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् लोष्टादिवत् । "साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्तः उदाहरणम्।" [न्यायसू० १।१।३६] साध्येन[6] साधर्म्यम्–समानधर्मता [तस्मात्] तद्धर्मभावी–तस्य साध्यस्य धर्मः, साध्यशब्देन चात्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी गृह्यते, तस्य भावः साध्यधर्मभावः स यस्मिन् दृष्टान्ते अस्ति स तद्धर्मभावी, यथा अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् घटवत् इति साधर्म्योदाहरणम्। "तद्विपर्ययाद्विपरीतम्।" [न्यायसू० १।१।३७] 'उदाहरणम्[7]' इति प्रकृतेन अभिसम्बन्धः । तद्विपर्ययात्–साध्यवैधर्म्यात् अतद्धर्म-

१ 'तथा च सूत्रम्' इत्ययं पाठः सर्वासु प्रतिषु 'अवयवाः' इत्यस्याऽनन्तरमुपलभ्यते । परम् उपलब्धन्यायसूत्रानुरोधात् अस्माभिः 'पञ्च' इत्यस्यानन्तरं स्थापितः । २ "प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम्, यथा नित्यः पुरुष इति ।" चरकसं० पृ० २६२ । ३ "हेतुर्नाम उपलब्धिकारणम् ।" चरकसं० पृ० २६३ । "लिङ्गवचनं हेतुः ।" न्यायकलि० पृ० १० । ४ "उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनम्–प्रज्ञापनं हेतुः । साध्ये प्रतिसन्धाय उदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः उत्पत्तिधर्मकत्वादिति, उत्पत्तिधर्मकमनित्यं।दृष्टमिति ।" न्यायभा० १।१।३४ । ५ "उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः । कथम् ? अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथा आत्मादिद्रव्यमिति ।" न्यायभा० १।१।३५ । "उदाहरणमनित्यः शब्दः...इति भाष्यम्; एतत्तु न समञ्जसमिति पश्यामः, प्रयोगमात्रभेदात्, प्रयोगमात्रं हि भिद्यते नार्थ इति ।...उदाहरणमात्रभेदाच्च, उदाहरणमात्रं केवलं भिद्यते 'आत्मा' 'घटः' इति ।...तस्मान्नेदमुदाहरणं न्याय्यम् । उदाहरणं तु नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति ।" न्यायवा० पृ० १२२ । न्यायमं० ५७५ । ६ "साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता, साध्यसाधर्म्यात् कारणात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति । तस्य धर्मः तद्धर्मः, तस्य–साध्यस्य । साध्यं च द्विविधम् धर्मिविशिष्टो वा धर्मः शब्दस्यानित्यत्वम्, धर्मविशिष्टो वा धर्मी अनित्यः शब्द इति । इह उत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यते...तस्य धर्मः तद्धर्मः तद्धर्मस्य भावः तद्धर्मभावः स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्त्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी भवति स चोदाहरणमिष्यते...।" न्यायभा० १।१।३६ । "सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम् ।" न्यायसार पृ० १२ । "दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ।...यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनधर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः । तस्य व्याप्यव्यापकभावगर्भवचनमुदाहरणम् ।" न्यायकलिका पृ० ११ । ७ "दृष्टान्त उदाहरणम् इति प्रकृतम्, साध्यवैधर्म्याद्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि ।" न्यायभा० १।१।३७ ।

भावी दृष्टान्तः उदाहरणम्, यथा अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्, यत्तु नित्यं तद् उत्पत्तिधर्मकं न भवति यथा परमाण्वादि इति। "उदाहरणापेक्षः 'तथा' इत्युपसंहारो 'न तथा' इति वा साध्यस्य उपनयः[1]।" [न्यायसू० १।१।३८] उदा[2]हरणापेक्षः–उदाहरणाधीनः, साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे 'तथा च शब्द उत्पत्तिधर्मकः' इति साध्यस्य शब्दस्य उत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते तु आकाशादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम् 'न च तथा शब्दः' इत्यनुत्पत्ति[3]धर्मकत्वस्य उपसंहारप्रतिषेधेन उत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्[4]।" [न्यायसू० १।१।३९] यथोदाह[5]रणं साधर्म्येण वैधर्म्येण वा हेतौ उपसंहृते यत् प्रतिज्ञायाः पुनरभिधानं तत् निगमनम्।

सन्दिग्धेऽर्थे अन्यतरपक्षे अनुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् संभावनाप्रत्ययः तर्कः। तथा च सूत्रम्–"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थमूहः तर्कः।" [न्यायसू० १।१।४०] [6]अविज्ञाततत्त्वे–सन्दिग्धेऽर्थे ऊर्ध्वतालक्षणे कारणोपपत्तितः पुरुषसद्भावे वाह्यॉली[7] (वाहकेलि) प्रदेशोऽनुकूलं कारणम्, तस्य प्रतीतितः 'पुरुषेण अनेन भवितव्यम्' इत्यूहः तर्कः। किमर्थो-

---

१ "दृष्टान्ते प्रसिद्धाविनाभावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापकं वचनमुपनयः। न्यायसार पृ० १४। २ "उदाहरणापेक्षः उदाहरणतन्त्रः उदाहरणवशः, वशः सामर्थ्यम्। साध्यधर्मयुक्ते उदाहरणे 'स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टं तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य शब्दस्य उत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं न च तथा शब्दः इत्यनुत्पत्तिधर्मकत्वस्य उपसंहारप्रतिषेधेन उत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैताद् भवति।" न्यायभा० १।१।३८। ३–धर्मकस्य आ०, ब०, ज०। ४ "सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनम्।" न्यायभा० पृ० ६। "प्रतिज्ञाविषयस्यार्थस्य अशेषप्रमाणोपपत्तौ साध्यविपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं यत्पुनरभिधानं तन्निगमनम्।" न्यायवा० पृ० १३७। "उपनयानन्तरं सहेतुकं प्रतिज्ञावचनं निगमनम्। न्यायसार पृ० १५। ५–हरणसा–आ०, भां०, श्र०। "साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते, तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः इति निगमनम्। निगम्यन्ते प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्।" न्यायभा० १।१।३९। ६ "अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् संभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुखं प्रवर्त्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहः तर्कः।" न्यायमं० पृ० ५८६। न्यायकलिका पृ० १३। "जैमिनीयास्तु ब्रुवते युक्त्या प्रयोगनिरूपणमूहः।...स च त्रिविधः–मन्त्रसामसंस्कारविषयः।" न्यायमं० पृ० ५८८। ७ "यथा वाह्यकेलिप्रदेशादावूर्ध्वत्वविशिष्टधर्मिदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति प्रत्ययः।..." न्यायमं० पृ० ५८६। "यथा वाहकेलिप्रदेशे ऊर्ध्वत्वदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति सम्भावनाप्रत्ययः। न चायं संशयः। अश्वकेलिप्रदेशे पुरुषवत् स्थाणोरसम्भाव्यमानत्वेन...।" न्यायकलिका पृ० १३।

ऽयम् ? इति चेत्; तत्त्वज्ञानार्थम्[1] अनुमानप्रमाणप्रवृत्त्यर्थम्। तर्कविविक्तं हि विषयं प्रमाणानि परिच्छिन्दन्ति इति प्रमाणाऽनुग्राहकस्तर्कः।

साधनोपालम्भजन्मा तत्त्वाववोधो निर्णयः[2]। सूत्रञ्च–"*विमृश्य पक्ष-प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।*" [न्यायसू० १।१।४१] विमृश्य–'अनित्यः शब्दो नित्यो वा' इति सन्दिह्य, पक्ष-प्रतिपक्षाश्रितत्वात् साधनोपालम्भौ 'पक्षप्रतिपक्षौ' इत्युक्तौ ताभ्याम्, अर्थस्य साध्यस्य 'अनित्य एवायम् कृतकत्वात्' इत्यवधारणं निर्णयः।

वीतरागकथावस्तुनिर्णयफलो वादः[3]। तथा च सूत्रम्–"*प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।*" [न्यायसू० १।२।१] इति। वस्तु[4]-

---

१ "तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकः तत्त्वज्ञानाय कल्पते।" न्यायभा० पृ० १०। "कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात्–अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति…एवमेवेदमिति। कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति ? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहात् भाविताात् प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थः।" न्यायभा० १।१।४०। "कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थं भवति ? प्रमाणविषयविवेचनात्। प्रमाणविषयमनेन विविनक्ति, 'अयमर्थो युक्तः' इति, प्रमाणानि पुनः प्रवर्त्तमानानि तर्कविविक्तमर्थं तथाभूतमवगमयन्तीति।" न्यायवा० पृ० १४१। २ "पक्षशब्देन पक्षविषयं साधनमुच्यते, प्रतिपक्षशब्देन पक्षविषयस्य साधनस्य उपालम्भः; ताभ्यां साधनोपालम्भाभ्यां यदर्थावधारणं स निर्णय इति।" न्यायवा० १।१।४१। "पक्षप्रतिपक्षविषयसाधनोपालम्भपरीक्षया तदन्यतरपक्षावधारणं निर्णयः।" न्यायकलिका पृ० १३। ३ "तत्र वादो नाम यत् परस्परेण सह शास्त्रपूर्वं विगृह्य कथयति, स वादो द्विविधः संग्रहेण जल्पो वितण्डा च।" चरकसं० पृ० २६२। "वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानः वाक्यसमूहः।" न्यायभा० पृ० ११। "वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा–वीतरागकथा, विजिगीषुकथा चेति। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञयोच्यते।" न्यायसार पृ० १५। "वादो नाम वीतरागयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहपूर्वकः प्रमाणतर्कपूर्वकसाधनोपालम्भप्रयोगे क्रियमाणे एकपक्षनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः। न्यायकलिका पृ० १३। "अपरे (वासुबान्धवाः) तु स्वपरपक्षयोः सिद्धयसिद्धयर्थं वचनं वादः।" न्यायवा० पृ० १५०। ४ "एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावात् अस्त्यात्मा नास्त्यात्मा इति, नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति।" न्यायभा० १।२।१। "वस्तुधर्मौ एकाधिकरणौ विरुद्धौ एककालौ अनवसितौ। वस्तुधर्मौ इति वस्तुविशेषौ वस्तुनः…नानाधिकरणौ विचारं न प्रयोजयतः उभयोः प्रमाणोपपत्तेः तद्यथा अनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति। अविरुद्धावप्येवम्, यौ विरुद्धौ तौ विचारं प्रयोजयतः नाविरुद्धौ, तद्यथा क्रियावद्द्रव्यं गुणवच्चेति। एककालाविति, भिन्नकालयोः न विचारप्रयोजकत्वं प्रमाणोपपत्तेः, यथा क्रियावद्द्रव्यं निष्क्रियश्च कालभेदे सति। अनवसिताविति, अनिश्चितौ विचारं प्रयोजयतो नावसिताविति, निर्णयोत्तरकालं विचाराभावात्। तावेतौ विरुद्धावे-

धर्मौ एकाधिकरणौ विरुद्धौ एककालौ अनवसितौ पक्षप्रतिपक्षौ। वस्तुधर्मौ वस्तुनो विशेषौ, यथा 'अस्त्यात्मा नास्त्यात्मा' इति वा। अधिकरणम् आश्रयः, एकम् अधिकरणं ययोस्तौ विचारं प्रयोजयतः न नानाधिकरणौ, विरुद्धावपि यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति। अविरुद्धावपि विचारं न प्रयोजयतः यथा क्रियावद् द्रव्यं गुणवच्च इति, भिन्नकालावपि न विचारार्हौ द्वयोः प्रमाणोपपत्तेः यथा क्रियावद् द्रव्यं निष्क्रियं च कालभेदे सति। तथा अवसितौ विचारं न प्रयोजयतः निर्णयोत्तरकालं विवादाऽभावात्। तौ एवंविधविशेषणौ धर्मौ पक्ष-प्रतिपक्षौ, तयोः परिग्रहः इत्थम्भावनियमः 'एवंधर्मा अयं धर्मी नैवंधर्मा' इति च।

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहश्च जल्प-वितण्डयोरप्यविशिष्टः, अतः 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' इति तद्विशेषणम्, प्रमाणैः तर्केण च साधनम् उपालम्भश्च यस्मिन् स तथोक्तः। प्रमाणशब्देन प्रमाणमूलाः प्रतिज्ञाद्यवयवा व्यपदिश्यन्ते, ततो वादे प्रमाणबुद्धिपरिगृहीतयोरेव साधनोपालम्भयोः प्रयोगः। तर्कशब्देन च भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनाद् उद्भावननियमो लभ्यते। तेन वादे प्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्या उद्भाव्यन्ते, किन्तु निवारणबुद्ध्या, तत्त्वज्ञानाय आवयोः प्रवृत्तिः, न च साधनाभासो दूषणाभासो वा तत्त्वज्ञाननिमित्तम्, अतो न तत्प्रयोगो युक्तः। उपालम्भश्रवणात् समस्तनिग्रहस्थानानुषङ्गः इति चेन्न; उत्तरयोः पदयोर्नियमार्थत्वात्। तेन 'सिद्धान्ताविरुद्धः' इत्यनेन अपसिद्धान्तः, 'पञ्चावयवोपपन्नः' इत्यनेन च पञ्चग्रहणात् न्यून-अधिके, अवयवग्रहणात् हेत्वाभासपञ्चकञ्च इत्यष्टावेव निग्रहस्थानानि वादे नियम्यन्ते। कस्मादिति चेत्? गुर्वादिना सह वादोप-

---

वंविशेषणौ धर्मौ प्रक्षप्रतिपक्षौ, तयोः परिग्रह इत्थंभावनियमः एवंधर्माऽयं धर्मी नैवंधर्मेति···।" न्यायवा० १।२।१। पृ० १४६। "एकाधिकरणौ धर्मौ तुल्यकालौ विरोधिनौ। पृथक् परिग्रहौ पक्षप्रतिपक्षावुदाहृतौ॥" न्यायमं० पृ० ५९०।

१–णभूताः ज०। "इह तु न प्रमाणशब्देन प्रत्यक्षादेरनुमानम् अपि तु प्रमाणमूला अवयवा उच्यन्ते तैश्च सिद्ध्युपालब्धी क्रियेते।" न्यायमं० पृ० ५९३। २ "उपालम्भग्रहणात् समस्तनिग्रहस्थानप्रसक्तौ संज्ञाभेदमात्रम्···न; उत्तरयोः नियमार्थत्वात्।" न्यायवा० पृ० १४९। ३ भाष्यकारमतेन–'सिद्धान्ताविरुद्धः' इति पदेन विरुद्ध एव हेत्वाभासोऽभ्यनुज्ञातः (न्यायभा० १।२।१) वार्तिककारमतेन च 'सिद्धान्ताविरुद्धः' इति पदेन अपसिद्धान्तनिग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा। तथाहि–"सिद्धान्ताविरुद्ध इति पदेन विरुद्धो हेत्वाभासो लभ्यते; तन्न, अन्यतोऽधिगतेः···पञ्चावयवोपपन्नः इति पञ्चग्रहणात् न्यूनाधिके लभ्येते अवयवग्रहणात् तदाभासा लभ्यन्ते इति लभ्यमानार्थस्य पुनरभिधाने पिष्टं पिष्टं स्यात्। अथ किमिदं पदं 'सिद्धान्ताविरुद्ध' इत्यनर्थकमेव? नानर्थकम्; अपसिद्धान्तावरोधात्···।" न्यायवा० पृ० १४९। न्यायमञ्जरीकारमतेन तु–"सर्वमेव तत्र प्रयोगार्हम्। अयं तु विशेषः जल्पे कस्याञ्चिदवस्थायां बुद्धिपूर्वकमपि छलादिप्रयोगः क्रियते वादे तु वृथा तेषां प्रयोगः। भ्रान्त्या तु कथञ्चित् प्रयुक्तानां अवश्यमुद्भावनम्···।" न्यायमं० पृ० ५९३। ४ भाष्यकारमतेन त्रीणि, वार्तिककारमतेन अष्टौ। ५ "गुर्वादिना सह वादोपदेशात्; यस्मादयं तत्त्वबुभुत्सुः गुर्वादिभिः सह त्रिविधं फलमाकाङ्क्षन् वादं करोति।" न्यायवा० पृ० १४९।

देशात्; यस्माद् अयं तत्त्वं बुभुत्सुर्गुर्वादिना सह [1]संशयविच्छेद-अज्ञातार्थावबोध-[2]अध्यवसिताभ्यनु[3]ज्ञालक्षणं त्रिविधं फलमाकाङ्क्षन् वादं करोति, त[4]तोऽस्य तत्त्वबुभुत्सावतः तावद् अनेन साधनं वक्तव्यं यावदसौ तत्त्वं प्रतिपद्यते अप्रतिद्वन्द्वित्वात्।

विजिगीषुकथा पुरुषशक्तिपरीक्षणफला जल्पः। सूत्रञ्च–"*यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प[5]ः।*" [न्यायसू० १।२।२] [6]यथोक्तोपपन्नग्रहणेन प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भमात्रमुपलक्ष्यते, न समस्तं वादलक्षणम्, 'सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः' इति उत्तरपदद्वयस्य निग्रहस्थाननियमनिबन्धनस्य अत्र अभिसम्बन्धाऽसंभवात्, जल्पे समस्तनिग्रहस्थानानां संभवात्। ननु 'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः' इत्ययुक्तम्; छलादीनामसदुत्तरत्वेन साधनदूषणत्वाऽनुपपत्तेः; तदयुक्तम्; प्रमा[7]णैः क्रियमाणयोः साधनोपालम्भयोः छलादीनाम[8]ङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् न स्वतन्त्राणां साधनदूषणभावः; नहि तानि स्वयं साधनत्वेन दूषणत्वेन वा प्रयुज्यन्ते, किन्तु सम्यक्साधने प्रयुक्ते परः छलजात्यादिना प्रत्यवतिष्ठमानः 'छलं जातिः निग्रहस्थानं वा त्वया प्रयुक्तम्' इत्येवं तदुद्भावनद्वारेण निरस्यते, निरस्ते तस्मिन् स्वपक्षः परिरक्षितो भवति। परेण वा साधने प्रयुक्ते सहसा दोषमपश्यन् स्वयं जात्यादिना प्रत्यवतिष्ठते। जात्याद्याकुलितश्च प्रतिवादी उत्तरमप्रतिपद्यमानो जीयते, जिते तस्मिन् अप्रतिपक्षा स्वपक्षसिद्धिरिति। हृदयस्थप्रमाणोपपन्नतत्त्वज्ञानसंरक्षणाय क्वचिद् [9]वीतरागस्यापि उपयुज्यन्ते छला-

१ "परिपाकस्तु–संशयच्छेदनमविज्ञातार्थबोधः अध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति।" न्यायभा० ४।२।४७। "अनधिगततत्त्वावबोधः संशयनिवृत्तिः अध्यवसिताभ्यनुज्ञानम् इति फलानि त्रीणि।···" न्यायवा० ता० टी० पृ० ३१६। २–व्यवसिताभ्यनुज्ञा–ब०, ज०। –व्यवसिताभ्यनुज्ञान– भां०। ३–नुज्ञानल– श्र०। ४ तस्य भां०, श्र०। "ततोऽस्य तत्त्वबुभुत्सावतः तावत्साधनं वक्तव्यं यावदनेन ज्ञातव्यमप्रतिद्वन्द्वित्वात्।" न्यायवा० पृ० १४९। ५ "तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः।···यथा एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति नास्तीत्यपरस्य, तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परस्परमुद्भावयतः एष जल्पः।" चरकसं० पृ० २६२। "यत्र विजिगीषुः विजिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्त्तते सा विजिगीषुकथा···विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता।" न्यायसार पृ० १६। न्यायकलिका पृ० १३। ६ न्यायभाष्य (पृ १।२।२) मंजरी (पृ० ५९४) कारयोर्मतेन 'यथोक्तोपपन्न' पदेन समस्तं वादलक्षणमतिदिश्यते। वार्तिककारमतेन तु–"सम्भवतोऽतिदेशात्, यदत्र सम्बद्धयते तदतिदिश्यते। किञ्च सम्बध्यते? 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' इत्येतत्।······न नियमार्थे पदे नियन्तव्यस्याभावात्। अथवा यथोक्तोपपन्नेन उपपन्नः यथोक्तोपपन्नोपपन्नः इति प्राप्ते गम्यमानत्वादेकस्य उपपन्नशब्दस्य लोपः यथा गोरथ इति। केन पुनरयं गम्यते इति? उक्तं सामर्थ्येनेति। नहि नियमार्थयोः पदयोः जल्पे संभवः···।" न्यायवा० पृ० १६१। ७ "प्रमाणैः साधनोपालम्भयोः छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्षरक्षणार्थत्वात् न स्वतन्त्राणां साधनभावः।···उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्ति।" न्यायभा० १।२।२। ८–मङ्गभावे श्रा०। ९ "वीतरागो वा परानुग्रहार्थं ज्ञानाङ्कुरसंरक्षणार्थञ्च प्रवर्त्तते।" न्यायसार पृ० १६। "मुमुक्षोरपि क्वचित् प्रसङ्गे तदुपयोगात्···।" न्यायमं० पृ० ५९५।

दीनि, अन्यथा प्राञ्जलमतिर्दुष्टतार्किकपरिकल्पितदूषणाडम्बरेण तत्त्वाध्यवसायात् प्रचाल्येत[1]। तदुक्तम्–"*तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।*" [न्यायसू० ४।२।५०] इति।

जल्पविशेषो वितण्डा[2]। तथा च सूत्रम्–"*स प्रतिपक्ष[3]स्थापनाहीनो वितण्डा।*" [न्यायसू० १।२।३] स यथोक्तो जल्पः प्रतिपक्षस्थापनाहीनतया विशेषितो वितण्डात्वं प्रतिपद्यते। वैतण्डिक[4]स्य च स्वपक्ष एव साधनवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षः हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन, तस्मिन् प्रतिपक्षे वैतण्डिको न साधनं वक्ति, केवलं परपक्षप्रतिषेधायैव प्रवर्त्तते इति।

अहेतवो हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः[5] पञ्च। "*सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-अतीतकाला हेत्वाभासाः।*" [न्यायसू० १।२।४] इति सूत्रकारवचनात्। तत्र सव्यभिचा[6]रस्य लक्षणम्–"*अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।*" [न्यायसू० १।२।५] व्यभिचारः[7] अनियमः, तेन सह यो वर्त्तते स सव्यभिचारः, अनैकान्तिकः[8]–एकस्मिन् अन्ते भवः ऐकान्तिकः तद्विपर्ययाद् अनैकान्तिकः, यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् इति।

विरुद्धस्य लक्षणम्–"*सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः[9]।*" [न्यायसू० १।२।६] [10]सिद्धान्तशब्दो धर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रसिद्धोऽपि इह साध्यविषयो ग्रहीतव्यः, तेन साध्यधर्ममभ्युपगम्य यस्तं विरुणद्धि-विपर्ययं साधयति स विरुद्धः, यथा नित्यः शब्दः कृतकत्वात् इति।

प्रकरणसमस्य लक्षणम्–"*यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः [11]प्रकरणसमः।*"

---

१ प्रचाल्यते भां, श्र०। २ "वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव।" चरकसं० पृ० २६२। न्यायकलिका पृ० १३। ३ "यथा प्रतिवादिनः पक्षो वादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षः, एवं वादिपक्षोऽपि प्रतिवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षः इति उभयपक्षस्थापनाहीना।" न्यायवा० ता० टी० १।२।३। ४ "उत्तरपक्षवादी वैतण्डिकः प्रथमवादिप्रसाध्यमानपक्षापेक्षया हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन प्रतिपक्ष इत्युच्यते।" न्यायमं० पृ० ५९६। ५ "हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुवदाभासमानाः।" न्यायभा० पृ० ७२। "हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः।" न्यायसार पृ० ७। न्यायकलिका पृ० १४। ६ "सव्यभिचारो नाम यद् व्यभिचरणम्।" चरकसं० पृ० २६५। ७ "व्यभिचारः एकत्राऽव्यवस्था"'एकस्मिन्नन्ते विद्यते इत्यैकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिकः उभयान्तव्यापकत्वादिति।" न्यायभा० १।२।५। "कः पुनरयं व्यभिचारः? साध्यतज्जातीयान्यवृत्तित्वम्।" न्यायवा० पृ० १७०। न्यायमं० पृ० ५९७। ८ "एकस्मिन्नन्ते विद्यते इत्यैकान्तिकः विपर्ययादनैकान्तिकः उभयान्तव्यापकत्वादिति।" न्यायभा० १।२।५। ९ "सपक्षे सत्त्वं यस्य नास्ति विपक्षे च वृत्तिरस्ति स साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धो भवति।" न्यायकलिका पृ० १४। १० "सिद्धान्तशब्दो यद्यपि धर्मविशिष्टे धर्मिणि व्याख्यातः"'तथापीह तदेकदेशसाध्यधर्मविषयो लक्ष्यते।" न्यायमं० पृ० ६००। ११ "विशेषाऽग्रहणात् प्रकरणे संशयो भवति, नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वेति। तदेव विशेषाग्रहणं भ्रान्त्या हेतुत्वेन प्रयोज्यमानं प्रकरणसमो हेत्वाभासो भवति।" न्यायकलिका पृ० १५।

[न्यायसू० १।२।७] [1]विचार्यमाणौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशयात् प्रभृति आनिर्णयात् यद्यपि भवति, तथापि इह विमर्शात्मिकैव गृह्यते, सा च विशेषाऽनुपलम्भादेव[2] भवति, स एव च विशेषाऽनुपलम्भो यदा निर्णयार्थमपदिश्यते तदा तत् प्रकरणमनतिवर्त्तमानत्वात् प्रकरणसमो भवति। यथा 'नित्यः शब्दः अनित्यधर्माऽनुपलब्धेः आकाशवत्' इति एकेन उक्ते द्वितीयः प्राह–अनित्यः शब्दः नित्यधर्मानुपलब्धेः[3] घटवत्, न च द्व्यात्मकानि वस्तूनि युज्यन्ते। प्रमातारस्तु स्वरूपमेषां[4] नियतमनवधारयन्तो भ्राम्यन्तीह[5] (न्तीति)।

साध्यसमस्य लक्षणम्–"*साध्याऽविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः।*" [न्यायसू० १।२।८] प्रतिवादिनं[6] प्रति साधयितुं यद् उपादीयते तत् साध्यम्, तदविशिष्टो हेतुः साध्यसमः। कथं हेतोः साध्येन तुल्यता इति चेत्? साध्यत्वात्, यथा मीमांसकं प्रति 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' इति।

कालात्ययापदिष्टस्य लक्षणम्–"*कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।*"[7] [न्यायसू० १।२।९] हेतोः[8] प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमाऽबाधितपक्षपरिग्रहाद् अनन्तरः, तम् अतीत्य यो हेतुरपदिश्यते स कालात्ययापदिष्टः। यथा अनुष्णः तेजोऽवयवी कृतकत्वात् घटवत्, ब्राह्मणेन[9] सुरा पातव्या द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इति।

---

१ "विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षौ उभौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ् निर्णयात् यत् समीक्षणम् सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्तः उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्त्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते।..." न्यायभा० १।२।७। न्यायमं० पृ० ६०२। २ "तथापीह विमर्शात्मिकैव गृह्यते। स यस्माद् भवति। कस्माच्च सा भवति? विशेषानुपलम्भात्। स एव विशेषानुपलम्भो यदि निर्णयार्थमुपदिश्यते तत् प्रकरणमनतिवर्त्तमानत्वात् प्रकरणसमो भवति।" न्यायमं० पृ० ६०२। ३–नुपपत्तेः आ०। ४–मेतेषां भां०, श्र०। ५–तीत्थं ब०, ज०, भां०। "प्रमातारस्तु रूपमेषां नियतमवधारयितुमशक्नुवन्त एव भ्राम्यन्तीति।" न्यायमं० ६०२। ६ "साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वात् साध्यवत् प्रज्ञापयितव्यः।" न्यायभा०, न्यायवा०, १।२।८। "अन्यतरवादिप्रसिद्धमन्यतरं प्रति यत्साधयितुमुपादीयते तत्साध्यम्...तदविशिष्टो हेतुः साध्यसमः, कथं साध्येन तुल्यता? इति चेदाह–साध्यत्वादिति।" न्यायमं० पृ० ६०६। ७ "अतीतकालं नाम यत् पूर्वं वाच्यं तत् पश्चादुच्यते तत् कालातीतत्वादग्राह्यं भवति।" चरकसं० पृ० २६७। ८ "हेतोरपदेशस्य हि साध्यसन्देहविशिष्टः कालः,...यत्र च प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः...स सर्वः प्रमाणतो विपरीतनिर्णयेन सन्देहविशिष्टं कालमतिपतति, सोऽयं कालस्यात्ययेन अपदिश्यमानः कालातीत इति।" ता० टी० पृ० ३४७। हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमय एव...उष्णो न तेजोऽवयवी कृतकत्वात् घटादिवत्। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवत्वात् क्षीरनीरवत्॥" न्यायमं० पृ० ६१२। "प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः। न्यायकलिका पृ० १५। ९ "दृढतरप्रमाणबाधितो हि हेतुः कालात्ययापदिष्टो भवति, यथा ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवदिति।..." न्यायवा० ता० टी० पृ० ३४०। न्यायसार पृ० ११।

अर्थविकल्पैर्वचनविघातः छलम्[1]। तथा च सूत्रम्–"*वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ।*" [न्यायसू० १।२।१०] वचनविघातः[2] न मुखपिधानेन अपि तु अर्थविकल्पोपपत्त्या, वक्तुरनभिप्रेतमर्थं तदुक्ते वचसि समारोप्य छलवादी तन्निषेधं करोति कल्प्यमानघटनया इति सामान्यलक्षणम् । "*तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलञ्च ।*" [न्यायसू० १।२।११] तत् सामान्यलक्षणलक्षितं छलं वाक्छलादिभेदेन[3] त्रिविधं भवति ।

तत्र "*अविशेषाऽभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।*" [न्यायसू० १।२।१२] अविशेषाभिहिते–अविशेषेण शब्दे प्रयुक्ते सति वक्तुरभिप्रेतमर्थमपह्नुत्य परि[4]कल्प्य तन्निषेधवचनं वाचि निमित्तभूतायां छलं वाक्छलम् । य[5]था 'नवकम्बलो देवदत्तः' इत्युक्ते 'नवः कम्बलोऽस्य, नव कम्बला अस्य' इति च समासपदम् अर्थद्वयेऽप्यविशिष्टम् , तत्र अभिनवकम्बलयोगं वक्तुरभिप्रेतं प्रमाणोपपन्नञ्च अपह्नुत्य नवसंख्यासम्बन्धमध्यारोप्य तत्प्रतिषेधेन परः प्रत्यवतिष्ठते–'कुतोऽस्य नव कम्बलाः ?' इति ।

---

१ "छलं नाम परिशठमर्थाभासमपार्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव ।" चरकसं० पृ० २६६ । "परस्य वदतो वचनविघातः अभिधाननिरोधः छलम् ।" न्यायमं० पृ० ६१३ । न्यायकलिका पृ० १६ । २ "किम् आस्यपिधानादिना ? नेत्याह अर्थविकल्पोपपत्त्येति । वक्तुरनभिप्रेतमर्थात्तदुक्ते वचसि समारोप्य तन्निषेधं छलवादी करोति···विकल्प्यमानार्थघटनया ।" न्यायमं० पृ० ६१३ । ३ "तद् द्विविधं वाक्छलं सामान्यछलञ्च ।" चरकसं० पृ० २६६ । ४–कल्प आ०, ब०, ज० । ५ "वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् ब्रूयात्–'नवतन्त्रोऽयं भिषग्' इति । भिषग् ब्रूयात् नाऽहं नवतन्त्रः एकतन्त्रोऽहमिति । परो ब्रूयात् नाहं ब्रवीमि नवतन्त्राणि तवेति अपि तु नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति । भिषग् ब्रूयात् न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधा अभ्यस्तं मया तन्त्रमिति । एतद्वाक्छलम् ।" चरकसं० पृ० २६६ । "सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात् सत् सत्प्रशमनायेति भवानाह, सन् हि रोगः सदौषधम् , यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति सन् हि कासः सन् क्षयः, सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यति इति ।" चरकसं० पृ० २६६ । "यथा कश्चिदाह–यो मया परिहितः स नवकम्बलः अत्र दूषणं (वदेत्) यद्भवता परिहितं तदेकमेव वस्त्रं कथं नवेति । अत्र प्रतिवदेत् मया नव इत्युक्तं तथा च नवः कम्बलः न तु नवेति । अत्र दूषयेत् कथं नव ? नवलोमैर्निर्मितत्वान्नव इत्युक्ते प्रतिवादी वदेत् तत्त्वतोऽपरिमितानि लोमानि कथं नवलोमानीत्युच्यते ? अत्राह–नव इति मया पूर्वमुक्तं न तु नवसंख्या । अत्र दूषणं तद्वस्त्रं युष्माकमेवेति ज्ञातं कस्मादेतन्न वः कथ्यते । अत्रोत्तरम्-मया नव इत्युक्तं किन्तु न व इति नोक्तम् । अत्र दूषणम्–भवतः कायं कम्बलो वस्त इति प्रत्यक्षमेतत्, कथमुच्यते न वः कम्बलः । अयं हेत्वाभास इत्युच्यते वाक्छलञ्च । अपरञ्च वाक्छलम्, यथा गिरिर्दह्यते इत्युक्ते दूषणम्–तत्त्वतः तृणतरवो दह्यन्ते कथं गिरिर्दह्यत इत्युक्तम् । एतद्वाक्छलमित्युच्यते ।" उपायहृदय पृ० १५ । "नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः ।···" न्यायभा०, न्याय वा० १।२।१२। न्यायसार पृ० १६ । न्यायमं० पृ० ६१४ । न्यायकलिका पृ० १६ ।

"*संभवतोऽर्थस्य अतिसामान्ययोगाद् असद्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम्।*" [न्यायसू० १।२।१३] अति–व्यापकं सामान्यम् अतिसामान्यम्, तद्योगात् क्वचिद् व्यक्तौ[1] अर्थस्य कस्यचित् [2]संभवतो व्यक्त्यन्तरे संभाव्यमाननिष्पत्तेः वक्त्राऽभिहितस्य सतो यद् असद्भूतार्थकल्पनया प्रत्यवस्थानम् तत् सामान्यनिमित्तत्वात् सामान्यछलम्। [3]यथा 'संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्' इत्युक्ते छलवाद्याह–न; व्रात्येन अनेकान्तात्; तदयुक्तम्; हेतुत्वेन अनुपन्यासात्, न हि ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पत्तौ हेतुत्वेन उपन्यस्तम्। किं तर्हि? प्रशंसावादोऽयम् इति।

"*धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेधः [4]उपचारच्छलम्।*" [न्यायसू० १।२।१४] धर्मः क्रोशनादिः, तस्य विकल्पः उपचारः, तेन निर्देशे 'मञ्चाः क्रोशन्ति गायन्ति' इत्यादिप्रयोगे [5]कृते योऽर्थसद्भावप्रतिषेधः मुख्यार्थप्रतिषेधः–कथम् अचेतना मञ्चाः [6]क्रोशन्ति? किं तर्हि? पुरुषास्तत्रस्थाः क्रोशन्ति न मञ्चाः, इति उपचारनिमित्तं छलम् उपचारच्छलम्। तच्चायुक्तम्; [7]यथावक्त्रभिप्रायमप्रतिषेधात्, अभिधानप्रयोगो हि लोके गौणो मुख्यश्च प्रसिद्ध इति।

हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं प्रत्यवस्थानं जातिः। तथा च सूत्रम्–"*साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।*" [न्यायसू० १।२।१८] सकलजातीनां सामान्यलक्षणमिदम्। [8]प्रतिकूलम् अव-

---

१ व्यक्तौ च तत्त्वस्य कस्यचित् सम्बन्धे व्यक्त्यन्तरे भां०। "अति व्यापकं सामान्यमतिसामान्यम्, तद्योगात् तत्संभवात् क्वचिद् व्यक्तार्थस्य कस्यचित् संभवतः संभाव्यमाननिष्पत्तेः वक्त्राऽभिहितस्य सतो याऽसद्भूतार्थकल्पना तया च प्रत्यवस्थानं तत् सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यछलमिति।" न्यायमं० पृ० ६१५। न्यायकलि० पृ० १६। २ संभवेऽतो ब०, ज०। ३ "अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणः विद्याचरणसम्पन्नः...यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् संभवति व्रात्येऽपि संभवेत्...अस्य प्रत्यवस्थानम्–अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वात्...सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं न सम्पद्धेतुः...।" न्यायभा०, न्यायवा० १।२।१३। "अपि च छलं द्विविधं पूर्ववत् सामान्यञ्चेति। यथा संस्कृता धर्माः शून्या आकाशवदित्युक्ते दूषणम्–उभयोरपि शून्यत्वमभावश्च तदा निःस्वभावा धर्माः आकाशतुल्या इति सामान्यछलम्।" उपायहृदय पृ० १५। ४ "उपचारप्रयोगे मुख्यार्थकल्पनया प्रतिषेध उपचारच्छलम्।" न्यायसार पृ० १७। न्यायकलिका पृ० १६। ५ कृतेऽर्थ–आ०। ६–न्ति पुरु–आ०, ब०, ज०, भां०। ७ "अत्र समाधिः–प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा प्रतिषेधो वा न छन्दतः, प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः, सिद्धप्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायः तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा न छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते तथाभूतस्याभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा न छन्दतः। अथ गुणभूतं तदा गुणभूतस्य, यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपालम्भ इति।" न्यायभा० १।२।१४। ८ "प्रतीपमवस्थानं प्रत्यवस्थानम्।" न्यायवा० १।२।१८। "तत्र जातिर्नाम स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिरोधासमर्थो हेतुः।" न्यायवा० ५।१।१। "यदेवं प्रकारं प्रत्यवस्थानं हेतुप्रतिबिम्बवर्त्मना क्रियते सा जातिः।" न्यायमं० पृ० ६१९। न्यायकलिका पृ० १७। "प्रयुक्ते हेतौ समीकरणाभिप्रायेण प्रसङ्गो जातिः।" न्यायसार पृ० १७।

स्थानम् प्रत्यवस्थानम्, साधर्म्येण वैधर्म्येण वा यत् प्रत्यवस्थानं हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं सा जातिः इति । तासां चतुर्विंशतिप्रकारो विभागः[1]–"*साधर्म्य-वैधर्म्य-उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प[2]-साध्य-प्राप्ति-अप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्त-अनुपपत्ति-संशय-प्रकरण-अहेतु-अर्थापत्ति-अविशेष-उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि-नित्य-अनित्य-कार्यसमाः[3] ।*" [न्यायसू० ५।१।१] इतिसूत्रकारवचनात् ।

तत्र साधर्म्य-वैधर्म्यसमयोर्लक्षणम्–"*साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्य-वैधर्म्यसमौ ।* [न्यायसू० ५।१।२] साधर्म्येण वैधर्म्येण वा साधनमभिधाय सिसाधयिषितपक्षोपसंहारे साधनवादिना कृते साध्यधर्मविपर्ययोपपादनाय साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः[4] प्रतिषेधः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, यत् प्रयत्नानन्तरीयकं

---

१ "विपरीतखण्डनम्, असत्खण्डनम्, विरुद्धखण्डनं चेति । यदि खण्डनमेतत् त्रिविधदोषोपेतं तदा निग्रहस्थानम्...विपरीतखण्डनं दशविधम्–साधर्म्यखण्डनम्, वैधर्म्यखण्डनम्, विकल्पखण्डनम्, अविशेषखण्डनम्, प्राप्त्यप्राप्तिखण्डनम्, अहेतुखण्डनम्, उपलब्धिखण्डनम्, संशयखण्डनम्, अनुक्तिखण्डनम्, कार्यभेदखण्डनम्...।" (पृ० १२) "असत्खण्डनं त्रिविधम्–अवर्ण्य (व्यञ्जक) खण्डनम्, अर्थापत्ति (व्यञ्जक) खण्डनम्, प्रतिदृष्टार्थ (व्यञ्जक) खण्डनञ्च ।" (पृ० २४) विरुद्धखण्डनं त्रिविधम्–अनुत्पत्तिखण्डनम्, नित्यताखण्डनम्, स्वार्थविरुद्धखण्डनञ्च...।" (पृ० २८) सम्यक्खण्डनं पञ्चविधम्–इष्टार्थदूषणम्, अनिष्टार्थव्यक्तिः, प्रसङ्गव्यक्तिः, विषमार्थव्यक्तिः, सर्वन्यायसिद्धिलाभव्यक्तिः । (पृ० ३०)" तर्कशास्त्र । "एषां विंशतिविधानां सारो द्विविधः साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च...एवं दूषणं विंशतिविधम् यथा–उत्कर्षसमम्, अपकर्षसमम्, भेदाभेदसमम्, प्रश्नबाहुल्यमुत्तराल्पता, प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्यम्, हेतुसमम्, कार्यसमम्, व्याप्तिसमम्, अव्याप्तिसमम्, कालसमम्, प्राप्तिसमम्, अप्राप्तिसमम्, विरुद्धम्, अविरुद्धम्, संशयसमम्, असंशयसमम्, प्रतिदृष्टान्तसमम्, श्रुतिसमम्, श्रुतिभिन्नम्, अनुपपत्तिसमञ्चेति प्रश्नोत्तरधर्मो विंशतिधा ।" उपायहृदय पृ० २७ । २–ल्पयसा–श्र० । ३ "समीकरणार्थं प्रयोगः समः, साधर्म्यमेव समं वैधर्म्यमेव सममिति समार्थः समीकरणार्थः प्रयोगो द्रष्टव्यः ।...विशेषहेत्वभावो वा समार्थः न भवता विशेषहेतुः कश्चिद् अपदिश्यत इति ।...न च वादिप्रतिवादिनोस्तुल्यता समार्थः ; जातेरसदुत्तरत्वात् । नियमेनैव जातिवादी असद्वादी भवति, वादिनां तु सदसद्वादित्वेऽनियम इति ।" न्यायवा० ५।१।१ । "आभिमानिकं साम्यं न वास्तवमित्यर्थः ।" ता० टी० ५।१।१ । ४ "साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः ।...अथ साधर्म्यसमः–क्रियावान् लोष्ठः क्रियाहेतुगुणयुक्तो दृष्टः तथा चात्मा तस्मात् क्रियावान् इति, न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यात् निष्क्रियो न पुनः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावानिति विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः ।" न्यायभा०, वा० ५।१।२ । न्यायमं० पृ० ६२२ । न्यायसार पृ० १८ । न्यायकलि० पृ० १७ । "वस्तुसाधर्म्यप्रत्यवस्थानं साधर्म्यखण्डनमित्युच्यते ।" तर्कशा० पृ० १२ ।

तदनित्यम् यथा घटः' इति साधर्म्येण हेतौ प्रयुक्ते[1] जातिवादी साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते–'नित्यः शब्दः निरवयवत्वात्, यन्निरवयवं तत् नित्यं दृष्टम् यथा आकाशम्' इति, न चात्र विशेषहेतुरस्ति घटसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् अनित्यः शब्दः न च आकाशसाधर्म्यात् निरवयवत्वात् नित्य इति। वैधर्म्येण वा प्रत्यवतिष्ठते–नित्यःशब्दो निरवयवत्वात्, यत् पुनरनित्यं तत् सावयवं दृष्टम् यथा घटः, न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् अनित्यः शब्दः न पुनः घटवैधर्म्यात् निरवयवत्वात् नित्य इति।

वैधर्म्यहेतावपि साधनवादिना प्रयुक्ते 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् यत् पुनरनित्यं न भवति तत् प्रयत्नानन्तरीयकमपि न भवति यथा आकाशम्' इत्यत्रापि एतेनैव पूर्वोक्तप्रयोगद्वयेन प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमं[2] इति।

उत्कर्षसमादीनां लक्षणम्–"*साध्यदृष्टान्तयोः धर्मविकल्पाद् उभयसाध्यत्वाच्च उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प-साध्यसमाः।*" [न्यायसू० ५।१।४] यत्र दृष्टान्तधर्मं साध्यधर्मिणि असन्तमपि आरोपयत्तु[3] (पयन्) उत्कर्षेण प्रत्यवस्थानं करोति सा उत्कर्षसमा[4] जातिः। यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्' इत्युक्ते परः प्राह–'यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वात घटवद् अनित्यः शब्दः तर्हि तद्वदेव मूर्त्तोऽप्यस्तु, अथ न मूर्त्तः तर्हि अनित्योऽपि माभूत् अविशेषात्' इति।

[5]दृष्टान्तधर्मविकल्पनेनैव साध्यधर्मिणि सिद्धस्यापि धर्मस्य अपकर्षेण प्रत्यवस्थानम् अपकर्षसमा जातिः। यथा अस्मिन्नेव प्रयोगे घटः प्रयत्नानन्तरीयकः अश्रावणो दृष्टः शब्दोऽपि तथास्तु, अन्यथा अनित्यो न स्याद् अविशेषात् इति।

ख्यापनीयो वर्ण्यः साध्यधर्मिधर्मः, तद्विपर्ययादवर्ण्यो दृष्टान्तधर्मः, तौ वर्ण्याऽवर्ण्यौ विपर्यस्यन् इतरम् इतरेण समीकुर्वन् प्रत्यवस्थानं करोति–'यदि शब्दोऽनित्यत्वेन वर्ण्यते–साध्यते

१–क्ते स जाति–श्र०। २ "वैधर्म्येणोक्ते हेतौ तद्विपरीतवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्येणोक्ते हेतौ तद्विपरीतवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमः।" न्यायवा०, भा०, ५।१।२। न्यायसार पृ० १८। न्यायमं० पृ० ६२२। न्यायकलिका पृ० १७। "वस्तुवैधर्म्यप्रत्यवस्थानं वैधर्म्यखण्डनमित्युच्यते।" तर्कशा० पृ० १४। ३ आरोपतुत्कर्ष–आ०। "...असन्तमप्यारोपयन्नुत्कर्षेण प्रत्यवस्थानं यत्करोति स उत्कर्षसमः प्रतिषेधः।" न्यायमं० पृ० ६२३। ४ "दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासजत उत्कर्षसमः।" न्यायभा० ५।१।४। "अविद्यमानधर्माध्यारोप उत्कर्षः।" न्यायवा० पृ० ५३२। न्यायसार पृ० १८। न्यायकलि० पृ० १७। उपायहृदय पृ० २७। ५ "साध्ये धर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसजतोऽपकर्षसमः।" न्यायभा० ५।१।४। "विद्यमानधर्मापचयोऽपकर्षः।" न्यायवा० ५।१।४। न्यायमं० पृ० ६२३। न्यायकलि० पृ० १७। उपायहृदय पृ० २७।

तदा घटोऽपि वर्ण्यताम्-साध्यताम्' इति वर्ण्यसमा[1]। 'घटश्चेन्न वर्ण्यते-न साध्यते तर्हि शब्दोऽपि न वर्ण्यताम्' इति अवर्ण्यसमा[2]।

धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा[3]। यथा अत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-प्रयत्नानन्तरीयकं किञ्चिन् मृदु दृश्यते प्रवेण्यादि, किञ्चित् कठिनं कर्परादि, एवं प्रयत्नानन्तरीयकं घटादि अनित्यं भविष्यति शब्दादि तु नित्यमिति।

उभयोरपि साध्यदृष्टान्तयोः साध्यत्वापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा[4]। यथा अत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-यदि यथा घटः तथा शब्दः तर्हि यथा शब्दः तथा घटोऽस्तु, शब्दश्च अनित्यतया साध्यः[5] इति घटोऽपि साध्य एव स्यात्, कथमन्यथा तेन तुल्यता ?

प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पनपूर्वकम् उभयत्रापि दोषापादनं प्राप्ति-अप्राप्तिसमौ[6]। हेतौ साधनवादिना प्रयुक्ते प्रतिवादी आह-अयं हेतुः प्राप्य साध्यं साधयेत्, अप्राप्य वा ? यदि प्राप्य; तर्हि द्वयोर्लब्धस्वरूपयोर्युगपत् संभवात् कथमेकस्य साध्यता अन्यस्य हेतुता विशेषाऽभावात् ? इति प्राप्तिसमः प्रतिषेधः। अथ अप्राप्य हेतुः साध्यं साधयेत्; तर्हि सर्वं साध्यं किन्न असौ साधयेद् अविशेषात् ? नहि अप्राप्य प्रदीपः प्रकाश्यं प्रकाशयति इति अप्राप्तिसमः।

"दृष्टान्तस्य कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तसमौ।" [न्यायसू० ५।१।९] यथा प्राक्तने एव साधने घटादेर्दृष्टान्तस्य अनित्यतायां किं कारणम् ?

---

१ "ख्यापनीयो वर्ण्यः विपर्ययादवर्ण्यः, तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्याऽवर्ण्यसमौ भवतः।" न्यायभा० ५।१।४। "वर्ण्यः साध्यः" न्यायवा० ५।१।४। न्यायमं० पृ० ६२३। न्यायसार पृ० १८। न्यायकलिका पृ० १८। "वर्ण्यसमो नामाहेतुः यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः। यथा परो ब्रूयात् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति। अत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद्वर्ण्यसमोप्यहेतुः।" चरकसं० पृ० २६७। २ "अवर्ण्यः असाध्यः।" न्यायवा० ५।१।४। "प्रत्यक्षविषये यद्धेत्वन्वेषणं तदवर्ण्यखण्डनमुच्यते।" तर्कशा० पृ० २४। ३ "साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः।" न्यायभा० ५।१।४। "धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमः।" न्यायमं० पृ० ६२३। न्यायकलि० पृ० १८। ४ "हेत्वाद्यवयवयोगी धर्मः साध्यः, तं दृष्टान्ते प्रसजतः साध्यसमः।" न्यायभा० ५।१।४। "उभयोरपि साध्यदृष्टान्तयोः साध्यत्वापादनेन साध्यसमः।" न्यायमं० पृ० ६२४। न्यायसार पृ० १९। न्यायकलि० पृ० १८। ५ साध्यते भा०, श्र०। ६ "प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ।" न्यायसू० ५।१।७। "प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः, अप्राप्त्या प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमः।" न्यायभा० ५।१।७। न्यायसार पृ० १९। "प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पनपूर्वकमुभयत्रापि दोषापादनं प्राप्त्यप्राप्तिसमौ।" न्यायमं० पृ० ६२४। न्यायकलि० पृ० १८। "हेतुः साध्यं प्राप्नोति, न वा ? यदि साध्यं प्राप्नोति तदाऽसाधकः, अथ हेतुःसाध्यं न प्राप्नोति तदाप्यसाधकः। एतत्प्राप्त्यप्राप्तिखण्डनमुच्यते।" तर्कशा० पृ० १७। उपायहृदय पृ० २९।

न च तदन्तरेण साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् हेत्वन्तरान्वेषणे चानवस्था इति [1]प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः ।

प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं [2]प्रतिदृष्टान्तसमः । यथा प्रयत्नानन्तरीयको घटादिः अनित्यो दृष्टः, तथा आकाशं प्रयत्नानन्तरीयकं नित्यं दृश्यते, तद्वत् शब्दोऽपि नित्यः स्यात् । कः पुनः आकाशस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वं वदेत् ? कूपखननादिना आका[3]शस्य कार्यतां मन्वानः कश्चिद् एवं ब्रूयात् । न चैवं व्यभिचारोद्भावनमेतत् सम्यगुत्तरं न असदुत्तरप्रकारो जातिप्रयोगः इत्यभिधातव्यम् ; यतो न हेतोरनैकान्तिकत्वम् उद्भावयन्नसौ साधुरिव जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते, अपि तु दृष्टान्तबलेन नित्यत्वमेव साधयन् [4]उत्थित इति ।

"प्रागुत्पत्तेः कारणाऽभावाद् [5]अनुत्पत्तिसमः ।" [न्यायसू० ५।१।१२] यथा अत्रैव प्रयोगे जातिवादी आह–पूर्वमनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि प्रयत्नानन्तरीयकत्वं धर्मः क वर्त्तताम्, अलब्धपक्षवृत्तिश्च कथमनित्यत्वं साधयेत् ? असिद्धे च अनित्यत्वे शब्दस्य बलात् नित्यत्वमेव सिद्ध्येत् । कारणाऽभावात्–अनित्यत्वसिद्धिकारणस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य अभावात् । अथवा शब्दोत्पादककारणाभावाद् अनुत्पन्ने शब्दे निराश्रयो हेतुरिति ।

"सामान्य-दृष्टान्तयोः ऐन्द्रियकत्वे समाने नित्याऽनित्यसाधर्म्यात् [6]संशयसमः ।" [न्यायसू० ५।१।१४] यथा अत्रैव प्रयोगे परः प्रत्यवतिष्ठते–घटेन अनित्येन प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दस्य साधर्म्यम्, सामान्येन च नित्येन ऐन्द्रियकत्वम्, ततः किं प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् अनित्यः शब्दः स्यात् किम्वा ऐन्द्रियकत्वात् नित्यः इति ?

---

१ "साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः ।" न्यायभा० ५।१।९। न्यायमं० पृ० ६२५ । न्यायकलि० पृ० १८ । २ "प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः ।" न्यायभा० ५।१।९। "प्रतिदृष्टान्तबलात् साधनम्, एतदुच्यते प्रतिदृष्टान्त (व्यञ्जक) खण्डनम् ।" तर्कशा० पृ० २६। उपायहृदय पृ० ३० । ३–काशकार्य–आ०, ब०, ज०, भां० । ४ उत्तिष्ठते ब०, ज० । "···साधुरिव जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते अपि तु दृष्टान्तबलेन नित्यत्वमेव साधयन्नुत्थित इति ।" न्यायमं० पृ० ६२५ । ५ "अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा ।" न्यायभा० ५।१।१२ । न्यायसार पृ० २० । न्यायमं० पृ० ६२६ । न्यायकलि० पृ० १८ । "प्रागुत्पत्तेः प्रयत्ननिरपेक्षत्वान्नित्य इत्यनुत्पत्तिखण्डनम् ।" तर्कशा० पृ० २८ । उपायहृदय पृ० ३० । ६ "साधर्म्यवैधर्म्यसमा जातिर्या पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपक्रियमाणा संशयसमा ।" न्यायकलि० पृ० १९ । "संशयसमो नामाऽहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः यथा अयमायुर्वेदैकदेशमाह किन्त्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयात्–यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति । न च संशयहेतुं विशेषयति, एष चाऽहेतुः ।" चरकसं० पृ० २६६ । "संशयखण्डनम् विपक्षसाधर्म्यात् संशयवादेन खण्डनम् ।" तर्कशा० पृ० २१ । उपायहृदय पृ० २९ ।

"*उभयसाधर्म्यात् प्रक्रिया*[1]*सिद्धेः प्रकरणसमः*[2] *।*" [न्यायसू० ५।१।१६] यथा अस्मिन्नेव प्रयोगे अनित्यसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् कश्चिदनित्यतां साधयति, अपरः पुनः नित्याकाशसाधर्म्यात् निरवयवत्वात् नित्यताम् इति, अतः पक्षे विपक्षे च प्रक्रिया समाना[3] सिद्धा इति ।

"*त्रैकाल्याऽनुपपत्तेः हेतोः अहेतुसमः*[4] *।*" [न्यायसू० ५।१।१८] यथा सम्यक् साधने प्रयुक्ते दूषणमपश्यन् जातिवादी आह–'साध्यात् पूर्वं[5] वा साधनम्, उत्तरं वा, सहभावि वा स्यात् ? न तावत् पूर्वम्; असत्यर्थे तस्य[6] साधनत्वाऽनुपपत्तेः । नाप्युत्तरम्; असति साधने पूर्वं साध्यस्य साध्यस्वरूपत्वाऽसंभवात्[7] । नापि सहभावि; स्वतन्त्रतया प्रसिद्धयोः साध्य-साधनभावाऽसंभवात्[8] सह्यविन्ध्यवत्[9] इति अहेतुसमत्वेन प्रत्यवस्थानम् अहेतुसमः प्रतिषेधः ।

"*अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेः अर्थापत्तिसमः ।*" [न्यायसू० ५।१।२१] यथा प्राक्तन एव साधने प्रयुक्ते जातिवादी आह–यदि घटसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् अनित्यः शब्दः तदा [10]अर्थादापद्यते–'निरवयवत्वात् आकाशसाधर्म्यात् नित्यः' इति ।

"*एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाऽविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेः अविशेषसमः*[11] *।*" [न्यायसू० ५।१।२३] यथा अत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–यदि शब्द-घटयोः एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति इति तयोः अनित्यत्वाऽविशेषोऽभिधीयते, तर्हि सर्वार्थेषु सत्त्वधर्मस्य उपपत्तेः अनित्यत्वाऽविशेषः स्यात् इति ।

---

१ –याप्रसि– ब०, ज० । २ "उभयेन नित्येन चानित्येन साधर्म्यात् पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया...प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः ।" न्यायभा० ५।१।१६ । "द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्धया प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जातिः प्रकरणसमा भवति ।" न्यायकलि० पृ० १९ । "तत्र प्रकरणसमो नामाऽहेतुः यथा अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे ब्रूयात्–यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः, शरीरं ह्यनित्यमतो विधर्मिणा चात्मना भवितव्यमित्येष चाऽहेतुः, न हि य एव पक्षः स एव हेतुः ।" चरकसं० पृ० २६६ । ३–मानातिसिद्धा ब०, ज० । ४ "हेतुः साधनं पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत्...इति हेतुरहेतुना न विशिष्यते, अहेतुना साधर्म्यात् प्रत्यवस्थानमहेतुसमः ।" न्यायभा० ५।१।१८ । न्यायमं० पृ० ६२८ । न्यायसार पृ० २० । न्यायकलि० पृ० १९ । "त्रैकाल्ये हेतोरसम्भव इत्यहेतुखण्डनमुच्यते । प्रतिवादी प्राह–किं हेतुः साध्यात्पूर्वं पश्चाद् युगपद्वा ?..." तर्कशा० पृ० १८ । ५–र्वं सा– ब०, ज० । ६ अस्य श्र० । ७–भवत्वात् भां०, श्र० । ८–भवाभावात् श्र० । ९–विन्ध्यादिवत् श्र० । १० "अर्थादापद्यते प्रतिपक्षसिद्धिरित्येवं क्रियमाणः प्रतिषेधः अर्थापत्तिसमो भवति ।" न्यायमं० पृ० ६२९ । विपक्षेऽर्थापत्तिरेतदर्थापत्तिखण्डनम् ।" तर्कशा० पृ २५ । ११ "अविशेषोपपादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमः ।" न्यायमं० पृ० ६२९ । न्यायकलि० पृ० १९ । न्यायसार पृ० २१ । "एकधर्मख्यापनात् सर्वस्याविशेषेण प्रत्यवस्थानमविशेषखण्डनमुच्यते ।" तर्कशा० पृ० १५ ।

"उभयकारणोपपत्तेः [1]उपपत्तिसमः ।" [न्यायसू० ५।१।२५] यथा अस्मिन्नेव साधने प्रयुक्ते जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते–यदि अनित्ये कारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति इति अनित्योऽसौ तदा नित्यत्वेऽपि अस्य कारणं निरवयवत्वम् अस्ति इति नित्योऽस्तु इति ।

"निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भात् [2]उपलब्धिसमः ।" [न्यायसू० ५।१।२७] निर्दिष्टस्य साध्यधर्मसिद्धिकारणस्य अभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानम् उपलब्धिसमः प्रतिषेधः। यथा अत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–शाखादिभङ्गजे शब्दे विद्युदादौ च प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावेऽपि अनित्यत्वमस्ति इति ।

"तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेः [3]अनुपलब्धिसमः ।" [न्यायसू० ५।१।२९] यथा 'प्रागुच्चारणाद् अविद्यमानः शब्दः असत्यावरणेऽनुपलब्धेः, आवरणाऽसत्त्वञ्च अनुपलब्धेः सिद्धम्, यस्य तु दर्शनात् प्राग् विद्यमानस्य अनुपलब्धिः न तस्य आवरणाऽनुपलब्धिः यथा पटाद्यावृतस्य घटादेः, आवरणाऽनुपलब्धिश्च श्रवणात् प्राक् शब्दस्य' इत्युक्ते जातिवादी आह–तदनुपलब्धेः शब्दावरणाऽनुपलब्धेरप्यनुपलम्भाद् अभावसिद्धिः 'आवरणाऽनुपलब्धिर्नास्ति अनुपलब्धेः' इति, तद्विपरीतोपपत्तेः शब्दस्य अभावविपरीतत्वेन भावस्योपपत्तेः अनुपलब्धिसमः प्रतिषेधः ।

"साधर्म्यात् तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वाऽनित्यत्वप्रसङ्गाद् [4]अनित्यसमः ।" [न्यायसू० ५।१।३२] यथा अस्मिन्नेव प्रयोगे परः प्रत्यवतिष्ठते–यदि शब्दस्य [5]अनित्येन घटेन साधर्म्यं प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति इति अनित्यत्वं स्यात्, तदा सर्वभावानां सत्त्वादिना घटेन साधर्म्यमस्ति इति अनित्यत्वं स्यादिति ।

---

१ "उभयस्य अनित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमः ।" न्यायभा० ५।१।२५। न्यायकलि० पृ० १९। "ननु सैवेयं साधर्म्यादिसमा प्रकरणसमा वा जातिर्न भेदान्तरम्; मैवम्; उद्भावनप्रकारेण भेदात्। परपक्षोपमर्दबुद्ध्या साधर्म्यादिसमा जातिः प्रयुज्यते, पक्षान्तरोत्थापनास्थया प्रकरणसमा, अप्रतिपत्तिपर्यवसायित्वाशयेनेयमुपपत्तिसमेति ।" न्यायमं० पृ० ६३०। २ उपलम्भस–भां०। "सर्वसाध्यारोपेण अव्यापकत्वं साधनस्येत्युपलब्धिसमार्थः। न्यायवा० ५।२।२७। न्यायसार पृ० २१। न्यायमं० पृ० ६३१। "विशिष्टहेतुना नित्यतावर्णनादोपोऽहेतुरिति उपलब्धिखण्डनमुच्यते ।" तर्कशा० पृ० १९। ३ "अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा ।" न्यायकलि० पृ० २०। न्यायमं० पृ० ६३१। न्यायसार पृ० २१। ४ "सर्वभावानित्यत्वप्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमः।... अविशेषसमैवेयं जातिरिति चेत्; तत्र हि सत्तायोगात् सर्वभावनामविशेष आपादितः इह तु घटसाधर्म्यादेव अनित्यत्वमापादितमिति उद्भावनभङ्गिभेदाच्च जातिनानात्वमिति ।" न्यायमं० पृ० ६३२। न्यायकलि० पृ० २०। "अविशेषसमातोऽनित्यसमा न भिद्यते तत्रापि सर्वाविशेष इहापीति । भिद्यते, तत्र सर्वाविशेष इह सर्वानित्यत्वमिति ।" न्यायवा० ५।१।३२। ५ अनित्यत्वेन ज० ।

"नित्यमनित्यभावाद् अनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः नित्यसमः ।" [न्यायसू० ५।१।३५] यथा 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते जातिवादी अनित्यत्वाख्यसाध्यधर्मस्वरूपविकल्पनेन शब्दस्य नित्यत्वमापादयति ; तथाहि–किमिदम् अनित्यत्वं शब्दस्य नित्यम्, अनित्यं वा ? यदि नित्यम् ; तर्हि धर्मस्य नित्यत्वात् तदाश्रयस्यापि शब्दस्य नित्यमनित्यभावाद् अनित्यधर्माधारतयाऽसत्त्वात् नित्यत्वम् । अथ अनित्यम् ; तत्रापि अनित्यत्वे अनित्ये सिद्धं नित्यत्वं शब्दस्य इति ।

"प्रयत्नकार्याऽनेकत्वात् कार्यसमः ।" [न्यायसू० ५।१।३७] यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्युक्ते परः प्रयत्नकार्याऽनेकत्वोपन्यासेन प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नस्य कार्य[३]-वैविध्यमुपलभ्यते, किञ्चिद् असदेव प्रयत्नेन अभिनिर्वर्त्यते यथा घटादि, किञ्चित् सदेव आवरणापनयनद्वारेण अभिव्यज्यते यथा काण्डपटाद्यावृतं घटादि, इति कथमतः शब्दस्य अनित्यता इति ?

सत्यवस्त्वप्रतिभासो विपरीतप्रतिभासश्च निग्रहस्थानम् । तथा च सूत्रम्–*"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।"* [न्यायसू० १।२।१९] विरुद्धा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः, तत्त्वप्रतिपत्तेरभावोऽप्रतिपत्तिः इति सकलनिग्रहस्थानानां सामान्यलक्षणमिदम् । तानि

---

१ अनित्यत्वसाध्यधर्मस्वरूपविकल्पनेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमः प्रतिषेधः ।" न्यायमं० पृ० ६३३ । न्यायकलि० पृ० २० । न्यायसार पृ० २२ । २ "प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमः ।...न चेयं संशयसमा जातिः; हेत्वर्थविकल्पनेन इह प्रत्यवस्थानात् । तथाहि–निरवयवत्वादाकाशसाधर्म्योपन्यासेन संशय आपादितः, इह तु साधनवाद्युक्तप्रयत्नानन्तरीयकत्वहेत्वर्थनिरूपणेनेति ।" न्यायमं० पृ० ६३४ । न्यायकलि० पृ० २१ । उपायहृदय पृ० २८ । "कार्यभेदात् घटवच्छब्द इति न वक्तव्यम्, एतत् कार्यभेदखण्डनमुच्यते ।" तर्कशा० पृ० २३ । ३–र्यद्वै वि–श्र० । ४ "विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः...अप्रतिपत्तिस्तु आरम्भविषयेऽप्यप्रारम्भः–परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति प्रतिषेधं वा नोद्धरति...।" न्यायभा० १।२।१९ । "निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाद्यवयवाश्रयाणि तत्त्ववादिनमतत्त्ववादिनञ्चाभिसम्प्लवन्ते ।" न्यायभा० ५।२।१ । निग्रहः पराजयः, तस्य स्थानमाश्रयः कारणमित्यर्थः । न्यायकलिका पृ० २१ । "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥" वादन्याय पृ० २ । "प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः । विब्रुवाणो ब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥ तस्मादेकस्य प्रकृतसिद्धेरेव परस्य निग्रहो न प्रकारान्तरेण ।" न्यायवि० वि० पृ० ५२७ उ० । "आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः । न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्त्तनम् ॥" न्यायवि० वि० पृ० ५३२ पू० । "तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः । स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ॥४६॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ ।

च द्वाविंशतिप्रकाराणि[1] भवन्ति–"*प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासन्न्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।*" [न्यायसू० ५।२।१] इति सूत्रकारवचनात् । तत्र[2] 'अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्' इति अप्रतिपत्त्या सङ्गृहीतानि, शेषाणि विप्रतिपत्त्या ।

तत्र प्रतिज्ञाहानेर्लक्षणम्–"*प्रतिदृष्टान्तधर्माऽनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः[3] ।*" [न्यायसू० ५।२।२] प्रतिज्ञासिद्धये वादिना साधने अभिहिते प्रतिवादिना च तत्र दूषणे, तृतीये वचसि वर्त्तमानो वादी यदि प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्ते अनुजानाति तदा अस्य प्रतिज्ञा हीयते इति प्रतिज्ञाहानिः । यथा 'अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वात् घटवत्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–'सामान्यम् ऐन्द्रियकं नित्यं दृष्टम् इत्यनैकान्तिकोऽयं हेतुः' इत्युक्ते साधनवादी आह–'यदि सामान्यम् ऐन्द्रियकं नित्यम्, कामं घटोऽपि तथास्तु' इति ।

"*प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्[4] ।*" [न्यायसू० ५।२।३]

---

१ "द्वाविंशतिविधा निग्रहस्थानापत्तिः–प्रतिज्ञाहानिः···।" तर्कशा० पृ०३३ । "निग्रहस्थानं नाम त्रिभिरभिहितस्य वाक्यस्यापरिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्याम्, यद्वा अननुयोज्यस्य अनुयोगः अनुयोज्यस्य चाननुयोगः । प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा कालातीतवचनमहेतवो न्यूनमतिरिक्तम् व्यर्थमपार्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानम् ।" चरकसं० पृ० २६७ । २ न्यायभाष्यकारेण मतानुज्ञाऽपि (१।२।२०) अप्रतिपत्त्या सङ्गृहीता । मञ्जरीकृता तु 'अननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्' इति पञ्चैव अप्रतिपत्तिरूपेण गणितानि (न्यायमं पृ० ६३९, न्यायकलि० पृ० २२) प्रकृते तु मञ्जरीकृतामेव मतं समादृतम् । ३ "साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्ते अभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः ।" न्यायभा० ५।२।२ । भाष्यकारीयव्याख्याने वार्तिककारस्य मतभेदः ; तथाहि–"एतत्तु न बुद्ध्यामहे कथमत्र प्रतिज्ञा हीयते इति ? हेतोरनैकान्तिकत्वं सामान्यदृष्टान्तेन परेण चोदिते तस्यानैकान्तिकदोषोद्धारमनुक्त्वा स्वदृष्टान्ते नित्यतां प्रतिपद्यते । नित्यताप्रतिपत्तेश्चासिद्धता दृष्टान्तदोषो भवति, सोऽयं दृष्टान्तदोषेण साधनदोषेण वा निग्रहो न प्रतिज्ञाहानिः ।···कथं तर्हि इदं सूत्रम्–'प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिरिति ? दृष्टश्चासौ अन्ते व्यवस्थितश्च इति दृष्टान्तः, स्वश्चासौ दृष्टान्तश्चेति, स्वदृष्टान्तशब्देन पक्ष एव अभिधीयते । प्रतिदृष्टान्तशब्देन च प्रतिपक्षः, प्रतिपक्षश्चासौ दृष्टान्तश्चेति । एतदुक्तं भवति–परपक्षस्य यो धर्मस्तं स्वपक्ष एवानुजानाति···एषा प्रतिज्ञाहानिः ।" न्यायवा० ५।२।२। "प्रतिज्ञासिद्धये वादिना साधनेऽभिहिते···।" न्यायमं० पृ० ६४० । न्यायसार पृ० २३ । "प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा पूर्वप्रतिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तः परित्यजति ।" चरकसं० पृ० २६६ । "स्वप्रतिज्ञायां प्रतिपक्षाभ्यनुज्ञेति प्रतिज्ञाहानिः ।" तर्कशा० पृ० ३३ । ४ "···अनित्यः शब्दः इति पूर्वा प्रतिज्ञा, असर्वगतः इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरम् । तत्कथं निग्रहस्थानमिति ? न प्रतिज्ञायाः साधनं प्रतिज्ञान्तरं

प्रतिज्ञातार्थस्य 'अनित्यः शब्दः' इत्यादेः ऐन्द्रिकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारप्रदर्शनेन प्रतिषेधे कृते तं दोषमनुद्धरन् धर्मविकल्पं करोति–किमयम् असर्वगतः शब्दः घटवत्, किं वा सर्वगतः सामान्यवत्? यदि असर्वगतः घटवत्; तर्हि तद्वदेव अनित्योऽस्तु, इति सोऽयम् 'अनित्यः शब्दः' इति पूर्वप्रतिज्ञातः 'असर्वगतः शब्दः' इति प्रतिज्ञान्तरं कुर्वन् निगृह्यते साधनसामर्थ्याऽपरिज्ञानात् इति।

"*प्रतिज्ञा-हेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः।*" [न्यायसू० ५।२।४] यत्र प्रतिज्ञा हेतुना विरुद्ध्यते हेतुर्वा प्रतिज्ञया स प्रतिज्ञाविरोधः। यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यम् रूपादिभ्यो भेदेनानुपलब्धेः इति।

"*पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्न्यासः।*" [न्यायसू० ५।२।५] यथा 'अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वात् घटवत्' इत्युक्ते पूर्ववत् सामान्येन अनैकान्तिकत्वे हेतोरुद्भाविते प्रतिज्ञासन्न्यासं करोति–'क एवम् आह अनित्यः शब्दः' इति।

"*अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्।*" [न्यायसू० ५।२।६] यथा एकप्रकृति इदं व्यक्तम् परिमाणात् घटादिवत्। परिमितत्वं हि घटादेः एकमृत्पूर्वकस्य दृष्टम्, तत् महदादिविकारजातेः प्रतीयमानम् एकप्रकृतिपूर्वकत्वं साधयति, इत्यस्य हेतोः व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम्–एकप्रकृतीनां नानाप्रकृतीनाञ्च दृष्टं परिमाणम् इत्यस्य हेतोरहेतुत्वे निश्चितेऽपि 'एकप्रकृतिसमन्वये सति विकाराणां परिमाणात्' इति तत्परिजिहीर्षया विशेषणमाह।

किन्तु हेतुदृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञायाः, तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति आनर्थक्यान्निग्रहस्थानमिति।" न्यायभा० ५।२।३। "तत्कथं निग्रहस्थानम्? साधनसामर्थ्यापरिज्ञानात्।" न्यायवा० ५।२।३। "प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते धर्मान्तरविकल्पादर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरमुच्यते।" तर्कशा० पृ० ३४।

१ "यत्र प्रतिज्ञा हेतुना विरुद्ध्यते हेतुश्च प्रतिज्ञया स प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानम्।...एतेनैव प्रतिज्ञाविरोधोऽप्युक्तः, यत्र प्रतिज्ञा स्ववचनेन विरुद्ध्यते यथा श्रमणा गर्भिणी। हेतुविरोधोऽपि... एतेन प्रतिज्ञया दृष्टान्तविरोधोऽपि वक्तव्यः।" न्यायवा० ५।२।४। न्यायमं० पृ० ६४३। "हेतुप्रतिज्ञयोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोध इत्युच्यते।" तर्कशा० पृ० ३५। २ तत्र भां०। ३ "यः प्रतिज्ञातमर्थं प्रतिषेधे कृते परित्यजति स प्रतिज्ञासन्न्यासो वेदितव्यः।...एतत्साधनसामर्थ्यापरिच्छेदात् विप्रतिपत्तितो निग्रहस्थानम्।" न्यायवा० ५।२।५। न्यायसार पृ० २४। न्यायमं० पृ० ६४४। न्यायकलि० पृ० २३। "परेण स्वप्रतिज्ञाप्रतिषेधे कृते सन्न्यासोऽसमर्थनेति प्रतिज्ञासन्न्यासः।" तर्कशा० पृ० ३५। ४ "साधनान्तरोपादाने पूर्वस्यासामर्थ्यख्यापनान्निग्रहस्थानमिति। सामर्थ्ये वा हेत्वन्तरं व्यर्थमिति।" न्यायवा० ५।२।६। "हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वाच्ये विकृतिहेतुमाह।" चरकसं० पृ० २६७। "अविशेषहेतौ स्थापिते पश्चाद्धेत्वन्तरोक्तिरिति हेत्वन्तरम्।" तर्कशा० पृ० ३६। ५ महादि–आ०। ६–त्वं प्रसा–ब०, ज०, भां०, श्र०।

"प्रकृतादर्थाद् अप्रतिसम्बद्धार्थम् अर्थान्तरम्[1] ।" [न्यायसू० ५।२।७] यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुना साध्यसिद्धौ प्रकृतायां 'प्रकृतं हेतुं प्रमाणसामर्थ्येन अहमसमर्थः समर्थयितुम्' इत्यवस्यन्नपि कथामपरित्यजन् अर्थान्तरं ब्रवीति–'नित्यः शब्दः अस्पर्शवत्त्वात् इति, हेतुश्च हिनोतेर्धातोः तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्, पदञ्च नाम[2]-आख्यात-उपसर्ग-निपाताः इति प्रकृत्य नामादीनि व्याचष्टे' इति ।

"वर्णक्रमनिर्देशवत् निरर्थकम्[3] ।" [न्यायसू० ५।२।८] अभिधेयरहितकेवलवर्णानुपूर्वीमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानम् । यथा अनित्यः शब्दः जबगडदत्वात्[4] घटधवत्[5] इति ।

"परिपत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमपि अविज्ञातम् अविज्ञातार्थम्[6] ।" [न्यायसू० ५।२।९] यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषदा प्रतिवादिना च न ज्ञायते 'अप्रसिसिद्धप्रयोगम् अतिद्रुतोच्चारितम्' इत्येवं प्रकारम् असामर्थ्यसंवरणाय धूर्त्तैराश्रीयते तद् अविज्ञातं नाम निग्रहस्थानम् ।

"पौर्वापर्यायोगात् अप्रतिसम्बद्धार्थम् अपार्थकम्[7] ।" [न्यायसू० ५।२।१०] पूर्वाप-

---

१ "यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात् नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वादिति हेतुः, हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोः तुनि प्रत्यये कृदन्तपदम्..." न्यायभा० ५।२।७ । "अभ्युपगतार्थासङ्गतत्वान्निग्रहस्थानं यदभ्युपगतं तत्सम्बद्धमन्यदसम्बद्धमुच्यते ।" न्यायवा० ५।२।७ । "प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति ।" न्यायमं० पृ० ६४५ । न्यायकलि० २३ । "अर्थान्तरं नाम यथा ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह ।" चरकसं० पृ० २६७ । "प्रकृतार्थाप्रतिसम्बद्धार्थाभिधानमर्थान्तरम् ।" तर्कशा० पृ० ३६ । २ समाख्यात–ब०, ज० । ३ "अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकम् ।" न्यायमं० ६४६ । न्यायकलि० पृ० २४ । न्यायसार पृ० २५ । "साधनमनुपादानादज्ञानमेवं ब्रुवन् न साध्यं जानीत इति न साध्यं न साधनञ्चोपादत्ते इति निगृह्यते ।" न्यायवा० ५।२।८ । "अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवत्, न चार्थतो गृह्यते ।" चरकसं० पृ० २६५ । "यदा वाद इष्टः तदा मन्त्रभाषणमिति निरर्थकम् ।" तर्कशा० पृ० ३६ । ४–दशत्वात् ब०, ज० । ५ सघधवत् ब०, ज० । झभघढधषवत् भां०, श्र० । ६ "यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिभिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातार्थम् । अविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानम् ।" न्यायभा० ५।२।९ । "निरर्थके सर्वेण सर्वमर्थशून्यता, इह तु भवन्नप्यर्थो नावगम्यते द्रुततोच्चारणादिव्यतिकरवशादिति ।" न्यायमं० पृ० ६४८ । "परिपत्प्रतिवादिभ्यां त्रिभिरभिहितमप्यविज्ञातमित्यविज्ञातार्थम् ।" तर्कशा० पृ० ३७ । ७ "यत्रानेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येण अन्वययोगो नास्ति इत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते, तत्समुदायार्थस्यापायादपार्थकम् ।" न्यायभा० ५।२।१० । "निरर्थकादपार्थकं न भिद्यते तत्राप्यर्थो न गम्यत इहापीति; भिद्यते इति ब्रूमः, तत्र हि वर्णमात्रम्, इह तु पदान्यसम्बद्धानि ।" न्यायवा० ५।२।१० ।" "अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थकम् ।" चरकसं० पृ० २६६ । "पौर्वापर्यासम्बद्धोऽपार्थकम् ।" तर्कशा० पृ० ३७ ।

राऽसङ्गतपदकदम्बो[1]च्चारणाद् अप्रतिष्ठितवाक्यार्थम् अपार्थकं नाम निग्रहस्थानम्। यथा दश[2] दाडिमानि, षड् अपूपाः, कुण्डम्, अजाऽजिनम्, पललपिण्डः इत्यादि।

"*अवयवविपर्यासवचनम् अप्राप्तकालम्*[3] *।*" [न्यायसू० ५।२।११] अवयवानां प्रतिज्ञादीनां विपर्यासेन यथाक्रमोल्लङ्घनेन प्रयुज्यमानम् अनुमानवाक्यम् अप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति।

"*हीनमन्यतमेनापि अवयवेन न्यूनम्*[4] *।*" [न्यायसू० ५।२।१२] पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनापि अवयवेन हीनं प्रयुञ्जानस्य न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति।

"*हेतूदाहरणाधिकम् अधिकम्*[5] *।*" [न्यायसू० ५।२।१३] एकेनैव हेतुना दृष्टान्तेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरं दृष्टान्तान्तरं वा प्रयुञ्जानस्य अधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति।

"*शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम्*[6] *अन्यत्राऽनुवादात्।*" [न्यायसू० ५।२।१४] शब्दस्य अर्थस्य च[7] अभिहितस्य पुनरभिधानं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानम् अनुवादं वर्जयित्वा। तत्र शब्दपुनरुक्तम्–'अनित्यः शब्दः, अनित्य शब्दः' इति। अर्थपुनरुक्तम्–'अनित्यः शब्दः, निरोधधर्मको ध्वनिः' इति। अनुवादे पौनरुक्त्यं न दोषाय, यथा हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति। "*अर्थादापन्नस्य*[8] *स्वशब्देन पुनर्वचनम्।*" [न्यायसू० ५।२।१५] पुनरुक्तम्–यथा 'उत्पत्तिधर्मकम् अनित्यम्' इत्यभिधाय अर्थादापन्नस्य अर्थस्य योऽभिधायकः शब्दः तेन[9] स्वशब्देन ब्रूयात् 'नित्यम् अनुत्पत्तिधर्मकम्' इति।

"*विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्यापि अप्रत्युच्चारणम् अननुभाषणम्*[10] *।*" [न्याय-

---

१–कदम्बको–ब०, ज०। २ "यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनम् पललपिण्डः अधोरुकमेतत् कुमार्याः स्फयैकृतस्य पिता अप्रतिशीनः इति।" पात० महाभा० १।२।४५। न्यायभा० ५।२।१०। न्यायप्रवेशवृ० पृ०''' । ३ "प्रतिज्ञायां दुष्टायां पश्चाद्धेतुस्थापनमप्राप्तकालम्।" तर्कशा० पृ० ३७। ४ "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति।" चरकसं० पृ० २६५। "पञ्चावयवा अन्यतमेन हीना न्यूनम्।" तर्कशा० पृ० ३७। "तत्कथं निग्रहस्थानम्? न साधनाभावे साध्यसिद्धिरिति।" न्यायवा० ५।२।१२। ५ "अधिकं नाम यदायुर्वेदे भाषमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वाऽप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते।" चरकसं० पृ० २६५।" बहुहेतूदाहरणोक्तिरधिकम्।" तर्कशा० पृ० ३८। ६ "यद्वा पुनः प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तदोषादधिकम्। तच्च पुनरुक्तं द्विविधम्–अर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तं च।" चरकसं० पृ० २६५। "पुनरुक्तं त्रिविधम्–शब्दपुनरुक्तम्, अर्थपुनरुक्तम्, अर्थापत्तिपुनरुक्तं च।" तर्कशा० पृ० ३८। ७ वा ब०, ज०। ८–स्य च शब्दस्य स्व–भां०, श्र०। ९ तेन शब्देन ब्रू–ब०, ज०। तेन ब्रू–आ०। "तेन स्वशब्देन ब्रूयात्" न्यायभा० ५।२।१४। १० "परिषदा विज्ञातायाः प्रतिज्ञायाः त्रिरभिहिताया अपि यदि कश्चित्प्रत्युच्चारणासमर्थः तदाऽननुभाषणम्।" तर्कशा० पृ० ३९।

सू० ५।२।१६] परिषदा विदितस्य वादिना त्रिरुच्चरितस्यापि यद् अप्रत्युच्चारणं तद् अननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति, अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं दूषणमभिदध्यात् इति ?

"*अविज्ञातञ्च अज्ञानम्*[1] ।" [न्यायसू० ५।२।१७] परिषदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यस्य प्रतिवादिना यद् अविज्ञानं तद् अज्ञानं नाम निग्रहस्थानम्। अजानन् कस्य प्रतिषेधं कुर्यात् इति ?

"*उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिः अप्रतिभा*[2] ।" [न्यायसू० ५।२।१८] परपक्षप्रतिषेधः उत्तरम्, तद् यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो वेदितव्यः ।

"*कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः*[3] ।" [न्यायसू० ५।२।१९] वादमुपक्रम्य सिसाधयिषितस्यार्थस्य अशक्यसाध्यतामवसाय कालयापनार्थं यत्र कर्त्तव्यं व्यासज्य कथां विच्छिनत्ति–'इदं मे करणीयं परिहीयते तस्मिन्नवसिते पश्चात् कथयामि' इति, स विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम् ।

"*स्वपक्षे दोषाऽभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा*[4] ।" [न्यायसू० ५।२।२०] यः परेण आपादितं दोषमनुद्धृत्य अभ्युपगम्य च ब्रवीति–'भवत्पक्षेऽप्ययं दोषः समानः' इति सः परमतानुज्ञानात् मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानम् आपद्यते। यथा 'चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवत्' इत्युक्ते स आह–'भवानपि चौरः पुरुषत्वाऽविशेषात्' इति ।

"*निग्रहप्राप्तस्य अनिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम्*[5] ।" [न्यायसू० ५।२।२१] पर्य्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः–'इदं ते निग्रहस्थानम् आयातम् अतो निगृहीतोऽसि' इति

---

१ "परिषदा विज्ञाताया अपि प्रतिज्ञाया केनचिदविज्ञानमज्ञानमुच्यते ।" तर्कशा० पृ० ३९ । "अप्रतिपत्तितो निग्रहस्थानम् ।" न्यायवा० ५।२।१८ । २ "यदि परस्य प्रतिज्ञां न्यायवदीक्षते दूषणे चासमर्थस्तदाऽप्रतिभा ।" तर्कशा० पृ० ३९ । "उत्तरविषयाऽप्रतिपत्तिरज्ञानम्, प्रतिपत्तावपि तदप्रत्युच्चारणमननुभाषणम्, अनुभाषितेऽपि उत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।" न्यायमं० पृ० ६५३ । ३ "स्वप्रतिज्ञाया दोषं ज्ञात्वा व्याजैः परिहारः कार्यान्तरकथनम् ।" तर्कशा० पृ० ३९ । ४ "यः परेण चोदितं दोषमनुद्धृत्य भवतोऽप्ययं दोष इति ब्रवीति सा मतानुज्ञा, परमतं स्वमतेऽनुजानाति । उदाहरणं भवांश्चौरः पुरुषत्वादिति । स तं प्रति ब्रूयात्–भवानपीति, सोऽभ्युपगम्य दोषं परपक्षेऽभ्यनुजानातीति निगृहीतो वेदितव्यः ।" न्यायवा० ५।२।२१। न्यायमं० पृ० ६५५ । "परदूषणे स्वपक्षदोषाभ्युपगम इति मतानुज्ञा ।" तर्कशा० पृ० ३९ । ५ "पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः…।" न्यायभा० ५।२।२१ । न्यायमं० पृ० ६५६। "यदि कश्चिन्निग्रहस्थानं प्राप्नुयात्, तस्य निग्रहापत्त्यनुद्भावनं तद्दूषणेच्छया तु दूषणस्थापनम्। तदर्थे च हीने किं प्रयोजनं दूषणेन ? असिद्धमेतत् दूषणम्। एतदुच्यते पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।" तर्कशा० पृ० ४० ।

वचनीयः, तं यः उपेक्षते नाऽनुयुङ्क्ते, स पर्य्यनुयोज्योपेक्षणात् निगृह्यते। एतच्च[1] 'कस्य पराजयः' इति अनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्, न खलु निग्रहप्राप्तः स्वं कौपीनं विवृणुयादिति।

"*अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निर[2]नुयोज्यानुयोगः।*" [न्यायसू० ५।२।२२] उपपन्नवादिनम् अनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसि' इति यो ब्रूयात् स अभूतदोषोद्भावनात् निगृह्यत इति।

"*सिद्धान्तमभ्युपेत्य अनियमात् कथाप्रसङ्गः [3]अपसिद्धान्तः।*" [न्यायसू० ५।२।२३] यः पूर्वं कञ्चन सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथायां प्रवृत्तः सिसाधयिषितार्थसमर्थनरभसेन दूषणोद्धरणरभसेन वा स्वसिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते स अपसिद्धान्तेन निगृह्यते। यथा नित्यान् प्रतिज्ञाय शब्दादीन् पुनः अनित्यान् ब्रूते इति।

"*हेत्[4]वाभासाश्च यथोक्ताः।*" [न्यायसू० ५।२।२४] यथोक्ताः पूर्वोक्तलक्षणैर्लक्षिताः हेत्वाभासाः पञ्च, असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः निग्र[5]हस्थानं भव[6]न्तीति।

षोडशपदार्थानां विशदतया प्रतिविधानम्, धर्माऽधर्मद्रव्ययोः गतिस्थितिसाधारणहेतुतया पृथक् द्रव्यत्वसिद्धिश्च—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[7]—'प्रमाण' इत्यादि; तदविचारितरमणीयम्; भवत्परिकल्पितानां प्रमाणादिषोडशपदार्थानां स्वरूपतः प्रमाणेन विचार्यमाणानामघटमानत्वेन तत्तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसप्राप्त्यनुपपत्तेः। यत् स्वरूपतः प्रमाणेन विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत्तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसप्राप्तिः यथा तथाविधाद् इन्दुद्वयस्वरूपज्ञानात्, नोपपद्यन्ते च स्वरूपेण प्रमाणतो विचार्यमाणा भवत्परिकल्पिताः षोडशपदार्था इति। न च स्वरूपतः प्रमाणेन विचार्यमाणानां तेषामघटमानत्वमसिद्धम्; तथाहि—य[8]त्तावद् भवद्भिः सकलपदार्थानां गरिष्ठत्वात् प्रथमतः प्रमाणपदार्थः प्रतिपादितः; स यथा स्वरूपतः प्रमाणेन विचार्यमाणो नोपपद्यते तथा प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपनिरूपणावसरे प्रपञ्चितम्[9], अनुमानादिप्रमाणस्वरूपनिरूपणप्रघट्टके प्रपञ्चयिष्यते च।

---

१ "एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्, न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वं कौपीनं विवृणुयादिति।" न्यायभा० ५।२।२१। २ "कस्यचिदनिग्राह्यत्वेऽपि निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः।" तर्कशा० पृ० ४०। "भूतदोषाऽप्रतिपत्तिरप्रतिभा, अभूतदोषप्रतिपत्तिरननुयोज्यानुयोगः।" न्यायमं० पृ० ६५७। ३ "पूर्वं चतुर्विधे सिद्धान्ते स्वयमङ्गीकृतेऽपि पश्चाच्चेद्यथासिद्धान्तं न ब्रूयादयमपसिद्धान्तः।" तर्कशा० पृ० ४०। ४ "यथा पूर्वमुक्ताः त्रिविधाः असिद्धोऽनैकान्तिको विरुद्धश्चेति हेत्वाभासाः।" तर्कशा० पृ० ४०। ५ एतेषां निग्रहस्थानानां विशेषविवरणं तत्तन्न्यायसूत्रीयभाष्यवार्तिक-तात्पर्यटीकासु, न्यायसारे (पृ० २३-२८), न्यायमञ्जर्यां (पृ० ६३८-६५९) न्यायकलिकायाश्च (पृ० २२-२७) द्रष्टव्यम्। प्रकृते च न्यायमञ्जर्येव विशेषतो ग्रन्थकृता अनुसृता। ६-वतीति श्र०। ७ पृ० ३०९ पं० १७। ८ यद्भव—ब०, ज०। पृ० ३०९ पं० १९। "यत्तावद् भवद्भिः सकलपदार्थानां गरिष्ठत्वात् प्रथमतः…।" स्या०रत्ना०पृ० ९७५-७६। ९ पृ० ७७।

अतो भवत्परिकल्पितप्रमाणपदार्थस्य अव्यवस्थितेः कथं तत्परिच्छेद्यत्वेन आत्मादिप्रमेयतत्त्वं व्यवतिष्ठते ? यथा च आत्मा नित्यव्यापित्वादिरूपो भवत्परिकल्पितो न व्यवतिष्ठते तथा[1] षट्पदार्थपरीक्षाप्रघट्टके प्रतिपादितम्[2] । शरीरञ्च स्वारम्भकाऽवयवेभ्योऽर्थान्तरम् अवयविनिराकरणादेव निराकृतम् । 'भौतिकानि प्राप्यकारीणि इन्द्रियाणि, बुद्ध्यन्तरवेद्या बुद्धिः, अणु मनश्च' इति त्रितयमपि प्रागेव[3] अपास्तम् । आत्मगुणत्वेन भवत्परिकल्पितयोर्धर्माऽधर्मयोरप्यव्यवस्थितेः तद्रूपा प्रवृत्तिरपि अव्यवस्थितैव । तद्गुणत्वेन अनयोरव्यवस्थितिश्च आत्मद्रव्यविचारावसरे प्रतिपादिता[4] । प्रेत्यभावश्च आत्मनो व्यापिनः स्वदेहप्रमितौ[5] प्रत्याख्यातः । दोषफल-दुःखानाम् आत्मगुणानां गुणपदार्थविचारावसरे[6] निराकृतिः कृता । अपवर्गश्च भवत्कल्पितो मोक्षस्वरूपनिरूपणप्रघट्टके प्रतिपेत्स्यते । तन्न द्वादशविधं प्रमेयमवतिष्ठते ।

किञ्च, अस्य[7] द्वादशविधत्वावधारणं तावत्येव प्रमाणव्यापारपरिसमाप्तेः, प्रयोजनपरिसमाप्तेर्वा स्यात् ? तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; दिक्-काल-आकाश-पृथिव्यादिप्रपञ्चेऽपि प्रमाणव्यापारप्रतीतेः । न च तत्प्रपञ्चस्य अत्रैव अन्तर्भावः इत्यभिधातव्यम्; ततोऽस्य अत्यन्तविलक्षणत्वात् । यद् यतोऽत्यन्तविलक्षणम् न तत् तत्र अन्तर्भवति यथा जलेऽनलः, अत्यन्तविलक्षणाश्च आकाशादयो भावा भवत्परिकल्पितद्वादशविधप्रमेयपदार्थात् इति । तथाविधानामप्येषामत्रान्तर्भावे आत्मन्येव अशेषपदार्थानामन्तर्भावात् ब्रह्माऽद्वैतप्रसङ्गतो गता षोडशपदार्थ[8]परिकल्पना । द्वितीयपक्षेऽपि कस्य प्रयोजनस्य अत्रैव परिसमाप्तिः–लौकिकस्य, अपवर्गलक्षणस्य, प्रयोजनमात्रस्य वा ? न तावल्लौकिकस्य; तत्प्रयोजनप्रसाधकानां घट-पट-मुकुट-शकट-अन्नपानादीनामत्राऽसङ्ग्रहात् । नापि अपवर्गलक्षणस्य; तत्प्रयोजनोत्पादकानां[9] दीक्षा-तपोध्यानादीनाम् [10]अत्राऽसङ्ग्रहात् । नापि प्रयोजनमात्रस्य; लौकिकेतरप्रयोजनातिरिक्तस्य प्रयोजनमात्रस्यैवासंभवात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

"ज्ञानं (तं) सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा ।
तत्प्रमेयमिहाऽभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४२७]

सत्येतरज्ञानपरिच्छेद्यस्य अखिलस्य प्रमेयराशेः द्वादशविधे प्रमेये सङ्गृहीतुमशक्यत्वात् ।

पदार्थसंख्यायां संशयपरिगणने च[11]"विपर्यय-अनध्यवसाययोरपि"[12] परिगणनप्रसङ्गः । न्यायप्रवृत्त्यङ्गत्वात् तस्यैव परिगणने अनुग्रहेच्छा-पराभिभवाभिलाष-लाभ-पूजा-ख्यात्यादेरपि परिग-

१–था प्रत्यक्षप्रमाणप–ब०, ज० । २ पृ० २६१ । ३ पृ० ७७ । पृ० १८३ । पृ० २६९ । ४ पृ० २६३ । ५ पृ० २६८ । ६ पृ० २७५ । ७ "अपि चास्य द्वादशविधत्वावधारणं तावत्येव प्रमाणव्यापारपरिसमाप्तेः प्रयोजनपरिसमाप्तेर्वा स्यात्... ।" स्या० रत्ना० पृ० ९७६ । ८–र्थकल्पना ब०, ज० । ९ तत्प्रसाधकानाम् ब०, ज०, भां०, श्र० । १० अत्र सङ्ग्रहाभावात् ब०, ज०, भां० । ११ "विपर्ययानध्यवसाययोश्च प्रमाणादिषोडशपदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयोः प्रतीतेः ।" प्रमेयक० पृ० १८९ पू० । स्या० रत्ना० पृ० ९७६ । १२–पि गण–आ० ।

णनप्रसङ्गः तत्प्रवृत्त्यङ्गत्वाऽविशेषात्। किञ्च, जरन्नैयायिकैः[1] प्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकवत् 'जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदासः' इत्यन्येऽपि अवयवाः पञ्च प्रतिज्ञाताः। तेषाञ्च मध्ये भवता किमिति संशय-प्रयोजने एव गृह्येते ?

दृष्टान्तोऽपि न उदाहरणादन्यः। ततश्चास्य पृथगभिधाने सर्वेषामपि अवयवानां पृथगभिधानप्रसङ्गः अविशेषात्।

सिद्धान्तोऽपि प्रतिज्ञातो नाऽर्थान्तरम्। अतोऽस्य पृथग् लक्षणाभिधानमनर्थकम्। सर्वैरेव हि शास्त्रकारैः अपसिद्धान्तं ब्रुवाणो निगृह्यते, न च सिद्धान्तलक्षणं प्रतिज्ञातः पृथक् तैः क्रियते, तस्या एव सिद्धान्तत्वेन सर्वेषां सुप्रसिद्धत्वात्।

अवयवानाञ्च पदार्थसंख्यायां परिगणने अनुमानस्यापि पृथक् परिगणनप्रसङ्गः। तस्य प्रमाणान्तर्गतत्वात् पृथगपरिगणने अवयवानामपि अनुमानात्मकत्वान्न पृथक् परिगणनं स्यात्। 'प्रधानभूतञ्च अनुमानं प्रमाणान्तर्गतत्वान्न पृथगुपादीयते तदन्तर्भूतास्तु अवयवाः पृथगुपादीयन्ते' इति महती प्रेक्षापूर्वकारिता ! उपादानेऽप्येषाम् इयत्तोऽवधारणमयुक्तम्[2]; यावद्भिर्विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावतामेव उपादानार्हत्वात्, सा च कचित् कियद्भिर्भवतीति।

तर्कस्य[3] च प्रमाणविषयपरिशोधकत्वम्-तत्तिरोधायकाद्यपनेतृत्वम्, संशयादिव्यवच्छेदेन तन्निश्चायकत्वम्, तद्ग्रहणे प्रवृत्तस्य प्रमाणस्य अग्रेसरतया तत्स्वरूपविवेचनमात्रं वा ? प्रथमपक्षे प्रतीतिविरोधः; घटादितिरोधायकस्य अन्धकारादेः तर्काद् अपनयनाऽप्रतीतेः। द्वितीयतृतीयपक्षेऽपि अप्रमाणात्मकोऽसौ तथा तन्निश्चयं तद्विवेचनमात्रञ्च कुर्यात्, प्रमाणात्मको वा ? न तावद् अप्रमाणात्मकः; प्रमाणविषयस्य अप्रमाणात्मना तेन परिशोधनाऽनुपपत्तेः। यद् अप्रमाणं न तत् प्रमाणविषयपरिशोधकम् यथा मिथ्याज्ञानम् प्रमेयो वाऽर्थः, अप्रमाणञ्च भवद्भिः परिकल्पितः तर्क इति। तत्परिशोधकत्वे वा अस्य प्रमाणत्वप्रसङ्गः; यत् प्रमाणविषयपरिशोधकम् तत् प्रमाणम् यथा अनुमानादि, प्रमाणविषयपरिशोधकश्च भवद्भिः परिकल्पितः तर्क इति। अस्तु तर्हि प्रमाणात्मक एवासौ इति चेत्; न; 'चत्वारि एव प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातप्रसक्तेः।

निर्णयश्च प्रमाणफलम्, तच्च सति प्रमाणे अवश्यं भवति इति न किञ्चित् तस्य पृथगुपादाने प्रयोजनम्, अन्यथा हान-उपादानादेरपि पृथगुपादानप्रसङ्गः प्रमाणफलत्वाऽविशेषात्।

---

१ "दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते-जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदास इति।…" न्यायभा० १।१।३२। न्यायमं० पृ० ५७०। जिज्ञासाप्रयोजनसंशयार्थप्राप्तीनां वादमार्गज्ञानाधिगम्यपदार्थरूपतया उल्लेखः चरकसंहितायामपि (पृ० २६२) दृश्यते। २ इयत्त्वा- ज०। ३ "तच्च प्रमाणविषयतिरोधायकापनेतृत्वम्, संशयादिव्यवच्छेदेन तन्निश्चायकत्वम्, तद्ग्रहणे प्रवृत्तस्य प्रमाणस्य अग्रेसरतया तत्स्वरूपविवेचनमात्रं वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ९७७।

यदपि 'वीतरागकथा' इत्यादि वादस्य लक्षणम्; तदप्यनुपपन्नम्; तस्य वीतरागविषयत्वाऽसंभवात्; तथाहि–वादो न अविजिगीषुविषयः निग्रहस्थानवत्त्वात् जल्प-वितण्डावत्। न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम्; न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-हेत्वाभासपञ्चकलक्षणाऽष्टनिग्रहस्थानानां तत्र सद्भावात्। सतामप्येषां निग्रहबुद्ध्या उद्भावनाऽभावात् न वादे विजिगीषुविषयता; इत्यप्यसाम्प्रतम्; जल्प-वितण्डयोरपि तथोद्भावनाऽभावप्रसङ्गतोऽविजिगीषुविषयताप्रसक्तेः। तत्र छलादिप्रयोगसंभवात् न तथोद्भावनाभावः इति चेत्; ननु वादे कुतस्तत्प्रयोगाऽभावः? तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहितत्वाच्चेत्, जल्पवितण्डे हि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थे अतः तयोरेव तत्प्रयोगो न वादे इति; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; छलादीनामसदुत्तरतया तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणहेतुत्वाऽनुपपत्तेः। परस्य तूष्णींभावनिमित्तत्वात् तेषां तद्धेतुत्वमुपपन्नम्; इत्यप्यसत्; तथा परस्य तूष्णींभावाऽसंभवात्, असदुत्तराणामानन्त्यात्। तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहितत्वञ्च वादेऽसिद्धम्; तस्यैव तत्संरक्षणार्थत्वोपपत्तेः। तथाहि–वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वे सिद्धान्ताऽविरुद्धत्वे पञ्चावयवोपपन्नत्वे च सति पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्, यस्तु न तथा स न तथा यथा आक्रोशादिः, यथोक्तविशेषणश्च वादः, तस्मात् तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ इति।

न चायमसिद्धो हेतुः; "*प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।*" [न्यायसू० १।२।१] इत्यभिधानात्। 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्' इत्युच्यमाने जल्पस्यापि तथात्वप्रसङ्गाद् अवधारणविरोधः स्यात्, तत्परिहारार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणम्। नहि जल्पे तत्संभवति–"*यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः जल्पः।*" [न्यायसू० १।२।२] इति वचनात्। नापि वितण्डा तथाऽनुषज्यते; जल्पस्यैव वितण्डारूपत्वात्, "*स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।*" [न्यायसू० १।२।३] इत्यभिधानात्। ततः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणस्य पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य जल्प-वितण्डयोरभावात् सिद्धं वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वम्। तत्त्वस्य अध्यवसायो हि निश्चयः, तस्य संरक्षणम्–न्यायबलात् निखिलबाधकनिराकरणम्, न पुनः तत्र बाधकमुद्भावयतो यथाकथञ्चित् निर्मुखीकरणम् लकुटचपेटादिभिस्तन्न्यक्कारस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वाऽ-

---

१ "वादो जिगीषितोरेव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वात् अन्यथा तदनुपपत्तेः··· निग्रहस्थानवत्त्वाच्च।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९। प्रमेयक० पृ० १९४ उ०। २–णार्थरहि–ब०, ज०। ३ तदध्य–भां, श्र०। ४ "वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः···।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७८। प्रमेयक० पृ० १९५ पू०। ५ तथा आक्रो–आ०। ६ अवसायः ज०, श्र०। "तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्त्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत्; नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्, तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।" वादन्याय पृ० ७१। ७ तन्न्यकरण–ब०, ज०, भां०, श्र०।

नुपङ्गात्। न च जल्पवितण्डाभ्यां निखिलबाधकनिराकरणं[1] कर्त्तुं शक्यम् छलाद्युपक्रमपरतया ताभ्यां संशयस्य विपर्ययस्य वा जननात्। तत्त्वाध्यवसाये सत्यपि हि परनिर्मुखीकरण[2]प्रवृत्तौ प्राश्निकाः तत्र संशेरते विपर्यस्यन्ति वा–'किमस्य तत्त्वाध्यवसायोऽस्ति किंवा नास्ति' इति,'नास्त्येव' इति वा। पर[3]निर्मुखीकरणमात्रे तत्त्वाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्त्युपल[4]म्भात् तत्त्वोपप्लववादिवत्। ततो वाद एव एकः कथाविशेषः तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणफलः लाभपूजाख्यातिहेतुः निःश्रेयसशास्त्रे अभ्युपगन्तव्यः न पुनर्जल्पवितण्डे तद्विपर्ययात्। एतच्च प्र[5]मेयकमलमार्त्तण्डे स[6]प्रपञ्चं प्रपञ्चितम् इह द्रष्टव्यम्।

हेत्वाभासाश्च अस्माकमभिमता एव,किन्तु तैः मोक्षशास्त्रे निर्दिष्टैः न किञ्चित् प्रयोजनम्, अन्यथा प्रत्यक्षाद्याभासानामपि निर्देशप्रसङ्गात् षोडशपदार्थसंख्याक्षतिप्रसङ्गः। प्रत्यक्षादिप्रमाणनिर्देशसामर्थ्यादेव तदाभासानां लब्धत्वादनिर्देशे अवयवनिर्देशसामर्थ्यादेव हेत्वाभासानामपि लब्धत्वादनिर्देशोऽस्तु अविशेषात्।

छ[7]लानि तु बालक्रीडाप्रायाणि न प्रामाणिकानां निःश्रेयसार्थिनामवलम्बयितुमुचितानि।

जातयस्तु दूषणाभासा हेत्वाभासैरेव सङ्गृहीताः किमिति अतः पृथगुच्यन्ते, न च एतासामियत्ता कर्त्तुं पार्यते, युष्माभिरपि आसामानन्त्येन[8] अभ्युपगमात्। यदाह [11]भाष्यकारः–"*सत्यपि आनन्त्ये जातीनामसंकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिप्रकारा उच्यन्ते न संख्यानियमः क्रियते।*" [न्यायमं० पृ० ६२२] इति। परस्परविवेकेन उपलक्षणार्थं तर्हि तासामुपादानम्; इत्यप्ययुक्तम्; उपात्तानां परस्परविवेकेन उपलक्षणेऽपि अनुपात्तानामुपलक्षणाऽसंभवात्। कतिपयतत्प्रकाराणां तद्विवेकेन उपलक्षणार्थं तल्लक्षणप्रणयने च "[12]*मिथ्योत्तरं जातिः*" [न्यायविनि० २।२०२] [13]इत्येतावल्लक्षणं प्रणेतव्यम् सकलतद्व्यक्तिव्यापकत्वात्।

एवं निग्रहस्थानानामपि अनन्तत्वात् न इयत्ता कर्तुं शक्या। तदानन्त्यं च भवद्भिरेव अभिप्रेतम्–"*विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिप्रकारस्य बहुत्वेऽपि द्वाविंशतिर्निग्रहस्थानानि प्रदर्श्यन्ते*" [ ]

१–णं शक्यं–आ०। २–करणे प्रवृ–श्र०। ३ "परनिर्मुखीकरणमात्रे तथाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्तिदर्शनात् तत्त्वोपप्लववादिवत्।…" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९। ४–लम्भात् ततो–आ०। ५ पृ० १९४। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकेऽपि (पृ० २७८)। ६ सप्रपञ्चमिह उह्यन्ते भां०। सप्रपञ्चितम् इ–आ०, ब०, ज०। ७ छलादीनि ब०, ज०, भां०। ८–च्यते आ०, ब०, ज०। –ह्यन्ते श्र०। ९ "मिथ्योत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः। साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते॥२०६॥" न्यायवि० द्वि० परि०, पृ० ५२७ उ०। १० "तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्।" न्यायसू० १।२।२०। ११ भाष्ये नोपलब्धमिदं वाक्यम्। न्यायमञ्जर्यां तु (पृ० ६२२) 'सत्यप्यानन्त्ये जातीनामसंकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिप्रकारत्वमुपवर्णितं न तु तत्संख्यानियमः कृतः' इत्यस्ति। १२ "तत्र मिथ्योत्तरं जातिः यथानेकान्तविद्विषाम्। दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम्॥" न्यायवि० पृ० ५२६ उ०। प्रमाणसं० परि० ६। १३ इत्येतावदेव तल्लक्ष–श्र०।

इति भाष्य[1]कारवचनात्। यच्च छलजातिनिग्रहस्थानानां प्रत्येकं दूषणं तत् प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् इह द्रष्टव्यम्। तदेवं षोडशपदार्थानां विचार्यमाणानामव्यवस्थितेर्न यौगानां षट्पदार्थनियमवत् षोडशपदार्थनियमोऽपि उपपन्नः।

धर्माऽधर्मद्रव्ययोः तदर्थान्तरभूतयोः सद्भावाच्च। कुतः प्रमाणात् तत्सिद्धिरितिचेत्? 'अनुमानात्' इति ब्रूमः। तथाहि–विवादापन्नाः सक[3]लजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः युगपद्भाविगतित्वात् एकसरस्सलिलादिना अनेकमत्स्यादिगतिवत्। तथा, सक[4]लजीवपुद्गलस्थितयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः युगपद्भाविस्थितित्वात् एककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत्। यत् तत्साधारणं निमित्तम् स धर्मः अधर्मश्च, ताभ्यां विना तद्गतिस्थितिकार्योऽनु[5]त्पत्तेः।

गतिस्थितिपरिणामिन एव अर्थाः परस्परं तद्धे[6]तवश्चेत्; न; अन्योन्याश्रयाऽनुषङ्गात्–सिद्धायां हि तिष्ठत्पदार्थेभ्यो गच्छत्पदार्थानां गतौ तेभ्यः तिष्ठत्पदार्थानां स्थितिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च गच्छत्पदार्थानां गतिसिद्धिरिति। साधारणनिमित्तरहिता एव अखिलार्थगतिस्थितयः प्रतिनियतस्वकारणपूर्वकत्वात् इति चेत्; कथमिदानीम् ईश्वर अङ्कुरादिकार्योत्पत्तौ, नर्त्तकीक्षणो वा निखिलप्रेक्षकजनानां नानातद्वेदनोत्पत्तौ साधारणं निमित्तं स्यात्? तल्लक्षणसाधारणनिमित्तमन्तरेण तदुपपत्त्यनुपपत्तेः इति चेत्; तदेतद् अन्यत्रापि समानम्, नहि सकलार्थगतिस्थितयोऽपि सकृद्भाविन्यो धर्माऽधर्मलक्षणसाधारणनिमित्तमन्तरेण उपपद्यन्ते, सकृद्भाविकार्यत्वात्, यत् सकृद्भावि कार्यम् तन्न साधारणनिमित्तमन्तरेण उपपद्यते यथा अङ्कुरादि, तथाभूताश्चैताः सकलार्थगतिस्थितय इति। ईश्वर एव आसां साधारणनिमित्तमस्तु, इत्यप्य-

---

१ भाष्ये नोपलब्धं वाक्यमिदम्। "सामान्यमधिकृत्य निग्रहस्थाने द्वे। भेदविस्तरविवक्षायां तु द्वाविंशतिधा भेदः। उदाहरणमात्रत्वाच्च भेदस्य आनन्त्यमिति।" न्यायवा० ५।२।१। "असंकीर्णोदाहरणविवक्षया च द्वाविंशतिभेदसंकीर्त्तनम् अवान्तरभेदैस्तु जातिवदानन्त्यमेव तेषामिति।" न्यायमं० पृ० ६३९। २ पृ० १९५–२०४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१–३११। निग्रहस्थानानां खण्डनं तु वादन्यायेऽपि (पृ०७४–१४२) द्रष्टव्यम्। एतदर्थं सिद्धिविनिश्चयटीकायाः जल्पसिद्धिनामकं प्रकरणमपि समवलोकनीयम्। ३ "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।" तत्त्वार्थसू० ५।१७। "उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए। तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥" पञ्चास्ति०। "धम्मत्थिकाए णं जीवाणं आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगा वइजोगा कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति। गइलक्खणेणं धम्मत्थिकाए।" व्या० प्रज्ञ० १३।४।४८१। ४ "जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं। ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं दु पुढवीव ॥ ८६ ॥" पञ्चास्ति०। "अहमत्थिकाएणं किं पवत्तति? गोयमा। अहमत्थिकाएणं जीवाणं ठाणनिसीयणतुयट्टणमणस्सय एगत्तीभावकरणता जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहमत्थिकाए पवत्तंति। ठाणलक्खणेणं अहमत्थिकाए।" व्या० प्रज्ञ० १३।४।४८१। ५–नुपपत्तेः ज०, श्र०। ६ तद्धेतुश्चेत् आ०।

युक्तम्; तत्र गतिस्थितीनामसंभवात्, भूम्यादौ तद्दर्शनात्। तर्हि स एव तासां तन्निमित्तमस्तु इत्यप्यनुपपन्नम्; गगनवर्तिपदार्थगतिस्थितीनां तदसंभवात्। तर्हि नभः साधारणं निमित्तमासामस्तु सर्वत्र तत्संभवात्; इत्यप्यपेशलम्; तस्य अवगाहनिमित्तत्वप्रतिपादनात्। तस्य एकस्यैव अनेककार्यनिमित्ततायाम् अनेकसर्वगतपदार्थपरिकल्पनाऽनर्थक्यप्रसङ्गः; काल-आत्म-दिक्-सामान्य-समवायकार्यस्यापि यौगपद्यादिप्रत्ययस्य, बुद्ध्यादेः, 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादि प्रत्ययस्य, अन्वयज्ञानस्य, 'इहेदम्' इति प्रत्ययस्य च नभोनिमित्तत्वोपपत्तेः तस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। कार्यविशेषात् कालादिनिमित्तभेदव्यवस्थायां तत एव धर्माऽधर्मादिनिमित्तभेदव्यवस्थाऽप्यस्तु सर्वथा विशेषाऽभावात्।

एतेन अदृष्टनिमित्तत्वमपि आसां प्रत्याख्यातम्; पुद्गलानामदृष्टाऽसंभवाच्च। ये यदात्मोपभोग्याः पुद्गलाः तद्गतिस्थितयः तदात्माऽदृष्टनिमित्ताश्चेत्; तर्हि असाधारणं निमित्तमदृष्टं तासाम्, प्रतिनियतात्माऽदृष्टस्य प्रतिनियतद्रव्यगतिस्थितिहेतुत्वप्रसिद्धेः। न च तदनिष्टम्; भूम्यादिवत् तदसाधारणकारणस्य अदृष्टस्यापि इष्टत्वात्, साधारणं तु कारणं तासां धर्माऽधर्मौ, इति सिद्धः कार्यविशेषात् तयोः सद्भावः।

ततो यौगोपकल्पितपदार्थानां स्वरूपतः इयत्तावधारणतश्च प्रमाणतो विचार्यमाणानामनुपपत्तेर्न तत्परिकल्पितभेदैकान्तेऽर्थस्य सिद्धिर्घटते। नापि चार्वाकपरिकल्पितभेदैकान्ते तत्परिकल्पिततत्त्वानामपि स्वरूपतः संख्यातश्च विचार्यमाणानामनुपपद्यमानत्वाऽविशेषात्।

'पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यम्' इत्यादिना नास्ति कायाकारपरिणतभूतव्यतिरिक्त आत्मा यः परलोकी स्यात्' इति चार्वाकस्य पूर्वपक्षः—

ननु चार्वाकमते पृथिवी-अप्-तेजो-वायुरूपाणि चत्वार्येव तत्त्वानि अन्योन्याऽसंभविलक्षणलक्षितानि शरीर-इन्द्रिय-विषयलक्षणार्थक्रियासम्पादनसमर्थानि प्रत्यक्षप्रमाणाधिगतस्वरूपाणि उपपद्यन्त एव, "*पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः।*" [ ] इत्यभिधानात्। न ततोऽधिकानि तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात्। न खलु प्रत्यक्षम् आकाशादिसद्भावे प्रवर्त्तते तस्य रूपादौ तद्वति चार्थे प्रवृत्तिप्रतीतेः, न च आकाशादौ एतत् संभवति अरूपिद्रव्यतयाऽस्याभ्युपगमात्। अनुमानस्य चाप्रमाणत्वात् नातोऽपि अस्य सद्भावसिद्धिः।

---

१ "भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेन्न; साधारणाश्रय इति विशिष्य उक्तत्वात्।" सर्वार्थसि० ५।१७। २ "धर्माधर्मयोः य उपकारः स आकाशस्य युक्तः सर्वगतत्वात् इति चेत्तदयुक्तम्; तस्य अन्योपकारसद्भावात्।" सर्वार्थसि० ५।१७। ३ "अदृष्टहेतुके गतिस्थिती इति चेन्न; पुद्गलेष्वभावात्।" तत्त्वार्थराज० ५।१७। पृ० २१५। ४ उद्धृतञ्चैतत्–तत्त्वोपप्लव पृ० १। शां० भा० भामती ३।३।५४। तत्त्वसं० पं० पृ० ५२०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८। युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७३। प्रमेयक० पृ० ३० पू०। न्यायवि० वि० पृ० ४५४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १८६।

ननु ग्राहकस्य आत्मनोऽभावे कथं चतुर्णामपि तत्त्वानां सद्भावसिद्धिः प्रमात्रधीनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः इत्याशङ्क्य आह–"*तेभ्यश्चैतन्यम्*[1] ।" [ ] अत्र केचित् 'अभिव्यज्यते' इति क्रियाभिसम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते, अन्ये तु 'प्रादुर्भवति' इति । अतः 'परपरिकल्पितो जीवः अनादिज्ञानसन्तानो वा तत्प्रमाता' इति प्रत्याख्यातम्; तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात् । तत्प्रमेयत्वस्य च प्रमातृमात्रेण अविनाभावप्रसिद्धेः चैतन्यमेव प्रमातृ भविष्यति ।

ननु विभिन्नेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः कथमभिन्नं चैतन्यम् अभिव्यक्तिमाविर्भावं वा बिभ्रद् विरुद्धम् ? इत्याह–"*मदशक्तिवद् विज्ञानम्*[2] ।" [ ] यथैव हि मद्याङ्गानां किण्वादीनां देश-काल-अवस्थाविशेषे मदशक्तिलक्षणावस्थाविशेषः प्रादुर्भवति एवं पृथिव्यादीनां तद्विशेषे विशिष्टं प्रतिनियतघटादिग्राहकं ज्ञानमिति ।

न च प्रतिनियतसुख-दुःखादिकार्यवैचित्र्यस्य नियामकमन्तरेण अनुपपत्तेः तन्नियामकस्य पूर्वभवोपार्जितस्य अदृष्टस्य प्रसिद्धेः तत्कर्त्तुरात्मनः पूर्वभवेऽप्यस्तित्वसिद्धिः; यतः "*जलबुद्बुदवत् जीवाः* ।" [ ] यथैव हि समुद्रादौ निर्यामकाऽदृष्टरहिताः पदार्थसामर्थ्यवशाद् वैचित्र्यभाजो बुद्बुदाः प्रादुर्भवन्ति तथा सुखदुःखवैचित्र्यभाजो जीवाः, न पुनः कायाकारपरिणतभूतव्यतिरिक्ता नित्यादिस्वभावाः तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात् । तत्र हि प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा प्रवर्तेत ? न तावत् तद्व्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते; तस्य प्रतिनियतेन्द्रियसम्बद्धरूपादिगोचरचारितया तद्विलक्षणे जीवे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न च 'घटमहं वेद्मि' इत्यहंप्रत्यये ज्ञानकर्तृतया आत्मा तथाविधः प्रतिभाति इत्यभिधातव्यम्; तस्यापि 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्यादिवत् शरीरविषयत्वस्यैव उपपत्तेः । न खलु तत्प्रत्ययस्य आत्मालम्बनत्वमस्ति तत्र स्थौल्यादिधर्माऽसंभवात् । तथा 'घटमहं वेद्मि' इत्यादि प्रत्ययस्यापि, नहि तस्यापि शरीरादन्यो भवत्परिकल्पितः कश्चिद् आत्मा आलम्बनत्वेन स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अप्रतीतस्यापि कल्पने कल्पनागौरवं प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाऽभावश्च स्यात् । न च अप्रतीतसद्भावस्य कर्तृत्वं युक्तम्; खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गात् । ततः प्रमाणप्रसिद्धस्वरूपत्वात् शरीरस्यैव चैतन्यं प्रति कर्तृत्वमुपपन्नम् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च; यत् खलु यस्य अन्वय-व्यतिरेकौ अनुकरोति तत् तस्य कार्यम् यथा घटो मृत्पिण्डस्य, शरीरस्य अन्वयव्यतिरेकौ अनुकरोति च चैतन्यम्

---

१ "तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथवा ॥ १८५९ ॥" तत्त्वसं० । "तेभ्यश्चैतन्यमिति, तत्र केचिद् वृत्तिकारा व्याचक्षते–उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्, अन्ये अभिव्यज्यते इति ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ । प्रमेयक० पृ० ३० । सर्वदर्शनसं० चार्वाकद० । २ ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ । न्यायमं० पृ० ४३७ । "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति ।" प्रकरणपं० पृ० १४६ । ३ तद्विशेषेऽपि ब० । ४ नियामकारहिताः ब०, ज० । ५ "देह एव चेतनश्च आत्मा चेति प्रतिजानते हेतुमाचक्षते शरीरे भावादिति । यद्धि यस्मिन् सति भवति असति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेन अध्यवसीयते ।" ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ ।

इति। अन्वयव्यतिरेक[1]समधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः, तौ चात्र विद्येते–सति शरीरे चैतन्यस्योपलब्धिः[2] तदभावे चानुपलब्धिः[3]। तन्न प्रत्यक्षेण आत्मनः सिद्धिः।

नाप्यनुमानेन; अस्य अप्रमाणत्वात्। प्रमाणत्वे वा हेतोः प्रत्यक्षबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात्; शरीरव्यतिरिक्त-आत्मपक्षो हि प्रत्यक्षेणैव बाध्यते। न चात्र किञ्चिल्लिङ्गं स्वसाध्येन अविनाभावो वा कचित् तस्य प्रसिद्धः, सुखाद्युपलब्धेश्च भूतकार्यतया तेष्वेव अविनाभावसंभवात्। ततश्च आत्मनः सद्भावे प्रमाणाऽसंभवे तन्नित्यत्वादिकं खपुष्पसौरभप्रख्यं कः सुधीः श्रद्दधीत? अतो गर्भादिमरणपर्यन्तभूतकार्यमेव चैतन्यं प्रतिपत्तव्यम् तदभिव्यङ्ग्यं वा। 'ननु क्षित्यादेश्चैतन्याभिव्यक्तौ शरीरवत् घटादिष्वपि तदभिव्यक्तिः स्यात्' इत्याशङ्क्य आह–"*चैतन्याऽनभिव्यक्तिर्घटादिषु कारणान्तराभावात् पांस्वादिषु अनभिव्यक्तमदशक्तिवत्।*" [ ] चैतन्याऽभिव्यक्तेर्हि कारणं क्षित्यादेः कायाकारपरिणतत्वम् मदशक्तौ पिष्टोदकगुणधातक्यादिपरिणतत्ववत्, तच्च घटादौ नास्ति इति तत्र तदभिव्यक्त्यभावः पांस्वादौ पिष्टादिपरिणामाऽभावात् मदशक्त्यभाववत्[4]। न चैवं मृतशरीरेऽपि चैतन्योपलम्भप्रसङ्गः तत्परिणामाऽविशेषात् इत्यभिधातव्यम्; कारणवैकल्यात् तत्र तदनुपलम्भोपपत्तेः। कारणं हि चैतन्यावस्थितेः त्वगस्थिपिशितशोणितादिपरिणामविशेषः, तस्य शस्त्रप्रहार-रोगादिना वैकल्ये चैतन्यस्य अनवस्थानादनुपलम्भः शरीराकारविशेषवत्। एवञ्च आकारविशेषवत् चैतन्यस्य शरीरधर्मत्वसिद्धेः सिद्धः–"[5]*परलोकिनोऽभावात् परलोकाऽभावः।*" [ ] यस्य हि शास्त्रार्थावगम-अनुष्ठान-फलोपभोगैः सम्बन्धः स परलोकी, तस्य च उक्तप्र[6]कारेणाप्रसिद्धेः अप्रयत्नप्रसिद्ध एव परलोकप्रतिषेधः।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[7]–'पृथिव्यप्तेजोवायुः' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतः

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शरीराद्व्यतिरिक्तस्य ज्ञानाद्यसाधारणलक्षणलक्षितस्य आत्मनः सिद्धिः—

'चत्वार्येव तत्त्वानि' इत्यवधारणं तत्त्वान्तराऽभावे सिद्धे सिद्ध्येत्। तदभावश्च असिद्धः; जीवलक्षणतत्त्वान्तरस्य स्वसंवेदन[8]प्रत्यक्षतः गगनादेश्च आगमानुमानाभ्यां सद्भावप्रसिद्धेः। प्रामाण्यञ्चानयोः 'प्रत्यक्षमेव एकं प्रमाणम्' इत्यस्य प्रतिषेधा-

---

१–रेकेण स–भां०। २–लब्धेः श्र०। ३–लब्धेः श्र०। ४–शक्त्यभिव्यक्त्यभाव–श्र०। ५ उद्धृतञ्चैतत्–तत्त्वोपप्लव पृ० ५८। तत्त्वसं० पं० पृ० ५२३। प्रमेयक० पृ० ३० पू०। सन्मति० टी० पृ० ७१। ६–कारेणासिद्धेः श्र०। ७ पृ० ३४१ पं० १६। ८ "स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निर्दिश्येत...असौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुम्..." शावरभा० १।१।५। "अहंप्रत्ययविज्ञेयः स्वयमात्मोपपद्यते॥ १०७॥" मीमांसाश्लो० आत्मवाद। "स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्। तस्य क्ष्मादिविवर्त्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः॥ ९६॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६। शास्त्रवा० समु० श्लो० ७९।

ऽवसरे प्ररूपितम्। ननु जीवस्य तत्त्वान्तरत्वमसिद्धम्, चेतनालक्षणस्यास्य भूतकार्यतया घटादिवत् तत्रैवान्तर्भावात्; इत्यसमीक्षिताऽभिधानम्; भूत-चैतन्ययोः कार्यकारणभावोऽनुपपत्तेः। तथाहि–न भूतकार्यं चैतन्यम् तेषु सत्स्वपि अभावात् सर्वदाऽनुपलब्धिवत्। यथैव हि पृथिव्यादिभूतेषु सत्स्वपि सर्वदाऽनुपलब्धेरभावात् नाऽसौ तत्कार्या तथा चैतन्यमपि अविशेषात्। न खलु भूतेषु मृत्काय-घटाद्यनेकावस्थाविशिष्टेषु सदा सत्स्वपि चैतन्यं सदा उपलभ्यते। तन्तुपटादिवत् पूर्वापरीभावाऽभावाच्च अत्र कार्यकारणभावाऽभावः, नहि चैतन्यरहितस्तत्परिणामः कायः प्रथमतः प्रतीयते, पश्चात् चैतन्यम् इति, अतः सहसिद्धत्वेन अनयोरुपलम्भात् जलाऽनलवत् न कार्यकारणभावः।

अस्तु वाऽसौ; तथापि भूतानां चैतन्यं प्रति उपादानभावेन कारणत्वं स्यात्, सहकारिभावेन वा? न तावद् उपादानभावेन; तेषु विक्रियमाणेष्वपि अस्य अविक्रियमाणत्वात्। यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि यन्न विक्रियते न तत् तस्योपादानम् यथा गोः अश्वः, विक्रियमाणेष्वपि कायाकारपरिणतभूतेषु न विक्रियते च चैतन्यमिति। न चेदमसिद्धम्; अन्यत्रगतचित्तानां वासीचन्दनकल्पानां शस्त्रसम्पातादिना शरीरविकारेऽपि चैतन्यस्याविकारप्रसिद्धेः। तदविकारेऽपि विक्रियमाणत्वाच्च तद्वदेव। न चेदमप्यसिद्धम्; शरीरगतप्राच्य-अप्रसन्नताद्याकाराऽविनाशेऽपि कमनीयकामिनीसन्निधाने चैतन्ये हर्षादिविकारोपलम्भात्। तन्न उपादानभावेन तेषां तज्जनकत्वं घटते। सहकारिभावेन तु तेषां तज्जनकत्वे ततोऽन्यत् तस्य उपादानमस्ति, न वा? यदि नास्ति; कथमनुपादानस्यास्य उत्पत्तिः स्यात्? यद् अनुपादानं न तस्योत्पत्तिः यथा खरविषाणस्य, अनुपादानं भवद्भिः परिकल्प्यते च चैतन्यमिति। अथ

---

१ "व्यतिरेकः तद्भावाऽभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।" ब्रह्मसू० ३।३।५४। तत्त्वसं० पं० पृ० ५२५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०। २ सत्सु अभा–आ०। ३ अविशेषात् तत्रैवान्तर्भावात् ब०, ज०। ४ सर्वदा भां०। ५ सद्दा श्रा०। ६ तन्तुघटादि–भां०। "किमुपादानकारणमहोस्वित् सहकारिकारणम्?" तत्त्वसं० पं० पृ० ५२६। ७ "भूतानि किमुपादानकारणं चैतन्यस्य सहकारिकारणं वा?" युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७८। प्रमेयक० पृ० ३० उ०। ८ "न च यस्य विकारेऽपि यन्न विक्रियते तत्तत्कार्यं युक्तमतिप्रसङ्गात्।" तत्त्वसं० पं० ५२७। "प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वात् विकृतेरविकारिणी। निर्ह्रासातिशयाभावात् निर्ह्रासातिशये धियः।" "बलीयस्यबलीयस्त्वात् विपरीते विपर्ययात्। काये तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः॥ न्यायविनि० २।७३-७४। पृ० ४५१ उ०। ९ गौरश्वस्य श्र०। १० "यदविकारेऽपि यस्य विकारापादनं संभवति न तत्तदुपादानम्।..." तत्त्वसं० पं० पृ० ५२८। ११ "नापि ते कारका वित्तेर्भवन्ति सहकारिणः। स्वोपादानविहीनायास्तस्यास्तेभ्योऽप्रसूतितः॥२०७॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८। १२ अनुपादानं च भवद्भिः परिकल्पितं चै–श्र०। अनुपादानं च स्वसंविदितस्वभावस्य चैतन्यस्य दृष्टं भवद्भिः परिकल्प्यते चैतन्यमिति ब०, ज०।

अस्ति; तत्किं चैतन्येन विजातीयम्, सजातीयं वा ? तत्र आद्यपक्षोऽयुक्तः; विजातीयाद् विजातीयस्योत्पत्तौ जलादेरपि अनलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गतः तत्त्वचतुष्टयाभावाऽनुषङ्गात्। अथ सजातीयम्; युक्तमेतत्, सर्वत्र सजातीयस्यैव उपादानत्वोपपत्तेः। तथाहि-यद् यस्य उपादानं तत् तेन सजातीयम् यथा रूपादिमतो घटस्य तथाविधो मृत्पिण्डः, उपादानञ्च स्वसंवित्स्वभावस्य चैतन्यस्य इष्टं भवद्भिः किञ्चित्तत्त्वम्, अतः पृथिव्यादिभ्योऽर्थान्तरं तत्स्वभावमेव तद् युक्तम् इत्यात्मतत्त्वसिद्धिः।

किञ्च, भूतानि निर्विशिष्टानि चैतन्यं प्रति कारणभावं प्रतिपद्यन्ते, विशिष्टानि वा ? यदि निर्विशिष्टानि; सर्वत्र सर्वदा तज्जनकत्वप्रसङ्गः। अथ विशिष्टानि; कुतस्तेषां वैशिष्ट्यम्-समुदायात्, कायाकारपरिणतेः, अवस्थाविशेषात्, सहकार्यन्तराद्वा ? यदि समुदायात्; अधिश्रयणादेः ओदनपाकवत् चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गः, तत्र तत्समुदायाऽविशेषात्। अथ कायाकारपरिणतेः; ननु कुतस्तेषां सैव सम्पन्ना-किं निर्हेतुका, स्वरूपमात्रप्रभवा, अदृष्टनिमित्ता वा स्यात् ? निर्हेतुकत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्। स्वरूपमात्रप्रभवत्वे सर्वत्र सर्वदा तेषां तत्परिणतिप्रसङ्गः स्वरूपमात्रस्य सर्वत्र सर्वदाऽविशिष्टत्वात्। अथ अदृष्टकृता; तत्तु अदृष्टं तद्भवप्रभवम्, भवान्तरप्रभवं वा तद्धेतुः स्यात् ? तत्र आद्यविकल्पे चक्रकप्रसङ्गः-शरीरस्योत्पत्तौ हि सत्यां चैतन्यस्योत्पत्तिः, तदुत्पत्तौ च हिताऽहितविवेकपूर्वकमदृष्टसाधनानुष्ठानाद् अदृष्टस्य उत्पत्तिः, ततश्च शरीरस्योत्पत्तिः इति। भावान्तरप्रभवत्वे च परलोकिनः प्रसिद्धेः "*परलोकिनोऽभावात् परलोकाऽभावः*" [ ] इतीदमसङ्गतं स्यात्।

अस्तु वा कायाकारपरिणतिः यथाकथञ्चित् तेषाम्; तथापि अस्याश्चैतन्यहेतुत्वे मृतशरीरेऽपि चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गो विशेषाऽभावात्। अथ अवस्थाविशेषोऽपि तद्धेतुः तदभावान्न तत्र तत्प्रसङ्गः, तदाकारपरिणतानि हि भूतानि अवस्थाविशेषविशिष्टानि तद्धेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते इति। ननु किमिदं तेषां तथाविधानामवस्थाविशेषविशिष्टत्वं नाम-चैतन्योपेतत्वम्, विशिष्टाऽदृष्टाश्लिष्टत्वम्, धातुविशेषोपचितत्वम्, वयोविशेषान्वितत्वं वा ? न तावत् चैतन्योपेतत्वम्; आद्यचैतन्योत्पत्तौ तेषां हेतुत्वाऽभावप्रसङ्गात्, तदा तेषां तदुपेतत्वाऽभावात्। अथ तदापि तेषां तदुपेतत्वमिष्यते; तत्किं तेनैव चैतन्येन, ततः पूर्वेण वा स्यात् ? तेनैव चेद् अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि आद्यचैतन्ये तेषां तद्विशिष्टत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च आद्यचैतन्यसिद्धिरिति। अथ ततः पूर्वेण; कथं परलोकिनोऽपह्नवः गर्भचैतन्यात् पूर्वमपि चैतन्यप्रबन्धप्रसक्तेः ? अथ विशिष्टाऽदृष्टाऽऽश्लिष्टत्वं तेषां तद्विशिष्टत्वमुच्यते; तदपि मृतकाये कस्मात् नास्ति-चैतन्याऽभावात्, तत्साधकाऽ-

---

१ "सूक्ष्मभूतविशेषः चैतन्येन विजातीयः सजातीयो वा ?" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९। प्रमेयक० पृ० ३० पू०। २ नन्वत्राप्यविशिष्टानि विशिष्टानि वाऽथवा।..." स्या० रत्ना० पृ० १०८२। ३ "मृते चाऽसंभवात्...।" प्रश० भा० पृ० ६९। शास्त्रवा० समु० श्लो० ६५। न्यायविनि० वि० पृ० ४५४ उ०। ४ आद्ये चै-श्र०। ५-प्रसिद्धेः श्र०।

नुष्ठानाऽभावात्, तावत्स्थितिकत्वेन उपार्जितत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे न विशिष्टाऽदृष्टाऽऽश्लिष्टत्वस्य चैतन्यसाधकत्वम् चैतन्यस्यैव तत्साधकत्वप्रसङ्गात्। एतेन द्वितीय-तृतीयपक्षावपि प्रत्याख्यातौ; अदृष्टविशेषसाधकाऽनुष्ठानस्य तावत्स्थितिकत्वेन उपार्जितत्वस्य च चैतन्यविशेषाऽऽधीनत्वात्। नापि धातुविशेषोपचितत्वम् अवस्थाविशेषविशिष्टत्वं तेषां युक्तम्; सुषुप्तावस्थायां तदुपचितेऽपि शरीरे चैतन्योत्पत्त्यप्रतीतेः। 'वयोविशेषान्वितत्वं तद्विशिष्टत्वम्' इत्यपि एतेन प्रतिव्यूढम्; सुषुप्तावस्थाशरीरस्य मृतशरीरस्य च बालादिवयोविशेषान्वितत्वेऽपि चैतन्याऽनुत्पादकत्वात्। नापि सहकार्यन्तराद् भूतानां वैशिष्ट्यम्; तत्त्वचतुष्टयव्यतिरेकेण अपरस्य सहकार्यन्तरस्यानभ्युगमात्। अभ्युपगमे वा 'चत्वार्येव तत्त्वानि' इत्यवधारणविरोधः, आत्मसिद्धिश्च स्यात्, तस्यैव आत्मत्वात्।

किञ्च, सर्वं कार्यं साश्रयं भवति, अतः चैतन्यस्य कार्यत्वे कश्चिद् आश्रयो वक्तव्यः। स च शरीरम्, भूतानि, इन्द्रियाणि, मनः, विषयो वा स्यात्? न तावत् शरीरम्; भौतिकत्वाद् बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् मूर्त्तत्वाच्च घटादिवत्। एतेन भूतानामपि चैतन्याश्रयत्वं प्रत्याख्यातम्; सर्वत्र सर्वदा तत्सद्भावाऽनुषङ्गाच्च तदाश्रयभूतानां तेषां सर्वत्र सर्वदा अविकलानां सद्भावाऽविशेषात्। अस्तु तर्हि इन्द्रियाणां तदाश्रयत्वम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य तत्पूर्वकत्वप्रसक्तेः; इत्यपि नोत्सृष्टमनेन; भौतिकत्वाद्यनुमानविरोधस्य अत्राप्यविशेषात्। किञ्च, व्यस्तानाम्, समस्तानां वा तेषां तदाश्रयत्वं स्यात्? यदि व्यस्तानाम्; तदा एकस्मिन् शरीरे अनेकचेतनसन्तानप्रसङ्गात् एकसन्तानेऽपि अनेकसन्तानवद् अनुसन्धानाऽभावः स्यात्। कथञ्च अन्धादेः इन्द्रियाऽपाये रूपादिस्मरणम्, स्वप्नाद्यवस्थायां रूप-रसादिज्ञानम्, प्रसुप्तिकादिरोगेण च इन्द्रियोपघाते सुखदुःखादिज्ञानं स्यात्? न च यस्य विकारे यन्न विक्रियते तत् तस्य कार्यम्;

---

१ "न शरीरेन्द्रियमनसामज्ञत्वात्, न शरीरस्य चैतन्यं घटादिवद् भूतकार्यत्वात् मृते चाऽसंभवात्।…" प्रश० भा० पृ० ६९। "सति शरीरे निवर्तमानत्वात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९४। प्रमेयक० पृ० २९ उ०। "न शरीरगुणश्चेतना; कस्मात्? यावच्छरीरभावित्वाद् रूपादीनाम्।" "शरीरव्यापित्वात्।" "शरीरगुणवैधर्म्यात्।" न्यायसू० ३।२।४९,५२, ५५। "न शरीरस्य ज्ञानादियोगः परिणामित्वात्, रूपादिमत्त्वात् अनेकसमूहस्वभावत्वात् सन्निवेशविशिष्टत्वात्।…" न्यायमं० पृ० ४३९। "देहधर्मवैलक्षण्यात्…।" ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५४। २ "नेन्द्रियाणां करणत्वात् उपहतेषु विषयाऽसान्निध्ये चाऽनुस्मृतिदर्शनात्।" प्रश० भा० पृ० ६९। "नेन्द्रियार्थयोः तद्विनाशेऽपि ज्ञानाऽवस्थानात्।" न्यायसू० ३।२।१८। ३-प्रसिद्धेः श्र०। ४ "कृतं भूतेन्द्रियाणां च चैतन्यप्रतिषेधनम्। समस्तव्यस्तसंघातविवेकपरिणामिनाम्॥ १११॥" मीमांसाश्लो० आत्मवाद। "ते च परमाणवः प्रत्येकं वा हेतवः स्युः, समुदिता वा?" तत्त्वसं० पं० पृ० ५२७। ५ "नासिकाद्येकाङ्गवैकल्येऽपि मनसामनुत्पादापत्तेः…प्रसुप्तिकादिरोगादिना कायेन्द्रियाणामुपघातेऽपि मनोधीरविकृता एकामविकलां सत्तामनुभवति…।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५२७।

अतिप्रसङ्गात्। सामस्त्यपक्षोऽपि एतेनैव समुत्सारितः, नहि एकस्यापि इन्द्रियस्यापाये सामस्त्यं घटते, तथा च अन्धादेः ज्ञानलेशोऽपि नोत्पद्येत। नहि क्षित्यादेः अन्यतमस्याप्यपाये सामस्त्यम् अङ्कुरोत्पत्तिर्वा दृष्टा।

मनस्तर्हि तदाश्रयोऽस्तु उपरतेष्वपि इन्द्रियेषु अन्तःसङ्कल्परूपस्य ज्ञानस्य अवभासनात् इति चेत्; ननु तत् नित्यम्, अनित्यं वा स्यात्? न तावन्नित्यम्; तत्त्वसंख्याव्याघातानुषङ्गात् परमतप्रवेशप्रसङ्गाच्च। अथ अनित्यम्; तत् किं भूतहेतुकम्, अन्यहेतुकं वा? न तावदन्यहेतुकम्; अनभ्युपगमात्। भूतहेतुकत्वे प्रागुक्तभौतिकत्वाद्यनुमानेभ्यः चेतनाश्रयत्वाऽनुपपत्तिः।

किञ्च, तन्मनः चेतनं सत् किं कारणान्तरनिरपेक्षम् अर्थप्रतिभासं जनयति, तत्सापेक्षं वा? यदि निरपेक्षम्; सकृदेव अखिलार्थप्रतिभासप्रसङ्गात् सर्वः सर्वदर्शी स्यात्। अथ कारणान्तरसापेक्षम्; तत् किं कारणान्तरम्–मनः, अन्यद्वा? मनश्चेत्; तत् चेतनम्, अचेतनं वा? न तावद् अचेतनम्; तस्य चेतनाश्रयतया चेतनत्वप्रतिज्ञानात्, अन्यथा प्रथमस्यापि अचेतनत्वापत्तिः स्यात्। अथ चेतनम्; तर्हि इदमपि कारणान्तरापेक्षमर्थप्रतिभासं जनयति इत्यनवस्था स्यात्। नाप्यन्यत्; उपरतेन्द्रियस्य अन्येन्द्रियव्यापाराऽभावात्। नापि विषयः तदाश्रयः; शरीरेन्द्रियाश्रयपक्षोपक्षिप्तदोषोपनिपातप्रसङ्गात्। ततो देहाद् व्यतिरिक्तो ज्ञानस्य आत्मैव आश्रयोऽभ्युपगन्तव्यः इति सिद्धोऽसौ तत्त्वान्तरम्।

कथमन्यथा तदहर्जातबालकस्य स्तनादौ प्रवृत्तेर्निबन्धनमभिलापादिकं सिद्ध्येत्? न च अस्याः तन्निबन्धनत्वमसिद्धम्; तथाहि–तदहर्जातबालकस्य स्तनादौ प्रवृत्तिः अभिलापपूर्विका तत्त्वात् मध्यदशाप्रवृत्तिवत्। अभिलापोऽपि स्मरणपूर्वकः, स्मरणमपि अनुभवपूर्वकम्, तत्त्वात् तद्वदेव। न च गर्भादौ तदनुभवादिकमस्ति इति पूर्वभवाऽनुभवसिद्धिः। स हि क्षुत्पीडितः स्तनादिकं तत्प्रतिपक्षभूतं सुखसाधनत्वेन स्मृत्वा अभिलापात् तत्र प्रवर्त्तते, तच्च अलभमानो रोदनमारभते, प्राप्य च अपगतरुदितः तत्पानादिकं करोति, प्रपातादिदुःखानुस्मरणभीतश्च वान-

---

१ "नापि मनसः कारणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृतिप्रसङ्गात् स्वयं करणभावाच्च।•••" प्रश० भा० पृ० ६९। प्रमेयक० पृ० ३० पू०। "अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम्; "युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः।" न्यायसू० ३।२।१९। २ करणा–श्र०। ३ करणा–श्र०। ४ करणा–श्र०। ५ "अत एव विषयस्यापि न चैतन्यम्।" प्रश० कन्द० पृ० ७२। ६ "पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।" न्यायभा० ३।१।१९। न्यायमं० पृ० ४७०। "जातिस्मराणां संवादात् अपि संस्कारसंस्थितेः। अन्यथा कल्पयंल्लोकमतिक्रामति केवलम्॥ नाऽस्मृतेऽभिलापोऽस्ति न विना सापि दर्शनात्। तद्धि जन्मान्तराम्नायं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते॥" न्यायवि० २।७९, ८०। पृ० ४६३ पू०। ७ "येन सुखसाधनं स्तनादिकमन्विच्छति, तच्चालभमानो रोदनमारभते प्राप्य च व्यपगतरुदितः•••सद्योजातोऽपि वानरादिशिशुः अवपातपतनप्रभवदुःखान्मरणभीतो मातुरतीव क्रोडमाश्लिष्यति प्रपातादिस्थानं च परिहरतीति। तत्त्वसं० पं० ५२२।

रादिशिशुः मातुरतीव क्रोडमाश्लिष्यति प्रपातस्थानञ्च परिहरति, नहि अनुभूत-इष्टाऽनिष्ट-साधनफलाः तानि नियमेन उपादित्सन्ते जिहासन्ति च अतिप्रसङ्गात्। यस्य च पूर्वभवाऽनुभवसिद्धिः सोऽत्र आत्मा तत्त्वान्तरभूतः। तस्य अपूर्वदेहेन्द्रियादिभिः अभिसम्बन्धो जन्म, न पुनः असतः प्रादुर्भावः, तन्निरोधश्च मरणम् न तु सर्वथा विनाश इति।

यच्च–'मदशक्तिवद् विज्ञानम्' इत्युक्तम्[2]; तदप्ययुक्तम्; मद्याङ्गपरिणामाद् अन्यत्रापि धत्तूरककोद्रवादौ मदशक्तेः प्रतीतितो भूतपरिणामविशेषात् तस्याः प्रादुर्भावाऽविरोधात्। चिच्छक्तेस्तु भूतपरिणामविशेषे घटादौ स्वप्नेऽपि अप्रतीतिः तद्विरोधात्।

यच्चान्यत् 'जलबुद्बुदवत् जीवाः' इत्युक्तम्[3]; तदप्यसाम्प्रतम्; दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्याऽसंभवात्, जलबुद्बुदानां जलादत्यन्तवैलक्षण्याऽभावतस्तद्धेतुकत्वोपपत्तेः ततः तद्वैचित्र्यमुपपन्नम्, भूतचैतन्ययोः पुनः अत्यन्तवैलक्षण्यतः कार्यकारणभावस्यैवासंभवात् न अदृष्टमन्तरेण सुखदुःखादिवैचित्र्यं शरीरादिवैचित्र्यं वा उपपन्नम्, कथमन्यथा सेवा-कृष्यादौ सममीहमानानां सममधीयानानां वा केषाञ्चिदेव फलयोगः अन्येषाञ्च नैष्फल्यं स्यात्? ततो दृष्टकारणव्यभिचारात् अदृष्टकारणप्रसिद्धेः सिद्धम्–अदृष्टवैचित्र्यात्[4] सुखादिवैचित्र्यम्। तन्न कार्यकारणभावमङ्गीकृत्य परलोकिनोऽपह्नवः कर्तुं शक्यः।

नापि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावम्, तद्भावस्य परलोकसिद्ध्यनुकूलत्वात्। तथाहि–सतः[5] चैतन्यस्य व्यक्तिः, असतः, सदसद्रूपस्य वा स्यात्? प्रथमपक्षे परलोकसिद्धिः[6] अविवादात्, कायाकारपरिणतभूतेभ्यः प्रागपि चैतन्यस्य सत्त्वप्रसक्तेः। प्रागसतो व्यक्तिस्तु प्रतीतिविरुद्धा; सतो हि घटादेः दीपादिना प्रकटीकरणमात्रम् अभिव्यक्तिः प्रसिद्धा न पुनः असतः। अथ सदसद्रूपस्य; किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा? न तावत् सर्वथा; विरोधात्। अथ कथञ्चित्; जैनमतसिद्धिः, द्रव्यतः सतः पर्यायतश्च असतः चैतन्यस्य कायाकारपरिणतपृथिव्यादिपुद्गलेभ्यो[7]ऽभिव्यक्तेः जैनैरभीष्टत्वात्, इति सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽयम् आत्मा।

यदप्यभिहितम्[8]–'तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात्' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; प्रत्यक्षस्यैव आत्मसद्भावे प्रमाणस्य सद्भावात्; तथाहि–'सुखमहमनुभवामि' इत्यन्योन्यविविक्तज्ञेय-ज्ञातृ-ज्ञानोल्लेखी प्रतिप्राणि स्वसंवेद्यः प्रत्ययो जायमानः संवेद्यते। नैचायं[9] मिथ्या; बाधकाऽभावात्।

---

१ "मद्याङ्गवद् भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः। इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैः निर्ह्रीभयैः हा मृदवः प्रलब्धाः ॥ ३५ ॥" युक्त्यनुशा०। २ पृ० ३४२ पं० ७। ३ पृ० ३४२ पं० ११। ४ "शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म।" "एतेन नियमः प्रत्युक्तः।" न्यायसू०, भा० ३।२।६८, ६९। ५ "चैतन्यशक्तिं सतीमेव, प्रागसतीमेव वा अभिव्यञ्जयेयुः, सदसतीं वा?" युक्त्यनु० टी० पृ० ७५। प्रमेयक० पृ० ३० पू०। ६–लोकसि–श्र०। ७–भ्यो व्यक्तेः ब०, भां०। ८ पृ० ३४२ पं० १४। ९ "तथा च सुख्यहं दुःख्यहमिच्छावानहमिति प्रत्ययो दृष्टः···नापि विपर्ययज्ञानमेतत् अबाध्यमानत्वात्। नापि संशयज्ञानं तद्रूपस्याऽसंवेदनात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१।

नापि सन्दिग्धः; उभयकोटिसंस्पर्शाभावात्। न च इत्थम्भूतस्य अस्य अनालम्बनत्वं युक्तम्; रूपादिप्रत्ययस्यापि अनालम्बनत्वप्रसङ्गात्। नापि शरीरालम्बनत्वम्;[1] वहिःकरणनिरपेक्ष-अन्तःकरणव्यापारेण उत्पत्तेः, न खलु शरीरम् इत्थंभूत-अहम्प्रत्ययवेद्यम् वहिःकरणविषयत्वात्। अतः शरीरातिरिक्तः कश्चिद् एतस्य आलम्बनभूतो ज्ञानवान् अर्थोऽभ्युपगन्तव्यः तस्यैव ज्ञातृत्वोपपत्तेः, न तु शरीरस्य भूतारब्धत्वात् घटादिवत्, नहि भूतारब्धस्य घटादेः तद् दृष्टम्। न च भूतारब्धत्वाऽविशेषेऽपि शरीरस्य अहम्प्रत्ययग्राह्यता भविष्यति इत्यभिधातव्यम्; मृतशरीरेण व्यभिचारात्। याऽपि 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि प्रतीतिः साऽपि आत्मोपकारकत्वेन शरीरे जायमाना औपचारिकी[2] अत्यन्तोपकारके भृत्ये 'अहमेव अयम्' इति प्रतीतिवत्।

तथा अनुमानेनाप्यात्मा[3] प्रतीयते–रूपादिज्ञानं[4] क्वचिदाश्रितम् गुणत्वात् रूपादिवत्। ज्ञानसुखादि [5]उपादानकारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत्। न च शरीरे तदाश्रितत्वस्य तदुपादानत्वस्य च इष्टत्वात् सिद्धसाधनम् इत्यभिधातव्यम्; तत्र तदाश्रितत्व-तदुपादानत्वयोः प्राक् प्रबन्धेन प्रतिव्यूढत्वात्। तथा जीवच्छरीरं[6] प्रयत्नवताऽधिष्ठितम् इच्छाऽनुविधायिक्रियाश्रयत्वात् रथवत्। श्रोत्रादीनि उपलब्धिसाधनानि कर्तृप्रयोज्यानि[7] करणत्वात् वास्यादिवदिति। प्रामाण्यञ्चाऽस्य प्रागेव प्रसाधितम्। तदेवम् आत्मद्रव्यस्य पृथिव्यादिभ्यः तत्त्वान्तरस्य प्रसिद्धेः कथं 'चत्वार्येव तत्त्वानि' इत्यवधारणमुपपद्यते[8]? अन्योन्यं तत्त्वान्तरभावस्य च एषां पृथिव्यादिचतुर्विधद्रव्यप्रतिषेधाऽवसरे प्रतिषिद्धत्वात् नितरां तदवधारणाऽनुपपत्तिः।

---

१ "न शरीरालम्बनम् अन्तःकरणव्यापारेण उत्पत्तेः; तथाहि–न शरीरमन्तःकरणपरिच्छेद्यम् बहिर्विषयत्वात्..." प्रश० व्यो० पृ० ३९१। "अहं सुखीति संवित्तौ सुखयोगो न विग्रहे। बहिःकरणवेद्यत्वप्रसङ्गाज्जेन्द्रियेष्वपि ॥ १३७ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३२। २ "भृत्यवदेव शरीरेप्यहमिति ज्ञानस्य औपचारिकत्वमेव युक्तम्। उपचारस्तु निमित्तं विना न प्रवर्त्तते इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते...।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१। प्रमेयक० पृ० २९ उ०। सन्मति० टी० पृ० ८६। ३ "प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च आत्मनो लिङ्गानि।" वै० सू० ३।२।४। "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।" न्यायसू० १।१।१०। ४ "शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात्...।" प्रश० व्यो० पृ० ३९३। प्रमेयक० पृ० २९ उ०। ५ उपादानपूर्व–ब०, ज०। "समवायिकारणपूर्वकत्वं कार्यत्वाद्रूपादिवदेव।" प्रश० व्यो० पृ० ३९३। ६ "यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति।" सर्वार्थसि० ५।१९। "रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते प्राणादिभिश्चेति...।" प्रश० भा० पृ० ६९। "जीवच्छरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम् इच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वात् रथवत्।" प्रश० व्यो० पृ० ४०२। ७ "करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात् शब्दादिषु प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते...।" प्रश० भा० पृ० ६९। ८ –पपद्येत ब०, ज०, भां०, श्र०। आत्मद्रव्यस्य सिद्धिः टिप्पणीनिर्दिष्टतत्तद्ग्रन्थेषु अष्टसह० पृ० ६३, सिद्धिवि० टी० परि० ४, इत्यादिषु च विस्तरतो द्रष्टव्या।

ततो यौग-चार्वाकोपकल्पितभेदैकान्तस्य विचार्यमाणस्य आकाशकुशेशयस्य इव अनुपपत्तेः न तत्र अर्थक्रियासिद्धिवार्त्ताऽपि सङ्गच्छते। बौद्धोपकल्पिते[1] भेदैकान्ते यथा तत्सिद्धिर्नोपपद्यते तथा अनन्तरकारिकायां प्रतिपादयिष्यते। तन्न भेदैकान्ते अर्थक्रियासिद्धिर्घटते। नाप्यभेदैकान्ते; सर्वथा अभेदरूपस्य ब्रह्माद्वैतैकान्तस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्।

'प्रकृतेर्महान्' इत्यादिना पंचविंशतितत्त्वं वर्णयतः सांख्यस्य पूर्वपक्षः–

ननु माभूत् ब्रह्माद्वैतैकान्तरूपतया परिकल्पिते सर्वथा विचाराऽसहे अभेदैकान्ते अर्थक्रियासिद्धिः, प्रकृतिरूपे तु भविष्यति तस्य विचारसहत्वात्। सांख्या हि 'निस्तरङ्गमहोदधिप्रख्यं प्रधानं जगत्प्रपञ्चरचनायां कारणम्' इत्याचक्षते। प्रधीयन्तेऽस्मिन्[2] विकाराः इति प्रधानम्। तच्च सङ्क्षेपतः त्रिविधम्–

"शक्तिः करणं[3] कार्यम् इति त्रेधा जगत्स्थितम्।
कार्यं भूतानि करणं खानि[4] शक्तिः[5] गुणत्रयम्॥" [ ] इत्यभिधानात्। नहि कार्य-करण[6]-शक्तिव्यतिरिक्तो जगत्प्रपञ्चोऽस्ति। तत्र कार्यं दशविधम्[7]–तन्मात्र-महाभूतसंज्ञकम्। करणं त्रयोदशविधम्–बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-अन्तःकरण-बुद्धि-अहङ्कारभेदात्। शक्तिश्च अननुभूयमानस्वभावा प्रकृतिः एकैव मूलोपादानभूता। तत्सद्भावावेदकं तु–

"भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥" [सांख्यकारि० १५] इति हेतुपञ्चकम्। परिमितत्वं हि एककारणपूर्वकस्यैव[8] प्रतिपन्नम्, यथा घट-शराव-उदञ्चनादेः एकद्रव्यपूर्वकस्य[9], परिमितञ्च इदं व्यक्तम्–एका बुद्धिः, एकोऽहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि, एकादश इन्द्रियाणि, पञ्च भूतानि। अतो यत् तदेकं कारणं तत् प्रधानमेव इति तदस्तित्वसिद्धिः। समन्वयाच्च; यज्जातिसमन्वितं हि यत् तत् तदात्मककारणकार्यम् यथा घटादयो विशेषाः मृज्जातिसमन्विता मृदात्मककारणकार्याः, सत्त्व-रजः-तमोजातिसमन्वितञ्च इदं महदादिव्यक्तम्। सत्त्वस्य[10] हि प्रसाद-लाघव-उद्धर्ष-प्रीत्यादि कार्यम्, रजसः ताप-शोष-उपष्टम्भ[11]-उद्वेगादि,

---

१–ल्पिते तु भेदै–श्र०। २ प्रतिधीयन्ते श्र०। ३ कारणं ज०। ४ यानि ब०, ज०। ५ शक्तेः श्र०। ६ कारणं ब०, ज०। ७ "करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्। कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च॥ आहारकम् इन्द्रियलक्षणम्, धारकमभिमानलक्षणम्, प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्।" सांख्यका० माठरवृ० ३२। ८–णभूतस्यैव ब०, ज०। ९ एकमृद्द्रव्य–श्र०। १० "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥१३॥" सांख्यका०। "उपष्टम्भकं प्रेरकम् उन्नाडि: इत्यर्थः, यथा मत्तवृषो वृषं दृष्ट्वा उद्धतो भवति तद्वत्...यदा गुरूणि अंगानि भवन्ति इन्द्रियाणि अलसानि स्वविषयग्रहणासमर्थानि भवन्ति तदानीं मन्तव्यं एतत्तमः उत्कटत्वेन वर्त्तते...।" माठरवृ०। "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ ६॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥ ७॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबध्नाति भारत॥८॥" भगवद्गीता अ० १४। "सत्त्वस्य हि प्रसादलाघव...।" तत्त्वार्थराजवा० पृ० १२। तत्त्वसं० पं० पृ० २१। ११–अवष्टम्भ–ब०, ज०, भां०, श्र०।

तमसः विषाद-दैन्य-बीभत्स-गौरव-आवरणादि । महदादौ चास्ति प्रसाद-ताप-विषादादि-कार्योपलम्भः अतः प्रधानान्वितत्वसिद्धिः । शक्तितः प्रवृत्तेश्च; यो हि यस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तते स तत्र समर्थः यथा तन्तुवायः पटकरणे, प्रवर्त्तते च प्रधानं व्यक्तकरणे, अतोऽस्ति तस्य शक्तिः यथा व्यक्तमुत्पादयति, सा च निराधारा न संभवति इति तदस्तित्वसिद्धिः । कारण-कार्यविभागाच्च; न हि कारणमन्तरेण महदादिकार्यविभागो घटते मृत्पिण्डमन्तरेण घटादिवत् , अस्ति चाऽयम् , अतः कार्यदर्शनात् कारणास्तित्वसिद्धिः । अविभागाच्च वैश्वरूप्यस्य; वैश्वरूप्यं हि महदादिप्रपञ्चोऽभिधीयते, तच्च[1] प्रलयकाले क्वचिद् अविभागं गच्छति, भूतानि हि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणि इन्द्रियाणि च अहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिः प्रकृतौ इति । एवं प्रमाणतः प्रसिद्धसत्ताका प्रकृतिः अनेन क्रमेण तत्त्वसृष्टौ प्रवर्त्तते—

"प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥" [सांख्यका० २२] इति ।

प्रथमं[2] हि प्रकृतेर्महान् एको व्यापकः विषयाध्यवसायरूपः आसर्गप्रलयस्थायी प्रभवति, स च अस्मादृशामसंवेद्यस्वभावः, ततस्तु याः प्रतिप्राणि विभिन्ना बुद्धिवृत्तयो निःसरन्ति ताः संवेद्यस्वभावाः । ततश्च अहङ्कारस्तथाविधो जलनिधिरिव प्रतिप्राणि विभिन्नैः तैस्तैः 'स्थूलोऽहम् सुरूपोऽहम्' इत्याद्यहङ्कारतरङ्गविशेषैः प्रसरति, स च अहङ्कारः[3] 'वैकारिकः, भूतादिश्च' इति प्रथमतो द्विप्रकारः प्रसरति । तत्र वैकारिकात् सत्त्वप्रधानात् प्रकाशरूप एकादशविध इन्द्रिय-

---

१ "त्रैलोक्यं पञ्चसु महाभूतेष्वविभागं गच्छति पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु ।…" माठरवृ० पृ० २७।
२ "प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते । ब्रह्म अव्यक्तं बहुधात्मकं माया इति पर्यायाः । तस्याः प्रकृतेर्महान् एकः उत्पद्यते–महान् बुद्धिः मतिः प्रज्ञा संवित्तिः ख्यातिः चितिः स्मृतिरासुरी हरिः हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः । ततोऽहङ्कारः…तस्य इमे पर्यायाः वैकृतः तैजसो भूतादिः अभिमानोऽस्मिता इति । चतुःषष्टिवर्णैः स्वरादिवैखरीपर्यन्तैः यत्किमप्यभिधीयते बुद्धया समर्थ्य तत्सकलम् आद्यन्ताकारहकारवर्णद्वयग्रहणेन उपरिस्थितपिण्डीकृतानुकारिणा बिन्दुना भूषितः प्रत्याहारन्यायेन अहङ्कार इत्यभिधीयते ।" माठरवृ० पृ० । ३ "अत्राह त्रिविधोऽहङ्कारः तं व्याख्यास्यामः । तत्र कतरस्मादहङ्कारात् इन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते कतरस्माद्वा तन्मात्राणीति ? अत्रोच्यते–सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादेः तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥ यदा सत्त्वमुत्कटं भवति अहङ्कारे, तेन च सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते स्यातां तदा सात्त्विकोऽहङ्कार उच्यते । तस्य सात्त्विकस्य वैकृतिक इति पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता । स वैकृतिको भूत्वा अहङ्कार एकादशेन्द्रियाणि उत्पादयति…भूतादेः तमोबाहुल्यात् गौणीभूतसत्त्वरजसः भूतादिनाम्नः पूर्वाचार्यैर्निरूपितादहङ्कारात् तन्मात्रः शब्दादिपञ्चको गणो जायते । अभिभूतसत्त्वतमसो राजसात् तैजसाभिधानादहङ्कारात् प्रवृत्तिकर्मण उभयं प्रकाशात्मकम् एकादशेन्द्रियकं मोहात्मकं तन्मात्रिकं चासीदिति सम्बन्धः । तैजसे एव राजसेऽहङ्कारे क्रियाशक्तिरस्ति । सत्त्वं निष्क्रियमेकाकि न शक्नोति उत्पादयितुम् । तमश्च मूढत्वादक्रियम् असमर्थं विना रजः सृष्टिमुत्पादयितुम् । अत उभे सत्त्वतमसी सृष्टिविषये रजसाऽनुगृह्येते ऐन्द्रियकं तान्मात्रिकं च गणद्वयं जनयतः इति तात्पर्यार्थः ।" सांख्यका० २५, माठरवृत्ति ।

गणः-पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि[1] श्रोत्र-त्वक्-चक्षुः-जिह्वा-घ्राणलक्षणानि 'बुद्धये बुद्धिमभिव्यक्तुम्[2] इन्द्रियाणि' इति, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि-वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थसंज्ञानि 'कर्मणे कर्म अभिव्यक्तुम् इन्द्रियाणि' इति, मनः[3] सङ्कल्परूपम्-'ग्रामेऽहं प्रस्थितः, सुवर्णस्य प्राप्तिर्भविष्यति द्रव्यस्य वा' इत्यादि सङ्कल्पवृत्तिर्मनः । भूतादेस्तु पञ्चतन्मात्राणि नित्यादिस्वभावानि, ततोऽपि महाभूतानि त[4]थाविधानि इति ।

एवं तत्त्वसृष्टिं विधाय भूतसृष्टौ यदा प्रकृतिः प्रवर्त्तते तदा प्रथमतो ब्रह्मणः[5] प्रादुर्भावः, तस्य च महत्तत्त्वात् योजनशतपरिमाणा बुद्धिर्निःसरति, अहङ्कारतत्त्वाच्च अहङ्कारः एकादश इन्द्रियाणि, तन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मदेहारम्भकाणि भूतानि, तदुप[6]रि प्रभूतेभ्यो भूतेभ्यः प्रतिप्राकारस्थानीयः स्थूलो देहः सांसिद्धिकः कललादिक्रममन्तरेण झटिति उत्पद्यते, एवं मन्वादीनामपि । अन्येषां तु सूक्ष्मभूतारब्धं शरीरम् आसर्गप्रलयस्थायि, प्रतिप्राकारस्थानीयं तु म[7]नुष्यादीनां मातापितृजम्, देव-नारक-क्षुद्रजन्तू[8]नां च [9]औपपादकम् इति । अयञ्च महदादिप्रपञ्चः प्रकृतौ सन्नेव कुतश्चिद् आविर्भावं प्रतिपद्यते-

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥" [सांख्यका० ९]

इति हेतुपञ्चकादवसीयते । [10]"यदि हि कारणे कार्यमसत् स्यात् तदा नीरूपत्वात् खपुष्पवत्[11]" तत् कर्त्तुं न [12]शक्येत । यदि च असदेव कार्यम् तर्हि नियतोपादानं न स्यात्, यथैव हि तन्तुषु घटस्य असत्त्वं तथा मृत्पिण्डेऽपि अतो मृत्पिण्डवत् तन्तवोऽपि घटार्थिना उपादीयेरन्, पूर्वः कार्यापे-

१ "बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥" सांख्यका० । "इन् इति विषयाणां नाम, तान् इनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् बुध्यन्त इति बुद्धीन्द्रियाणि...कर्म कुर्वन्ति कारयन्ति च कर्मेन्द्रियाणि ।..."माठरवृ० । २-व्यक्तये भां० । ३ "उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् । गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाच्च ॥ २७ ॥" सांख्यका० । उभयात्मकमत्र मनः-कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियम्, बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियम् । माठरवृ० । ४ तथाभूतानीति श्र० । ५ "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४ ॥" भगवद्गी० अ० ३ । "मम स्वभूता मदीया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः योनिः सर्वभूतानां सर्वकार्येभ्यो महत्त्वात् भरणाच्च स्वविकाराणां महद् ब्रह्म इति योनिरेव विशिष्यते । तस्मिन् महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं हिरण्यगर्भस्य जन्मनो वीजं सर्वभूतजन्मकारणं बीजं दधामि निक्षिपामि... ।" भगवद्गी० शां० भा० । ६-रिभू-ब०, ज० । ७ मनुष्याणां आ० । "सूक्ष्माः मातापितृजाः सहप्रभूतैः त्रिधा विशेषाः स्युः । सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजाः निवर्त्तन्ते ॥ ३९ ॥" सांख्यका० । "सूक्ष्मास्तावत् पंच तन्मात्रकाः तैरेव आदिसर्गे सूक्ष्मशरीराणि त्रयाणां लोकानां प्रारब्धानि । तत् सूक्ष्मशरीरम् ऋतुकाले मातुरुदरं प्रविशति...तैरारब्धं सूक्ष्मशरीरमस्मिन् स्थूलशरीरे पतति ।" माठरवृ० । सांख्यसू० ३।७। ८-नां तु औ-ब०, ज०, श्र० । ९ औपपादुकम् ब०, आ० । औपपादिकम् श्र० । १० यदि का-आ० । ११-वत् क-आ० । १२ शक्यंते भां०, श्र० ।

क्षया दोषः अयं तु कारणापेक्षया। यदि च असत् कार्यम् सर्वं सर्वस्मात् जायेत असत्त्वाऽविशेषात्, ततश्च मृत्पिण्डादपि घट-पटोत्पत्तिः तन्तुभ्यश्च स्यात् इति, अयं कारणापेक्षयैव अतिप्रसङ्गो दोषः। शक्तस्य च शक्यकरणं न्याय्यम्, न च असतः कार्यस्य आकाशकुशेशयवत् शक्यक्रियत्वम्, नापि तत्र कारणस्य सामर्थ्यम्, अयञ्च कार्यकारणयोर्धर्मापेक्षया दोषः। कारणभावाच्च सत्कार्यम्; कारणभावो हि कारणत्वम्, तच्च नित्यसम्बन्धित्वात् कार्यसम्बन्धमपेक्षते, न च असता गगनाम्भोजप्रख्येण कारणस्य कश्चित् सम्बन्धः, अतः कारणे कार्यं तादात्म्येन वर्त्तते। कथमेवं तयोर्भेदः ? इति चेत्;

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥" [सांख्यका० १०] इति

लक्षणभेदात्। व्यक्तमेव हेतुमत्-हेतुः कारणम् अस्याऽस्तीति, प्रधानेन हि हेतुमती बुद्धिः, बुद्ध्या अहङ्कारः, अहङ्कारेण षोडशको गणः, पञ्चतन्मात्रैः पञ्चमहाभूतानि, न तु प्रधानं तत्कारणाऽसत्त्वात्। चिद्रूपश्च पुरुषो न जडस्य कारणम् अत्यन्तविलक्षणत्वात्, जडानां सा सूक्ष्मतरावस्था, न अतो अवस्थान्तरं सूक्ष्मतममस्ति तेन जडस्य अजडस्य वा प्रधानं प्रति कारणत्वाऽभावात् सिद्धमस्याहेतुमत्त्वम्। अत एव तत् नित्यम्, तद्विपर्ययात् महदाद्यनित्यम्। कारणाच्च कार्येण अल्पपरिमाणेन भवितव्यम् इति कारणापेक्षया महदादेः अव्यापकत्वम्, विपर्ययात् प्रधानस्य व्यापकत्वम्। क्रिया च परिस्पन्दात्मिका मूर्त्तस्यैव महदादेर्भवति इति सक्रियं तत्, एतद्विपर्ययात् निष्क्रियं प्रधानम्, परिणामात्मिका तु क्रिया द्वयोरप्यस्ति। बहूनाम् ईश्वराणां परस्परमतभेदेन कार्यारम्भे यथा काचपच्यात् कार्योऽनिष्पत्तिः तथा बहूनां प्रधानानामपि इति एकं तत्, व्यक्तं तु महदादिभेदाद् अनेकम्। आश्रितञ्च व्यक्तम्, यद् यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात्, न तु एवमव्यक्तम् तस्य अकार्यत्वात्। लिङ्गञ्च; 'लीनं सूक्ष्मं स्वकारणं गमयति, लयं गच्छति' इति वा। घनीभूताऽवयवयोगात् सत्त्वादि-अङ्गाऽङ्गिभूताऽवयवयोगाच्च सावयवं व्यक्तम्, तद्विपर्ययात् निरवयवमव्यक्तम्। हेतुमत्त्व-आश्रितत्वाभ्यां परतन्त्रं व्यक्तम्, न त्वेवमव्यक्तम्। न चैवमनयोः आत्यन्तिको भेद एव;

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥" [सांख्यका० ११] इति

लक्षणाऽभेदात् तदभेदस्यापि उपपत्तेः। सत्त्वरजस्तमोमयत्वाद् द्वयोरपि त्रिगुणत्वं तुल्यम्। 'इमे सत्त्वादयो गुणाः, इदं व्यक्ताऽव्यक्तम्' इति पृथक्कर्त्तुमशक्यत्वात् अविवेकि। तथा द्वयमपि विषयः भोग्यस्वभावत्वात्, 'विषिणोति भोग्यतया बध्नाति इन्द्रियाणि' इति विषयः।

---

१ तत्का-आ०, ब०। २ प्रवर्त्तते आ०। ३ धर्मः ब०, ज०,। एकादशेन्द्रियाणि पंचतन्मात्राश्च। ४ निष्क्रियत्वं आ०।

सामान्यश्च सर्वपुरुषोपभोग्यत्वात् देशकुटीवत् । विषयत्वादेव च अचेतनं तत्, चेतनस्य एवंरूपत्वाऽनुपपत्तेः । प्रसवधर्मि च द्वयमपि 'प्रसवः कार्यजननं धर्मोऽस्य' इति; तथाहि–प्रधानं बुद्धिं जनयति, बुद्धिरपि अहङ्कारम्, अहङ्कारोऽपि तन्मात्राणि इन्द्रियाणि च एकादश, तन्मात्राणि महाभूतानि जनयन्तीति । पुरुषस्तु सामान्यधर्मेण सरूपः अन्यैस्तु धर्मैः विरूपः, यथा हि प्रधानं भोग्यत्वेन सर्वभोक्तृसाधारणम् तथा पुरुषोऽपि भोक्तृत्वेन सर्वभोग्यसाधारण इति[1] ।

सत्कार्यवादप्रतिविधानपुरस्सरं सांख्याभिमततत्त्वसृष्टि-भूतसृष्टिप्रक्रियायाः विस्तरतः खण्डनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[2]–प्रकृतिसद्भावाऽऽवेदकं '*भेदानां परिमाणात्*' इत्यादिहेतुपञ्चकम्; तद् आश्रयाऽसिद्धिदोषदुष्टत्वाद् अयुक्तम्; प्रकृतेः असंवेद्यस्वभावतया स्वरूपेण असिद्धत्वात् । व्यधिकरणाऽसिद्धत्वाच्च, 'परिमितत्वादिकं[3] हि साधनं भेदेषु वर्त्तते अस्तित्वं तु साध्यं प्रकृतौ' इति । अथ महदादिभेदानामेव अत्र एककारणपूर्वकत्वं प्रसाध्यते तेन उक्तदोषद्वयाऽभावः; तन्न; प्रधान-पुरुषैरनेकान्तात्[4], तत्र एकत्व-अनेकत्वसंख्यया महापरिमाणेन च परिमितत्वेऽपि एककारणपूर्वकत्वाऽसंभवात् । किञ्च, परिमितं च स्यात् एककारणपूर्वकञ्च न स्यात् किं विरुध्येत ? एककारणपूर्वकत्वे च ईश्वरः कालादिर्वा एकं कारणं भविष्यति इति विरुद्धत्वम् । दृष्टान्तस्य[5] साध्यविकलता ; घटादेरेककारणपूर्वकत्वासंभवात् । न हि एकं किञ्चित् जनकं प्रतीयते , सहकारि-इतरकारणप्रभवत्वात् कार्याणाम् । मृत्पिण्डस्यापि[6] अनेकावयव[7]समुदायात्मकत्वात् न सर्वथैकत्वम्, मृद्द्रव्यस्यापि प्रतिपर्यायं भेदात् । अतः परिमितत्वमनेककारणपूर्वकत्वेनैव व्याप्तत्वात् विरुद्धम् ।

'समन्वयात्' इत्यपि अनैकान्तिकम्; प्रकृति-पुरुषाणामेककारणपूर्वकत्वाऽभावेऽपि नित्यव्यापित्वादिधर्मैः समन्वयसंभवात्, पुरुषाणाञ्च भोक्तृत्वादिधर्मैः इति । भिन्नजातीनां च जलाऽनलादीनामेकोपादानप्रभवत्वं दुरुपपादम्, पदार्थजातिभेदस्य कारणैकत्वविरोधित्वात् । असिद्धञ्चेदम्; नहि समग्रभूतग्रामस्य सुखदुःखमोहमयत्वेन प्रधानान्वितत्वसिद्धिरस्ति 'सुखा-[8]दीनामन्तःसंविद्रूपतया प्रतिभासतो बाह्यार्थानां तन्मयत्वाऽनुपपत्तेः, न हि कश्चित् बाह्यं स्रक्चन्दनादिकं 'सुखम्' इति प्रतिपद्यते, सुखजनकत्वेन आबालं तत्प्रसिद्धेः । न च कार्यकारणयोः एकत्वम् अनौपचारिकं प्रामाणिकैः आद्रियते । प्रधानसत्त्वस्य च अद्याप्यप्रसिद्धेः तस्यैव

१ पूर्वपक्षे निर्दिष्टानां सांख्यकारिकाणां विशेषव्याख्यानं माठरवृत्तौ तत्त्वकौमुद्यां च द्रष्टव्यम् । २ पृ० ३५० पं० १५ । ३–कं साधनं आ० । ४ "प्रधानपुरुषैरनेकान्तात् ।...." स्या० रत्ना० पृ० ९८६ । ५–स्य च सा–श्र० । ६ "मृद्विकारादयो भेदाः नैकजात्यन्वितास्तथा । सिद्धा नैकनिमित्ताश्च मृत्पिण्डादेर्विभेदतः ॥ ४३ ॥ चैतन्याद्यन्वितत्वेऽपि नैकपूर्वत्वमिष्यते । पुरुषाणाममुख्यं चेत्तदिहापि समं न किम् ॥ ४४ ॥" तत्त्वसं० । सन्मति० टी० पृ० ३०६ । स्या० रत्ना० पृ० ९८६ । ७–वयवस्य समुदा–श्र० । ८ दुःखादीना–भां० । "नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयाऽन्वय उपपद्यते । सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः...।" ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।१ ।

शक्तितः प्रवृत्तेः तदस्तीति किं केन संङ्गतम्[1], अन्यथा 'खपुष्पमस्ति तस्यैव शक्तितः प्रवृत्तेः' इत्यपि स्यात्। शक्तेश्च[2] व्यतिरेक-अव्यतिरेकैकान्ते अनुपपत्तेः कथं ततः कस्यचित् प्रवृत्तिः? कारणकार्यविभागाच्च तत्सत्त्वसिद्धिः खरविषाणसत्त्वसिद्धिमन्वाकर्षति, न खलु खरविषाणवत् प्रधानस्य सत्त्वं कुतश्चित् प्रसिद्धम्। प्रलयकालस्य चाप्रसिद्धेः अविभागोऽपि वैश्वरूप्यस्य उक्तप्रकारोऽप्रसिद्ध एव। तन्न उक्तहेतुभ्यः प्रकृतिसिद्धिः[3]।

अस्तु वा ततस्तत्सिद्धिः, तथापि प्रकृतिः तत्त्वसृष्टौ भूतसृष्टौ च प्रवर्त्तमाना स्वभावतः[4] प्रवर्त्तते, किञ्चिन्निमित्तमाश्रित्य वा? स्वभावतः प्रवृत्तौ नैयत्येन प्रवृत्तिः प्रवृत्तिविरामश्च न स्यात्, चैतन्यशून्यस्य 'एतावत्येव तत्त्वसृष्टिः,इदमस्यैव च उपकारकं भवतु' इत्यनुसन्धानविकलस्य तदसंभवात्। निमित्तं[5]च किं पुरुषप्रेरणम्, पुरुषार्थकर्त्तव्यता वा स्यात्? न तावत् पुरुषप्रेरणम्; निरभिलापस्य उदासीनतया इष्टस्य 'इदमस्माद् भवति[6]' इति अनुसन्धानाऽभावतः प्रतिनियतायां प्रसवक्रियायां तत्प्रेरणाऽसंभवात्। नापि पुरुषार्थकर्त्तव्यता; पुरुषस्य निरभिलापतया अर्थस्यैव असंभवात्। प्रकृतेश्च जडतया 'पुरुषप्रयोजनमहं सम्पादयामि' इत्यनुसन्धानाऽनुपपत्तेः। नहि पुरुषेण अनभिलषितः पुरुषार्थो नाम, लोके हि 'अस्य इदमभिलषितम्' इति तद्वचनादन्यतो वा कुतश्चिन्निश्चित्य 'अस्य अभिलषितमहं सम्पादयामि येनायं मम तुष्यति' इति अनुसन्धाय च प्रवृत्तिः प्रतीयते। अथ अस्याः स्वभावस्तादृशः येन केनचिदप्रयुक्ताऽपि 'अस्याभिलापं पूरयामि' इत्यनुसन्धानशून्याऽपि एवंविधं विश्वप्रपञ्चमारच[7]यतीति; नन्वयं स्वभाववादः प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुनि उपपन्नः यथा अग्न्याकाशयोर्दहनेतरस्वभावतायाम्, तदप्रतिपन्नेऽपि तदभ्युपगमे वन्ध्यासुतादेरपि जगद्वैचित्र्यविधाने स्वभावाऽभ्युपगमः किन्न स्यात्? ततः प्रधानस्य परिणामप्रसराऽनुपपत्तेः अयुक्तम्–'*प्रकृतेर्महान्*' इत्यादि तत्प्रसरक्रमनिरूपणम्।

किञ्च, अयं महदादिप्रपञ्चः प्रकृतेर्भिन्नः, अभिन्नो वा? अभेदे द्वयोरप्यविशेषतः कार्यत्वं[8] कारणत्वं वा स्यात्, तथा च 'प्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणषोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, बुद्धि-अहङ्कार-तन्मात्राणां पूर्वोत्तरापेक्षया[9] कार्यत्वं कारणत्वञ्च' इति प्रतिज्ञातं विरुध्येत। तथा चेदमसङ्गतम्—

१ संगृह्यताम् ब०, ज०। २ "शक्तितः प्रवृत्तेः इत्यनेन यद्यव्यतिरिक्तशक्तियोगिकारणमात्रं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता। अथ व्यतिरिक्तविचित्रशक्तियुक्तमेकं नित्यं कारणं तदाऽनैकान्तिकता हेतोः…।" तत्त्वसं० पं० ३९। प्रमेयक० पृ० ८४ पू०। सन्मति० टी० पृ० ३०६। ३ प्रकृतसि–ज०। ४ "तच्च केवलं प्रधानं…किमपेक्ष्य प्रवर्तते निरपेक्ष्य वा?" प्रमेयरत्नमा० ४।१। ५–त्तं किं आ०। ६ भवतु आ०। ७–माचरतीति ब०, ज०, आ०। ८ "नहि यद् यस्मादव्यतिरिक्तं तत्तस्य कारणं कार्यं वा युक्तं भिन्नलक्षणत्वात् कार्यकारणयोः।…ततश्च यद्भवद्भिः मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव…।" तत्त्वसं० पं० पृ० २२। प्रमेयक० पृ० ८१ उ०। सन्मति० टी० पृ० २९६। ९ रूपान्तरापेक्षया ब०, ज०।

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥" [सांख्यकारि० ३] इति ।

यच्च प्रकृतौ महदादिप्रपञ्चस्य सत्त्वसाधने 'असदकरणात्' इत्यादि साधनमुपन्यस्तम्[1]; तत्र को धर्मी, किञ्च साध्यम् ? यदि कार्यं धर्मी, 'प्रागुत्पत्तेः सत्' इति साध्यम् ; तदा व्यधिकरणाऽसिद्धो हेतुः, सत्त्वं हि साध्यं महदादिकार्ये वर्त्तते असदकरणं तु साधनं खपुष्पादौ अकार्ये इति । अथ असदकरणम् 'सतः करणात्' इत्यत्र पर्यवस्यति; तदा साध्याऽविशिष्टत्वम् । अथ क्रियमाणत्वं हेतुः, प्रागुत्पत्तेः कार्यमस्ति क्रियमाणत्वात्, 'असदकरणात्' इति तु व्यतिरेककथनम्–'यदसत् तन्न क्रियते यथा गगनकुसुमम्' इति; तदप्यविचारितरमणीयम् ; सतः करणविरोधात्, यद्धि निष्पन्नं स्वात्मसत्तां प्रति अन्यनिरपेक्षं तत् 'सत्' इत्युच्यते, तस्य च कथं करणम् ? प्रयोगः–यत्[2] सर्वात्मना सत् तन्न केनचित्कर्तुं शक्यम् यथा प्रकृतिः पुरुषो वा, सच्च सर्वात्मना परमते कार्यमिति । अतः अनिष्पन्नस्यैव करणमुपपन्नम्, निष्पन्नत्व-अनिष्पन्नत्वयोश्च विरुद्धधर्मयोः एकत्र धर्मिणि एकान्तवादिनः समावेशाऽसंभवात् अतो विरुद्धोऽयं हेतुः; क्रियमाणत्वस्य असत्त्वे सत्येव संभवात् ।

असत्कार्यवादाऽनभ्युपगमे च कथं कारणेऽसन्तो हेतुमत्त्वादयो धर्माः कार्ये भवितुमर्हन्ति ? न खलु ते व्यक्तवद् अव्यक्ते सन्ति । कालात्ययापदिष्टश्च; पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनात्, न खलु उत्पत्तेः प्राक् कार्यं स्वतन्त्रं कारणात्मकं वा प्रत्यक्षतः प्रतीयते, सतो हि क्षीरादौ विशिष्टाकारसंस्थानरसाद्युपेतस्य दध्यादेः प्रत्यक्षेण अवश्यं भाव्यम्, दध्याद्यर्थिनः[3] क्षीरादौ प्रवृत्त्या च । अथ न साक्षाद् व्यक्तीभूता दध्याद्यवस्था तत्र साध्यते, किन्तु शक्त्यात्मना तत्र व्यवस्थितं दध्यादि व्यक्तीभवति इति ; ननु केयं शक्त्यात्मकता नाम–दध्यादेः सूक्ष्मेण रूपेण अवस्थानम्, क्षीरादेस्तज्जननसामर्थ्यं[4] वा ? तत्र आद्यः पक्षोऽयुक्तः; नहि पदार्थस्य द्वे रूपे स्तः स्थूलं सूक्ष्मं च, निष्पन्नता हि पदार्थस्य स्वरूपप्राप्तिः, सा चेदस्ति किं स्थूल-सूक्ष्मभेदेन ? द्वितीयपक्षे तु न सत्कार्यवादः समर्थितः, नहि सामर्थ्यमेव कार्यं युक्तम् ।

किञ्च इदं कार्यं नाम–किमसतः प्रादुर्भावः, अङ्गाङ्गिभावगमनम्, धर्मिणः पूर्वधर्मत्यागेन धर्मान्तरस्वीकारो वा ? प्रथमपक्षे स्वमतविरोधः । द्वितीयपक्षे तु कः अङ्गाङ्गिभावार्थः ? गुणप्रधानभावश्चेत्; तथाहि–यत्र सत्त्वम् अङ्गि रजस्तमसी अङ्गे तत्र सात्त्विकः परिणामः सुखात्मा स्रक्चन्दनादिः, यत्र रजः अङ्गि सत्त्वतमसी अङ्गे तत्र राजसो दुःखात्मा अहिकण्ट-

---

१ पृ० ३५२ पं० १३ । २ "यत् सर्वाकारेण सन्न तत् केनचिज्जन्यम् यथा प्रकृतिः चैतन्यं वा ?" तत्त्वसं० पं० पृ० २५ । सन्मति० टी० पृ० २९८ । ३ दध्यर्थिनः आ०, ब०, ज०, श्र० । "यदि दध्यादयः सन्ति दुग्धाद्यात्मतु सर्वथा । तेषां सतां किमुत्पाद्यं हेत्वादिसदृशात्मनाम् ॥ १७ ॥" तत्त्वसं० । ४ तज्जनकत्वसाम–श्र० ।

कादिः, यत्र तमः अङ्गि सत्त्वरजसी अङ्गे तत्र तामसः अन्धकारादिः इति; तदसत्यम्; स्रक्चन्दनादेः सुखाद्यात्मकत्वस्य प्राक् प्रतिषेधात्। अङ्गाङ्गिता च सत्त्वादेः पूर्वरूपवैलक्षण्ये, अवैलक्षण्ये वा स्यात्? अवैलक्षण्ये अङ्गिता वा अङ्गतैव वा स्यात्? वैलक्षण्ये तु धर्मिणः पूर्वधर्मत्यागेन धर्मान्तरस्वीकार एव स्वीकृतः स्यात् सत्त्वादेः सूक्ष्मरूपत्यागेन स्थूलरूपतोपादानात्। पूर्वधर्मस्य च त्यागे नाशः तिरोभावः, नाशाभ्युपगमे स्वमतक्षतिः। तिरोभावश्च अतिरोभावविनाशमन्तरेण नोपपद्यते, तदभ्युपगमे च पूर्वधर्मविनाश एव अभ्युपगम्यताम् किमनेन अन्तर्गडुना? तथा च परमतप्रवेशः।

धर्मान्तरस्वीकारोऽपि तदुत्पादः, अभिव्यक्तिर्वा? न तावत् तदुत्पादः; सत्कार्यवादक्षतिप्रसङ्गात्। अभिव्यक्तिरपि ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा स्यात्? यदि ज्ञानधर्मः; अर्थस्य किमायातं येन सोऽप्यभिव्यक्तः स्यात्? यज्ज्ञानधर्मश्चासौ तज्ज्ञानमपि तत्कालोत्पन्नम्, पूर्वकालस्थितं वा? पूर्वकालस्थितत्वे पूर्वमपि उपलम्भः स्यात्। तत्कालोत्पत्तौ च सत्कार्यवादक्षतिरेव। अर्थधर्मत्वेऽपि अर्थस्य सदा सत्त्वेन अस्याः सदा सत्त्वाऽनुषङ्गात् सदैव अभिव्यक्तोऽर्थः स्यात्, तदाऽसत्त्वे वा अस्य असत्कार्यवादप्रसङ्गात् स एव परमतप्रवेशाऽनुषङ्गः। अभिव्यक्तेश्च पूर्वं यथा अन्यस्यां दाहादिक्रियायां वस्तु असमर्थम् तथा [1]अभिव्यक्तावपि, तत्कथं तत्संभवः? कथञ्च अप्रत्यक्षस्वभावस्य प्रधानस्य प्रत्यक्षस्वभावो भावप्रपञ्चः स्यात्, नीरूपस्वभावस्य च रूपवान्? नीरूपादपि अतो रूपवद्भावप्रपञ्चसंभवे [2]चेतनादात्मनो अचेतनो जगत्प्रपञ्चः किन्न स्यात् यतो ब्रह्माद्वैतसिद्धिर्न स्यात्?

न च सत्[3]कार्यवादे कारकाणां साफल्यम्, प्रागसत्किञ्चिदपि अकुर्वतां कारकव्यपदेशस्यापि असंभाव्यमानत्वात्; प्रयोगः–यद् अविद्यमानसाध्यं न तत् कारकम् यथा चैतन्यम्, अविद्यमानसाध्यश्च परमते कारकत्वेनाभिमतः पदार्थ इति। न च अभिव्यक्तौ तेषां व्यापारः; तत्रापि सत्त्वा[4]ऽसत्त्वपक्षयोः करणाऽसंभवात्, न खलु सापि विद्यमाना कर्त्तुं युक्ता करणाऽनुपरमप्रसङ्गात्। अविद्यमानायाश्च करणे सत्कार्यवादहानिः स्यात्। कारकाणि च उपादानसहकारिभेदेन विभिन्नानि; तत्र क [5]कुटादिकार्यस्य सूक्ष्मेण रूपेण अनभिव्यक्तस्य अवस्थानम्? उपादाने मृत्पिण्डादौ चेत्; दण्डादीनामकारकत्वम्।

एतेन 'उपादानग्रहणात्' इत्यपि [6]प्रत्युक्तम्; व्यधिकरणाऽसिद्धत्वादेर्दोषस्य अत्राप्यविशे-

---

१ अभिव्यक्तायामपि आ०। २ चेतनात्मनो श्र०। ३ "यदि सत् सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति। परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी॥ ३९॥" आप्तमी०, अष्टसह० पृ० १८१। ४ "साप्यभिव्यक्तिः प्राक् प्रवृत्तेः सती आहोऽसती इति पूर्ववत् प्रसङ्गः।" न्यायवा० पृ० ४४४। तत्त्वसं० पं० पृ० २६। न्यायमं०, पृ० ४९३। प्रश० कन्द० पृ० १४४। प्रश० व्यो० पृ० ५४५। प्रमेयक० पृ० ८२ उ०। सन्मति० टी० पृ० २९८। ५ घटादि–बं०, ज०, भां०, श्र०। ६ प्रत्याख्यातम् भां०, श्र०। "उत्पत्तौ खलु सिद्धायामुपादानं विचार्यते। सतस्तु सैव नास्तीति किमुपादानचिन्तया॥" न्यायमं० पृ० ४९५। तत्त्वसं० पं० पृ० २६। सन्मति० टी० पृ० ३०२।

पात्। किञ्च, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावः, यच्च यस्माद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपजायमानं दृष्टं तदर्थिभिः तद् उपादीयते न सर्वम्, तथा च प्राक् कार्यसद्भावाङ्गीकारो व्यर्थः। तदङ्गीकारे मूलत एव उपादानग्रहणाऽभावप्रसङ्गात्[1], नहि विद्यमानवस्तुसिद्ध्यर्थं कश्चिदुपादानं गृह्णाति, प्रधान-पुरुषयोरपि सिद्ध्यर्थमुपादानग्रहणानुषङ्गात्।

सर्वसंभवाऽभावोपि एतेन चिन्तितः; सर्वसंभवाऽभावो हि नियतस्य नियतात् जन्म उच्यते, तच्च सत्कार्यवादे दुर्घटम्। नैयत्यञ्च अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव अवगम्यते, यद्धि यस्मादुपजायमानं प्रमाणतः परिच्छिन्नं तत् कथमन्यतोऽपि स्यात्? '*शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च*' इत्यपि एतेन कृतोत्तरम्।

किमर्थञ्च [2]शिष्यान् प्रति भवतः शास्त्रप्रणयनं हेतूपन्यासश्च? संशयोच्छित्ति-निश्चयोत्पत्त्यर्थमिति चेत्; तौ यदि संशय-निश्चयौ शिष्यबुद्धिस्थौ स्वरूपेण आसाते कथं तदुच्छित्त्यादिकम्? अथ संशयस्य तिरोभावमात्रं तेन क्रियते न अत्यन्तमुच्छेदः "*नाऽभावो विद्यते सतः।*" [भगवद्गी० २।१६] इत्यभ्युपगमात्, निश्चयस्यापि अभिव्यक्तिमात्रम्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; पुनः संशयाऽऽविर्भावप्रसङ्गात्, तथा च सम्प्रज्ञात[3]योगाय दत्तो जलाञ्जलिः, अत्यन्तसंशयोच्छेदस्य क[4]स्यचिदपि असंभवात्। अभिव्यक्तिश्च 'सती, असती वा न संभवति' इत्युक्तम्। अथ शास्त्र-साधनप्रयोगसाफल्यार्थम् असत उत्पत्तिः सतो विनाशश्च अङ्गीक्रियते; तर्हि तेनैव '*असदकरणात्*' इत्यादेर्व्यभिचार इति। तदेवं प्रधानसद्भावस्य तत्र महदादिसद्भावस्य च कुतश्चिद्धेतोरप्रसिद्धितः प्रकृतेः तत्त्वसृष्टिप्रक्रिया भूतसृष्टिप्रक्रियावत् खपुष्पसौरभ्यावर्णनप्रख्या इत्यु[5]पेक्षते। ततः स्थितमेतत्–'**भेदाऽभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिः अनेकान्तात्**' इति।

कुतः एतत्? इत्यत्राह–'**नाऽन्तर्बहिर्वा**' इत्यादि। **स्वलक्षणं** सौगतकल्पितम् **सामान्यलक्षणं** ब्रह्माद्यद्वैतवादि-सांख्यपरिकल्पितम् **प्रमेयम्**, '**न**' इति सम्बन्धः। क? **अन्तर्बहिर्वा**। तर्हि यौगकल्पितं तत् प्रमेयं स्यादित्यत्राह–**परस्पराऽनात्मकम्**। अन्योन्यमत्यन्तभिन्नम् स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा 'न प्रमेयम्' इति सम्बन्धः। कथं न प्रमेयम्? इत्याह–'**यथा**' इत्यादि। यथा येन प्रकारेण **मन्यते परैः** इति। तर्हि भेदाऽभेदैकान्तव्यतिरेकेण

१–णप्रसङ्गात् श्र०। २ "न सन्देहविपर्यासौ निवर्त्यौ सर्वदा स्थितेः। नापि निश्चयजन्माऽस्ति तत एव वृथाऽखिलम्॥ २४॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ८२ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ९७९। ३ "वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।" योगसू० १।१७। ४ कचिदपि ब०, ज०। ५–पेक्ष्यते आ०। "चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि। न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि॥१३॥" स्याद्वादमं०।

अन्यस्य असंभवान्न किञ्चित् प्रमेयं स्यादित्यत्राह–'द्रव्य' इत्यादि। द्रव्यपर्यायौ उक्तलक्षणौ आत्मा स्वभावः यस्य अर्थस्य तस्य बुद्धौ प्रत्यक्षादिप्रतीतौ प्रतिभासनात् स एव अस्याः प्रमेयः सिद्धः।

'द्रव्यपर्यायौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्यादिना सर्वथा भेदमुपवर्णयतो यौगस्य पूर्वपक्षः—

ननु द्रव्यपर्याययोः भिन्नप्रतिभासत्वादिना अन्योन्यमत्यन्तं भिन्नत्वात् कथं तदात्माप्यर्थः प्रमेयः स्यात्? तथाहि–द्रव्यपर्यायौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटादिवत्। घटपटादौ हि भिन्नप्रतिभासत्वमत्यन्तभेदे सत्येव उपलब्धम्, तद् द्रव्यपर्याययोरुपलभ्यमानं कथन्नात्यन्तभेदं प्रसाधयेत्? अन्यत्राप्यस्य तदप्रसाधकत्वप्रसङ्गात्। न चानयोर्भिन्नप्रतिभासत्वमसिद्धम्; तन्त्वादिद्रव्यप्रतिभासस्य पटादिपर्यायप्रतिभासवैलक्षण्येन अखिलप्राणिनां सुप्रसिद्धत्वात्। तथा विरुद्धधर्माध्यासतोऽपि अनयोः जलाऽनलवद् भेदः। नचानयोः तदध्यासोऽसिद्धः; पटो हि पटत्वजातिसम्बन्धी विलक्षणार्थक्रियासम्पादकः अतिशयेन महत्त्वयुक्तोऽनुभूयते, तन्तवस्तु तन्तुत्वजातिसम्बन्धिनोऽल्पपरिमाणादिधर्मोपेताश्च, इति कथन्न भिद्यन्ते? तादात्म्यञ्च एकत्वमुच्यते, तस्मिंश्च सति प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासश्च न प्राप्नोति विभिन्नविषयत्वात्तयोः। तथा तन्तुपटादीनां तादात्म्ये 'पटः तन्तवः' इति संज्ञाभेदः, वचनभेदः, 'पटस्य भावः पटत्वम्' इति षष्ठी, तद्धितोत्पत्तिश्च न प्राप्नोति। तथा तत्तादात्म्ये तत्पुरुष-बहुव्रीहि-द्वन्द्वसमासा अपि न प्राप्नुवन्ति, सति[3] हि भेदे तत्पुरुषो दृष्टः यथा राज्ञः पुरुषः एवं 'तन्तूनां पटः' इति, बहुव्रीहिश्च यथा चित्रगुः एवं 'तन्तुकारणकः पटः' इति, द्वन्द्वश्च यथा प्लक्ष-न्यग्रोधौ एवं 'तन्तुपटौ' इति।

किञ्च 'तादात्म्यम्' इत्यत्र किं 'स पटः आत्मा येषां तन्तूनाम् तेषां भावः तादात्म्यम्' इति विग्रहः, ते वा तन्तवः आत्मा यस्य पटस्य, 'स च ते च आत्मा यस्य' इति वा? तत्र आद्यविकल्पे पटस्य एकत्वात् तन्तूनामपि एकत्वप्रसङ्गः, अन्यथा तत्तादात्म्याऽनुपपत्तिः। द्वितीयविकल्पे तु तन्तूनामनेकत्वात् पटस्यापि अनेकत्वाऽनुषङ्गः, अन्यथा तत्तादात्म्यं न स्यात्। तृतीयविकल्पस्तु अविचारितरमणीयः; तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽसंभवात्, नहि तन्तु-पटव्यतिरिक्तं किञ्चिद् वस्त्वन्तरमस्ति यस्य तन्तुपटात्मता उच्यते। तन्न द्रव्यपर्याययोस्तादात्म्यं घटते।

एतेन गुणगुणिनोः क्रियातद्वतोः सामान्यविशेषयोः भावाऽभावयोश्च तादात्म्यं प्रत्याख्यातम्; भिन्नप्रतिभासत्वस्य विरुद्धधर्माध्यासादेश्च तद्बाधकस्य अत्राप्यविशेषात्। गुणगुण्यादीनाञ्च आकारनानात्वेऽपि अन्योन्यमनानात्वे बहिरन्तर्वा नानात्ववार्त्तोच्छेदः स्यात्। किञ्च, एकं नित्यं निरवयवं व्यापि च सामान्यस्वरूपम् तद्विपरीतस्वभावाश्च विशेषाः, तत्र यदि वस्तुनः सामान्यस्वभावता उररीक्रियते कथं तत्र विशेषरूपता स्यात् विरोधात्? अथ

१–न्तभि–भां०। २ घटादि–भां०। ३ सति भेदे तत्पुरुषो यथा भा०।

विशेषरूपता अस्य अङ्गीक्रियते; तदा सामान्यस्वभावता तत्र न स्यात् तत एव। भावाऽभावात्मकत्वञ्च अर्थानां छायातपवद् विरोधाद् अतीव दुर्घटम्। किञ्च, भावोपमर्दनात्मकत्वमभावस्य स्वरूपम्, तेन च यदि भावरूपता ग्रासीकृता तदा अभावरूपतैव तत्र स्यात् इति भावरूपताया नामाऽपि न श्रूयेत। उत्तरपदार्थे च निश्चिते सर्वत्र नञः प्रयोगः अब्राह्मणादिवत्, एकान्तश्च यदि क्वचित् निश्चितः कथं सर्वमनेकान्तात्मकं स्यात्?

तदात्मकत्वे च अर्थानां संशयादिदोषोपनिपातः; तथाहि–'केन स्वरूपेण तन्तु-पटादीनां भेदः, केन च अभेदः' इति संशयः। तथा 'यत्र अभेदः तत्र भेदस्य विरोधः, यत्र च भेदः तत्र अभेदस्य शीतोष्णस्पर्शवत्' इति विरोधः। तथा 'अभेदस्य एकत्वस्वभावस्य अन्यदधिकरणम् भेदस्यानेकत्वस्वभावस्य अन्यत्' इति वैयधिकरण्यम्। तथा 'एकान्तेन एकात्मकत्वे यो दोषः अनेकस्वभावत्वाऽभावलक्षणः, अनेकान्तात्मकत्वे च एकस्वभावत्वाऽभावलक्षणः सोऽत्राप्यनुपज्यते' इत्युभयदोषः। तथा 'येन स्वभावेन अर्थस्य एकस्वभावता तेन अनेकस्वभावत्वस्यापि प्रसङ्गः येन च अनेकस्वभावता तेन एकस्वभावत्वस्यापि' इति सङ्करप्रसङ्गः। "*सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः।*" [ ] इत्यभिधानात्। तथा 'येन स्वभावेन अनेकत्वं तेन एकत्वं प्राप्नोति येन च एकत्वं तेन अनेकत्वम्' इति व्यतिकरः। "*परस्परविषयगमनं व्यतिकरः।*" [ ] इति वचनात्। तथा 'येन रूपेण भेदः तेन कथञ्चिद्भेदः येन च अभेदः तेनाऽपि कथञ्चिदभेदः' इत्यनवस्था। अतः अप्रतिपत्तितोऽभावः तत्त्वस्य अनुपज्येत अनेकान्तवादिनाम्। एवं सत्त्वाद्यभ्युपगमेऽपि एते दोषा द्रष्ट-

---

१ "नैकस्मिन्नसंभवात्।" "न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्। य एते सप्त पदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युः नैव वा तथा स्युः, इतरथा हि तथा वा स्युः इतरथा वा इत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्···अवक्तव्याश्च उच्येरन्, उच्यन्ते च अवक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्···उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्ते इति च। तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा···एवं जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोः विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात्, सत्त्वे चैकस्मिन् धर्मे असत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासंभवात् असत्त्वे चैवं सत्त्वस्याऽसंभवादसंगतमिदमार्हतं मतम्।" ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।३३। "अथ पुनः द्रव्यपर्याययोः सम्मूर्च्छितत्वात् नरसिंहवदेकं शबलरूपत्वात् द्विरूपमुच्यते; तदयुक्तम्; नरसिंहस्य शबलरूपत्वाऽसिद्धेः···आह च–द्रव्यपर्यायरूपत्वात् द्वैरूप्यं वस्तुनः किल। तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेदः संज्ञादिभेदतः ॥१॥······धर्मित्वं तस्य चैवं स्यात् तत्तन्त्रत्वात्तदन्ययोः। न चैवं गम्यते तेन वादोऽयं जाल्मकल्पितः ॥४४॥" हेतुबि० टी० पृ० १५१-५७। तत्त्वोपप्लव पृ०.९५-९६। "परस्परस्वभावत्वे स्यात् सामान्यविशेषयोः। साङ्कर्यं तत्त्वतो नेदं द्वैरूप्यमुपपद्यते ॥१७२२॥ परस्परास्वभावत्वेप्यनयोरनुपज्यते। नानात्वमेवं भावेऽपि द्वैरूप्यं नोपपद्यते ॥ १७२३ ॥ तद्भावश्चाप्यतद्भावः परस्परविरोधतः। एकवस्तुनि नैवायं कथञ्चिदवकल्प्यते ॥१७२९॥ विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनौ। शक्यावेकत्र नो कर्तुं केनचित्स्वस्थचेतसा ॥१७३०॥" तत्त्वसं०।

व्याः। तथा अनेकान्ते मुक्तो[1]ऽपि अमुक्त एव स्यात्, अमुक्तोऽपि च मुक्त एव[2] वा, अन्यथा अनेकान्तक्षतिः स्यादिति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिद् भेदाऽभेदात्मकत्वप्रसाधनम्, अनेकान्ते संशयादिदोषपरिहारश्च—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[3]–'द्रव्यपर्यायौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्यादि[4]; तत्र भिन्नप्रतिभासत्वं भिन्न[5]प्रमाणग्राह्यत्वमभिप्रेतम्, भिन्नाकाराऽवभासित्वं वा? प्रथमपक्षे आत्मादिना अनेकान्तः, प्रत्यक्षादिभिन्नप्रमाणग्राह्येऽपि अस्मिन् भेदाऽसंभवात्। द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित् तयोर्भिन्नाकारावभासित्वं विवक्षितम्, सर्वथा वा? यदि कथञ्चित्; तदा कथञ्चिदेव अतः तयोर्भेदः सिद्ध्येत् तेनैव अस्य अविनाभावसंभवात्, न पुनः सर्वथा तद्विपर्ययात्, तथा च हेतोर्विरुद्धत्वम् साध्यविपर्ययसाधनात्। सिद्धसाधनञ्च, अस्माकं कथञ्चि[6]द्भेदस्य इष्टत्वात्। सर्वथा तद्भेदसाधने तु कालात्ययापदिष्टत्वम्; प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् 'अनुष्णोऽग्निः द्रव्यत्वात्' इत्यादिवत्। 'यद् यद्रूपतया प्रमाणतो न प्रतीयते न तत् तद्रूपतया अभ्युपगन्तव्यम् यथा घटः पटरूपतया, प्रमाणतो न प्रतीयन्ते च अत्यन्तभेदरूपतया द्रव्यपर्यायादयः' इत्यनुमानबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वाद्वा।

दूरपादपादिना अनैकान्तिकत्वञ्च; नहि दूर-आसन्नदेशवर्त्तिप्रतिपत्तृणामस्पष्टेतरप्रत्ययग्राह्यतया भिन्नप्रतिभासत्वेऽपि तस्य भेदः संभवति। ननु च अत्र तत्प्रत्ययभेदात् विषयभेदोऽस्त्येव; तथाहि–प्रथमं दूरदेशवर्त्तिनो [7]विज्ञानम् अत्र ऊर्ध्वतासामान्यविषयम्, उत्तरकालं तु तद्देशोपसर्पणे शाखादिविशेषविषयमिति; तदप्यविचारितरमणीयम्; एवं विषयभेदाऽभ्युपगमे 'अमहमद्राक्षं दूरस्थि[8]तः पादपम् एतर्हि तमेव पश्यामि' इति एकत्वाध्यवसायाऽभावप्रसङ्गात्, स्पष्टेतरप्रतिभासानां सामान्य-विशेषविषयत्वेन घट-पटादिप्रतिभासवद् भिन्नविषयत्वात्। अथ पादपापेक्षया तेषामेक[9]विषयत्वमिष्यते सामान्यविशेषापेक्षया तु विषयभेदः; कथमेवम् एकान्ताभ्युपगमो न विशीर्येत, द्रव्यपर्यायादावपि तद्वत् कथञ्चिद्भेदाऽभेदप्रसिद्धेः? अथ सर्वथा तयोर्भिन्नाकारावभासित्वं विवक्षितम्; तदसिद्धम्; कथञ्चित् तादात्म्यापन्नयोरेव द्रव्यपर्याययोः अबाधाऽध्यक्षेऽवभासमानत्वात्। यद् यथा अबाधाध्यक्षेऽवभासते तत् तथैव

---

१ "तथाहि नित्यानित्ययोः विधिप्रतिषेधरूपत्वात् अभिन्ने धर्मिणि अभावः एवं सदसत्त्वादेरपि…"। तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तते इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात्। एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तेः। एवमनेकान्तेप्यनेकान्ताभ्युपगमे दूषणम्।…" प्रश० व्यो० पृ० २० (च)। २ एवान्य– ब०, ज०। ३ पृ० ३५९ पं० ५। ४ इति तत्र ब०, ज०। ५ "किं भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भिन्नाकारावभासित्वाद्वा?" स्या० रत्ना० पृ० ७३८। ६–ञ्चित्तद्भेद–श्र०। ७ विज्ञानमात्रात् ऊ– ब०, ज०। ८–स्थितं पा– ब०, ज०, आ०। ९–कत्वमि– आ०। –कविषयत्वं विशिष्यते ब०, ज०।

अभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया, अबाधाध्यक्षेऽवभासेते च कथञ्चित्तादात्म्येन द्रव्यपर्यायाविति ।

न च तथा तदवभासिनोऽध्यक्षस्य अबाधत्वमसिद्धम् ; तद्बाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात् । नहि प्रत्यक्षं तद्बाधकम्; अत्यन्ततद्भेदस्य[1] अत्राप्रतिभासमानत्वात् । अनुमानमपि एतदेव, अन्यद्वा तद्बाधकं स्यात् ? न तावद् एतदेव; अस्य अध्यक्षबाधितविषयतया उत्थानस्यैवासंभवात् । भ्रान्तत्वान्न तद्विषयस्यानेन बाधा ; इति चेत् ; कुतस्तद्भ्रान्तत्वम् ? अनेन बाधनाच्चेत् चक्रकप्रसङ्गः; तथाहि–अबाधितविषयतया अस्योत्थानेऽध्यक्षस्यानेन बाधा, तस्याञ्च सत्यां तस्य भ्रान्तत्वम् , तस्मिन् सति अबाधितविषयतया अस्योत्थानमिति । कथञ्चैवम् 'अनुष्णोऽग्निः सत्त्वात् जलवत्' इत्यस्यापि अबाधितविषयतया प्रवृत्तिर्न स्यात् भिन्नप्रतिभासत्वस्येव अत्रापि प्रतिबन्धस्य सपक्षे प्रत्यक्षतः प्रतीतेरविशेषात् ? पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनाद् अस्यागमकत्वमन्यत्रापि अविशिष्टम् । तन्नानेनानुमानेन अस्य बाधनम् ।

अनुमानान्तरेण तद्बाधने अस्य वैयर्थ्यम् , साध्यस्यापि अत एव प्रसिद्धेः । न च तद्बाधकं तदन्तरमस्ति; तत्खलु भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकारणप्रभवत्वात् , भिन्नकालत्वात् , विरुद्धधर्माध्यासाद्वा लिङ्गादाविर्भूतं तद्बाधकं स्यात् ? तत्र आद्यपक्षोऽयुक्तः; नर्त्तक्यादिनाऽनेकान्तात् , एकाऽपि[2] हि नर्त्तकी करण-अङ्गहार-भ्रूभङ्ग-अक्षिविक्षेपादिलक्षणां प्रेक्षकजनानां हर्षविषादादिलक्षणां वा अनेकामन्योन्यविलक्षणामर्थक्रियां करोति इति । भिन्नकारणप्रभवत्त्वमपि अङ्कुरादिनाऽनैकान्तिकम् , तस्य एकस्यापि क्षित्याद्यनेककारणकलापादुत्पत्तिप्रतीतेः । अथ भिन्नोपादानकारणप्रभवत्वं भेदकम् न भिन्नकारणप्रभवत्वमात्रम्, तच्च इह नास्ति तेन अयमदोषः ; कथमेवं गुणगुण्यादीनामपि भेदः स्यात् भिन्नोपादानकारणप्रभवत्वस्य तत्राप्यसंभवात् ?

भिन्नकालत्वादपि अप्राप्तपटावस्थेभ्यः प्राक्तनाऽवस्थाविशिष्टेभ्यः[3] तन्तुभ्यः पटस्य भेदः साध्येत, प्राप्तपटावस्थेभ्यो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; पूर्वोत्तरावस्थयोः सकलभावानां भेदाऽभ्युपगमात , न खलु यैव अर्थस्य पूर्वावस्था सैव उत्तरावस्था भवितुमर्हति पूर्वाकारपरित्यागेनैव उत्तराकारोत्पादप्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु असिद्धो हेतुः ; पटावस्थतन्तूनां पटाद् भिन्नकालत्वस्यासंभवात् ।

विरुद्धधर्माध्यासोऽपि धूपदहनादिना अनैकान्तिकः, न खलु हस्तलग्नेतरप्रदेशे शीतोष्णस्पर्शलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेऽपि धूपदहनादेर्भेदः प्रतीयते । न च हस्तलग्नेतरप्रदेशयोरेव शीतोष्णस्पर्शाधारता न धूपदहनाद्यवयविनः इत्यभिधातव्यम् ; प्रत्यक्षविरोधात् । अतोऽत्यन्तभेदस्यैव तादात्म्यविरोधितया विरुद्धधर्माध्यासान्निवृत्तिः न तु कथञ्चिद्भेदस्य, यथा 'रज्जोः

---

१ अत्यन्तं त–ब०, ज० । "न खलु प्रत्यक्षं तद्बाधकं अत्यन्ततद्भेदस्यात्राऽप्रतिभासमानत्वात् ।" स्या० रत्ना० पृ० ७३९ । २–पि नर्त्तकी आ० । ३–भ्यः पटस्य आ० ।

ग्रन्थयः, हस्तस्य सङ्कोचप्रसारणे, सर्पस्य कुण्डलीभावः' इत्यत्र। भेदो हि पदार्थानां प्रतीतितोऽभ्युपगम्यते, सा चेद् अवस्थातद्वतोः कथञ्चिद्भेदेऽपि अस्ति तदा असावपि किमिति नाऽभ्युपगम्यते ? न चेयं राजाज्ञा यद् 'एकस्य नानावस्थात्मकत्वं नास्ति' इति। यदि एकोऽपि क्रमभाविनीनामवस्थानाम् उक्तविधिना तादात्म्येन अनुस्यूतो वर्तेत तदा कथं तत्र कथञ्चिदेकत्वविरोधः ? प्रमाणं हि यथाविधं वस्तुस्वरूपं प्रकाशयति तथाविधमेव तद् अभ्युपगन्तव्यम्, यत्र अत्यन्तभेदं तत् प्रकाशयति तत्र अत्यन्तभेदः यथा घट-पटादौ, यत्र तु कथञ्चिद्भेदं तत्र कथञ्चिद्भेदः यथा रज्जुग्रन्थ्यादौ। तदेवम् अनेकदोषदुष्टत्वात् भिन्नप्रतिभासत्वादिसाधनं न द्रव्यादीनामत्यन्तभेदप्रसाधकं घटते।

दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः; घटपटादीनामपि अत्यन्तभेदाऽसंभवात्, तदसंभवश्च सत्त्वादिना अन्योन्यं तेषामभेदात् सुप्रसिद्धः। साधनविकलश्चायम्; विस्फारिताक्षस्य एकस्मिन्नपि अध्यक्षे[2] घटादीनां प्रतिभाससंभवात्। न च प्रतिविषयं विज्ञानभेदोऽभ्युपगन्तव्यः; अवयविसिद्ध्यभावप्रसङ्गात्, ऊर्ध्व-अधो-मध्यभागेषु तद्भेदस्य अत्रापि कल्पयितुं सुशकत्वात्[3], प्रतीतिबाधा अन्यत्रापि न काकैर्भक्षिता। यदि च दृष्टान्ते अत्यन्तभेदेन अस्य व्याप्त्युपलम्भात् द्रव्य-पर्यायादीनामपि अत्यन्तभेदे साध्ये गमकत्वमिष्यते; तदा 'अश्रावणः शब्दः सत्त्वात् घटादिवत्' इत्यादेरपि गमकत्वमिष्यताम्, सपक्षे घटादौ सत्त्वादेः अश्रावणत्वादिना प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अत्राप्यविशेषात्। पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनाद् अस्यागमकत्वमन्यत्राप्यविशिष्टम्।

यदप्युक्तम्[4]–'तन्तवः पटः इति संज्ञाभेदः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अवस्थाभेदनिबन्धनत्वात्तस्य, अतः तमेव असौ प्रसाधयति न पुनः तदत्यन्तभेदम्। अनैकान्तिकश्चायम्; 'गगनम्' 'आकाशम्' इत्यादौ अत्यन्तभेदाऽभावेऽपि संज्ञाभेदस्य, 'जलम्' 'आपः' इत्यादौ तु संज्ञाभेदस्य वचनभेदस्य च संभवात्। अनन्वयवस्तुविषयो हि संज्ञादिभेदो वस्तुनोऽत्यन्तभेदप्रसाधकः नान्यः; अतिप्रसङ्गात्। प्रयोगः–यः अपरित्यक्तान्वये वस्तुनि संज्ञादिभेदः नाऽसौ अत्यन्तभेदप्रसाधकः यथा 'जलम्' 'आपः' इत्यादिसंज्ञादिभेदः, तथाभूते वस्तुनि [5]संज्ञादिभेदश्चायम् 'तन्तवः' 'पटः' इत्यादिरिति। नन्वेवं गगनाकाशादिवत् तन्तुपटादावपि पर्यायशब्दताप्रसक्तिः इति चेत्; एवमेतत्, तच्छब्दानामवस्थाविशेषवाचित्वात्। योषिदादिकरव्यापारोत्पन्ना हि तन्तवः कुविन्दादिव्यापारात् पूर्वं शीतापनोदाद्यर्थाऽसमर्थाः तन्तुव्यपदेशं लभन्ते, तद्व्यापारात्तु उत्तरकालं विशिष्टावस्थाप्राप्ताः तत्समर्थाः पटव्यपदेशम्।

यच्चान्यदुक्तम्[6]–'पटस्य भावः' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; 'षण्णां पदार्थानामस्तित्वम्' 'षण्णां पदार्थानां वर्गः' इत्यादौ भेदाऽभावेऽपि षष्ठ्याद्युत्पत्तिप्रतीतेः, न खलु भवता षट्पदार्थातिरि-

---

१–मभावात् आ०, ब०, ज०, भां०। २ अक्षे आ०। ३ सुशक्यत्वात् ब०, ज०। ४ पृ० ३५९ पं० १४। ५ संज्ञाभेद–आ०। ६ पृ० ३५९ पं० १५।

क्तम् अस्तित्वादि इष्यते। ननु सत् (सतः) ज्ञापकप्रमाणविषयस्य भावः सत्त्वम् सदुप[2]लम्भकप्रमाणविषयत्वं नाम धर्मान्तरं षण्णामस्तित्वमिष्यते, अतो नाऽनेन अनेकान्तः ; इत्यप्यनुपपन्नम् ; षट्पदार्थसंख्याव्याघातप्रसङ्गात् तत्सत्त्वधर्मस्य तेभ्योऽर्थान्तरत्वात्। ननु धर्मिरूपा एव ये भावाः ते षट्पदार्थाः प्रोक्ताः धर्मरूपास्तु तद्व्यतिरिक्ता इष्टा एव, तथा च पदार्थप्रवेशकग्रन्थः–"एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः।" [प्रश० भा० पृ० १५] इति। अस्त्वेवम्, तथापि अस्तित्वादेर्धर्मस्य षट्पदार्थैः साकं कः सम्बन्धः येन तत् तेषां धर्मः स्यात्–संयोगः, समवायो वा ? न तावत् संयोगः ; अस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्। नापि समवायः; तस्य एकत्वेन इष्टेः। समवायेन चास्य समवायसम्बन्धे तस्यानेकत्वप्रसक्तेः तदिष्टिव्याघातः। सम्बन्धमन्तरेण च धर्मधर्मिभावाऽभ्युपगमे अतिप्रसङ्गः।

किञ्च, अस्तित्वादेः अपराऽस्तित्वाऽभावात् कथं तत्र व्यतिरेकनिबन्धना विभक्तिर्भवेत् ? अथ तत्रापि अपरमस्तित्वमङ्गीक्रियते; तदा अनवस्था स्यात्। अपरापरधर्मसमावेशेन च सत्त्वादेर्धर्मिरूपत्वाऽनुषङ्गात् "षडेव धर्मिणः" [ ] इत्यस्य व्याघातः। ये धर्मिरूपाः त एव षट्त्वेनावधारिताः ; इत्यप्यसारम्; गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानामनिर्देशाऽनुषङ्गात्। नहि एषां धर्मिरूपत्वमेव; द्रव्याश्रितत्वेन धर्मरूपत्वस्यापि संभवात्। तथा 'खस्य भावः खत्वम्' इत्यादौ भेदाऽभावेऽपि तद्धितोत्पत्तेरुपलम्भान्न साऽपि भेदपक्षमेवावलम्बते।

यदप्यभिहितम्[6]–'तत्पुरुष' इत्यादि ; तदप्यभिधानमात्रम् ; यतः 'सेनागजः, काननवृक्षाः' इत्यादौ भेदाऽभावेऽपि तत्पुरुषो दृश्यते, 'मत्तगजा वीरपुरुषा सेना' इत्यादौ बहुव्रीहिश्च।

यदप्युक्तम्–'तादात्म्यम् इत्यत्र किं स पटः आत्मा' इत्यादि ; तत्र इत्थं विग्रहो द्रष्टव्यः–तस्य वस्तुनः आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ सत्त्वाऽसत्त्वधर्मौ वा तदात्मानौ, तच्छब्देन वस्तुनः परामर्शात्, तयोर्भावः तादात्म्यम्–भेदाऽभेदाद्यात्मकत्वम्। वस्तुनो हि भेदः पर्यायरूपतैव, अभेदस्तु द्रव्यरूपत्वमेव, भेदाऽभेदौ तु द्रव्यपर्यायस्वभावौ एव। न खलु द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वा वस्तु; उभयात्मनः समुदायस्य वस्तुत्वात्, द्रव्यपर्याययोस्तु न वस्तुत्वम् नापि अवस्तुता, किन्तु वस्त्वेकदेशता, यथा समुद्रांशो न समुद्रः नाप्यसमुद्रः किन्तु समुद्रैकदेशः। तदुक्तम्–

"नाऽयं वस्तु न चाऽवस्तु वस्त्वंशः [10]कथ्यते बुधैः।
नाऽसमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११८] इति।

---

१ सज्ज्ञापक–ब०, ज०। षड्ज्ञापक–श्र०। "ननु सतः ज्ञापकप्रमाणविषयस्य भावः सत्त्वम्।" प्रमेयक० पृ० १५७ उ०। २–पलम्भप्र–ब०, ज०। ३ इत्यनु–ब०, ज०। ४ उद्धृतञ्चैतत्–तत्त्वसं० पं० पृ० १९२। प्रमेयक० पृ० १५७ उ०। सन्मति० टी० पृ० ६६१। स्या० रत्ना० पृ० ८७८। ५ तदिष्टव्या–ज०। ६ पृ० ३५९ पं० १६। ७–वृक्षः श्र०। ८ पृ० ३५९ पं १९। ९ "तस्य वस्तुनः आत्मानौ तदात्मानौ तयोः भावः तादात्म्यं भेदाभेदस्वभावत्वम्।" आप्तपरीक्षा पृ० २२। प्रमेयक० पृ० १५८ पू०। १० "कथ्यते यतः···यथोच्यते।" इति पाठभेदः, तत्त्वार्थश्लो०।

'स पट आत्मा येषाम्' इत्यपि विग्रहे न दोषः, अवस्थाविशेषापेक्षया तन्तूनामेकत्वस्य इष्टत्वात्। तर्हि 'ते तन्तव आत्मा यस्य' इति विग्रहे तन्तूनामनेकत्वे पटस्यापि अनेकत्वं स्यादिति चेत्; ननु किमिदं तस्य अनेकत्वं नाम–किम् अनेकाऽवयवात्मकत्वम्, प्रतितन्तु तत्प्रसङ्गो वा ? प्रथमपक्षे सिध्यसाध्यता; आतानवितानीभूत-अनेकतन्त्वाद्यवयवात्मकत्वात्तस्य। द्वितीयपक्षस्तु अयुक्तः; प्रत्येकं तेषां तत्परिणामाऽसंभवात्। आतानवितानीभावलक्षणो हि तेषां परिणामविशेषः पटः, स च समुदितानामेव अमीषां प्रतीयते नान्यथा, तथाभूताश्च ते 'पटस्य आत्मा' इति उच्यन्ते। द्विविधो हि वस्तुनः परिणामः–प्रत्येकावस्थायाम् समुदायावस्थायाञ्च, क्षीरादिवत् दध्यादिवच्च। एवं द्रव्यपर्यायवत् गुणगुण्यादीनामपि कथञ्चित् तादात्म्यं प्रतिपत्तव्यम्, प्रतिभासभेदस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य च सर्वथा भेदाऽप्रसाधकत्वप्रतिपादनात्।

यच्चान्यदुक्तम्[1]–'गुणगुण्यादीनाञ्च आकारनानात्वेऽपि' इत्यादि; तदप्यचारु; कथञ्चिद्भेदाऽभेदात्मना गुणगुण्यादिवत् निखिलार्थानां ग्रहणाऽसंभवतो अन्यतोऽन्यस्य अन्यत्वोपपत्तेः। तादात्म्याकारवैलक्षण्ये हि तेषां भेदाऽभेदौ, तथावभासनमेव च उभयात्मना ग्रहणम्, तच्च अन्यत्र नास्ति इति कथं बहिरन्तर्वा नानात्ववार्त्तोच्छेदः स्यात् ?

यदप्युक्तम्[2]–'एकं नित्यम्' इत्यादि; तदपि श्रद्धामात्रम्; सामान्यस्य अनेक-अनित्य-सावयव-अव्यापिस्वरूपत्वप्रतिपादनात्। अतो विशेषपरिणामवत् सादृश्यलक्षणसामान्यपरिणामोऽपि अर्थानां प्रतिव्यक्ति विभिन्न एव। तथाविधसदृशेतरधर्माधारतया च अमीषां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः कथं सामान्यस्वभावतोररीकारे विशेषरूपताऽङ्गीकारो विरुद्ध्येत ? धर्मधर्मिणोश्च[3] न सर्वथा भेदे अभेदे वा तद्भावो घटते सह्यविन्ध्यवत् तदन्यतरस्वरूपवच्च, किन्तु कथञ्चिद्भेदे। भेदो हि धर्म-धर्मिणौ एव, अभेदस्तु तयोः द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वलक्षणम् अशक्यविवेचनत्वम्[4]। न खलु घटपटादीनामिव अनयोः[5] तल्लक्षणम् अशक्यविवेचनत्वं न संभवति; घटादिधर्मिणो[6] मिथश्च[7] भिन्नानामपि सदृशेतरपरिणामाद्यशेषधर्माणां मृदादिद्रव्येण एकेनैव अनुवेधात्[8]।

धर्मिणो धर्माणामेकान्ततो भेदाऽभ्युपगमे च निःस्वभावतापत्तिः, स्वभावस्यापि धर्मतया ततो भेदात्, तथा च अस्यासत्त्वम्। यन्निःस्वभावम् तदसत् यथा गगनेन्दीवरम्, निःस्वभावश्च भवद्भिरभिप्रेतो धर्मी इति। एवञ्च धर्माणामप्यभावः निराश्रयाणां तेषां सद्भावाऽसंभवात्, अतः सकलशून्यतापत्तिः परस्य पूत्कुर्वतोऽपि आयाता। न च निःस्वभावस्याप्यस्य

१ पृ० ३५९ पं० २६। २ पृ० ३५९ पं० २८। ३ "एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाऽभेदः। तथा अवयविनः स्वरूपेण अवयवैरभेदः अवयवान्तरेण तु अवयवान्तरैः भेद इत्यूहनीयम्। तत्र यथा दीर्घह्रस्वादीनां विरुद्धस्वभावानामप्यपेक्षाभेदात् एकत्राप्यविरुद्धत्वं प्रतीतिबलादङ्गीक्रियते तथा भेदाभेदयोरपि द्रष्टव्यं प्रतीत्यविशेषात्।" शास्त्रदीपि० १।१।५। ४ "आत्मनः सुखाद्याकाराः शश्वदात्मान्तरं नेतुमशक्यत्वादशक्यविवेचनाः।" आप्तप० पृ० ४४। ५ उभयोः ब०। ६ घटपटादि–ब०, ज०। ७ मिथः भि–ब०। ८ अनुवेदात्वं भां०, श्र०।

तदाश्रयत्वं युक्तम्; खरविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्। भिन्नस्यापि स्वभावस्य धर्मिणि समवायान्न निःस्वभावता इत्यप्यसुन्दरम्; समवायस्य प्रागेव असत्त्वप्रतिपादनात्।

तथा एकान्ततो धर्म-धर्मिणोरभेदेऽपि अन्यतरस्वभावप्रसङ्गतोऽसत्त्वापत्तिः। सर्वथा अभेदे हि तयोः धर्ममात्रं धर्मिमात्रं वा स्यात् इति अन्यतरस्वभावाऽभावः। कल्पितत्वात् तद्भावस्य न तदभावो दोषाय; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; निर्वीजायाः कल्पनाया एव अनुपपत्तेः। न चास्या निर्वीजत्वमसिद्धम्; वहिरन्तर्वा वस्तुनः एकान्तैकस्वभावत्वे तत्कारणत्वाऽनुपपत्तेः। नहि एकान्तैकस्वभावमनेककल्पनाबीजं युक्तम्; विभिन्नशक्तिशून्यस्य विभिन्नकार्यहेतुत्वाऽनुपपत्तेः, यद् विभिन्नशक्तिशून्यम् तन्न विभिन्नकार्यहेतुः यथा नित्याभिमतं वस्तु, विभिन्नशक्तिशून्यं च स्वलक्षणाभिमतं वस्तु। अतः कथमेतत् धर्मधर्मिकल्पनालक्षणकार्यद्वयहेतुः स्यात्? विभिन्नस्वभावव्यावृत्तिवशात् विभिन्नशक्तिशून्यादपि स्वलक्षणाद् विभिन्नकार्योत्पत्तिरविरुद्धा; इत्यप्यचर्चिताऽभिधानम्; तस्यास्ततो भिन्नायाः संभवाऽभावात्, अवस्तुरूपतया खरविषाणवत् [2]विभिन्नस्वभावत्वाऽनुपपत्तेश्च। तदुपपत्तौ वा न अवस्तुत्वमस्याः स्यात् इति अपोहविचारावसरे वक्ष्यते। तद्भेदे[3] च वस्तुन्येव भेदोऽस्तु तत्र तस्याऽविरोधात्, 'अवस्तु भिद्यते वस्तु न भिद्यते' इति किमपि महाद्भुतम्! व्यावृत्तिभेदाभ्युपगमे च सिद्धो धर्मभेदः व्यावृत्तीनामपि धर्मत्वात्।

यदप्युक्तम्[4]–'भावाऽभावात्मकम्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; तदात्मकत्वस्य अर्थेषु उपलभ्यमानत्वेन विरोधाऽसिद्धेः। विरोधो हि अनुपलम्भसाध्यः यथा वन्ध्यायां स्तनन्धयस्य, न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे पररूपादिना असत्त्वस्य अनुपलम्भोऽस्ति। न खलु वस्तुनः सर्वथा भाव एव स्वरूपम्; स्वात्मना इव परात्मनाऽपि भावप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वात्मकत्वाऽनुपङ्गतः सत्ताद्वैतं स्यात्, तच्च प्रागेव कृतोत्तरम्। नाप्यभाव एव; पररूपेण इव स्वरूपेणाऽपि अभावप्रसङ्गतः खपुष्पप्रख्यत्वानुपङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्गतो निखिलव्यवहारोच्छेदः स्यात्, क्वचिदपि प्रवृत्त्याद्यभावात्। प्रतिविहिता च तच्छून्यता प्राग् इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन।

१–प्रसङ्गादस–ज०। २ भिन्नस्वभावानु–ब०, ज०। ३ तद्भेदेऽपि आ०। ४ पृ० ३६० पं० ११। ५ "ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्? न विरोधः; सह दर्शनात्। यदि हि इदं रजतं नेदं रजतमितिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेतां न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः। इयं गौरिति बुद्धिद्वयमपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तु द्व्यात्मकत्वं व्यवस्थापयति। सामानाधिकरण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वञ्च भेदम् अतः प्रतीतिवलादविरोधः, अपेक्षाभेदाच्च; तथाहि···।" शास्त्रदी० १।१।५। प्रमेयक० पृ० १५८। ६ "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५॥" आप्तमी०। "स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मकं वस्तु न विपर्यासेन।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १३५। "स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ॥१२॥" मीमांसाश्लो० अभावपरि०। ७ भावः स्व– आ०। "स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसङ्गात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः। स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधः···।" अष्टसह० पृ० १३१। ८–पङ्गात् ब०, ज०।

न च स्वरूपादिना सत्त्वमेव पररूपादिना असत्त्वम्, पररूपादिनाऽसत्त्वमेव च स्वरूपादिना सत्त्वमित्यभिधातव्यम्; तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात्, स्वद्रव्यादिकं हि निमित्तमपेक्ष्य अर्थे सत्त्वं व्यवस्थाप्यते परद्रव्यादिकं तु अपेक्ष्य असत्त्वम्, अतो विभिन्ननिमित्तनिवन्धनत्वात् सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदः[1]। यस्य विभिन्ननिमित्तनिवन्धनत्वं तस्य भेदः यथा एकत्वादिसंख्यायाः, विभिन्ननिमित्तनिवन्धनत्वञ्च सत्त्वाऽसत्त्वयोरिति। न चाऽयमसिद्धो हेतुः; उक्तप्रकारेण समर्थितत्वात्। नापि दृष्टान्तस्य साध्यसाधनवैकल्यम्; एकत्र[2] द्रव्ये स्वरूपमात्रापेक्ष-एकत्वसंख्यातः द्रव्यान्तरापेक्षद्वित्वादिसंख्याया विभिन्ननिमित्तनिवन्धनत्वस्य भेदस्य च सुप्रसिद्धत्वात्। सर्वथा अभेदे[3] तु अनयोः तन्निवन्धनत्वानुपपत्तिः, यत् सर्वथाऽभिन्नम् न तत्र विभिन्ननिमित्तनिवन्धनत्वम् यथा सत्त्वे असत्त्वे वा, सर्वथाऽभेदश्च सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भवद्भिरिष्टः इति। प्रतिनियतसदसत्प्रत्ययगोचरचारित्वाऽनुपपत्तिश्च अनयोः, तत एव, तद्वत्। अभिन्ननिमित्तनिवन्धनत्वे च तत्प्रत्यययोः 'सर्वत्र हेतुभेदात् फलभेदः' इत्यभ्युपगमो विरुद्ध्येत। प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपश्च सत्त्वाऽसत्त्वयोः सर्वथाऽभेदे; घटो[4] हि यथा स्वद्रव्यादिना[5] सन् नैवं परद्रव्यादिनाऽपि तत्सत्त्वाऽव्यतिरिक्तत्वात् तदसत्त्वस्य, तेन असत्त्वे वा स्वद्रव्यादिनापि असत्त्वं स्यात् तदसत्त्वाऽव्यतिरिक्तत्वात् सत्त्वस्य, अतः प्रतिनियतवस्तुस्वरूपाऽव्यवस्थितेः सिद्धः प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपः। वस्तु[6]सत्त्वमेव[7] अन्यविविक्तताविशिष्टं तद्व्यवस्थाहेतुः; इत्यपि अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायानुसरणम्; असत्त्वस्यैव 'विविक्तता' इति नामान्तरकरणात्। ततः स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मकाः सर्वे[8] भावाः प्रतिपत्तव्याः, प्रतिनियतरूपव्यवस्थाऽन्यथाऽनुपपत्तेः, प्रतिनियतकार्यकारित्वान्यथाऽनुपपत्तेर्वा।

अथ इतरेतरा[9]ऽभाववशात् तद्व्यवस्था भविष्यति इत्युच्यते; ननु किंस्वभावोऽयम् इतरेतराभावः–स्वतन्त्रः, भावधर्मो वा? न तावत् स्वतन्त्रः; तथाविधस्यास्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। अथ भावधर्मः; कस्य पुनः भावस्य धर्मोऽसौ–घटस्य, भूतलस्य, उभयस्य वा? यदि घटस्य; तत्रापि किं घटस्वरूपस्य निषेधकः, न वा? निषेधकश्चेत्; किं घटे एव, भूतले वा? प्रथमपक्षे कथं घटधर्मोऽसौ धर्मिण एव असत्त्वात्? कथं वा 'भूतले घटो नास्ति' इति प्रतीतिः घटे एव तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्? द्वितीयपक्षे तु अस्मन्मतसिद्धिः, घटाभावस्य घटधर्मस्यैव सतो भूतले घटस्वरूपप्रतिषेधकत्वेन अस्माभिरभ्युपगमात्। अथ अनिषेधकः; [10]तदा भूतलेऽपि घट-

---

१ "स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षायाः स्वरूपभेदात् सत्त्वाऽसत्त्वयोः एकवस्तुनि भेदोपपत्तेः···।" अष्टसह० पृ० १३२। प्रमेयक० पृ० १५८ पू०। २ एकद्रव्ये ब०, ज०। ३–दे च तयोः श्र०। ४ पटो ब०, ज०। ५–ना अस्तीति नै–ब०, ज०। ६ तत्सत्त्वमेव ब०, ज०। ७–मेव विवि–आ०। ८ "स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः सर्वस्य सर्वाऽकरणात्···।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १३३। ९ "यच्चेदं स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वमिष्यत एव इतरेतराभावाऽभ्युपगमात्···।" प्रश० व्यो० पृ० २० (ङ)। १० तथा आ०।

स्वरूपप्रसङ्गाद् अभावकल्पनावैयर्थ्यम्। अथ भूतलधर्मोऽसौ; तन्न; 'घटो नास्ति' इति[1] सामानाधिकरण्येन प्रत्ययप्रवृत्तितो घटधर्मत्वस्य अत्र उपपत्तेः भाववत्, यथैव हि 'घटोऽस्ति' इति सामानाधिकरण्यप्रतीतेः भावः घटधर्मः तथा अभावोऽपि। अभावस्य आधारधर्मत्वेऽपि आधे[2]यसामानाधिकरण्याऽविरोधे भावस्यापि तद्धर्मत्वेऽपि तदविरोधोऽस्तु, इति उभयधर्मशून्यो घटादिः खपुष्पात् न [3]विशिष्येत। एतेन उभयधर्मताऽपि असत्त्वस्य प्रत्युक्ता; सत्त्वस्यापि तद्धर्मताप्रसङ्गात्।

यदप्युक्तम्[4]-'[5]भावरूपता ग्रासीकृता' इत्यादि; तत्र किमिदम् अभावरूपतया ग्रासीकरणं नाम-स्वरूपापहारः, एकाश्रयप्रतिषेधो वा ? न तावत् स्वरूपापहारः; सत्त्वाऽसत्त्वयोः तुल्यबलतया अन्योन्यस्वरूपापहारकत्वाऽयोगात्। नापि एकाश्रयप्रतिषेधः; स्वपररूपाभ्यां भावाऽभावयोः एकत्राप्याश्रये सद्भावप्रतिपादनात्।

यच्चान्यदुक्तम्[6]-'उत्तरपदार्थ' इत्यादि; तत्सत्यम्; नयप्रतीत्या[7] निश्चिते एव एकान्ते नञः प्रयोगाऽभ्युपगमात्। न चैवं 'सर्वमनेकान्तात्मकम्' इत्यभ्युपगमविरोधः; प्रमाणविषयापेक्षया सर्वस्य तदात्मकत्वप्रतिज्ञानात्, नयगोचरापेक्षया तु एकान्तात्मक[8]स्यापि अभ्युपगमात्। "*अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः*[9]।" [बृहत्स्वयं० श्लो० १०३] इत्यभिधानात्। "*धर्मिणोऽनेकरूपत्वं न धर्माणां कथञ्चन*।" [ ] इति वचनाच्च।

यदप्यभिहितम्[10]-'तदात्मकत्वे संशयादिदोषः' इत्यादि; तदपि मनोरथमात्रम्; वस्तुनः सदसदाद्यनेकधर्मात्मकत्वेन प्रतीतौ संशयाऽनुपपत्तेः। यद् यद्धर्मात्मकत्वेन प्रतीयते न तस्य [11]तदात्मकत्वे संशयः यथा स्वगतधर्मात्मकत्वेन प्रतीयमानस्य स्थाणु-पुरुषद्वयस्य, सदसदाद्यनेकधर्मात्मकत्वेन प्रतीयन्ते च सर्वे भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः; तदात्मकत्वेन तत्प्रतीतेः प्राक् प्रतिपादितत्वात्। नापि दृष्टान्तः साध्यविकलः; स्थाणुत्वादिधर्मप्रतीतौ स्वप्नेऽपि स्थाण्वादौ संशयाऽप्रतीतेः, तदप्रतीतावेव तत्र तद्दर्शनात्। चलिता च प्रतीतिः संशयः, न च सदाद्यात्मकत्वेन प्रतीतिः तथा। न खलु वस्तुनः स्वपररूपाभ्यां सदसद्रूपतया प्रतीतिः कस्यचिदनुपहतचेतसो दोलायते। अथ अनुपजायमानोऽपि संशयः अत्र बलादापाद्यते; नन्वेवं कस्यचिदपि प्रतिनियतरूपव्यवस्था न स्यात्, सर्वत्र तस्य [12]आपादयितुं [13]सुशकत्वात्। घटादेरपि हि घटादिरूपता 'किं निरंशाऽवयविरूपस्य, क्षणिकपरमाण्वात्मनः, ज्ञानप्रचयस्वभावस्य, परमात्मस्वरूपस्य वा स्यात्' इत्यादि संशयसंभवात् न सिद्ध्येत्। ततो घटादेः प्रतिनियतरूपव्यवस्थामिच्छता नानुपजायमानोऽपि [14]संशयोऽत्र बलादापाद्यः। तन्न सदसदात्मकत्वे वस्तुनि संशयो युक्तः।

---

१ इति प्रतीतिः सा-ब०, ज०। २ आधेयेन सा-ब०, ज०, श्र०। ३ विशिष्यति ब०, ज०। ४ पृ० ३६० पं० ३। ५ अभावरूप-श्र०। ६ पृ० ३६० पं० ४। ७-त्याधिष्ठिते एव आ०। ८-कत्वस्यापि श्र०। ९ 'अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्' इति उत्तरार्द्धम्। "अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिः इति चेन्न; तत्रापि तदुपपत्तेः।" तत्त्वार्थराज० पृ० ३५। १० पृ० ३६० पं० ६। ११ तदात्मकत्वेन सं-ब०, ज०,। १२ उत्पादयितुं आ०। १३ सुशक्य-ब०, ज०। १४ संशयो बलादा-ब०, ज०, भां०।

नापि विरोधः; सत्त्वाऽसत्त्वयोस्तत्र भिन्ननिमित्तनिबन्धनत्वात्, ययोर्भिन्ननिमित्तनिबन्धनत्वं न तयोः एकत्र धर्मिणि विरोधः यथा एकत्वाऽनेकत्वयोः सूक्ष्मत्वस्थूलत्वयोर्वा, भिन्ननिमित्तनिबन्धनत्वञ्च एकत्र धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोरिति । किञ्च, विरोधः सर्वत्र अनुपलम्भसाध्यो भवति । यत् खलु यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सत् नोपलभ्यते तत् तत्र विरुद्धम् यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, न च स्वरूपादिना वस्तुनि सत्त्वोपलम्भे पररूपादिना असत्त्वस्य अनुपलम्भोऽस्ति इति । तत्र उपलभ्यमानयोरपि अनयोः विरोधाऽभ्युपगमे स्वस्वभावेनापि वस्तुनो विरोधाऽनुषङ्गात् निःस्वभावतापत्तिः स्यात् । यदि नैकत्र विधिप्रतिषेधात्मकत्वं विरुद्ध्यते तदा कथम् अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरशक्तिद्वयात्मकत्वं सामान्यविशेषस्य स्यात्, एकाऽनेकस्वभावात्मकत्वं मेचकस्य वा ? कथञ्च एकस्य नरसिंहत्वम् उमेश्वरत्वं वा स्यात् ? जात्यन्तरत्वान्न दोषः इत्यन्यत्रापि समानम् । उक्तञ्च–

"*तदेव न स्यान्न तदेव च स्यात् तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।*" [बृहत्स्वयं० श्लो० ४२]

"दृष्टत्वान्न विरोधोऽपि कथ्यते युक्तिशालिभिः ।
विरोधोऽनुपलम्भो हि यतो जैनमते मतः ॥
दृश्यते मेचकादौ हि नीलपीतादिसंविदः ।
पञ्चवर्णं यतो रत्नं मेचकं परिकीर्तितम् ॥
न नरः सिंहरूपत्वात् न सिंहो नररूपतः ।
शब्दविज्ञानकार्याणां भेदात् जात्यन्तरं हि तत् ॥
न नरो नर एवेति न सिंहः सिंह एव वा ।
सामानाधिकरण्येन नरसिंहः प्रकीर्तितः ॥

१–स्थूलत्वयोर्वा ब०, ज० । २–ञ्च उक्तञ्च–आ०, ब०, ज० । ३ उभयोः ब०, ज० । ४ "एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेचकादिवत् ॥" न्यायविनि० २।४५ । "यथा कल्मापवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः ॥५७॥ चित्रत्वाद्वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम् । यदा तु शबलं वस्तु युगपत्प्रतिपद्यते ॥६२॥ तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते ॥" मीमांसाश्लो० आकृतिवाद । ५ "नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।" इत्युत्तरार्द्धम् । ६ 'न नरः सिंहरूपत्वात्' 'न नरो नर एवेति' इमे द्वे कारिके अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणके (पृ० १५) 'न नरः सिंहरूपत्वात्' इति च तत्त्वार्थभाष्यव्याख्यायाम् (पृ० ३७७) 'संज्ञाविज्ञानकार्याणाम्' इति पाठभेदेन च जैनतर्कवा० वृत्तौ (पृ० ११६) उद्धृताऽस्ति । "किमिव ? नरसिंहवत् । यथा नरस्याकारो प्रस्तयः (?) सिंहस्याकारः शिरोभागः तदुभयाभेदगतेः नरसिंह इत्युच्यते ।" नयचक्र० पृ० ५५ पू० । "भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥" तत्त्वोपप्लव० पृ० ९६ । नरसिंहस्य दृष्टान्तरूपेण उल्लेखः तत्त्वार्थराजवा० पृ० २२५, मीमांसाश्लो० पृ० ८८१, वाक्यप० द्वि० काण्ड पृ० १२१, तत्त्वसं० पृ० १२२, हेतुबि० टी० पृ० १०५ इत्यादिषु वर्तते । ७ प्रतीतितः भां०, अनेकान्तवादप्र० टि० पृ० १५ ।

द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवत् जले ॥" [ ] इति ।

किञ्च, विरोध[1]: अविकलकारणस्य एकस्य भवतः द्वितीयसन्निधानेऽभावाद् अवसीयते शीताग्निवत् । न च सत्त्वसन्निधाने असत्त्वस्य तत्सन्निधाने वा सत्त्वस्य अभावः कदाचिदप्यनुभूयते । अपि च अनयोर्विरोधः सहाऽनवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितिस्वभावः, वध्यघातकस्वरूपो वा स्यात् ? न तावत् सहाऽनवस्थानलक्षणः; अन्योन्याऽव्यवच्छेदेन एकस्मिन् आधारे सत्त्वाऽसत्त्वयोः प्रतीयमानत्वात्, ययोस्तथा प्रतीयमानत्वं न तयोः तथा विरोधः यथा रूपरसयोः, तथा प्रतीयमानत्वञ्च सत्त्वाऽसत्त्वयोरिति । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्र आम्रफलादौ रूपरसयोरिव अनयोः संभवतोरेव स्यात्, न पुनरसंभवतोः शशाश्व[2]विषाणवत्, संभवदसंभवतोर्वा वन्ध्या-स्तनन्धययोरिव ।

किञ्च, अयं विरोधः धर्मयोः, धर्मधर्मिणोर्वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्, एतल्लक्षणत्वाद् धर्माणाम् । न च एवंविधविरोधाक्रान्तानां तेषामेकाधिकरणत्वविरोधः; तथाविधानामप्येषां तदधिकरणतया प्रतीतेः मातुलिङ्गे रूपादिवत् । धर्मधर्मिणोस्तद्विरोधे धर्मिणि धर्माणां प्रतीतिरेव न स्यात्, न चैवम्, अवाधवोधाधिरूढप्रतिभासत्वात् तत्र तेषाम् । वध्यघातकरूपोऽपि विरोधः फणिनकुलयोरिव वलवदवलवतोः प्रतीतः सत्त्वाऽसत्त्वयोस्तुल्यवलत्वात् नाऽऽशङ्कनीयः ।

अस्तु वा कश्चिद्विरोधः; तथाप्यसौ सर्वथा, कथञ्चिद्वा स्यात् ? न तावत् सर्वथा; शीतोष्णस्पर्शादीनामपि सत्त्वादिस्वरूपाऽव्यवच्छेदतः तद्रूपतया विरोधाऽसिद्धेः, यत् यत्स्वरूपाऽव्यवच्छेदकं न तत् तद्रूपतया विरुद्धम् यथा घटत्वादिना घटादि, सत्त्वादिस्वरूपाऽव्यवच्छेदकाश्च शीतोष्णस्पर्शादय इति । एकाधारतया प्रतीयमानत्वाच्च ; यद् एकाधारतया प्रतीयते न तत् सर्वथा विरुद्धम् यथा रूपरसादि एकतुलायां नामोन्नामादि वा, एकाधारतया प्रतीयते च धूपदहनादौ शीतोष्णस्पर्शादय इति । कथञ्चिद्विरोधस्तु रूपादावपि समानः इति एकस्य सदसद्रूपतावत् रूपादिस्वभावताऽपि न स्यात्, न चैतद्[3] युक्तम् प्रतीतिविरोधात् ।

किञ्च, भावेभ्यो भिन्नो विरोधः, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्नः; कथं वि[4]रोधको नाम स्वात्मभूतत्वात् तत्स्वरूपवत् ? अथ भिन्नः; तथापि न विरोधकः तत एव अर्थान्तरवत् । अथ अर्थान्तरभूतोऽपि विरोधो विरोधकः भावानां विशेषणत्वात्, न तु अर्थान्तरम् विपर्ययात्; तदप्ययुक्तम्; विरोधो हि तुच्छरूपोऽभावः, स यदि शीतोष्णद्रव्ययोर्विशेषणम् तर्हि तयोः अदर्शनापत्तिः । अन्यतरविशेषणत्वेऽपि एतदेव दूषणम् । तदेव च विरोधि स्यात् यस्यासौ विशेषणं

१ "द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः–अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावे अभावाद् विरोधगतिः शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् ।" न्यायविन्दु पृ० ९६–९८ । प्रमेयक० पृ० १५८ उ० । सन्मति० टी० पृ० १३१ । २ शशाश्वविषा–श्र० । ३ चैव तद् श्र० । ४–रोधः स्वा–श्र० ।

नान्यत्, नचैकत्र विरोधो नाम अस्य द्विष्ठत्वात् अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तत्प्रसङ्गः। अथ विरुद्ध्यमानत्व-विरोधकत्वापेक्षया कर्तृ-कर्मस्थोऽपि विरोधो विरोधसामान्यापेक्षया उभयविशेषणत्वात् द्विष्ठोऽभिधीयते; नन्वेवं रूपादेरपि विरोधकत्वापत्तिः तत्सामान्यस्यापि द्विष्ठत्वाऽविशेषात्, तथा च विरोधकल्पनावैयर्थ्यम्। अभावस्वभावत्वे चास्य सामान्य-विशेषभावाऽनुपपत्तिः, गुणादिरूपत्वे गुणादिविशेषणत्वाऽनुपपत्तिः।

यदि च षट्पदार्थव्यतिरिक्तत्वात् पदार्थविशेषो विरोधः अनेकस्थो विरोध्य-विरोधकप्रत्ययविशेषप्रसिद्धः समाश्रीयते; तदाप्यस्य असम्बद्धस्य द्रव्यादौ विशेषणत्वं स्यात्, सम्बद्धस्य वा? न तावद् असम्बद्धस्य; अतिप्रसङ्गात्, दण्डादौ तथाऽप्रतीतेश्च, न खलु पुरुषेण असम्बद्धो दण्डः तस्य विशेषणं प्रतीतः येन अत्रापि तथाभावः स्यात्। अथ सम्बद्धः; किं संयोगेन, समवायेन, विशेषणभावेन वा? न तावत् संयोगेन; अस्य अद्रव्यत्वेन संयोगाऽनाश्रयत्वात्। नापि समवायेन; अस्य द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषव्यतिरिक्तत्वेन असमवायित्वात्। नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणाऽसम्बद्धे वस्तुनि तस्याऽसंभवात्, अन्यथा दण्ड-पुरुषादौ संयोगादिसम्बन्धाऽभावेऽपि स स्यात् इत्यलं संयोगादिसम्बन्धकल्पनाप्रयासेन। ततो विरोधस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नाऽसौ सत्त्वाऽसत्त्वयोर्युक्तः।

नापि वैयधिकरण्यम्; एकाधारतया निर्बाधबोधे तयोः प्रतिभासमानत्वात्। नापि उभयदोषाऽनुषङ्गः; चौर-पारदारिकाभ्यामचौर-पारदारिकवत् तदात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वात्। न खलु सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदाऽभेदयोर्वा अन्योन्यनिरपेक्षयोः एकत्वं जिनपतिमताऽनुसारिभिरिष्टम् येन अयं दोषः स्यात्; तत्सापेक्षयोरेव तदभ्युपगमात्, तथाप्रतीतेश्च। नापि सङ्कर-व्यतिकरौ; स्वस्वरूपेणैव अर्थे तयोः प्रतीयमानत्वात्। नाप्यनवस्था; धर्माणामपरधर्माऽसंभवात्, "धर्मिणो ह्यनन्तरूपत्वं न धर्माणां कथञ्चन।" [ ] इत्यभिधानात्। अभावदोषस्तु दूरोत्सारित एव; सदसदाद्यनेकान्तात्मनोऽर्थस्य अध्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्धेः।

१–था सर्वदा भा०। २–पणभावा–श्र०। ३ "...जात्यन्तरत्वादचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम्...।" अष्टसह० पृ० २०६। ४ संशयाद्यष्टदोषाणां परिहारो निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यः–"उदयस्थितिसंहारलक्ष (ण) स्य सतः प्रतिभासादिभेदाभेदाभ्यां भेदाभेदप्रसिद्धिः आत्मप्रतिबन्धेन तथापरिणामात्; संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोषप्रसङ्गानवस्थासङ्कराभावकल्पनामन्योन्याविवेकप्रतीतिरतिशेते।" प्रमाणसं० पृ० ६५ पू०। "न चास्य विरोधसङ्करानवस्थाप्रसङ्गदोषानुग्रहण..." नयचक्रवृ० पृ० ५८ उ०। न च स्वभावभेदोपलम्भेऽपि नानात्वविरोधसङ्कराऽनवस्थानुषङ्गः चेतसि ग्राह्यग्राहकाकारवत्। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २०६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३५। प्रमेयक० पृ० १५८ पू०। सन्मति० टी० पृ० ४५१। स्या० रत्ना० पृ० ७४१। प्रमेयरत्नमा० ४।१। प्रमाणमी० पृ० ४४। स्याद्वादमं० पृ० १९७। सप्तभङ्गित० पृ० ८१।

यदप्युक्तम्[1]–'मुक्तोऽप्यमुक्त' इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; यतः द्विविधो हि[2] अनेकान्तः–अक्रमाऽनेकान्तः, क्रमाऽनेकान्तश्च। तत्र ज्ञानसुखादयनेकाऽक्रमिधर्मापेक्षया अक्रमाऽनेकान्तः, युगपदपि एकत्रात्मनि[3] संभवात्। मुक्त-इतराऽनेकक्रमिधर्मापेक्षया क्रमाऽनेकान्तः, अयुगपदेव तत्संभवात्। तथा च 'य एव आत्मा पूर्वममुक्तः स एव उत्तरकालं मुक्तः' इति न किञ्चिद् विरुद्ध्यते अनेकान्तक्षतिर्वा प्रसज्यते। एकरूपत्वे च आत्मनो बन्ध-मोक्षाऽभावः, बद्धस्य हि मुक्तत्वम्, न च सर्वथैकरूपस्य अवस्थाद्वययोगो युक्तः विरोधात्। तदेवम् एकान्तदुराग्रहग्रहाभिनिवेशं परित्यज्य प्रतीतिसूपरशिखरारूढमनेकान्तात्मकत्वं वस्तुनोऽभ्युपगन्तव्यम्। ततः स्थितमेतत्–'द्रव्यपर्याय' इत्यादि।

तदेवं नित्याद्येकान्तलक्षणगोचरस्य प्रत्यक्षग्राह्यत्वेन आत्मसमर्पणाऽभावात् न साक्षात्करणं संभवति[4]। 'न केवलम्' इत्यादिना अत्रैव दूषणान्तरमतिदिशन्नाह–न केवलं साक्षात्करणम् अध्यक्षीकरणम् एकान्ते नित्यैकान्ते अनित्यैकान्ते च न संभवति, अपि तु–

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य-क्षणिकपक्षयोः।
क्रमाऽक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥ ८ ॥

विवृतिः–अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्[5] (इति) अङ्गीकृत्य स्वपक्षे पुनः अर्थक्रियां स्वयमेव निराकुर्वन् कथमनुन्मत्तः? स्वभूतिपात्रमर्थक्रियां विपक्षेऽपि कथन्निरस्येत, मिथ्याव्यवहारं वा? संवित्तेरभेदेऽपि विषयाकारस्यैव विषयसाधनत्वं नाकारान्तरस्य। ततः–

अर्थस्य ज्ञानस्य अन्यस्य वा क्रिया करणम्[6] न युज्येत न घटेत। क्व? नित्यक्षणिकपक्षयोः। एतदुक्तं भवति–यत एव अर्थसाक्षात्करणं तदेकान्ते न संभवति अत एव प्रत्यक्षाऽनुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावोऽपि न संभवति। किञ्च, अर्थक्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, न च नित्यैकान्ते क्षणिकैकान्ते वा क्रम-यौगपद्ये संभवतः; तथाहि–पूर्वमेकं कार्यं कृत्वा पुनः अन्यस्य करणं क्रमः, तेन नित्यस्य न तावत् कार्यकर्तृत्वं युक्तम्। येन[7] हि स्वभावेन तत् पूर्वं कार्यं करोति तेनैव यदि पाश्चात्यम्; तर्हि द्वयोरपि कार्ययोः एककालता स्यात्, तथा च पाश्चात्यमपि कार्यं पूर्व-

अर्थक्रियाऽभावात्, [illegible] अर्थक्रिया[illegible]साधनम्—

1 पृ० ३३१ पं० १। 2 द्विविधोऽत्र हि आ०। "अनेकान्तो हि द्वेधा…।" प्रमेयक० पृ० १३ उ०। 3 –नि तत्सं–श्र०। 4 संभवति यत एव साक्षात्करणं संभवति न केवलं भां०, श्र०। 5 "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्।" प्रमाणवा० ३।३। 6 अन्यस्य वा क्रिया करणं भां०, श्र०। 7 "येन हि स्वभावेन आद्यामर्थक्रियां करोति तेनैव उत्तराणि कार्याणि समासादितस्वभावान्तरः करोति…।" तत्त्वोप० पृ० १२६।

कार्यकालमेव स्यात् पूर्वकालकार्यजननस्वभावजन्यत्वात्। यद् यत् तथाविधस्वभावजन्यम् तत् तत् पूर्वकार्यकालम् यथा तत्कालाभिमतं कार्यम्, पूर्वकालकार्यजननस्वभावजन्यञ्च नित्यैकरूपस्य वस्तुनः पाश्चात्यं कार्यमिति। अथ येन स्वभावेन उत्तरं कार्यं तत् करोति तेनैव पूर्वम्; तर्हि पूर्वमपि कार्यं पाश्चात्यकार्यकालमेव स्यात् पाश्चात्यकालकार्यजननस्वभावजन्यत्वात् पाश्चात्यकालकार्यवत्।

अथ तज्जननस्वभावजन्यत्वाऽविशेषेऽपि तत्तत्सहकारिक्रमात् तत्र कार्यक्रमोऽभ्युपगम्यते; सहकारिकृतमेव तर्हि तत् कार्यं स्यात्। नित्यस्यापि तत्र सन्निधानान्न दोषोऽयमिति चेत्; किम् अकिञ्चित्करसन्निधानेन? अन्यथा घटोत्पत्तौ रासभस्यापि सन्निधानात् तस्य तत्कृतत्वप्रसङ्गः। किञ्चित्करत्वे वा काचपच्यप्रसङ्गः, 'नित्यं हि वस्तु कार्यं पूर्वकालमेव कर्तुमिच्छति सहकारिणस्तु उत्तरकालम्' इति। अथ पूर्वमन्येन स्वभावेन तत् तज्जनयति पाश्चात्यञ्च अन्येन; ननु तत्स्वभावद्वयं तस्य सदा संभवति, कार्यवद्वा क्रमि स्यात्? प्रथमपक्षे स एव दोषः; 'पूर्वकार्यकाले पाश्चात्यम् तत्काले वा पूर्वं स्यात्' इति। द्वितीयपक्षे तु ततः स्वभावद्वयम् अभिन्नम्, भिन्नं वा? अभेदेऽपि किं नित्याद् वस्तुनः स्वभावद्वयम् अभिन्नम्, ततो वा नित्यं वस्तु? आद्यविकल्पे तस्य नित्यत्वप्रसक्तिः नित्यादभिन्नस्वभावत्वात्, यत् नित्यादभिन्नस्वभावं तत् नित्यं दृष्टम् यथा नित्यस्यात्मा, नित्यादभिन्नस्वभावश्च स्वभावद्वयमिति। द्वितीयविकल्पे तु नित्यस्य अनित्यत्वप्रसक्तिः अनित्यादभिन्नस्वरूपत्वात्, यदनित्यादभिन्नस्वरूपम् तदनित्यं प्रतिपन्नम् यथा अनित्यस्यात्मा, अनित्यात् स्वभावद्वयाद् अभिन्नस्वरूपश्च नित्यत्वाभिमतं वस्तु इति। अथ स्वभावद्वयं ततो भिन्नमिष्यते तेनायमदोषः; कथमेवं 'तस्य इदं स्वभावद्वयम्' इति व्यपदेशः सम्बन्धाऽसंभवात्, समवायादेश्च प्रतिपिद्धत्वात्? तन्न क्रमेण नित्यस्य कार्यत्वं घटते।

नापि यौगपद्येन; एकस्मिन्नेव क्षणे सकलकार्योत्पत्तिप्रसङ्गतो द्वितीयादिक्षणे तस्य अन-

---

१ तत्सह–भां०, श्र० । २ तत्कार्य–ज०, भां०। तत्तत्कार्य–श्र०। "क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः। न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः ॥ ३९४ ॥ न तावत् स्थिरस्य भावस्य क्रमेणार्थक्रिया युक्तेति दर्शयति–कार्याणि हि विलम्बन्ते कारणासन्निधानतः। समर्थहेतुसद्भावे क्षेपस्तेषां हि किंकृतः ॥ ३९५ ॥ अथापि इत्यादिना परस्योत्तरमाशङ्कते–अथापि सन्ति नित्यस्य क्रमिणः सहकारिणः। यानपेक्ष्य करोत्येष कार्यग्रामं क्रमाश्रयम् ॥ ३९६ ॥ साध्वित्यादिना प्रतिविधत्ते–साध्वेतत् किन्तु ते तस्य भवन्ति सहकारिणः। किं योग्यरूपहेतुत्वादेकार्थकरणेन वा ॥३९७॥ योग्यरूपस्य हेतुत्वे स भावः तैः कृतो भवेत्। स चाशक्यक्रियो यस्मात् तत्स्वरूपं सदा स्थितम् ॥३९८॥ कृतौ वा तत्स्वरूपस्य नित्यताऽस्यावहीयते। विभिन्नोऽतिशयस्तस्माद् यद्यसौ कारकः कथम् ॥३९९॥" तत्त्वसं०। "नित्यस्य निरपेक्षत्वात् क्रमोत्पत्तिः विरुद्धयते।" प्रमाणवा० २।२६७। हेतुवि० टी० पृ० २१८। ३ "नापि यौगपद्येन इति दर्शयति–यौगपद्यं च नैवेष्टं तत्कार्याणां क्षयेक्षणात् ॥४१३॥ निःशेषाणि च कार्याणि सकृत्कृत्वा निवर्तते। सामर्थ्यात्मा स चेदर्थः सिद्धास्य क्षणभङ्गिता ॥ ४१४ ॥" तत्त्वसं०। ४ तस्याकार्यकारितस्यानर्थ–ज०।

र्थक्रियाकारित्वेन आकाशकुशेशयवद् असत्त्वप्रसक्तेः। अतः सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारित्वाऽसंभवादवस्तुत्वमेवायातम्। यत् क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारि न भवति न तद् वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, न भवति च क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारि सर्वथा नित्यम् आत्मपरमाण्वादिकम्, तस्मान्न वस्तु इति।

किञ्च, अस्य सर्वदा तत्कारित्वस्वभावता, कदाचिद्वा? प्रथमपक्षे सर्वदैव अतः सकलकार्याणामुत्पत्तिः स्यात् सदैव तेषामविकलकारणत्वात्। यद् यदा अविकलकारणं तत् तदा उत्पत्तिमत् प्रसिद्धम् यथा समानसमयोत्पादा बहवोऽङ्कुराः, अविकलकारणानि च सर्वदा कार्यकारित्वस्वभावनित्यार्थकार्यतया अभिमतानि अखिलकार्याणि इति।

अथ कदाचित्; तर्हि 'पूर्वं कार्योत्पादनाऽसमर्थस्वभावं सत् तत् पश्चात् समर्थस्वभावं भवति' इत्यायातम्। तत्रापि तदुत्पत्तिसमये तद् असमर्थस्वभावं त्यजति, न वा? यदि न त्यजति; तर्हि सर्वदा कार्याऽनुत्पादकत्वप्रसङ्गः। यत् खलु यदुत्पादने अपरित्यक्त-असमर्थस्वभावम् न ततस्तदुत्पत्तिः यथा यवबीजात् शाल्यङ्कुरस्य, कार्योत्पादने अपरित्यक्त-असमर्थस्वभावञ्च पूर्वमिव तदुत्पत्तिसमयेऽपि नित्याभिमतं वस्तु इति। अथ त्यजति; तन्न; नित्यैकरूपतया तस्य प्राक्तनतदुत्पादनाऽसमर्थस्वभावपरित्यागाऽसंभवात्। तत्संभवे वा अस्य नित्यैकरूपताव्याघातः, यत् परित्यक्तपूर्वस्वभावं न तद् एकरूपम् यथा अङ्कुरादि, परित्यक्तपूर्वाऽसमर्थस्वभावञ्च नित्यैकरूपतया अभिमतं वस्तु इति। अतः कथं तस्य नित्यैकरूपता? परिणामित्वस्यैव उपपत्तेः असमर्थस्वभावपरित्यागेन समर्थस्वभावस्वीकारस्य तदन्तरेण अनुपपत्तेः, न खलु नित्यैकरूपे वस्तुनि पूर्वापररूपत्यागोपादाने घटेते। यत्र पूर्वापररूपत्यागोपादाने स्तः तत् परिणामि यथा कुण्डलेतरावस्थाक्रोडीकृतं सर्पादि, असामर्थ्येतरलक्षणपूर्वाऽपररूपत्यागोपादाने स्तश्च नित्यतयाऽभिमते वस्तुनि इति। 'नित्यैकरूपोऽप्यर्थः सहकारिसहितः कार्यं करोति न सर्वदा' इत्यभिदधताऽपि परिणामित्वमेव समर्थितम्; असाहित्यरूपत्यागेन साहित्यरूपोपादानात्, इति क्रमेण युगपद्वा अनेकधर्मात्मकस्यैव अर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वं प्रतिपत्तव्यम्।

प्रत्येकञ्च आत्मादिनित्यद्रव्याणां प्रकृतेश्च अपरिणामित्वे एवम् अर्थक्रियाकारित्वाभावो द्रष्टव्यः। यथा च एषां तथाभूतानां तत्कारित्वं न घटते तथा षट्पदार्थपरीक्षायां प्रकृतिपरीक्षायाञ्च विस्तरतः प्रतिपादितम्। तन्न नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वं घटते।

---

१ "युगपदशेषाणि कार्याणि कृत्वा स किं तस्यार्थक्रियासमर्थःस्वभावो निवर्त्तते अहोस्विदनुवर्त्तते? तत्र यदि निवर्त्तते इति पक्षः तदा तस्य क्षणभङ्गित्वं सिद्धम्...तद्रूपस्यानुवृत्तौ तु कार्यमुत्पादयेत् पुनः। अकिञ्चित्कररूपस्य सामर्थ्यं चेष्यते कथम् ॥४१५॥ सर्वसामर्थ्यशून्यत्वात्तारापथसरोजवत्। असन्तोऽक्षणिकाः सर्वे शक्तिर्यद्वस्तुलक्षणम् ॥४१६॥" तत्त्वसं०। २ वा तस्य श्र०। ३ सर्वदैव ब०, ज०। ४–कस्यैवार्थक्रिया ब०, ज०, भां०, श्र०। ५ "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते। प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥" आप्तमीं०। "पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येऽपिब्रुवाणः कथमनुन्मत्तः?" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७६। प्रमेयक० पृ० १४७ पू०।

नापि क्षणिकस्य; पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानविकलत्वात्, सकृदनेकशक्तिरहितत्वाच्च । यत् यत् तथाविधम् तत् तत् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारि न भवति यथा खरविषाणम्, एकक्षणस्थायितया निरंशतया च पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानविकलं सकृदनेकशक्तिरहितञ्च परपरिकल्पितम् एकान्तक्षणिकं[1] वस्तु इति। प्रतिषिद्धञ्चै[2] सन्तानप्रतिषेधाऽवसरे सर्वथा क्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वम्, प्रतिपेत्स्यते चाग्रे । किञ्च, प्रमाणनिष्ठा प्रमेयव्यवस्था भवति, न च क्षणिकत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति।

'सत्त्वादिहेतुभ्यः सर्वे भावाः क्षणिकाः तत्रैव च अर्थक्रियां संभवति न नित्ये' इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः—

ननु इदमस्ति–'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् यथा घटः, सन्तश्च भावाः' इति। सत्त्वं हि अर्थक्रियाकारित्वमिति[3], अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, सा च अक्षणिके[4] न संभवति तद्व्यापकयोः क्रमयौगपद्ययोः असंभवात्, तदसंभवश्च अस्य सर्वदा एकरूपत्वात्, अतः अर्थक्रियाऽपि अनेन सदैव कर्त्तव्या न वा कदाचिद् अविशेषात्। क्रमेण अस्य अर्थक्रियाकारित्वसंभवे वा किं येन रूपेण एकं कार्यं करोति तेनैव अपरम्, रूपान्तरेण वा ? तेनैव चेत्; तर्हि द्वितीयक्षणसाध्यकार्यस्य प्रथमक्षण एव उत्पादप्रसङ्गः तदुत्पादकस्वरूपस्य प्रागपि भावात्। रूपान्तरेण चेत्; तर्हि पूर्वरूपस्य निवृत्तत्वात् क्षणिकत्वम्। अथ तत्तत्क्रमवत्सहकारिसन्निधिमपेक्ष्य नित्यं तत्तत्कार्यं[5] करोति; ननु ते सहकारिणः तस्य उपकारं कुर्वन्ति, न वा ? कुर्वन्ति चेत्; किं ततो व्यतिरिक्तम्, अव्यतिरिक्तं वा ? यदि अव्यतिरिक्तम्; तदा 'तदेव कुर्वन्ति' इत्यायातम्, तस्य च पूर्वमेव निष्पन्नत्वान्न किञ्चित् सहकारिभिः क्रियेत[6]। अथ व्यतिरिक्तम्; तदा 'तस्य' इति व्यपदेशाऽभावः असम्बन्धात्, सम्बन्धान्तरकल्पने च अनवस्था। तन्न क्रमेण अक्षणिकः कार्यमारभते।

नापि युगपत्; एकदैव अखिलकार्योत्पादकस्वभावतया प्रथमक्षण एव अखिलकार्योत्पादनात् क्षणान्तरे तदुत्पाद्यकार्याऽभावतः अनर्थक्रियाकारित्वेन अश्वविषाणवत् असत्त्वप्रसङ्गात्। किञ्च, उत्पादिताऽशेषकार्यग्रामस्य, किमस्य असौ स्वभावो निवर्त्तते, न वा ? यदि न निवर्त्तते; तदा प्रथमक्षणवत् द्वितीयादिक्षणेऽपि तत्स्वभावाऽनिवृत्तेः समस्तस्य उत्पादितस्यापि उत्पादनप्रसङ्गात् पिष्टपेषणाऽनुषङ्गः। निवर्त्तते चेत्; तर्हि तन्निवृत्तौ तस्यापि निवृत्तिः तस्य ततोऽभिन्नत्वात्, अतः कथमस्याऽक्षणिकत्वम् ? तस्य ततो भेदे वा 'तस्य' इति व्यपदेशाऽनुपपत्तिः सम्बन्धाऽभावात्, तद्भावे वा अनवस्था तस्यापि अपरसम्बन्धपरिकल्पनप्रसङ्गात्।

किञ्च, कार्योत्पादनसमये तेषां प्राक्तनाऽऽकारस्वभावत्यागः अस्ति, न वा ? नास्ति चेत्; पूर्ववत् तदापि अतः कार्याऽनुत्पादप्रसङ्गः। अस्ति चेत्; क्षणिकत्वम्, प्रतिक्षणं पूर्वस्वभाव-

१ "क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥४१॥" आप्तमी०, अष्टसह० १८१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७७। प्रमेयक० पृ० १४७। २ पृ० १०। ३–रित्वमर्थ–आ०। ४ अक्षणिकत्वे ब०, ज०। ५ तत्कार्यं आ०। ६ क्रियते आ०, भां०।

विनाशेन उत्तरोत्पादेन च अन्यत्वात्। प्रयोगः–ये अकृत्वा कुर्वन्ति कार्यं ते प्रतिक्षणं नैकरूपाः यथा बीजादयः, अकृत्वा कुर्वन्ति च नित्यत्वेनाऽभिमताः पदार्थाः कार्याणि इति। तथा च एषां कृतकत्वप्रसिद्धेः ततोऽपि क्षणिकत्वं सिद्धम्; तथाहि–यत् [2] कृतकं तत् क्षणिकम् यथा विद्युत्-प्रदीपादि, कृतकाश्च विवादापन्नाः पदार्था इति। हेतोरुत्पद्यमानत्वं हि कृतकत्वम्, तच्च विनश्वरस्वभावनियतमेव। स्वहेतुतो हि भावाः समुत्पद्यमाना विनाशस्वभावनियता एव उत्पद्यन्ते अतः शिंशपात्व-वृक्षत्वयोरिव कृतकत्व-अनित्यत्वयोः तादात्म्यसिद्धिः। न च हेतुसामर्थ्यप्रभवत्वाऽविशेषेऽपि केचित् नित्याः केचिद् अनित्या भावा भविष्यन्ति इति नाऽनयोः तादात्म्यसिद्धिः इत्यभिधातव्यम्; कारणसामर्थ्याऽभेदात् पावकादिवत्। न खलु पावकोत्पादककारणकलापः कश्चित् [3]प्रकाशोष्णस्पर्शसहितं पावकमुत्पादयति कश्चित् तद्विपरीतम् इति तत्सामर्थ्यभेदः प्रतीतिगोचरः, येन अत्रापि नित्य-अनित्यस्वभावभावोत्पादकत्वेन कारणानां सामर्थ्यभेदः [4]कल्प्येत। अतो भावं भावाः प्रादुर्भावयन्तो विनाशस्वभावमेव आविर्भावयन्ति, इति सिद्धं कृतकत्व-अनित्यत्वयोस्तादात्म्यम्।

ननु विनश्वरस्वभावत्वेऽपि अर्थानां नैकक्षणस्थायित्वेन विनाशः, [5]यदैव हि तद्धेतूपनिपातः तदैव असौ भविष्यति; इत्यप्ययुक्तम्; नश्वरस्यापि प्रतिक्षणम् अनाशे कालान्तरेऽप्यविशेषतो नाशानुपपत्तेः, न हि प्रकाशस्य प्रतिक्षणम् अप्रकाशता तस्यां वा पुनः कालान्तरे प्रकाशता दृष्टा। अन्ते च अर्थानां नाशोपलम्भात् [6]नाशित्वे प्रकाशस्य [7]प्रकाशत्ववत् सिद्धः स्वरूपमात्राऽनुरोधी विनाशः अविलम्बेन आदावपि अविशेषात्।

किञ्च, शत-सहस्रक्षणस्थितिस्वभावो भावः प्रथमक्षणे जातः द्वितीयादिक्षणे तथैव आस्ते, न वा? यदि आस्ते; तदा अन्त्यक्षणेऽपि अस्य तथैव अस्तित्वप्रसङ्गान्न कदाचित् नाशोत्पत्तिः स्यात्, तत्र तत्स्वभावत्यागे वा सिद्धं क्षणिकत्वम् प्रतिक्षणं स्वभावभेदलक्षणत्वात् तस्य। किञ्च, अक्षणिकत्वं नाम अर्थस्य अनेकक्षणस्थायिनी सत्ता, अनेकक्षणयोगित्वञ्च अस्य अनेककालक्षणाऽप्रतिपत्तौ दुरवबोधम्। न च वर्तमानार्थेन्द्रियसम्बन्धसामर्थ्यप्रभवं प्रत्यक्षं वर्त्तमानकालसम्बन्धिताव्यतिरेकेण अर्थस्य अनेककालक्षणव्यापित्वं प्रतिपत्तुं समर्थम्, यदि

१ अन्यत्वात् प्रसंगः भां०। २ "तत्र ये कृतका भावास्ते सर्वे क्षणभङ्गिनः। विनाशं प्रति सर्वेषामनपेक्षतया स्थितेः॥ ३५३॥" तत्त्वसं०। "तदेवं विनाशं प्रति अन्यापेक्षामसामर्थ्यवैयर्थ्याभ्यां तद्धेत्वयोगेन कृतकत्वलक्षणस्य सत्त्वस्य पूर्वाचार्यप्रदर्शितां प्रतिपाद्य यथासौ विपर्यये बाधकप्रमाणमनुभवति तद्दर्शयन्नाह–तस्माद् विनाशः…।" हेतुवि० टी० पृ० २१३। ३ उष्णप्रकाशस–आ०, ब०, ज०, भां०। ४ कल्पेत आ०, ब०, ज०, भां०। ५ "अथ मृत्योरपक्रान्तः तस्य चेत् प्रथमः क्षणः। अविनाशस्वभावत्वादास्तां युगशतान्यपि॥" न्यायमं० पृ० ४४८। ६–त्वे प्रकाशकस्य भां०, ब०, ज०, श्र०। त्वे प्रकाशत्व–आ०। ७ प्रकाशतावत् भां०। प्रकाशकत्वत् ब०, ज०। ८–नुबन्धी भां०।

हि अनेककालक्षणैः सकृदेव अर्थस्य सम्बन्धः स्यात् तदा तत्सामर्थ्यप्रभवमपि प्रत्यक्षं तस्य तद्व्यापित्वं प्रतिपद्येत, न चाऽसौ सकृत् संभवति पूर्वाऽपरकालक्षणानां क्रमभावित्वात्। नापि स्मरणात् प्रत्यभिज्ञानाद्वा तत्प्रतिपत्तिः; तस्याप्रमाणत्वात्।

यदप्युक्तम्[1]–'विनाशहेतूपनिपाते स भविष्यति' इति ; तत्र विनाशहेतुः विनश्वरं भावं[2] विनाशयति, अविनश्वरं वा ? तत्र अनश्वरस्य विनाशहेतुशतोपनिपातेऽपि नाशाऽनुपपत्तिः, न हि स्वभावो भावानामन्यथा कर्तुं पार्यते। नश्वरस्य च नाशे तद्धेतूनां वैयर्थ्यम्, न हि स्वकारणादेव अवाप्तस्वभावस्यार्थस्य तदर्थः अर्थान्तरव्यापारः फलवान् तदनुपरतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, भावात्[3] भिन्नो नाशः नाशहेतुतः[4] स्यात्, अभिन्नो वा ? यद्यभिन्नः; तदा भाव एव तद्धेतुभिः कृतः स्यात्, तस्य च स्वहेतोरेव उत्पत्तेः कृतस्य च करणाऽयोगात् तदेव तद्धेतुवैयर्थ्यं कारणभेदाऽनुपपत्तिश्च। अथ भिन्नः[5]; तदाऽसौ भावसमकालभावी, प्राक्कालभावी, तदुत्तरकालभावी वा स्यात् ? तत्र सहभावित्वे युगपद् भावाऽभावयोरुपलम्भः स्याद् अविरोधात्, विरोधे वा अभावेन [6]क्रोडीकृतत्वाद् भावस्योपलम्भः स्वार्थक्रियाकारित्वञ्च न स्यात्। प्राक्कालभावित्वे भावस्यैव अभावात् कस्यासौ स्यात् ? सतो हि विनाशः, 'अलब्धसत्ताकस्य च विनाशः' इति महच्चित्रम् !

तदुत्तरकालभावित्वे घटादेः किमायातं येनाऽसौ स्वोपलम्भादिलक्षणां[7]मर्थक्रियां न कुर्यात् ? नहि [8]तन्त्वादिभ्यः समुत्पन्ने पटे घटः तां कुर्वन् केनचित् प्रतिपेद्धुं शक्यः। ननु पटस्य अविरोधित्वान्न तदुत्पत्तौ घटस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावः, अभावस्य तु तद्विपर्ययात् स स्यात्। अथ किमिदं विरोधित्वं नाम–नाशकत्वम्, नाशरूपत्वं वा ? नाशकत्वं चेत्; तर्हि मुद्गरादिवत् नाशोत्पादद्वारेण अनेन घटादिरुन्मूलयितव्यः, नाशान्तरेऽपि च अयमेव पर्यनुयोगः इत्यनवस्था। नाशरूपत्वं चेत्; ननु कथमर्थान्तरभूतोऽयं तस्य नाशः, अन्यथा पटो घटस्य नाशः स्यात् ? विरोधित्वाच्चेत्; चक्रकप्रसङ्गः। अर्थान्तरत्वाऽविशेषाच्च कथं घटस्यैव असौ स्यात्,

१ पृ० ३७६ पं० १३। २–वं नाशयति आ०, ब०, ज०। "इतश्च नाशहेतूनामकिञ्चित्करत्वं वक्तव्यम् ; तथाहि–भावः स्वहेतोरुत्पद्यमानः कदाचित् प्रकृत्या स्वयं नश्वरात्मैव उत्पद्यते, अनश्वरात्मा वा ? यदि नश्वरः ; न तस्य किञ्चिन्नाशहेतुना···अथानश्वरात्मेति पक्षः; तदापि नाशहेतुरकिञ्चित्कर एव, तस्य केनचित् स्वभावान्यथाभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्··· ।" तत्त्वसं० पं० पृ० १४०। ३ स्वभावात् ब०, ज०। "तथाहि नाशको हेतुः न भावाऽव्यतिरेकिणः। नाशस्य कारको युक्तः स्वहेतोर्भावजन्मतः ॥३५८॥" तत्त्वसं०। ४–तुः तस्मादभिन्नो ब०, ज०। ५ "निर्हेतुकत्वे वस्तूत्पत्त्यनन्तरमात्मानमासादयति तदयुक्तम् ; अत्र पञ्च पक्षा भवन्ति–वस्तूत्पत्तेः पूर्वम्, सह वा, अनन्तरं वा, कालान्तरे वा भवनम्, न वा भवनम्।" तत्त्वोप० पृ० १२८। तत्त्वसं० पृ० १३६। ६ क्रोडीकृत्यतत्तद्वा–ब०, ज०। ७–णार्थ– आ०। ८ तन्त्वादेः भां०, श्र०। ९ "पदार्थव्यतिरिक्ते तु नाशनाम्नि कृते सति। भावे हेत्वन्तरैस्तस्य न किञ्चिदुपजायते ॥ ३६० ॥ तेनोपलम्भकार्यादि प्राग्वदेवानुषज्यते। तादवस्थ्याच्च नैवास्य युक्तमावरणादपि ॥ ३६१ ॥" तत्त्वसं०।

अविशेषात् अन्यस्यापि कस्मान्नोच्यते[1]? न च 'येन सम्बन्धः तस्यासौ'[2] इत्यभिधातव्यम्; भेदाऽविशेषतः सम्बन्धस्यापि सर्वत्र प्रसङ्गात्। अथ मुद्गरादिना घटादेः प्राक्तनरूपविलक्षणं रूपान्तरं भङ्गुरत्वाख्यं विधीयते तेनासौ 'तस्य' इत्युच्यते; तत् किं स्वात्मनि तेनैव रूपेण अवस्थितस्य अस्य विधीयते, विनष्टस्य वा? तत्र तेनैव रूपेण अवस्थितस्य विरोधान्न रूपान्तरं युक्तम्; नहि अवस्थितायां नीलरूपतायां पीतरूपता कर्तुं शक्या। विनष्टस्य च असत्त्वात् कथं रूपान्तरोत्पत्तिः शशविषाणवत्? चक्रकप्रसङ्गश्च; घटादेर्विनष्टत्वे सति रूपान्तरोत्पत्तिः, सत्यां तस्यां विनाशसम्बन्धः, सति तस्मिन् विनष्टत्वम् इति। न च प्रसज्यप्रतिषेधा[3]त्मनो भावस्य कार्यत्वधर्माधारता[4]; वस्तुरूपतापत्तेः। वस्तुनो हि कारणसामग्रीतो भावः अर्थक्रियाकारित्वञ्च स्वरूपम्, अभावोऽपि चेत् तत उत्पद्येत परोन्मूलनलक्षणाञ्च अर्थक्रियां कुर्यात् तदा कोऽस्य भावाद् विशेषः स्यात्[5]? तुच्छरूपस्य च अभावस्य अभावनिराकरणप्रकरणे विशेषतो निराकरिष्यमाणत्वात् अलमिह अतिप्रसङ्गेन। पर्युदासप्रतिषेधे[6] तु घटादेरन्यः कपालादिश्चेत् तदभावः; तस्य सहेतुकत्वं केन प्रतिषिद्धम्? मुद्गरादीनां विसदृशसन्तानोत्पत्तौ व्यापारस्य अस्माभिरभ्युपगमात्, घटादयस्तु स्वोत्पत्तिक्षणानन्तरमस्थानशीलाः स्वकारणादेव संजाताः न कालान्तरमनुवर्त्तन्ते।

ततः सिद्धम्–'यो यद्भावं[7] प्रति अन्याऽनपेक्षः स तत्स्वभावनियतः[8] यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रति, विनाशं प्रति अन्याऽनपेक्षाश्च सर्वे भावाः' इत्यतोऽप्यनुमानात् उदयानन्तरमस्थायित्वं भावानाम्। तथा, 'यद् यथाऽवभासते तत् तथैव सत् इत्यभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलकुवलयं नीलतयाऽवभासमानं तेनैव रूपेण सत्, क्षणपरिगतेनैव रूपेण अवभासन्ते च सर्वे भावाः' इत्यनुमानतोऽपि। वर्त्तमानताग्रहणं[9] हि [10]क्षणिकताग्रहणमुच्यते, तच्च अस्ति प्रत्यक्षे, नहि पूर्वाऽपरकालपरिगतेनात्मना भावाः प्रत्यक्षादिना गृहीतुं शक्यन्ते इत्युक्तं प्राक् इति।

१–च्यते श्र०। २ तस्य भविष्यति इ– ब०, ज०। ३ "अथ क्रियानिषेधोऽयं भावं नैव करोति हि। तथाप्यहेतुता सिद्धा कर्तुर्हेतुत्वहानितः॥ ३६३॥ तथाहि–प्रसज्यप्रतिषेधे सति नञः करोतिना सम्बन्धाद् अभावं करोति भावं न करोति इति क्रियाप्रतिषेधाद् अकर्तृत्वं नाशहेतोः प्रतिपादितम्…।" तत्त्वसं० पं० पृ० १३३। ४ कार्यध– ब०, ज०। ५–स्यातो विशे– श्र०। ६ "विधिनैवमभावश्च पर्युदासाश्रयात्कृतः। यस्तत्र व्यतिरेकादिविकल्पो वर्त्तते पुनः॥ ३६५॥…विवक्षावशाद्धि कृतश्च भावाद्विलक्षणो भाव एव अभाव इत्याख्यायते, तत्र च व्यतिरेकादिविकल्पे प्राक्तनो दोषः पुनरावर्त्तते।" तत्त्वसं० पं० पृ० १३५। ७ "यद्भावं प्रति यन्नैव हेत्वन्तरमपेक्षते। तत्तत्र नियतं ज्ञेयं स्वहेतुभ्यस्तथोदयात्॥३५४॥ निर्निबन्धा हि सामग्री स्वकार्योत्पादने यथा। विनाशं प्रति सर्वेऽपि निरपेक्षाश्च जन्मिनः॥ ३५५॥" तत्त्वसं०। हेतुबि० टी० पृ० २१३। ८ तत्स्वभावो यथा मां०। ९–मानग्रहणं ब०, ज०, मां०। १० क्षणिकग्र– ब०।

उक्तरीत्या बहिरन्तश्च क्षणिकत्वमुपवर्णयतः सौत्रान्तिकस्य विस्तरतः प्रतिविधानम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'यत् सत्' इत्यादि, तत्र किमिदं सत्त्वं नाम–सत्तासम्बन्धः, प्रमाणविषयत्वम्, अर्थक्रियाकारित्वं वा ? प्रथमपक्षे भागाऽसिद्धत्वम्, सत्तासम्बन्धस्य सामान्यादिष्वसंभवात्। अपसिद्धान्तश्च, तल्लक्षणसत्त्वस्य सौगतैरनभ्युपगमात्। प्रमाणविषयत्वमपि प्रतिपदार्थं भिद्यते, न वा ? यदि भिद्यते; तदा अर्थस्वरूपवद्[2] विभिन्नस्वरूपत्वात् नैकप्रत्ययविषयम्, अतः अनन्वयात्[3] न हेतुत्वं स्यात्। अथ न भिद्यते; तदा प्रतीयते, न वा ? यदि न प्रतीयते; कथमस्ति ? प्रतीयते चेत्; तर्हि नामान्तरेण सत्तैव उक्ता स्यात्, तत्सम्बन्धे च उक्तदोषाऽनुषङ्गः। प्रमाणविषयत्वस्य च तदन्तरेण सत्त्वे अनवस्था। स्वतः सत्त्वे अर्थानामपि स्वत एव तदस्तु किं ततः तत्कल्पनया ? विरुद्धश्चेदम्–प्रमाणविषयत्वलक्षणं हि सत्त्वमक्षणिकसमस्तवस्तुविषयं प्रसिद्धम् तच्च अक्षणिकत्वमेव प्रसाधयति इति।

अर्थक्रियाकारित्वलक्षणमपि सत्त्वम् असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्टदोषदुष्टत्वान्न क्षणिकत्वसाधनायालम्। तत्र असिद्धत्वं तावत्–अर्थक्रियाकारित्वं हि अर्थक्रियाहेतुत्वमुच्यते, तच्च असत्यामर्थक्रियायां दुरवबोधम्। नहि भावानां नानाविधशक्तियुक्तानां दर्शनमात्रादेव तत्तत्कार्यकरणशक्तियुक्तत्वं[4] गृहीतुं शक्यम्। योग्यता-क्षणिकत्वे गृहीतेऽपि वस्तुसद्भावे न शक्येते निश्चेतुम् इति भवद्भिरेव अभ्युपगमात्। ननु संभावनामात्रेण अत्रार्थक्रियाकारित्वमवगम्यते, संभाव्यते हि एतत् 'करिष्यति अयमर्थक्रियाम्' इति; ननु संभावनाऽप्यत्र केनावष्टम्भेन प्रवर्त्तते ? तत्सजातीयस्य अर्थक्रियायां दृष्टायामिति चेत्; तत्रापि तुल्यः पर्य्यनुयोगः, तत्रापि तत्सजातीयेऽर्थक्रियादर्शनात् तत्कारित्वाऽवगमेऽनवस्था। भवद्दर्शने च अर्थानामत्यन्तभेदात् सजातीयत्ववार्त्ताऽपि दुर्लभा इत्युक्तं सामान्यपरीक्षाप्रघट्टके। अतः अर्थक्रियाकारित्वमसिद्धमेव।

विरुद्धश्च–अक्षणिक[5] एवार्थे क्रमाऽक्रमाभ्यां तत्कारित्वस्य [6]संभवात्। नहि क्षणिकोऽर्थः क्रमेण अर्थक्रियां कर्त्तुं क्षमः देशकालस्वभावकृतक्रमाऽसंभवात्। एक एव हि पदार्थः किञ्चित् कार्यं विधाय पुनरपेक्षितसहकारिसन्निधे[7]रुपात्तसामर्थ्यान्तरो देशकालभेदेन कार्यान्तरं कुर्वाणः 'क्रमेण करोति' इति युक्तम्, क्षणमात्रस्थायित्वे चार्थस्य[9] एवंविधं क्रमकारित्वमयुक्तम्। निरंशत्वेन युगपदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावतः तस्य अनेककार्याणां युगपत्करणमपि अतिदुर्लभम्, एतच्च सन्तानभङ्गावसरे[8] प्रपञ्चतः प्रपञ्चितम्। ततः अर्थक्रियाव्यापकयोः क्रम-यौ-

१ पृ० ३७५ पं० ७। २ अर्थस्वरूपत्वान्नैकप्रत्ययत्वम् आ०। ३ अनन्वयहेतुत्वम् ब०, ज०। ४–त्वं शक्यम् आ०। ५ क्षणिक ब०, ज०। ६ असंभवात् ब०, ज०। ७–सन्निधि– आ०। ८ पृ० ९। ९ तयोऽर्थ– आ०। "क्षणिकेष्वपि इत्यादिना भदन्तयोगसेनमतमाशङ्कते–

गपद्ययोः क्षणिके विरोधात् यत् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारि तद् अक्षणिकमेव इति सिद्धमस्य विरुद्धत्वम्। अनैकान्तिकत्वञ्च–अक्षणिकेऽप्यर्थे तत्तत्सहकारिसन्निधाने क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः।

यदप्युक्तम्[1]–'सहकारिणः तस्य उपकारं कुर्वन्ति न वा' इत्यादि; तदसत्; उपकारकाणामेव सहकारित्वाऽभ्युपगमात्, अन्योन्यसन्निधाने तेषामतिशयोत्पत्तेः। नहि असंजाताऽतिशयानां पूर्वरूपाऽविशेषात् कार्यजनकत्वं युक्तम्। धर्म-धर्मितया च उपकार-तद्वतोर्भेदः। न च भेदे तस्यैव जनकत्वात् तद्वतोऽजनकत्वम्; अत्यन्तभेदाऽप्रसिद्धेः। धर्मधर्मितया हि तयोर्भेदः, अशक्यविवेचनत्वेन च अभेदः, बुद्धि-तदाकारवत्। न च यो यदर्थमेव कल्पितः स तस्यैव बाधकः[2]; बुद्धेः अर्थग्राहकत्वाऽभावप्रसङ्गात् आकारस्यैव अर्थग्राहकत्वाऽनुषङ्गात्। ननु प्रत्येकं तेषां सामर्थ्ये किमन्यापेक्षया ? इत्यप्यनुपपन्नम्; यावतां सद्भावे कार्यमुपलभ्यते अभावे च नोपलभ्यते तावतां तत्र कारणत्वाऽवधारणात्, कारणसामर्थ्याऽसामर्थ्ययोः कार्यभावाऽभावाऽवसेयत्वात्।

कथञ्च इत्थं[3] क्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वं घटते ? स हि सहकारिसापेक्षः, निरपेक्षो वा तत्र समर्थः ? यदि निरपेक्षः; तर्हि कुशूलस्थोऽपि बीजक्षणः अङ्कुरं जनयेत्। अथ पूर्वपूर्वक्षित्यादिक्षणपरम्परया आहितातिशयः अन्त्य एव बीजक्षणः तज्जनकः; तर्हि सिद्धं सापेक्षस्याऽस्य जनकत्वम्, तद्वत् नित्यस्याप्यस्तु अविशेषात्। अथ स्वोत्पत्तौ[4] एव असौ सहकारिणोऽपेक्षते न कार्ये; तन्न; स्वोत्पत्तेरपि अन्येषां कार्यत्वात्, ततस्तैरपि अनपेक्षैः स्वकार्ये भवि-

---

क्षणिकेष्वपि भावेषु ननु चार्थक्रिया कथम्। विशेषाधायिनोऽन्योन्यं नह्याद्याः सहकारिणः ॥ ४२८ ॥ क्रमेण युगपच्चापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः। न भवन्ति ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताश्रयः ॥ ४३१ ॥ स हि आह–क्षणिकत्वेऽपि भावानां क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध एव। यतस्ते स्वयं समर्था भवेयुरसमर्था वा ?···" तत्त्वसं०।

१ पृ०३७५ पं० १५। २–वासाधकः श्र०। ३ "अत्रोच्यते–न सत्त्वं क्षणभङ्गसिद्धौ अङ्गम् असाधारणत्वात् सन्दिग्धव्यतिरेकित्वाद्वा। तथाहि–क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तं सत्त्वं तदनुपलम्भेन अक्षणिकाद् व्यावर्त्तते एवं तदेव सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां व्याप्तं तदनुपलम्भेन क्षणिकादपि व्यावर्त्तते···। अन्तक्षणप्राप्तानि क्षितिपवनपाथस्तेजोबीजानि···परस्परानपेक्षाणि वा जनयेयुः सापेक्षाणि वा ?"···न्यायवा० ता० टी० ३।२।१४। पृ० ५५६। प्रश० किरणा० पृ० १४४। "क्षणिकस्यापि भावस्य सत्त्वं नास्त्येव सोऽपि हि। क्रमेण युगपद्वापि न कार्यकरणे क्षमः ॥ क्षणिकस्य क्रमः कीदृग्युगपत्करणेषु वः।" न्यायमं० पृ० ४५३। ४ "नन्वपेक्षते एव किन्तु स्वोत्पादे न पुनः स्वकार्ये। तत्र तस्य अनपेक्षत्वमुपेयते न तु स्वोत्पादे। ननु स्वोत्पत्तावपि अस्य जागर्त्ति स्वसन्तानवर्ती पूर्व एव निरपेक्षः क्षणः एवं पूर्वः पूर्वः क्षणः स्वसन्तानपतित एव अनपेक्षो जागर्त्युपजनन इति कुशूलनिहितबीज एव स्यात् कृती कृषीवलः कृतमस्य कृषिकर्मणा···।" न्यायवा० ता० टी० ३।२।१४। पृ० ५५७।

तव्यम्, एवमन्यैरपि इति कुशूलस्थस्यापि बीजस्य अङ्कुरजनकत्वप्रसङ्गः। भूतिक्षणे एव च अखिलस्य निरपेक्षतया उत्पादप्रसङ्गात् सकलसन्तानोच्छेदः स्यात्। कारणे विनष्टे कार्यस्योत्पादात् न तदुच्छेदः इति चेत्; नन्वेवं कथं तत् तस्य कारणं स्यात्, यत्सद्भावे यन्नोत्पद्यते अभावे तु उत्पद्यते तस्य तत्कारणत्वाऽयोगात्? ततः 'तत्तत्सहकारिसन्निधाने कारणं तत्तत्कार्यं करोति' इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

यच्च–"द्वितीया[1]दिक्षणसाध्यकार्यस्य प्रथमक्षणे एव उत्पादः स्यात्" इत्याद्युक्तम्[2]; तदप्ययुक्तम्; सामग्रीभेदात्, नहि द्वितीयक्षणादिसामग्री प्रथमक्षणसामग्री भवति। एकस्वभावेन च कार्यकारित्वमसिद्धम्, [3]कारणस्वभावभेदमन्तरेण कार्याणां भेदाऽसम्भवात्। न चैवं प्रतिस्वभावं तद्वतो भेदप्रसङ्गात् क्षणिकत्वं स्यादित्यभिधातव्यम्; अनुस्यूतस्य एकस्य[4] अनेकस्वभावात्मकत्वे विरोधाऽसंभवात्। न च विरुद्धधर्माध्यास एव एकस्य अनेकस्वभावात्मकत्वं विरुणद्धि; यतो विरोधः अनुपलम्भसाध्यः, न च एकस्मिन् अनेकात्मकत्वाऽनुपलम्भोऽस्ति चित्रज्ञानस्य एकस्यापि अनेकात्मकत्वोपलम्भात्, सहकारीतरभावेन च एकस्यापि रूपादिक्षणस्य अनेकस्वभावत्वविभावनात्। नहि [5]रूपं येनैव स्वभावेन रूपक्षणं जनयति तेनैव रसक्षणम्, तस्याऽपि रूपत्वप्रसङ्गात् रूपस्य वा रसत्वाऽनुषङ्गात्। स्वभावान्तरेण तज्जनने सिद्धं विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकस्यानेकस्वभावात्मकत्वम्। अपेक्ष्यमाणभेदादत्र तदविरोधे अक्षणिकस्यापि अत एव सोऽस्तु।

युगपच्च एकस्य अनेकस्वभावात्मकत्वाऽविरोधे क्रमेणाऽपि तदविरोधोऽस्तु अविच्छिन्नप्रतीतेरविशेषात्। तथा चायं हेतुः कालात्ययापदिष्टः क्षणिकपक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् 'अश्रावणः शब्दः' इति पक्षवत्। अनिमेषलोचनो हि अर्थानामक्षणिकत्वमेव प्रतिपद्यते। न च अनेनाऽपि क्षण एव अनुभूयते, पूर्वाऽपरक्षणविवेकाऽभावतः तत्र अक्षणिकत्वप्रतीतिः इत्यभिधातव्यम्; तस्य अनुभवविच्छेदाऽनुपलक्षणात्, अनेकक्षणस्थायी हि तस्य अर्थाध्यवसायोऽविच्छिन्नरूपोऽनुभूयते। न खलु 'ज्ञानेन एकक्षणस्थायिनैव भवितव्यम्' इति नियमोऽस्ति, स हि तथाप्रतीतेर्नान्यतो भवितुमर्हति, सा च अनेकक्षणस्थायित्वेऽपि समाना। न च भिन्नकालसम्बन्धितया तत्र तावद्धा भेदसंभवात् स्थायित्वाऽनुपपत्तिः इत्यभिधातव्यम्; एकानुभवसम्बन्धिनो यावदनुभवानुवृत्तेः कालस्य एकत्वात्।

तथा प्रत्यभि[6]ज्ञानेनाऽपि क्षणिकपक्षबाधा स्फुटतरैव अनुभूयते; 'स एवाऽयम्' इत्याकारेण

---

१ द्वितीयक्षण–ब०, ज०, श्र०। २ पृ० ३७५ पं० १३। ३ "नहि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८३। ४–स्याप्यनेक–श्र०। ५ "अपि च येन रूपेण रूपस्य रूपं प्रत्युपादानकारणता तेनैव यदि रसं प्रति सहकारिकारणता तदा पुनरपि रूपरसयोरविशेषः। अथ अन्येन रूपेण रूपोपादानता अन्येन च रससहकारितेति तर्हि स्वभावभेदान्नानात्वम्...।" न्यायमं० पृ० ४५५। ६ "अपि च प्रत्यभिज्ञा...सर्वतो जाज्वलीति कस्तस्यां सत्यां क्षणभङ्गिनो भावानभिदध्यात्...।" न्यायमं० पृ० ४५८। "सर्वं चेदं क्षणभङ्गसाधनं कालात्ययापदिष्टं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य पुनः प्रतीतेः।" प्रश० कन्द० पृ० ८०।

प्रवर्त्तमानस्याऽस्य अतीतवर्त्तमानकालपरिगतत्वेन अर्थाऽवभासकत्वात्। ननु च अतीतदेशकालयोरतीन्द्रियत्वेन इन्द्रियसम्बन्धाऽभावात् कथं तद्विशिष्टत्वम् अतोऽर्थस्य प्रतीयेत ? इत्यप्ययुक्तम्; प्रत्यभिज्ञानस्य इन्द्रियजत्वाऽसंभवात् स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वात्तस्य, अतः अतीतग्रहणसमर्थस्य अत्र स्मरणस्य विद्यमानत्वात् युक्तमेव अतीतविषयतया 'सः' इति ग्रहणम्, वर्त्तमानग्रहणसमर्थकस्य प्रत्यक्षस्य सद्भावाच 'अयम्' इति वर्त्तमानतया, अतः अतीतत्वेऽपि देशकालयोः तत्सम्बन्धिनो देवदत्तस्य इदानीन्तनदेशकालसम्बन्धितया ग्रहणमविरुद्धम्। प्राचीनसाम्प्रतिककालविशिष्टतया भेदोऽपि न सर्वथा देवदत्तस्वरूपभेदकः; 'य एव मया पूर्वं प्रतिपन्नो देवदत्तः स एव इदानीं प्रतीयते' इति तत्स्वरूपैकत्वप्रतीतेः।

किञ्च, अभिज्ञाक्षणात् प्रत्यभिज्ञाक्षणं यावत् अर्थस्यास्थायित्वे प्रत्यभिज्ञानस्याप्रवृत्तिरेव स्यात्, नहि नीलाभावे नीलज्ञानस्य प्रवृत्तिरस्ति, प्रवर्त्तते चेदम्, अतः अर्थानां स्थायित्वसिद्धिः, अन्यथा नीलज्ञानात् नीलादेरपि सिद्धिर्न स्यात्, प्रामाण्यञ्चास्य अग्रे प्रसाधयिष्यते। यदि च कालव्यापित्वं देशव्यापित्वञ्च अर्थस्य न प्रतीयते किमेतावता तस्याभावः ? सर्वदर्शिनो हि दर्शननिवृत्तिः भावाऽभावं प्रसाधयति न अर्वाग्दृशः अतिप्रसङ्गात्। अर्थो हि स्वात्मना भवन् न ज्ञानेन अन्यथाकर्त्तुं पार्यते, नहि ज्ञानानामर्थान्यथात्वकरणे तथात्वकरणे वा सामर्थ्यम्, तत्स्वरूपप्रकाशनमात्रे तेषां व्यापारात्। नियतसामग्रीतः समुत्पद्यमानानि हि ज्ञानानि यदि अर्थं सर्वात्मना परिच्छेत्तुमसमर्थानि तदा तेषामेव अयमपराधः नाऽर्थस्य, न खलु प्रदीपो रसं न प्रकाशयति इति रसस्य अपराधः अभावो वा।

यदि च अर्थक्रियातः अर्थानां सत्त्वं स्यात् तदा अर्थक्रियायाः कथं सत्त्वं स्यात्—अर्थक्रियान्तरात्, स्वतो वा ? अर्थक्रियान्तराच्चेत्; अनवस्था। स्वतश्चेत्; अर्थानामपि स्वत एव तदस्तु किं ततस्तत्कल्पनया ? किञ्च, अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम्, अर्थक्रियाकारित्वेन वा ? प्रथमपक्षे भेदाऽभावात् "*यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।*" [ ] इति सत्त्वअर्थक्रियाकारित्वयोः लक्ष्यलक्षणभावो न स्यात्, भेदे सत्येव अस्य संभवात्। अथ अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वम् 'यो हि तां करोति तस्य सत्त्वम्' इति; तर्हि 'अन्यद् अर्थक्रियाकारित्वम्, अन्यत् सत्त्वम्' इत्यायातम्, तथा च 'सत्त्वं हि अर्थक्रियाकारित्वम्' इत्युक्तं विरुद्ध्यते।

---

१ वर्त्तमानस्या–आ०। २–समर्थकस्य व०, ज०, आ०। ३–ग्रहणार्पकस्य श्र०। ४ "···बुद्धधसञ्चरदोषतः ॥५६॥" आप्तमी० अष्टसह० पृ० २०२। ५ "अर्थक्रियायाश्च अपरार्थक्रिया यदि सत्त्वव्यवस्थापिका···।" प्रमेयक० पृ० १४८ उ०। सन्मति० टी० पृ० ४०२। ६ "तदेव परमार्थसत्। अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः।" न्यायवि० १।१४, १५। प्रमाणवा० ३।३। तत्त्वसं० पं० पृ० १४४। "अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते सामान्यस्वलक्षणे।" इत्युत्तरार्द्धम्, अष्टसह० पृ० १२१। अभि० आलोक पृ० ५४७। ७ सत्त्वे यो हि ताःक–व०, ज०।

साध्यविकलश्च दृष्टान्तः; घटादीनां क्षणमात्रस्थायित्वाऽप्रसिद्धेः। माभूद् दृष्टान्तः किं तेन साध्यम्, हेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणाद् गमकत्वोपपत्तेः ? ननु बाधकं प्रमाणं किं विपक्षाऽभावमवबोधयति, हेतोस्ततो व्यतिरेकम्, प्रतिबन्धं वा प्रसाधयति ? प्रथमपक्षे 'असन्तः अक्षणिकाः पदार्थाः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वरहितत्वात् खपुष्पवत्' इत्यत्र बाधकाऽनुमाने हेतोः आश्रयासिद्धत्वम्। विकल्पारूढस्य आश्रयत्वे न कश्चिद्धेतुः आश्रयाऽसिद्धः स्यात् सर्वत्र तथा तत्सिद्धिसंभवात्। नापि विपक्षाद् व्यतिरेकस्तेन प्रसाधयितुं शक्यः; अप्रतिपन्ने धर्मिणि तदाश्रयव्यतिरेकस्य गृहीतुमशक्यत्वात्। यदि च व्यतिरेकः कदाचित् कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतिपन्नः स्यात्, तदा तदविनाभाविलिङ्गदर्शनात् असौ प्रसाधयितुं युक्तः अग्निधूमवत्, न च तत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिदस्ति। सा हि प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षतः; व्यतिरेकस्य व्यावृत्तिरूपतया अवस्तुत्वेन तदहेतुत्वतः तदगोचरत्वात्। तद्गोचरत्वे वा तद्धेतुत्वेन वस्तुत्वापत्तौ अर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वस्य तत्र अक्षणिकेऽपि गतत्वात् अनैकान्तिकत्वम्। न खलु व्यावृत्तेः भवताऽपि क्षणिकत्वम् इष्टम्, स्वलक्षणस्यैव तत्प्रतिज्ञानात्। अनुमानतस्तत्प्रतिपत्तावपि एतदेव दूषणम्।

नापि बाधकात् प्रतिबन्धसिद्धिः। सत्त्व-क्षणिकत्वयोः प्रतिबन्धोऽपि व्यतिरेकग्रहणपूर्वक एव, न च अगृहीतेऽपि विपक्षे तद्व्यतिरेको गृहीतुं शक्यते अतिप्रसङ्गात्। गृहीते च प्रतिबन्धः तयोर्दुर्लभः स्यात्। किञ्च, क्षणिकत्वस्य अनुमानगम्यत्वे वस्तुत्वं न स्यात्; अनुमानस्य व्यावृत्तिविषयत्वात्, तस्याश्च अवस्तुत्वात्।

किञ्च, इदं क्षणिकत्वं नीलादन्यत्र अर्थान्तरे वर्त्तते, न वा ? यदि न वर्त्तते; कथं तस्य क्षणिकत्वं ? वर्त्तते चेत्; तद्वत् नीलमनुवर्त्तते, न वा ? नाऽनुवर्त्तते चेत्; कथं नीलादस्याऽभेदः ? अनुवर्त्तते चेत्; तर्हि तदपि नीलमेव स्यात् इति वस्तुव्यवस्थाविलोपः। न च वृक्षशिंशपादावपि अयं दोषः तुल्यः; सांशवस्तुवादिनः केनचिद् रूपेण शिंशपादितो वृक्षादेः अनुवृत्तेर्व्यावृत्तेश्च उपपद्यमानत्वात्।

किञ्च, क्षण-लव-मुहूर्त्तादयः कालविशेषाः, न च बौद्धैः[1] कालोऽभ्युपगम्यते इति विशेषणस्य असिद्धत्वात् कथं 'क्षणोऽस्यास्ति' इति क्षणिकः अर्थः स्यात् ? परिकल्पितेन[2] च क्षणेन क्षणिकत्वं न वास्तवं स्यात्[3], क्षणिकत्वस्य च अवास्तवत्वे अक्षणिकत्वमेव वास्तवं स्यात् प्रकारान्तराऽसंभवात्।

किञ्च इदं क्षणिकत्वम्-क्षणस्थायित्वम्, क्षणानन्तरमभावो वा ? यदि क्षणस्थायित्वम्;

---

१ "संज्ञामात्रेण कालस्याभ्युपगमात्, न च संज्ञामात्रं वस्तु विशेषणत्वेन युक्तमिति।" तत्त्वसं० पं० पृ० १४२। २ परिकल्पिते च आ०। ३ स्यात् क्षणानन्तरक्षणिकत्वस्य च वास्तवत्वे भा०। स्यात् क्षणानन्तरक्ष-श्र०।

तद् अक्षणिकेऽप्यस्त्येव, तदपि हि क्षणमास्ते[1], अन्यथा अक्षणिकमेव तन्न स्यात्। अथ क्षणाऽनन्तरमभावः; तदा अशब्दार्थत्वम्, नहि क्षणानन्तरमभावः क्षणशब्दवाच्यः, यतस्तेन तद्वत्ता[2] स्यात्, 'क्षणानन्तरमभावश्च अर्थानां प्रत्यक्षादिविरुद्धः' इत्युक्तम्।

यदप्युक्तम्[3]–'उत्पादिताऽशेषकार्यग्रामस्य' इत्यादि; तत्र उत्पादिते कार्ये तदुत्पादकस्वभावः अस्य व्यावर्त्तते एव, अपरकार्योत्पादस्वभावस्वीकारात्। न चैवमस्य क्षणिकत्वप्रसङ्गः; स्वभावभेदेऽपि तद्वतः अभेदप्रत्यय[4]विषयत्वेन अक्षणिकत्वप्रतिपादनात्। एतेन 'येऽकृत्वा कुर्वन्ति' इत्यादि प्रत्युक्तम्।

यच्च कृतकत्वं क्षणिकत्वे साधनमुक्तम्; तत्रापि पक्षादिदोषः पूर्ववद् द्रष्टव्यः। कृतकत्वञ्च कार्यत्वमुच्यते, क्ष[5]णक्षयैकान्ते च कार्यकारणभावस्य सन्ताननिषेधाऽवसरे प्रतिक्षिप्तत्वात् कथं तत् सिद्ध्येत्? अस्तु वा तत्र तद्भावः, तथापि अत्र [6]किमेकस्मात् कारणात् एकं कार्यमुत्पद्यते, किं वा अनेकस्मादेकम्, उतस्वित् एकस्मादनेकम्, आहोस्वित् अनेकस्मादनेकम् इति? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; एकस्मात् प्रदीपादिकारणात् दर्श[7]ननदाह-तैलशोष-अन्धकारापनयनाद्यनेककार्योदयदर्शनात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; भवन्मते अनेकावयवनिवहनिर्मित[8]-अवयविस्वरूपैककार्याऽसंभवात्। [9]रूपाऽऽलोकाद्यनेककारणकलापात् ज्ञानादिलक्षणैककार्यं संभवति; इत्यप्यपेशलम्; [10]कारणभेदोपनीतस्वभावनानात्वयोगतः तस्य एकत्वाऽनुपपत्तेः, अर्थेन हि नीलाद्याकारः, समनन्तरप्रत्ययेन स्वसंविद्रूपता, आलोकेन स्पष्टता, चक्षुरादिना रूपादिनियतता ज्ञाने समर्प्यते इति। तदुपनीतविविधविरुद्धधर्माध्यासेऽपि अस्य एकत्वे नानाकालयोगेऽपि एकत्वं किन्न स्यात् अविशेषात्? एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्युक्तः; अनेकं कार्यं सहकारीतरस्वभावेन एकस्य उत्पादयतः विरुद्धधर्माध्यासेन एकत्वाऽनुपपत्तेः, तदुपपत्तौ[11] वा अनेकक्षणयोगेऽप्यस्य एकत्वमुपपद्यतां विशेषाऽभावात्।

१–स्ते न वा अच्च– श्र०। २ तद्वत् तत् ब०, ज०। ३ पृ० ३७५ पं० २२। ४–प्रत्ययत्वेन आ०। ५ "क्षणक्षयेऽपि नैवास्ति कार्यकारणताञ्जसा। कस्यचित्कचिदत्यन्ताव्यापारादचलात्मवत्॥ १२४॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७७। "न च क्षणिकत्वे सति कार्यकारणभावो घटते…।" प्रश० व्यो० पृ० ४०१। ६ "क्षणिकत्वपक्षे किमेकस्मादेकोत्पादः, उत बहुभ्यः एकोत्पत्तिः, अथ एकस्मादनेकनिष्पत्तिः, आहो बहुभ्यः बहुसंभव इति परीक्षणीयम्…।" न्यायमं० पृ० ४५३। सन्मति० टी० पृ० ४००। स्या० रत्ना० पृ० ७६१। अभि० आलोक पृ० ५४८। ७ वर्तिकामुखदाह। ८–यवनिर्मित–ब०, ज०। "नहि अस्माकमिव भवतामनेकावयवनिवहनिर्मितमवयविस्वरूपं कार्यमस्ति।" न्यायमं० पृ० ४५४। ९ "नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता, समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता, आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद्धेतोः स्पष्टतार्थता, चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियमः…।" ब्र० सू० शां० भा०, भाम० २।२।२१। १० "कारणभेदोपनतस्वभावनानात्वयोगादेकत्वमेव तावद् विरुद्ध्यते…।" न्यायमं० पृ० ४५४। ११ "विरुद्धधर्मयोगेऽपि यदि चैकत्वमिष्यते। अनेकक्षणयोगेऽपि भाव एकोऽभ्युपेयताम्॥" न्यायमं० पृ० ४५४।

अथ चतुर्थः पक्षः समाश्रीयते–'रूपादिक्षणप्रचयरूपा[1] हि पूर्वा सामग्री सन्तानवृत्त्या प्रवर्त्तमाना स्वरूपामुत्तरोत्तरां सामग्रीमारभते विजातीयकारणाऽनुप्रवेशे तु विरूपाम्' इति; तदप्यसुन्दरम्; यतः समग्रेभ्योऽभिन्ना[2] सामग्री, भिन्ना वा स्यात्? न तावद्भिन्ना; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। अथ अभिन्ना; तर्हि समग्रा एव सामग्री, तत्र च पूर्वसमुदायेन उत्तरसमुदायारम्भे तदन्तर्गतं समुदायिनम् एकैकम्[3] एकैक एव उत्पादयेत्, सर्वे संभूय वा? तत्र आद्यपक्षोऽसङ्गतः; एकस्माद् एकोत्पत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, अनेकस्माद् अनेकोत्पत्तिप्रतिज्ञाक्षतिप्रसङ्गाच्च।

द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; यतः[4] एकैकसमुदायिनिष्पत्तौ सर्वसमुदायिनां क्रमेण व्यापारः स्यात्, युगपद्वा? क्रमपक्षे क्षणिकत्वक्षतिः, ये हि तत्र पञ्चपाः[5] समुदायिनः क्षणा वर्त्तन्ते ते एकतमं समुत्पाद्य पुनः अपरमुत्पादयन्ति पुनः अन्यम् इति तावत्कालमवस्थानात् कथं क्षणिकाः? अथ युगपदेव सर्वनिष्पत्तौ सर्वे व्याप्रियन्ते; तर्हि निकुरुम्ब[6]रूपं कार्यं निकुरुम्बरूपात् कारणादुत्पन्नम् इति कारणप्रविभागनियमाऽभावात् 'इदं रूपम् एष रसः' इत्येवं रूपादिकार्यप्रविभागो न स्यात्, सर्वं रूपं रसो वा स्यात् एकस्मान्निकुरुम्बविशेषादुत्पन्नत्वात्। अथ निकुरुम्बात् निकुरुम्बस्य उत्पत्तावपि न रूपादीनां स्वरूपसङ्करप्रसङ्गः पूर्वसामग्रीभूतैः रूपादिक्षणैः उपादानसहकारिभावेन उत्तरसामग्रीभूतरूपादिक्षणानामुत्पादनात्। यदि हि रूपक्षणो रूपवत् रसादिक्षणान्तरं प्रति उपादानं स्यात् तदा स्याद् रसस्यापि[7] रूपरूपता इति; तदप्यचारु; उपादान-सहकारिभावस्य उपादानेतरशक्तिभेदे सत्येव उपपत्तेः, तद्भेदश्च निरंशस्वलक्षणे न संभवति इत्युक्तम्।

ततः क्षणक्षयैकान्ते कार्यकारणभावाऽनुपपत्तेः असिद्धं[8] तत्र कृतकत्वम्। न च 'कृतकेन स्वसत्ताक्षणानन्तरमेव नष्टव्यम्' इति नियमः, 'कृतकश्च स्यात् कालान्तरे च नश्येत् विरोधाऽभावात्' इति सन्दिग्धाऽनैकान्तिकत्वम्। नाऽनैकान्तिकत्वम्[9], कृतकत्वाऽनित्यत्वयोः तादात्म्येन अनित्यत्वाऽव्यभिचारित्वात्तस्य; इत्यप्यसुन्दरम्; अनित्यत्वाऽव्यभिचारित्वेऽपि कालान्तरभावि-अनित्यत्वाऽव्यभिचारित्वं भविष्यति न तु उत्पत्त्यनन्तरभावि-अनित्यत्वाऽव्यभिचारि-

---

१–प्रचयस्वरूपापि आ०, ब०, ज०। २ "अथ केयं सामग्री नाम? न समग्रेभ्यो भिन्ना पृथगनुपलम्भाद्, अव्यतिरेके तु समग्र एव सामग्री।" न्यायमं० पृ० ४५४। ३ एकैकप एव ब०, ज०। "तत्र पूर्वसमुदायेन उत्तरसमुदायारम्भे तदन्तर्गतं समुदायिनम् एकमेव एक उत्पादयेत्, एकं वा संभूयेति···।" न्यायमं० पृ० ४५४। "····एकैकमेकैक एव उत्पादयेत् सर्वे संभूय वा?" स्या० रत्ना० पृ० ७६६। ४ "अथ एकैकफलसमुदायिनिष्पत्तौ सर्वसमुदायिनं व्यापारयेत् क्रमेण, यौगपद्येन वा?" न्यायमं० पृ० ४५४। स्या० रत्ना० पृ० ७६६। ५ पंचैपाः ब०। "ये हि तत्र पंच दश समुदायिनः क्षणं तत्र वर्त्तन्ते···।" न्यायमं० पृ० ४५४। ६ "तर्हि निकुरुम्बरूपादेव कारणादुत्पन्नमिति कारणविवेकनियमाभावाद् रूपरसादिप्रविभागो न स्यात्···।" न्यायमं० पृ० ४५४। स्या० रत्ना० पृ० ७६६। ७–पि रूपता ब०, ज०। ८ न सिद्धं ब०, ज०। ९ 'नानैकान्तिकत्वम्' इति नास्ति आ०, भां०, श्र०।

त्वम्, कृतकत्वस्य अनित्यत्वमात्रेणैव अविनाभावसंभवात्। तथा च 'कृतकत्वाऽनित्यत्वयोस्तादात्म्यसिद्धिः' इत्यादि प्रत्युक्तम्। कुतश्च अनयोस्तादात्म्यप्रतिबन्ध[1]सिद्धिः ? न तावत् प्रत्यक्षात्; तस्य अविचारकत्व-सन्निहितार्थविषयत्वतः सार्वत्रिकप्रतिबन्धग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवात्। नाप्यनुमानात्; प्रतिबन्धप्रसाधकाऽनुमानस्यैवासंभवात्। विपक्षे बाधकप्रमाणात् तत्सिद्धिश्च प्रागेव कृतोत्तरा।

यच्चाऽन्यदुक्तम्[2]-'कारणसामर्थ्याऽभेदात्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः कारणानां सामर्थ्याऽभेदः[3] किं विनश्वरमात्रस्वभावभावजनने, [4]उदयानन्तरास्थानशीलाऽर्थोत्पादनमात्रे वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्; यः कश्चित् कारणै[5]र्जन्यते तस्य अनित्यतामात्रस्वभावतया इष्टत्वात्। द्वितीयपक्षस्तु अयुक्तः; कारणव्यापाराऽऽसादित-आत्मसत्ताकस्य उदयानन्तरमस्थानशीलत्वाऽप्रतीतेः। विचित्रा हि कारणसामग्री–काचित् उदयानन्तरमेव अयत्नसाध्यविनाशालिङ्गितं विद्युदादिभावम् आविर्भावयति, काचित् पुनः कालान्तरे प्रयत्नसाध्य[6]-अभावक्रोडीकृतं घटादिरूपम्, अन्या तु प्रचुरतरकाले प्रयत्नसहस्रतोऽपि अस्मदादिभ्योऽनासादितविनाशोपेतं पर्वतादिकम्। विद्युदादेः खलु उदयाऽनन्तरमभावो न प्रतीतितोऽन्यतः सिद्ध्यति, सा च अन्यत्रापि भवन्ती किन्न तत्सद्भावं प्रसाधयेत् ? न खलु मुद्गरादिव्यापारात् प्राक् कलशादेरभावः प्रतीयते।

यदप्युक्तम्[7]-'अन्ते विनाशोपलम्भात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; अन्ते दृष्टधर्मस्य आदावपि अभ्युपगमे अन्ते सन्तानोच्छेदोपलम्भाद् आदावपि तदुच्छेदः स्यात्, अविद्यातृष्णाप्रक्षयस्य च अन्ते दर्शनात् आदावपि तत्सिद्धिप्रसङ्गतः सुगतस्य मार्गाऽभ्यासो व्यर्थः स्यात्। यदि च स्वहेतोः [8]विनाशस्वभावो भावः समुत्पन्नः तर्हि मुद्गरादिप्रहारनिरपेक्षः तथाऽवभासेत। न हि प्रदीपादिः प्रकाशात्मकतया उत्पन्नः पर[9]मपेक्ष्य तद्रूपतया [10]अवभासते। न च मुद्गरादिप्रहाराऽभावे घटादिप्रध्वंसः स्वप्नेऽपि प्रतीयते, अतः कादाचित्कः[11] सन् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मुद्गरादिहेतुक एव असौ व्यवतिष्ठते। नहि कादाचित्को निर्हेतुको युक्तः उत्पादवत्। नापि यो यस्माद्भवति [12]सोऽतद्धेतुकः; प्रतिनियतहेतुफलव्यवस्थाऽभावप्रसङ्गात्। न च विसदृशसन्तानोत्पादने एव तद्व्यापारस्य चरितार्थत्वम् इत्यभिधातव्यम्; घटाविनाशे कपालसन्ततेरपि [13]अनुपपत्तेः। नहि विद्यमाने घटे कपालसन्ततिः उपलभ्यते, अतः तद्विनाशद्वारेणैव सा उत्प-

---

१-न्धप्रसिद्धिः श्र०। २ पृ० ३७६ प० ८। ३-भेदैः व० ज०। ४ उदयान्तरा-ब०, ज०। ५ कारणे ज-श्र०, ज०। ६-व्यभाव-ज०, ब०। ७ पृ० ३७६ पं० १६। ८ विनाशसद्भावभा-श्र०, ज०। ९ परमपक्षा ब०, ज०। १० भासते भां०। ११ "निर्हेतुकत्वस्यापि कतिपयकालावस्थायित्वेन विरोधाऽभावात्। न च निर्हेतुकत्वं युक्तम्; भाव इव अभावेऽपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतोर्व्यापारोपलम्भात्•••।" प्रश० व्यो० पृ० ३९९। न्यायमं० पृ० ४५८। १२ स तद्धेतुः श्र०। १३ अनुपपत्तिः ब०, ज०।

ष्यते इति उभयोः तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषात्[1] विनाशेऽपि तज्जन्यतास्तु । कृतकानां ध्रुवभावित्वाद् विनाशस्य न हेत्वन्तरापेक्षा[2]; इत्यपि कपालसन्तानेन[3] अनैकान्तिकम्, स हि ध्रुवभावी न च मुद्गरादिहेत्वन्तराऽनपेक्षः ।

निर्हेतुकत्वे च[4] अस्य किम् आकाशादिवत् सदा सत्त्वमेव स्यात्, बन्ध्यास्तनन्धयादिवत् असत्त्वमेव वा ? प्रथमपक्षे भावाऽभावयोर्युगपदुपलम्भः स्यात्, तयोर्विरोधाऽभावतः सहावस्थानसंभवात्। विरोधे वा भावदर्शनमनवसरमेव प्राप्नोति, तद्विरोधिनोऽभावस्य सदा सत्त्वात्। द्वितीयपक्षे तु घटादेर्नित्यत्वमेव स्यात्, तत्प्रध्वंसस्य अहेतुकत्वेन सदाऽसत्त्वात्। न च भावकारणकत्वमभावस्य उपपद्यते; तत्कारणभेदप्रतीतेः, अन्यदेव हि मुद्गरादिकं[5] घटविनाशे कारणम् अन्यदेव च मृत्पिण्डादिकं तदुत्पादे । भावकारणकत्वे च अभावस्य भावकाले एव अभावोऽपि स्यात्, तथा च प्रागिव भावोपलम्भो दुर्लभः स्यात्। तदा तदभावे वा न भावकारणकोऽसौ स्यात्, नहि एककारणोत्पन्नाऽर्थानां कालक्रमेण उत्पत्तिः प्रतीयते । अथ द्वितीयक्षणमपेक्ष्य अस्य प्रादुर्भावात् न तदैव उत्पत्तिः; कथमेवम् अहेतुकत्वम् अपेक्षस्यैव (अपेक्ष्यस्यैव) हेतुत्वात् ? अहेतुको हि न किञ्चिदपेक्षते ।

अथ भावकारणैः तथाभूतस्वभाव एव उत्पादितोऽसौ येन भावसत्तानन्तरं भवति इति; ननु तत्सत्ता किं क्षणानन्तर[6]ध्वंसिनी, रूपान्तरयुक्ता वा ? तत्र आद्यपक्षे प्रत्यक्षादिबाधा; द्वितीयादिक्षणेऽपि भावसत्तायाः प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु कथमर्थानां क्षणिकता अनेकक्षणस्थायिसत्तानन्तरभावि[7]नाशस्य अक्षणिकत्वे एव उपपत्तेः ? न च अपरं सत्तामात्रं किञ्चिदस्ति, यदनन्तर[8]भावी स स्यात् ।

अहेतुकत्वञ्चास्य[9] [10]अर्थोदयानन्तरभावित्वात्, व्यतिरेकाऽव्यतिरेकविकल्पाभ्यां तज्जन्यत्वाऽसंभवाद्वा ? न तावद् उदयानन्तरभावित्वात्; उक्तदोषाऽनुषङ्गात्। व्यतिरेकाऽव्यतिरेकविकल्पाभ्याञ्च अस्य मुद्गराद्यहेतुता सिद्ध्येत् न तु उत्पादानन्तरभाविता । यदा हि असौ दृश्यते तदैव [11]अहेतुकोऽभ्युपगन्तुं युक्तः, न च मुद्गरादिव्यापारात् प्राक् उपलब्धो घटादीनां विनाशः ।

१–विधाननाशेऽपि तज्जन्यवास्तु ब०, ज० । २–पेक्षेऽपि ब०, ज० । ३–सन्तानैका–ब०, ज० । ४ "विनाशहेतुर्नास्तीति ब्रुवाणः पर्यनुयोक्तव्यः–किमकारणत्वाद् विनाशो नास्ति, उत अकारणत्वान्नित्य इति ?···यद्यकारणत्वान्नित्यो विनाशः; कार्यस्य उत्पादो न प्राप्नोति विनाशेन सहाऽवस्थानमिति च दोषः···अथ असन् विनाशः; एवमपि सर्वनित्यत्वं विनाशाभावात् ।" न्यायवा० ३।२।१४ । पृ० ४१४ । ५–रप्रहारादिकं श्र० । ६ क्षणान्तर–आ०, ब०, ज०, भां० । "असौ एकक्षणसङ्गता वा भवेत् अनेकक्षणपरिगता वा ?" सन्मति० टी० पृ० ३८९ । ७–विनोऽसत्त्वस्य ज० ।–विनोंऽशस्य ब० ।–विनो विनाशस्य श्र० । ८–नन्तरे भा–ज० । ९ "किञ्च उदयानन्तरध्वंसित्वं भावानां भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यामन्येन ध्वंसस्याभावादवसीयते, प्रमाणान्तराद्वा ?" प्रमेयक० पृ० १४५ पू० । "एवं च व्यर्थमेवेह व्यतिरिक्तादिचिन्तनम् । नाश्यमाश्रित्य नाशस्य क्रियते यद्विचक्षणैः ॥ ४२४ ।" शास्त्रवा० । १० अर्थानन्तरं भा–श्र० । ११ अहेतुकोप्युपग–श्र० ।

न च 'तथाऽनुपलभ्यमानोप्यस्ति' इति अभिधातुं युक्तम्; उपलम्भनिबन्धनत्वाद् वस्तुव्यवस्थायाः। प्रतीयमानश्च कालान्तरे हेतुव्यापाराद् विनाशस्य जन्मानभ्युपगम्य अप्रतीयमानमुद्यानन्तरमहेतुकत्वमभ्युपगच्छतोऽस्य महती प्रेक्षापूर्वकारिता स्यात्!

कथञ्च उत्पादोऽपि एवमहेतुको न स्यात्? नहि सोऽपि कार्यस्य स्वयमुत्पद्यमानस्य अनुत्पद्यमानस्य वा, तथा ततो भिन्नोऽभिन्नो वा कारणैर्विधातुं पार्यते। यथा च मुद्गरादिभ्यो घटाद्यभावो नोपपद्यते तथा स्वरूपतोऽपि। स हि स्वरूपतो भवन् 'स्वयं नश्वरस्य अनश्वरस्य वा, व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा' इत्यादिविकल्पान् नाऽतिक्रामति।

ननु नाऽस्माकं दर्शने भावस्य किञ्चिद् भवति, केवलम् एकक्षणस्थितिधर्मा स्वस्वकारणाज्जातः क्षणान्तरे 'न भवति' इति व्यपदिश्यते, तदुक्तम्–"न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्।" [प्रमाणवा० १।२८१] इति। नन्वेवं नष्टशब्दस्य कश्चिदर्थोऽस्ति, न वा? नास्ति चेत्; किं तेनोक्तेन? अस्ति चेत्; किं सत्त्वाद् भिन्नः, अभिन्नो वा? भेदपक्षोऽयुक्तः; सम्बन्धाऽभावात् अनभ्युपगमाच्च। यद्यभिन्नः; तदा अस्ति-नास्तिशब्दयोः तत्प्रतीत्योश्च पर्यायता स्यात्। तथा च 'क्षणक्षयिणो भावा निरन्वयविनाशाः, न तस्य किञ्चिद्भवति, न भवत्येव केवलम्' इत्येवंविधवचनविशेषा न सत्त्वाऽतिरेकिणं कमप्यर्थमभिदध्युः इत्येषामुच्चारणवैयर्थ्यम्, सत्त्वे विप्रतिपत्त्यभावात्। तस्माद् भावस्य यथा स्वकारणादवाप्तजन्मनः प्रमाणपरिच्छेद्या सद्रूपता तथा असद्रूपताऽपि।

कीदृशश्च अयं विनाशो निर्हेतुकत्वेन अभिप्रेतः–किं विनशनं विनाशः अभावमात्रं प्रसज्यप्रतिषेधरूपम्, विनश्यतीति वा विनाशः अनवस्थायिभावस्वरूपं पर्युदासप्रतिषेधरूपं वा? न तावत् प्रसज्यप्रतिषेधरूपस्य अस्य अहेतुकत्वम्; तद्रूपाऽभावस्यैव भवताऽनभ्युपगमात्। नापि पर्युदासप्रतिषेधरूपस्य; अनवस्थायिभावस्वरूपस्य अस्य अहेतुकत्वेन कैश्चिदपि अनभ्युप-

---

१–रादिना तस्य जन्मा–भां०, श्रा०। २–तुकत्वमप्युपग–श्र०। ३ "यथा विनाशं प्रत्यनपेक्षं विनश्वरम् तथा स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थास्नु तद्धेतोरकिञ्चित्करत्वात्, तद् व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ताऽकरणाद् इत्यादि सर्वं समानम्।" अष्टसह० पृ० १८५। सिद्धिवि० टी० पृ० १६९ उ०। "उत्पत्तावपि तुल्योऽयं प्रलापः···।" न्यायमं० पृ० ४५८। प्रमेयक० पृ० १४६ पू०। ४ क्षणान्तरे आ०, ब०, ज०, श्र०। ५ उद्धृतमेतत्–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २००। हेतुवि० टी० पृ० १२०। प्रश० व्यो० पृ० ४००। स्या० रत्ना० पृ० ७८८। ६ "नष्टशब्दस्य कश्चिदर्थोऽस्ति न वा?···" स्या० रत्ना० पृ० ७९०। ७–विधाः वचन–श्र०। ८ "तथा च त्रिलोचनः प्रकीर्णके···किं विनश्यतीति विनाशः अनवस्थायिभावस्वभावः पर्युदासप्रतिषेधरूपः, किं वा विनशनं विनाशः अभावमात्रं प्रसज्यप्रतिषेधरूपम्? नाद्यः कल्पः; अनवस्थायिभावस्वभावस्य अहेतुकत्वेन केनाप्यनभ्युपगतत्वेन असिद्धत्वात्।···" स्या० रत्ना० पृ० ७८८। ९–रूपस्याहेतु–श्र०।

गमात्। ततो विनाशं प्रति अन्याऽनपेक्षत्वम् असिद्धं भावानाम्; मुद्गरादेः तं प्रति तैरपेक्षणात्। 'यो यद्भावं प्रति अन्याऽनपेक्षः' इति च अनश्वरत्वेऽपि समानम्।

किञ्च, अत्र अन्याऽनपेक्षत्वमात्रं[२] हेतुः, तत्स्वभावत्वे सति अन्याऽनपेक्षत्वं वा? प्रथमपक्षे यववीजादिभिः अनेकान्तः, शाल्यङ्कुरोत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थायां तदुत्पादने अन्याऽनपेक्षाणामपि एषां तत्स्वभावनियतत्वाऽभावात्। द्वितीयपक्षे तु विशेष्याऽसिद्धो हेतुः; तत्स्वभावत्वे सत्यपि अर्थानां विनाशं प्रति अन्याऽनपेक्षत्वाऽभावप्रतिपादनात्। भागे विशेषणाऽसिद्धश्च तत्स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्वम्; द्रव्यादीनां विनाशस्वभावाऽभावात्। दृष्टान्तश्च साधनविकलः; अन्त्यकारणसामग्र्याः स्वकार्योत्पादने द्वितीयक्षणाऽपेक्षया अनपेक्षत्वाऽसंभावात्, न हि अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनस्वभावाऽपि द्वितीयक्षणाऽनपेक्षा तदुत्पादयति प्रतीतिविरोधात्।

यदपि 'शत-सहस्रक्षणस्थायि' इत्युक्तम्[३]; तदप्ययुक्तम्; यतः स्वकारणकलापतः प्रथमक्षणादन्त्यक्षणं यावत् शतसहस्रक्षणस्थायी जातोऽर्थः द्वितीयादिक्षणेऽपि तत्स्वभावं न परित्यजति अन्त्यक्षणं यावत्।

यदप्यभिहितम्[४]–'यद् यथाऽवभासते' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; हेतोरसिद्धेः, नहि नीलमवभासमानं क्षणिकत्वेन अवभासते, अन्यथा नीलवत् 'क्षणिकोऽयम्' इत्यपि उल्लेखः स्यात्। 'यदेव विकल्पेन परामृश्यते तदेव अध्यक्षगोचरः' इत्यभ्युपगमात्। न च नीलावभास एव क्षणिकाऽवभासः; प्रत्ययवैलक्षण्यात्। तद्वैलक्षण्येऽपि अस्य क्षणिकत्वाऽवभासस्वभावत्वे अक्षणिकत्वाऽवभासस्वभावत्वमपि[५] अस्तु विशेषाऽभावात्, न हि अन्याकारम् अन्यपरिच्छेदे समर्थम् अतिप्रसङ्गात्। न च वर्त्तमानताग्रहणमेव क्षणिकताग्रहणम्; अनिमेषलोचनस्य अक्षणिकतायामपि वर्त्तमानताग्रहणस्य प्रतिपादनात्।

तदेवं क्षणिकत्वस्य विचार्यमाणस्य अनुपपत्तेः 'प्रतिक्षणं विशरारवो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दपरमाणवः ज्ञानञ्च' इति सौत्रान्तिकमतमपास्तम्, 'ज्ञानमात्रमेव क्षणस्थितिधर्मकं तत्त्वम्' इति योगाचार-माध्यमिकमतञ्च; बहिरर्थसिद्ध्या आत्मादितत्त्वान्तरसिद्ध्या च प्रत्येकतः तन्मतनिराकरणं प्रागेव विशेषतो विहितमिति नेह पुनरभिधीयते। वैभाषिकमतं तु क्षणभङ्गनिराकरणात् निराकृतमपि तन्मतप्रक्रियां प्रदर्श्य विशेषतो निराक्रियते। तथाहि—

---

१ "परिणामस्वभावः स्याद्भावः तत्रानपेक्षणात्। अयमर्थक्रियाहेतुः अन्तरेण निरन्वयम्॥" न्यायविनि० २।१३२। पृ० ४९१ उ०। २–पेक्षित्व–ब०, ज०। "किंच अन्यानपेक्षत्वमात्रं हेतुः, तत्स्वभावत्वे सति···" प्रमेयक० पृ० १४५ पू०। ३ इत्याद्युक्तम् श्र०। पृ० ३७६ पं० १८। ४ पृ० ३७८ पं० १७। ५ अक्षणिकाव–ब०, ज०।

द्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पादमङ्गीकृत्य विश्ववैचित्र्यमिदं वदतां वैभाषिकाणां पूर्वपक्षः—

विभाषाम् सद्धर्मप्रतिपादकग्रन्थविशेषं ये अधीयते ते वैभाषिकाः, ते च प्रतीत्यसमुत्पादम् अङ्गीकृत्य विश्ववैचित्र्यमाचक्षते; तथाहि–प्रतीत्यं अन्योन्यं हेतूकृत्य तां तां सामग्रीमाश्रित्य हेतुप्रत्ययभावेन यस्मिन् संघातेभ्यः संघाताः प्रभवन्ति प्रधान-ईश्वरादिकारकनिरपेक्षाः सः प्रतीत्यसमुत्पादः। तस्य च द्वादश अङ्गानि हेतुफलभावेन व्यवस्थितानि; तथाहि–अविद्याप्रत्ययः संस्कारः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेद-

१ "विभाषया दीव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः, विभाषां वा विदन्ति वैभाषिकाः।" स्फुटार्थ० पृ० १२। २ "हेतून् प्रत्ययान् प्रतीत्य समाश्रित्य यः स्कन्धादीनामुत्पादः स प्रतीत्यसमुत्पादः।" तत्त्वसं० पं० पृ० १५। "तत्र प्रतीत्यसमुत्पादः शालिस्तम्बसूत्रेऽभिहितः। तत्र आध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः कतमः यदिदम्–अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणमिति…।" शिक्षासमुच्चय पृ० २१९। "तद्यथोक्तमार्यशालिस्तम्बसूत्रे–एवमुक्ते मैत्रेयो बोधिसत्त्वो महासत्त्व आयुष्मन्तं शारिपुत्रमेतदवोचत्। यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन। यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति। तत्र कतमः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम। यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्ययाः जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्यादयः।……तत्राविद्या कतमा–एतेषामेव षण्णां धातूनां यैकसंज्ञा पिण्डसंज्ञा नित्यसंज्ञा ध्रुवसंज्ञा शाश्वतसंज्ञा सुखसंज्ञा आत्मसंज्ञा सत्त्वसंज्ञा जीवसंज्ञा जन्तुसंज्ञा मनुजसंज्ञा मानवसंज्ञा अहङ्कारममकारसंज्ञा एवमादिविविधमज्ञानमियमुच्यते अविद्या। एवमविद्यायां सत्यां विषयेषु रागद्वेषमोहाः प्रवर्त्तन्ते, तत्र ये रागद्वेषमोहा विषयेषु अमी अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युच्यन्ते। वस्तु प्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम्। चत्वारि महाभूतानि च उपादानानि रूपम् ऐकध्यरूपम्, विज्ञानसंभूताश्चत्वारोऽरूपिणः स्कन्धा नाम, तन्नामरूपम्। नामरूपसन्निश्रितानि इन्द्रियाणि षडायतनम्। त्रयाणां धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः। स्पर्शानुभवो वेदना। वेदनाध्यवसानं तृष्णा। तृष्णावैपुल्यमुपादानम्। उपादाननिर्जातं पुनर्भवजनकं कर्म भवः। भवहेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः। जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानां परिपाको जरा। स्कन्धविनाशो मरणमिति।" बोधिचर्या० पं० पृ० ३८६। शिक्षासमु० पृ० २२२। माध्यमिकवृ० पृ० ५६४। मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४२। "पुनरपरं तत्त्वेऽप्रतिपत्तिः मिथ्याप्रतिपत्तिः अज्ञानम् अविद्या। एवम् अविद्यायां सत्यां त्रिविधाः संस्कारा अभिनिर्वर्तन्ते–पुण्योपगा अपुण्योपगा आनेज्योपगाश्च इम उच्यन्ते अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इति। तत्र पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणाम् अपुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, आनेज्योपगानां संस्काराणाम् आनेज्योपगमे च विज्ञानं भवति। इदमुच्यते संस्कारप्रत्ययं विज्ञानमिति। एवं नामरूपम्। नामरूपविवृद्ध्या षड्भिः आयतनद्वारैः कृत्यक्रियाः प्रवर्त्तन्ते, तत् नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते…।" शिक्षासमु० पृ० २२३। पूर्वपक्षरूपेण तु–ब्रह्मसू० शां०

नाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययम् उपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्ययं जरामरणमिति । तत्र क्षणिक-निरात्मक-अशुचि-दुःखरूपेषु भावेषु तद्विपरीतज्ञानम् अविद्या । संस्काराः पुण्य-अपुण्य-अनुभयप्रकाराः शुभ-अशुभ-मिश्राचरणहेतवः अनेकप्रकारा रागादयः । वस्तु[1]प्रतिज्ञप्तिः विज्ञानम्, तच्च षट् प्रकारम्–पञ्चेन्द्रियविज्ञान-स्मृतिविकल्पभेदात् ।

रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कारलक्षणस्कन्धचतुष्टयं नाम[2]रूपम् । तत्र रूपस्कन्धः–'पञ्चेन्द्रि[3]याणि, पञ्च तदर्थाः, अविज्ञप्तिश्च' इत्येकादशधा । तत्र अविज्ञप्तिः प्राणिनां शरीरोपादानभूता शुभ-अशुभ-अनुभयाचरणाज्जाता कञ्चुकप्रख्या, सा च अयोगिनामप्रत्यक्षत्वाद् 'अविज्ञप्तिः' इति अन्वर्थेन उच्यते । तदर्थाः पृथिव्यादिभूतानि 'भवन्ति भावयन्ति च अनुग्रह-उपतापरूपतया' इति भूतानि । आकाशं च[4] छिद्रम्, तच्च आलोक-तमःपरमाणुभ्यो नाऽन्यत् इति न पृथक् परिगण्यते । तानि च 'पृथिवीधातुः' इत्यादि संज्ञान्तरमपि प्रतिपद्यन्ते, उत्पत्तिस्थानत्वात् ताम्रादिधातुवत् । सुख-दुःख-असुखदुःखानुभवो वेद[5]ना त्रिप्रकारा । पदार्थानां निमि[6]त्तोद्ग्रहणं संज्ञा विमर्शः, यथा 'रूपणात् रूपम्, धारणात् धातवः, अर्थक्रियायां घटनात् घटः' इत्यादिरनेकप्रकारा । संस्कारोऽपि रागादिभेदाद् अनेकधा । विज्ञानं तु नामरूपशब्दवाच्यमपि स्कन्धशब्देन उच्यते, राशीभूतत्वस्य पञ्चानामप्यविशेषात्; तथाहि–रूपम् एकादशात्मको राशिः, वेदना त्र्यात्मकः, संज्ञा संस्कारश्च अनेकात्मकः, विज्ञानं षडात्मकः इति ।

एते एव च दुःखशब्दवाच्याः । साश्रवा[7]स्ते एव कारणभूताः समुदयः, आश्रवति संसारो येभ्यः ते आश्रवाः अविद्यारागादयः तैः सह वर्त्तन्ते इति साश्रवाः । निराश्रवास्ते एव मार्गः ।

भा० भामती २।२।१९ । तत्त्वार्थराजवा० पृ० ९ । अष्टसह० पृ० ३६४ । "सः प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगः त्रिकाण्डकः । पूर्वाऽपरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः ॥ २० ॥ पूर्वक्लेशदशाऽविद्या संस्काराः पूर्वकर्मणः । सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानं नामरूपमतः परम् ॥ २१ ॥ प्राक् षडायतनोत्पादात् तत्पूर्वं त्रिकसंगमात् । स्पर्शः प्राक् सुखदुःखादिकारणज्ञानशक्तितः ॥ २२ ॥ वित्तिः प्राङ्मैथुनात् तृष्णा भोगमैथुनरागिणः । उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः ॥२३॥ स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः । प्रतिसन्धिः पुनर्जातिः जरामरणमाविदः ॥ २४ ॥ क्लेशः त्रीणि द्वयं कर्म सप्तवस्तु फलं तथा । फलहेत्वभिसङ्क्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः ॥ २६ ॥ अविद्या-तृष्णा-उपादानानि त्रीणि क्लेशः, संस्कार-भवौ कर्म, विज्ञाननामरूपषडायतनस्पर्शवेदनाजातिजरामरणानि वस्तूभूतान्येव अंगानि फलभूतान्यपि...आदिमयाः अविद्यासंस्कारयोः हेतुसंज्ञा, अन्त्ययोः जातिजरामरणयोः फलसंज्ञा च...॥ २६ ॥ हेतुरत्र समुत्पादः समुत्पन्नाः फलं मतम् ॥ २८ ॥" अभिधर्मकोश तृतीयकोश ।

१ "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः ।" अभिध० १।१६। २ "नाम त्वरूपिणः स्कन्धाः । रूपभिन्नाः चत्वारः स्कन्धाः (वेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाभिधाः) 'नाम' इति पदेन व्यवह्रियन्ते ।" अभिध० ३।३० । ३ "रूपं पञ्चेन्द्रियाण्यर्थाः पञ्चाऽविज्ञप्तिरेव च ।" अभिध० १।९ । ४ "छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल ।" अभिध० १।२८ । ५ "वेदनाऽनुभवः । १।१४ ।" "सुखवेद्यादयस्त्रयः । ३।३१ ॥" अभिध० । ६ "संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका ।" अभिध० १।१४ । ७ "सास्रवाऽनाश्रवा धर्माः संस्कृताः मार्गवर्जिताः । साश्रवा आश्रवास्तेषु यस्मात् समनुशेरते ॥ अनाश्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसंस्कृताः ।" अभिध० १।४,५ ।

निरोधो द्विप्रकारः प्रतिसंख्यानिरोधः, अप्रतिसंख्यानिरोधश्चेति। तत्र दुःखादीनि आर्यसत्यानि प्रतिसंख्यायन्ते यथावन्निश्चीयन्ते येन प्रज्ञाविशेषेण तेन यः प्राप्यो निरोधः अविद्याद्युच्छेदः सः[1] प्रतिसंख्यानिरोधः। रागादिसमुत्पादे अत्यन्तविघ्नभूतः समाधिसमापत्तिरूपः अप्रतिसंख्यानिरोधः। चक्षुरादीन्द्रियाणि षडायतनानि[2] 'आयं तन्वन्ति' इति आयतनानि 'सर्वस्य आगच्छतः उपायाः' इत्यर्थः। 'चक्षुषा रूपं पश्यामि' इत्यादि विषयेन्द्रियविज्ञानसन्निपातः समूहः स्पर्शः। स्पर्शे सति अनुभवः वेदना[3]। लोभः तृष्णा। तृष्णाया वैपुल्यम् उपादानम्। पुनर्भवजनककर्मलक्षणो भवः। अपूर्वस्कन्धप्रादुर्भावो जातिः। जातिस्कन्धपरिपाक-प्रध्वंसलक्षणं जरा-मरणम् इति। इत्थं भ्रमति भवचक्रम्। भवशब्देन चात्र काम-रूप-आरूप्यसंज्ञकाः त्रयो धातवोऽभिधीयन्ते[4]। तत्र कामधातुः[5] नरकादिस्थानः। रूपधातुः[6] ध्यानरूपा। [7]आरूप्यधातुः शुद्धचित्तसन्ततिरूप इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[8]–'प्रतीत्यसमुत्पादम्' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतः

वैभाषिकोक्तस्य अविद्यादिद्वादशाङ्गस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य विस्तरतः खण्डनम्—

प्रतीत्यसमुत्पादे अविद्यादिद्वादशाङ्गानि मुमुक्षूणामुपयोगित्वात् प्रदर्शितानि, किं वा एतावन्त्येव संभवन्तीति? न तावद् 'इयन्त्येव' इत्यवधारयितुं शक्यम्; जगत्पर्यायवैचित्र्यस्य आनन्त्येन व्याप्तत्वात्। नापि मुमुक्षूणाम् एतावन्त्येव उपयुज्यन्ते;

---

१ "प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्। उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया॥ प्रतिसंख्या हि प्रज्ञा तया हेतुभूतयाऽयं निरोधो भवतीति प्रतिसंख्यानिरोधः। धर्माणामुत्पत्तेरत्यन्तं विरोधी योऽन्यः स्वरूपवियोगः स अप्रतिसंख्यानिरोधः।" अभिध० १।६। "विसंयोगः क्षयो धिया॥" अभिध० २।५७। "अशुभाद्यालम्बना रागादिप्रतिपक्षभूता प्रज्ञा प्रतिसङ्ख्यानम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५४७। २ "आयतनम् आगमनद्वारवत्...." अभिध० व्या० १।२०। ३ "तज्जाः षड् वेदनाः पंच कायिकी चैतसी परा।" अभिध० ३।३२। ४ "त्रयो धातवः कामरूपारूप्यावचरभेदेन।" मध्यान्तवि० टी० पृ० २५। ५ "नरकप्रेततिर्यंचो मानुषाः षड् दिवौकसः। कामधातुः स नरकद्वीपभेदेन विंशतिः॥ १॥ नरका अष्टौ–संजीव-कालसूत्र-संघात-रौरव-महारौरव-तपन-प्रतपन-अवीचयः। द्वीपाः चत्वारः–जम्बूद्वीप-पूर्वविदेह–अवरगोदानीय-उत्तरकुरवः। षड् देवलोकाः–चातुर्महाराजिक-त्रयस्त्रिंश-याम-तुषित-निर्माणरति-परनिर्मितवशवर्तिनः इति देवाः। इत्थं नरकद्वीपभेदसंग्रहेण ८+४= द्वादश+ षड् देवलोकाः=१८ प्रेत तिर्यंच=सर्वे विंशतिसंख्याकाः कामधातुशब्दवाच्याः।" अभिध० व्या० ३।१। ६ "ऊर्ध्वं सप्तदशस्थानो रूपधातुः पृथक् पृथक्। ध्यानं त्रिभूमिकं तत्र चतुर्थं त्वष्टभूमिकम्॥ २॥ तत्र पृथक् पृथक् एकैकस्मिन् ध्याने त्रयो लोकाः; तद्यथा–प्रथमध्याने ब्रह्मकायिक-ब्रह्मपुरोहित-महाब्रह्मलोकाः। द्वितीयध्याने परित्ताभ-अप्रमाणाभ-आभास्वरलोकाः। तृतीयध्याने परित्तशुभ-अप्रमाणशुभ-शुभकृत्स्नलोकाः। चतुर्थध्यानं तु अष्टभूमियुक्तम्; तथाहि–अनभ्रक-पुण्यप्रसव-बृहत्फल-पंचशुद्धावासिकाः (अवृह-अतप-सुदृश-सुदर्शन-अकनिष्ठाः)। चतुर्षु ध्यानेषु सप्तदश लोकाः सप्तदश स्थानानि।" अभिध० व्या० ३।२। ७ "आरूप्यधातुरस्थानः उपपत्त्या चतुर्विधः। निकायं जीवितं चात्र निश्रिता चित्तसन्ततिः॥ ३॥ आरूप्यधातौ तृतीये अन्तिमे च स्थानभेदो नास्ति। सत्ताक्रमेण चत्वारो भेदा वक्तुं शक्याः। ते च आकाशानन्त्यायतन-विज्ञानानन्त्यायतन-आकिंचन्यायतन-नैवसंज्ञानासंज्ञायतनानि इति। अत्र च आरूप्यधातौ चित्तसन्तानो विज्ञानसन्तानः निकाये सभागतायां जीवितेन्द्रिये च निश्रितः आश्रितो भवति यतस्तत्र शरीरादेरभावः।" अभिध० व्या० ३।३। ८ पृ० ३९० पं० १।

मिथ्याज्ञानलक्षणाऽविद्यावत् विपरीतश्रद्धान[1]-आचरणस्वरूपयोः मिथ्यादर्शन-चारित्रयोरपि संसारहेत्वोः हेयतया सम्यग्ज्ञानादेश्च मोक्षहेतोः उपादेयतया तेषामुपयोगात् । प्रसाधयिष्यते च ज्ञानादित्रयस्यैव असम्यग्रूपस्य संसारहेतुता, सम्यग्रूपस्य च मोक्षहेतुता मोक्षविचारावसरे प्रपञ्चतः[2] । न च अविद्यायामेव तेषामन्तर्भावः इत्यभिधातव्यम्; ततोऽत्यन्तविलक्षणतया तत्र तेषामन्तर्भावासंभवात्, यद् यतोऽत्यन्तविलक्षणं न तत् तत्र अन्तर्भवति यथा जलेऽनलः, अत्यन्तविलक्षणाश्च अविद्यातो मिथ्यादर्शनादय इति । तत्र एषामन्तर्भावे वा परिगणितद्वादशाङ्गोपदेशोऽनुपपन्नः; चतुरार्यसत्येष्वेव[3] अशेषस्य अन्तर्भावात् तदुपदेशस्यैव मुमुक्षूणामुपपत्तेः ।

यच्च अविद्यायाः 'क्षणिक' इत्यादिलक्षणमुक्तम्[4]; तदयुक्तम्; क्षणिकादिज्ञानस्यैव अविद्यारूपत्वात् । अतत्त्वे[5] तत्त्वज्ञानं हि अविद्या, सर्वथा क्षणिकत्वं नैरात्म्यञ्च अर्थस्याऽस्वरूपं प्रमाणाऽनुपपन्नत्वात् सर्वथा नित्यत्ववत् । तदनुपपन्नत्वञ्चास्य सन्तान[6]भङ्गे क्षणभङ्गभङ्गे च प्रदर्शितम् ।

यदपि-'संस्कारा रागादयः' इत्युक्तम्[7]; तदतीवाऽसङ्गतम्; यतो रागादीनां संस्काररूपता लौकिकेतरयोः तद्रूपतया प्रसिद्धत्वाद् अभिधीयते, व्युत्पत्तिमात्रेण वा ? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; लोके शास्त्रे च वेगादिस्वभावस्यैव संस्कारस्य प्रसिद्धेः । द्वितीयपक्षोऽप्यपेशलः; 'संस्क्रियन्ते इति संस्काराः' इति व्युत्पत्तिमात्रेण रागादिवत् निखिलार्थानां संस्कारत्वप्रसङ्गात्, तथा च अविद्यात एव अखिलार्थानां तद्रूपतया उत्पत्तिप्रसङ्गात् प्रदर्शिततत्कारणभेदप्रक्रिया विशीर्येत । पुण्यादिप्रकारता चैषामतीव दुर्घटा; नहि रागादीनां पुण्यादिव्यपदेशो लोके शास्त्रे वा क्वचित् प्रसिद्धः, सुखादिसाधनस्य धर्मादेरेव तत्र[8] तत्प्रसिद्धेः । तत्कार्यत्वात् तेषामपि तद्व्यपदेशः; इत्यप्य[9]साम्प्रतम्; पुण्यादे रागादिकारणत्वाऽसंभवात्, आचरणविशेषनिबन्धनत्वात्तस्य । परम्परया तन्निबन्धनत्वात् तस्य तद्व्यपदेशे अविद्यादेरपि तद्व्यपदेश[10]प्रसङ्गात् प्रतिनियतव्यवस्थाविलोपः स्यात् ।

यदपि 'संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्' इत्युक्तम्[11]; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; रागादीनां विज्ञानप्रतिपक्षभूततया तल्लक्षणसंस्कारेभ्यः प्रादुर्भावाऽसंभवात्, तत्प्रतिपक्षभूतता चैषामन्यैरपि उक्ता-

"अन्धादयं महानन्धो विषयान्धो कृतेक्षणः ।
चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥" [आत्मानुशा० श्लो० ३५] इति ।

षट्प्रकारता चास्य खपुष्पप्रख्या; भवत्परिकल्पितस्य इन्द्रियप्रभवज्ञानस्य विकल्पज्ञानस्य च सविकल्पकसिद्धौ प्रत्याख्यातत्वात् ।

१-श्रद्धाचरण-ब०, ज० । २ प्रपञ्चेन ब०, ज०, श्र० । ३ दुःखसमुदयनिरोधमार्गलक्षणेषु । ४ पृ० ३९१ पं० २ । ५ अतत्त्वज्ञानं हि आ० । ६ पृ० ९ । ७ पृ० ३९१ पं० ३ । ८-त्र प्रसि-श्र० । ९ इत्यसा-श्र० । १०-शत्वप्रस-श्र० । ११ पृ० ३९० पं० ६ ।

यदपि–'विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्' इत्युक्तम्[1]; तदपि महाद्भुतम्; रूपादिस्कन्धचतुष्टयलक्षणनामरूपस्य विज्ञानप्रभवत्वाऽसंभवात्, विज्ञानस्यैव तत्प्रभवत्वोपपत्तेः। तद्धि[2] अनेन उपादानभावेन जन्यते, सहकारिभावेन वा ? न तावद् उपादानभावेन; इन्द्रियतदर्थानामत्यन्तविलक्षणतया तदुपादानत्वाऽसंभवात्। यद् यतोऽत्यन्तविलक्षणं न तस्य तद् उपादानम् यथा जलस्य अनलः, अत्यन्तविलक्षणञ्च विज्ञानाद् इन्द्रियादिकमिति। नापि सहकारिभावेन; इन्द्रियादिभ्यो[3] विज्ञानस्यैव तथोत्पत्तिप्रतीतेः, सर्वैरिष्टत्वाच्च। सर्वेषामपि च अङ्गानां सहकारिभावेन विज्ञानादुत्पत्तिसंभवान्न नामरूपमेव विज्ञानप्रत्ययं स्यात्।

या च अविज्ञप्तिः कञ्चुकप्रख्या प्रतिपादिता[4]; सा किं चिद्रूपा, अचिद्रूपा वा स्यात् ? न तावच्चिद्रूपा; अनभ्युपगमात्। अथ अचिद्रूपा; न किञ्चिदनिष्टम्, कार्माणशरीरस्य तथा नामान्तरकरणात्।

यदपि 'नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्' इत्यभिहितम्[5]; तदप्यपर्यालोचिताऽभिधानम्; रूपस्कन्धे एव अस्य अन्तर्भूतत्वेन पृथगभिधाने प्रयोजनाऽभावात्, तत्राऽन्तर्भूतस्याप्यस्य पृथक् प्रतिपादने प्रतिपादयितुः अप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः। प्रतिपाद्यानां संक्षेप-विस्तररुचित्वात् तथा तत्प्रतिपादने किं तत्परिगणनेन; तद्रुचीनामानन्त्यसद्भावात् ? 'विषयेन्द्रियविज्ञानसमूहः स्पर्शः' इत्यादि तु ठकभाषामात्रेण स्वप्रक्रियाप्रदर्शनमात्रं न क्वचिद् उपयुज्यते इत्युपेक्षते।

यदपि पृथिव्यादिधातुचतुष्टयं प्रतिपादितम्[6]; तदप्यविवादास्पदमेव; प्रतीतिसिद्धस्य पृथिव्यादेः अनेकप्रकाराऽर्थोत्पत्तिस्थानतया तद्व्यपदेशे विवादाऽभावात्। या तु तदुत्पत्तौ प्रक्रिया–परमाणुः उत्पद्यमानोऽष्टद्रव्यक उत्पद्यते[7], अष्टौ द्रव्याणि–चत्वारि महाभूतानि, चत्वारि च [8]उपादानरूपाणि रूप-रस-गन्ध-स्प्रष्टव्यानि, यथा हि सांख्यस्य एक एव शब्दादिः सत्त्वरजस्तमोमयो जायते, एवम् अस्मन्मते अष्टद्रव्यकः परमाणुः इति; सा अतीवाऽसङ्गता; परमाणूनामेकैकशो रूपादिसंभवेऽपि पृथिव्यादिमहाभूताऽसंभवात्। तानि हि तत्र शक्तिरूपतया परिकल्प्यन्ते, स्कन्धरूपतया वा ? यदि शक्तिरूपतया; तदा अनन्तद्रव्यकोऽपि पर-

---

१ पृ० ३९० पं० ६। २ तद्धि उपा–ब०, ज०। ३ इन्द्रियेभ्यो–आ०, भां०। ४ पृ० ३९१ पं० ७। ५ पृ० ३९० पं० ७। ६ पृ० ३९१ पं० ७। ७ "कामेऽष्टद्रव्यकोऽशब्दः परमाणुरनिन्द्रियः। कायेन्द्रियो नवद्रव्यः दशद्रव्योऽपरेन्द्रियः ॥२२॥ कामधातौ शब्दायतनरहितः (अशब्दः) इन्द्रियप्रवेशाऽनर्हश्च अष्टद्रव्यको भवति। अष्टौ द्रव्याणि चत्वारि महाभूतानि (पृथिव्यप्तेजोवायवः) चत्वारि भौतिकानि (गन्धरसरूपस्पर्शाः) अशब्दः कायेन्द्रिय-कायायतनप्रवेशार्हः परमाणुः नवद्रव्यकः तत्र नवमं द्रव्यं स्प्रष्टव्यम्। अशब्दोऽकायेन्द्रियः चक्षुराद्यन्यतमेन्द्रियप्रवेशार्हः परमाणुः तदिन्द्रियेण सह दशद्रव्यकः।" अभिध० व्या० २।२२। पूर्वपक्षरूपेण-सर्वार्थसि० पृ० ७७। ८ उपादायरू–आ०। उपादानानि ब०, ज०।

माणुः किन्न स्यात्, तत्र अनन्तद्रव्यारम्भकशक्तीनामपि संभवात्? अथ स्कन्धरूपतया; तन्न[1]; एकैकशः परमाणूनां स्कन्धपरिणामाऽसंभवात्, तत्समूहसाध्यत्वात्तस्य।

यच्चान्यदुच्यते–"*सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः*[2]*।*" [अभिध० १।३२] [3]वितर्को हि चित्तस्य स्थूलो विमर्शः, विचारः सूक्ष्मः। न च इन्द्रियोत्थ[4]ज्ञानानां वितर्कविचारसम्भवे निर्विकल्पकत्वं विरुद्ध्यते; निरूपण-अनुस्मरण-विकल्परहितत्वेन अविकल्पकत्वात् तेषाम्। तदुक्तम्–"*निरूपणाऽनुस्मरणविकल्पेनाविकल्प*[5]*काः।*" [अभिध० १।३३] निरूप्यते हि अनेन इति निरूपणम् वाचकः शब्दः, अनुस्मरणं विकल्पः।

सप्त[6]धातवोऽपि षड् विज्ञानानि मनःसहितानि उच्यन्ते। मनश्च विज्ञानात् नाऽन्यत् "*षण्णामनन्तराऽतीतं विज्ञानं य*[7]*द्धि तन्मनः।*" [अभिध० १।१७] इत्यभिधानात्। 'एते एव सप्त, रूपस्कन्धधातवश्च एकादश' इति अष्टादश इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; भवत्कल्पित[8]विज्ञानधातूनां सविकल्पकत्वसिद्धौ प्रत्याख्यातत्वात्, रूपस्कन्धस्य च क्षणविशरारोः क्षणभङ्गभङ्गप्रसाधनादेव प्रतिषेधात्। ततो वैभाषिकोपकल्पितद्वादशाङ्गात्मकप्रतीत्यसमुत्पादस्य यथोपवर्णितस्वरूपतया विचार्यमाणस्य अव्यवस्थितेः नाऽस्य जगत्प्रपञ्चरचनालक्षणाऽर्थक्रियाकारित्वं घटते। तदेवं सौगतमतस्य चतुर्विधस्यापि क्षणिकस्वभावस्य विचार्यमाणस्य अनुपपत्तेः न क्षणिकेऽप्यर्थे अर्थक्रिया घटते।

न च तदभावे भावानां सत्त्वमुपपद्यते इत्युपदर्शयति–'**भावानाम्**' इत्यादि। **भावानाम्**

---

१ तत्र आ०, ब०, ज०, भां०। २ "सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाऽविकल्पकाः॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७। 'विकल्पनविकल्पकाः' इति पाठभेदेन, तत्त्वार्थराज० पृ० ३९। अभिधर्मकोशे तु–"सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः। अन्त्यास्त्रयः त्रिप्रकाराः शेषा उभयवर्जिताः॥" इति। ३ "वितर्कविचारौदार्यसूक्ष्मते। चित्तस्य औदार्यं (स्थूलावस्था) वितर्कः, सूक्ष्मावस्था विचारः।" अभिध० व्या० २।३३। ४ इन्द्रियार्थ–ब०, ज०। ५–ल्पनाः भां०, श्र०। "निरूपणानुस्मरणविकल्पादविकल्पकाः। तौ व्यग्रा मानसी प्रज्ञा सर्वैव मानसी स्मृतिः॥३३॥ ते निरूपणविकल्पाद् अनुस्मरणविकल्पाच्च अविकल्पकाः सन्ति। मानसी प्रज्ञा या असमाहिता सा एव निरूपणविकल्पः। सर्वा एव मानसी स्मृतिः समाहिता असमाहिता वा अनुस्मरणविकल्पः।" अभिध० व्या० १।३३। ६ "मताः ते धातवः सप्त षड्विज्ञानान्यथो मनः।" अभिध० १।१६। ७ विद्धि आ०। "षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः। षष्ठाश्रयप्रसिद्ध्यर्थं धातवोऽष्टादश स्मृताः॥१७॥ चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनोविज्ञानानां अनन्तरमतीतं पूर्वकालिकं च यद्विज्ञानं तदेव मन इत्युच्यते।... चक्षुर्विज्ञानादीनां पञ्चानां सन्ति चक्षुरादयः पञ्च आश्रयाः। षष्ठस्य मनोविज्ञानस्य तु न कोऽप्याश्रयः प्रसिद्धः तदर्थं मनसो ग्रहणम्। अष्टादश धातवः परिगण्यन्ते षट् चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि, षट् चक्षुर्विज्ञानादीनि, षट् रूपादयो विषयाः।" अभिध० व्या० १।१७। ८–तधातूनां भां०, श्र०।

परमार्थसताम् अर्थानाम् **सा अर्थक्रिया लक्षणतया मता** सौगतस्य, तदभावे तेषां परमार्थसत्त्वमेव न भवेत् इत्यर्थः ।

कारिकायाः सुगमत्वात् व्याख्यानमकृत्वा परोपहसनव्याजेन **'भावानाम्'** इत्यादि समर्थयमानः **'अर्थक्रिया'** इत्याद्याह । **अर्थस्य** स्वज्ञानस्य अन्यस्य

विवृतिविवरणम्—

वा दोहादेः[1] **क्रिया** निष्पत्तिः तस्याम् **समर्थं** योग्यम् **परमार्थसत्** *"यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।"* [ ] इत्यभिधानात् । **अङ्गीकृत्य** उररीकृत्य **स्वपक्षे पुनः** पश्चात् तत्रैव *"अशक्तं सर्वम् ।"* [ ] इति वचनात् **अर्थक्रियां स्वयमेव** आत्मनैव **निराकुर्वन्** सौगतः **कथमनुन्मत्तः** स्यात् पूर्वापरविरुद्धवचनत्वात् मदिराद्युन्मत्तवत् ?

अत्र अपरः प्राह–न उत्तरकार्योत्पत्तिलक्षणा अर्थक्रिया भावलक्षणम् विरोधात् । नहि अन्यद् अन्यस्य लक्षणं भवति अतिप्रसङ्गात् । तस्मात् संवित्तेः स्वसंविदितायाः आत्मलाभः अर्थक्रिया इत्याह–**'स्व'** इत्यादि । स्वशब्देन स्वसंवेदनमद्वयं परामृश्यते तस्य **भूतिः** आत्मलाभः सैव तन्मात्रम्–नोत्तरकार्यम्, तदेव **अर्थक्रियां विपक्षेऽपि** पुरुषाद्वैतमतेऽपि **कथं निरस्येत** ? न कथञ्चित् तत्रापि तदविशेषात् । ननु पुरुषाद्वैते नगरग्रामादिभेदव्यवहारः कथम् ? संविदद्वैतेऽपि कथम् ? इति समानम् । तत्र अयं मिथ्या इति चेत्; तदितरत्र समानम् इत्याह–**'मिथ्या'** इत्यादि । **मिथ्या** भ्रान्तो यो नगरग्रामादि**व्यवहारः** तम् **वा विपक्षे** कथन्निरस्येत ? तन्न नित्य-क्षणिकपक्षयोः काचिद्[2] अर्थक्रिया इति कुतः साकारम् अन्यद्वा ज्ञानं तत्र प्रमाणं स्यात् ? अस्तु वा तत्तत्र, तथापि दूषणमाह–**'संवित्तेः'** इत्यादि । **संवित्तेः** अर्थाकारज्ञानस्य **अभेदेऽपि** निरंशत्वेऽपि **विषयाकारस्यैव** नीलाद्याकारस्यैव **विषयसाधनत्वं** नीलादिविषयव्यवस्थापकत्वम् **नाऽऽकारान्तरस्य** विषयाद्याकारादन्यः संवेदनाद्याकारः तदन्तरं तस्य न विषयसाधनत्वम् सर्वत्र तदविशेषात् इति भावः । **ततः** तस्माद् **विषयाकारस्यैव** [3]विषयसाधनत्वात्—

नाऽभेदेऽपि विरुद्ध्येत विक्रिया विक्रियैव वा ।

विवृतिः–परमार्थैकत्वेऽपि मिथ्याव्यवहारभेदात् ज्ञानस्य अनेकार्थक्रियाकारिणः प्रतिभासाः परस्परार्थसंवेदिनः तत्त्वं भेदाऽभेदात्मकं साधयन्ति ।

एवकारो भिन्नप्रक्रमः[4] **'न'** इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः, **वा**शब्दः इवार्थः, ततोऽयमर्थः सम्पन्नः–**अभेदेऽपि** एकत्वेऽपि **नैव विरुद्ध्येत ।**

कारिकाविवरणम्—

काऽसौ ? **विक्रिया** विकारः, पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारगमनम् । केव ? इत्याह **विक्रियेव,** विविधा नाना-

१ दोहादेः ब०,ज० । २–चिदप्यर्थक्रिया श्र० । ३ तत्साधनत्वात् भां०,ब०,ज०,श्र० । ४–न्नक्रमः आ० ।

प्रकारा क्रिया कार्यकरणं सा इव । '**अविक्रियैव वा**' इति क्वचित् पाठः, तत्र अयमर्थः– अविकारोऽपि न विरुद्ध्येत इति ।

'**परमार्थैकत्वेऽपि**' इत्यादिना '**विक्रियैव वा**' इत्येतद्व्याचष्टे, शेषस्य सुगमत्वात् ।

विवृतिविवरणम्— **परमार्थेन एकत्वेऽपि** अभिन्नस्वभावत्वेऽपि, कस्य ? ज्ञानस्य कथम्भूतस्य ? **अनेकाऽर्थक्रियाकारिणः**, अनेकार्थो नीलादिः तस्य क्रिया परिच्छित्तिः तत्कारिणः, कुतः ? **मिथ्याव्यवहारभेदात्**, मिथ्या कल्पनाकल्पितो **व्यवहारः** अनीलाद्याकारव्यावृत्त्या नीलाद्याकारसामान्यपरिकल्पनलक्षणः तस्य **भेदात्** नानात्वात् । एतदुक्तं भवति–यदेव ज्ञानम् अनीलव्यावृत्त्या नीलाकारं सत् तत्परिच्छेदकं तदेव अपीतादिव्यावृत्त्या पीताद्याकारं सत् पीतादेः परिच्छेदकम् इति । तस्य के किं कुर्वन्ति ? इत्याह–**प्रतिभासाः** नीलाद्याकाराः तत्त्वं भेदाऽभेदात्मकं **साधयन्ति** । कथम्भूताः ? **परस्परार्थसंवेदिनः** अन्योन्यार्थग्राहिणः । तथाहि–य एव प्रतिभासो नीलं संवेत्ति स एव पीतं रक्तं शुक्लम्, तथा य एव पीतं स एव नीलं रक्तं शुक्लम्, एवम् अन्यत्राऽपि योज्यम् । अन्यथा 'युगपद् अहं नीलादिकं वेद्मि' इति प्रतीतेरनुपपत्तेः, एवमर्थञ्च '**अनेकाऽर्थक्रियाकारिणः**' इत्युक्तम् । अतः सिद्धो वर्त्तमानाऽर्थग्राही प्रतिभासः अतीताऽनागतार्थग्राही, तद्ग्राही[2] च वर्त्तमानार्थग्राहकः स्वव्यापकज्ञानापेक्षया । तथा च 'यदि वर्त्तमानग्रहणग्राह्यम् अतीतमनागतं च तर्हि तद् वर्त्तमानमेव स्यात् तद्ग्रहणग्राह्यत्वात् प्रसिद्धवर्त्तमानवत्' इति, तन्निरस्तम्; नीलादिग्रहणग्राह्यस्य पीतादेरपि नीलादित्वप्रसङ्गात् । तथाहि–पीतादिकं नीलं नीलग्रहणग्राह्यत्वात् अभिमतनीलवत्, प्रमाणबाधनम् उभयत्र तुल्यम् ।

एवं तावत् सौत्रान्तिकमतम् अनेकान्तनान्तरीयकं प्रदर्श्य साम्प्रतं योगाचारमतं तन्नान्तरीयकं प्रदर्शयन्नाह—

मिथ्येतरात्मकं दृश्याऽदृश्यभेदेनरात्मकम् ॥ ६ ॥

चित्तं मदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।

विवृतिः–चित्रनिर्भासिनः तत्त्वम् अविभागज्ञानस्य[3] दृश्यं यदि क्रमेणाऽपि सदसदात्मकं विवर्त्तेत ततः सिद्धम्–द्रव्यपर्यायात्मकम् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं वस्तु तत्त्वम् अन्तर्बहिश्च प्रमेयम्, एकान्तस्य अनुपलब्धेः तदनेकान्तात्मा अर्थः इति ।

'बहिर्मुखाकारतया हि ज्ञानं मिथ्या, सचेतनाद्याकारतया तु सत्यम्' इत्येके । तान् प्रति इदमुत्तरम्–'**मिथ्येतरात्मकम्**' इति ।

कारिकाव्याख्यानम् — **मिथ्या** च **इतरः** च **आत्मा** यस्य तत्तथोक्तम् । 'ग्राह्याकारात् तस्य

1–कारणं श्र० । २ 'तद्ग्राही' इति नास्ति आ० । ३–गविज्ञानस्य ज० वि० ।
...ारस्य श्र० ।

विवेकः स तु तस्मिन् प्रतिभासमानेऽपि न प्रतिभासते भ्रान्तेः' इत्यपरे। 'ग्राह्यग्राहकसंवेदनात्मकत्वात् भेदाऽभेदात्मकं तत्' इत्यन्ये। तान् प्रति इदमाह–**दृश्यादृश्यभेदेतरात्मकम्**। किं तत्? **चित्तम्** ज्ञानं कर्तृ **एकं तत्त्वं** जीवादि **सदसदात्मकं** भावेतररूपं **साधयति, स्वतः** आत्मना इति।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**चित्रनिर्भासिनः**' इत्यादि। **चित्रः** शवलः मिथ्येतरादिस्वभावाऽपेक्षया यो **निर्भासः** स यस्य अस्ति तस्य **तत्त्वं** स्वरूपम्।

विवृतिविवरणम्—

कस्य? **अविभागज्ञानस्य दृश्यम्** उपलभ्यं **यदि क्रमेणाऽपि** न केवलम् अक्रमेण **सदसदात्मकं विवर्तेत 'तत्त्वम्'** इति सम्वन्धः। उक्तार्थोपसंहारमाह–'**ततः**' इत्यादि। यत एवं ततः तस्मात् **सिद्धं**[1] निश्चितम् **द्रव्यपर्यायात्मकं**[2] **वस्तुतत्त्वं प्रमेयम्**। पुनरपि किं विशिष्टम्? **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्**। क? **अन्तर्वहिश्च**।

'सत्तासमवायात् सत्त्वम्' इति निराकरणपुरस्सरं उत्पादादित्रययोगादेव सत्त्वव्यवस्थापनम्–

ननु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वेन जीवादिवस्तुनः सत्त्वे प्रत्येकम् उत्पादादेरपि अपरोत्पादादियोगात् सत्त्वेन भवितव्यम्, एवं च अनवस्था। स्वतः तस्य सत्त्वे वस्तुनोऽपि स्वत एव सत्त्वमस्तु अलं तद्‌योगात् सत्त्वकल्पनया; एतदप्यसमीचीनम्[3]; यतः सकलशून्यताम्, वस्तुनोऽन्यतः सत्त्वं वा अभिप्रेत्य एवं पर्यनुयुज्येत[4]? तत्र आद्यः पक्षोऽयुक्तः; सकलशून्यतायाः प्रागेव[5] प्रपञ्चतः अपास्तत्वात्। द्वितीयपक्षेऽपि उत्पादादेरन्यतः सत्तासम्बन्धात्, अर्थक्रियातः, तत्कारित्वात्, तत्करणयोग्यतातः, प्रमाणसम्बन्धाद्वा वस्तुनः सत्त्वं स्यात्? तत्र न तावत् सत्तासम्बन्धात्; अव्यापकत्वात् तस्य, सामान्य-विशेष-समवायेषु[6] हि तत्सम्बन्धाऽभावेऽपि सत्त्वं संभवत्येव। न च यदभावेऽपि यद् भवति तत् तद्व्याप्यम् यथा अश्वाऽभावेऽपि भवन् रासभः न तद्व्याप्यः, सत्तासम्बन्धाऽभावेऽपि भवति च सामान्यादिषु सत्त्वमिति।

न च साधनविकलो दृष्टान्तः; तत्सम्बन्धाऽभावेऽपि परैः तत्र सत्त्वस्याऽभ्युपगमात्। न

१–पक्रम् श्र०। २–द्धमेकं निश्चितम् आ०। ३ इत्यप्यस–ब०, ज०, भां०, श्र०। ४–युज्यते श्र०। "यथोत्पादादयः सन्तः परोत्पादादिभिर्विना। तथा वस्तु न चेत् केन अनवस्थादि निवार्यते ॥२॥ इत्यसत् सर्वथा तेषां वस्तुनः सदसिद्धितः।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३४। अष्टसह० पृ० ११२। ५ पृ० १२३। ६–वायानां सत्तासम्बन्धाभावेऽपि भां०, श्र०। "सत्तायोगाद् विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा। सर्वेऽर्थाः देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम्॥" न्यायविनि० १।१५२। पृ० ३७८ पू०। "सत्तासम्वन्ध इष्टश्चेद् वस्तूनां लक्षणं न तत्। असिद्धेः समवायादेः कथं वाऽन्योऽन्यलक्षणम्॥४१८॥" तत्त्वसं०।

खलु सत्तासम्बन्धाद् यौगैः सामान्यादौ सत्त्वमिष्टम् *"त्रिषु पदार्थेषु सत्करी सत्ता"* [ ] इति कृतान्तव्याघाताऽनुषङ्गात् । न च तत्सत्त्वात् द्रव्यादिसत्त्वं विलक्षणम् अतः तदेव सत्तासम्बन्धनिबन्धनम् नान्यदित्यभिधातव्यम्; यतः किमिदं तत्सत्त्वस्य वैलक्षण्यं नाम–विलक्षणप्रत्ययग्राह्यत्वम्, अबाधितत्वम्, गौणत्वं वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; ततः तस्य विलक्षणप्रत्ययग्राह्यतया स्वप्नेऽपि प्रतीत्यभावात् । न खलु यथा गवादिभ्यो महिष्यादेः विलक्षणप्रत्ययग्राह्यतया प्रतिप्राणि प्रतीतिः प्रसिद्धा, तथा द्रव्यादिसत्त्वात् सामान्यादिसत्त्वस्यापि, भवतस्तु तथाप्रतीतिः स्वसिद्धान्ताऽऽग्रहग्रहाऽभिनिवेशनिबन्धना न वस्तुदर्शनबलप्रवृत्ता घटादेः पुरुषाद्यद्वैतरूपताप्रतीतिवत् । द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; अबाधितत्वस्य उभयत्राप्यविशेषात्, नहि सामान्यादिसत्त्ववत् द्रव्यादौ सत्त्वं केनचित् प्रमाणेन बाध्यते तस्याऽसत्त्वप्रसङ्गात् । अथ गौणत्वम् सामान्यादिसत्त्वस्य द्रव्यादिसत्त्वाद् वैलक्षण्यम्; ननु गौणत्वमेव अस्य कुतः सिद्धम् ? भिन्नविशेषणत्वाऽभावाच्चेत्; नहि यथा द्रव्यादौ सत्तालक्षणभिन्नविशेषणनिमित्तं सत्त्वम् तथा सामान्यादौ । न च अभिन्नविशेषणस्य मुख्यत्वं युक्तम् *"भिन्नविशेषणं मुख्यम् अभिन्नविशेषणं गौणम् ।"* [ ] इत्यभिधानात्; इत्यप्यसत्; अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्–सिद्धे हि सामान्यादिसत्त्वस्य सत्तालक्षणभिन्नविशेषणनिबन्धनत्वाऽभावे गौणत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तन्निबन्धनत्वाऽभावसिद्धिरिति ।

एतेन द्रव्यादौ सत्त्वस्य मुख्यत्वमपि चिन्तितम्; इतरेतराश्रयाऽविशेषात्; तथाहि–सिद्धे द्रव्यादौ सत्त्वस्य मुख्यत्वे सत्तालक्षणभिन्नविशेषणनिबन्धनत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तन्मुख्यत्वसिद्धिरिति । न च कश्चिदबालिशः 'स्वरूपनिबन्धनं सत्त्वमुपचरितम्, अर्थान्तरभूतसत्तानिबन्धनं तु मुख्यम्' इति मन्यते । नहि 'यष्टौ यष्टित्वमुपचरितम्, पुरुषे तु मुख्यम्' इति प्रेक्षावान् मन्यते ।

किञ्च, सत्ता स्वयं सती अन्यस्य सत्त्वहेतुः स्यात्, असती वा ? यदि असती; कथं स्वसम्बन्धेन अन्यस्य सत्त्वहेतुः ? यद् असत् न तत् स्वसम्बन्धेन अन्यस्य सत्त्वहेतुः यथा खरविषाणम्, असती च सत्ता इति । अथ सती; किं स्वतः, सत्तान्तरसम्बन्धाद्वा ? यदि स्वतः; तर्हि वस्तुनोऽपि स्वत एव सत्त्वमस्तु, किं तत्सम्बन्धात् सत्त्वकल्पनाप्रयासेन ? यत् सत् तत् स्वात्मभूतेनैव सत्त्वेन यथा सामान्यविशेषसमवायाः, सन्ति च द्रव्यादीनि इति । अथ सत्तान्तरसम्बन्धात्; तदा अनवस्था । ननु च अनवस्थाया बाधिकायाः सद्भावादेव सामान्यविशेषसमवायेषु स्वतः सत्त्वमिष्यते द्रव्यादौ तु परतः तत्र तदभावात्, न खलु द्रव्यादौ परतः सत्त्वे अनवस्था अवतरति–सत्तातो हि द्रव्यादीनां सत्त्वं सत्तायास्तु स्वतः इति; तद-

---

१ "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।" वैशेसू० १।२।७ । २–त्रः तस्य श्र० । ३ प्रतिपत्तिः ब०, ज० । ४–षाद्वैत–ब०, ज० । ५ सत्ताविशे–ब०, ज० । ६ इत्यसत् आ०, ब०, ज० ।

प्यविचारितरमणीयम्; द्रव्यादीनामपि परतः सत्त्वे 'यत् सत् तत्स्वात्मभूतेनैव सत्त्वेन' इत्याद्यनुमानबाधस्य प्रतिपादितत्वात्।

अतिप्रसङ्ग-वैयर्थ्य[1]लक्षणबाधप्रसक्तेश्च; तथाहि-स्वरूपेण सतः सत्तासम्बन्धात् सत्त्वं स्यात्, असतो वा ? न तावद् असतः; अतिप्रसङ्गात्, 'यत् स्वरूपेण असत् न तत्र सत्तासम्बन्धः तत्सम्बन्धात् सत्त्वं वा यथा गगनेन्दीवरे, स्वरूपेण असच्च परैरिष्टं द्रव्यादि' इ[2]त्यनुमानबाधप्रसङ्गाच्च। अथ स्वरूपेण सतः; तर्हि सत्तासम्बन्धवैयर्थ्यम्, यत् स्वयं सत् न तत्र सत्तासम्बन्धात् सत्त्वम् यथा सत्तायाम्, स्वयं सच्च सत्तासम्बन्धात् प्रागपि सकलं वस्तु इति। स्वयं सतोऽपि तत्सम्बन्धात् सत्त्वकल्पने सत्तायामपि तत्कल्पनप्रसङ्गात् सैव अनवस्था। अथ न तत्र स्वयं सत्त्वं किन्तु सत्तासम्बन्धादेव; ननु किं तयैव सत्तया सम्बन्धात् तत्र सत्त्वं स्यात्, तदन्तरेण वा ? यदि तयैव; तदा अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि तस्य सत्त्वे सत्तया सम्बन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ[3] च सत्त्वसिद्धिरिति। तदन्तरात् स[4]त्त्वसिद्धौ च अनवस्था; तथाहि-सत्तान्तरेणाऽपि सम्बन्धः वस्तुनःसत्त्वे सिद्धे सिद्ध्येत्, तत्सत्त्वसिद्धिश्च अपरसत्तान्तरेण सम्बन्धात् इति। तन्न अर्थान्तरभूतसत्तासम्बन्धात् सत्त्वम् अर्थानां घटते।

नापि अर्थक्रियातः; तेभ्यो भिन्नत्वात् तस्याः। यद् यतो भिन्नं न ततः तस्य सत्त्वं सिद्ध्यति यथा घटात् पटस्य, अर्थेभ्यो भिन्ना च अर्थक्रिया इति। न च अर्थेभ्योऽस्याः भिन्नत्वमसिद्धम्; पूर्वोत्तरकालभावित्वेन अस्याः ततो भेदप्रसिद्धेः। पू[5]र्वसिद्ध एव हि भावो यत्र कुत्रचिद् अर्थक्रियायां व्याप्रियते। अन्योन्याश्रय[6]श्च-सिद्धे हि पूर्वम् अर्थस्य सत्त्वे उत्तरकालभाविन्याः तस्याः सिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाविधस्याऽर्थस्य सत्त्वसिद्धिरिति। एतेन अर्थक्रियाकारित्वात् तत्सत्त्वं प्रत्याख्यातम्; यतः अर्थक्रियाकारित्वम् अर्थक्रियाहेतुत्वमुच्यते, तच्च सत एव युक्तमित्यन्योन्याऽऽश्रयः-सिद्धे हि सत्त्वे अर्थक्रियाकारित्वसिद्धिः, ततश्च सत्त्वसिद्धिः इति। निरन्वयवि[7]नाशित्वे चार्थानाम् अर्थक्रियाकारित्वं प्रपञ्चतः प्रागेव प्रत्युक्तम्।

तत्करणयोग्यताऽपि एतेन प्रतिव्यूढा; प्रतिक्षणविनाशिन्यर्थे अर्थक्रियाकारित्वाऽसम्भवे तत्करणयोग्यतायाः नितरामसंभवात्। किञ्च, अर्थक्रियादिकं स्वयं सत् अन्यस्य सत्त्वहेतुः, असद्वा ? पक्षद्वयेऽपि सत्त्वाऽसत्त्वपक्षोक्तदोषा द्रष्टव्याः। तन्न अर्थक्रियादेरपि अर्थानां सत्त्वसिद्धिः।

१-नैयर्थ्यबाधकप्र- ब०, ज०। "द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात् सामान्यादिवत्, सामान्यादीनां वा सत्तासम्बन्धप्रसंगाद् द्रव्यादिवत्। तेषां स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाऽभावात्।" अष्टसह० पृ० २२१। २ इत्याद्यनुमानबाधप्रसङ्गात् ब०, ज०। ३-द्धौ स- आ०। ४ तत्सत्त्व- ब०, ज०, श्र०। ५ पूर्वसि- श्र० ६-यः सि- आ०। ७- विनाशत्वे आ०।

नापि प्रमाणसम्बन्धात्; भाववद् अभावेऽपि अस्य गतत्वात्, ततश्च अभावस्यापि भाववत् सद्रूपताप्रसङ्गः तत्सम्बन्धाऽविशेषात् । अथ तदविशेषेऽपि यस्य प्रमाणसम्बन्धेन सत्त्वं बोध्यते स एव सन् नाऽन्यः; कथमेवं प्रमाणसम्बन्धः सत्त्वलक्षणम्[1] ? किञ्च, यदि तत्सम्बन्धात् प्रागपि अर्थानां सत्त्वं सिद्धं स्यात्, तदा स्यादयं परिहारः । न च तत्सिद्धम्; तत्सम्बन्धेन अर्थानां सत्त्वकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । परस्पराश्रयश्च–प्रमाणसम्बन्धात् सत्त्वम्, सतश्च प्रमाणसम्बन्धः इति ।

किञ्च, तत्सम्बन्धः[2] स्वयं सन्, असन् वा ? यदि असन्; कथं तत्सम्बन्धात् कस्यचित् सत्त्वम् अतिप्रसङ्गात् ? अथ सन्[3]; किं स्वतः, अपरप्रमाणसम्बन्धात्, अन्यतो वा कुतश्चित् ? यदि स्वतः; पदार्थैः[4] किमपराद्धं येन एषां स्वतः सत्त्वं नेष्यते ? अपरप्रमाणसम्बन्धात्तु तत्सत्त्वे अनवस्था । अन्यतोऽपि–प्रमेयसम्बन्धात्, निमित्तान्तराद्वा तत्सत्त्वं स्यात् ? यदि प्रमेयसम्बन्धात्; इतरेतराश्रयः । अथ निमित्तान्तरात्; तर्हि सर्वत्र तस्यैव अव्यभिचारिणः सत्त्वहेतुत्वमस्तु किं प्रमाणसम्बन्धकल्पनया[5] ? तच्च उत्पाद[6]व्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् नान्यद् भवितुमर्हति ।

किञ्च, सिद्धे अध्यक्षादिरूपे प्रमाणे तत्सम्बन्धेन अर्थानां सत्त्वसिद्धिर्युक्ता, तत्सिद्धिश्च इन्द्रियार्थसम्बन्धादिसामग्रीतो भविष्यति, एवञ्च चक्रकप्रसङ्गः; तथाहि–सिद्धे प्रत्यक्षादिप्रमाणे तत्सम्बन्धेन इन्द्रियार्थानां सत्त्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सत्यां तत्सम्बन्धादिप्रमाणसामग्रीसिद्धिः, तस्यां सत्यां प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धिरिति ।

किञ्च, प्रमाणसम्बन्धेन अर्थानां सत्त्वं क्रियते, ज्ञाप्यते वा ? न तावत् क्रियते; ततः प्रागपि अर्थानां लब्धात्मलाभत्वात्, यतः प्रागपि यत् लब्धात्मलाभं न तस्य सत्त्वं तेन क्रियते यथा पुत्रात्प्रागपि लब्धात्मलाभस्य पितुः पुत्रेण, प्रमाणात् प्रागपि लब्धात्मलाभाश्च घटादयो भावा इति । अथ ज्ञाप्यते; न किञ्चिदनिष्टम्, प्रमाणसाध्यत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः, नहि प्रमाणमन्तरेण प्रमेयव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात् । तदेवम् अन्यतो वस्तुनः सत्त्वाऽनुपपत्तेः उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वेनैव अस्य सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । न च उत्पादादयो वस्तुनो भिन्नाः

१ "किन्त्वबाधितसद्बुद्धिगम्यता सत्त्वमिष्यते ।" न्यायमं० पृ० ४५३ । २–न्धः लक्ष्यते च स्वयं भां०, श्र० । ३ सन् एव किं ब०, ज० । ४ सत्त्वे हे–श्र० । ५–था सुतात् श्र० । ६ "द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या"'सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः, आकृतिरन्या अन्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।" पात० महाभा० १।१।१ । योगभा० ४।१३ । "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥" आप्तमी० । "वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ २१ ॥ हेमार्थिनस्तु

येन तेषामपि अपरोत्पादादियोगतः सत्त्वेन भवितव्यम् इत्यनवस्था स्यात्, तत्तादात्म्येन तेषां व्यवस्थितत्वात्।

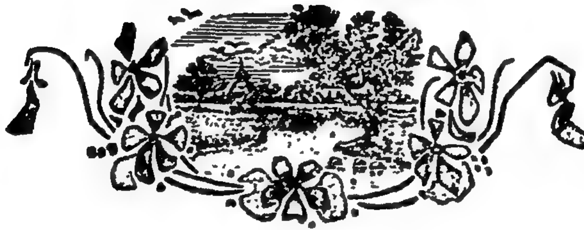
कुतः पुनः उत्पादाद्यनेकान्तात्मकमेव वस्तु प्रमेयम् ? इत्याह-एकान्तस्य अनुलपब्धेः। यत एवं तत् तस्मात् अनेकान्तात्मा अर्थः। इति परिच्छेदार्थोपसंहारे इति।

येनाऽशेषकुतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मूलितम्,
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः।
स्याद्वादाऽप्रतिमप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः,
स श्रीमान् अकलङ्कभानुरसमो जीयात् जिनेन्द्रः प्रभुः॥ १॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः।

ग्रं० ४३००।





माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥ २२॥ न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥ २३॥" मी० श्लो० पृ० ६१९।

१ "अथ भिन्नास्तर्हि प्रत्येकं स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वप्रसङ्गः सत्त्वात्, अन्यथा तदसत्त्वापत्तेः, तथा चानवस्थानान्न समीहितसिद्धिरिति कश्चित्; सोऽपि अनालोचितपदार्थस्वभावः; पक्षद्वयस्यापि कथञ्चिदिष्टत्वात्, तत्र ततः कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां स्थितिरेव उत्पद्यते सामर्थ्याद् विनश्यति च, विनाश एव तिष्ठति सामर्थ्याद् उत्पद्यते च, उत्पत्तिरेव नश्यति सामर्थ्यात्तिष्ठतीति च ज्ञायते त्रिलक्षणाज्जीवादिपदार्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः। एतेनैव ततस्तेषां भेदोपगमेऽपि त्रिलक्षणत्वसिद्धिरुक्ता।" अष्टसह० पृ० ११२। सिद्धिवि० टी० पृ० १६९। २-प्रतिघ-आ०।

श्रवणबेलगोलीयायाः 'श्र०' संज्ञिकायाः प्रतेः पाठान्तराणि ।

पृ०	पं० मुद्रितपाठः	श्र०प्रतेःपाठः	पृ०	पं० मुद्रितपाठः	श्र०प्रतेःपाठः
२	५–दधौ प्र–	–दधिप्र-	१३	१७–सन्तानिको	–सन्तानको
,,	९ निखिलप्र–	अखिलप्र-	१४	१४–त्वविरो–	–त्वनिरो-
३	४–तनस्वभावो	–तननानास्वभावो	१५	१–वत् सन्तानिवद्धा	–वत् तावद्धा
,,	६ ये नृप–	ये ते नृप-	,,	३–ध्यानै–	–ध्यनै-
४	१ स्वपररू–	स्वरूपपररू-	,,	७–पोऽप्यव–	–पोऽप्यस्याव-
,,	७–खिलं प्र–	–खिलप्र-	,,	१३ भवतां	भवतः
,,	१६ तत्र व्यु–	त्वव्यु-	१७	४–स्थातुः तद्द्वि–	–स्थातुः द्वि-
५	१०–त्यत्ववत्	–त्यवत्	,,	९ अन्योन्यार्थ–	अन्यार्थ-
६	१६–णविश–	–णं विश-	२१	७ त्रिधा	त्रिविधा
७	४–रूपा सं–	–रूपसं-	२२	९–स्था कुतः प्रमा–	–स्था प्रमा-
८	५–रित्वानु–	–रितानु-	,,	११–मत्ता सि–	–मत्त्वं सि-
,,	८–स्वादहेतुरस्ति	–स्वादकमस्ति	२५	५–यनि–	–यादिनि-
९	१३ चासत्त्व–	भावासत्त्व-	२६	८ शब्दातिशयता सुघ–	
,,	१८–क्षश्च	–क्षत्वश्च	,,		† शब्दाभिधेयता संघ–
,,	२२–थाऽस–	† –थाप्यस-	२७	२ वापि नाना	वा नाना
१०	५ वाऽतो	चाऽतो	२८	१५ तत्सद्धा–	तद्धा-
,,	१५–द्रूपया	–द्रूपतया	३०	१३–ताया अभा–	–ताभा-
,,	१८–कायचि–	–कादिचि-	३१	६–द्भावतोऽसं–	–द्भावासं-
११	१३–णिकवाद–	–णिकक्षणवाद-	,,	९–दिक्कालाकाशात्म–	–दिक्कालात्म-
,,	१७–व्यवस्थि–	† –प्यव्यवस्थि-	,,	२३–न प्रसा–	–न साध-
१२	९ तावत्का–	तत्का-	३२	१–त् शब्दरसादौ	–त् रसादौ
,,	११–भिज्ञानानामेवं–		,,	१ दिवाकर–	दिनकर-
		† –भिज्ञानां ज्ञानानामेवं-	,,	१२–चाभ्रपट–	–चाभ्रकपट-
,,	२२–कारणक्षणयोः	–कारणयोः	,,	१३ 'कारकत्वात्'	बोधकत्वात्
१३	३ ननु	† नच	,,	१५–भाग्यत्वादिव्या–	–भाग्यव्या-
,,	९ चैत्रज्ञानं मित्रज्ञान–		३३	८–पणार्थोप–	† –पणविशिष्टार्थोप-
		मित्रज्ञानं चैत्रज्ञान-	,,	१०–कत्वमुप–	† –कतमत्वमुप-

पृ०	पं० मुद्रितपाठः	अ०प्रतेःपाठः	पृ०	पं० मुद्रितपाठः	अ०प्रतेःपाठः
३३	१० करणं च	करणत्वं च	५१	१५ अनन्यमन-	अज्ञानस्य मन-
३५	५-कतमत्वम्	-कत्वम्	५२	२०-रसादिज्ञा-	-रसज्ञा-
,,	७ वाऽव-	चाव-	५३	१९ स्वरूपेण	स्वस्वरूपेण
३७	१ तेऽस्यां	तस्यां	५४	४-हारत्व-	-हारकत्व-
,,	६-थानेकव्या-	-थाने तद्व्या-	,,	८-निवारणेन	-निराकरणेन
३८	३ सदा	सर्वदा	५५	४-लापस्यैकस्यैव	-लापस्यैव
,,	७-त्तिः इत्य-	-त्तिःस्यादित्य-	,,	१६ एतज्ज्ञान-	एकज्ञान-
,,	१९-भ्यते	-भ्येत	,,	२० तज्ज्ञानस्य	ज्ञानस्य
३९	५-स्यस्य न	-स्यं न	५६	२० तथा	यथा
,,	१९-ल्पकप्रमोत्प-	-ल्यपकोत्प-	,,	२२-चितव्य-	-चितस्य व्य-
४१	५ सुषुप्तादा-	सुप्तादा-	,,	२६ एकमेव एवंरज-	एकमेव रज-
,,	१८ अर्थप्र-	† अर्थे प्र-	५७	२५-ता पीतस्य	-ताऽपि तस्य
४२	४-याविष्टं	-याविशिष्टं	५८	९-क्षविषया शु-	-क्षविपयतः शु-
४३	१-संयोगजात्	-संप्रयोगजात्	,,	१५ नाप्यन्येन	नान्येन
४४	६ सर्वपदार्थ-	† सर्वदार्थ-	,,	१८ अथ य-	अथ न य-
,,	१८-या व्याप-	-या सा व्याप-	५९	२ मृत्पिण्डरूपतापरि-	तद्रूपपरि-
,,	२२-त्वानु-	-तानु-	,,	३-गोऽपि	-गो हि
,,	२३ अचिद्रूपं	जडं	६०	१४-न्नतु अख्या-	-न्न पुनरख्या-
४५	४ अचिद्रूपमपि	जडमपि	६२	८-त्स्वरू-	-त्सरू-
,,	१०-धाच	-धश्च	,,	१३-थाऽध्यव-	-थाव्यव-
४७	१ रसज्ञानं	रासनज्ञानं	,,	१८ भ्रान्तित्व-	† भ्रान्तत्व-
,,	६-वृत्तज्ञानं	†-वृत्तंज्ञानं	६३	४ दर्शयति	प्रदर्शयति
,,	१५-ल्पना अ-	-ल्पना नाम अ-	,,	९-सङ्गतस्तद्-	-सङ्गात्तद्-
४८	२-भासस्य	†-भासत्वस्य	६४	११ असद्रूपः	असद्रूपम्
,,	२०-तनमुच्यते	-तनमुपपद्यते		२० अतो न तद्दोषः	अतोऽयमदोषः
५०	९-नावसा-	†-नाध्यवसा-	६५	८-तख्याति-	-तार्थख्याति-
,,	१७ यत् सवि-	यत्त्ववि-	,,	१५-न स्वरू-	-न रू-
,,	१९ निर्विकल्पकत्वसविकल्पकत्वा-		,,	१६-स्य च द्-	-स्य द्-
		विकल्पाविकल्पत्वा-	६६	३-च्यते तच्च	-च्यते एवं तच्च

पृ०	पं० मुद्रितपाठः	श्र० प्रतेः पाठः
६६	४–नेऽपि तज्ज्ञा–	–नेऽपि ज्ञा-
,,	१९ अपि तु तेनापि	निर्गुणिनावि-
६७	६–त्वोपप–	–तोपप-
,,	९ सन्निकर्षादिर्वा	तत्सन्निकर्षादिवत्
,,	१३–परस्वरूप–	–पररूप-
,,	२२ –श्रयात्मकं	–श्रायकं
६८	७ कालादिभे–	कालानां भे-
,,	७ शक्तिपु	व्यक्तिपु
,,	१४–क्ततरै–	–क्ततमै-
७०	६ नियमश्चा–	नियतश्चा-
,,	१० वेष्टवि–	चेष्टवि-
७१	१९ प्रतिक्षेप्स्यमा–	प्रतिसेत्स्यमा-
७२	८–मानं वा	–मानं न
,,	१७ परिधृत्य	परिहृत्य
,,	१८–नीयः	–नीयम्
,,	२४ न तावत्	न तत्
७३	१७ निमूलनिर्वृ–	निस्तलनिर्वृ-
७४	१६–पान्वितार्था–	–पार्था-
७७	२–न्धनः	–न्धकः
७८	११ तत्र च मनो–	तत्र मनो-
७९	२ प्रभासुर–	भासुर-
,,	६–त्यप्यस–	–त्यस-
८०	२ प्रतीतिः	प्रतीतम्
,,	५ तत्तत्र	तत्र
,,	१४–क्षुपोऽसि–	–क्षुपोऽप्रसि-
८१	५ विपयस्य गम–	†विपयस्याऽऽगम-
,,	१३ –त्वा च–	–त्वा नीला च-
८२	६–क्रान्तं गत्वा	–क्रान्तरं गता
,,	१० तदप्ययु–	तदयु-
८३	१–य्युक्तमुक्तम्	–य्युक्तम्
८४	८–न्धः इत्यादि व्य–	–न्धः व्य-
,,	२० सताऽनेन	सता तेन
,,	२५ कांसपात्रासं–	कंसपात्र्यासं-
८५	१४ दूरत्वं	दूरवत्त्वं
,,	१६–प्रतिपत्तिवत्	–प्रतीतिवत्
,,	२२–स्मात्तद्ग्रह–	–स्माद्ग्रह-
८७	१०–मानात्	–मानतः
८९	१–पत्प्रतीतिः	† –पत्तत्प्रतीतिः
,,	१६–कलं ज्ञेयं	–कलज्ञेयं
,,	१७–कला पुरु–	–कलपुरु-
,,	१९ तस्यातद्विप–	तस्य तदविप-
,,	१९ तत्तत्र	तत्तद्
,,	२०–पं ज्ञानं	–पविज्ञानं
९०	३ तस्याप्यभावो	तदभावो
,,	१०–तस्यास्य नि–	–तस्य नि-
९२	५–द्वे सर्व–	द्वे स सर्व-
,,	८–स्वविधेर–	–स्वसिद्धेर-
,,	११–ज्ञातस्य	–ज्ञस्य
,,	२३–साधिका	–साधकः
९३	५–धासंभवः	–धानुसंभवः
,,	८ तत्परिज्ञाने	तत्त्वज्ञाने
,,	११ शेपाभ्यनु–	अशेपाभ्यु-
,,	१९ व्याप्तिः त–	†व्याप्तिसिद्धिः त-
,,	२७–पत्ववक्तृत्वादेर–	–पत्वादेर-
९४	१२ सादृश्या–	तत्सादृश्या-
,,	१५–रूपः	† –रूपाः
,,	१९ अविलक्षणश–	अविशेपणश-
९५	६–चैज्ञेद–	–चैज्ञ त्वे द-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	श्र०प्रतेःपाठः	पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	श्र०प्रतेःपाठः
९५	७	–वंज्ञेऽपि	–वंज्ञत्वेऽपि	१०३	१७	प्रतीतिः	प्रतिपत्तिः
,,	१८	–वानावेद्–	–वावेद्-	,,	२६	–कर्तृत्व–	–कर्तृकत्व-
,,	२०	–वानावेद्–	–वावेद्-	१०४	३	–कार्यानिष्प–	–कार्यस्यानिष्प-
९७	३	देशार्थस्य अ–	देशस्यापि अ–	१०५	७	–तीयोऽपि प–	–तीयः प-
,,	४	–देशता–	–देशार्थता-	,,	१७	–रोधाच्च	†–रोधानुपङ्गाच्च
९८	१	–रुद्धः नि–	–रुद्धो हेतुः नि-	,,	१८	–चरमा–	–चरत्वमा–
,,	३	–वर्त्तकस्य हे–	–वर्त्तकहे-	१०६	११	–णामाऽनि–	–णामनि-
,,	४	जगनिर्मा–	जगन्निर्मा-	,,	१४	हीयते	हीयेत
,,	४	–शेषण वि–	–शेपवि-	,,	२४	क्रमिकत्वे	क्रमवत्त्वे
९९	३	–तुं न श–	–तुमश-	,,	२६	–मप्यसौ	–मसौ
,,	६	–चरमात्रेण	–चरत्वमात्रेण	१०८	८	अनादौ	आदौ
,,	१३	तदीयज्ञा–	तदीया ज्ञा-	,,	२६	–णासंभवतोऽसंभ–	–णाऽसंभ-
१००	१२	ख्यातप्रतिपू–	ख्यातपरिपू-	१११	८	–श्राम्यति	–श्राम्यते
,,	१२	भुवि अक्रि–	भूमौ अक्रि-	११२	४	नेश्वरस्य	न चेश्वरस्य
,,	१९	–त्वानुप–	–त्वाद्यनुप-	,,	१६	–द्वयस्यास्य स–	–द्वयस्य स-
,,	२०	सुखासुखरूपफ–	सुखदुःखरूपस्य फ-	११२	२१	–द्वयोः प्रस–	–द्वयोः पुनः प्रस–
१०१	८	–नेकान्तः	–नेकान्तम्	११३	३	–त्यैकस्वभावता–	–त्यैकस्वरूपता–
,,	१४	–त्वेऽस्य	–त्वेनास्य	,,	७	जायते	जायेत
,,	२०	–भावित्वं हि	–भावे हि	११४	१४	–मासाद–	–मापाद–
,,	२१	अविकारि–	अकारि-	,,	१५	वास्यां	चास्यां
,,	२१	–मतिदुर्घ–	–मपि दुर्घ-	,,	१६	–र्यश्चेत् स्वा–	–र्यश्च स्वा–
,,	२५	–माण्वाद्यन्तर्ग–	–माण्वन्तर्ग-	,,	१७	–नानवच्छिन्नं तज्ज्ञानं	–नावच्छिन्नं
१०२	१०	–कर्तृत्वा–	–कर्तृकत्वा-	,,	१७	तेनासौ ई–	तेनासावेव ई-
,,	१३	वाष्पादिः	वाष्पादि	,,	२०	–ध्येनैश्वर्यं किञ्च	–ध्येत किञ्च
,,	२१	–शेषणसि–	–शेपसि-	११५	१	–चत् सा–	–त्रत् तत्सा–
१०३	५	ख्यातप्रतिपू–	ख्यातपरिपू-	,,	६	–त्रवा विषये वा–	–त्र वा–
,,	७	–त्रिमभू–	–त्रिमत्वभू-	,,	८	बाधकेतरयोः	बाधकाभावेतरयोः
,,	१४	–द्धत्वमि–	–द्धमि-	,,		सन्देहादेव	सन्देहाभावादेव
,,	१६	च अभासु–	वा भासु-	११७	८	प्ररूप्यते	प्ररूप्येत

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	अ० प्रतेः पाठः	पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	अ० प्रतेः पाठः
११५	२०	–त्तौ ज्ञा–	–त्तौ हि ज्ञा–	१२४	१८	–दिरूप–	–दिस्वरूप-
११८	४	उपपद्यमान–	† अनुपपद्यमान–	१२५	१	–भावि वा प्रथ–	†–भावि समकाल-भावि वा प्रथ-
११९	४	राश्यन्तरा–	गत्यन्तरा–				
,,	५	–सिद्धिः	–सिद्धेः	१२७	११	ज्ञानाभिन्न–	ज्ञानादभिन्न-
,,	९	–प्रतिभासा	–प्रभासा	१२८	१९	–ण्णता न	–ण्णता वा न
,,	१६	–शेपनियतो–	–शेपे घटानोपलप-नियतो–	,,	२१	–त्रताऽप्र–	त्रतायाः अप्र-
				,,	२२	–मेकमनेका–	–मेकमनंशमनेका-
,,	१८	अर्थसत्त्व–	अर्थस्य सत्त्व–	१२९	१	–स्त्ये च	–स्त्ये वा
,,	२२	–द्रूपा–	–द्स्वरूपा–	,,	५	–च्छिदभे	–च्छिद्भे-
१२०	२	भेदकस्या–	भेदस्या–	,,	९	–हेतुजत्वं	–हेतुत्वं
,,	४	ज्ञानरूपा–	ज्ञानस्वरूपा–	१३०	४	चेतनद्र–	चेतनाद्र-
,,	४	रूपं	स्वरूपं	,,	१८	–पत्वाऽप्र–	–पताऽप्र-
,,	१४	–लमर्थमुपल–	–लमर्थमुपाल–	,,	२४	–थं तच्चित्र–	–थं चित्र-
,,	१६	कार्यः	कार्यम्	१३१	११	सैव शून्यता	सैव कथ्यते
,,	२३	–रणानुप–	–रणत्वानुप–	१३२	१८	तथोत्पा–	यथोत्पा-
,,	२६	–न्ताने ग्रे के–	–न्ताने के–	१३४	३	–मात्रप्र–	–मात्रतत्त्वप्र-
,,	१७	–त्रे दे–	–वेऽपि दे–	,,	५	–क्रियात्वे	–क्रियाकारित्वे
१२१	२०	–संसाधकस्य	–संपादकस्य	,,	१०	–साऽविशे–	–सविशे-
१२२	१	–पि ज्ञानस्य	–पि तस्य	१३५	९	वा	च
,,	१४	–याः स्वामि–	–याः प्रागेव प्रतिपे-धात् स्वामि-	,,	१७	–भिचरति	–भिचारीति-
				,,	२२	–यत्वस्य	–यस्य
,,	१४	–क्षार्थस्य सि–	–क्षास्वार्थस्यापि सि-	१३६	४	–थाप्यसि–	–थाऽप्रसि-
१२३	४	च भेदो	च विभेदो	,,	७	–नङ्गत्वात्	–नङ्गात्
,,	१०	–भासित्वं	–भास्यत्वं	,,	११	इत्यादिः	इत्यादि
,,	१०	ज्ञानभेदा–	विज्ञानभेदा–	,,	१९	–दादेः आ–	–दादेश्च आ-
,,	१३	–द्वयप्रतिभा	–द्वयस्य प्रतिभा-	१३७	२	स्वाकार–	साकार-
१२४	४	–दिग्रत्वश्च	–दिग्रश्च	,,	६	–दादीनां ज्ञानेन	–दानाच्चानेन
,,	५	–न्धित्वस्य	–न्धत्वस्य	१३८	६	वाऽसत्त्व–	चाऽसत्त्व–
,,	९	नीलसिता–	नीलपीता-	,,	९	–मसत्त्वाभ्यु–	–मसद्भावाभ्यु-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	अ०प्रतेःपाठः
१३८	१३	प्रयुज्यते	प्रयुज्येत
१४०	११	-श्चिच्छब्दात् प्रवु-	-श्चिद्वु-
१४२	१२	-काशनेन ततः	† -काशने ततः
,,	२४	सत्त्वात्	सद्भावात्
१४३	१७	अतोऽस-	ततोऽस-
,,	१८	तत्र तद्रूप-	तत्र चैतद्रूप-
,,	२०	संवेद-	स्वसंवेद-
१४४	३	-न्वितत्वम-	-न्वितम-
,,	९	-न्धाभ्युपगमे चानयोः	-न्धार्थाभ्युपगमे वा तयोः
,,	२१	-दात्म्यासंभवे	-दात्म्याभावे
१४५	५	शाब्दव्य-	शब्दव्य-
१४७	६	सद्भावसिद्धेः	सद्भावाः ग्राहकासिद्धेः
१४८	१०	-सिद्धकर्म-	-सिद्धधर्म-
१४९	२	भेदेऽस्य	भेदेऽप्यस्य
१५०	२०	घटेत	घटते
,,	२४	प्रवर्तेत	प्रवर्त्तते
,,	२५	जडप्रवृ-	जडस्य प्रवृ-
१५१	२	स्वापादि-	स्वप्नादि-
,,	१३	-जादिभे-	-जादितिभे-
,,	१९	-श्चिदुत्पत्ति-	-श्चित्तदातदोत्पत्ति-

इतः अ० प्रतेः पाठान्तराणि मुद्रणकाल एवोपलब्धत्वात् मूलग्रन्थेन सहैव मुद्रितानि ।

† एतच्चिह्नाङ्किताः पाठाः मुद्रितपाठात् शुद्धतराः भान्ति ।



शुद्धिपत्रम् ।

पृ०	पं०	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६	११	वस्तुनः	वस्तुतः
८	१७	सोप्यनक-	सोप्यनेक-
९	१८	-रूढ़-	-रूढ-
३३	२१	३-क्षसामर्थ्य-	३-क्षसामर्थ्य- व०, ज० ।
३४	१४	-साकल्पस्य	-साकल्यस्य
३४	२८	चतुष्टं	चतुष्ट्वं
५१	२१	द्रष्टव्याम्	द्रष्टव्या
५५	२९	ह्यद-	८ ह्यद-
७१	३	-शब्दोपचरात्	-शब्दोपचारात्
११८	४	उपपद्य-	अनुपपद्य-
१२१	३१	-भासः। स्या०रत्ना०पृ०···	-भासः ।
३३३	२०	बृ० पृ०··· ।	बृ० पृ० ९ ।
३४३	१२	-शक्त्यभा-	-शक्त्यभिव्यक्त्यभा-
३६०	२	[ ]	[सिद्धिवि० पृ० १७४]
३७०	१५	वलवद-	वलवद-